भूमिका

युद्ध और युद्धोत्तर कालों की प्रवृत्ति विज्ञानों के मूल्य को और विशेष रूप से उनके व्यावहारिक प्रयोगों के महत्त्व को प्रमुखता देने की ओर रहती है। ये विज्ञान युद्धों को चलाने और शान्ति के समय नागरिकों को सुख-सुविधा देने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु यदि हमें जीवन में मनुष्य के दृष्टिकोण को विशाल और बुद्धिमत्तापूर्ण बनाना हो तो हमें शास्त्रीय विद्याओं पर भी जोर देना चाहिए। विज्ञानों का शास्त्रीय विद्याओं से सम्बन्ध मोटे तौर पर साधन और साध्य का सम्बन्ध कहा जा सकता है। साधनों के प्रति अत्यधिक उत्साह में हमें साध्यों को दृष्टि से ओझल नहीं कर देना चाहिए। उचित और अनुचित की धारणाएं विज्ञान के क्षेत्र में नहीं हैं फिर भी अन्ततोगत्वा मानवीय कर्म और मानन्द का आधार इन धारणाओं को केन्द्र बनाकर किया गया विचारों का अध्ययन ही है। किसी भी सन्तुलित संस्कृति में इन दोनों विशाल धर्ममार्गों में समस्वरता स्थापित की जानी चाहिए। भगवद्गीता जीवन के सर्वोच्च सत्यों को हृदयंगम करने में महत्त्वपूर्ण सहायता देती है।

भगवद्गीता के अनेक संस्करण हैं और इसके कई अच्छे अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुके हैं और यदि यह मान लिया जाए कि अंग्रेजी पाठकों के लिए केवल एक अनुवाद भर की आवश्यकता है, तो इस एक और अनुवाद का कोई औचित्य न होगा। जो लोग गीता को अंग्रेजी में पढ़ते हैं उनके लिए भी यदि उन्हें इसका अर्थ हृदयंगम करने में पथ भ्रान्त न होना हो तो टिप्पणियों की कम से कम उतनी आवश्यकता तो है ही जितनी कि गीता को संस्कृत में पढ़नेवाले के लिए है। प्राचीन टीकाओं में हमें यह संकेत मिलता है कि उन टीकाकारों और उनके समकालीन लोगों की दृष्टि में गीता का क्या अर्थ था। प्रत्येक धर्मग्रन्थ के दो पक्ष होते हैं एक तो सामयिक और नश्वर, जो उस काल और देश के लोगों के विचारों से सम्बन्धित होता है जिसमें कि वह धर्मग्रन्थ रचा गया होता है और दूसरा शाश्वत और अनश्वर पक्ष जो सब देशों और कालों पर लागू हो सकता है। बौद्धिक अभिव्यक्ति और मनोवैज्ञानिक भाषा काल की उपज हैं जबकि शाश्वत सत्य सब कालों में जीवन में अपनाये जा सकते हैं और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा एक उच्चतर दृष्टि द्वारा देखे जा सकते हैं। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की प्राणशक्ति उसकी इस शक्ति में निहित होती है कि वह समय-समय पर ऐसे लोगों को जन्म दे सके जो उस ग्रन्थ में प्रतिपादित सत्यों को अपने अनुभव से पुष्ट कर सकें और उसकी गलतियों को सुधार सकें। टीकाकार हमें अपने अनुभव की बात बताते हैं और धर्मग्रन्थ के प्राचीन विवेक

को एक नये रूप में ऐसे रूप में जो उनके काल से संगत था और जो उनकी मानस आवश्यकताओं के अनुकूल था प्रकट करते हैं। सब बड़े-बड़े सिद्धान्त जैसा कि शताब्दियों के काल प्रवाह में अनेक बार हुआ है उस काल के प्रक्षेपों के रंग में रंगे रहते हैं, जिस काल में वे प्रकट होते हैं और उनपर उस व्यक्ति की छाप रहती है जो उन्हें नये सिरे से प्रस्तुत करता है। हमारा काल भिन्न है। हमारी विचार की पद्धति वह मानसिक पृष्ठभूमि जिससे कि हमारे अनुभव सम्बन्धित हैं, ठीक वैसी नहीं है जैसी कि प्राचीन टीकाकारों की थी। आज हमारे सम्मुख विद्यमान मुख्य समस्या मानव-जाति के मेल-मिलाप की समस्या है। इस प्रयोजन के लिए गीता विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि इसमें धार्मिक चेतना के पृथक्-पृथक्, और प्रकटतया से परस्पर-विरोधी दीख पड़नेवाले रूपों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है और धर्म की उन मूल धारणाओं पर जोर दिया गया है जो न तो प्राचीन हैं और न आधुनिक बल्कि शाश्वत हैं और अतीत वर्तमान और भविष्यत् की मानवता के अंग प्रत्यंग से सम्बन्धित हैं। इतिहास हमारे सम्मुख समस्याएं प्रस्तुत करता है और यदि हम प्राचीन सिद्धान्तों को नये रूपों में पुनः प्रस्तुत करते हैं तो इसलिए नहीं कि हम वैसा करना चाहते हैं अपितु इसलिए कि वैसा हमें करना ही होता है। शाश्वतता के सत्यों का इस प्रकार पुनःकथन ही हमारे इस काम में एकमात्र ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा कोई महान् धर्मग्रन्थ मानव-जाति के लिए सजीव रूप में मूल्यवान् हो सकता है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए बुद्धिमान् पाठक शायद सामान्य भूमिका और टिप्पणियों को उपयोगी पा सके। ऐसे अनेक स्थल हैं जहां गीता की विस्तृत व्याख्याओं में विद्वानों में मतभेद हैं। मैंने टिप्पणियों में केवल उन मतभेदों की ओर संकेत-मात्र कर दिया है, क्योंकि यह पुस्तक उस सामान्य पाठक को दृष्टि में रखकर तैयार की गई है, जो अपने आध्यात्मिक परिवेश का विस्तार करना चाहता है गीता का विशेषज्ञ बनना चाहनेवालों को नहीं।

किसी भी अनुवाद को अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए इतना स्पष्ट होना चाहिए, जितना कि उसकी विषयवस्तु उसे स्पष्ट होने दे सके। अनुवाद सुपाठ्य तो होना चाहिए, परन्तु वह उथला न हो वह आधुनिक होना चाहिए, किन्तु शाश्वतता से शून्य नहीं। परन्तु गीता के किसी भी अनुवाद में वह प्रभाव और चारुता नहीं आ सकती जो मूल में है। इसका माधुर्य और शब्दों का जादू किसी भी अन्य माध्यम में ज्यों का त्यों ला पाना बहुत कठिन है। अनुवादक का लक्ष्य विचार को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने का रहता है, परन्तु वह शब्दों की आत्मा को पूरी तरह सामने नहीं ला सकता। वह पाठक में उन मनोभावों को नहीं जगा सकता जिनमें कि वह विचार उत्पन्न हुआ था और न वह पाठक को द्रष्टा की भाव-समाधि में ही पहुंचा सकता है और न उसे वह विश्व-दर्शन ही करा सकता है जिसे वह स्वयं करता है। इस बात को अनुभव करते हुए, कम से कम मेरे लिए अपनी भाषा के माध्यम से भाषा के उत्कर्ष और शक्ति की तीव्रता को प्रस्तुत कर पाना

कठिन है। मैंने रोमन लिपि में मूल पाठ भी दे दिया है, जिससे जो लोग संस्कृत जानते हैं वे मूल संस्कृत पर विचार करते हुए गीता के मर्म को पूर्णतया हृदयंगम करने में समर्थ हों। जो लोग संस्कृत नहीं जानते वे मूल काव्य की आत्मा का काफी कुछ सही अन्दाज उस सुन्दर अंग्रेजी अनुवाद से पा सकते हैं, जो सर ऐडविन आर्नल्ड ने किया है। यह अनुवाद इतना सरल और सुन्दर है और इसमें एक ऐसा अपना ही सौरभ है, जिसके कारण यह केवल उन लोगों को छोड़कर, जोकि शाब्दिक यथार्थता के प्रति बहुत आग्रहशील हैं, बाकी सब लोगों को ग्राह्य हो गया है।

मैं प्रोफेसर ऐम. हिरियन्ना के प्रति जिन्होंने टाइप की हुई पांडुलिपि पढ़ी और प्रोफेसर फ्रैंकलिन ऐजर्टन के प्रति जिन्होंने पुस्तक के प्रूफ पढ़े उनके बहुमूल्य परामर्श और सहायता के लिए अत्यन्त आभारी हूं।

—राधाकृष्णन्

यह भूमिका अंग्रेजी में प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की है।

भगवद्गीता

स्वयं भगवान् नारायण ने अर्जुन को जिसका उपदेश दिया था प्राचीन मुनि व्यास ने जिसे महाभारत के बीच में संकलित किया है, जो अद्वैतज्ञान का अमृत बरसानेवाली तथा पुनर्जन्म का नाश करनेवाली है, ऐसी अट्ठारह अध्यायोंवाली हे माँ भगवती गीता मैं तेरा ध्यान करता हूं।[1]

"यह प्रसिद्ध गीताशास्त्र सम्पूर्ण वैदिक शिक्षाओं के तत्त्वार्थ का सार-संग्रह है। इसकी शिक्षाओं का ज्ञान सब मानवीय महत्त्वाकांक्षाओं की सिद्धि करानेवाला है।"[2]

"मुझे भगवद्गीता में एक ऐसी सान्त्वना मिलती है, जो मुझे 'सर्मन ऑन दि माउंट' (बाइबल का एक प्रसंग) तक में नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है और जब बिलकुल एकाकी मुझको प्रकाश की कोई किरण नहीं दिखाई पड़ती तब मैं गीता की शरण लेता हूं। जहां-तहां कोई न कोई श्लोक मुझे ऐसा दिखाई पड़ जाता कि मैं विषम विपत्तियों में भी तुरन्त मुस्कराने लगता हूं—और मेरा जीवन बाह्य विपत्तियों से भरा रहा है—और यदि वे मुझपर अपना कोई दृश्यमान अमिट चिह्न नहीं छोड़ जा सकीं तो इसका सारा श्रेय भगवद्गीता की शिक्षाओं को ही है।" मोहनदास कर्मचन्द गांधी यंग इंडिया (१९२५) पृष्ठ १०७८-१०७९।

---

१ ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥

२ समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतम् समस्तपुरुषार्थसिद्धिदम्। भगवद्गीता पर शंकराचार्य की टीका की भूमिका।

परिचय

१ इस ग्रन्थ का महत्त्व

'भगवद्गीता' एक दर्शनग्रन्थ कम और एक प्राचीन धर्मग्रन्थ अधिक है। यह कोई गुह्य ग्रन्थ नहीं है, जो विशेष रूप से दीक्षित लोगों के लिए लिखा गया हो और जिसे केवल वे ही समझ सकते हों अपितु एक लोकप्रिय काव्य है, जो उन लोगों की भी सहायता करता है 'जो अनेक और परिवर्तनशील वस्तुओं के क्षेत्र में भटकते फिर रहे हैं'। इस पुस्तक में सब सम्प्रदायों के उन साधकों की महत्त्वाकांक्षाओं को वाणी प्रदान की गई है, जो परमात्मा के नगर की ओर आध्यात्मिक मार्ग पर चलना चाहते हैं। हम वास्तविकता की उस अधिकतम गहराई पर स्पर्श करते हैं जहाँ मनुष्य संघर्ष करता है विफल होते हैं और विजय पाते हैं। शताब्दियों तक करोड़ों हिन्दुओं को इस महान् ग्रन्थ से शान्ति प्राप्त होती रही है। इसमें संक्षिप्त और मर्मस्पर्शी शब्दों में एक आध्यात्मिक धर्म के उन मूलभूत सिद्धान्तों की स्थापना की गई है जो दुरवधारित तथ्यों अवैज्ञानिक कट्टर सिद्धान्तों या मनमानी कल्पनाओं पर टिके हुए नहीं हैं। आध्यात्मिक धर्म के एक लम्बे इतिहास के साथ यह आज भी उन सब लोगों को प्रकाश देने का काम कर रही है जो इसके विवेक की गम्भीरता से लाभ उठाना चाहते हैं। इसमें एक ऐसे सत्य पर जोर दिया गया है जो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और गम्भीर है जिसे कि युद्ध और शान्तियाँ स्पर्श कर सकती हैं। आध्यात्मिक जीवन के पुनर्नवीकरण में यह एक सबल रूपनिर्धारक तत्त्व है और इसने संसार के महान् धर्मग्रन्थों में अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया है।

गीता का प्रभाव बहुत अधिक रहा है। यह आरम्भिक दिनों में चीन और जापान तक फैला हुआ था और बाद में पश्चिम के देशों में भी फैल गया। बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के दो प्रमुख ग्रन्थ 'महायानश्रद्धोत्पाद' (महायान में श्रद्धा का जागरण) और 'सद्धर्मपुण्डरीक' (सच्चे धर्म का कमल) पर गीता की शिक्षाओं का गहरा प्रभाव है। [illegible]
[illegible]

गीता का उपदेश किसी एक विचारक या विचारकों के किसी एक वर्ग द्वारा सोच निकाली गई सविस्तर प्रणाली के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया। यह उपदेश एक ऐसी परम्परा के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो मानव-जाति के धार्मिक जीवन में से प्रकट हुई है। इस परम्परा को एक ऐसे गम्भीर द्रष्टा ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, जो सत्य को उसके सम्पूर्ण पहलुओं की दृष्टि से देख सकता है और उसकी उद्धारक शक्ति में विश्वास रखता है। यह हिन्दू धर्म के किसी एक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करती, अपितु सम्पूर्ण रूप में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करती है, न केवल हिन्दू धर्म का, अपितु जिसे धर्म कहा जाता है, उस सबका, उसकी उस विश्वजनीनता के साथ प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें काल और देश की कोई सीमाएं नहीं हैं।[1] इसके समन्वय में मानवीय आत्मा का असभ्य लोगों की अपरिष्कृत जादूटोना से लेकर सन्तों की सृजनात्मक उक्तियों तक समस्त सप्तक समाया हुआ है। जीवन के अर्थ और मूल्य के सम्बन्ध में गीता द्वारा प्रस्तुत किए गए सुझाव, शाश्वत जीवन के मूल्यों की भावना और वह रीति जिसके द्वारा परम रहस्यों को तर्क के प्रकाश द्वारा आलोकित कर दिया गया है और नैतिक अन्तर्दृष्टि मन और आत्मा के उस ऐक्य के लिए आधार प्रस्तुत कर देते हैं, जो इस संसार को एक बनाए रखने के लिए परम आवश्यक है, यह संसार सभ्यता के बाह्य तत्त्वों की सार्वभौम स्वीकृति के कारण भौतिक रूप से तो एक बन ही चुका है।

का स्पष्ट प्रामाणिक निरूपण भी किया गया है। 'यह हमें इण्डो-जर्मन धर्म की मूल प्रकृति और उसकी आधारभूत विशेषताओं के सम्बन्ध में भी मार्ग दिखाती है।' वह गीता के केन्द्रीय सन्देश को इन शब्दों में प्रस्तुत करता है: 'इसमें जीवन के भय को दूर करने के लिए नहीं कहा गया, अपितु उस कर्म को खोज निकालने के लिए, जिसकी इससे अपेक्षा की जाती है, और उस कर्म को करने के लिए और इस प्रकार कर्म द्वारा जीवन की पहेली को सुलझाने के लिए कहा गया है।' ([illegible] ११ के [illegible] जर्नल में पृष्ठ १४१ पर उद्धृत।) परन्तु गीता का कर्म का सन्देश ज्ञान के दर्शन पर आधारित है। गीता मानती है कि कर्म में जुटने से पहले हम जीवन के भय को समझें। वह विचार के प्रेरण की अपेक्षा करके कर्म (व्यवहार) के प्रति [illegible] का समर्थन नहीं करती। इसका धर्म का दर्शन इसके ज्ञान के दर्शन से निकलता है। [illegible] नैतिक धर्म आध्यात्मिक अनुभूति से निकलता है। शंकराचार्य का कथन है कि गीता का उद्देश्य हमें बन्धन से छूटने का उपाय सिखाना है, केवल कर्म करने की प्रेरणा देना नहीं। [illegible]

1. तुलना कीजिए [illegible]: "गीता [illegible] दर्शन के कभी भी रचे गए सबसे सरल और सबसे सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थों में से एक है। इसीलिए न केवल भारतीयों के लिए, अपितु समूची मानव जाति के लिए इसका स्थायी मूल्य है।" "सम्भवतः [illegible] शाश्वत दर्शन का सबसे स्पष्ट [illegible] है।" स्वामी प्रभवानन्द और क्रिस्टोफर इशरवुड द्वारा लिखित भगवद्गीता की भूमिका (१९४७)

जैसाकि गीता की पुष्पिका से प्रकट है भगवद्गीता ब्रह्मविद्या और नीतिशास्त्र ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र वास्तविकता (ब्रह्म) का विज्ञान और वास्तविकता (ब्रह्म) के साथ संयोग की कला दोनों ही है। आत्मा के सत्यों को केवल वे लोग ही पूरी तरह समझ सकते हैं जो कठोर अनुशासन द्वारा उन्हें ग्रहण करने के लिए अपने-आपको तैयार करते हैं। आत्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें अपने मन को सब प्रकार के विक्षेपों से रहित करना होगा और हृदय को सब प्रकार की भ्रष्टता से स्वच्छ करना होगा।[1] फिर, सत्य के ज्ञान का परिणाम जीवन का पुनर्नवीकरण होता है। आत्मजगत् जीवन के जगत् से बिलकुल अलग-थलग नहीं है। मनुष्य को बाह्य लालसाओं और आन्तरिक गुणों में विभक्त कर देना मानवीय जीवन की अखंडता को खंडित कर देना है। ज्ञानवान् आत्मा ईश्वर के राज्य के एक सदस्य के रूप में कार्य करती है। वह जिस संसार को स्पर्श करती है, उसपर प्रभाव डालती है और दूसरों के लिए उद्धारक बन जाती है। वास्तविकता (ब्रह्म) के दो प्रकार, एक अनुभवातीत (लोकोत्तर) और दूसरा अनुभवगम्य (लौकिक) एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। गीता के प्रारम्भिक भाग में मानवीय कर्म की समस्या का प्रश्न उठाया गया है। हम किस प्रकार उच्चतम आत्मा में निवास कर सकते हैं और फिर भी संसार में काम करते रह सकते हैं? इसका जो उत्तर दिया गया है, वह हिन्दू धर्म का परम्परागत उत्तर है। यद्यपि यहाँ इसे एक नये जोर के साथ प्रस्तुत किया गया है।

अविकृत परंपरा[2] की दृष्टि से गीता को उपनिषद् कहा जाता है क्योंकि इसकी मुख्य प्रेरणा धर्मग्रन्थों के उस महत्त्वपूर्ण समूह से ली गई है, जिसे उपनिषद् कहा जाता है। यद्यपि गीता हमें प्रभावपूर्ण और गम्भीर धर्म का दर्शन कराती है यद्यपि यह मनुष्य के मन के लिए नये मार्ग खोल देती है फिर भी यह उन मान्यताओं को स्वीकार करती है जो अतीत की पीढ़ियों की परम्परा का एक अंग हैं और जो उस भाषा में जमी हुई हैं जो गीता में प्रयुक्त की गई है। यह उन विचारों और अनुभूतियों को मूर्तिमान् और केन्द्रित कर देती है जो उस काल के विचारशील लोगों में विकसित हो रही थीं। इस आनुपाती संदर्भ को उपनिषदों के प्राचीन ज्ञान प्रज्ञा पुरानी पर आधारित एक आध्यात्मिक सन्देश के

---

१ तुलना कीजिए

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र समं तत्सर्वजन्तुषु ।

स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥

'परमात्मा की ज्योति आत्मा में रहती है, अन्यत्र कहीं नहीं। वह सब प्राणियों में समान रूप से चमकती है और इसे अपने मन को समाधि में शान्त करके स्वयं देखा जा सकता है।

४ २१।

२ पुष्पिका से तुलना कीजिए अमरसंस्थानम् उपनिषत्सु ।

विकास के लिए अवसर बना लिया गया है।[1]

उन अनेक तत्त्वों को जो गीता की रचना के काल में हिन्दू धर्म के अन्दर एक दूसरे से होड़ करने में जुटे हुए थे इसमें एक जगह ले आया गया है और उन्हें एक सम्पूर्ण और विशाल सूक्ष्म और गम्भीर सर्वांग-सम्पूर्ण समन्वय में मिलाकर एक कर दिया गया है। इसमें युद्ध ने विभिन्न विचारधाराओं को वैदिक बलिदान की पूजा-पद्धति को उपनिषदों की लोकातीत ब्रह्म की शिक्षा को भागवत के ईश्वरवाद और करुणा को सांख्य के द्वैतवाद को और योग की ध्यान-पद्धति को परिष्कृत किया है और उनमें आपस में मेल बिठाया है। उसने हिन्दू जीवन और विचार के इन सब जीवित तत्त्वों को एक सुगठित एकता में गूंथ दिया है। उसने निषेध की नहीं अपितु सर्वावबोध की पद्धति को अपनाया है और यह दिखा दिया है कि किस प्रकार ये विभिन्न विचारधाराएं एक ही उद्देश्य तक जा पहुंचती हैं।

२ काल और मूल पाठ

भगवद्गीता उस महान् आन्दोलन के बाद की जिसका प्रतिनिधित्व प्रारम्भिक उपनिषद् करते हैं और दार्शनिक प्रणालियों के विकास और उनके सूत्रों में बांधे जाने के काल से पहले की रचना है। इसकी प्राचीन वाक्य-रचना और आन्तरिक निर्देशों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यह निश्चित रूप से ईस्वी-पूर्व काल की रचना है। इसका काल ईस्वी-पूर्व पांचवीं शताब्दी कहा जा सकता है हालांकि बाद में भी इसके मूल पाठ में अनेक हेर-फेर हुए हैं।

हमें गीता के रचयिता का नाम मालूम नहीं है। भारत के प्रारम्भिक साहित्य की लगभग सभी पुस्तकों के लेखकों का नाम अज्ञात है। गीता की रचना का श्रेय व्यास को दिया जाता है जो महाभारत का पौराणिक संकलनकर्ता है। गीता के १८ अध्याय महाभारत के भीष्मपर्व के २५ से ४२ तक के अध्याय हैं।

यह कहा जाता है कि उपदेश देते समय कृष्ण के लिए युद्धक्षेत्र में अर्जुन के सम्मुख ७०० श्लोकों को पढ़ना सम्भव नहीं हुआ होगा। उसने कुछ थोड़ी-सी महत्त्वपूर्ण बातें कही होंगी जिन्हें बाद में लेखक ने एक विशाल रचना के रूप में विस्तार से लिख दिया। गर्बे

---

1. वैष्णवीय परम्परा के एक लोकप्रिय श्लोक में यह बात कही गई है कि गीता उपनिषदों की मूल शिक्षाओं को ही नये रूप में प्रस्तुत करती है। उपनिषदें गौएं हैं। ग्वाले का पुत्र कृष्ण उन्हें दुहने वाला है अर्जुन बछड़ा है। बुद्धिमान मनुष्य पीनेवाला है और अमृतरूपी गीता बढ़िया दूध है।

   सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
   पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

2. राधाकृष्णन् की 'इंडियन फिलॉसफी', खण्ड १ पृष्ठ ५१९–५२१।

के मतानुसार भगवद्गीता पहले एक सांख्य-योग-सम्बन्धी ग्रन्थ था जिसमें बाद में कृष्ण-वासुदेव-पूजापद्धति आ मिली और ईस्वीपूर्व तीसरी शताब्दी में इसका मेल-मिलाप कृष्ण को विष्णु का रूप मानकर वैदिक परम्परा के साथ बिठा दिया गया। मूल रचना ईस्वी पूर्व २ में लिखी गई थी और इसका वर्तमान रूप ईसा की दूसरी शताब्दी में किसी वेदान्त के अनुयायी द्वारा तैयार किया गया है। गर्बे का सिद्धान्त सामान्यतया अस्वीकार किया जाता है। होपकिन्स का विचार है कि "अब जो कृष्णप्रधान रूप मिलता है, वह पहले कोई पुरानी विष्णुप्रधान कविता थी और उससे भी पहले वह कोई एक निस्सम्प्रदाय रचना थी सम्भवत विलम्ब से लिखी गई कोई उपनिषद्।[1] हौल्ट्ज़मन गीता को एक सर्वेश्वरवादी कविता का बाद में विष्णुप्रधान बनाया गया रूप मानता है। कीथ का विश्वास है कि मूलत गीता श्वेताश्वतर के ढंग की उपनिषद् थी परन्तु बाद में उसे कृष्णपूजा के अनुकूल ढाल दिया गया। बार्नेट का विचार है कि गीता के लेखक के मन में परम्परा की विभिन्न धाराएं गड्डमगड्ड हो गई। रुडोल्फ ओटो का कथन है कि मूल गीता 'महाकाव्य का एक शानदार खंड थी और उसमें किसी प्रकार का कोई सैद्धान्तिक साहित्य नहीं था।" कृष्ण का इरादा "मुक्ति का कोई लोकोत्तर उपाय प्रस्तुत करने का नहीं था अपितु अर्जुन को उस भगवान् की सर्वशक्तिशालिनी इच्छा को पूरा करने की विशेष सेवा के लिए तैयार करना था जो युद्धों के भाग्य का निर्णय करता है।"[2] ओटो का विश्वास है कि सैद्धान्तिक अंश प्रक्षिप्त हैं। इस विषय में उसका जैकोबी से मतैक्य है जिसका विचार है कि विद्वानों ने मूल छोटे-से केन्द्र-बिन्दु को विस्तृत करके वर्तमान रूप दे दिया है।

इन विभिन्न मतों का कारण यह तथ्य प्रतीत होता है कि गीता में दार्शनिक और धार्मिक विचार की अनेक धाराएं अनेक दर्गों से घुमा-फिराकर एक जगह मिलाई गई हैं अनेक परस्पर-विरोधी दीख पड़नेवाले विश्वासों को एक सीधी-सादी एकता में गूंथ दिया गया है जिससे वे सच्ची हिन्दू भावना से उस काल की आवश्यकता को पूरा कर सकें और इन सब विश्वासों के ऊपर इस भावना ने परमात्मा की वास्तविकता बिखेर दी है। गीता विभिन्न विचारधाराओं में मेल बिठाने में कहां तक सफल हुई है इस प्रश्न का उत्तर सारे ग्रन्थ को पढ़ने के बाद पाठक को अपने लिए स्वयं देना होगा। भारतीय परम्परा में सदा ही यह अनुभव किया गया है कि परस्पर असंगत दीख पड़नेवाले तत्त्व गीता के लेखक के मन में मिलकर एक हो चुके थे और जो शानदार समन्वय उसने सुझाया है और स्पष्ट

---

१ रिलिजन्स ऑफ इंडिया (१) पृष्ठ १ १। इसके विषय में अनुसार मिलता है कि यह एक पुरानी पद्य रचना है, जो सम्भवत ... के बाद लिखी गई है और जिसे किसी कवि ने ... के समर्थन के लिए ईस्वी सन् के बाद गीता के वर्तमान रूप में ढाल दिया है। ... 'ग्रेट एपिक ऑफ इंडिया' (१९१) अनुमान ... ।

२ ओरिजिनल गीता मैकेंजी अनुवाद (१९३९) पृष्ठ १२ १४।

विकास के लिए अवसर बना लिया गया है।

उन अनेक तत्त्वों को जो गीता की रचना के काल में हिन्दू धर्म के अन्दर एक दूसरे से होड़ करने में जुटे हुए थे इसमें एक जगह ले आया गया है और उन्हें एक उन्मुक्त और विशाल सूक्ष्म और गम्भीर सर्वांग-सम्पूर्ण समन्वय में मिलाकर एक कर दिया गया है। इसमें गुरु ने विभिन्न विचारधाराओं को वैदिक बलिदान की पूजा-पद्धति को उपनिषदों की लोकातीत ब्रह्म की शिक्षा को भागवत के ईश्वरवाद और करुणा को सांख्य के द्वैतवाद को और योग की ध्यान-पद्धति को परिष्कृत किया है और उनमें आपस में मेल बिठाया है। उसने हिन्दू जीवन और विचार के इन सब जीवित तत्त्वों को एक सुगठित एकता में गूंथ दिया है। उसने निषेध की नहीं अपितु अर्थविबोध की पद्धति को अपनाया है और यह दिखा दिया है कि किस प्रकार ये विभिन्न विचारधाराएं एक ही उद्देश्य तक जा पहुंचती हैं।

२ काल और मूल पाठ

भगवद्गीता उस महान् आन्दोलन के बाद की जिसका प्रतिनिधित्व प्रारम्भिक उपनिषद् करते हैं और दार्शनिक प्रणालियों के विकास और उनके सूत्रों में बांधे जाने के काल से पहले की रचना है। इसकी प्राचीन वाक्य रचना और आन्तरिक निर्देशों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यह निश्चित रूप से ईस्वी-पूर्व काल की रचना है। इसका काल ईस्वी-पूर्व पांचवीं शताब्दी कहा जा सकता है हालांकि बाद में भी इसके मूल पाठ में अनेक हेर-फेर हुए हैं।

हमें गीता के रचयिता का नाम मालूम नहीं है। भारत के प्रारम्भिक साहित्य की लगभग सभी पुस्तकों के लेखकों का नाम अज्ञात है। गीता की रचना का श्रेय व्यास को दिया जाता है जो महाभारत का पौराणिक संकलनकर्ता है। गीता के १८ अध्याय महाभारत के भीष्मपर्व के २५ से ४२ तक के अध्याय हैं।

यह कहा जाता है कि उपदेश देते समय कृष्ण के लिए युद्धक्षेत्र में अर्जुन के सम्मुख ७०० श्लोकों को पढ़ना सम्भव नहीं हुआ होगा। उसने कुछ थोड़ी-सी महत्त्वपूर्ण बातें कही होंगी जिन्हें बाद में लेखक ने एक विशाल रचना के रूप में विस्तार से लिख दिया। पर्वे

१ वैष्णवीय तन्त्रसार के एक लोकप्रिय श्लोक में यह बात कही गई है कि गीता उपनिषदों की मूल शिक्षाओं को ही नये रूप में प्रस्तुत करती है। उपनिषदें गौएं हैं। ग्वाले का पुत्र कृष्ण दूध दुहने वाला है। अर्जुन बछड़ा है। बुद्धिमान् मनुष्य पीनेवाला है और अमृतरूपी गीता बढ़िया दूध है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

२ राधाकृष्णन् की 'इंडियन फिलॉसफी' खण्ड १ पृष्ठ ५१९-५२१।

भूमिका में किया है परन्तु वे इस समय प्राप्त नहीं होतीं।[1] शंकराचार्य ने इस बात को ज़ोर देकर कहा है कि वास्तविकता या ब्रह्म एक ही है और उससे भिन्न दूसरी वस्तु कोई नहीं है। यह दिखाई पड़नेवाला विविधरूप संसार अपने-आपमें वास्तविक नहीं है यह केवल उन लोगों को वास्तविक प्रतीत होता है, जो अज्ञान में (अविद्या में) जीवन बिताते हैं। इस संसार में फंस जाना एक बन्धन है जिसमें हम सब फंसे हुए हैं। यह दुर्दशा हमारे अपने प्रयत्नों से नहीं हटाई जा सकती। कर्म व्यर्थ हैं और वे हमें इस अवास्तविक विश्व प्रक्रिया (संसार) के कारण और कार्य की अन्तहीन परम्परा से मजबूती से जकड़ देते हैं। केवल इस ज्ञान से कि विश्वव्यापी ब्रह्म और व्यक्ति की आत्मा एक ही वस्तु है हमें मुक्ति मिल सकती है। जब यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब जीव विलीन हो जाता है भटकना समाप्त हो जाता है और हमें पूर्ण आनन्द और परम सुख प्राप्त होता है।

ब्रह्म का वर्णन केवल उसके अस्तित्व के रूप में ही किया जा सकता है क्योंकि वह सब विशेषणों से परे है विशेष रूप से कर्ता कर्म और ज्ञान की क्रिया के सब भेदों से ऊपर है। इसलिए उसे व्यक्ति-रूप में नहीं माना जा सकता और उसके प्रति कोई प्रेम या श्रद्धा नहीं की जा सकती।

शंकराचार्य का मत है कि जहां मन को शुद्ध करने के लिए साधन के रूप में कर्म अत्यन्त आवश्यक है वहां ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कर्म दूर छूट जाता है। ज्ञान और कर्म एक-दूसरे के ठीक वैसे ही विरोधी हैं, जैसे प्रकाश और अन्धकार।[2] वह ज्ञान-कर्म समुच्चय[3] के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। उसका विश्वास है कि वैदिक विधियां केवल उन लोगों के लिए हैं, जो अज्ञान और लालसा में डूबे हुए हैं।[4] मुक्ति के अभिला षियों को कर्मकाण्ड की विधियों का परित्याग कर देना चाहिए। शंकराचार्य के

---

1. आनन्दगिरि शंकराचार्य की भगवद्गीता की टीका पर अपनी टीका में दूसरे अध्याय के दसवें श्लोक में कहता है कि वृत्तिकार ने जिसने ब्रह्मसूत्र पर बड़ी विशाल टीका लिखी है, गीता पर भी एक वृत्ति या टीका लिखी थी जिसमें यह स्थापना की गई थी कि न तो अकेला ज्ञान और न अकेला कर्म आध्यात्मिक मुक्ति तक ले जा सकता है अपितु इन दोनों के सम्मिलित अभ्यास से हम उस लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं।
2. ४ ३०; ४ ३३।
3. तस्माद् गीतासु केवलादेव तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिः न कर्मसमुच्चितात्। भगवद्गीता की शंकराचार्य की टीका २, ११। भले ही कर्म मुक्ति का तात्कालिक कारण न भी हो, तो भी वह रक्षा करने वाले ज्ञान को प्राप्त करने का एक आवश्यक साधन है। शंकराचार्य ने इसे स्वीकार किया है 'कर्मनिष्ठाया ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिहेतुत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वं न स्वातन्त्र्येण।'[4]
अविद्यात्मकत्व एव सर्वाणि भेदादीनि दर्शितानि।

किया है, वह उसके धार्मिक जीवन को बढ़ाता है, भले ही गीताकार ने उसे युक्तियां देकर विस्तारपूर्वक सिद्ध नहीं किया।

अपने प्रयोजन के लिए हम गीता के उस मूल पाठ को अपना सकते हैं, जिसे शंकराचार्य ने अपनी टीका में अपनाया है, क्योंकि इस समय गीता की यही सबसे पुरानी विद्यमान टीका है।[1]

२ प्रमुख टीकाकार

गीता शताब्दियों से हिन्दू धर्म का एक प्राचीन धर्मग्रन्थ मानी जाती रही है, जिसकी प्रामाणिकता उपनिषदों और 'ब्रह्मसूत्र' के बराबर है और ये तीनों मिलकर प्रामाणिक ग्रन्थत्रयी (प्रस्थानत्रय) कहलाती है। वेदान्त के आचार्यों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने विशेष सिद्धान्तों को इन तीन प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर उचित ठहराएं और इसीलिए उन्होंने इनपर टीकाएं लिखीं, जिनमें उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि किस प्रकार ये मूल ग्रंथ उनके विशिष्ट दृष्टिकोण की शिक्षा देते हैं। उपनिषदों में परम ब्रह्म के स्वभाव के सम्बन्ध में और संसार के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में विभिन्न प्रकार के सुझाव विद्यमान हैं। ब्रह्मसूत्र इतना सामासिक और अस्पष्ट है कि उसमें से अनेक प्रकार के अर्थ निकाल लिए गए हैं। गीता में अपेक्षाकृत अधिक सुसंगत दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उन टीकाकारों का काम अपेक्षाकृत अधिक कठिन हो जाता है, जो उसकी व्याख्या अपना मतलब निकालने के लिए करना चाहते हैं। भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद विभिन्न मत उठ खड़े हुए, जिनमें से प्रमुख अद्वैत अर्थात् द्वैत का न होना, विशिष्टाद्वैत अर्थात् सोपाधिक अद्वैत, द्वैत अर्थात् दो की सत्ता को स्वीकार करना और शुद्धाद्वैत अर्थात् विशुद्ध अद्वैत थे। गीता की विभिन्न टीकाएं आचार्यों द्वारा उनके अपने सम्प्रदायों के समर्थन और दूसरे सम्प्रदायों के खंडन के लिए लिखी गईं। ये सब लेखक गीता में अपने अपने धार्मिक विचारों और अविद्या की प्रणालियों को ढूंढ पाने में समर्थ हुए, क्योंकि गीता के लेखक ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि वह शाश्वत सत्य, जिसे हम खोज रहे हैं और जिससे अन्य सब सत्य निकले हैं, किसी एक अकेले सूत्र में बांधकर बन्द नहीं किया जा सकता। फिर, इस धर्मग्रन्थ के अध्ययन और मनन से हम उतना ही अधिक जीवित सत्य और आध्यात्मिक प्रभाव प्राप्त हो सकता है, जितना ग्रहण कर पाने में हम समर्थ हैं।

शंकराचार्य की टीका (ईस्वी सन् ७८८–८२०) इस समय विद्यमान टीकाओं में सबसे प्राचीन है। इससे पुरानी भी अन्य टीकाएं थीं, जिनका विरोध शंकराचार्य ने अपनी

[1] कश्मीरी पाठ-परम्परा में मूल पाठ में जो थोड़े-बहुत अन्तर दिखाई पड़ते हैं, उनका गीता की सामान्य शिक्षाओं पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता। देखिए, एफ॰ ओ॰ श्रेडर की पुस्तक 'दि कश्मीर रिसेन्शन आफ दि भगवद्गीता' (१९३०)।

एक कर्म होगा और यह उस चेतना से भिन्न है जिसे रामानुज ने आश्रित तत्त्व (धर्म भूत द्रव्य) माना है, जो स्वयं बाहर निकल पाने में समर्थ है। यह (जीव) अवास्तविक नहीं है और मुक्ति की दशा में वह लुप्त नहीं हो जाता। उपनिषद् के प्रसंग तत् त्वम् असि 'वह तू है' का अर्थ यह है कि 'ईश्वर मैं स्वयं हूं' ठीक उसी प्रकार, जैसे मेरी आत्मा मेरे शरीर का आत्म है। परमात्मा आत्मा को सम्भालनेवाला उसका नियंत्रण करनेवाला मूल तत्त्व है ठीक उसी प्रकार जैसे आत्मा शरीर को संभालनेवाला मूल तत्त्व है। परमात्मा और आत्मा एक हैं इसलिए नहीं कि दोनों ठीक एक ही वस्तु हैं, बल्कि इस लिए कि परमात्मा आत्मा के अन्दर निवास करता है और उसके अन्दर तक प्रविष्ट हुआ हुआ है। वह आन्तरिक मार्गदर्शक है अन्तर्यामी जो आत्मा के अन्दर खूब गहराई में निवास करता है और इस रूप में उसके जीवन का मूल तत्त्व है। परन्तु अन्तर्व्यापिता तद्रूपता (तादात्म्य) नहीं है। काल और शाश्वतता दोनों में ही जीव स्रष्टा से पृथक रहता है।

रामानुज ने गीता पर अपनी टीका में एक प्रकार का वैयक्तिक रहस्यवाद विक सित किया है। मानवीय आत्मा के गुप्त स्थानों में परमात्मा निवास करता है परन्तु आत्मा उसे तब तक पहचान नहीं पाती जब तक आत्मा को मुक्तिदायक ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता। यह मुक्तिदायक ज्ञान हमें अपने सम्पूर्ण मन और आत्मा द्वारा परमात्मा की सेवा करने से प्राप्त हो सकता है। पूर्ण विश्वास केवल उन लोगों के लिए सम्भव है जिन्हें दैवीय कृपा इसके लिए वरण कर (चुन) लेती है। रामानुज यह स्वीकार करता है कि गीता में ज्ञान भक्ति और कर्म इन तीनों का वर्णन है। परन्तु उसका मत है कि गीता का मुख्य बल भक्ति पर है। रामानुज ने पाप की घृणितता भगवान् को पाने की तीव्र लालसा परमात्मा के सर्वविजयी प्रेम में विश्वास और श्रद्धा की अनुभूति और ईश्वर द्वारा वरण कर लिए जाने की अनुभूति पर जोर दिया है।

रामानुज के लिए भगवान् विष्णु है। वही केवल एकमात्र सच्चा देवता है, जिसके दिव्य गौरव में अन्य कोई सामी नहीं है। मुक्ति बैकुण्ठ या स्वर्ग में परमात्मा की सेवा और साहचर्य का नाम है।

माध्व ने (ईस्वी सन् ११९९-१२७६ तक) भगवद्गीता पर दो ग्रन्थ 'गीता भाष्य और 'गीता-तात्पर्य' लिखे। उसने गीता में से द्वैतवाद के सिद्धान्त खोज निकालने का प्रयत्न किया है। उसका कथन है कि आत्मा को एक अर्थ में परमात्मा के साथ तद्रूप मानना और दूसरे अर्थ में उससे भिन्न मानना आत्मविरोधी बातें हैं। जीव और परमात्मा को शाश्वत रूप से एक-दूसरे से पृथक माना जाना चाहिए, और उन दोनों में आंशिक या पूर्ण एकता का किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता। 'वह तू है' इस प्रसंग की व्याख्या वह यह अर्थ बताकर करता है कि हमें मेरे और तेरे के भेदभाव को त्याग देना चाहिए

मतानुसार गीता का उद्देश्य इस बाह्य (नामरूपमय) संसार[1] का पूर्ण दमन है जिसमें कि सारा कर्म होता है यद्यपि शंकराचार्य का अपना जीवन ज्ञान प्राप्ति के बाद भी कर्म करते जाने का उदाहरण है।

शंकराचार्य के दृष्टिकोण का विकास आनन्दगिरि ने जो सम्भवत: तेरहवीं शताब्दी में हुए, श्रीधर (ईस्वी सन् १४) ने और मधुसूदन (सोलहवीं शताब्दी) ने तथा अन्य कुछ लेखकों ने किया। महाराष्ट्रीय सन्त तुकाराम और ज्ञानेश्वर महान् भक्त थे यद्यपि अधिविद्या में उन्होंने शंकराचार्य के मत को स्वीकार किया।

रामानुज (ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी) ने अपनी टीका में संसार की अवास्तविकता और कर्म-त्याग के मार्ग के सिद्धान्त का खंडन किया। उसने यामुनाचार्य द्वारा अपने 'गीतार्थसंग्रह' में प्रतिपादित व्याख्या का अनुसरण किया। ब्रह्म सर्वोच्च वास्तविकता आत्मा है। परन्तु वह निर्गुण नहीं है। उसे आत्मचेतना है और अपना ज्ञान भी है और संसार के सृजन की और अपने जीवों को मुक्ति प्रदान करने की सचेत इच्छा भी उसमें है। सब आदर्श गुणों असीम और अनन्त गुणों का वह आधार है। वह सारे संसार से पहले और सारे संसार से ऊपर है। उस जैसा दूसरा कोई नहीं है। वैदिक देवता उसके सेवक हैं, जिन्हें कि उसने बनाया है और उनके नियत कर्तव्यों को पूरा करने के लिए उन उनके स्थानों पर उन्हें नियुक्त किया है। संसार कोई माया या भ्रम नहीं है, बल्कि सत्य और वास्तविक है। संसार और परमात्मा ठीक वैसे ही एक हैं जैसे शरीर और आत्मा एक हैं। वे समूचे रूप में एक हैं परन्तु साथ ही अपरिवर्तनीय रूप से परस्पर-भिन्न भी हैं। सृष्टि से पहले संसार एक सम्भावित (गर्भित या अव्यक्त) रूप में रहता है, जो इस समय विद्यमान और विभिन्न प्रकट रूपों में विकसित नहीं हुआ होता। सृष्टि होने पर यह नाम और रूप में विकसित हो जाता है। संसार को परमात्मा का शरीर बताकर यह सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि संसार किसी विजातीय तत्त्व से जो दूसरा मूल तत्त्व हो बना हुआ नहीं है, अपितु इसे भगवान् ने स्वयं अपनी प्रकृति में से ही उत्पन्न किया है। परमात्मा इस संसार का बनानेवाला है और स्वयं परमात्मा से ही यह संसार बना भी हुआ है। आत्मा और शरीर की उपमा संसार की ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता को सूचित करने के लिए प्रयुक्त की गई है ठीक उसी प्रकार जैसेकि शरीर आत्मा पर निर्भर होता है। यह संसार केवल ईश्वर का शरीर नहीं है अपितु उसका अवशिष्ट भाग है ईश्वरस्य शेष और यह वाक्यांश संसार की पूर्ण पराश्रितता और गौणता का सूचक है।

सब प्रकार की चेतना में यह पूर्वधारणा विद्यमान है कि एक कर्ता होगा और

---

१ [illegible] प्रयोजन परं नि:श्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम् । भगवद्गीता पर शंकराचार्य की टीका की भूमिका।

४ सर्वोच्च वास्तविकता

अपनी आधिविद्यक स्थिति (अभिमत) के समर्थन में गीता में कोई युक्तियां प्रस्तुत नहीं की गई। भगवान् की वास्तविकता ऐसा प्रश्न नहीं है जिसे ऐसी तर्कप्रणाली द्वारा हल किया जा सके जिसे मानव-जाति का विशाल बहुमत समझ पाने में असमर्थ रहेगा। तर्क अपने-आप किसी व्यक्तिगत अनुभव के निर्देश के बिना हमें विश्वास नहीं दिला सकता। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रमाण केवल आत्मिक अनुभव से प्राप्त हो सकता है।

उपनिषदों में परब्रह्म की वास्तविकता की बात ज़ोर देकर कही गई है। यह पर ब्रह्म अद्वितीय है। उसमें कोई गुण या विशेषताएं नहीं हैं। यह मनुष्य की गूढ़तम आत्मा के साथ तद्रूप है। आध्यात्मिक अनुभव एक सर्वोच्च एकता के चारों ओर केन्द्रित रहता है जो ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत पर विजय पा लेती है। इस अनुभव को पूरी तरह हृदयंगम कर पाने की असमर्थता का परिणाम यह होता है कि उसका वर्णन एक शुद्ध और निर्विशेष के रूप में किया जाता है। ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ता के रूप में विद्यमान निर्विशेषता है। वह अन्तःस्फुरणा में क्योंकि उसका अपना अस्तित्व है, अपना विषय स्वयं ही होता है। यह वह विशुद्ध कर्ता है जिसके अस्तित्व को बाह्य या वस्तुरूपात्मक जगत् में नहीं खोजा जा सकता।

यदि ठीक-ठीक कहा जाए, तो हम ब्रह्म का किसी प्रकार वर्णन नहीं कर सकते। कठोर चुप्पी ही वह एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा हम अपने भटकते हुए वर्णनों और अपूर्ण प्रमाणों की अपर्याप्तता को प्रकट कर सकते हैं।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन

---

१ लाओ त्से से तुलना कीजिए : 'जो ताओ जिसे कोई नाम दिया जा सकता है सच्चा ताओ नहीं है।' 'निराकार की वास्तविकता और जिसका आकार है, उसकी अवास्तविकता सबको मालूम है। जो लोग ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहे हैं, वे इन बातों की परवाह नहीं करते परन्तु अन्य लोग इन चीज़ों पर वाद-विवाद करते हैं। ज्ञान-प्राप्ति का अर्थ है—विवाद न करना। वाद-विवाद करने का अर्थ है—ज्ञान की प्राप्ति न होना। अन्ततः इस में दृष्टि पड़नेवाले शब्दों का कोई तथ्यात्मक मूल्य नहीं है। इसलिए बहस करने की अपेक्षा मौन रहना अधिक अच्छा है। इसे वाणी द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता इसलिए यह अधिक अच्छा है कि कुछ कहा ही न जाए। यही महान् उपलब्धि कही जाती है।" सूदहिल : दि थ्री रिलिजन्स ऑफ चाइना। दूसरा संस्करण (१९१३) पृष्ठ ५१–२०। जब बुद्ध से ब्रह्म और निर्वाण की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया तो उन्होंने उदात्त मौन धारण कर लिया। ईसा ने भी, जब उससे पौंटियस पाइलेट ने सत्य की प्रकृति के विषय में प्रश्न किया था तब इसी प्रकार की चुप्पी साध ली थी।

प्लोटिनस से तुलना कीजिए : यदि कोई प्रकृति से यह पूछे कि यह उत्पादन क्यों करती है, तो यदि यह सुनने और बोलने को इच्छुक हो तो यह यह उत्तर देगी कि तुम्हें यह बात पूछनी नहीं चाहिए बल्कि मौन रहते हुए समझनी चाहिए। जैसे मैं मौन रहती हूं; क्योंकि मुझे बोलने की आदत नहीं है।

और यह समझना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु भगवान् के नियंत्रण के अधीन है।[1] माध्व का मत है कि गीता में भक्ति-पद्धति पर बल दिया गया है।

निम्बार्क (ईस्वी सन् ११६२) ने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त को अपनाया है। उसने 'ब्रह्मसूत्र' पर भी टीका लिखी और उसके शिष्य केशव काश्मीरी ने गीता पर एक टीका लिखी जिसका नाम 'तत्त्वप्रकाशिका' है। निम्बार्क का मत है कि आत्मा (जीव) संसार (जगत्) और परमात्मा एक-दूसरे से भिन्न हैं। फिर भी आत्मा और संसार का अस्तित्व और गतिविधि परमात्मा की इच्छा पर निर्भर है। निम्बार्क की रचनाओं का मुख्य वर्ण्य विषय भगवान् की भक्ति है।

वल्लभाचार्य (ईस्वी सन् १४७९) ने उस मत का विकास किया जिसे शुद्धाद्वैत कहा जाता है। जीव जब वह शुद्ध अवस्था में होता है और माया द्वारा अंधा हुआ नहीं रहता और परब्रह्म एक ही वस्तु हैं। आत्माएं ईश्वर की ही अंश हैं, जैसे चिनगारियां अग्नि का अंश होती हैं, और वे भगवान् की कृपा के बिना मुक्ति पाने के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं। मुक्ति पाने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन भगवान् की भक्ति है। भक्ति प्रेममिश्रित धर्म है।

गीता पर और भी अनेक टीकाकारों ने और हमारे अपने समय में बालगंगाधर तिलक और श्री अरविन्द ने भी टीकाएं लिखी हैं। गीता पर गांधीजी के अपने अलग विचार हैं।

सामान्यतया यह माना जाता है कि व्याख्याओं में अन्तर व्याख्याकार द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोणों के कारण है। हिन्दू परम्परा का यह विश्वास है कि ये विभिन्न दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र की प्रणालियां भी अलग-अलग दृष्टिकोण का वर्णन ही हैं जो एक-दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे के विरोधी नहीं। भागवत में कहा गया है कि ऋषियों ने मूल तत्त्वों का ही वर्णन अनेक रूपों में किया है।[3] एक लोकप्रिय श्लोक में जो हनुमानरचित माना जाता है कहा गया है "शरीर के दृष्टिकोण से मैं तेरा सेवक हूं, जीव के दृष्टिकोण से मैं तेरा अंश हूं और आत्मा के दृष्टिकोण से मैं स्वयं तू ही हूं यह मेरा दृढ़ विश्वास है।[4] परमात्मा का अनुभव उस स्तर के अनुसार 'तू' या 'मैं' के रूप में होता है, जिसमें कि चेतना केन्द्रित रहती है।

---

१ सर्वे तत्त्वम् इति भेदम् भगवान् सर्वम् ईश्वराधीनम् इति सिद्धिः । भगवत्-तात्पर्य ।

२ केशवकाश्मीरी भट्ट । अमृत-तरंगिणी ।

३ 'इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानां ऋषिभिः कृतम्' ।

४ देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः ।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥ (चतुर्थ पाद में पाठभेद है इति वेदान्तविदितम —अनुवादक ।)

साथ ही देखिए आनन्दगिरि का 'शंकरदिग्विजय' ।

८ सर्वोच्च वास्तविकता

अपनी आधिविद्यक स्थिति (अभिमत) के समर्थन में गीता में कोई युक्तियां प्रस्तुत नहीं की गईं। भगवान् की वास्तविकता ऐसा प्रश्न नहीं है जिसे ऐसी तर्कप्रणाली द्वारा हल किया जा सके, जिसे मानव-जाति का विशाल बहुमत समझ पाने में असमर्थ रहेगा। तर्क अपने-आप किसी व्यक्तिगत अनुभव के निर्देश के बिना हमें विश्वास नहीं दिला सकता। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रमाण केवल आत्मिक अनुभव से प्राप्त हो सकता है।

उपनिषदों में परब्रह्म की वास्तविकता की बात ज़ोर देकर कही गई है। यह पर ब्रह्म अद्वितीय है। उसमें कोई गुण या विशेषताएं नहीं हैं। यह मनुष्य की गुह्यतम आत्मा के साथ तद्रूप है। आध्यात्मिक अनुभव एक सर्वोच्च एकता के चारों ओर केन्द्रित रहता है जो ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत पर विजय पा लेती है। इस अनुभव को पूरी तरह हृदयंगम कर पाने की असमर्थता का परिणाम यह होता है कि उसका वर्णन एक शुद्ध और निर्विशेष के रूप में किया जाता है। ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ता के रूप में विद्यमान निर्विशेषता है। वह अन्तःस्फुरणा में क्योंकि उसका अपना अस्तित्व है, अपना विषय स्वयं ही होता है। यह वह विशुद्ध कर्ता है जिसके अस्तित्व को बाह्य या वस्तुपरक जगत् में नहीं खोजा जा सकता।

यदि ठीक-ठीक कहा जाए, तो हम ब्रह्म का किसी प्रकार वर्णन नहीं कर सकते। कठोर चुप्पी ही वह एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा हम अपने भटकते हुए वर्णनों और अपूर्ण प्रमाणों की अपर्याप्तता को प्रकट कर सकते हैं।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन

---

१ लाओ त्से से तुलना कीजिए: "जिस ताओ को कोई नाम दिया जा सकता है, सच्चा ताओ नहीं है।" "निराकार की वास्तविकता और जिसका आकार है उसकी अवास्तविकता सबको मालूम है। जो लोग ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहे हैं वे इन बातों की चर्चा नहीं करते परन्तु अन्य लोग इन चीज़ों पर वाद-विवाद करते हैं। ज्ञान-प्राप्ति का अर्थ है—विवाद न करना। वाद-विवाद करने का अर्थ है—ज्ञान की प्राप्ति न होना। प्रकट रूप में दीख पड़नेवाले ताओ का कोई [illegible] मूल्य नहीं है। इसलिए बहस करने की अपेक्षा मौन रहना अधिक अच्छा है। इसे वाणी द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता इसलिए यह अधिक अच्छा है कि कुछ कहा ही न जाए। यही महान् उपलब्धि कही जाती है।" सूदील: दि थ्री रिलिजन्स ऑफ चाइना। दूसरा संस्करण (१९२३) पृष्ठ १९-२०। जब बुद्ध से ब्रह्म और निर्वाण की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया तो उन्होंने शान्त मौन धारण कर लिया। ईसा ने भी, जब उनसे पौंटियस पाइलेट ने सत्य की प्रकृति के विषय में प्रश्न किया था, तब इसी प्रकार की चुप्पी साध ली थी।
प्लोटिनस से तुलना कीजिए: "यदि कोई प्रकृति से यह पूछे कि वह सर्जन क्यों करती है तो यदि वह सुनने और बोलने को इच्छुक हो तो वह यह उत्तर देगी कि तुम्हें यह बात पूछनी नहीं चाहिए, बल्कि मौन रहते हुए समझनी चाहिए। जैसे मैं मौन रहती हूं। क्योंकि मुझे बोलने की आदत नहीं है।"

है। 'जहां प्रत्येक वस्तु वस्तुतः स्वयं आत्मा ही बन गई है, वहां कौन किसका विचार करे और किसके द्वारा विचार करे? सार्वभौम ज्ञाता का ज्ञान हम किस वस्तु के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं?'[1] इस प्रकार तर्कमूलक विचार की ज्ञाता और ज्ञेय के बीच की द्वैत की भावना से ऊपर उठा जाता है। यह शाश्वत (ब्रह्म) इतना असीम रूप से वास्तविक है कि हम उसे एक का नाम देने की भी हिम्मत नहीं कर सकते, क्योंकि एक होना भी एक ऐसी धारणा है, जो लौकिक अनुभव (व्यवहार) से ली गई है। उस परमात्मा के सम्बन्ध में हम केवल इतना कह सकते हैं कि वह अद्वैत है।[2] और उसका ज्ञान तब प्राप्त होता है जबकि सब द्वैत उस सर्वोच्च एकता में विलीन हो जाते हैं। उपनिषदों में उसका नकारात्मक वर्णन किया गया है कि ब्रह्म यह नहीं है, यह नहीं है (नेति नेति)। "वह स्नायुरहित है, वह किसी शस्त्र से विद्ध नहीं है और उसे पाप छूता नहीं है।"[3] 'उसकी कोई छाया या कालिमा नहीं है। उसके अन्दर या बाहर कैसी वस्तु कुछ नहीं है।'[4] भगवद्गीता में अनेक

---

१ २. ४. १२-१४।

२ 'कुलार्णव-तन्त्र' से तुलना कीजिए:

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं विजानन्तो द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

कुछ संस्करणों में 'विजानन्तो' के स्थान पर 'न जानन्ति' पाठ है।

३ ईशोपनिषद्, ८। भगवान् तत् एकम्, निर्गुण और निर्विशेष है। वह न तो विद्यमान है और न अविद्यमान।" ऋग्वेद १०. १२९। माध्यमिक बौद्ध परम वास्तविकता को खाली या शून्य कहते हैं, जिससे कभी उसे कोई अन्य नाम देकर वे उसे अनावश्यक सीमित न कर बैठें। उनकी दृष्टि में वह एक वस्तु है जिसका ज्ञान तब होगा जबकि सब विरोधी वस्तुएं सर्वोच्च एकता में विलीन हो जाएंगी। ऐबट जॉन चैपमैन से तुलना कीजिए: "यह कह पाना असम्भव है कि परमात्मा अपने-आपमें क्या है और उसके विषय में इस ढंग से वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है कि अन्य सब वस्तुओं का निषेध कर दिया जाए। वस्तुतः वह अपने-आप होने के अलावा और कुछ भी नहीं है।

४ बृहदारण्यक उपनिषद्, ३. ८. ८। महाभारत में भगवान् बोधि भावात्मे है, नारद को बताता है कि उसका वास्तविक रूप देखा नहीं जा सकता, सूंघा नहीं जा सकता, छुआ नहीं जा सकता, वह गुणों से रहित है, कलाओं से रहित है, अजात (जो उत्पन्न नहीं हुआ) है, शाश्वत है, स्थिर है और निष्कर्म है। देखिए शान्तिपर्व ३३९. २१-२९। वह 'अभाव का कारण है' जिसे डायोनीसियस ने 'अलभ्य दीप्तिमान अन्धकार' कहा है, या ऐकहार्ट के शब्दों में "निस्तब्ध का निराकार मरुस्थल, जो ठीक-ठीक कोई अस्तित्व नहीं है।" सेंट ऑगस्टाइन से तुलना कीजिए: "परमात्मा केवल कुछ नहीं है। उसका सम्बन्ध न इस काल से और न इस स्थान से है।" प्लाटिनस से भी तुलना कीजिए: "वह उनका जनक होते हुए भी वह उनमें से कोई नहीं है। न वह वस्तु है, न गुण, न बुद्धि, न आत्मा। वह न गति में है, न स्थिरता में है, न देश में है, न काल में है। वह अपनी परिभाषा आप ही है। उसका रूप निराला ही है, या और ठीक कहा जाए तो

स्थानों पर उपनिषदों के इस दृष्टिकोण का समर्थन किया गया है। भगवान् को 'अव्यक्त अचिन्त्य और अविकार्य' बताया गया है। वह न सत् है और न असत्। भगवान् के लिए परस्पर-विरोधी विशेषण यह सूचित करने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं कि उसपर अनुभवगम्य धारणाएं लागू नहीं की जा सकतीं। 'वह गति नहीं करता और फिर भी वह गति करता है। वह बहुत दूर है पर फिर भी पास है।"[3] इन विशेषणों से भगवान् का दुहरा स्वरूप सामने आता है। एक तो उसका सत् (अस्तित्वमय) स्वरूप और एक नाम रूपमय स्वरूप। वह 'परा' अर्थात् लोकातीत है और 'अपरा' अर्थात् अन्तर्यामी है संसार के अन्दर और बाहर दोनों जगह विद्यमान है।

परब्रह्म की अर्थयवितकता उसका सम्पूर्ण महत्त्व नहीं है। उपनिषदों में दिव्य गतिविधि और प्रकृति में भाग लेने की पुष्टि की गई है और हमारे सम्मुख एक ऐसे परमात्मा का रूप प्रस्तुत किया गया है, जो केवल असीम और केवल ससीम से कहीं अधिक है। जिस जिज्ञासा के कारण प्लेटो को अकादेमी के ज्योतिषियों को यह आदेश देने की प्रेरणा मिली कि वे प्रकट दीख पड़नेवाली वस्तुओं (प्रतीतियों) से बचें उसी रुचि के कारण उपनिषदों के ऋषियों को संसार को अर्थपूर्ण समझने की प्रेरणा मिली। तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्दों में भगवान् वह है "जिससे ये सब वस्तुएं उत्पन्न होती हैं जिससे ये सब जीवित रहती हैं और जिसमें विदा होते समय ये सब विलीन हो जाती हैं।" वेद के अनुसार, "परमात्मा वह है, जो अग्नि में है और जो जल में है, जिसने निखिल विश्व को व्याप्त किया हुआ है। उसे जो कि पौधों में और पेड़ों में है हम बारम्बार प्रणाम करते हैं।"[5] "यदि यह सर्वोच्च आनन्द आकाश में न होता तो कौन परिश्रम करता और कौन जीवित रहता?[6] ईश्वरवादी यह स्वर श्वेताश्वतर उपनिषद् में और भी प्रमुख हो उठता है। 'वह जो एक है और जिसका कोई रूप रंग नहीं है, अपनी बहुविध शक्ति को धारण करके किसी गुप्त उद्देश्य से अनेक रूप रंगों को बनाता है और आदि में और अन्त में विश्व उसीमें विलीन

वह कालहीन है। वह उससे पहले विद्यमान था, जब रूप या गति का विभाजन उत्पन्न हुआ। ये सब वस्तुएं अस्तित्व से सम्बन्धित हैं और न रूप को अनुचित बनाती हैं। (प्लोटिनस, मैकेना-कृत अंग्रेजी अनुवाद ५. ६)

1. १. २१।
2. १३. १२; १२. १३-१७।
3. ईशोपनिषद्, ५। साथ ही देखिए मुण्डक उपनिषद् २. १. १-८; कठोपनिषद् २. १४; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ३; श्वेताश्वतर उपनिषद् ६. १७।
4. बहिरन्तश्च भूतानाम्। १३. १५।
5. यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश
यो ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः।
6. को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

मध्य होनेवाले एक सक्रिय संघर्ष की भूमि है जिसमें परमात्मा की गहरी दिलचस्पी है। वह अपने प्रेम की सम्पत्ति उन मनुष्यों की सहायता करने के लिए लुटाता है जो उन सब वस्तुओं का प्रतिरोध करते हैं जो मिथ्या कुरूपता और बुराई को जन्म देती हैं। क्योंकि परमात्मा पूर्णतया अच्छा है और उसका प्रेम असीम है इसलिए वह संसार के कष्टों के सम्बन्ध में चिन्तित है। परमात्मा सर्वशक्तिमान् है क्योंकि उसकी शक्ति की कोई बाह्य सीमाएं नहीं हैं। संसार की सामाजिक प्रकृति परमात्मा पर नहीं थोपी गई, अपितु वह परमात्मा की इच्छा से बनी है। इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या परमात्मा अपनी सर्वज्ञता से इस बात को पहले से जान सकता है कि मनुष्य किस ढंग से आचरण करेंगे और वे कर्म का चुनाव कर पाने की स्वतन्त्रता का सदुपयोग या दुरुपयोग करेंगे हम केवल यह कह सकते हैं कि परमात्मा जिस वस्तु को नहीं जानता वह सत्य नहीं है। वह जानता है कि *प्रवृत्तियां अनिर्धारित हैं और जब वे वास्तविक रूप धारण कर लेती हैं, तो उसे उनका* ज्ञान हो जाता है। कर्म का सिद्धान्त परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता को सीमित नहीं करता। हिन्दू विचारक ऋग्वेद की रचना के काल तक में प्रकृति की तर्कसंगतता और नियमपरायणता को जानते थे। ऋत या व्यवस्था सब वस्तुओं में विद्यमान है। नियम का राज्य परमात्मा की इच्छा और संकल्प है और इसलिए उसे परमात्मा की शक्ति की सीमा नहीं *माना जा सकता। संसार के व्यक्तिक (सगुण) स्वामी का एक कालमय पक्ष है जिसमें* परिवर्तन होते रहते हैं।

गीता में वैयक्तिक परमात्मा के रूप में भगवान् पर बल दिया गया है जो अपनी प्रकृति से इस अनुभवगम्य संसार का सृजन करता है। वह प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता है। वह सब अग्नियों का आनन्द लेनेवाला और स्वामी है। वह हमारे हृदय में भक्ति जगाता है और हमारी प्रार्थनाओं को पूर्ण करता है।[४] वह सब मान्यताओं का मूल स्रोत और उन्हें बनाए रखनेवाला है। पूजा और प्रार्थना के समय उसका हमसे व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित होता है।

वैयक्तिक ईश्वर इस विश्व की सृष्टि रक्षा और संहार करता है। भगवान् की दो प्रकृतियां हैं। एक उच्चतर (परा) और दूसरी निम्नतर (अपरा)। जीवित आत्माएं उच्चतर प्रकृति का प्रतिनिधित्व करती हैं और भौतिक माध्यम निम्नतर प्रकृति का प्रति

१ १ ६१।

२ ६ ४१।

३ ७ २२।

४ थेकन बोएहमी से तुलना कीजिए सृष्टि पिता का कार्य भी अवतार पुत्र का काम था जबकि सृष्टि का अन्त पवित्र आत्मा के कार्य द्वारा होगा।

५ ७, ४-५।

निधि है। परमात्मा उस आदर्श योजना और उस सुनिर्दिष्ट माध्यम दोनों का ही बनाने वाला है, जिनके द्वारा आदर्श वास्तविक बनता है धारणात्मक वस्तु विश्व बन जाता है। धारणात्मक (काल्पनिक) योजना को सुनिर्दिष्ट रूप देने के लिए एक परिपूर्ण अस्तित्व की समतापील भौतिक माध्यम में वस्तुओं का रूप ढाल देने की आवश्यकता होती है। एक ओर जहां परमात्मा के विचार अस्तित्वमान होने के लिए प्रयत्नशील हैं वहां यह अस्तित्वमय संसार पूर्णता तक पहुंचने के लिए भी प्रयत्नशील है। दैवीय योजना और समतापील भौतिक तत्त्व ये दोनों उस परमात्मा से निकले हैं जो आदि मध्य और अन्त ब्रह्मा विष्णु और शिव है। अपने सृजनशील विचारों से युक्त परमात्मा ब्रह्मा है। वह परमात्मा जो अपना प्रेम सब ओर लुटाता है और इतने धैर्य के साथ कार्य करता है कि उस धैर्य की तुलना केवल उसके प्रेम से की जा सकती है विष्णु है जो निरन्तर संसार की रक्षा के काम म लगा रहता है। जब धारणात्मक वस्तु विश्व बन जाती है जब स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आता है तब हम एक पूर्णता प्राप्त होती है जिसका प्रतिनिधि शिव है। परमात्मा एकसाथ ही ज्ञान प्रेम और पूर्णता तीनों है। इन तीनों रूपों को पृथक पृथक नहीं किया जा सकता। ब्रह्मा विष्णु और शिव मूलतः एक हैं भले ही उनकी कल्पना तीन अलग-अलग रूपों में की गई हो। गीता की रुचि संसार की मुक्ति दिखाने की प्रक्रिया म है इसलिए विष्णु-पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। कृष्ण भगवान् के विष्णुरूप का प्रतिनिधि है।

विष्णु ऋग्वेद का एक अत्यन्त प्रसिद्ध देवता है। वह महान् व्यापक है। विष्णु शब्द विष् धातु स बना है जिसका अथ है व्याप्त करना। वह आन्तरिक नियामक है जो सारे संसार को व्याप्त किए हुए है। वह निरन्तर बढ़ती हुई मात्रा में शाश्वत भगवान की स्थिति और गौरव को अपने अन्दर समेटता जाता है। तैत्तिरीय आरण्यक म कहा गया है 'नारायण की हम पूजा करते हैं वासुदेव का हम ध्यान करते हैं और इस कार्य में विष्णु हमारी सहायता करे।

---

१ यजुः (१।१८) का वचन है ध्रुवं ... विष्णु का मूल विश् धातु में भी कहा जाता है [illegible] जिसका अर्थ है प्रवेश करना। ऐतरेय उपनिषद् का वचन है 'इस संसार को रचने के बाद वह इसमें प्रवेश कर गया।' साथ ही वैदिक वाङ्मय। भगवान् के रूप में विष्णु [illegible] में प्रवेश कर गया [illegible] भगवान् विष्णु [illegible] [illegible]।

२ [illegible] १। नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। भगवान् कहते हैं [illegible] सब की [illegible] मैं सारे संसार को [illegible] मैं [illegible] [illegible] १० १

गीता का उपदेश देनेवाले कृष्ण[1] को विष्णु के साथ जोकि सूर्य का प्राचीन देवता है और नारायण के साथ जो ब्रह्माण्डीय स्वरूपवाला प्राचीन देवता है और देवताओं और मनुष्यों का लक्ष्य या विश्रामस्थान है, एकरूप कर दिया गया है।

वास्तविक भगवान् विश्व के ऊपर उठा हुआ सनातन स्थानातीत और कालातीत ब्रह्म है जो स्थान और काल में इस दृश्यमान विश्व को संभाले हुए है। वह सार्वभौम आत्मा है परमात्मा जो विश्व के रूपों और शक्तियों की आत्मा है। वह परमेश्वर है, जो व्यक्तिगत आत्माओं और प्रकृति की शक्तियों का अध्यक्ष है और विश्व के अस्तित्व का नियन्त्रण करता है। वह पुरुषोत्तम भी है सर्वोच्च पुरुष जिसकी द्विविध प्रकृति विश्व के विकास में व्यक्त होती है। वह हमारे अस्तित्व को पूर्ण कर देता है हमारी बुद्धि को प्रकाशित करता है और उसकी सुप्त क्षमताओं को गतिमान कर देता है।[2]

पुरुषोत्तम से लेकर नीचे तक सब वस्तुएं सत् और असत् की द्वैतता या युग है, यहां तक कि परमात्मा तक में भी निषेधात्मकता या माया का तत्त्व विद्यमान है भले ही

---

१ कर्षति सर्वं इति कृष्णः। जो सबको अपनी ओर खींचता है या सबमें भक्ति जगाता है, वह कृष्ण है। 'वेदान्त-रत्न-मंजूषा' में (पृष्ठ ४२) कहा गया है कि कृष्ण का यह नाम इसलिए है, क्योंकि वह अपने भक्तों के पापों को दूर कर देता है, पापं कर्षयति निर्मूलयति। 'कृष्ण' शब्द कृष् धातु से बना है, जिसका अर्थ है खुरचना। क्योंकि वह अपने भक्तों के सब पापों को और बुराई के अन्य स्रोतों को खुरच देता है, इसलिए वह कृष्ण कहलाता है। कृषेर्विलेखनार्थस्य रूपं भक्तजन पापादिदोषकर्षणवान् कृष्णः। गीता पर शंकराचार्य की टीका ८, १४।

२ वह अज्ञानियों को ज्ञान का प्रकाश देता है निर्बलों को शक्ति का बल देता है, पापियों को क्षमा की मुक्ति देता है दुःखियों को दया की शान्ति देता है, बेचैनों को चैन देता है: "ज्ञानम् अज्ञानानां शक्तिरशक्तानाम्, क्षमा अपराधिनाम्, दया दुःखिनाम्, वात्सल्यं सदोषानाम्, शीलं मन्दानाम्, आर्जवं कुटिलानाम्, सौहार्दं दुष्टहृदयानाम्, मार्दवं विश्लेषभीरूणाम्।"

साथ ही तुलना कीजिए: "तू सुख और आनन्द है, तू शान्ति का धाम है; तू भक्तिों के दुःख का नाश करता है और उन्हें सुख देता है।"

आनन्दामृतरूपस्त्वं त्वं च शान्तिनिकेतनम्।
हरसि भक्तिना दुःखं दिशसि सदा सुखम्॥

'तू अनाथों का आश्रयदाता है और पापियों का त्राता है।'

दीनानां शरणं त्वं हि, पापिनां मुक्तिसाधनम्।

इसे भी देखिए: "तू जो तेजस्वी है, मुझे भी तेज से भर दे; तू जो वीर्यवान् है, मुझे वीर्ययुक्त कर दे; तू जो बलयुक्त है, मुझे भी बल दे; तू जो ओजस्वी है, मुझे भी ओजस्वी कर दे; तू जो (अनुचित के विरुद्ध) रोष से परिपूर्ण है, मुझमें भी वह रोष भर दे; तू जो सहनशील है, मुझे भी सहनशीलता से भर दे।" तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलम् असि बलं मयि धेहि, ओजोऽसि ओजो मयि धेहि, मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि। शुक्ल यजुर्वेद १९, ९।

वह उसका नियन्त्रण क्यों न करता हो। वह अपनी सक्रिय प्रकृति (स्वा प्रकृति) को सामने लाता है और उन आत्माओं का नियन्त्रण करता है जो अपनी-अपनी प्रकृति द्वारा निर्धारित दिशाओं में अपनी भवितव्यता को पूरा कर रही हैं। एक ओर जहाँ यह सब काम भगवान् इस संसार में प्रयुक्त की जा रही निजी शक्ति द्वारा करता है वहाँ दूसरी ओर उसका एक और पक्ष है जो इस सबसे बिलकुल अछूता रहता है। वह सर्वातिशायी परम और साथ ही साथ अन्तर्यामी स्वरूप है। वह सबका कारण है पर उसका कोई कारण नहीं। वह सबको गति देनेवाला है पर उस गति देनेवाला कोई नहीं। मनुष्य और प्रकृति में निवास करनेवाला भगवान् इन दोनों से अधिक महान् है। सीमाहीन स्थान और काल में फैला यह असीम विश्व उसके अन्दर विश्राम कर रहा है वह परमात्मा इसमें विश्राम नहीं कर रहा। गीता के परमात्मा को विश्व की प्रक्रिया के साथ एकरूप नहीं समझा जा सकता क्योंकि वह इससे परे है।[1] इस संसार में भी वह अपने कुछ पक्षों में अभिव्यक्त है और कुछ में नहीं। सर्वेश्वरवाद का हीनतर अर्थ में आरोप गीता के दृष्टिकोण पर नहीं किया जा सकता।[2] जहाँ यह ठीक है कि वास्तविकता एक ही है जो सर्वोच्च रूप से पूर्ण है वहाँ प्रत्येक वस्तु जो सुनिर्दिष्ट और वास्तविक है उतने ही समान रूप से पूर्ण नहीं है।

५. गुरु कृष्ण

जहाँ तक भगवद्गीता की शिक्षा का प्रश्न है इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि इसका उपदेश देनेवाला कृष्ण कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है या नहीं। महत्त्वपूर्ण बात भगवान् का सनातन अवतार है जो इस विश्व में और मनुष्य की आत्मा में पूर्ण और दिव्य जीवन की सतत की शाश्वत प्रक्रिया है।

परन्तु कृष्ण की ऐतिहासिकता के पक्ष में बहुत काफी प्रमाण विद्यमान है। छान्दोग्य उपनिषद् में देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख है और उसे घोर आंगिरस का शिष्य बताया गया है। घोर आंगिरस कौषीतकि ब्राह्मण[3] के अनुसार सूर्य का पुजारी था। बलिदान के अर्थ की व्याख्या करने और यह बताने के बाद कि पुरोहितों के लिए तपस्या, दान, ईमानदारी, अहिंसा और सत्यभाषण आदि सद्गुणों का अभ्यास भी है,[4] इस उपनिषद् में कहा गया है कि "जब घोर आंगिरस ने यह बात देवकीपुत्र कृष्ण

[illegible]

मैगास्थनीज (ईस्वी पूर्व ३२) ने लिखा है कि हैराक्लीज की पूजा सौरासेनोई (शूरसेन) लोगों द्वारा की जाती थी जिनके देश में दो बड़े शहर मैथोरा (मथुरा) और क्लीसोबोरा (कृष्णपुर) हैं। तक्षशिला के यूनानी भागवत हीलियोडोरस ने बेसनगर के शिलालेख (ईस्वीपूर्व १८०) में वासुदेव को देवदेव (देवताओं का देवता) कहा है। नानाघाट के शिलालेख में जो ईस्वीपूर्व पहली शताब्दी का है प्रारम्भिक श्लोक में अन्य देवताओं के साथ-साथ वासुदेव की भी स्तुति की गई है। राधा यशोदा और नन्द जैसे प्रमुख व्यक्तियों का उल्लेख बौद्ध गाथाओं में भी मिलता है। पतंजलि ने पाणिनि पर टीका करते हुए अपने महाभाष्य में ४ ३ ९८ में वासुदेव को भागवत कहा है। यह पुस्तक "भगवद्गीता कह लाती है क्योंकि भागवत धर्म में कृष्ण को भी भगवान् समझा जाता है। कृष्ण ने जिस सिद्धान्त का प्रचार किया है वह भागवत धर्म है। गीता म कृष्ण ने कहा है कि वह कोई नई बात नहीं कह रहा अपितु केवल उसी बात को दुहरा रहा है जो पहले उसने विव स्वान् को बताई थी और विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बताई थी।[1] महा भारत मे कहा गया है कि "भागवत धर्म परम्परागत रूप से विवस्वान् से मनु को और मनु स इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ था।[2] ये दो सम्प्रदाय जो एक ही रूप में प्रारम्भ किए गए थे अवश्य एक ही रहे होंगे। कुछ अन्य प्रमाण भी हैं। नारायणीय या भागवत धर्म के प्रतिपादन में कहा गया है कि पहले इस धर्म का उपदेश भगवान् न भगवद्गीता में किया था।[3] फिर यह भी बताया गया है कि इसका "उपदेश भगवान् ने कौरवों और पांडवों के युद्ध में उस समय किया था जबकि दोनो पक्षों की सेनाएं युद्ध के लिए तैयार खड़ी थी और अर्जुन मोहग्रस्त हो गया था।[4] यह एकेश्वरवादी (एकान्तिक) धर्म है।

गीता में कृष्ण को उस परब्रह्म के साथ तद्रूप माना गया है जो इस बहुरूप दीखने वाले विश्व के पीछे विद्यमान रहता है जो सब दृश्य वस्तुओं के पीछे विद्यमान अपरि वर्तनशील सत्य है जो सबसे ऊपर है और सर्वान्तर्यामी है। वह प्रकट भगवान् है[5] जिसके कारण मर्त्य लोगों को उसे जानना सरल हो जाता है। अनश्वर ब्रह्म की खोज करनेवाले उसे ढूंढ अवश्य लेते हैं परन्तु उसके लिए उन्हें बड़ा तप करना पड़ता है। इस रूप में वे भगवान् को सरलता से पा सकते हैं। वह परमात्मा कहा जाता है, जिसम यह अर्थ निहित है कि वह सर्वातीत है। वह जीवभूत है अर्थात् सबका प्राणरूप है।

---

१ १ १।

२ शान्तिपर्व ३४ ५१-५२।

३ कथितो हरिगीतासु। शान्तिपर्व ३४८ ८ ।

४ समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥ शान्तिपर्व ३४८ ८।

५ १ १ से आगे।

हम किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को भगवान् किस प्रकार मान सकते हैं? हिन्दू विचारधारा में किसी व्यक्ति को परमात्मा के साथ एकरूप मानना साधारण बात है। उपनिषदों में बताया गया है कि पूर्णतया जागरित आत्मा जो परब्रह्म के साथ वास्तविक सम्बन्ध को समझ लेती है, इस बात को देख लेती है कि वह मूलतः परब्रह्म के साथ एकरूप है और वह अपने ब्रह्म के साथ एकरूप होने की घोषणा भी कर देती है। ऋग्वेद ४. २६ में वामदेव कहता है : "मैं मनु हूं, मैं सूर्य हूं, मैं विद्वान् ऋषि कक्षीवान् हूं। मैंने अर्जुनी के पुत्र ऋषि कुत्स की पूजा की है। मैं विद्वान् उशना हूं। मेरी ओर देखो।"[1] कौषीतकि उपनिषद् (३) में इन्द्र प्रतर्दन से कहता है : "मैं प्राण हूं, मैं चेतन आत्मा हूं। मुझे जीवन और प्राण मानकर मेरी पूजा करो। जो मुझे जीवन या अमरता मानकर मेरी पूजा करता है, वह इस संसार में पूर्ण जीवन प्राप्त करता है; वह स्वर्गलोक में जाकर अमरता और अनश्वरता प्राप्त करता है।" गीता में लेखक कहता है : "राग, भय और क्रोध से मुक्त होकर, मुझमें लीन होकर, मुझमें शरण लेकर अनेक लोग ज्ञानमय तप द्वारा पवित्र होकर मेरे रूप को प्राप्त हो चुके हैं।"[2] जीव अपने से भिन्न किसी ऐसी वस्तु का सहारा लेता है जिसके प्रति वह अपने-आपको समर्पित कर सके। इस समर्पण में ही उसका रूपान्तरण है। मुक्त आत्मा अपने शरीर को शाश्वत की अभिव्यक्ति के लिए वाहन के रूप में प्रयुक्त करती है। कृष्ण ने जिस दिव्यता का दावा किया है, वह सब सच्चे आध्यात्मिक अन्वेषकों

---

१ शंकराचार्य ने इसकी टीका करते हुए कहा है : 'इसका अर्थ यह है कि इन्द्र ने, जोकि एक देवता है, शास्त्रों के अनुसार ऋषियों को प्राप्त होनेवाली दृष्टि से अपने-आपको परब्रह्म के रूप में देखते हुए यह कहा है कि 'मुझे जानो' ठीक उसी प्रकार जैसेकि इसी सत्य को देखते हुए वामदेव को अनुभव हुआ था कि 'मैं मनु हूं, मैं सूर्य हूं।' श्रुति में (अर्थात् बृहदारण्यक उपनिषद् में) यह कहा गया है, 'उपासक इस देवता के साथ जिसे वह तत्स्वरूप देखता है, एकरूप हो जाता है'।

२ ४ : १०। ईसा ने अपना जीवन प्रार्थना-मग्नता, ध्यान और सेवा में बिताया था। वह भी इन लोगों की भांति प्रबोधित हो जाता था। उसे महान् रहस्यवादियों की भांति आध्यात्मिक अनुभूतियां होती थीं और एक बार मानसिक यन्त्रणा के क्षण में जब उसे परमात्मा की अनुपस्थिति की अनुभूति होती जान पड़ी, वह चिल्ला उठा, "मेरे परमात्मा, मेरे परमात्मा, तूने मुझे क्यों छोड़ दिया है?" (मत्ती २७, ४६)। वैसे सारे समय वह परमात्मा पर अपने को आश्रित अनुभव करता रहा। 'पिता मुझसे बड़ा है' (जॉन १४, २८)। "तू मुझे अच्छा क्यों कहता है? एक परमात्मा को छोड़कर और कोई अच्छा नहीं है।" (ल्यूक १८, १९)। "परन्तु उस दिन और उस समय के विषय में कोई नहीं जानता; स्वर्ग में रहनेवाले देवदूत भी नहीं; पुत्र भी नहीं; केवल पिता जानता है।" (मार्क १३, ३२)। 'पिता, मैं तेरे हाथों में अपनी आत्मा को सौंपता हूं।' (ल्यूक २३, ४६)। यद्यपि ईसा को अपनी अपूर्णताओं का ज्ञान था, फिर भी उसने परमात्मा की चरमता और प्रेम को प्राधान्य और स्वेच्छापूर्वक अपने-आपको पूर्णतया उसके सम्मुख निवेदित कर दिया। इस प्रकार वह सारी अपूर्णता से मुक्त हो गया और परमात्मा में शरण लेकर वह दिव्यता के स्तर तक पहुंच गया। 'मैं और पिता एक हैं।' (जॉन १० : ३०)।

को प्राप्त होनेवाला सामान्य प्रतिफल है। वह कोई ऐसा नायक नहीं है जो कभी पृथ्वी पर चलता-फिरता था और अपने प्रिय मित्र और शिष्य को उपदेश देने के बाद इस पृथ्वी को छोड़कर चला गया है अपितु वह तो सब जगह विद्यमान है और हम सबके अन्दर विद्यमान है और वह सदा हमें उपदेश देने को उसी प्रकार तैयार रहता है जैसाकि वह कभी भी किसीको भी उपदेश देने के लिए तैयार था। वह कोई ऐसा व्यक्तित्व नहीं है जोकि अब समाप्त हो चुका हो अपितु वह तो अन्तर्वासी आत्मा है जो हमारी आध्यात्मिक चेतना का लक्ष्य है।

परमात्मा साधारण अर्थ में कभी जन्म नहीं लेता। जन्म और अवतार की वे प्रक्रियाएं, जिनमें सीमित हो जाने का अर्थ निहित है, उसपर लागू नहीं होतीं। जब यह कहा जाता है *कि परमात्मा ने अपने-आपको किसी खास समय या किसी खास अवसर पर प्रकट* किया तो उसका अर्थ केवल इतना होता है कि ऐसा प्रकट होना किसी सीमित अस्तित्व को लेकर होता है। ग्यारहवें अध्याय में सारा संसार परमात्मा के अन्दर दिखाया गया है। संसार की कर्तामित और वस्तुरूपात्मक प्रक्रियाएं भगवान् की केवल उच्चतर और निम्नतर प्रकृतियों की अभिव्यक्तियां-मात्र हैं। फिर भी जो भी कोई वस्तु शानदार, सुन्दर और सबल है, उसमें परमात्मा का अस्तित्व कहीं अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त होता है। जब किसी सीमित व्यक्ति में आध्यात्मिक गुण विकसित हो जाते हैं और उसमें गहरी अन्तर्दृष्टि और उदारता दिखाई पड़ती है तब वह संसार के भले-बुरे का निर्णय करता है और एक आध्यात्मिक और सामाजिक उथल-पुथल खड़ी कर देता है तब हम कहते हैं कि परमात्मा ने अच्छाई की रक्षा और बुराई के विनाश के लिए और धर्म के राज्य की स्थापना के लिए जन्म लिया है। व्यक्ति के रूप में कृष्ण उन करोड़ों रूपों में से एक है जिनके द्वारा विश्वात्मा अपने-आपको प्रकट करता है। गीता के लेखक ने ऐतिहासिक कृष्ण का उल्लेख उसके शिष्य अर्जुन के साथ-साथ अनेक रूपों में से एक रूप के तौर पर किया है।[1] अवतार मनुष्य के आध्यात्मिक साधनों और प्रसुप्त दिव्यता का प्रदर्शन है। यह दिव्य गौरव का मानवीय रूपरेखा की सीमाओं में संकुचित हो जाना उतना नहीं है जितना कि मानवीय प्रकृति का भगवान् के साथ एकाकार होकर ईश्वरत्व के स्तर तक ऊंचा उठ जाना।

परन्तु ईश्वरवादियों का कथन है कि कृष्ण एक अवतार है अर्थात् ब्रह्म का मानवीय रूप में अवतरण। यद्यपि भगवान् जन्म नहीं लेता या उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता फिर भी वह बहुत बार जन्म ले चुका है। कृष्ण विष्णु का मानवीय साक्षात् रूप है। वह भगवान् है, जो संसार को ऐसा प्रतीत होता है मानो उसने जन्म ले लिया है और शरीर

---

[1] १० ।

धारण कर लिया है।[1] विश्व ब्रह्म द्वारा मानवीय स्वभाव को अंगीकार कर लेने से ब्रह्म की अखण्डता समाप्त नहीं होती और न उसमें कोई वृद्धि ही होती है ठीक उसी प्रकार जैसे संसार के सृजन से ब्रह्म की अखंडता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सृष्टि और अवतार दोनों का सम्बन्ध व्यक्त जगत् से है परमात्मा से नहीं।[2]

यदि असीम परमात्मा सदा सीमित अस्तित्वों में प्रकट रहता है तो उसका किसी एक विशिष्ट समय में विशेष रूप से और किसी एक मानवीय स्वभाव को ग्रहण करके प्रकट होना उसी गतिविधि को स्वेच्छापूर्वक पूर्ण करना भर है जिसके द्वारा दैवीय प्रभुता स्वतन्त्रतापूर्वक अपने-आपको पूर्ण करती है और ससीम की ओर झुकती रहती है। इसके फलस्वरूप उसके अलावा कोई नई समस्या खड़ी नहीं होती जो सृष्टि के कारण खड़ी होती है। यदि कोई मानव-शरीर परमात्मा की मूर्ति के रूप में गढ़ा जा सकता है, यदि आवर्तनशील ऊर्जा की सामग्री में नये नमूने रचे जा सकते हैं यदि इन रीतियों से वास्तवता को आनुक्रमिकता में समाविष्ट किया जा सकता है तो विश्व वास्तविकता (ब्रह्म) अपने अस्तित्व के परम स्वरूप को एक पूर्णतया मानवीय शरीर के रूप में और उस मानवीय शरीर के द्वारा प्रकट कर सकती है। मध्यकालीन दार्शनिक धर्म-विज्ञानियों ने हमें बताया है कि परमात्मा सब प्राणियों में 'सार, सान्निध्य और शक्ति द्वारा' विद्यमान रहता है। परम असीम स्वतः विद्यमान और अविकार्य का ससीम मानव प्राणी के साथ जो सांसारिक व्यवस्था में फंसा हुआ है सम्बन्ध कल्पनातीत रूप से घनिष्ठ है हालांकि इस सम्बन्ध की परिभाषा कर पाना और उसका स्पष्टीकरण

---

१ शंकराचार्य ने लिखा है स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते। 'अंशेन सम्बभूव' का अर्थ यह नहीं है कि कृष्ण भगवान् के अंश से उत्पन्न हुआ है या वह भगवान् का अंशावतार है। आनन्दगिरि ने 'अंशेन' की व्याख्या करते हुए यह अर्थ निकाला है कि 'अपनी इच्छा से रचे गए मायिक रूप में' स्वेच्छानिर्मितेन मायामयेन स्वरूपेण। जहां ईसाई-सम्प्रदाय में परमात्मा के पुत्र की मानवीय प्रकृति पर जोर दिया गया है, "जिसका गर्भाधान पवित्र आत्मा ने किया था, जिसे कुमारी मेरी ने जन्म दिया था जिसने पौंटियस पाइलेट के अधीन कष्ट सहे जिसे क्रॉस पर चढ़ाया गया था जो मर गया था और जिसे दफनाया गया था जहां भारतीय सम्प्रदाय ने इसकी बात और जोर दी है कि "वह स्वर्ग से नीचे आया और शरीर बन गया।" वह 'नीचे आना' या परमात्मा का उतरकर शरीर धारण कर लेना ही अवतार है।

२ तुलना कीजिए 'परमात्मा का मनुष्य के साथ यह एकरूप सम्मिलन उस अवतार स्वभाव में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि परमात्मा के लिए और कोई भी वस्तु इतनी स्वाभाविक नहीं है, जितना कि उसका किसी भी परिवर्तन का विषय न बनना।' पेसाविनिसेटीका थॉमिटी (८८ का संस्करण) खण्ड १ पृष्ठ ११४।

कर पाना कठिन है। उन महान् आत्माओं को जिन्हें हम अवतार कहते हैं परमात्मा जो मानव के अस्तित्व और गौरव के लिए उत्तरदायी है इस अस्तित्व और गौरव को आश्चर्यजनक रूप से नवीन रूप दे देता है। अवतारों में उस सनातन का जो विश्व की प्रत्येक घटना में विद्यमान है आनुक्रमिकता में प्रवेश एक गम्भीरतर अर्थ में प्रकट होता है। हमें स्वतन्त्र इच्छाशक्ति प्रदान करने के बाद परमात्मा हमें छोड़कर अलग खड़ा नहीं हो जाता कि हम स्वेच्छापूर्वक अपना निर्माण या विनाश कर सकें। जब भी कभी स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के फलस्वरूप अधर्म बढ़ जाता है और संसार की गाड़ी किसी लीक में फंस जाती है तो संसार को उस लीक में से निकालने के लिए और किसी नये रास्ते पर उसे चला देने के लिए वह स्वयं जन्म लेता है। अपने प्रेम के कारण वह सृष्टि के कार्य को उच्चतर स्तर पर ले जाने के लिए बार-बार जन्म लेता है। महाभारत में दिए गए एक श्लोक के अनुसार विश्व की रक्षा के लिए सदा उद्यत भगवान् के चार रूप हैं। उनमें से एक पृथ्वी पर रहकर तप करता है दूसरा गलतियाँ करनेवाली मानवता के कार्यों पर सतर्क दृष्टि रखता है तीसरा मनुष्य जगत् में कर्म में लगा रहता है और चौथा रूप एक हजार साल की नींद में सोया रहता है।[1] पूर्ण निष्क्रियता ही ब्रह्म के स्वभाव का एकमात्र पक्ष नहीं है। हिन्दू परम्परा में बताया गया है कि अवतार केवल मानवीय स्तर तक ही सीमित नहीं है। कष्ट और अपूर्णता की विद्यमानता का मूल मनुष्य के विद्रोही संकल्प में नहीं बताया गया अपितु परमात्मा के सृजनात्मक प्रयोजन और वास्तविक संसार के मध्य विद्यमान विषमता में बताया गया है। यदि कष्ट का मूल मनुष्य के 'पतन' को माना जाए, तो हम निर्दोष प्रकृति की अपूर्णताओं की उस भ्रष्टता की जो सब जीवित वस्तुओं में विद्यमान है और रोग के विधान (व्यवस्था) की व्याख्या नहीं कर सकते। इस निरर्थक प्रश्न से कि मछलियों को कैंसर क्यों होता है किसी प्रकार पिंड नहीं छुड़ाया जा सकता। गीता बताती है कि एक दिव्य स्रष्टा है जो अगाध शून्य पर अपने रूपों का आरोप करता है। प्रकृति एक अपरिष्कृत पदार्थ है एक अव्यवस्था जिसमें से व्यवस्था का विकास किया जाता है एक रात्रि जिसे प्रकाशित किया जाता है। जब भी दोनों के संघर्ष में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है तभी उस गतिरोध को दूर करने के लिए दैवीय हस्तक्षेप होता है। इसके अतिरिक्त एक अद्भुत प्रकाश की धारणा विश्व के सम्बन्ध में हमारे वर्तमान दृष्टिकोणों के साथ कठिनाई से ही

१ चतुर्मूर्तिरहं शश्वल्लोकत्राणार्थमुद्यतः।
आत्मानं प्रविभज्येह लोकानां हितमादधे॥
एका मूर्तिस्तपश्चर्यां कुरुते मे भुवि स्थिता।
अपरा पश्यति जगत् कुर्वाणं साध्वसाधुनी॥
अपरा कुरुते कर्म मानुषं लोकमाश्रिता।
शेते चतुर्थी त्वपरा निद्रां वर्षसहस्रिकाम्॥ —शान्तिपर्व, २६, ३२-३४।

मेल खाती है। यहूदियों का परमात्मा धीरे-धीरे पृथ्वी का परमात्मा बना और पृथ्वी का परमात्मा अब विश्व का परमात्मा सम्भवतः अनेक विश्वों में से एक विश्व का परमात्मा बन गया है। यह बात सोचने की भी नहीं है कि भगवान् का सम्बन्ध केवल क्षुद्रतम ग्रहों में से एक इस ग्रह के केवल एक अंश से ही है।

अवतार का सिद्धान्त आध्यात्मिक जगत् के नियम की एक नाटकपटुतापूर्ण अभिव्यक्ति है। यदि परमात्मा को मनुष्यों का रक्षक माना जाए, तो जब भी कभी बुराई की शक्तियां मानवीय मान्यताओं का विनाश करने को उद्यत प्रतीत होती हों तब परमात्मा को अपने-आपको प्रकट करना ही चाहिए। अवतार परमात्मा का मनुष्य में अवतरण है मनुष्य का परमात्मा में आरोहण नहीं जैसाकि मुक्त आत्माओं के मामले में होता है। यद्यपि प्रत्येक चेतन सत्ता इस प्रकार का अवतरण है, परन्तु वह केवल एक आच्छादित प्रकटन है। *ब्रह्म की आत्मचेतन सत्ता और उसीकी अज्ञान से आवृत सत्ता में अन्तर है।*

अवतरण या अवतार का तथ्य इस बात का द्योतक है कि ब्रह्म का एक पूर्ण सप्राण और शारीरिक प्रकटन से विरोध नहीं है। यह सम्भव है कि हम भौतिक शरीर में भी रहे हों और फिर भी हममें चेतना का पूर्ण सत्य विद्यमान हो। मानवीय प्रकृति कोई बेड़ी नहीं है अपितु यह दिव्य जीवन का एक उपकरण बन सकती है। हम सामान्य मर्त्य लोगों के लिए जीवन और शरीर-अभिव्यक्ति के अज्ञानपूर्ण अपूर्ण और अक्षम साधन होते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे सदा ऐसे ही हों। दिव्य चेतना इनका उपयोग अपने प्रयोजन के लिए करती है जबकि अस्वतन्त्र मानवीय चेतना का शरीर, प्राण और मन की शक्तियों पर ऐसा पूर्ण नियन्त्रण नहीं रहता।

यद्यपि गीता अवतार में इस विश्वास को स्वीकार करती है कि ब्रह्म संसार में किसी प्रयोजन को पूरा करने के लिए अपने-आपको सीमित कर देता है और तब भी उसके उस सीमित शरीर में पूर्ण ज्ञान विद्यमान रहता है साथ ही यह शाश्वत अवतार पर भी बल देती है, अर्थात् कि परमात्मा मनुष्य में विद्यमान रहता है दिव्य चेतना मानवप्राणी में सदैव विद्यमान रहती है। ये दो दृष्टिकोण ब्रह्म के अनुभवातीत और अन्तर्यामी पहलुओं के द्योतक हैं और ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं समझे जा सकते। गुरु कृष्ण जो मानव-जाति के आध्यात्मिक प्रबोधन में रुचि ले रहा है अपने अन्दर विद्यमान ब्रह्म की गहराई में से बोल रहा है। कृष्ण का अवतार हमारे अन्दर विद्यमान आत्मा के प्रकटन या अंधकार में छिपे हुए ब्रह्म के प्रकाशन का एक उदाहरण है। भागवत के अनुसार[1]

---

१ निमित्ते तु ज्योतिर्भूते जायमाने हुताशने
देवस्य देवपित्स्य विश्वः सर्वाश्रयस्य ।
यदेवमूर्ते साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः अभिव्यज्यते ।—भागवत ११ २२ ।
ईसा के शरीरधारण के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे तुलना कीजिए "जब सब

"मध्य रात्रि में जबकि घने से घना अन्धकार था घट-घटव्यापी भगवान् ने अपने-आपको दिव्य देवकी में प्रकट किया क्योंकि भगवान् सब प्राणियों के हृदय में स्वयं छिपा हुआ है।[1] उज्ज्वल प्रकाश काली से काली रात में प्रकट होता है। रहस्यों और प्रकाशनों की दृष्टि से रात बहुत समृद्ध है। रात्रि की उपस्थिति प्रकाश की उपस्थिति को कम वास्तविक नहीं बना देती। सच तो यह है कि यदि रात न हो तो मनुष्य को प्रकाश की अनुभूति ही न हो। कृष्ण के जन्म का अर्थ है अन्धकारमयी रात्रि में विमोचन (उद्धार) का तथ्य। कष्ट और त्रास के क्षणों में विश्व के उद्धारकर्ता का जन्म होता है।

कृष्ण का जन्म वसुदेव और देवकी से हुआ कहा जाता है। जब हमारी सत्त्व प्रकृति शुद्ध हो जाती है,[2] जब ज्ञान के दर्पण से वासनाओं की धूल को हटाकर उसे स्वच्छ कर दिया जाता है तब विशुद्ध चेतना का प्रकाश उसमें प्रतिबिम्बित होता है। जब सब कुछ नष्ट हो गया प्रतीत होता है, तब आकाश से प्रकाश फूट पड़ता है और वह हमारे मानवीय जीवन को इतना समृद्ध कर देता है कि उसे शब्दों द्वारा कहकर नहीं बताया जा सकता। सहसा एक चमक होती है हमें आन्तरिक आलोक प्राप्त होता है और जीवन बिलकुल नया और ताजा दिखाई पड़ने लगता है। जब हमारे अन्दर ब्रह्म का जन्म होता है, तब हमारी आँखों से केंचुली उतर जाती है और कारागार के द्वार खुल जाते हैं। भगवान् प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता है और जब उस गुप्त निवासस्थान का पर्दा फट जाता है, तब हमें दिव्य नाद सुनाई पड़ता है, दिव्य प्रकाश प्राप्त होता है और हम दिव्य शक्ति से कार्य करने लगते हैं। शरीरधारिणी मानवीय चेतना ऊपर उठकर अजन्मा शाश्वत के रूप में बदल जाती है।[3] कृष्ण का अवतार भगवान् का शरीर में रूपान्तरण

परमपुरुष शान्त निस्तब्धता में मग्न थी और रात्रि अपने तीव्र पथ का आधा भाग पार कर चुकी थी तब तेरा सर्वशक्तिमान् शब्द स्वर्ग में तेरे राजसिंहासन से नीचे आया। वैज्डम। ईश्वरत्रय के सिद्धान्त ने ईसाई-जगत् को काफी कुछ विक्षुब्ध किया। एरियस का मत था कि पुत्र (ईसा) पिता के बराबर नहीं अपितु उसके द्वारा उत्पन्न किया गया है। यह दृष्टिकोण कि वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं अपितु एक ही सत्ता के केवल विभिन्न पक्ष हैं सेबेलियस का सिद्धान्त है। पहली विचारधारा में पिता और पुत्र की पृथक्ता पर और पिछले सिद्धान्त में उन दोनों की एकता पर जोर दिया गया है। अन्त में जो दृष्टिकोण प्रचलित हुआ वह यह था कि पिता और पुत्र बराबर हैं और एक ही तत्त्व हैं परन्तु वे एक-दूसरे से पृथक् व्यक्ति हैं।

१ १ २ ३ १ ११।

२ सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्। भागवत। देवकी दैवी प्रकृति है दिव्य प्रकृति।

३ मेरे विचार से ईसामसीह के पुनरुत्थान के सिद्धान्त का अर्थ यही है। ईसा का शारीरिक पुनरुत्थान महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है अपितु दिव्य (आत्मा) का पुनरुत्थान महत्त्वपूर्ण वस्तु है। मनुष्य का पुनर्जन्म जो उसकी आत्मा के अन्दर एक ऐसी घटना के रूप में होता है जिसके फलस्वरूप उसे आत्मिकता

मेल खाती है। कबीलों का परमात्मा धीरे-धीरे पृथ्वी का परमात्मा बना और पृथ्वी परमात्मा अब विश्व का परमात्मा सम्भवतः अनेक विश्वों में से एक विश्व का परमा बन गया है। यह बात सोचने की भी नहीं है कि भगवान् का सम्बन्ध केवल क्षुद्रतम से एक इस ग्रह के केवल एक अंश से ही है।

अवतार का सिद्धान्त आध्यात्मिक जगत् के नियम की एक नाकपट्टताप् व्यक्ति है। यदि परमात्मा को मनुष्यों का रक्षक माना जाए, तो जब भी कभी शक्तियां मानवीय मान्यताओं का विनाश करने को उद्यत प्रतीत होती हों त को अपने-आपको प्रकट करना ही चाहिए। अवतार परमात्मा का मनुष्य मं मनुष्य का परमात्मा में आरोहण नहीं जैसाकि मुक्त आत्माओं के साम यद्यपि प्रत्येक चेतन सत्ता इस प्रकार का अवतरण है परन्तु यह केवल प्रकटन है। ब्रह्म की आत्मचेतन सत्ता और उसीकी प्रज्ञा से आवृत

अवतरण या अवतार का तथ्य इस बात का द्योतक है कि ब्रह्म और शारीरिक प्रकटन से विरोध नहीं है। यह सम्भव है कि हम भौ हों और फिर भी हममें चेतना का पूर्ण सत्य विद्यमान हो। मानवीय है, अपितु यह दिव्य जीवन का एक उपकरण बन सकती है। हम लिए जीवन और शरीर-अभिव्यक्ति के अज्ञानपूर्ण अपूर्ण और मद यह आवश्यक नहीं कि वे सदा ऐसे ही हों। दिव्य चेतना इसका लिए करती है जबकि अस्वतन्त्र मानवीय चेतना का शरीर, पर ऐसा पूर्ण नियन्त्रण नहीं रहता।

यद्यपि गीता अवतार में इस विश्वास को स्वीकार किसी प्रयोजन को पूरा करने के लिए अपने-आपको सीमित उस सीमित शरीर में पूर्ण ज्ञान विद्यमान रहता है साथ बल देती है, अर्थात् कि परमात्मा मनुष्य में विद्यमान र में सर्वत्र विद्यमान रहती है। ये दो दृष्टिकोण ब्रह्म के गुणों के द्योतक हैं और ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी जो मानव-जाति के आध्यात्मिक प्रबोधन में रुचि से की गहराई में से बोल रहा है। कृष्ण का अवतार हम तम का अंधकार में छिपे हुए ब्रह्म के प्रकाशन का

१ निशीथे तु तमोद्भूते जायमाने जनार्दने
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः आविरासीत्।—
ईसा के अवतार के सम्बन्ध में जो कुछ कहा

है इस बात का महत्त्व बहुत कम है कि इसका लेखक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है या मनुष्य के रूप में अवतरित स्वयं भगवान्, क्योंकि आत्मा की वास्तविकताएं अब भी वही हैं जो आज से हजारों साल पहले थीं और जाति एवं राष्ट्रीयता के अन्तर उनपर कोई प्रभाव नहीं डालते। असली वस्तु सत्य या सार्थकता है, और ऐतिहासिक तथ्य उसकी मूर्ति से अधिक कुछ भी नहीं है।[1]

६ संसार की स्थिति और माया की धारणा

यदि ब्रह्म का मूल स्वरूप निर्गुण अर्थात् गुणहीन और अचिन्त्य (अर्थात् जिसके विषय में कुछ सोचा भी न जा सके) हो, तो संसार एक ऐसी व्यक्त वस्तु है, जिसका सम्बन्ध परब्रह्म से तर्कसंगत ढंग से नहीं जोड़ा जा सकता। ब्रह्म की अपरिवर्तनीय वास्तवता में सब चल और विकसमान वस्तुएं आधारित हैं। उसके द्वारा ही उनका अस्तित्व है और सभी ही वह किसी वस्तु का भी कारण नहीं है—कुछ नहीं करता, किसी बात का निर्धारण नहीं करता, फिर भी उसके बिना वे वस्तुएं रह नहीं सकतीं। यह संसार तो ब्रह्म पर निर्भर है, परन्तु ब्रह्म इस संसार पर निर्भर नहीं है। यह एकपक्षीय निर्भरता और परम वास्तविकता तथा संसार के मध्य सम्बन्ध की तर्कपूर्ण अचिन्तनीयता 'माया' शब्द से सामने आ जाती है। यह संसार ब्रह्म की भांति कोई मूल अस्तित्व (सत्) नहीं है और न यह केवल अनस्तित्व (असत्) ही है। इसकी परिभाषा सत् या असत् दोनों में से किसीके भी द्वारा नहीं की जा सकती। धार्मिक अनुभूतियों द्वारा आत्मा की परम वास्तविकता के आकस्मिक आविर्भाव के कारण हम बहुत बार संसार को अशुद्ध ज्ञान या मिथ्यार्थ ग्रहण के बजाय भ्रम (माया) समझने लगते हैं। यह एक परिसीमन है, जो अमापित और अमाप्य से

---

१ स्पिनोज़ा से तुलना कीजिए : 'मुक्ति प्राप्त करने के लिए शरीरधार के रूप में ईसा को जानना बिलकुल आवश्यक नहीं है। परन्तु तथाकथित परमात्मा के उस शाश्वत पुत्र के सम्बन्ध में (डी ऐटर्नो फ़िल्लो देई फ़िलियो) जो परमात्मा का सनातन ज्ञान है, जो सब वस्तुओं में और मुख्य रूप से मनुष्य के रूप में और सबसे अधिक विशेष रूप में ईसा में व्यक्त हुआ है, बात ठीक इससे उल्टी है, क्योंकि उसके ज्ञान के बिना कोई भी मनुष्य परम आनन्द की अवस्था तक नहीं पहुंच सकता। क्योंकि इसके सिवाय और कोई वस्तु उसे यह नहीं सिखा सकती कि क्या सत्य है और क्या मिथ्या, क्या अच्छा है और क्या बुरा। इस प्रकार स्पिनोज़ा के लिए ऐतिहासिक ईसा और आदर्श ईसा में भेद स्पष्ट है। ईसा की दिव्यता एक ऐसा धर्म सिद्धान्त है जो ईसाइयों की अन्तरात्मा में व्याप्त है। सार्वकालीन सिद्धान्त एक ऐतिहासिक तथ्य की धर्मविधानात्मक व्याख्या है। इस सम्बन्ध में लोइसी का कथन है, "ईसा का पुनरुत्थान उसके मानविक जीवन का अन्तिम कार्य, मनुष्यों के बीच उसकी सेवा का अन्तिम कार्य नहीं था, अपितु धर्मप्रचारकों की श्रद्धा और ईसाई धर्म की व्याख्या-मिश्रित स्थापना का पहला कदम था।" मोर पीटर, लोइसी (१६७४) पृष्ठ ६५-६६।

२ तत्त्वतस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयम्।

मूलक वस्तु है। परन्तु यह परिसीमन किसलिए है ? इस प्रश्न का उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक हम अनुभूतिमूलक स्तर पर हैं।

प्रत्येक धर्म में परम वास्तविकता की कल्पना इस रूप में की गई है कि वह हमारी काल-व्यवस्था से जिसका आदि और अन्त है, जिसमें गति और उतार-चढ़ाव है असीम रूप से ऊपर है। ईसाई धर्म मे परमात्मा को इस रूप में प्रदर्शित किया गया है कि उसमें परिवर्तनशीलता नहीं है या अदल-बदल की छाया तक नहीं है। वह आदि से अन्त तक देखता हुआ शाश्वत वर्तमान मे निवास करता है। यदि यही बात होती तो दिव्य जीवन और इस विविधरूप संसार में एक ऐसा पक्का भेद हो जाता जिसके कारण इन दोनों में किसी भी प्रकार का सम्मिलन असम्भव हो जाता। यदि परम वास्तविकता एकाकी निष्क्रिय और अविचल हो तो काल गति और इतिहास के लिए कोई अवकाश ही न होगा काल अपनी परिवर्तन और आनुक्रमिकता की प्रक्रियाओं के साथ केवल एक आभास-मात्र बन जाएगा। परन्तु परमात्मा एक सप्राण मूल तत्त्व है एक व्यापक शक्ति। यह प्रश्न किसी ऐसी प्रबल सत्ता का नहीं है जिसके साथ विविधरूपता का आभास जुड़ा हुआ है या किसी ऐसे सप्राण परमात्मा का जो इस बहुविध विश्व में कार्य कर रहा है। यह यह भी है और यह भी। शाश्वतता का अर्थ काल या इतिहास का निषेध नहीं है। यह समय का रूपान्तरण है। काल शाश्वतता से निकलता है और उसीमें पूर्णता को प्राप्त होता है। भगवद्गीता में शाश्वतता और काल में कोई विरोधिता नहीं है। कृष्ण के अंकन द्वारा शाश्वत और ऐतिहासिक के मध्य एकता घोषित की गई है। ऐहिक गतिविधि का सम्बन्ध सनातन की आन्तरिकतम गम्भीरताओं के साथ है।

आत्मा सब द्वैतों से ऊपर रहती है परन्तु जब उसे विश्व के दृष्टिकोण से देखा जाता है, तो वह अनुभवातीत विषय-वस्तु के सम्मुख खड़े अनुभवातीत कर्ता के रूप में बदल जाती है। कर्ता और विषय-वस्तु एक ही वास्तविकता के दो मुख हैं। वे परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। वस्तुरूपात्मकता का मूल तत्त्व मूल प्रकृति जो सम्पूर्ण अस्तित्व की अव्यक्त सम्भावना है ठीक उसी प्रकार की वस्तु है जिस प्रकार की वस्तु सृजनात्मक सत्य ब्रह्म ईश्वर है। सनातन 'अहं' अर्थसनातन 'नाहं' के सम्मुख रहता है नारायण जल मे ध्यानमग्न रहता है। क्योंकि 'नाहं' प्रकृति आत्मा का एक प्रतिबिम्ब-मात्र है, इसलिए यह आत्मा के अधीन है। जब परब्रह्म में निषेधात्मकता का तत्त्व आ घुसता है, तब उसकी आन्तरिकता अस्तित्व (नाम-रूप) धारण की प्रक्रिया में प्रकट होने लगती है। मूल एकता विश्व की सम्पूर्ण गतिविधि से गर्भित हो उठती है।

विश्व की प्रक्रिया सत् और असत् के दो मूल तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया है। परमात्मा ऊपरी सीमा है, जिसमें असत् का न्यूनतम प्रभाव है और जिसका असत् पर

पूर्ण नियन्ता है और भौतिक तत्त्व या प्रकृति निचली सीमा है जिसपर सत् का प्रभाव न्यूनतम है। विश्व की सारी प्रक्रिया सर्वोच्च परमात्मा की प्रकृति पर क्रिया है। प्रकृति की कल्पना एक नकारात्मक सत्ता के रूप में की गई है क्योंकि इसमें प्रतिरोध करने की शक्ति है। प्रतिरोधक रूप में यह बुरी है। केवल परमात्मा में पहुंचकर यह पूरी तरह से छिन्न और परास्त हो पाती है। शेष सारी सृष्टि में यह कुछ कम या अधिक रूप में प्रकाश पर आवरण डालनेवाली शक्ति है।

गीता आधिविद्यक द्वैतवाद का समर्थन नहीं करती क्योंकि असत् का मूल तत्त्व सत् पर निर्भर है। भगवान् के दर्शन के लिए असत् वास्तविकता में एक आवश्यक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। संसार जो कुछ है, उसका कारण तनाव है। काम और परिवर्तन का संसार पूर्णता तक पहुंचने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। असत् जो सब अपूर्णताओं के लिए जिम्मेदार है संसार में एक आवश्यक तत्त्व है, क्योंकि यही वह सामग्री है जिसमें परमात्मा के विचार मूर्त होते हैं। विश्व रूप (पुरुष) और भौतिक तत्त्व (प्रकृति) एक ही आध्यात्मिक समस्त के अंग हैं। जब सारा संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है जब यह निर्दोषता की स्थिति तक ऊंचा उठ जाता है जब यह पूर्णतया आलोकित हो जाता है, तब भगवान् का प्रयोजन पूरा हो जाता है और संसार फिर अपनी मूल विशुद्ध सद्-अवस्था में पहुंच जाता है जो सब विभेदों से ऊपर है।

असत् क्यों है? पतन या 'परम सद्' से अस्तित्वमान् (नामरूपमय) होने की स्थिति क्यों होती है? यह प्रश्न दूसरे शब्दों में यह पूछना है कि सत् और असत् के मध्य अविराम संघर्षवाला यह संसार किसलिए बना है? परम सत् एक परमात्मा संसार के पीछे भी है परे भी और संसार में भी है। वह साथ ही सर्वोच्च सप्राण परमात्मा भी है जो संसार से प्रेम करता है और अपनी दया द्वारा उसका उद्धार करता है। संसार अपने क्रमिक सोपान-तन्त्र के साथ जो कुछ है उस रूप में यह क्यों है? हम केवल इतना कह सकते हैं कि अपने-आपको इस रूप में प्रकट करना भगवान् का स्वभाव है। हम संसार के होने का कारण नहीं बतला सकते हम केवल इसकी प्रकृति के विषय में बतला सकते हैं जो अस्तित्वमान् होने की प्रक्रिया में सत् और असत् के बीच चल रहे संघर्ष के रूप में है। विशुद्ध सत् संसार से ऊपर है और विशुद्ध असत् निम्नतम विद्यमान वस्तु से भी नीचे है। यदि हम उससे भी नीचे जाएं, तो हम शून्य तक पहुंच जाएंगे जो बिलकुल परम अनस्तित्व है। इसके अस्तित्वमान् जगत् संसार में हम सत् और असत् के दो मूल तत्त्वों के बीच संघर्ष दिखाई पड़ता है।

पारस्परिक क्रिया की पहली उपज ब्रह्माण्ड है जिसके अन्दर व्यक्त सत् की

१ प्लौटिनस से तुलना कीजिए, जो भौतिक तत्त्व को 'परमात्मा के शिशु' के रूप में मानता है जिसे जगत् की आत्मा में रूपान्तरित किया जाता है।

सम्पूर्णता निहित रहती है। बाद में होनेवाले सब विकास उसके अन्दर बीजरूप में रहते हैं। उसके अन्दर अतीत वर्तमान और भविष्य एक सर्वोच्च 'भव' (प्रभुता) में निहित रहते हैं। अर्जुन सारे विश्वरूप को एक विशाल आकृति में देखता है। वह ब्रह्म के रूप को अस्तित्व की सम्पूर्ण सीमाओं को तोड़ते हुए, सम्पूर्ण आकाश और विश्व को व्याप्त करते हुए देखता है जिसमें लोक जलप्रपातों की भांति बह रहे हैं।

जो लोग भगवान् को अव्यक्तिक (निर्गुण) और सम्बन्धहीन मानते हैं, वे आत्म प्रकाशन की शक्तिसमेत ईश्वर की धारणा को अज्ञान (अविद्या) का परिणाम मानते हैं।[1] विचार की वह शक्ति जो उन रूपों को उत्पन्न करती है जो क्षणिक हैं और इसी लिए शाश्वत वास्तविकता की तुलना में अवास्तविक हैं इन रूपों को उत्पन्न करने के कारण अविद्या कहलाती है। परन्तु अविद्या किसी इस या उस व्यक्ति का विलक्षण गुण नहीं है। यह भगवान् की आत्मप्रकाशन की शक्ति कही जाती है। भगवान् का कथन है कि यद्यपि वह वस्तुतः अजन्मा है परन्तु वह अपनी शक्ति द्वारा आत्ममायया[2] जन्म लेता है। माया शब्द 'मा' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—बनाना रचना करना और मूलतः इस शब्द का अर्थ था—रूप उत्पन्न करने की क्षमता। वह सृजनात्मक शक्ति जिसके द्वारा परमात्मा विश्व को गढ़ता है योगमाया कहलाती है। इस बात का कोई संकेत नहीं है कि माया द्वारा या परमात्मा मायी की रूप गढ़ने की शक्ति द्वारा उत्पन्न किए गए रूप घटनाएं और वस्तुएं केवल भ्रम हैं।

कभी-कभी माया को मोह का स्रोत भी बताया जाता है। "प्रकृति के इन तीन गुणों से मूढ़ होकर यह संसार मुझे नहीं पहचान पाता क्योंकि मैं इन तीनों गुणों से ऊपर और अनश्वर हूं।"[3] माया की शक्ति के कारण हमारे अन्दर एक भ्रमित करनेवाली

---

१ शंकराचार्य का कथन है कि "वे नाम और रूप जिन्हें आत्मा की प्रकृति के अज्ञान के फलस्वरूप परमेश्वर में विद्यमान समझा जाता है और जिनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे भगवान् से भिन्न हैं या अभिन्न श्रुति और स्मृति ग्रन्थों में सर्वज्ञ परमेश्वर की माया शक्ति और प्रकृति कहे गए हैं।" ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य २, १, १४।

२ ४, ६। 'भगवान् ने अपनी योग की शक्ति का प्रयोग करके लीला करने की इच्छा की।'
भगवानपि ... मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः। भागवत १०, २९, १।
विश्व परिस्थिति किसी अपने प्रयोजन को सामने रखकर प्रारम्भ नहीं की गई क्योंकि परमात्मा तो निस्पृह है। यह स्वाभाविक या स्वतः लीला शब्द के प्रयोग द्वारा स्पष्ट किया गया है। लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। ब्रह्मसूत्र २, १, ३३। ऐसा उपनिषद् में कहा गया है कि यह एक परमात्मा संसार की विविध परिस्थितियों में सदा क्रीड़ा करता रहता है। एको देवो नित्यलीलानुरक्तः। ४, १।

३ ७, १३। नारद पंचरात्र से तुलना कीजिए: "यह एक ही भगवान् सदा सबमें और प्रत्येक में रहता है। सब प्राणी उसके कर्म से ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे उसकी माया द्वारा ठगे जाते हैं।" १, १, ११। महाभारत में कहा गया है: "हे नारद, जो तुम देखते हो वह माया है, जिसे मैंने

प्रांशिक चेतना आ जाती है जो वास्तविकता को देखने में असमर्थ रहती है और दृश्य तत्त्व के वशवर्ती में रहती है। परमात्मा का वास्तविक अस्तित्व प्रकृति की क्रीड़ा और इसके गुणों द्वारा आवृत हो जाता है। संसार को भ्रामक इसलिए कहा जाता है क्योंकि परमात्मा अपने-आपको अपनी सृष्टि के पीछे छिपा लेता है। संसार अपने-आपमें धोखा नहीं है अपितु यह धोखे का निमित्त बन जाता है। वास्तविकता को जानने के लिए हमें सब रूपों को छिन्न-भिन्न करके आवरण के पीछे पहुंचना होगा। यह संसार और इसके परिवर्तन परमात्मा का तिरोधान (छिप जाना) बन जाते हैं या स्रष्टा को उसकी सृष्टि द्वारा धुंधला या अदर्शनीय कर देते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति अपने मन को स्रष्टा की ओर प्रेरित करने के बजाय संसार के विषयों की ओर झुकने की रहती है। परमात्मा एक महान् ऐन्द्रजालिक प्रतीत होता है क्योंकि वह इस संसार को और इन्द्रियों के विषयों को उत्पन्न करता है और हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुख कर देता है।[1] अपने-आपको धोखा देने की प्रवृत्ति इन्द्रियों के विषयों को प्राप्त करने की इच्छा में निहित है। यह इच्छा वस्तुतः मनुष्य को परमात्मा से दूर ले जाती है। संसार की चमक-दमक हमपर अपना जादू फेर देती है और हम उससे प्राप्त होनेवाले पुरस्कारों के दास बन जाते हैं। यह दुनिया या वस्तुरूपात्मक प्रकृति या संसार पतित दास और विजातीय है और यह कष्टों से भरा हुआ है क्योंकि आन्तरिक सत्ता से विजातीय बन जाना कष्ट है। जब यह कहा जाता है कि 'मेरी इस दिव्य माया को जीतना बहुत कठिन है' तो इसका अर्थ यह होता है कि हम संसार और उसकी गतिविधियों को आसानी से लेकर उनके पीछे नहीं पहुंच सकते।

यहां पर हम उन विभिन्न अर्थों में अन्तर कर सकते हैं, जिनमें 'माया' शब्द का प्रयोग किया गया है और गीता में इसका स्थान नियत कर सकते हैं। (१) यदि परम वास्तविकता संसार की घटनाओं से अप्रभावित रहती है तो इन घटनाओं का होना एक ऐसा रहस्य बन जाता है जिसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। गीता का लेखक 'माया' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं करता भले ही उसके विचार में यह अर्थ कितना ही निहित क्यों न रहा हो। एक आदिहीन और साथ ही अवास्तविक अविद्या की धारणा जो इस सारे संसार की प्रकृति का कारण है, गीता के लेखक के मन में नहीं आई। (२) व्यक्तिक ईश्वर के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि वह अपने अन्दर सत् और असत् को

उत्पन्न किया है। तू यह मत समझ कि मेरे रचे हुए संसार में जो गुण पाए जाते हैं वे मुझमें विद्यमान हैं।

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि॥ —शान्तिपर्व ३३९. ४४।

1. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४ [illegible]।
2. [illegible] माया दी रेलिजन ऑफ [illegible], ११।

मिलाता है। उसके अन्दर ब्रह्म की अविकार्यता भी है और साथ ही अस्तित्वमान् होने का विकार या परिवर्तन भी है। माया वह शक्ति है जो उसे परिवर्तनशील प्रकृति को उत्पन्न करने में समर्थ बनाती है। यह ईश्वर की शक्ति या ऊर्जा या आत्मविभूति है अपने आपको अस्तित्वमान् बनाने की शक्ति। इस अर्थ में ईश्वर और माया परस्पराश्रित हैं और अनादि हैं।[1] गीता में भगवान् की इस शक्ति को माया कहा गया है।[2] (३) क्योंकि परमात्मा अपने अस्तित्व के दो तत्त्वों प्रकृति और पुरुष भौतिक तत्त्व और चेतना द्वारा संसार को उत्पन्न कर सकता है इसलिए ये दोनों तत्त्व भी परमात्मा की (उच्चतर और निम्नतर) माया कहे जाते हैं।[3] (४) क्रमशः माया का अर्थ निम्नतर प्रकृति हो जाता है क्योंकि पुरुष को तो वह बीज बताया गया है जिसे भगवान् संसार की सृष्टि के लिए प्रकृति के गर्भ में डालता है।[4] (५) क्योंकि यह व्यक्त जगत् वास्तविकता को मर्त्य प्राणियों की दृष्टि से छिपाता है इसलिए इसे भी भ्रामक ढंग का बताया गया है। यह संसार कोई भ्रान्ति नहीं है यद्यपि इसे परमात्मा से असम्बद्ध केवल प्रकृति का यांत्रिक निर्धारण समझ लेने के कारण हम इसके दैवीय तत्त्व को समझने में असमर्थ रहते हैं। तब यह भ्रान्ति का कारण बन जाता है। दैवीय माया अविद्या माया बन जाती है। परन्तु यह केवल हम मर्त्यों के लिए, जो सत्य तक नहीं पहुँच सकते अविद्या माया है परन्तु परमात्मा के लिए, जो सब कुछ जानता है और इसका नियन्त्रण करता है, यह विद्या माया है। ऐसा लगता है कि परमात्मा माया के एक विशाल आवरण में लिपटा हुआ है।[5] (६) क्योंकि यह संसार परमात्मा का एक कार्य-मात्र है और परमात्मा इसका कारण है और क्योंकि सभी जगह कारण कार्य की अपेक्षा अधिक वास्तविक होता है, इसलिए यह संसार, जोकि कार्यरूप है कारणरूप परमात्मा की अपेक्षा कम वास्तविक कहा जाता है। संसार की यह आपेक्षिक अवास्तविकता अस्तित्वमान् होने की प्रक्रिया की आत्मविरोधी प्रवृत्ति द्वारा पुष्ट हो जाती है। अनुभव के जगत् में विरोधी वस्तुओं में संघर्ष चलता रहता है और वास्तविक (ब्रह्म) सब विरोधों से ऊपर है।

१ ७ १४।

२ देखिए [illegible] १ १० और (४) [illegible] उपनिषद्, ४ १।

३ ७ १२ ४ ६।

४ ७ १४।

५ ७, २५ और ? ।

६ जो माया अविद्या को उत्पन्न नहीं करती वह शुद्धसत्त्व माया कहलाती है। जब यह दूषित हो जाती है तब वह अज्ञान या अविद्या को जन्म देती है। ब्रह्म जब पहले प्रकार की माया में प्रतिबिम्बित होता है तब वह ईश्वर कहलाता है और जब वह पिछले प्रकार की माया में प्रतिबिम्बित होता है तो वह जीव या व्यक्तिगत आत्मा कहलाता है। यह परवर्ती वेदान्त है। देखिए पंचदशी १ १५–१७ गीता इस दृष्टिकोण से परिचित नहीं है।

७ १ ३५, ७, २ ६ १३।

७. व्यक्तिक आत्मा

वास्तविकता (ब्रह्म) स्वभावतः असीम सर्वोच्च निष्कलुष और अपनी एकता और परम आनन्द से इस प्रकार युक्त है कि उसमें किसी विजातीय तत्त्व का प्रवेश नहीं हो सकता। विश्व की प्रक्रिया में वे द्वैत और विरोध उत्पन्न होते हैं जो असीम और अविभक्त वास्तविकता को आंख से ओझल कर देते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्दों में विश्व की प्रक्रिया भौतिक तत्त्व[1] (अन्न) जीवन (प्राण) मन (मनस्) बुद्धि (विज्ञान) और परम आनन्द (आनन्द) की पांच अवस्थाओं में से गुजरी है। सब वस्तुओं को जीवन की पूर्णतात्मक दौड़ में भाग लेने के कारण उन्हें एक आन्तरिक प्रेरणा दी गई है। मानव प्राणी विज्ञान या बुद्धि की चौथी अवस्था में है। वह अपने कर्मों का स्वामी नहीं है। उसे उस सार्वभौम वास्तविकता का ज्ञान है, जो इस सारी योजना के पीछे कार्य कर रही है। वह भौतिक तत्त्व जीवन और मन को जानता प्रतीत होता है। उसने एक बड़ी सीमा तक भौतिक जगत् प्राणिजगत् और यहां तक कि मन के अस्पष्ट क्रियाकलापों पर अधिकार कर लिया है परन्तु अभी तक वह पूर्णतया प्रबुद्ध चेतना नहीं बन सका। जिस प्रकार भौतिक तत्त्व के बाद जीवन और जीवन के बाद मन और मन के बाद बुद्धि का स्थान आता है उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य एक उच्चतर और दिव्य जीवन के रूप में विकसित होगा। निरन्तर अधिकाधिक आत्मवृद्धि प्रकृति की तीव्र प्रेरणा रही है। संसार के लिए परमात्मा का ध्येय या मनुष्य के लिए ब्रह्माण्डीय भवितव्यता यह है कि इसी मर्त्य शरीर द्वारा अमर महत्त्वाकांक्षा को प्राप्त किया जाए इस भौतिक शरीर और बौद्धिक चेतना में और इसीके द्वारा दिव्य जीवन को उपलब्ध किया जाए।

ब्रह्म मनुष्य के अन्तरतम में निवास करता है और उसे विनष्ट नहीं किया जा सकता। यह आन्तरिक ज्योति है एक छिपा हुआ साक्षी जो सदा बना रहता है और जो जन्म जन्मान्तर में अमरवर है। उसे मृत्यु जरा या दोष छू नहीं सकते। यह जीव का जो आत्मिक व्यष्टि है मूल तत्त्व है। जीव परिवर्तित होता है और जन्म जन्मान्तर में उन्नति करता जाता है और जब आत्मा का ब्रह्म के साथ पूर्ण एकत्व स्थापित हो जाता है तब वह उस आत्मिक अवस्था में पहुंच जाता है जो उसकी भवितव्यता है और जब तक वह दशा नहीं आती तब तक वह जन्म और मरण के फेर में पड़ा रहता है।

प्रत्येक प्राणी में परिमाण के सब रूप पाए जाते हैं यद्यपि मानवीय मन के सुनिर्धारित आकारों के नीचे भौतिकता संघटन और पशुत्व की परम्पराएं विद्यमान हैं। भौतिक तत्त्व प्राण और मन जो इस संसार को भरे हुए हैं हमारे अन्दर भी विद्यमान हैं। जो शक्तियां बाह्य जगत् में कार्य कर रही हैं उनका प्रभाव हमपर भी है। हमारी बौद्धिक प्रकृति

[1] [illegible]

आत्मचेतना को उत्पन्न करती है और वह आत्मचेतना मानवीय व्यष्टि को प्रकृति के साथ उसकी मूल एकता से ऊपर उठा देती है। समूह के साथ मिले रहने की सहज प्रवृत्तिक भावना से उसे जो सुरक्षा अनुभव होती है वह जाती रहती है और वह सुरक्षा की भावना फिर एक ऊँचे स्तर पर पहुंचकर अपने व्यक्तित्व को बिना गंवाए दुबारा प्राप्त की जाती है। अपने आत्म के सक्रिय द्वारा संसार के साथ उसकी एकता एक सहज प्रेम और निःस्वार्थ कार्य द्वारा उपलब्ध की जाती है। प्रारम्भिक दृश्य में अर्जुन प्रकृति के संसार और समाज के सम्मुख खड़ा है और वह अपने आपको बिलकुल अकेला अनुभव करता है। वह सामाजिक प्रमाणों के सम्मुख झुककर आन्तरिक सुरक्षा प्राप्त करना नहीं चाहता। जब तक वह अपने-आपको एक क्षत्रिय के रूप में देखता है, जिसका काम लड़ना है जब तक वह अपनी पदस्थिति और उसके कर्तव्यों से जकड़ा हुआ है तब तक उसे अपने वैयक्तिक कर्म की पूरी सम्भावनाओं का पता नहीं चलता। हममें से अधिकांश लोग सामाजिक जगत् में अपने विशिष्ट स्थान को प्राप्त करके अपने जीवन को एक अर्थ प्रदान करते हैं और एक सुरक्षा की अनुभूति एक आत्मीयता की भावना प्राप्त करते हैं। साधारणतया सीमाओं के अन्दर रहते हुए हम अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अवसर पा लेते हैं और सामाजिक विनियमों बन्धन अनुभव नहीं होती। व्यक्ति अभी तक उभर नहीं पाता है। वह सामाजिक माध्यम से भिन्न रूप में अपने विषय में सोच भी नहीं पाता। अर्जुन सामाजिक प्राधिकार के सम्मुख पूर्णतया विनत होकर अपनी असहायता और दुश्चिन्ता की अनुभूति पर विजय पा सकता था परन्तु वह उसके विकास को रोकना होता। किसी भी बाह्य प्राधिकार के सम्मुख झुककर प्राप्त की गई सन्तोष और सुरक्षा की भावना आत्मा की अखंडता के मोल पर खरीदी जाती है। आधुनिक विचारधाराओं जैसेकि एकतन्त्रवाद का कथन है कि व्यक्ति की रक्षा उसको समाज में लय करके ही की जा सकती है। वे यह भूल जाते हैं कि *समाज का अस्तित्व केवल मानवीय व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के लिए है।* अर्जुन अपने-आपको सामाजिक सन्दर्भ से अलग कर लेता है अकेला खड़ा होता है और संसार के संघर्षपूर्ण और असहाय बना देनेवाले पहलुओं का सामना करता है। अकेलेपन और दुश्चिन्ताओं पर विजय पाने के लिए झुक जाना मानवोचित रीति नहीं है। अपनी आन्तरिक आध्यात्मिक प्रकृति का विकास करके हमें संसार के साथ एक नये प्रकार की आत्मीयता की अनुभूति होनी है। हम उस स्वतन्त्रता तक ऊपर उठ जाते हैं, जहाँ आत्मा की अखण्डता पर आंच नहीं आती। तब हम सक्रिय सृजनशील व्यक्तियों के रूप में अपने आपको पहचान लेते हैं और तब हम बाह्य प्राधिकार के अनुशासन के अनुसार जीवन नहीं बिताते अपितु स्वतन्त्र सत्यनिष्ठा के आन्तरिक नियम के अनुसार जीवन बिताते हैं।

वैयक्तिक आत्मा ईश्वर[1] का एक अंश है भगवान् का एक वास्तविक नहीं अपितु

---

[1] ५। ०। भागवत के इस विश्व तत्त्व को कई नाम दिए गए हैं—रीर्षे भूमि [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]।

वास्तविक रूप परमात्मा का एक सीमित व्यक्त रूप। आत्मा जोकि परमेश्वर से निकली है, भगवान् से निकास के रूप में उतनी नहीं है जितनी कि उसके अंश के रूप में। वह अपना आदर्श उसी श्रेष्ठ मूल तत्त्व से प्राप्त करती है जो एक पिता के रूप में है जिसने उसे अस्तित्व प्रदान किया है। आत्मा का महत्त्वपूर्ण अस्तित्व दिव्य बुद्धि से उत्पन्न होता है और जीवन में उसकी अभिव्यक्ति उस भगवान् के दर्शन द्वारा होती है जो भगवान् उसका पिता और उसका सदा विद्यमान साक्षी है। इसकी विशिष्टता उस दिव्य आदर्श और उन इन्द्रियों तथा मन के उस पूर्वापर-सम्बन्ध द्वारा निर्धारित होती है जिनमें यह अपने पास खींच लेती है। सार्वभौम एक सीमित मनोमय-प्राणमय-अन्नमय कोष में साकार हुआ है।[1] कोई भी व्यक्ति ठीक अपने साथी जैसा नहीं है। कोई भी जीवन किसी दूसरे जीवन की पुनरावृत्ति नहीं है फिर भी सब व्यक्ति ठीक एक ही नमूने पर बने हैं। जीव का सार मानव व्यक्तित्व को अन्य सबसे पृथक करनेवाली विशेषता एक खास सृजनशील एकता है, एक आन्तरिक योग्यता एक योजना जिसने अपने-आपको क्रमशः एक सावयव एकता के रूप में साकार किया है। जैसा हमारा उद्गम होता है वैसा हमारा जीवन होता है। व्यक्ति जो भी रूप धारण करता है वह अवश्य ही अभिव्यक्त हो जाता है, क्योंकि वह सदा अपने-आपसे ऊपर उठने का यत्न करता है और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि अस्तित्वमानता अपने उद्गम सत् तक न पहुंच जाए। जीव परमात्मा के अस्तित्व में होनेवाली गतिविधि है जो व्यक्तिरूप धारण कर चुकी है। जब जीव अनात्म और उसके रूपों के साथ एक मिथ्या एकात्मता में फंस जाता है तब वह बन्धन में पड़ जाता है पर जब उचित ज्ञान के विकास द्वारा वह आत्म और अनात्म की सच्ची प्रकृति को हृदयंगम कर लेता है और अनात्म द्वारा उत्पन्न किए गए उपकरणों को आत्म द्वारा पूर्णतया प्रकाशित होने देता है, तब वह स्वतन्त्र हो जाता है। यह प्राप्ति बुद्धि या विज्ञान के यथोचित कार्य करते रहने द्वारा ही सम्भव है।

मनुष्य के सम्मुख जो समस्या है, वह है उसके व्यक्तित्व के संघटन की एक ऐसे दिव्य अस्तित्व के विकास की जिसमें कि आत्मिक मूल तत्त्व आत्मा और शरीर की सब शक्तियों का स्वामी हो। यह सघटित जीवन आत्मा द्वारा रचा जाता है। शरीर और आत्मा के मध्य अन्तर, जो मनुष्य की प्रकृति के जीवन से जोड़े रखता है अन्तिम नहीं है। वह अन्तर उस आमूलवादी अर्थ में विद्यमान नहीं है, जिसमें कि डैस्कार्टीज ने उसे बताया है। आत्मा का जीवन शरीर के जीवन में ठीक उसी प्रकार रमा रहता है, जैसे शारीरिक जीवन का प्रभाव आत्मा पर रहता है। मनुष्य में आत्मा और शरीर की एक सप्राण एकता है। वास्तविक द्वैत आत्मा और प्रकृति के बीच है। स्वतन्त्रता और परवशता के बीच सघटित व्यक्तित्व में हम देखते हैं कि प्रकृति पर आत्मा की परवशता पर स्वतन्त्रता की

[1] १९ २१।

बिलकुल सुकुमारता के साथ कार्य करता है। वह मनाकर हमारी स्वीकृति प्राप्त करता है परन्तु कभी हमें विवश नहीं करता। मानवीय व्यक्तियों की अपनी-अपनी अलग पृथक सत्ताएं हैं जो उनके विकास में परमात्मा के हस्तक्षेप को सीमित रखती हैं। संसार एक यान्त्रिक ढंग से किसी पहले से व्यवस्थित योजना को पूरा नहीं कर रहा। सृष्टि का उद्देश्य ऐसे आत्मों को उत्पन्न करना है जो स्वेच्छा से परमात्मा की इच्छा को पूरा कर सकें। हमसे अपने मनोवेगों को नियन्त्रित करने के लिए, अपने चित्त-विक्षेप और परिभ्रान्तियों को हटा देने के लिए, प्रकृति की धारा से ऊपर उठने के लिए और बुद्धि के द्वारा अपने आचरण को नियमित करने के लिए कहा जाता है क्योंकि अन्यथा हम उस वासना के शिकार बन जाएंगे जो वासना कि पृथ्वी पर मनुष्य की शत्रु है।[1] गीता में व्यक्ति की भले या बुरे का चुनाव कर सकने की स्वाधीनता पर और उस ढंग पर, जिससे कि वह इस स्वतन्त्रता का प्रयोग करता है जोर दिया गया है। मनुष्य के संघर्षों को उसकी विफलता और आत्म-अभियोजन (दोषारोपण) की भावना को मर्त्य मन की त्रुटि कह कर या भ्रमात्मक प्रक्रिया का दौर-मात्र कहकर नहीं टाल देना चाहिए। ऐसा करना जीवन की नैतिक आवश्यकता को अस्वीकार करना होगा। जब अर्जुन सनातन (भगवान्) की उपस्थिति में अपनी आतंक और भय की भावना को प्रकट करता है जब वह क्षमा के लिए प्रार्थना करता है तो वह कोई अभिनय नहीं कर रहा अपितु एक संकट की दशा में से गुजर रहा है।

प्रकृति निरपेक्ष रूप से सब बातों का निर्धारण नहीं कर देती। कर्म एक दशा है भवितव्यता नहीं। वह किसी भी काम के पूरा होने के लिए आवश्यक पांच घटक तत्त्वों में से एक है।[2] वे पांच घटक तत्त्व हैं—अधिष्ठान अर्थात् वह आधार या केन्द्र जिसपर हम कार्य करते हैं कर्ता अर्थात् करनेवाला करण अर्थात् प्रकृति के साधक उपकरण चेष्टा अर्थात् प्रयत्न और दैव अर्थात् भाग्य। इनमें से अन्तिम मानवीय शक्ति से भिन्न शक्ति या शक्तियां हैं जिनका वह मूल तत्त्व जो पीछे खड़ा रहकर कार्य का सयोजन करता रहता है और कर्म और कर्मफल के रूप में उसका फल देता रहता है। हमें इन दो बातों में भेद करना चाहिए। एक तो वह अंश है, जो प्रकृति की व्यवस्था में अनिवार्य है जहां रोकथाम का कोई प्रश्न नहीं होता और दूसरा वह अंश है जिसमें प्रकृति को नियन्त्रित किया जा सकता है और उसे अपने प्रयोजन के अनुकूल ढाला जा सकता है। हमारे जीवन में ऐसी कई बातें हैं जो ऐसी शक्तियों द्वारा निर्धारित कर दी गई हैं जिनपर हमारा कोई वश नहीं है। हम इस बात का चुनाव नहीं कर सकते कि हम कैसे या कब या कहां या जीवन की किन दशाओं में जन्म लें। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार इन बातों का चुनाव

१ ३ ३७ ; ६, ३-८।
२ १८, १४।

भी स्वयं हमारे द्वारा ही किया जाता है। हमारे पूर्वजन्म के कर्मों द्वारा ही हमारे पूर्वजों हमारी आनुवंशिकता और परिवेश का निर्धारण होता है। परन्तु जब हम इस जीवन के दृष्टिकोण से देखते हैं तो हम कह सकते हैं कि हमारी राष्ट्रिकता जाति माता-पिता या सामाजिक हैसियत के सम्बन्ध में हमसे कोई परामर्श नहीं किया गया था। परन्तु इन मर्यादाओं के होते हुए भी हमें चुनाव की स्वतन्त्रता है। जीवन ताश के एक खेल की तरह है। हमने खेल का आविष्कार नहीं किया और न ताश के पत्तों के नमूने ही हमने बनाए हैं। हमने इस खेल के नियम भी खुद नहीं बनाए और न हम ताश के पत्तों के बंटवारे पर ही नियन्त्रण रख सकते हैं। पत्ते हमें बांट दिए जाते हैं चाहे वे अच्छे हों या बुरे। इस सीमा तक नियतिवाद का शासन है। परन्तु हम खेल को बढ़िया ढंग से या खराब ढंग से खेल सकते हैं। हो सकता है कि एक कुशल खिलाड़ी के पास बहुत खराब पत्ते आए हों और फिर भी वह खेल में जीत जाए। यह भी सम्भव है कि एक खराब खिलाड़ी के पास अच्छे पत्ते आए हों और फिर भी वह खेल का नाश करके रख दे। हमारा जीवन परवशता और स्वतन्त्रता दैवयोग और चुनाव का मिश्रण है। अपने चुनाव का समुचित रूप से प्रयोग करते हुए हम धीरे-धीरे सब तत्त्वों पर नियन्त्रण कर सकते हैं और प्रकृति के नियतिवाद को बिल्कुल समाप्त कर सकते हैं। जहां भौतिक तत्त्व की गतियां वनस्पतियों की वृद्धि और पशुओं के कार्य कहीं अधिक पूर्णतया नियन्त्रित रहते हैं वहां दूसरी ओर मनुष्य में समझ है जो उसे संसार के कार्य में विवेकपूर्वक सहयोग करने में समर्थ बनाती है। वह किन्हीं भी कार्यों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है उनके लिए अपनी सहमति दे सकता है या सहमत होने से इन्कार कर सकता है। यदि वह अपने बुद्धिमत्तापूर्ण संकल्प का प्रयोग नहीं करता तो वह अपनी मनुष्यता के प्रतिकूल आचरण कर रहा है। यदि वह अपने मनोवेगों और वासनाओं के अनुसार अन्धा होकर कार्य करता जाता है तो वह मनुष्य की अपेक्षा पशु की भांति अधिक आचरण कर रहा होता है। मनुष्य होने के कारण वह अपने कार्यों को उचित सिद्ध करता है।

हमारे कुछ कार्य केवल देखने म ही हमारे होते हैं। उनमें स्वतःप्रवृत्ति की भावना केवल दिखावटी होती है। कई बार हम उन प्रेरणाओं के अनुसार कार्य कर रहे होते हैं जो सम्मोहन की दशा में हमें दी जाती हैं। भले ही हम यह समझें कि हम उन कार्यों को सोच-समझकर अनुभव करते हुए और अपनी इच्छा से कर रहे हैं, परन्तु सम्भव है कि हम उस दशा में भी उन प्रेरणाओं को ही अभिव्यक्त कर रहे हों जो हमें सम्मोहन की दशा में दी गई थीं। जो बात सम्मोहन की स्थिति के विषय म सत्य है वही हमारे उन अनेक कार्यों के विषय म भी सत्य है जो देखने म अपने ही स्वतःप्रवृत्त जान पड़ते हा परन्तु वस्तुत वैसे नहीं होते। हम बिल्कुल नई सम्मतियों को दुहरा देते हैं और यह समझते हैं कि वे हमारे अपने चिन्तन का परिणाम हैं। स्वतःप्रवृत्त कर्म कोई ऐसी

बाह्यतामूलक गतिविधि नहीं है जिसकी ओर व्यक्ति को उसके अपने एकाकीपन या असहायता द्वारा धकेल दिया गया हो। यह तो सम्पूर्ण आत्मा का स्वतन्त्र कर्म है। व्यक्ति को स्वतःप्रवृत्त या सृजनात्मक गतिविधि को सम्भव बनाने के लिए अपने प्रति पारदर्शक बन जाना चाहिए और उसके अन्दर विद्यमान विभिन्न तत्त्वों का एक आधारभूत समेकन हो जाना चाहिए। यह व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने रजस् और तमस् पर अपनी सत्त्व प्रकृति द्वारा जो वस्तुओं को सचाई और कर्म के उचित विधान की खोज में रहती है नियन्त्रण करे। जब हम अपनी सत्त्वप्रकृति के प्रभाव में रहकर कर्म कर रहे होते हैं, तब भी हम पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होते। सत्त्वगुण भी हमें उतना ही बांधता है जितना कि रजस् और तमस्। केवल इतना अन्तर है कि तब हमारी सत्य और पुण्य की कामनाएं अपेक्षाकृत उच्चतर होती हैं। 'अहं' की भावना तब भी कार्य कर रही होती है। हमें अपने 'अहं' से ऊपर उठना होगा और बढ़ते हुए उस सर्वोच्च आत्मा तक पहुंचना होगा जिसकी कि अहं भी एक अभिव्यक्ति है। जब हम अपनी व्यक्तिगत सत्ता को भगवान् के साथ एक कर देते हैं तब हम त्रिगुणात्मक प्रकृति से ऊपर उठ जाते हैं। हम त्रिगुणातीत[1] हो जाते हैं और संसार के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

८ योगशास्त्र

भारतीय दार्शनिक विचार की प्रत्येक प्रणाली हमारे सम्मुख सर्वोच्च आदर्श तक पहुंचने की एक व्यावहारिक पद्धति प्रस्तुत करती है। भले ही हम प्रारम्भ विचार से करते हैं परन्तु हमारा उद्देश्य विचार से परे निश्चायक अनुभव तक पहुंचना होता है। दार्शनिक प्रणालियां केवल अधिविद्यक सिद्धान्त ही नहीं बतलातीं अपितु आध्यात्मिक गति-विज्ञान भी सिखाती हैं। यह कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य ब्रह्म का ही एक अंश है तो उसे उद्धार की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि अपनी वास्तविक प्रकृति को पहचानने की। यदि उसे यह अनुभव होता है कि वह पापी है जो परमात्मा से बिछुड़ गया है तो उसे कोई ऐसी विधि बताई जाने की आवश्यकता है जिसके द्वारा उसे यह बात याद आ जाए कि वह वस्तुतः परमात्मा का एक अंश है और उसके प्रतिकूल होनेवाली कोई भी अनुभूति केवल भ्रान्ति है। यह ज्ञान बौद्धिक नहीं है अपितु मनुष्य का अवयव भूत है। इसलिए मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति का सुधार करने की आवश्यकता है। भगवद्गीता हमारे सम्मुख केवल एक अधिविद्या (ब्रह्मविद्या) ही प्रस्तुत नहीं करती अपितु एक प्रकार का अनुशासन (योगशास्त्र) भी प्रस्तुत करती है। योग शब्द 'युज्' धातु से बना है जिसका अर्थ है बांधना या जोड़ना। योग का अर्थ है अपनी आत्मिक शक्तियों को

---

[1] १४, २१।

एक जगह बांधना उन्हें सन्तुलित करना और उन्हें बढ़ाना।[१] अपने व्यक्तित्व के तीव्रतम केन्द्रीकरण द्वारा अपनी ऊर्जाओं को इकट्ठा जोड़कर और सम्बद्ध करके हम संकीर्ण 'अहं' से अनुभवातीत व्यक्तित्व तक पहुंचने का मार्ग बनाते हैं। आत्मा अपने आपको अपने कारागार से बाहर खींच लाती है। कारागार से निकलकर वह बाहर खड़ी होती है और अपने आन्तरिकतम अस्तित्व तक पहुंच जाती है।

गीता हमारे सम्मुख एक सर्वांगसम्पूर्ण योगशास्त्र प्रस्तुत करती है जो विशाल लचकीला और अनेक पहलुओंवाला है जिसमें आत्मा के विकास और ब्रह्म तक पहुंचने के विविध तौर सम्मिलित हैं। विभिन्न प्रकार के योग उस आन्तरिक अनुशासन के विशिष्ट प्रयोग हैं जो आत्मा की स्वतन्त्रता और एकता के एक नये ज्ञान और मनुष्य-जाति के एक नये धर्म तक ले जाता है। इस अनुशासन से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु योग कहलाती है जैसे ज्ञानयोग अर्थात् ज्ञान का मार्ग भक्तियोग अर्थात् भक्ति का मार्ग या कर्मयोग अर्थात् कर्म का मार्ग।

मानवीय स्तर पर पूर्णता प्राप्त करना एक ऐसा कार्य है जो सचेत प्रयत्न द्वारा पूरा किया जाता है। हमारे अन्दर कार्य कर रही परमात्मा की मूर्ति हममें एक अपर्याप्तता की भावना उत्पन्न करती है। मनुष्य को एक यह भावना सताने लगती है कि सारी मानवीय प्रसन्नता दिखावटी क्षणिक और अनिश्चित है। जो लोग केवल जीवन की ऊपरी सतह पर ही जीते हैं हो सकता है उन्हें यह बेचैनी यह आत्मा की तड़प अनुभव न होती हो और उनमें यह खोजने की इच्छा न जागती हो कि उनका सच्चा हित किस बात में है। वे मानवीय पशु (पुरुषपशु) हैं और पशुओं की भांति वे पैदा होते हैं बड़े होते हैं मैथुन करते हैं और अपनी सन्तान छोड़ जाते हैं और बाद मर जाते हैं। परन्तु जो लोग मनुष्य के रूप में अपने गौरव को अनुभव करते हैं, वे इस बेसुरेपन को तीव्रता से अनुभव करते हैं और समस्वरता और शान्ति के सिद्धान्त की खोज करते हैं।

अर्जुन उस प्रकार की मानवीय आत्मा का प्रतिनिधि है जो पूर्णता और शान्ति तक पहुंचने की खोज कर रही है। परन्तु आरम्भिक अनुभाग में हम देखते हैं कि उसका मन आच्छन्न है उसके विश्वास अनिश्चित है और उसकी सम्पूर्ण चेतना परिभ्रान्तिग्रस्त है। जीवन की दुविधाएं तीव्र चुभन के साथ उसे स्पर्श करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कभी न कभी ऐसा समय आता है, (क्योंकि प्रकृति को किसी बात की जल्दी नहीं है) जबकि वह जो कुछ भी अपने लिए कर सकता है वह सब विफल रहता है जब वह घोर अन्धकार के गर्त में डूबता जाता है एक ऐसा समय जबकि वह प्रकाश की एक झलक के लिए, ब्रह्म के एक संकेत के लिए अपना सर्वस्व दे देने को तैयार हो जाए। जब वह

१ इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है (क) युञ्जते पदम् इति योगः ; (ख) युज्यते अनेन इति योगः । (ग) युज्यते तस्मिन् इति योगः ।

नहीं लिया जाना चाहिये; किन्तु उससे अधिक व्यापक रूप में लेना चाहिये। सारांश, मनुष्य जो कुछ करता है – जैसे खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, श्वासोच्छ्वास करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना, लेना, सोना, जागना, मारना, लड़ना, मनन और ध्यान करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञयाग करना, खेती और व्यापारधंधा करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि इत्यादि – ये सब भगवद्गीता के अनुसार 'कर्म' ही हैं; चाहे वह कर्म कायिक हो, वाचिक हो अथवा मानसिक हो (गी. ५. ८, ९)। और तो क्या, जीना मरना भी कर्म ही है। मौका आने पर यह भी विचार पड़ता है कि 'जीना या मरना' इन दो कर्मों में से किस का स्वीकार किया जावे? इस विचार के उपस्थित होने पर कर्म शब्द का अर्थ 'कर्तव्य कर्म' अथवा 'विहित कर्म' हो जाता है। (गी. ४. १६)। मनुष्य के कर्म के विषय में यहाँ तक विचार हो चुका। अब इसके आगे बढ़ कर सब चर अचर सृष्टि के भी – अचेतन वस्तु के भी – व्यापार में 'कर्म' शब्द ही का उपयोग होता है। इस विषय का विचार आगे कर्मविपाक-प्रक्रिया में किया जावेगा।

कर्म शब्द से भी अधिक भ्रम-कारक शब्द 'योग' है। आजकल इस शब्द का रूढार्थ 'प्राणायामादिक साधनों से चित्तवृत्तियों या इन्द्रियों का निरोध करना' अथवा 'पातञ्जल सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग' है। उपनिषदों में भी इसी अर्थ से इस शब्द का प्रयोग हुआ है (कठ. ६. ११)। परंतु ध्यान में रखना चाहिये कि यह संकुचित अर्थ भगवद्गीता में विवक्षित नहीं है। 'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है; जिसका अर्थ 'जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति' इत्यादि होता है। और ऐसी स्थिति की प्राप्ति के 'उपाय, साधन, युक्ति या कर्म' को भी योग कहते हैं। यही सब अर्थ अमरकोश (३. ३. २२) में इस तरह से दिये हुए हैं – 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु'। फलित ज्योतिष में कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हों तो उन ग्रहों का 'योग' इष्ट या अनिष्ट कहलाता है; और 'योगक्षेम' पद में 'योग' शब्द का अर्थ 'अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना' लिया गया है (गी. ९. २२)। भारतीय युद्ध के समय द्रोणाचार्य को अजेय देख कर श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'एको हि योगोऽस्य भवेद्वधाय' (म. भा. द्रो. १८१. ३१) अर्थात् द्रोणाचार्य को जीतने का एक ही 'योग' (साधन या युक्ति) है; और आगे चल कर उन्होंने यह भी कहा है कि हमने पूर्वकाल में धर्म की रक्षा के लिये जरासंध आदि राजाओं को 'योग' ही से कैसे मारा था। उद्योगपर्व (अ. १७२) में कहा गया है कि जब भीष्म ने अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका को हरण किया, तब अन्य राजा लोग 'योग योग' कह कर उनका पीछा करने लगे थे। महाभारत में 'योग' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अनेक स्थानों पर हुआ है। गीता में 'योग', 'योगी' अथवा योग शब्द से बने हुए सामासिक शब्द लगभग अस्सी बार आये

है परन्तु चार-पाँच स्थानों के सिवा (देखो गी. ६. १२ और २१) योग शब्द से 'पातञ्जल योग' अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है। सिर्फ युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड़, मेल — यही अर्थ कुछ हेरफेर से सारी गीता में पाये जाते हैं। अतएव कह सकते हैं कि गीताशास्त्र के व्यापक शब्दों में 'योग' भी एक शब्द है; परन्तु योग शब्द के उक्त सामान्य अर्थों से ही — जैसे साधन, कुशलता, युक्ति आदि से ही — काम नहीं चल सकता। क्योंकि वक्ता की इच्छा के अनुसार यह साधन संन्यास का हो सकता है, कर्म और चित्त-निरोध का हो सकता है; और मोक्ष का अथवा और भी किसी का हो सकता है। उदाहरणार्थ, कहीं कहीं गीता में अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि निर्माण करने की ईश्वरी कुशलता और अद्भुत सामर्थ्य को 'योग' कहा गया है (गी. ७. २५; ९. ५; १०. ७; ११. ८) और इसी अर्थ में भगवान् को 'योगेश्वर' कहा है। (गी. १८. ७५)। परन्तु यह कुछ गीता के 'योग' शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है। इसलिये यह बात स्पष्ट रीति से प्रकट कर देने के लिये 'योग' शब्द से किस विशेष प्रकार की कुशलता, साधन, युक्ति अथवा उपाय को गीता में विवक्षित समझना चाहिये। उस ग्रन्थ ही में योग शब्द की यह निश्चित व्याख्या की गई है — "योगः कर्मसु कौशलम्" (गी. २. ५०) अर्थात् कर्म करने की किसी विशेष प्रकार की कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैली को योग कहते हैं। शांकर भाष्य में भी "कर्मसु कौशलम्" का यही अर्थ लिया गया है — "कर्म में स्वभावसिद्ध रहनेवाले बंधन को तोड़ने की युक्ति"। यदि सामान्यतः देखा जाय तो एक ही कर्म को करने के लिये अनेक 'योग' और 'उपाय' होते हैं। परन्तु उनमें से जो उपाय या साधन उत्तम हो उसी को 'योग' कहते हैं। जैसे द्रव्य उपार्जन करना एक कर्म है। इसके अनेक उपाय या साधन हैं; जैसे चोरी करना, जालसाजी करना, भीख माँगना, सेवा करना, ऋण लेना, मेहनत करना आदि। यद्यपि धातु के अर्थानुसार इनमें से हर एक को 'योग' कह सकते हैं, तथापि यथार्थ में 'द्रव्यप्राप्ति-योग' उसी उपाय को कहते हैं जिससे हम अपनी स्वतंत्रता रख कर मेहनत करते हुए प्राप्त कर सकें।

जब स्वयं भगवान् ने 'योग' शब्द की निश्चित और स्वतंत्र व्याख्या कर दी है (योगः कर्मसु कौशलम् — अर्थात् कर्म करने की एक प्रकार की विशेष युक्ति को योग कहते हैं) तब सच पूछो तो इस शब्द के मुख्य अर्थ के विषय में कुछ भी शंका नहीं रहनी चाहिये। परन्तु स्वयं भगवान् की बतलाई हुई इस व्याख्या पर ध्यान न दे कर गीता का मथितार्थ भी मनमाना निकाला है। अतएव इस भ्रम को दूर करने के लिये 'योग' शब्द का कुछ और भी स्पष्टीकरण होना चाहिये। यह शब्द पहले पहल गीता के दूसरे अध्याय में आया है; और वहीं इसका स्पष्ट अर्थ भी बतला दिया है। पहले सांख्यशास्त्र के अनुसार भगवान् ने अर्जुन को यह समझा दिया कि युद्ध क्यों करना चाहिये; इसके बाद उन्होंने कहा कि अब हम

तुझे योग के अनुसार उपपत्ति बतलाते हैं (गी २. ३९)। और फिर इसका वर्णन किया है, कि जो लोग हमेशा यज्ञ-यागादि काम्य कर्मों में निमग्न रहते हैं उनकी बुद्धि फलाशा से कैसी व्यग्र हो जाती है (गी २ ४१-४६)। इसके पश्चात् उन्होंने यह उपदेश दिया है, कि बुद्धि को अव्यग्र, स्थिर या शांत रख कर आसक्ति को छोड़ दे परंतु कर्मों को छोड़ देने के आग्रह में न पड़' और योगस्थ हो कर कर्मों का आचरण कर (गी २ ४८)। यहीं पर 'योग' शब्द का स्पष्ट अर्थ भी कह दिया है कि 'सिद्धि और असिद्धि दोनों में समबुद्धि रखने को योग कहते हैं। इसके बाद यह कह कर, कि फल की आशा से कर्म करने की अपेक्षा समबुद्धि का यह योग ही श्रेष्ठ है' (गी २ ४९) और बुद्धि की समता हो जाने पर कर्म करनेवाले को कर्मसंबंधी पाप पुण्य की बाधा नहीं होती। इसलिये तू इस 'योग' को प्राप्त कर। तुरंत ही योग का यह लक्षण फिर भी बतलाया है कि योगः कर्मसु कौशलम् (गी २ ५०)। इससे सिद्ध होता है कि पाप पुण्य से अलिप्त रह कर कर्म करने की जो समत्वबुद्धिरूप विशेष युक्ति पहले बतलाई गई है वही 'कौशल' है और इसी कुशलता अर्थात् युक्तिसे कर्म करने को गीता मे 'योग' कहा है। इसी अर्थ को अर्जुन ने आगे चलकर योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन" (गी ६ ३३) इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया है। इसके संबंध में कि ज्ञानी मनुष्य को इस संसार में कैसे चलना चाहिये श्रीशंकराचार्य के पूर्व ही प्रचलित हुए वैदिक धर्म के अनुसार दो मार्ग हैं; एक मार्ग यह है कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर सब कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग कर दें; और दूसरा यह कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्मों को न छोड़ें – उनको जन्म भर ऐसी युक्ति के साथ करता रहें कि उनके पाप पुण्य की बाधा न होने पावे। इन्हीं दो मार्गों को गीता मे संन्यास और कर्म योग कहा है'(गी ५ २)। संन्यास कहते हैं त्याग को और योग कहते हैं मेल को। *अर्थात् कर्म के त्याग और कर्म के मेल ही के ये दो भिन्न मार्ग हैं।* इन्हीं दो भिन्न मार्गों को लक्ष्य करके आगे (गी ५ ४) 'सांख्ययोगौ' (सांख्य और योग) ये संक्षिप्त नाम भी दिये गये हैं। बुद्धि को स्थिर करने के लिये पातञ्जलयोग-शास्त्र के आसनों का वर्णन छठवे अध्याय मे है सही; परन्तु वह किसके लिये है? तपस्वी के लिये नहीं किन्तु वह कर्मयोगी – अर्थात् युक्तिपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्य – को 'समता' की युक्ति सिद्ध करने के लिये बतलाया गया है। नहीं तो फिर 'तपस्विभ्यो'ऽधिको योगी इस वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता। इसी तरह इस अध्याय के अन्त (६ ४६) मे अर्जुन को जो उपदेश दिया गया है कि तस्माद्योगी भवार्जुन उसका अर्थ ऐसा नहीं हो सकता कि हे अर्जुन! तू पातञ्जल योग का अभ्यास करनेवाला बन जा। इसलिये उक्त उपदेश का अर्थ योगस्थः कुरु कर्माणि" (२ ४८) तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् (गी २) "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" (४ ४२) इत्यादि वचनों के अर्थ के समान ही होना

चाहिये। अर्थात् उसका यही अर्थ लेना उचित है कि, "हे अर्जुन! तू युक्ति से कर्म करनेवाला योगी अर्थात् कर्मयोगी हो।" क्योंकि यह कहना ही सम्भव नहीं, कि 'तू पातञ्जल योग का आश्रय लेकर युद्ध के लिये तैयार रह।" इसके पहले ही साफ़ साफ़ कहा गया है, कि 'कर्मयोगेण योगिनाम्' (गी. ३. ३) अर्थात् योगी पुरुष कर्म करनेवाले होते हैं। भारत के (म. भा. शां. ३४८. ५६) नारायणीय अथवा भागवतधर्म के विवेचन में भी कहा गया है, कि इस धर्म के लोग अपने कर्मों का त्याग किये बिना ही युक्तिपूर्वक कर्म करके (सुप्रयुक्तेन कर्मणा) परमेश्वर की प्राप्ति कर लेते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'योगी' और 'कर्मयोगी' दोनों शब्द गीता में समानार्थक हैं और इनका अर्थ 'युक्ति से कर्म करनेवाला' होता है, तथा बड़े भारी 'कर्मयोग' शब्द का प्रयोग करने के बदले, गीता और महाभारत में छोटे-से 'योग' शब्द का ही अधिक उपयोग किया गया है। "मैंने तुझ को यह योग बतलाया है उसी को पूर्वकाल में विवस्वान् से कहा था (गी. ४. १); और विवस्वान् ने मनु को बतलाया था; परन्तु उस योग के नष्ट हो जाने पर फिर वही योग तुझसे कहना पड़ा" — इस अवतरण में भगवान् ने 'योग' शब्द का तीन बार उच्चारण किया है; उसमें पातञ्जल योग का विवक्षित होना नहीं पाया जाता; किन्तु 'कर्म करने की किसी प्रकार की विशेष युक्ति, साधन या मार्ग' यही अर्थ लिया जा सकता है। इसी तरह जब संजय कृष्ण-अर्जुन संवाद को गीता में 'योग' कहता है (गी. १८. ७५) तब भी यही अर्थ पाया जाता है। श्रीशंकराचार्य स्वयं संन्यासमार्गवाले थे; तो भी उन्होंने अपने गीताभाष्य के आरंभ में ही वैदिक धर्म के दो भेद — प्रवृत्ति और निवृत्ति — बतलाये हैं; और 'योग' शब्द का अर्थ श्रीभगवान् की कही हुई व्याख्या के अनुसार कभी 'सम्यग्दर्शनोपायकर्मानुष्ठानम्' (गी. ४. ४२) और कभी 'योगः युक्तिः' (गी. १०. ७) किया है। इसी तरह महाभारत में भी 'योग' और 'ज्ञान' दोनों शब्दों के विषय में स्पष्ट लिखा है कि "प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणम्" (म. भा. अश्व. ४३. २५)। अर्थात् योग का अर्थ प्रवृत्तिमार्ग और ज्ञान का अर्थ संन्यास या निवृत्तिमार्ग है। शान्तिपर्व के अन्त में, नारायणीयोपाख्यान में 'सांख्य' और 'योग' शब्द तो इसी अर्थ में अनेक बार आये हैं; और इसका भी वर्णन किया गया है कि ये दोनों मार्ग सृष्टि के आरम्भ में क्यों और कैसे निर्माण किये गये (म. भा. शां. ३४० और ३४८)। पहले प्रकरण में महाभारत से जो वचन उद्धृत किये गये हैं उनसे यह स्पष्टतया मालूम हो गया है कि यही नारायणीय अथवा भागवतधर्म भगवद्गीता का प्रतिपाद्य तथा प्रधान विषय है। इसलिये कहना पड़ता है कि 'सांख्य' और 'योग' शब्दों का जो प्राचीन और पारिभाषिक अर्थ (सांख्य = निवृत्ति, योग = प्रवृत्ति) नारायणीय धर्म में दिया गया है वही अर्थ गीता में भी विवक्षित है। यदि इसमें किसी को शंका हो, तो गीता में ही दी हुई इस व्याख्या से — 'समत्वं योग उच्यते' या 'योगः कर्मसु कौशलम्' — स्पष्ट

उपर्युक्त 'कर्मयोगेन योगिनाम्' इत्यादि गीता के वचनों से उस शंका का समाधान हो सकता है। इसलिये अब यह निर्विवाद सिद्ध है, कि गीता में 'योग' शब्द प्रवृत्ति-मार्ग अर्थात् 'कर्मयोग' के अर्थ ही में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्म-ग्रंथों में कौन कहे यह 'योग' शब्द पाली और संस्कृत भाषाओं के बौद्धधर्मग्रंथों में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ संवत् ३३५ के लगभग लिखे गये 'मिलिंदप्रश्न' नामक पाली ग्रन्थ में 'पुब्बयोगो (पूर्वयोग) शब्द आया है और वहीं उसका अर्थ 'पुब्बकम्म' (पूर्वकर्म) किया गया है (मि. प्र. १. ४)। इसी तरह अश्वघोष कविकृत – जो शालिवाहन शक के आरम्भ में हो गया है – 'बुद्धचरित' नामक संस्कृत काव्य के पहले सर्ग पचासवें श्लोक में यह वर्णन है –

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।

अर्थात् "ब्राह्मणों को योगविधि की शिक्षा देने में राजा जनक आचार्य (उपदेष्टा) हो गये। इनके पहले यह आचार्यत्व किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ था।" यहाँ पर 'योग-विधि' का अर्थ निष्काम-कर्मयोग की विधि ही समझना चाहिये। क्योंकि गीता आदि अनेक ग्रन्थ मुक्त कंठ से कह रहे हैं कि जनकजी के बर्ताव का यही रहस्य है और अश्वघोष ने अपने 'बुद्धचरित' (९. १९ और २०) में यह दिखलाने ही के लिये कि "गृहस्थाश्रम में रह कर भी मोक्ष की प्राप्ति कैसे की जा सकती है" जनक का उदाहरण दिया है। जनक के दिखलाये हुए मार्ग का नाम 'योग' है, और यह बात बौद्ध धर्म-ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है। इसलिये गीता के 'योग' शब्द का भी यही अर्थ लगाना चाहिये। क्योंकि गीता के कथनानुसार (गी. ३. २०) जनक का ही मार्ग उसमें प्रतिपादित किया गया है। सांख्य और योगमार्ग के विषय में अधिक विचार आगे किया जायगा। प्रस्तुत प्रश्न यही है कि गीता में 'योग' शब्द का उपयोग किस अर्थ में किया गया है।

जब एक बार यह सिद्ध हो गया कि गीता में 'योग' का प्रधान अर्थ कर्मयोग और 'योगी' का प्रधान अर्थ कर्मयोगी है तो फिर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवद्गीता का प्रतिपाद्य क्या है। स्वयं भगवान् अपने उपदेश को 'योग' कहते हैं (गी. ४. १-३); बल्कि छठवें (६. ३३) अध्याय में अर्जुन ने और गीता के अन्तिम उपसंहार (गी. १८. ७५) में संजय ने भी गीता के उपदेश को 'योग' ही कहा है। इसी तरह गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो अध्याय-समाप्तिदर्शक संकल्प हैं उनमें भी साफ़ साफ़ कह दिया है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'योगशास्त्र' है। परन्तु जान पड़ता है कि उक्त संकल्प के शब्दों के अर्थ पर भी टीकाकार ने ध्यान नहीं दिया। आरम्भ के दो पदों – श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु – के बाद इस संकल्प में दो शब्द 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' और भी जोड़े गये हैं। पहले दो शब्दों का अर्थ

है—'भगवान् के गाये गये उपनिषद् में' और पिछले दो शब्दों का अर्थ 'ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र अर्थात् कर्मयोग-शास्त्र' है; जो कि इस गीता का विषय है। ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान एक ही बात है; और इसके प्राप्त हो जानेपर ज्ञानी पुरुष के लिये दो निष्ठाएँ या मार्ग खुले हुए हैं (गी. ३. ३)। एक सांख्य अथवा संन्यास मार्ग—अर्थात् वह मार्ग जिसमें ज्ञान होने पर कर्म करना छोड़ कर विरक्त रहना पड़ता है; और दूसरा योग अथवा कर्ममार्ग—अर्थात् वह मार्ग, जिसमें कर्मों का त्याग न करके ऐसी युक्ति से नित्य कर्म करते रहना चाहिये जिससे मोक्ष-प्राप्ति में कुछ भी बाधा न हो। पहले मार्ग का दूसरा नाम 'ज्ञाननिष्ठा' भी है जिसका विवेचन उपनिषदों में अनेक ऋषियों ने और अन्य ग्रंथकारों ने भी किया है। परन्तु ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत कर्मयोग का या योगशास्त्र का तात्त्विक विवेचन भगवद्गीता के सिवा अन्य ग्रंथों में नहीं है। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि अध्याय-समाप्ति-सूचक संकल्प गीता की सब प्रतियों में पाया जाता है और इससे प्रकट होता है कि गीता की सब टीकाओं के रचे जाने के पहले ही उसकी रचना हुई होगी। इस संकल्प के रचयिता ने इस संकल्प में 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इन दो पदों को व्यर्थ ही नहीं जोड़ दिया है; किन्तु उसने गीताशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय की अपूर्वता दिखाने ही के लिये उक्त पदों को उस संकल्प में आधार और हेतुसहित स्थान दिया है। अतः इस बात का भी सहज निर्णय हो सकता है कि गीता पर अनेक सांप्रदायिक टीकाओं के होने के पहले गीता का तात्पर्य कैसे और क्या समझा जाता था। यह हमारे सौभाग्य की बात है कि इस कर्मयोग का प्रतिपादन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ने किया है जो इस योगमार्ग के प्रवर्तक और सब योगों के साक्षात् ईश्वर (= योग + ईश्वर) हैं; और लोकहित के लिये उन्हीं ने अर्जुन को इसका रहस्य बताया है। गीता के 'योग' और 'योगशास्त्र' शब्दों से हमारे 'कर्मयोग' और 'कर्मयोगशास्त्र' शब्द कुछ नये नहीं हैं; परन्तु अब हमने 'कर्मयोगशास्त्र' सरीखा स्पष्ट नाम ही इस ग्रन्थ और प्रकरण को इसलिये पसंद किया है कि जिसमें गीता के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में कुछ भी संदेह न रह जावे।

एक ही कर्म के करने के जो अनेक योग, साधन या मार्ग हैं उनमें से सर्वोत्तम और शुद्ध मार्ग कौन है; उसके अनुसार नित्य आचरण किया जा सकता है या नहीं; नहीं किया जा सकता तो कौन कौन अपवाद उत्पन्न होते हैं और वे क्यों उत्पन्न होते हैं; जिस मार्ग को हमने उत्तम मान लिया है वह उत्तम क्यों है; जिस मार्ग को हम बुरा समझते हैं वह बुरा क्यों है; यह अच्छापन या बुरापन किसके द्वारा या किस आधार पर ठहराया जा सकता है; अथवा इस अच्छेपन या बुरेपन का रहस्य क्या है—इत्यादि बातें जिस शास्त्र के आधार से निश्चित की जाती हैं उसको 'कर्मयोगशास्त्र' या गीता के संक्षिप्त रूपानुसार 'योगशास्त्र' कहते हैं। 'अच्छा' और 'बुरा' दोनों साधारण शब्द हैं; इन्हीं के समान अर्थ में कभी

शुभ-अशुभ, हितकर-अहितकर, श्रेयस्कर-अश्रेयस्कर, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म इत्यादि शब्दों का उपयोग हुआ करता है। कार्य-अकार्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, न्याय-अन्याय इत्यादि शब्दों का भी अर्थ वैसा ही होता है। तथापि इन शब्दों का उपयोग करनेवालों के सृष्टि-रचनाविषयक मत भिन्न भिन्न होने के कारण 'कर्मयोग' शास्त्र के निरूपण के पन्थ भी भिन्न भिन्न हो गये हैं। किसी भी शास्त्र को लीजिये, उसके विषयों की चर्चा साधारणतः तीन प्रकार से की जाती है। (१) इस जड़ सृष्टि के पदार्थ ठीक वैसे ही हैं जैसे कि वे हमारी इन्द्रियों को गोचर होते हैं, इसके परे उनमें और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से उनके विषय में विचार करने की एक पद्धति है जिसे आधिभौतिक विवेचन कहते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य को देवता न मान कर केवल पाँचभौतिक जड़ पदार्थों का एक गोला माने, और उष्णता, प्रकाश, वजन, दूरी और आकर्षण इत्यादि उसके केवल गुणधर्मों ही की परीक्षा करें तो उसे सूर्य का आधिभौतिक विवेचन कहेंगे। दूसरा उदाहरण पेड़ का लीजिये। उसका विचार न करके, कि पेड़ के पत्ते निकलना, फूलना, फलना आदि क्रियाएँ किस अंतर्गत शक्ति के द्वारा होती हैं, जब केवल बाहरी दृष्टि से विचार किया जाता है कि जमीन में बीज बोने से अंकुर फूटते हैं, फिर वे बढ़ते हैं और उसी के पत्ते, शाखा, फूल इत्यादि दृश्य विकार प्रकट होते हैं, तब उसे पेड़ का आधिभौतिक विवेचन कहते हैं। रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञानशास्त्र, विद्युत्शास्त्र इत्यादि आधुनिक शास्त्रों का विवेचन इसी ढंग का होता है। और तो क्या, आधिभौतिक पंडित यह भी मान्य करते हैं कि उक्त रीति से किसी वस्तु के दृश्य गुणों का विचार कर लेने पर उनका काम पूरा हो जाता है — सृष्टि के पदार्थों का इससे अधिक विचार करना निष्फल है। (२) जब उक्त दृष्टि को छोड़ कर इस बात का विचार किया जाता है कि जड़ सृष्टि के पदार्थों के मूल में क्या है, क्या इन पदार्थों का व्यवहार केवल उनके गुण-धर्मों ही से होता है या उनके लिये किसी तत्त्व का आधार भी है; केवल आधिभौतिक विवेचन से ही अपना काम नहीं चलता। हमको कुछ आगे पैर बढ़ाना है। उदाहरणार्थ, जब हम यह मानते हैं कि यह पाँच-भौतिक सूर्य नामक एक देव का अधिष्ठान है; और इसी के द्वारा इस अचेतन गोले (सूर्य) के सब व्यापार या व्यवहार होते रहते हैं, तब उसको उस विषय का आधिदैविक विवेचन कहते हैं। इस मत के अनुसार यह माना जाता है कि पेड़ में, पानी में, हवा में, अर्थात् सब पदार्थों में अनेक देव हैं, जो उन जड़ तथा अचेतन पदार्थों से भिन्न तो हैं किन्तु उनके व्यवहारों को वही चलाते हैं। (३) परन्तु जब यह माना जाता है कि जड़ सृष्टि के हजारों जड़ पदार्थों में हजारों स्वतंत्र देवता नहीं हैं; किन्तु बाहरी सृष्टि के सब व्यवहारों को चलानेवाली, मनुष्य के शरीर में आत्मस्वरूप से रहनेवाली और मनुष्य को सारी सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करा देनेवाली एक ही चित् शक्ति है, जो कि इंद्रियातीत है और जिसके द्वारा ही इस जगत् का सारा व्यवहार चल रहा है, तब उस विचार-पद्धति को आध्यात्मिक विवेचन कहते हैं

उदाहरणार्थ, अध्यात्मवादियों का मत है, कि सूर्य-चन्द्र आदि का व्यवहार, यहाँ तक कि वृक्ष के पत्तों का हिलना भी, इसी अचिन्त्य शक्ति की प्रेरणा से हुआ करता है। सूर्य-चन्द्र आदि में या अन्य स्थानों में भिन्न भिन्न तथा स्वतन्त्र देवता नहीं हैं। प्राचीन काल से किसी भी विषय का विवेचन करने के लिये तीन मार्ग प्रचलित हैं; और इनका उपयोग उपनिषद्-ग्रन्थों में भी किया गया है। उदाहरणार्थ, ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं या प्राण श्रेष्ठ है, इस बात का विचार करते समय बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में एक बार उक्त इन्द्रियों के अग्नि आदि देवताओं को और दूसरी बार उनके सूक्ष्म रूपों (अध्यात्म) को ले कर उनके बलाबल का विचार किया गया है (बृ. १. ५. २१ और २२ छां. ५. २ आर ३ कौषी. २. ८)। और, गीता के सातवें अध्याय के अन्त में तथा आठवें के आरंभ में ईश्वर के स्वरूप का जो विचार बतलाया गया है, वह भी इसी दृष्टि से किया गया है। "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" (गी. १०. ३२) इस वाक्य के अनुसार हमारे शास्त्रकारों ने उक्त तीन मार्गों में से, आध्यात्मिक विवरण को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु आजकल उपर्युक्त तीन शब्दों (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) के अर्थ को थोड़ा-सा बदल कर प्रसिद्ध आधिभौतिक फ्रेंच पंडित कोंट ने* आधिभौतिक विवेचन को ही अधिक महत्त्व दिया है। उसका कहना है कि सृष्टि के मूल-तत्त्व को खोजते रहने से कुछ लाभ नहीं, यह तत्त्व अगम्य है। अर्थात् इसको समझ लेना कभी भी संभव नहीं। इसलिये इसकी कल्पित नींव पर किसी शास्त्र की इमारत को खड़ा कर देना न तो संभव है और न उचित। असभ्य और जंगली मनुष्यों ने पहले पहल जब पेड़, बादल और ज्वालामुखी पर्वत आदि को देखा, तब उन लोगों ने अपने भोलेपन से इन सब पदार्थों को देवता ही मान लिया। यह कोंट के मतानुसार, 'आधिदैविक' विचार हो चुका। परन्तु मनुष्यों ने उक्त कल्पनाओं को शीघ्र ही त्याग दिया; वे समझने लगे कि इन सब पदार्थों में कुछ-न-कुछ आत्मतत्त्व अवश्य भरा हुआ है। कोंट के मतानुसार मानवी ज्ञान की उन्नति की यह दूसरी सीढ़ी है। इसे वह 'आध्यात्मिक' कहता है। परन्तु जब इस रीति से

---

* फ्रान्स देश में ऑगस्ट कोंट (Auguste Comte) नामक एक बड़ा पंडित गत शताब्दी में हो चुका है। इसने समाजशास्त्रपर एक बहुत बड़ा ग्रंथ लिखकर बतलाया है कि समाजरचना का शास्त्रीय रीति से किस प्रकार विवेचन करना चाहिये। अनेक शास्त्रों की आलोचना करके इसने यह निश्चित किया है कि किसी भी शास्त्र का लो, उसका विवेचन पहले पहल Theological पद्धति से किया जाता है, फिर Metaphysical पद्धति से होता है; और अन्त में उसको Positive स्वरूप मिलता है। इन्हीं तीन पद्धतियों को हमने इस ग्रन्थ में आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक ये तीन प्राचीन नाम दिये हैं। ये पद्धतियाँ कुछ कोंट की निकाली हुई नहीं हैं, ये सब पुरानी ही हैं; तथापि उसने उनका ऐतिहासिक क्रम नई रीति से बाँधा है, और उनमें आधिभौतिक (Positive) पद्धति को ही श्रेष्ठ बतलाया है; बस, इतना ही कोंट का नया शोध है। कोंट के अनेक ग्रन्थों का अँग्रेज़ी में अनुवाद हो गया है।

एक ही अर्थ में किया है; और मोक्ष का विचार जिन स्थानों पर करना है उन प्रकरणों के 'अध्यात्म' और 'भक्तिमार्ग' ये स्वतंत्र नाम रखे हैं। महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है; और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है' उस स्थान में धर्म शब्द से कर्तव्यशास्त्र अथवा तत्कालीन समाजव्यवस्थाशास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है; तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है उस स्थानपर अर्थात् शान्तिपर्व के उत्तरार्ध में 'मोक्षधर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है। इसी तरह मन्वादि स्मृति-ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कर्मों अर्थात् चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय केवल धर्म शब्द का ही अनेक स्थानों पर कई बार उपयोग किया गया है। और भगवद्गीता में भी जब भगवान् अर्जुन से यह कह कर लड़ने के लिये कहते हैं कि "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" (गी. २.३१) तब — और इसके बाद "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" (गी. ३.३५) इस स्थान पर भी — धर्म शब्द इस लोक के चातुर्वर्ण्य के धर्म अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पुराने जमाने के ऋषियों ने श्रम-विभागरूप चातुर्वर्ण्य संस्था इस लिये चलाई थी कि *समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावें, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर* ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दिशाओं से संरक्षण और पोषण भली भाँति होता रहे। यह बात भिन्न है कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूलकर वे केवल नाम-धारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये। इसमें संदेह नहीं कि आरम्भ में यह व्यवस्था समाजधारणार्थ ही की गई थी; और यदि चारों वर्णों में से कोई भी एक वर्ण अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य छोड़ दे, यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय और उसकी स्थानपूर्ति दूसरे लोगों से न की जाय, तो कुल समाज उतना ही पंगु हो कर धीरे धीरे नष्ट भी होने लग जाता है अथवा वह निकृष्ट अवस्था में तो अवश्य ही पहुँच जाता है। यद्यपि यह बात सच है कि यूरोप में ऐसे अनेक समाज हैं जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के बिना ही हुआ है; तथापि स्मरण रहे कि उन देशों में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था चाहे न हो, परन्तु चारों वर्णों के सब धर्म जातिरूप से नहीं तो गुण-विभागरूप ही से जागृत अवश्य रहते हैं। सारांश, जब हम धर्म शब्द का उपयोग व्यावहारिक दृष्टि से करते हैं, तब हम यही देखा करते हैं कि, सब समाज का धारण और पोषण कैसा होता है। मनु ने कहा है — 'असुखोदर्क' अर्थात् जिसका परिणाम दुःखकारक होता है, उस धर्म को छोड़ देना (मनु. ४.१७६) और शान्तिपर्व के सत्यानृताध्याय (शां. १०९.१२) में धर्म-अधर्म का विवेचन करते हुए भीष्म और उसके पूर्व कर्णपर्व में श्रीकृष्ण कहते हैं —

> धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
> यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

"धर्म शब्द धृ (= धारण करना) धातु से बना है। धर्म से ही सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चय किया गया है कि जिससे (सब प्रजा का) धारण होता है, वही धर्म है" (म. भा. कर्ण. ६९. ५९)। यदि यह धर्म छूट जाय तो समझ लेना चाहिये कि समाज के सारे बंधन भी टूट गये; और यदि समाज के बंधन टूटे, तो आकर्षणशक्ति के बिना आकाश में सूर्यादि ग्रहमालाओं की जो दशा हो जाती है अथवा समुद्र में मल्लाह के बिना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की भी हो जाती है। इसलिये उक्त शोचनीय अवस्था में पड़कर समाज को नाश से बचाने के लिये व्यासजी ने कई स्थानों पर कहा है कि यदि अर्थ या द्रव्य पाने की इच्छा हो तो 'धर्म के द्वारा' अर्थात् समाज की रचना को न बिगाड़ते हुए प्राप्त करो; और यदि काम आदि वासनाओं को तृप्त करना हो तो वह भी 'धर्म से ही' करो। महाभारत के अन्त में यही कहा है कि –

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

"अरे! भुजा उठा कर मैं चिल्ला रहा हूँ, (परन्तु) कोई भी नहीं सुनता! धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है; (इसलिये) इस प्रकार के धर्म का आचरण तुम क्यों नहीं करते हो?" अब इससे पाठकों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह जम जायगी कि महाभारत को जिस धर्म-दृष्टि से पाँचवाँ वेद अथवा 'धर्मसंहिता' मानते हैं, उस 'धर्मसंहिता' शब्द के 'धर्म' शब्द का मुख्य अर्थ क्या है। यही कारण है कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों पारलौकिक अर्थ के प्रतिपादक ग्रन्थों के साथ ही – धर्मग्रन्थ के नाते से – 'नारायणं नमस्कृत्य' इन प्रतीक शब्दों के द्वारा – महाभारत का भी समावेश ब्रह्मयज्ञ के नित्यपाठ में कर दिया है।

धर्म अधर्म के उपर्युक्त निरूपण को सुन कर कोई यह प्रश्न करे कि यदि तुम्हें 'समाज-धारण' और दूसरे प्रकरण के सत्यानृतविवेक में कथित 'सर्वभूतहित' ये दोनों तत्त्व मान्य हैं, तो तुम्हारी दृष्टि में और आधिभौतिक दृष्टि में भेद ही क्या है? क्योंकि ये दोनों तत्त्व बाह्यतः प्रत्यक्ष दिखनेवाले और आधिभौतिक ही हैं। इस प्रश्न का विस्तृत विचार अगले प्रकरणों में किया गया है। यहाँ इतना ही कहना बस है कि यद्यपि हमको यह तत्त्व मान्य है कि समाज-धारणा ही धर्म का मुख्य बाह्य उपयोग है, तथापि हमारे मत की विशेषता यह है कि वैदिक अथवा अन्य सब धर्मों का जो परम उद्देश आत्म-कल्याण या मोक्ष है, उस पर भी हमारी दृष्टि बनी है। समाज-धारण को लीजिये, चाहे सर्वभूतहित ही को; यदि ये बाह्योपयोगी तत्त्व हमारे आत्म-कल्याण के मार्ग में बाधा डालें तो हमें इनकी जरूरत नहीं। हमारे आयुर्वेद-ग्रन्थ यदि यह प्रतिपादन करते हैं कि वैद्यशास्त्र भी शरीररक्षा के द्वारा मोक्षप्राप्ति का साधन होने के कारण संग्रहणीय

सृष्टि का विचार करने पर भी प्रत्यक्ष उपयोगी शास्त्रीय ज्ञान की कुछ वृद्धि नहीं हो सकी। तब अन्त में मनुष्य सृष्टि के पदार्थों के दृश्य गुण धर्मों ही का और अधिक विचार करने लगा; जिससे वह रेल और तार सरीखे उपयोगी आविष्कारों को ढूँढ कर सृष्टि पर अपना अधिक प्रभाव जमाने लग गया है। इस मार्ग को कोंट ने आधिभौतिक नाम दिया है। उसने निश्चित किया है कि किसी भी शास्त्र या विषय का विवेचन करने के लिये अन्य मार्गों की अपेक्षा यही आधिभौतिक मार्ग अधिक श्रेष्ठ और लाभकारी है। कोंट के मतानुसार समाजशास्त्र या कर्मयोगशास्त्र का तात्त्विक विचार करने के लिये इसी आधिभौतिक मार्ग का अवलम्ब करना चाहिये। इस मार्ग का अवलम्ब करके इस पंडित ने इतिहास की आलोचना की और सब व्यवहारशास्त्रों का यही मथितार्थ निकाला है कि इस संसार में प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म यही है कि वह समस्त मानव जाति पर प्रेम रख कर सब लोगों के कल्याण के लिये सदैव प्रयत्न करता रहे। मिल और स्पेन्सर आदि अंग्रेज पंडित इसी मत के पुरस्कर्ता कहे जा सकते हैं। इसके उलटे कान्ट हेगेल शोपेनहर आदि जर्मन तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने नीतिशास्त्र के विवेचन में इस आधिभौतिक पद्धति को अपूर्ण माना है। हमारे वेदान्तियों की नाई अध्यात्मदृष्टि से ही नीति के समर्थन करने के मार्ग को आजकल उन्होंने यूरोप में फिर भी स्थापित किया है। इसके विषय में और अधिक लिखा जायगा।

एक ही अर्थ विवक्षित होने पर भी अच्छा और बुरा के पर्यायवाची भिन्न भिन्न शब्दों का – जैसे 'कार्य-अकार्य' और 'धर्म-अधर्म' का – उपयोग क्यों होने लगा? इसका कारण यही है कि विषय-प्रतिपादन का मार्ग या दृष्टि प्रत्येक की भिन्न भिन्न होती है। अर्जुन के सामने यह प्रश्न था कि जिस युद्ध में भीष्म द्रोण आदि का वध करना पड़ेगा उसमें शामिल होना उचित है या नहीं (गी. २.७) यदि इसी प्रश्न का उत्तर देने का मौका किसी आधिभौतिक पंडित पर आता तो वह पहले इस बात का विचार करता कि भारतीय युद्ध से स्वयं अर्जुन को दृश्य हानि लाभ कितना होगा और कुल समाज पर उसका क्या परिणाम होगा। यह विचार करके तब उसने निश्चय किया होता कि युद्ध करना 'न्याय्य' है या 'अन्याय्य'। इसका कारण यह है कि किसी कर्म के अच्छेपन या बुरेपन का निर्णय करते समय ये आधिभौतिक पंडित यही सोचा करते हैं कि इस संसार में उस कर्म का आधिभौतिक परिणाम अर्थात् प्रत्यक्ष बाह्य परिणाम क्या हुआ या होगा – वे लोग इस आधिभौतिक कसौटी के सिवा और किसी साधन या कसौटी को नहीं मानते। परन्तु ऐसे उत्तर से अर्जुन का समाधान होना संभव नहीं था। उसकी दृष्टि उससे भी अधिक व्यापक थी। उसे केवल अपने सांसारिक हित का विचार नहीं करना था किन्तु उसे पारलौकिक दृष्टि से यह भी विचार कर लेना था कि इस युद्ध का परिणाम मेरे आत्मा पर श्रेयस्कर होगा या नहीं। उसे ऐसी बातों पर कुछ भी शंका नहीं

एक ही अर्थ में किया है और मोक्ष का विचार जिन स्थानों पर करना है उन प्रकरणों के 'अध्यात्म' और 'भक्तिमार्ग' ये स्वतंत्र नाम रखे हैं। महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है' उस स्थान में धर्म शब्द से कर्तव्यशास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्थाशास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है उस स्थानपर अर्थात् शान्तिपर्व के उत्तरार्ध में 'मोक्षधर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है। इसी तरह मन्वादि स्मृति-ग्रन्थों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कर्मों अर्थात् चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय केवल धर्म शब्द का ही अनेक स्थानों पर कई बार उपयोग किया गया है। और भगवद्गीता में भी जब भगवान् अर्जुन से यह कह कर लड़ने के लिये कहते हैं कि "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" (गी. २. ३१) तब – और इसके बाद "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" (गी. ३. ३५) इस स्थान पर भी – धर्म शब्द "इस लोक के चातुर्वर्ण्य के धर्म" अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पुराने जमाने के ऋषियों ने श्रम-विभागरूप चातुर्वर्ण्य-संस्था इस लिये चलाई थी कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावें किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दिशाओं से संरक्षण और पोषण भली भाँति होता रहे। यह बात भिन्न है कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूलकर वे केवल नाम-धारी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र हो गये। इसमें संदेह नहीं कि आरम्भ में यह व्यवस्था समाजधारणार्थ ही की गई थी। और यदि चारों वर्णों में से कोई भी एक वर्ग अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य छोड़ दे यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय और उसकी स्थानपूर्ति दूसरे लोगों से न की जाय तो कुल समाज उतना ही पंगु हो कर धीरे धीरे नष्ट भी होने लग जाता है अथवा वह निकृष्ट अवस्था में तो अवश्य ही पहुँच जाता है। यद्यपि यह बात सच है कि यूरोप में ऐसे अनेक समाज हैं जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के बिना ही हुआ है तथापि स्मरण रहे कि उन देशों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था चाहे न हो परन्तु चारों वर्णों के सब धर्म जातिरूप से नहीं तो गुण विभागरूप ही से जागृत अवश्य रहते हैं। सारांश जब हम धर्म शब्द का उपयोग व्यावहारिक दृष्टि से करते हैं तब हम यही देखा करते हैं कि, सब समाज का धारण और पोषण कैसा होता है। मनु ने कहा है – 'असुखोदर्क' अर्थात् जिसका परिणाम दुःखकारक होता है उस धर्म को छोड़ देना (मनु. ४. १७६) और शान्तिपर्व के सत्यानृताध्याय (शां. १०९. १२) में धर्माधर्म का विवेचन करते हुए भीष्म और उनके पूर्व कर्णपर्व में श्रीकृष्ण कहते हैं –

> धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
> यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

"धर्म शब्द धृ (= धारण करना) धातु से बना है। धर्म से ही सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चय किया गया है कि जिससे (सब प्रजा का) धारण होता है वही धर्म है" (म. भा. कर्ण. ६९. ५९)। यदि यह धर्म छूट जाय तो समझ लेना चाहिये कि समाज के सारे बंधन भी टूट गये; और यदि समाज के बंधन टूटे तो आकर्षणशक्ति के बिना आकाश में सूर्यादि ग्रहमालाओं की जो दशा हो जाती है, अथवा समुद्र में मल्लाह के बिना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की भी हो जाती है। इसलिये उक्त शोचनीय अवस्था में पड़कर समाज को नाश से बचाने के लिये व्यासजी ने कई स्थानों पर कहा है, कि यदि अर्थ या द्रव्य पाने की इच्छा हो तो "धर्म के द्वारा" अर्थात् समाज की रचना को न बिगाड़ते हुए प्राप्त करो; और यदि काम आदि वासनाओं को तृप्त करना हो तो वह भी "धर्म से ही" करो। महाभारत के अन्त में यही कहा है कि –

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

"अरे! भुजा उठा कर मैं चिल्ला रहा हूँ (परन्तु) कोई भी नहीं सुनता! धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है (इस लिये) इस प्रकार के धर्म का आचरण तुम क्यों नहीं करते हो?" अब इससे पाठकों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह जम जायगी कि महाभारत को जिस धर्म-दृष्टि से पाँचवा वेद अथवा 'धर्मसंहिता' मानते हैं उस 'धर्मसंहिता' शब्द के 'धर्म' शब्द का मुख्य अर्थ क्या है। यही कारण है कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों पारलौकिक अर्थ के प्रतिपादक ग्रन्थों के साथ ही – धर्मग्रन्थ के नाते से – 'नारायणं नमस्कृत्य' इन प्रतीक शब्दों के द्वारा – महाभारत का भी समावेश ब्रह्मयज्ञ के नित्यपाठ में कर दिया है।

धर्म-अधर्म के उपर्युक्त निरूपण को सुन कर कोई यह प्रश्न करे, कि यदि तुम्हें 'समाज-धारण' और दूसरे प्रकरण के सत्यानृतविवेक में कथित 'सर्वभूतहित' ये दोनों तत्त्व मान्य हैं तो तुम्हारी दृष्टि में और आधिभौतिक दृष्टि में भेद ही क्या है? क्योंकि ये दोनों तत्त्व बाह्यतः प्रत्यक्ष दिखनेवाले और आधिभौतिक ही हैं। इस प्रश्न का विस्तृत विचार अगले प्रकरण में किया गया है। यहाँ इतना ही कहना बस है कि यद्यपि हमको यह तत्त्व मान्य है कि समाज-धारणा ही धर्म का मुख्य बाह्य उपयोग है, तथापि हमारे मत की विशेषता यह है कि वैदिक अथवा अन्य सब धर्मों का जो परम उद्देश आत्म-कल्याण या मोक्ष है उस पर भी हमारी दृष्टि बनी है। समाज-धारण को लीजिये चाहे सर्वभूतहित ही को; यदि ये बाह्योपयोगी तत्त्व हमारे आत्म-कल्याण के मार्ग में बाधा डालें, तो हमें इनकी जरूरत नहीं। हमारे आयुर्वेद-ग्रन्थ यदि यह प्रतिपादन करते हैं कि वैद्यकशास्त्र भी शरीररक्षा के द्वारा मोक्षप्राप्ति का साधन होने के कारण संग्रहणीय

है तो यह कदापि संभव नहीं कि जिस शास्त्र में इस महत्त्व के विषय का विचार किया गया है कि सांसारिक व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये उस कर्मयोगशास्त्र को हमारे शास्त्रकार आध्यात्मिक मोक्षज्ञान से अलग कर देवें। इसलिये हम समझते हैं कि जो कर्म हमारे मोक्ष अथवा हमारी आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो वही पुण्य है, वही धर्म और वही शुभकर्म है; और जो कर्म उसके प्रतिकूल वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है। यही कारण है कि हम 'कर्तव्य-अकर्तव्य', 'कार्य-अकार्य' शब्दों के बदले 'धर्म' और 'अधर्म' शब्दों का ही (यद्यपि वे दो अर्थ के अतएव कुछ संदिग्ध हों तो भी) अधिक उपयोग करते हैं। यद्यपि बाह्य-सृष्टि के व्यावहारिक कर्मों अथवा व्यापारों का विचार करना ही प्रधान विषय हो तो भी उक्त कर्मों के बाह्य परिणाम के विचार के साथ ही साथ यह विचार भी हम लोग हमेशा करते हैं कि ये व्यापार हमारे आत्मा के कल्याण के अनुकूल हैं या प्रतिकूल। यदि आधिभौतिकवादी से कोई यह प्रश्न करे कि 'मैं अपना हित छोड़ कर लोगों का हित क्यों करूं?' तो वह इसके सिवा और क्या समाधानकारक उत्तर दे सकता है कि 'यह तो सामान्यतः मनुष्य-स्वभाव ही है।' हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि इससे परे पहुँची हुई है और उस व्यापक आध्यात्मिक दृष्टि ही से महाभारत में कर्मयोगशास्त्र का विचार किया गया है; एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वेदान्त का निरूपण भी इतने ही के लिये किया गया है। प्राचीन यूनानी पंडितों की भी यही राय है कि 'अत्यन्त हित' अथवा 'सद्गुण की पराकाष्ठा' के समान मनुष्य का कुछ-न-कुछ परम उद्देश कल्पित करके फिर उसी दृष्टि से कर्म-अकर्म का विवेचन करना चाहिये। और ॲरिस्टॉटलने अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ (१. ७. ८) में कहा है कि आत्मा के हित में ही इन सब बातों का समावेश हो जाता है। तथापि इस विषय में आत्मा के हित के लिये जितनी प्रधानता देनी चाहिये थी उतनी ॲरिस्टॉटल ने दी नहीं है। हमारे शास्त्रकारों में यह बात नहीं है। उन्होंने निश्चित किया है कि, आत्मा का कल्याण अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्था ही प्रत्येक मनुष्य का पहला और परम उद्देश है। अन्य प्रकार के हितों की अपेक्षा उसी को प्रधान जानना चाहिये। अध्यात्म-विद्या को छोड़ कर कर्म-अकर्म का विचार करना ठीक नहीं है। जान पड़ता है कि वर्तमान समय में पश्चिमी देशों के कुछ पंडितों ने भी कर्म-अकर्म के विवेचन की इसी पद्धति को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, जर्मन तत्त्वज्ञानी कान्ट ने पहले 'शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि की मीमांसा' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ को लिख कर फिर उसकी पूर्ति के लिये 'व्यावहारिक (वासनात्मक) बुद्धि की मीमांसा' नाम का नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ लिखा है*; और इंग्लैण्ड में भी ग्रीन ने अपने 'नीतिशास्त्र के उपोद्घात' का सृष्टि के मूलभूत

* कान्ट एक जर्मन तत्त्वज्ञानी था। इसे अर्वाचीन तत्त्वज्ञानशास्त्र का जनक समझते हैं। इसके *Critique of Pure Reason* (शुद्ध बुद्धि की मीमांसा) और *Critique*

आत्मतत्त्व से ही आरम्भ किया है। परन्तु इन ग्रन्थों के बदले केवल आधिभौतिक पंडितों के ही नीतिग्रन्थ आजकल हमारे यहाँ अंग्रेजी शालाओं में पढ़ाये जाते हैं जिसका परिणाम यह दीख पड़ता है कि गीता में बतलाये गये कर्मयोगशास्त्र के मूलतत्त्वों का – हम लोगों में अंग्रेजी सीखे हुए बहुतेरे विद्वानों को भी – स्पष्ट बोध नहीं होता।

उक्त विवेचन से ज्ञात हो जायगा कि व्यावहारिक नीतिबंधनों के लिये अथवा समाजधारणा की व्यवस्था के लिये हम 'धर्म' शब्द का उपयोग क्यों करते हैं। महाभारत, भगवद्गीता आदि संस्कृत ग्रन्थों में तथा भाषा-ग्रन्थों में भी व्यावहारिक कर्तव्य अथवा नियम के अर्थ में धर्म शब्द का हमेशा उपयोग किया जाता है। कुल-धर्म और कुलाचार, दोनों शब्द समानार्थक समझे जाते हैं। भारतीय युद्ध में एक समय कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी ने निगल लिया था उसको उठा कर ऊपर लाने के लिये जब कर्ण अपने रथ से नीचे उतरा तब अर्जुन उसका वध करने के लिये उद्यत हुआ। यह देख कर कर्ण ने कहा "निःशस्त्र शत्रु को मारना धर्मयुद्ध नहीं है।" इसे सुन कर श्रीकृष्ण ने कर्ण को कई पिछली बातों का स्मरण दिलाया जैसे कि द्रौपदी का वस्त्रहरण कर लिया गया था सब लोगों ने मिल कर अकेले अभिमन्यु का वध कर डाला था इत्यादि। और प्रत्येक प्रसंग में यह प्रश्न किया है "हे कर्ण! उस समय तेरा धर्म कहाँ गया था?" इन सब बातों का वर्णन महाराष्ट्र-कवि मोरोपंत ने किया है। और महाभारत में भी इस प्रसंग पर "क्व ते धर्मस्तदा गतः" प्रश्न में 'धर्म' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। तथा अन्त में कहा गया है कि जो इस प्रकार अधर्म करे उसके साथ उसी तरह का बर्ताव करना ही उसको उचित दण्ड देना है। सारांश क्या संस्कृत और क्या भाषा सभी ग्रन्थों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग उन सब नीति नियमों के बारे में किया गया है जो समाजधारणा के लिये शिष्टजनों के द्वारा अध्यात्म-दृष्टि से बनाये गये हैं। इसलिये उसी शब्द का उपयोग हमने भी इस ग्रंथ में किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर नीति के उन नियमों अथवा 'शिष्टाचार' को धर्म की बुनियाद कह सकते हैं जो समाजधारणा के लिये शिष्टजनों के द्वारा प्रचलित किये गये हों और जो सर्वसामान्य हो चुके हों। और, इसलिये महाभारत (अनु. १४. १५७) में एवं स्मृति-ग्रन्थों में "आचारप्रभवो धर्मः" अथवा "आचारः परमो धर्मः" (मनु. १. १०८) अथवा धर्म का मूल बतलाते समय "वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः" (मनु. २. १२) इत्यादि वचन कहे हैं। परन्तु कर्मयोगशास्त्र में इतने ही से काम नहीं चल सकता इस बात का भी पूरा और मार्मिक विचार करना पड़ता है कि उक्त आचार की प्रवृत्ति ही क्यों हुई – इस आचार की प्रवृत्ति ही का कारण क्या है।

'धर्म' शब्द की दूसरी एक और व्याख्या प्राचीन ग्रंथों में दी गई है। उसका

---

of Practical Reason (व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा) यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ग्रीन के ग्रन्थ का नाम *Prolegomena to Ethics* है।

भी यहाँ थोड़ा विचार करना चाहिये। यह व्याख्या मीमांसकों की है " चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः " (जै. सू. १. १. २)। किसी अधिकारी पुरुष का यह कहना अथवा मत करना 'चोदना' यानी प्रेरणा है। जब तक इस प्रकार कोई प्रबंध नहीं कर दिया जाता तब तक कोई भी काम किसी को भी करने की स्वतंत्रता होती है। इसका आशय यही है कि पहले पहल निर्बंध या प्रबंध के कारण धर्म निर्माण हुआ। धर्म की यह व्याख्या कुछ अंश में प्रसिद्ध अंग्रेज ग्रंथकार हॉब्स के मत से मिलती है। असभ्य तथा जंगली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का आचरण समय समय पर उत्पन्न होनेवाली मनोवृत्तियों की प्रबलता के अनुसार हुआ करता है। परन्तु धीरे धीरे कुछ समय के बाद यह मालूम होने लगता है, कि इस प्रकार का मनमाना बर्ताव श्रेयस्कर नहीं है; और यह विश्वास होने लगता है कि इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यापारों की कुछ मर्यादा निश्चित करके उसके अनुसार बर्ताव करने ही में सब लोगों का कल्याण है। तब प्रत्येक मनुष्य ऐसी मर्यादाओं का पालन कायदे के तौर पर करने लगता है; जो शिष्टाचार से अन्य रीति से सुदृढ़ हो जाया करती हैं। जब इस प्रकार की मर्यादाओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है तब उन्हीं का एक शास्त्र बन जाता है। पूर्व समय में विवाहव्यवस्था का प्रचार नहीं था। पहले पहल उसे श्वेतकेतु ने चलाया और पिछले प्रकरण में बतलाया गया है कि शुक्राचार्य ने मदिरापान को निषिद्ध ठहराया। यह न देख कर कि इन मर्यादाओं को नियुक्त करने में श्वेतकेतु अथवा शुक्राचार्य का क्या हेतु था केवल किसी एक बात पर ध्यान दे कर कि इन मर्यादाओं के निश्चित करने का काम या कर्तव्य इन लोगों को करना पड़ा; धर्म शब्द की 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' व्याख्या बनाई गई है। धर्म भी हुआ तो पहले उसका महत्त्व किसी व्यक्ति के ध्यान में आता है और तभी उसकी प्रवृत्ति होती है। 'खाओ-पीओ, चैन करो' ये बातें किसी को सिखलानी नहीं पड़तीं क्योंकि ये इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म ही हैं। मनुजी ने जो कहा है कि "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" (मनु. ५. ५६) – अर्थात् मांस भक्षण करना अथवा मद्यपान और मैथुन करना कोई सृष्टिक्रम-विरुद्ध दोष नहीं है – उसका तात्पर्य भी यही है। ये सब बातें मनुष्य ही के लिये नहीं किन्तु प्राणिमात्र के लिये स्वाभाविक हैं – 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्'। समाज-धारण के लिये अर्थात् सब लोगों के सुख के लिये इस स्वाभाविक आचरण का उचित प्रतिबंध करना ही धर्म है। महाभारत (शां. २९४. २९) में भी कहा है –

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओं के लिये एक ही समान स्वाभाविक हैं। मनुष्यों और पशुओं में कुछ भेद है तो केवल धर्म का

जा सकता। इसलिये महाजन जिस मार्ग से गये हों, वही (धर्म का) मार्ग है" (म. भा. वन. ३१२. ११५)। ठीक है! परन्तु महाजन किसे कहना चाहिये? उसका अर्थ "बड़ा अथवा बहुत सा जनसमूह" नहीं हो सकता। क्योंकि जिन साधारण लोगों के मन में धर्म-अधर्म की शंका भी उत्पन्न नहीं होती, उनके बतलाये मार्ग से जाना मानो कठोपनिषद् में वर्णित "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" – वाली नीति ही को चरितार्थ करना है। अब यदि महाजन का अर्थ 'बड़े बड़े सदाचारी पुरुष' लिया जाय – और यही अर्थ उक्त श्लोक में अभिप्रेत है – तो उन महाजनों के आचरण में भी एकता कहाँ है? निष्पाप श्रीरामचन्द्र ने अग्निद्वारा शुद्ध हो जानेपर भी अपनी पत्नी का त्याग केवल लोकापवाद के लिये किया; और सुग्रीव को अपने पक्ष में मिलाने के लिये उससे 'तुल्यारिमित्र' – अर्थात् जो तेरा शत्रु वही मेरा शत्रु, और जो तेरा मित्र वही मेरा मित्र, इस प्रकार संधि करके बेचारे वाली का वध किया; यद्यपि उसने श्रीरामचन्द्र का कुछ अपराध नहीं किया था। परशुराम ने तो पिता की आज्ञा से प्रत्यक्ष अपनी माता का शिरच्छेद कर डाला। यदि पाण्डवों का आचरण देखा जाय तो पाँचों की एक ही स्त्री थी। स्वर्ग के देवताओं को देखें तो कोई अहल्या का सतीत्व भ्रष्ट करनेवाला है, और कोई (ब्रह्मा) मृगरूप से अपनी ही कन्या का अभिलाष करने के कारण रुद्र के बाण से विद्ध हो कर आकाश में पड़ा हुआ है (ऐ. ब्रा. ३. ३३)। इन्हीं बातों को मन में ला कर 'उत्तररामचरित' नाटक में भवभूति ने लव के मुख से कहलाया है कि "वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः" – इन वृद्धों के कृत्यों का बहुत विचार नहीं करना चाहिये। अंग्रेजी में शैतान का इतिहास लिखनेवाले एक ग्रन्थकार ने लिखा है कि शैतान के साथियों और देवदूतों के झगड़ों का हाल देखने से मालूम होता है कि कई बार देवताओं ने ही दैत्यों को कपटजाल में फँसा लिया है। इस प्रकार कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् (कौषी. ३. १ और ऐ. ब्रा. ७. २८ देखो) में इन्द्र प्रतर्दन से कहता है कि "मैंने वृत्र को (यद्यपि वह ब्राह्मण था) मार डाला। अरुन्मुख संन्यासियों के टुकड़े टुकड़े करके भेड़ियों को (खाने के लिये) दिये; और अपनी कई प्रतिज्ञाओं का भंग करके प्रह्लाद के नातेदारों और गोत्रजों का तथा पौलोम और कालखंज नामक दैत्यों का वध किया। (इससे) मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ – 'तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते!'" यदि कोई कहे कि "तुम्हें इन महात्माओं के बुरे कर्मों की ओर ध्यान देने का कुछ भी कारण नहीं है; जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् (१. ११. २) में बतलाया है, उनके जो कर्म अच्छे हों उन्हीं का अनुकरण करो, और सब छोड़ दो। उदाहरणार्थ, परशुराम के समान पिता की आज्ञा पालन करो, परन्तु माता की हत्या मत करो"; तो वही पहला प्रश्न फिर भी उठता है कि बुरा कर्म और भला कर्म समझने के लिये साधन है क्या? इसलिये अपनी करनी का उक्त प्रकार से वर्णन कर इन्द्र प्रतर्दन से फिर कहता है "जो पूर्ण आत्मज्ञानी है उसे मातृवध, पितृवध, भ्रूणहत्या अथवा स्तेय (चोरी) इत्यादि किसी भी

भ्रम का लेश नहीं लगता। इस बात को भली भाँति समझ ले, कि आत्मा किसे कहते हैं – ऐसा करने से तेरे सारे संशयों की निवृत्ति हो जायगी। इसके बाद इन्द्र ने प्रतर्दन को आत्मविद्या का उपदेश किया। सारांश यह है कि "महाजनो येन गतः स पन्थाः" यह युक्ति यद्यपि सामान्य लोगों के लिये सरल है तो भी सब बातों में इससे निर्वाह नहीं हो सकता और अन्त में महाजनों के आचरण का सच्चा तत्त्व कितना भी गूढ़ हो तो आत्मज्ञान में घुस कर विचारवान पुरुषों को उसे ढूँढ़ निकालना ही पड़ता है। 'न देवचरितं चरेत्' – देवताओं के केवल बाहरी चरित्र के अनुसार आचरण नहीं करना चाहिये – इस उपदेश का रहस्य भी यही है। इसके सिवा कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये कुछ लोगों ने एक और सरल युक्ति बतलाई है। उनका कहना है कि कोई भी सद्गुण हो उसकी अधिकता न होने देने के लिये हमें हमेशा यत्न करते रहना चाहिये क्योंकि इस अधिकता से ही अन्त में सद्गुण दुर्गुण बन बैठता है। जैसे देना सचमुच सद्गुण है परन्तु 'अतिदानाद्बलिर्बद्धः' – दान की अधिकता होने से ही राजा बलि फँस गया। प्रसिद्ध यूनानी पण्डित अरिस्टाटल ने अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ में कर्म-अकर्म के निर्णय की यही युक्ति बतलाई है; और स्पष्टतया दिखलाया है कि प्रत्येक सद्गुण की अधिकता होने पर दुर्दशा कैसे हो जाती है। कालिदास ने भी रघुवंश में वर्णन किया है कि केवल शूरता व्याघ्र सरीखे श्वापद का क्रूर काम है और केवल नीति भी डरपोकपन है; इसलिये अतिथि राजा तलवार और राजनीति के योग्य मिश्रण से अपने राज्य का प्रबन्ध करता था (रघु. १७. ४७)। भर्तृहरि ने भी कुछ गुण-दोषों का वर्णन कर कहा है कि यदि ज्यादा बोलना वाचालता का लक्षण है और कम बोलना घुम्मापन है; ज्यादा खर्च करे तो उड़ाऊ और कम करे तो कंजूस; आगे बढ़े तो दुःसाहसी और पीछे हटे तो ढीला; अतिशय आग्रह करे तो जिद्दी और न करे तो चंचल; ज्यादा खुशामद करे तो नीच और ऐंठ दिखलावे तो घमंडी है; परन्तु इस प्रकार की स्थूल कसौटी से अन्त तक निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि, 'अति' किसे कहते हैं और 'नियमित' किसे कहते हैं – इसका भी तो कुछ निर्णय होना चाहिये न; तथा यह निर्णय कौन किस प्रकार करे? किसी एक को अथवा किसी एक मौके पर जो बात 'अति' होगी वही दूसरे को अथवा दूसरे मौके पर कम हो जायगी। हनुमानजी को पैदा होते ही सूर्य को पकड़ने के लिये उड़ान मारना कोई कठिन काम नहीं मालूम पड़ा (वा. रामा. ७. ३५) परन्तु यही बात औरों के लिये कठिन क्या असंभव जान पड़ती है। इसलिये जब धर्म-अधर्म के विषय में संदेह उत्पन्न हो तब प्रत्येक मनुष्य को ठीक वैसा ही निर्णय करना पड़ता है जैसा श्येन ने राजा शिबि से कहा है –

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्॥

अर्थात् परस्पर-विरुद्ध धर्मों का तारतम्य अथवा लघुता और गुरुता देख कर ही प्रत्येक मौके पर, अपनी बुद्धि के द्वारा सत्य धर्म अथवा कर्म का निर्णय करना चाहिये (म भा वन १३१ ११, १२ और मनु ९ २९९ देखो)। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि इतने ही से धर्म अधर्म के सार असार का विचार करना ही शंका के समय धर्म-निर्णय की एक सच्ची कसौटी है। क्योंकि व्यवहार में अनेक बार देखा जाता है कि अनेक पंडित लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सार-असार का विचार भी भिन्न भिन्न प्रकार से किया करते हैं और एक ही बात की नीतिमत्ता का निर्णय भी भिन्न रीती से किया करते हैं। यही अर्थ उपयुक्त 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' वचन में कहा गया है। इसलिये अब हमें यह जानना चाहिये कि धर्म-अधर्म संशय के इन प्रश्नों का अचूक निर्णय करने के लिये अन्य कोई साधन या उपाय हैं या नहीं; यदि हैं तो कौन-से हैं और यदि अनेक उपाय हों तो उनमें श्रेष्ठ कौन है। बस इस बात का निर्णय कर देना ही शास्त्र का काम है। शास्त्र का यही लक्षण भी है कि अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् – अर्थात् अनेक शंकाओं के उत्पन्न होने पर सब से पहले उन विषयों के मिश्रण को अलग कर दें जो समझ में नहीं आ सकते हैं फिर उसके अर्थ को सुगम और स्पष्ट कर दें जो बातें आँखों से दीख न पड़ती हों उनका अथवा आगे होनेवाली बातों का भी यथार्थ ज्ञान करा दें। जब हम इस बात को सोचते हैं कि ज्योतिषशास्त्र सीखने से आगे होनेवाले ग्रहणों का भी सब हाल मालूम हो जाता है तब उक्त लक्षण के परोक्षार्थस्य दर्शकम् इस दूसरे भाग की सार्थकता अच्छी तरह दीख पड़ती है। परन्तु अनेक संशयों का समाधान करने के लिये पहले यह जानना चाहिये कि वे कौन-सी शंकायें हैं। इसी लिये प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथकारों की यह रीति है कि किसी भी शास्त्र का सिद्धान्तपक्ष बतलाने के पहले उस विषय में जितने पक्ष हो गये हों उनका विचार करके उनके दोष और उनकी न्यूनतायें दिखलाई जाती हैं। इसी रीति का स्वीकार गीता में कर्म-अकर्म निर्णय के लिये प्रतिपादन किया हुआ सिद्धान्त-पक्षीय योग अर्थात् युक्ति बतलाने के पहले इसी काम के लिये जो अन्य युक्तियाँ पंडित लोग बतलाया करते हैं उनका भी अब हम विचार करेंगे। यह बात सच है कि ये युक्तियाँ हमारे यहाँ पहले विशेष प्रचार में न थीं विशेष करके पश्चिमी पंडितों ने ही वर्तमान समय में उनका प्रचार किया है परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी चर्चा इस ग्रन्थ में न की जावे। क्योंकि न केवल तुलना ही के लिये किन्तु गीता के आध्यात्मिक कर्म-योग का महत्त्व ध्यान में आने के लिये भी इन युक्तियों को – संक्षेप में भी क्यों न हो – जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

चौथा प्रकरण

आधिभौतिक सुखवाद

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्। *

— महाभारत शान्ति. १३९. ६१

मनु आदि शास्त्रकारों ने 'अहिंसा सत्यमस्तेयं' इत्यादि जो नियम बनाये हैं उनका कारण क्या है, वे नित्य हैं कि अनित्य, उनकी व्याप्ति कितनी है, उनका मूल तत्त्व क्या है, यदि इनमें से कोई दो परस्परविरोधी धर्म एक ही समयमें आ पड़ें तो किस मार्ग का स्वीकार करना चाहिये, इत्यादि प्रश्नों का निर्णय ऐसी सामान्य युक्तियों से नहीं हो सकता जो 'महाजनो येन गतः स पंथाः' या 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' आदि वचनों से सूचित होती हैं। इसलिये अब यह देखना चाहिये कि इन प्रश्नों का उचित निर्णय कैसे हो और श्रेयस्कर मार्ग निश्चित करने के लिये निर्भ्रान्त युक्ति क्या है; अर्थात् यह जानना चाहिये कि परस्पर-विरुद्ध धर्मों की लघुता और गुरुता – न्यूनाधिक महत्ता – किस दृष्टि से निश्चित की जाय। अन्य शास्त्रीय प्रतिपादनों के अनुसार कर्म-अकर्म-विवेचनसंबंधी प्रश्नों की भी चर्चा करने के तीन मार्ग हैं; जैसे आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। इनके भेद का वर्णन पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। हमारे शास्त्रकारों के मतानुसार आध्यात्मिक मार्ग ही इन सब मार्गों में श्रेष्ठ है; परन्तु अध्यात्ममार्ग का महत्त्वपूर्ण रीति से ध्यान में जँचने के लिये दूसरे दो मार्गों का भी विचार करना आवश्यक है; इसीलिये पहले इस प्रकरण में कर्म-अकर्म-परीक्षा के आधिभौतिक मूलतत्त्वों की चर्चा की गई है। जिन आधिभौतिक शास्त्रों की आजकल बहुत उन्नति हुई है उनमें व्यक्त पदार्थों के बाह्य और दृश्य गुणों ही का विचार विशेषता से किया जाता है; इसलिये जिन लोगों ने आधिभौतिक शास्त्रों के अध्ययन ही में अपनी उम्र बिता दी है और जिनको इस शास्त्र की विचारपद्धति का अभिमान है, उन्हें बाह्य परिणामों के ही विचार करने की आदत-सी पड़ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी तत्त्वज्ञानदृष्टि थोड़ी-बहुत संकुचित हो जाती है और किसी भी बात का विचार करते समय वे लोग आध्यात्मिक, पारलौकिक, अव्यक्त या अदृश्य कारणों को विशेष महत्त्व नहीं देते। परन्तु यद्यपि वे लोग उक्त कारण से आध्यात्मिक और पारलौकिक दृष्टि को छोड़ दें, तथापि उन्हें यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य के सांसारिक व्यवहारों को

---

* "दुःख से सभी उकताते हैं और सुख की इच्छा सभी करते हैं।"

सरलतापूर्वक चलाने और लोकसंग्रह करने के लिये नीति-नियमों की अत्यन्त आवश्यकता है। इसी लिये हम देखते हैं कि उन पंडितों को भी कर्मयोगशास्त्र बहुत महत्त्व का मालूम होता है कि जो लोग पारलौकिक विषयों पर अनास्था रखते हैं, या जिन लोगों का अव्यक्त अध्यात्मज्ञान में (अर्थात् परमेश्वर में भी) विश्वास नहीं है। ऐसे पंडितों ने पश्चिमी देशों में इस बात की बहुत चर्चा की है – और यह चर्चा अब तक जारी है – कि केवल आधिभौतिक शास्त्र की रीति से (अर्थात् केवल सांसारिक दृश्य युक्तिवाद से ही) कर्म-अकर्म-शास्त्र की उपपत्ति दिखलाई जा सकती है या नहीं। इस चर्चा से उन लोगों ने यह निश्चय किया है, कि नीतिशास्त्र का विवेचन करने में अध्यात्मशास्त्र की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। किसी कर्म के भले या बुरे होने का निर्णय उस कर्म के बाह्य परिणामों से – जो प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं – किया जाना चाहिये; और ऐसा ही किया भी जाता है। क्योंकि, मनुष्य जो जो कर्म करता है वह सब सुख के लिये या दुःख-निवारणार्थ ही किया करता है। और तो क्या, सब मनुष्यों का सुख ही ऐहिक परमोद्देश है; और यदि सब कर्मों का अंतिम दृश्य फल इस प्रकार निश्चित है तो नीतिनिर्णय का सच्चा मार्ग यही होना चाहिये कि सब कर्मों की नीतिमत्ता निश्चित की जाय। जब कि व्यवहार में किसी वस्तु का भला-बुरापन केवल बाहरी उपयोग ही से निश्चित किया जाता है – जैसे जो गाय छोटे सींगोंवाली और सीधी हो कर भी अधिक दूध देती है वही अच्छी समझी जाती है – तब इसी प्रकार जिस कर्म से सुख-प्राप्ति या दुःख-निवारणात्मक बाह्य फल अधिक हो, उसी को नीति की दृष्टि से भी श्रेयस्कर समझना चाहिये। जब हम लोगों को केवल बाह्य और दृश्य परिणामों की लघुता-गुरुता देख कर नीतिमत्ता के निर्णय करने की यह सरल और शास्त्रीय कसौटी प्राप्त हो गई है, तब उसके लिये आत्म-अनात्म के गहरे विचार-सागर में चक्कर खाते रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्"* – पास ही में मधु मिल जाय तो मधुमक्खी के छत्ते की खोज के लिये जंगल में क्यों जाना चाहिये? किसी भी कर्म के केवल बाह्य फल को देख कर नीति और अनीति का निर्णय करनेवाले उक्त पक्ष को हमने 'आधिभौतिक सुखवाद' कहा है। क्योंकि नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये इस मत के अनुसार जिन सुख-दुःखों का विचार किया जाता है वे सब प्रत्यक्ष दिखनेवाले और केवल बाह्य अर्थात् बाह्य पदार्थों का इंद्रियों के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होनेवाले यानी आधिभौतिक हैं; और यह पंथ भी सब

---

* कुछ लोग इस श्लोक में 'अर्क' शब्द से 'आक या मदार' के पेड़ का भी अर्थ लेते हैं। परन्तु ब्रह्मसूत्र ३. ४. ३ के शांकरभाष्य की टीका में आनन्दगिरि ने 'अर्क' शब्द का अर्थ 'समीप' किया है। इस श्लोक का दूसरा चरण यह है – "सिद्धस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्"

संसार को केवल आधिभौतिक दृष्टि से विचार करनेवाले पंडितों ने ही चलाया है। इसका विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में करना असंभव है – भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों के मतों का सिर्फ सारांश देने के लिये ही स्वतंत्र ग्रंथ लिखना पड़ेगा। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोगशास्त्र का स्वरूप और महत्त्व पूरी तौर से ध्यान में आ जाने के लिये नीतिशास्त्र के इस आधिभौतिक पंथ का जितना स्पष्टीकरण अत्यावश्यक है, उतना ही संक्षिप्त रीति से इस प्रकरण में एकत्रित किया गया है। इससे अधिक बातें जानने के लिये पाठकों को पश्चिमी विद्वानों के मूलग्रन्थ ही पढ़ना चाहिये। ऊपर कहा गया है कि परलोक के विषय में आधिभौतिकवादी उदासीन रहा करते हैं; परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि इस पंथ के सब विद्वान लोग स्वार्थसाधक, स्वार्थी अथवा अनीतिमान हुआ करते हैं। यदि इन लोगों में पारलौकिक दृष्टि नहीं है तो न सही। ये मनुष्य के कर्तव्य के विषय में यही कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी ऐहिक दृष्टि ही को – जितनी बन सके उतनी – व्यापक बना कर समूचे जगत के कल्याण के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस तरह अंतःकरण से उत्साह के साथ उपदेश करनेवाले कोन्ट, मिल, स्पेन्सर आदि सात्त्विक वृत्ति के अनेक पंडित इस पंथ में हैं और उनके ग्रंथ अनेक प्रकार के उदात्त और प्रगल्भ विचारों से भरे रहने के कारण सब लोगों के पढ़ने योग्य हैं। यद्यपि कर्मयोगशास्त्र के पंथ भिन्न हैं तथापि जब तक 'संसार का कल्याण' यह बाहरी उद्देश छूट नहीं गया है तब तक भिन्न रीति से नीतिशास्त्र का प्रतिपादन करनेवाले किसी मार्ग या पंथ का उपहास करना अच्छी बात नहीं है। अस्तु; आधिभौतिकवादियों में इस विषय पर मतभेद है कि नैतिक कर्म अकर्म का निर्णय करने के लिये जिस आधिभौतिक बाह्य सुख का विचार करना है वह किसका है? स्वयं अपना है या दूसरे का; एक ही व्यक्ति का है या अनेक व्यक्तियों का? अब संक्षेप में इस बात का विचार किया जायगा कि नये और पुराने सभी आधिभौतिकवादियों के मुख्यतः कितने वर्ग हो सकते हैं और उनके ये पंथ कहाँ तक उचित अथवा निर्दोष हैं।

इनमें से पहला वर्ग केवल स्वार्थ-सुखवादियों का है। इस पंथ का कहना है कि परलोक और परोपकार सब झूठ हैं। आध्यात्मिक धर्मशास्त्रों को चालाक लोगों ने अपना पेट भरने के लिये लिखा है; इस दुनिया में स्वार्थ ही सत्य है; और जिस उपाय से स्वार्थ सिद्ध हो सके अथवा जिसके द्वारा स्वयं अपने आधिभौतिक सुख की वृद्धि हो उसी को न्याय्य, प्रशस्त या श्रेयस्कर समझना चाहिये। हमारे हिंदुस्थान में बहुत पुराने समय में चार्वाक ने बड़े उत्साह से इस मत का प्रतिपादन किया था और रामायण में जाबालि ने अयोध्याकांड के अन्त में श्रीरामचन्द्रजी को जो कुटिल उपदेश दिया है वह, तथा महाभारत में वर्णित कणिकनीति (म. भा. आ. १४२) भी इसी मार्ग की है। चार्वाक का मत है कि जब पंचमहाभूत एकत्र होते हैं तब उनके मिश्रण से आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न हो जाता है और देह

के अमने पर उसके साथ साथ वह भी कम आता है। इसलिये विद्वानोंका कतव्य है, कि आत्मविचार के झंझट में न पड़ कर जब तक यह शरीर जीवित अवस्था में है तब तक ऋण ले कर भी त्योहार मनावें – 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' – क्योंकि मरने पर कुछ नहीं है। चार्वाक हिंदुस्थान में पैदा हुआ था इसलिये उसने घृत ही से अपनी तृष्णा बुझा ली। नहीं तो उक्त सूत्र का रूपान्तर 'ऋणं कृत्वा सुरां पिबेत्' हो गया होता। कहाँ का धर्म और कहाँ का परोपकार! इस संसार में जितने पदार्थ परमेश्वर ने – शिव शिव! भूल हो गई। परमेश्वर आया कहाँ से! – इस संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब मेरे ही उपयोग के लिये हैं। उनका दूसरा कोई भी उपयोग नहीं दिखाई पड़ता – अर्थात् है ही नहीं! मैं मरा कि दुनिया डूबी! इसलिये जब तक मैं जीता हूँ तब आज यह तो कल वह; इस प्रकार सब कुछ अपने अधीन करके अपनी सारी काम-वासनाओं को तृप्त कर लूँगा। यदि मैं तप करूँगा अथवा कुछ दान दूँगा तो वह सब मैं अपने महत्त्व को बढ़ाने ही के लिये करूँगा और यदि मैं राजसूय या अश्वमेध यज्ञ करूँगा तो उसे मैं यही प्रकट करने के लिये करूँगा कि मेरी सत्ता या अधिकार सर्वत्र अबाधित है। सारांश इस जगत का मैं ही केन्द्र हूँ और केवल यही सब नीतिशास्त्रों का रहस्य है। बाकी सब झूठ है। ऐसे ही आसुरी महाभिमानियों का वर्णन गीता के सोलहवें अध्याय में किया गया है – ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी (गीता १६. १४) – मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगनेवाला और मैं ही सिद्ध बलवान् और सुखी हूँ। यदि श्रीकृष्ण के बदले जाबालि के समान इस पंथवाला कोई आदमी अर्जुन को उपदेश करने के लिये होता तो वह पहले अर्जुन के कान मल कर यह बतलाता कि अरे तू मूर्ख तो नहीं है! लड़ाई में सब को जीत कर अनेक प्रकार के राजभोग और विलासों के भोगने का यह बढ़िया मौका पाकर भी तू 'यह करूँ कि वह करूँ!' इत्यादि व्यर्थ भ्रम में कुछ-का-कुछ बक रहा है। यह मौका फिरसे मिलने का नहीं। कहाँ के आत्मा और कहाँ के कुटुम्बियों के लिये बैठा है। उठ, तैयार हो सब लोगों को ठोक-पीट कर सीधा कर दे और हस्तिनापुर के साम्राज्य का सुख से निष्कंटक उपभोग कर! इसी में तेरा परम कल्याण है। स्वयं अपने दृश्य तथा ऐहिक सुख के सिवा इस संसार में और रक्खा क्या है! परन्तु अर्जुन ने इस घृणित स्वार्थ-साधक और आसुरी उपदेश की प्रतीक्षा नहीं की – उसने पहले ही श्रीकृष्ण से कह दिया कि :–

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

"पृथ्वी का ही क्या परन्तु यदि तीनों लोकों का राज्य (इतना बड़ा विषय-सुख) भी (इस युद्ध के द्वारा) मुझे मिल जाय तो भी मैं कौरवों को मारना नहीं चाहता। चाहे वे मेरी गर्दन ही क्यों न उड़ा दें!" (गी. १. ३५)। अर्जुनने पहले ही से जिस स्वार्थपरायण और आधिभौतिक सुखवाद का इस तरह निषेध किया है उस आसुरी

मत का केवल उल्लेख करना ही उसका खंडन करना कहा जा सकता है। दूसरों के हित-अनहित की कुछ भी परवाह न करके सिर्फ अपने सुख के विषयोपभोगसुख को परम पुरुषार्थ मान कर नीतिमत्ता और धर्म को गिरा देनेवाले आधिभौतिकवादियों की यह अत्यन्त कनिष्ठ श्रेणी कर्मयोगशास्त्र के सब ग्रन्थकारों के द्वारा और सामान्य लोगों के द्वारा भी बहुत ही अनीति की, त्याज्य और गर्ह्य मानी गई है। अधिक क्या कहा जाय, यह पन्थ नीतिशास्त्र अथवा नीतिविवेचन के नाम का भी पात्र नहीं है। इसलिये इसके बारे में अधिक विचार न करके आधिभौतिकसुखवादियों के दूसरे वर्ग की ओर ध्यान देना चाहिये।

खुल्लमखुल्ला या प्रकट स्वार्थ संसार में चल नहीं सकता। क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि यद्यपि आधिभौतिक विषयसुख प्रत्येक को इष्ट होता है; तथापि जब हमारा सुख अन्य लोगों के सुखोपभोग में बाधा डालता है, तब वे लोग बिना विघ्न किये नहीं रहते। इसलिये दूसरे कई आधिभौतिक पण्डित प्रतिपादन किया करते हैं कि यद्यपि स्वयं अपना सुख या स्वार्थ-साधन ही हमेशा उद्देश है, तथापि सब लोगों को अपने ही समान रियायत दिये बिना सुख का मिलना सम्भव नहीं है। इसलिये अपने सुख के लिये ही दूरदर्शिता के साथ अन्य लोगों के सुख की ओर भी ध्यान देना चाहिये। इन आधिभौतिकवादियों की गणना हम दूसरे वर्ग में करते हैं। बल्कि यह कहना चाहिये कि नीति की आधिभौतिक उपपत्ति का यथार्थ आरम्भ यहीं से होता है। क्योंकि इस वर्ग के लोग चार्वाक के मतानुसार यह नहीं कहते, कि समाजधारण के लिये नीति के बन्धनों की कुछ आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु इन लोगों ने अपनी विचारदृष्टि से इस बात का कारण बतलाया है कि सब लोगों को नीति का पालन करना चाहिये। इनका कहना यह है कि यदि इस बात का सूक्ष्म विचार किया जाय कि संसार में अहिंसा धर्म क्यों निकला और लोग उसका पालन क्यों करते हैं तो यही मालूम होगा कि इस स्वार्थमूलक भय के सिवा इसका कुछ दूसरा आदिकारण नहीं है जो इस वाक्य में प्रकट होता है – "यदि मैं लोगों को मारूँगा तो वे मुझे भी मार डालेंगे; और फिर मुझे अपने सुखों से हाथ धोना पड़ेगा।" अहिंसा धर्म के अनुसार ही अन्य सब धर्म भी इसी या ऐसे ही स्वार्थमूलक कारणों से प्रचलित हुए हैं। हमें दुःख हुआ तो हम रोते हैं; और दूसरों को हुआ तो हमें दया आती है। क्यों? इसी लिये कि हमारे मन में यह डर पैदा होता है कि कहीं भविष्य में हमारी भी ऐसी ही दुःखमय अवस्था न हो जाय। परोपकार, उदारता, दया, ममता, कृतज्ञता, नम्रता, मित्रता इत्यादि जो गुण लोगों के सुख के लिये आवश्यक मालूम होते हैं वे सब – इनका सच्चा स्वरूप देखा जाय तो – अपने ही दुःखनिवारणार्थ है। कोई किसी की सहायता करता है या कोई किसी को दान देता है, क्यों? इसी लिये न कि जब हम पर भी आ बिगड़ेगी तब वे हमारी सहायता करेंगे। हम अन्य

मान कर यह कहता है कि इस संसार में स्वार्थ के सिवा और कुछ नहीं। याज्ञवल्क्य 'स्वार्थ' शब्द के स्व (अपना) पद के आधार पर दिखलाते हैं, कि अध्यात्मदृष्टि से अपने एक ही आत्मा का अविरोध भाव से समावेश कैसे होता है। यह दिखला कर उन्होंने स्वार्थ और परार्थ में दीखनेवाले द्वैत के झगड़े की जड़ ही को काट डाला है। याज्ञवल्क्य के उक्त मत और संन्यासमार्गीय मत पर अधिक विचार आगे किया जायगा। यहाँ पर याज्ञवल्क्य आदिकों के मतोंका उल्लेख यही दिखलाने के लिये किया गया है कि सामान्य मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वार्थ-विषयक अर्थात् आत्मसुख-विषयक होती है – इस एक ही बात को थोड़ा-बहुत महत्त्व दे कर, अथवा इसी एक बात को सर्वथा अपवाद-रहित मान कर, हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने उसी बात से हॉब्स के विरुद्ध दूसरे अनुमान कैसे निकाले हैं।

जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि मनुष्य का स्वभाव केवल स्वार्थमूलक अर्थात् तमोगुणी या राजसी नहीं है – जैसा कि अंग्रेज ग्रन्थकार हॉब्स और फ्रेंच पण्डित हेल्वेशियस कहते हैं – किन्तु मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ के साथ ही परोपकारबुद्धि की सात्त्विक मनोवृत्ति भी जन्म से पाई जाती है। अर्थात् जब यह सिद्ध हो चुका कि परोपकार केवल दूरदर्शी स्वार्थ नहीं है तब स्वार्थ अर्थात् स्वसुख और परार्थ अर्थात् दूसरों का सुख इन दोनों तत्त्वों पर समदृष्टि रख कर कार्य-अकार्य-व्यवस्थाशास्त्र की रचना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यही आधिभौतिकवादियों का तीसरा वर्ग है। इस पक्ष में भी यह आधिभौतिक मत मान्य है कि स्वार्थ और परार्थ दोनों सांसारिक सुखवाचक हैं; सांसारिक सुख के परे कुछ भी नहीं है। भेद केवल इतना ही है, कि इस पन्थ के लोग स्वार्थबुद्धि के समान ही परार्थबुद्धि को भी स्वाभाविक मानते हैं। इसलिये वे कहते हैं कि नीति का विचार करते समय स्वार्थ के समान परार्थ की ओर ध्यान देना चाहिये। सामान्यतः स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न नहीं होता इसलिये मनुष्य जो कुछ करता है वह सब प्रायः समाज के भी हित का होता है। यदि किसी ने धनसंचय किया तो उससे समस्त समाज का भी हित होता है; क्योंकि, अनेक व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं और यदि उस समाज की प्रत्येक व्यक्ति दूसरेकी हानि न कर अपना अपना लाभ करने लगे तो उससे कुल समाज का हित ही होगा। अतएव इस पन्थ के लोगों ने निश्चित किया है कि अपने सुख की ओर दुर्लक्ष करके यदि कोई मनुष्य लोकहित का कुछ काम कर सके, तो ऐसा करना उसका कर्तव्य होगा। परन्तु इस पक्ष के लोग परार्थ की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते किन्तु वे यही कहते हैं कि हर समय अपनी बुद्धि के अनुसार इस बात का विचार करते रहो कि स्वार्थ श्रेष्ठ है या परार्थ। इसका परिणाम यह होता है कि जब स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न होता है तब इस प्रश्न का निर्णय करते समय बहुधा मनुष्य स्वार्थ ही की ओर अधिक झुक जाया करता है कि लोक-सुख के लिये अपने कितने का त्याग करना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि स्वार्थ और परार्थ को एक समान

प्रमाण मान लें तो सत्य के लिये प्राण देने और राज्य खो देने की बात तो दूर ही रही, परन्तु इस पन्थ के मत से यह भी निर्णय नहीं हो सकता, कि सत्य के लिये द्रव्य की हानि सहना चाहिये या नहीं। यदि कोई उदार मनुष्य परार्थ के लिये प्राण दे दे तो इस पन्थवाले कदाचित् उसकी स्तुति कर देंगे; परन्तु जब यह मौका स्वयं अपने ही ऊपर आ जायगा तब स्वार्थ-परार्थ दोनों ही का आश्रय करनेवाले ये लोग स्वार्थ की ओर ही अधिक झुकेंगे। ये लोग हाब्स के समान परार्थ को एक प्रकार का दूरदर्शी स्वार्थ नहीं मानते; किन्तु ये समझते हैं कि हम स्वार्थ और परार्थ को तराजू में तौल कर उनके तारतम्य अर्थात् उनकी न्यूनाधिकता का विचार करके बड़ी चतुराई से अपने स्वार्थ का निर्णय किया करते हैं। अतएव ये लोग अपने मार्ग को 'उदात्त' या 'उच्च' स्वार्थ (परन्तु है तो स्वार्थ ही) कह कर उसकी बड़ाई मारते फिरते हैं*। परन्तु देखिये, भर्तृहरि ने क्या कहा है –

> एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
> सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये॥
> तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
> ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

"जो अपने लाभ को त्याग कर दूसरों का हित करते हैं वे ही सच्चे सत्पुरुष हैं। स्वार्थ को न छोड़ कर जो लोग लोकहित के लिये प्रयत्न करते हैं वे पुरुष सामान्य हैं; और अपने लाभ के लिये जो दूसरों का नुकसान करते हैं वे नीच मनुष्य नहीं हैं, उनको मनुष्याकृति राक्षस समझना चाहिये। परन्तु एक प्रकार के मनुष्य और भी हैं जो लोकहित का निरर्थक नाश किया करते हैं – मालूम नहीं पड़ता कि ऐसे मनुष्यों को क्या नाम दिया जाय" (भर्तृ. नी. श. ७४)। इसी तरह राजधर्म की उत्तम स्थिति का वर्णन करते समय कालिदास ने भी कहा है :–

> स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः।
> प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव॥

अर्थात् "तू अपने सुख की परवाह न करके लोकहित के लिये प्रतिदिन कष्ट उठाया करता है! अथवा तेरी वृत्ति (पेशा) ही यही है" (शाकुं. ५. ७)। भर्तृहरि या कालिदास यह जानना नहीं चाहते थे कि कर्मयोगशास्त्र में स्वार्थ और परार्थ को स्वीकार करके उन दोनों तत्त्वों के तारतम्य भाव से धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्म का निर्णय कैसे करना चाहिये; तथापि परार्थ के लिये स्वार्थ छोड़ देनेवाले पुरुषों को उन्होंने जो प्रथम स्थान दिया है, वही नीति की दृष्टि से भी न्याय्य है। इस पर इस पन्थ के लोगों का यह कहना है कि, यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से परार्थ श्रेष्ठ है

* अंग्रेजी में इसे enlightened self interest कहते हैं। हमने enlightened का भाषान्तर 'उदात्त' या 'उच्च' शब्द से किया है।

लोगों को इसलिए प्यार पर रखते हैं कि वे भी हमपर प्यार करें। और कुछ नहीं तो हमारे मन में अच्छा बड़प्पन का स्वाभमूल्य हेतु अवश्य रहता है। परोपकार और परार्थ दोनों शब्द केवल भ्रान्तिमूलक हैं। यदि कुछ सच्चा है तो स्वार्थ और स्वार्थ कहते हैं अपने लिए सुख प्राप्ति या अपने दुःखनिवारण को। माता बच्चे को दूध पिलाती है इसका कारण यह नहीं है कि वह बच्चे पर प्रेम रखती है। सच्चा कारण तो यही है कि इसके स्तनों में दूध भर आने से उस को दुःख होता है उसे कम करने के लिए – अथवा भविष्य में यही लड़का मुझे प्यार करके सुख देगा इस स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही – वह बच्चे को दूध पिलाती है। इस बात का दूसरे वर्ग के आधिभौतिकवादी मानते हैं कि स्वयं अपने ही सुख के लिए भी क्यों न हो परन्तु भविष्य पर दृष्टि रख कर ऐसा नीतिधर्म का पालन करना चाहिये कि जिससे दूसरों को भी सुख हो। बस यही इस मत में और चार्वाक के मत में भेद है। तथापि चार्वाक मत के अनुसार इस मत में भी यह माना जाता है कि मनुष्य केवल विषय सुखरूप स्वार्थ के साँचे में ढला हुआ एक पुतला है। इंग्लैंड में हॉब्स और फ्रान्स में हेल्वेशियस ने इस मत का प्रतिपादन किया है। परन्तु इस मत के अनुयायी अब न तो इंग्लैंड में ही और न कहीं बाहर ही अधिक मिलेंगे। हॉब्स के नीतिधर्म की इस उपपत्ति के प्रसिद्ध होने पर बटलर सरीखे विद्वानों ने उसका खण्डन करके सिद्ध किया कि मनुष्य-स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है स्वार्थ के समान ही उसमें जन्म से ही भूतदया, प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्गुण भी कुछ अंश में रहते हैं। इसलिए किसी का व्यवहार या कर्म का नैतिक दृष्टि से विचार करते समय केवल स्वार्थ या दूरदर्शी स्वार्थ की ओर ही ध्यान न देकर मनुष्य-स्वभाव के दो स्वाभाविक गुणों (अर्थात् स्वार्थ और परार्थ) की ओर नित्य ध्यान देना चाहिये। जब हम देखते हैं कि व्याघ्र सरीखे क्रूर जानवर भी अपने बच्चों की रक्षा के लिए प्राण देने को तैयार हो जाते हैं तब हम यह कभी नहीं कह सकते कि मनुष्य के हृदय में प्रेम और परोपकारबुद्धि जैसे सद्गुण केवल स्वार्थ ही से उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि धर्म-अधर्म की परीक्षा केवल दूरदर्शी स्वार्थ से करना शास्त्र की दृष्टि से भी उचित नहीं है। यह बात हमारे प्राचीन पण्डितों को भी अच्छी तरह से मालूम थी कि केवल संसार में लिप्त रहने के कारण जिस मनुष्य की बुद्धि शुद्ध नहीं रहती है वह मनुष्य जो कुछ परोपकार के नाम से करता है वह बहुधा अपने ही हित के लिए करता है। महाराष्ट्र में तुकाराम महाराज एक बड़े भारी भगवद्भक्त हो गये हैं। वे कहते हैं कि “बहू रिश्ते/दिखाने के लिये तो रोती है सास के हित के लिये; परन्तु हृदय का भाव कुछ

हॉब्स का मत उसके *Leviathan* नामक ग्रन्थ में संगृहीत है तथा बटलर का मत उसके *Sermon on Human Nature* नामक निबन्ध में है। हेल्वेशियस का पुस्तक का सारांश मॉर्ले ने अपने *Diderot* विषयक ग्रन्थ (*Vol. II Chap V*) में दिया है।

मान कर यह कहता है कि इस संसार में स्वार्थ के सिवा और कुछ नहीं। याज्ञवल्क्य 'स्वार्थ शब्द के स्व (अपना) पद के आधार पर दिखलाते हैं कि अध्यात्मदृष्टि से अपने एक ही आत्मा का, अविरोध भाव से समावेश कैसे होता है। यह दिखला कर उन्होंने स्वार्थ और परार्थ में दीखनेवाले द्वैत के झगड़े की जड़ ही को काट डाला है। याज्ञवल्क्य के उक्त मत और संन्यासमार्गीय मत पर अधिक विचार आगे किया जायगा। यहाँ पर याज्ञवल्क्य आदिकों के मतों का उल्लेख यही दिखलाने के लिये किया गया है कि सामान्य मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वार्थ विषयक अर्थात् आत्मसुख-विषयक होती है – इस एक ही बात को थोड़ा-बहुत महत्त्व दे कर, अथवा इसी एक बात को सर्वथा अपवाद-रहित मान कर, हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने उसी बात से हॉब्स के विरुद्ध दूसरे अनुमान कैसे निकाले हैं।

जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि मनुष्य का स्वभाव केवल स्वार्थमूलक अर्थात् तमोगुणी या राक्षसी नहीं है – जैसा कि अंग्रेज ग्रन्थकार हॉब्स और फ्रेंच पण्डित हेल्वेशियस कहते हैं – किन्तु मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ के साथ ही परोपकारबुद्धि की सात्त्विक मनोवृत्ति भी जन्म से पाई जाती है। अर्थात् जब यह सिद्ध हो चुका कि परोपकार केवल दूरदर्शी स्वार्थ नहीं है; तब स्वार्थ अर्थात् स्वसुख और परार्थ अर्थात् दूसरों का सुख, इन दोनों तत्त्वों पर समदृष्टि रख कर न्याय-अन्याय-व्यवस्थाशास्त्र की रचना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यही आधिभौतिकवादियों का तीसरा वर्ग है। इस पक्ष में भी यह आधिभौतिक मत मान्य है कि स्वार्थ और परार्थ दोनों सांसारिक सुखवाचक हैं। सांसारिक सुख के परे कुछ भी नहीं है। भेद केवल इतना ही है, कि इस पन्थ के लोग स्वार्थबुद्धि के समान ही परार्थबुद्धि को भी स्वाभाविक मानते हैं। इसलिये ये कहते हैं कि नीति का विचार करते समय स्वार्थ के समान परार्थ की ओर ध्यान देना चाहिये। सामान्यतः स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न नहीं होता, इसलिये मनुष्य जो कुछ करता है वह सब प्रायः समाज के भी हित का होता है। यदि किसी ने धनसंचय किया तो उससे समस्त समाज का भी हित होता है; क्योंकि, अनेक व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं; और यदि उस समाज की प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की हानि न कर अपना अपना लाभ करने लगे, तो उससे कुल समाज का हित ही होगा। अतएव इस पन्थ के लोगों ने निश्चित किया है कि अपने सुख की ओर दुर्लक्ष करके यदि कोई मनुष्य लोकहित का कुछ काम कर सके, तो ऐसा करना उसका कर्तव्य होगा। परन्तु इस पक्ष के लोग परार्थ की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु वे यही कहते हैं कि हर समय अपनी बुद्धि के अनुसार इस बात का विचार करते रहो कि स्वार्थ श्रेष्ठ है या परार्थ। इसका परिणाम यह होता है कि जब स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न होता है तब इस प्रश्न का निर्णय करते समय बहुधा मनुष्य स्वार्थ ही की ओर अधिक झुक जाया करता है कि लोक-सुख के लिये अपने कितने का त्याग करना चाहिये। उदाहरणार्थ यदि स्वार्थ और परार्थ को एक समान

अवश्य मान लें, तो सत्य के लिये प्राण देने और राज्य खो देने की कथा तो दूर ही रही; परन्तु इस पन्थ के मत से यह भी निर्णय नहीं हो सकता कि सत्य के लिये द्रव्य की हानि सहना चाहिये या नहीं। यदि कोई उदार मनुष्य परार्थ के लिये प्राण दे दे तो इस पन्थवाले कदाचित् उसकी स्तुति कर देंगे; परन्तु जब यह मौका स्वयं अपने ही ऊपर आ जायगा तब स्वार्थ-परार्थ दोनों ही का आश्रय करनेवाले ये लोग स्वार्थ की ओर ही अधिक झुकेंगे। ये लोग, हॉब्स के समान परार्थ को एक प्रकार का दूरदर्शी स्वार्थ नहीं मानते; किन्तु ये समझते हैं कि हम स्वार्थ और परार्थ को तराजू में तौल कर उनके तारतम्य अर्थात् उनकी न्यूनाधिकता का विचार करके बड़ी चतुराई से अपने स्वार्थ का निर्णय किया करते हैं। अतएव ये लोग अपने मार्ग को 'उदात्त' या 'उच्च' स्वार्थ (परन्तु है तो स्वार्थ ही) कह कर उसकी बड़ाई मारते फिरते हैं*। परन्तु देखिये, भर्तृहरि ने क्या कहा है :—

> एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
> सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये॥
> तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
> ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

"जो अपने लाभ को त्याग कर दूसरों का हित करते हैं वे ही सच्चे सत्पुरुष हैं। स्वार्थ को न छोड़ कर जो लोग लोकहित के लिये प्रयत्न करते हैं वे पुरुष सामान्य हैं; और अपने लाभ के लिये जो दूसरों का नुकसान करते हैं वे नीच मनुष्य नहीं हैं, उनको मनुष्याकृति राक्षस समझना चाहिये! परन्तु एक प्रकार के मनुष्य और भी हैं जो लोकहित का निरर्थक नाश किया करते हैं — मालूम नहीं पड़ता कि ऐसे मनुष्यों को क्या नाम दिया जाय" (भर्तृ. नी. श. ७४)। इसी तरह राजधर्म की उत्तम स्थिति का वर्णन करते समय कालिदास ने भी कहा है :—

> स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः।
> प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव॥

अर्थात् "तू अपने सुख की परवाह न करके लोकहित के लिये प्रतिदिन कष्ट उठाया करता है! अथवा तेरी वृत्ति (पेशा) ही यही है" (शाकुं. ५. ७)। भर्तृहरि या कालिदास यह जानना नहीं चाहते थे कि कर्मयोगशास्त्र में स्वार्थ और परार्थ को स्वीकार करके उन दोनों तत्त्वों के तारतम्य भाव से धर्म अधर्म या कर्म अकर्म का निर्णय कैसे करना चाहिये; तथापि परार्थ के लिये स्वार्थ छोड़ देनेवाले पुरुषों को उन्होंने जो प्रथम स्थान दिया है वही नीति की दृष्टि से भी न्याय्य है। इस पर इस पन्थ के लोगों का यह कहना है कि "यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से परार्थ श्रेष्ठ है

* अंग्रेजी में इसे enlightened self-interest कहते हैं। इसमें enlightened का भाषान्तर 'उदात्त' या 'उच्च' शब्द से किया है।

तथापि परम सीमा की शुद्ध नीति की ओर न देख कर हमें सिर्फ यही निश्चित करना है कि साधारण व्यवहार में 'सामान्य मनुष्यों को कैसे चलना चाहिये। और इसलिये हम उच्च स्वार्थ को जो अग्रस्थान देते हैं वही व्यावहारिक दृष्टि से उचित है।"* परन्तु हमारी समझ के अनुसार इस युक्तिवाद से कुछ लाभ नहीं है। बाजार में जितने माप-तौल नित्य उपयोग में लाये जाते हैं उनमें थोड़ा बहुत फ़र्क रहता ही है बस यही कारण बतला कर यदि प्रमाणभूत सरकारी माप तौल में भी कुछ न्यूनाधिकता रखी जाय तो क्या उनके खोटे-पन के लिये हम अधिकारियों को दोष नहीं देंगे? इसी न्याय का उपयोग कर्मयोगशास्त्र में भी किया जा सकता है। नीति धर्म के पूर्ण शुद्ध और नित्य स्वरूप का शास्त्रीय निर्णय करने के लिये ही नीतिशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है और इस काम को यदि नीतिशास्त्र नहीं करेगा तो हम उसको निष्फल कह सकते हैं। सिजविक का यह कथन सत्य है कि उच्च स्वार्थ सामान्य मनुष्यों का मार्ग है। भर्तृहरि का मत भी ऐसा ही है। परन्तु यदि इस बात की खोज की जाय कि पराकाष्ठा की नीतिमत्ता के विषय में उक्त सामान्य लोगों का क्या मत है तो यह मालूम होगा, कि सिजविक ने उच्च स्वार्थ को जो महत्त्व दिया है वह भूल है। क्योंकि साधारण लोग भी यही कहते हैं कि निष्कलंक नीति के तथा सत्पुरुषों के आचरण के लिये यह कामचलाऊ मार्ग श्रेयस्कर नहीं है। इसी बात का वर्णन भर्तृहरि ने उक्त श्लोक में किया है।

आधिभौतिक सुखवादियों के तीन वर्गों का अब तक वर्णन किया गया – (१) केवल स्वार्थी (२) दूरदर्शी स्वार्थी और (३) उभयवादी अर्थात् उच्च स्वार्थी। इन तीन वर्गों के मुख्य दोष भी बतला दिये गये हैं परन्तु इतने ही से सब आधिभौतिक पन्थ पूरा नहीं हो जाता। उसके आगे का – और सब आधिभौतिक पन्थों में श्रेष्ठ पन्थ वह है – जिसमें कुछ सात्त्विक तथा आधिभौतिक पण्डितों† ने यह प्रतिपादन किया है कि एक ही मनुष्य के सुख को न देख कर – किन्तु सब मनुष्यजाति के आधिभौतिक सुख-दुःख के तारतम्य को देख कर ही – नैतिक कार्य-अकार्य का निर्णय करना चाहिये। एक ही कृत्य से एक ही समय में समाज के या संसार के सब लोगों को सुख होना असम्भव है। कोई एक बात किसी को सुखकारक मालूम होती है तो वही दूसरे को दुःखदायक हो जाती है। परन्तु

---

* Sidgwick's *Methods of Ethics* Book I Chap II § 2. pp 18–29 also Book IV Chap IV § 3 p 474. यह तीसरा पन्थ कुछ सिजविक का निकाला हुआ नहीं है। सामान्य सुशिक्षित अंग्रेज लोग प्रायः इसी पन्थ के अनुयायी हैं। इसे Common sense morality कहते हैं।

† बेन्थम, मिल आदि इस पन्थ के अगुआ हैं। Greatest good of the greatest number का हमने "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" यह भाषान्तर किया है।

जैसे घुग्घू को प्रकाश नापसन्द होने के कारण कोई प्रकाश ही का त्याग नहीं करता, उसी तरह यदि किसी विशिष्ट सम्प्रदाय को कोई मत अमङ्गलदायक मालूम न हो तो कर्मयोगशास्त्र में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सभी लोगों को हितावह नहीं है। और, इसी लिये 'सब लोगों का सुख' इन शब्दों का अर्थ भी 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' करना पड़ता है। इस पन्थ के मत का सारांश यह है कि जिससे अधिकांश लोगों का अधिक सुख हो उसी बात को नीति की दृष्टि से उचित और ग्राह्य मानना चाहिये और उसी प्रकार का आचरण करना इस संसार में मनुष्य का सच्चा कर्तव्य है।" आधिभौतिक सुखवादियों का उक्त तत्त्व आध्यात्मिक पन्थ को मंजूर है। यदि यह कहा जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं कि आध्यात्मिकवादियों ने ही इस तत्त्व को अत्यन्त प्राचीन काल में ढूँढ निकाला था। और भेद इतना ही है कि अब आधिभौतिकवादियों ने उसका एक विशिष्ट रीति से उपयोग किया है। तुकाराम महाराज ने कहा है कि "सन्तजनों की विभूतियाँ केवल जगत् के कल्याण के लिये हैं – वे लोग परोपकार करने में अपने शरीर को कष्ट दिया करते हैं।" अर्थात् इस तत्त्व की सचाई और योग्यता के विषय में कुछ भी संदेह नहीं है। स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में ही पूर्णयोगयुक्त अर्थात् कर्मयोगयुक्त ज्ञानी पुरुषों के लक्षणों का वर्णन करते हुए, यह बात दो बार स्पष्ट कही गई है कि वे लोग "सर्वभूतहिते रताः" अर्थात् सब प्राणियों का कल्याण करने ही में निमग्न रहा करते हैं (गी. ५. २५; १२. ४)। इस बात का पता दूसरे प्रकरण में दिये हुए महाभारत के "यद्भूतहितमत्यन्तं एतत् सत्यमिति धारणा" वचन से स्पष्टतया चलता है कि धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये हमारे शास्त्रकार इस तत्त्व को हमेशा ध्यान में रखते थे। परन्तु हमारे शास्त्रकारों के कथनानुसार 'सर्वभूतहित' को ज्ञानी पुरुषों के आचरण का बाह्य लक्षण समझ कर धर्म-अधर्म का निर्णय करने के किसी विशेष प्रसंग पर स्थूलमान से उस तत्त्व का उपयोग करना एक बात है; और उसी को नीतिमत्ता का सर्वस्व मान कर – दूसरी किसी बात पर विचार न करके – केवल इसी नींव पर नीतिशास्त्र का भव्य भवन निर्माण करना दूसरी बात है। इन दोनों में बहुत भिन्नता है। आधिभौतिक पण्डित दूसरे मार्ग को स्वीकार करके प्रतिपादन करते हैं कि नीतिशास्त्र का अध्यात्म-विद्या से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिये अब यह देखना चाहिये कि उनका कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है। 'सुख' और 'हित' दोनों शब्दों के अर्थ में बहुत भेद है। परन्तु यदि इस भेद पर भी ध्यान न दें और 'सर्वभूत' का अर्थ 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' मान लें और कार्य-अकार्य-निर्णय के काम में केवल इसी तत्त्व का उपयोग करें तो यह साफ़ दीख पड़ेगा कि बड़ी बड़ी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। मान लीजिये कि इस तत्त्व का कोई आधिभौतिक पण्डित अर्जुन को उपदेश देने आता, तो वह अर्जुन से क्या कहता? यही न कि

यदि युद्ध में जय मिलने पर अधिकांश लोगों का अधिक सुख होना सम्भव है तो भीष्म पितामह को भी मार कर युद्ध करना मेरा कर्तव्य है। दिखने को तो यह उपदेश बहुत सीधा और सहज दीख पड़ता है; परन्तु कुछ विचार करने पर इसकी अपूर्णता और अड़चन समझ में आ जाती है। पहले यही सोचिये, कि अधिक यानी कितना? पाण्डवों की सात अक्षौहिणियाँ थीं और कौरवों की ग्यारह। इसलिये यदि पाण्डवों की हार हुई होती तो कौरवों को सुख हुआ होता। क्या इसी युक्तिवाद से पाण्डवों का पक्ष अन्याय्य कहा जा सकता है? भारतीय युद्ध ही की बात कौन कहे? और भी अनेक अवसर ऐसे हैं कि जहाँ नीति का निर्णय केवल संख्या से कर बैठना बड़ी भारी भूल है। व्यवहार में सब लोग यही समझते हैं कि लाखों दुर्जनों को सुख होने की अपेक्षा एक ही सज्जन को जिससे सुख हो वही सच्चा सत्कार्य है। इस समझ को सच मानने के लिये एक ही सज्जन के सुख को सौ दुर्जनों के सुख की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् मानना पड़ेगा; और ऐसा करने पर 'अधिकांश लोगों का अधिक बाह्य सुख' (जो कि नीतिमत्ता की परीक्षा का एकमात्र साधन माना गया है) सिद्धान्त उतना ही शिथिल हो जायगा। इसलिये कहना पड़ता है कि लोक-संख्या की न्यूनाधिकता का नीतिमत्ता के साथ कोई नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि कभी जो बात साधारण लोगों को सुखदायक मालूम होती है वही बात किसी दूरदर्शी पुरुष को परिणाम में सब के लिये हानिप्रद दीख पड़ती है। उदाहरणार्थ साक्रेटीज़ और ईसामसीह को ही लीजिये। दोनों अपने अपने मत को परिणाम में कल्याणकारक समझ कर ही अपने देशबन्धुओं को उसका उपदेश करते थे; परन्तु इनके देशबन्धुओं ने इन्हें समाज के शत्रु समझ कर मौत की सज़ा दी। इस विषय में 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' इसी तत्त्व के अनुसार उस समय लोगों ने और उनके नेताओं ने मिल कर आचरण किया था; परन्तु अब इस समय हम यह नहीं कह सकते, कि उन लोगों का बर्ताव न्याययुक्त था। सारांश, यदि 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' को ही सब के लिये नीति का मूलतत्त्व मान लें तो भी उससे ये प्रश्न हल नहीं हो सकते, कि लाखों-करोड़ों मनुष्यों का सुख किसमें है। उसका निर्णय कौन कैसे करें? साधारण अवसरों पर निर्णय करने का यह काम उन्हीं लोगों को सौंप दिया जा सकता है कि जिनके बारे में सुख-दुःख का प्रश्न उपस्थित हो। परन्तु साधारण अवसर में इतना प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। और जब विशेष कठिनाई का कोई समय आता है तब साधारण मनुष्यों में यह जानने की यथार्थ शक्ति नहीं रहती कि हमारा सुख किस बात में है। ऐसी अवस्था में यदि इन साधारण और अविचारी लोगों के हाथ नीति यह मन्त्र तत्त्व 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' लग जाय तो वही भयानक परिणाम होगा जो शैतान के हाथ में मशाल देने से होता है। यह बात उक्त दोनों उदाहरणों (साक्रेटीज़ और ईसामसीह) से

भली भाँति प्रकट हो जाती है। इस उत्तर में कुछ जान नहीं कि “नीतिधर्म का हमारा तत्त्व शुद्ध और सच्चा है, मूर्ख लोगों ने उसका दुरुपयोग किया तो हम क्या कर सकते हैं!” कारण यह है कि यद्यपि तत्त्व शुद्ध और सच्चा हो, तथापि उसका उपयोग करने के अधिकारी कौन हैं, वे उसका उपयोग कब और कैसे करते हैं इत्यादि बातों की मर्यादा भी, उसी तत्त्व के साथ देनी चाहिये। नहीं तो सम्भव है कि हम अपने को सॉक्रेटीज़ के सदृश नीति-निर्णय करने में समर्थ मान कर अर्थ का अनर्थ कर बैठें।

केवल संख्या की दृष्टि से नीति का उचित निर्णय नहीं हो सकता और इस बात का निश्चय करने के लिये कोई भी बाहरी साधन नहीं कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किस में है। इन दो आक्षेपों के सिवा इस पन्थ पर और भी बड़े बड़े आक्षेप किये जा सकते हैं। जैसे विचार करने पर यह अपने आप ही मालूम हो जायगा कि किसी काम के केवल बाहरी परिणाम से ही उसको न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना बहुधा असम्भव हो जाता है। हम लोग किसी घड़ी को उसके ठीक ठीक समय बतलाने न बतलाने पर, अच्छी या खराब कहा करते हैं। परन्तु इसी नीति का उपयोग मनुष्य के कार्यों के सम्बन्ध में करने के पहले हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि मनुष्य घड़ी के समान कोई यंत्र नहीं है। यह बात सच है कि सब सत्पुरुष जगत् के कल्याणार्थ प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु इससे यह उलटा अनुमान निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता कि जो भी देखना चाहिये कि मनुष्यका अन्तःकरण कैसा है। यंत्र और मनुष्य में यदि कुछ भेद है तो यही कि एक हृदयहीन है और दूसरा हृदययुक्त है और इसी लिये अज्ञान से या भूल से किये गये अपराध को कायदे में क्षम्य मानते हैं। तात्पर्य कोई काम अच्छा है या बुरा, धर्म है या अधर्म, नीति का है अथवा अनीति का इत्यादि बातों का सच्चा निर्णय उस काम के केवल बाहरी फल या परिणाम – अर्थात् वह अधिकांश लोगों को अधिक सुख देगा कि नहीं इतने ही – से नहीं किया जा सकता। उसीके साथ साथ यह भी जानना चाहिये कि उस काम को करनेवाले की बुद्धि, वासना या हेतु कैसा है। एक समय की बात है कि अमेरिका के एक बड़े शहर में सब लोगों के सुख और उपयोग के लिये ट्रामवे की बहुत आवश्यकता थी। परन्तु सरकारी अधिकारियों की आज्ञा पाये बिना ट्रामवे नहीं बनाई जा सकती थी। सरकारी मंजूरी मिलने में बहुत देरी हुई। तब ट्रामवे के व्यवस्थापक ने अधिकारियों को रिश्वत दे कर जल्द ही मंजूरी ले ली। ट्रामवे बन गई और उससे शहर के सब लोगों को सुभीता और फायदा हुआ। कुछ दिनों के बाद रिश्वत की बात प्रकट हो गई; और उस व्यवस्थापक पर फौजदारी मुकद्दमा चलाया गया। पहली ज्यूरी (पंचायत) का एकमत नहीं हुआ इसलिये दूसरी ज्यूरी चुनी गई। दूसरी ज्यूरी ने व्यवस्थापक को दोषी ठहराया। अतएव उसे सजा दी गई। इस उदाहरण में

अधिक लोगों के अधिक सुख वाले नीतितत्त्व से काम चलने का नहीं। क्योंकि, यद्यपि घूस देने से ग्रामवे बन गई यह बाहरी परिणाम अधिक सुखदायक था तथापि इतने ही से घूस देना न्याय्य हो नहीं सकता।* दान करने को अपना धर्म (कर्तव्य) समझ कर निष्काम-बुद्धि से दान करना और कीर्ति के लिये तथा अन्य फल की आशा से दान करना इन दो कृत्यों का बाहरी परिणाम यद्यपि एक-सा ही तथापि श्रीमद्भगवद्गीता में पहले दान को सात्त्विक और दूसरे को राजस कहा है (गी. १७. २०, २१)। और यह भी कहा गया है कि यदि वही दान कुपात्रों को दिया जाय तो वह तामस अथवा गर्ह्य है। यदि किसी गरीब ने एक आध धर्म-कार्य के लिये चार पैसे दिये और किसी अमीर ने उसी के लिये सौ रुपये दिये, तो लोगों में दोनों की नैतिक योग्यता एक ही समझी जाती। परन्तु यदि केवल 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है इसी बाहरी साधनद्वारा विचार किया जाय तो ये दोनों दान नैतिक दृष्टि से समान योग्यता के नहीं कहे जा सकते। 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' इस आधिभौतिक नीति-तत्त्व में जो बहुत बड़ा दोष है वह यही है कि इसमें कर्ता के मन के हेतु या भाव का कुछ भी विचार नहीं किया जाता। और यदि अन्तःस्थ हेतु पर ध्यान दें तो इस प्रतिज्ञा से विरोध खड़ा हो जाता है कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख ही नीतिमत्ता की एकमात्र कसौटी है। कायदा कानून बनानेवाली सभा अनेक व्यक्तियों के समूह से बनी होती है। इसलिये उक्त मत के अनुसार इस सभा के बनाये हुए कायदे या नियमों की योग्यता अयोग्यता पर विचार करते समय यह जानने की कुछ आवश्यकता ही नहीं कि सभासदों के अन्तःकरणों में कैसा भाव था – हम लोगों को अपना निर्णय केवल इस बाहरी विचार के आधार पर कर लेना चाहिये कि इनके कायदों से अधिकों को अधिक सुख हो सकेगा या नहीं। परन्तु उक्त उदाहरण से यह साफ़ साफ़ ध्यान में आ सकते है कि सभी स्थानों में यह न्याय उपयुक्त हो नहीं सकता। हमारा यह कहना नहीं है कि 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख या हित' – वाला तत्त्व बिल्कुल ही निरुपयोगी है। केवल बाह्य परिणामों का विचार करने के लिये उससे बढ़ कर दूसरा तत्त्व कहीं नहीं मिलेगा। परन्तु हमारा यह कथन है कि जब नीति की दृष्टि से किसी बात को न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना हो तब केवल बाह्य परिणामों को देखने से काम नहीं चल सकता। उसके लिये और भी कई बातों पर विचार करना पड़ता है। अतएव नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये पूर्णतया इसी तत्त्व पर अवलम्बित नहीं रह सकते। इसलिये इससे भी अधिक निश्चित और निर्दोष तत्त्व को खोज निकालना आवश्यक है। गीता में जो यह कहा गया है, कि "कर्म की अपेक्षा से बुद्धि श्रेष्ठ है।" (गी. २. ४९) उसका भी यही अभिप्राय है। यदि केवल बाह्य कर्मों पर ध्यान दें तो वे बहुधा भ्रामक होते हैं। "स्नान-संध्या

* यह उदाहरण डॉक्टर पॉल कारस की *The Ethical Problem* (pp. 58, 59 2nd Ed.) नामक पुस्तक से लिया है।

तिलक-माला इत्यादि बाह्य कर्मों के होते हुए भी 'पेट में क्रोधाग्नि' का भड़कते रहना असम्भव नहीं है; परन्तु यदि हृदय का भाव शुद्ध हो, तो बाह्य कर्मों का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। सुदामा के मुट्ठी भर चावल सरीखे अत्यन्त अल्प बाह्य कर्म की धार्मिक और नैतिक योग्यता, अधिकांश लोगों को अधिक सुख देनेवाले हजारों मन अनाज के बराबर ही समझी जाती है। इसी लिये प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी कान्ट* ने कर्म के बाह्य और दृश्य परिणामों के तारतम्य-विचार को गौण माना है; एवं नीतिशास्त्र के अपने विवेचन का प्रारम्भ कर्ता की शुद्ध बुद्धि (शुद्ध भाव) ही से किया है। यह नहीं समझना चाहिये कि आधिभौतिक सुखवाद की यह न्यूनता बड़े बड़े आधिभौतिक वादियों के ध्यान में नहीं आई। ह्यूम† ने स्पष्ट लिखा है – "जब कि मनुष्य का कर्म (काम या कार्य) ही उसके शील का द्योतक है, और इसी लिये जब लोगों में वही नीतिमत्ता का दर्शक भी माना जाता है, तब केवल बाह्य परिणामों ही से उस कर्म को प्रशंसनीय या गर्हणीय मान लेना असम्भव है।" यह बात मिल साहब को भी मान्य है कि "किसी कर्म की नीतिमत्ता कर्ता के हेतु पर अर्थात् वह उसे जिस बुद्धि या भाव से करता है उस पर पूर्णतया अवलम्बित रहती है।" परन्तु अपने पक्षमण्डन के लिये मिल साहब ने यह युक्ति भिड़ाई है कि "जब तक बाह्य कर्मों में कोई भेद नहीं होता, तब तक कर्म की नीतिमत्ता में कुछ फर्क नहीं हो सकता; चाहे कर्ता के मन में उस कर्म को करने की वासना किसी भी भाव से हुई हो"।§ मिल की इस युक्ति में साम्प्रदायिक आग्रह दीख पड़ता है; क्योंकि बुद्धि या भाव में भिन्नता होने के कारण यद्यपि दो कर्म दीखने में एक ही से हों, तो भी वे तत्त्वतः एक योग्यता के कभी नहीं हो सकते। और इसी लिये मिल साहब की कही हुई 'जब तक (बाह्य) कर्मों में भेद नहीं होता' इत्यादि मर्यादा को ग्रीन साहब निर्मूल बतलाते हैं। गीता का भी यही अभिप्राय है। इसका कारण

---

* Kant's *Theory of Ethics* (trans by Abbott) 6th Ed. p 6

† "For as actions are objects of our moral sentiment, so far only as they are indications of the internal character passions and affections, it is impossible that they can give rise either to praise or blame, where they proceed not from these principles, but are derived altogether from external objects." - Hume's *Inquiry concerning Human Understanding Section* VIII Part II (p 368 of Hume's Essays – The World Library Edition)

§ "Morality of the action depends entirely upon the intention, that is, upon what the agent *wills to do* But the motive, that is, the feeling which makes him will so to do when makes no difference in the act, makes none in the morality" Mill's *Utilitarianism* p 27

Green's *Prolegomena to Ethics* § 292 note p 348 5th Cheaper Edition

गीता में यह बतलाया गया है कि यदि एक ही धर्म-कार्य के लिये दो मनुष्य बराबर धनप्रदान करें, तो भी – अर्थात् दोनों के बाह्य कर्म एकसमान होने पर भी – दोनों की बुद्धि या भाव की भिन्नता के कारण एक दान सात्त्विक और दूसरा राजस या तामस भी हो सकता है। इस विषय पर भी अधिक विचार पूर्वी और पश्चिमी मतों की तुलना करते समय करेंगे। अभी केवल इतना ही देखना है कि कर्म के केवल बाहरी परिणाम पर ही अवलम्बित रहने कारण आधिभौतिक सुखवाद की श्रेष्ठ श्रेणी भी नीति-निर्णय के काम में कैसी अपूर्ण सिद्ध हो जाती है और इसे सिद्ध करने के लिये हमारी समझ में मिल साहब की युक्ति काफी है।

'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' – वाले आधिभौतिक पन्थ में सब से भारी दोष यह है कि उसमें कर्ता की बुद्धि या भाव का कुछ भी विचार नहीं किया जाता। मिल साहब के लेख ही से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि उस (मिल) की युक्ति को सच मान कर भी इस तत्त्व का उपयोग सब स्थानों पर एक समान नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह केवल बाह्य फल के अनुसार नीति का निर्णय करता है अर्थात् उसका उपयोग किसी विशेष मर्यादा के भीतर ही किया जा सकता है; या यों कहिये कि वह एकदेशीय है। इसके सिवा इस मत पर एक और भी आक्षेप किया जा सकता है कि स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ क्यों और कैसे श्रेष्ठ है? – इस प्रश्न की कुछ भी उपपत्ति न बतला कर ये लोग इस तत्त्व को सच मान लिया करते हैं। फल यह होता है कि उप स्वार्थ की बेरोक वृद्धि होने लगती है। यदि स्वार्थ और परार्थ दोनों बातें मनुष्य के जन्म से ही रहती हैं अर्थात् स्वाभाविक हैं; तो प्रश्न होता है कि मैं स्वार्थ की अपेक्षा लोगों के सुख को अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों समझूँ? यह उत्तर तो सन्तोषदायक हो ही नहीं सकता कि तुम अधिकांश लोगों के अधिक सुख को देख कर ऐसा करो। क्योंकि मूल प्रश्न ही यह है कि मैं अधिकांश लोगों के अधिक सुख के लिये यत्न क्यों करूँ? यह बात सच है कि अन्य लोगों के हित में अपना भी हित सम्मिलित रहता है। इसलिये यह प्रश्न हमेशा नहीं उठता परन्तु आधिभौतिक पन्थ के उक्त तीसरे वर्ग की अपेक्षा इस अन्तिम (चौथे) वर्ग में यही विशेषता है कि इस आधिभौतिक पन्थ के लोग यह मानते हैं कि जब स्वार्थ और परार्थ में विरोध खड़ा हो जाय तब उस स्वार्थ का त्याग करके परार्थ-साधन ही के लिये यत्न करना चाहिये। इस पन्थ की उक्त विशेषता की कुछ भी उपपत्ति नहीं दी गई है। इस अभाव की ओर एक विद्वान् आधिभौतिक पण्डित का ध्यान आकर्षित हुआ। उसने छोटे कीड़ों से लेकर मनुष्य तक सब सजीव प्राणियों के व्यवहारों का खूब निरीक्षण किया; और अन्त में उसने यह सिद्धान्त निकाला कि जब कि छोटे कीड़ों से लेकर मनुष्यों तक में यही गुण अधिकाधिक बढ़ता और बढ़ कर दृढ़ होता चला आ रहा है कि वे स्वयं अपने ही समान अपनी सन्तानों और जातियों की रक्षा करते हैं और किसी को दुःख न देते हुए अपने

जन्तुओं की यथासम्भव सहायता करते हैं; तब हम कह सकते हैं कि सजीव सृष्टि के आचरण का यही – परस्पर-सहायता का गुण – प्रधान नियम है। सजीव सृष्टि में यह नियम पहले पहले सन्तानोत्पादन और सन्तान के लालन-पालन के बारे में दीख पड़ता है। ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म कीड़ों की सृष्टि को देखने से – कि जिसमें स्त्री पुरुष का कुछ भेद नहीं है – ज्ञात होगा – कि एक कीड़े की देह बढ़ते बढ़ते फूट जाती है और उससे दो कीड़े बन जाते हैं। अर्थात् यही कहना पड़ेगा कि सन्तान के लिये – दूसरे के लिये – यह कीड़ा अपने शरीर को भी त्याग देता है। इसी तरह सजीव सृष्टि में इस कीड़े से ऊपर के दर्जे के सभी पुरुषात्मक प्राणी भी अपनी अपनी सन्तान के पालन-पोषण के लिये स्वार्थ-त्याग करने में आनन्दित हुआ करते हैं। यही गुण बढ़ते बढ़ते मनुष्य जाति के असभ्य और जंगली समाज में भी इस रूप में पाया जाता है कि लोग न केवल अपनी सन्तानों की रक्षा करने में – किन्तु अपने जाति भाइयों की सहायता करने में – भी सुख से प्रवृत्त हो जाते हैं। इसलिये मनुष्य को – जो कि सजीव सृष्टि का शिरोमणि है – स्वार्थ के समान परार्थ में भी सुख मानते हुए, सृष्टि के उपर्युक्त नियम की उन्नति करने तथा स्वार्थ और परार्थ के वर्तमान विरोध को समूल नष्ट करने के उद्योग में लगे रहना चाहिये। बस इसी में उसकी इतिकर्तव्यता है।* यह युक्तिवाद बहुत ठीक है। परन्तु यह तत्त्व कुछ नया नहीं है कि परोपकार करने का सद्गुण मूक सृष्टि में भी पाया जाता है। इसलिये उसे परमावधि तक पहुँचाने के प्रयत्न में ज्ञानी मनुष्यों को सदैव लगे रहना चाहिये। इस तत्त्व में विशेषता सिर्फ यही है कि आजकल आधिभौतिक शास्त्रों के ज्ञान की अद्भुत वृद्धि होने के कारण इस तत्त्व की आधिभौतिक उपपत्ति उत्तम रीति से बतलाई गई है। यद्यपि हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि आध्यात्मिक है तथापि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कहा है कि –

अष्टादशपुराणानां सारं सारं समुद्धृतम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

"परोपकार करना पुण्यकर्म है और दूसरों को पीड़ा देना पापकर्म है। बस यही अठारह पुराणों का सार है।" भर्तृहरि ने भी कहा है कि "स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एकः सतां अग्रणीः" – परार्थ ही को जिस मनुष्य ने अपना स्वार्थ बना लिया है वही सब सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है। अच्छा; अब यदि छोटे कीड़ों से मनुष्य तक की सृष्टि की उत्तरोत्तर क्रमशः बढ़ती हुई श्रेणियों को देखें, तो एक और भी प्रश्न उठता है। वह यह है – क्या मनुष्यों में केवल परोपकारबुद्धि ही का उत्कर्ष

---

* यह उपपत्ति स्पेन्सर के Data of Ethics नामक ग्रन्थ में दी हुई है। स्पेन्सर ने मिल को एक पत्र लिख कर स्पष्ट कह दिया था कि मेरे और आपके मत में क्या भेद है। उस पत्र के अवतरण उक्त ग्रन्थ में दिये गये हैं। pp. 57 123. Also see Bain's Mental and Moral Science pp. 721 722 (Ed. 1875)

हुआ है या उसी के साथ उत्तम स्वार्थ-बुद्धि, दया, उदारता, दूरदृष्टि, तर्क, धारता, धृति, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह इत्यादि अनेक अन्य सात्त्विक सद्गुणों की भी वृद्धि हुई है। जब इस पर विचार किया जाता है तब कहना पड़ता है कि अन्य सब सजीव प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में सभी सद्गुणों का उत्कर्ष हुआ है। इन सब सात्त्विक गुणों के समूह को 'मनुष्यत्व' नाम दीजिये। अब यह बात सिद्ध हो चुकी कि परोपकार की अपेक्षा मनुष्यत्व को हम श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसी अवस्था में किसी कर्म की योग्यता अयोग्यता या नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये उस कर्म की परीक्षा केवल परोपकार ही की दृष्टि से नहीं की जा सकती – अब उस काम की परीक्षा मनुष्यत्व की दृष्टि से – अर्थात् मनुष्यजाति में अन्य प्राणियों की अपेक्षा जिन जिन गुणों का उत्कर्ष हुआ है उन सब को ध्यान रख कर ही – की जानी चाहिये। अकेले परोपकार को ध्यान में रख कर कुछ-न-कुछ निर्णय कर लेने के बदले अब तो यही मानना पड़ेगा कि जो कर्म सब मनुष्यों के 'मनुष्यत्व' या 'मनुष्यपन' को शोभा दे या जिस कर्म से 'मनुष्यत्व' की वृद्धि हो वही सत्कर्म और वही नीति-धर्म है। यदि एक बार इस व्यापक दृष्टि को स्वीकार कर लिया जाय तो 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' उक्त दृष्टि का एक अत्यन्त छोटा भाग हो जायगा – इस मत में कोई स्वतन्त्र महत्त्व नहीं रह जायगा कि सब कर्मों के धर्म अधर्म या नीतिमत्ता का विचार केवल 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' तत्त्व के अनुसार किया जाना चाहिये – और तब तो धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये मनुष्यत्व ही का विचार करना अवश्य होगा। और जब हम इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगेंगे कि 'मनुष्यपन' या मनुष्यत्व का यथार्थ स्वरूप क्या है तब हमारे मन में याज्ञवल्क्य के अनुसार 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह विषय आप-ही आप उपस्थित हो जायगा। नीतिशास्त्र का विवेचन करनेवाले एक अमेरिकन ग्रन्थकार ने इस समुच्चयात्मक मनुष्य के धर्म को ही 'आत्मा' कहा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह मालूम हो जायगा कि केवल स्वार्थ या अपनी ही विषय सुख की कनिष्ठ श्रेणी से बढ़ते बढ़ते आधिभौतिक सुखवादियों को भी परोपकार की श्रेणी तक और अन्त में मनुष्यत्व की श्रेणी तक कैसे आना पड़ता है। परन्तु मनुष्यत्व के विषय में भी आधिभौतिकवादियों के मन में प्रायः सब लोगों के बाह्य विषय-सुख ही की कल्पना प्रधान होती है। अतएव आधिभौतिकवादियों की यह अन्तिम श्रेणी भी – जिसमें अन्तःशुद्धि का कुछ विचार नहीं किया जाता – हमारे अध्यात्मवादी शास्त्रकारों के मतानुसार निर्दोष नहीं है। यद्यपि इस बात को साधारण तथा मान भी लें कि मनुष्य का सब प्रयत्न सुख प्राप्ति तथा दुःख-निवारण के ही लिये हुआ करता है तथापि जब तक पहले इस बात का निर्णय न हो जाय कि सुख किसमें है – आधिभौतिक अर्थात् सांसारिक विषयभोग ही में है अथवा और किस में है – तब तक कोई भी आधिभौतिक पक्ष ग्राह्य नहीं समझा जा सकता। इस

बात को आधिभौतिकसुखवादी भी मानते हैं, कि शारीरिक सुख से मानसिक सुख की योग्यता अधिक है। पशु को जितने सुख मिल सकते हैं वे सब किसी मनुष्य को दे कर उससे पूछो कि क्या तुम पशु होना चाहते हो?' तो वह कभी इस बात के लिये राजी न होगा। इसी तरह ज्ञानी पुरुषों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि तत्त्वज्ञान के गहन विचारों से बुद्धि में जो एक प्रकार की शान्ति उत्पन्न होती है उसकी योग्यता सांसारिक सम्पत्ति और बाह्योपभोग से हजार गुनी बढ़ कर है। अच्छा यदि लोकमत को देखें तो भी यही ज्ञात होगा कि नीति का निर्णय करना केवल संख्या पर अवलम्बित नहीं है। लोग जो कुछ किया करते हैं वह सब केवल आधिभौतिक सुख के ही लिये नहीं किया करते – वे आधिभौतिक सुख ही को अपना परम उद्देश नहीं मानते। बल्कि हम लोग यही कहा करते हैं कि बाह्यसुखों की कौन कहे, विशेष प्रसंग आने पर अपनी जान की भी परवाह नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ऐसे समय में आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार जिन सत्य आदि नीति धर्मों की योग्यता अपनी जान से भी अधिक है उनका पालन करने के लिये मनोनिग्रह करने में ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। यही हाल अर्जुन का था। उसका भी प्रश्न यह नहीं था कि लड़ाई करने पर किस को कितना सुख होगा। उसका श्रीकृष्ण से यही प्रश्न था कि मेरा अर्थात् मेरे आत्मा का श्रेय किसमें है सो मुझे बतलाइये (गी. २. ७; ३. २)। आत्मा का यह नित्य का श्रेय और सुख आत्मा की शान्ति में है। इसी लिये बृहदारण्यकोपनिषद् (२. ४. २) में कहा गया है कि अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन अर्थात् सांसारिक सुखसम्पत्ति के यथेष्ट मिल जाने पर भी आत्मसुख और शान्ति नहीं मिल सकती। इसी तरह कठोपनिषद् में लिखा है कि जब मृत्यु ने नचिकेता को पुत्र, पौत्र, पशु, धान्य, द्रव्य इत्यादि अनेक प्रकार की सांसारिक सम्पत्ति देना चाही तो उसने साफ जवाब दिया कि मुझे आत्मविद्या चाहिये सम्पत्ति नहीं। और प्रेय अर्थात् इन्द्रियों को प्रिय लगनेवाले सांसारिक सुख में तथा श्रेय अर्थात् आत्मा के सच्चे कल्याण में भेद दिखलाते हुए (कठ. १. २. २ में) कहा है कि –

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

जब प्रेय (तात्कालिक बाह्य इन्द्रियसुख) और श्रेय (सच्चा चिरकालिक कल्याण) ये दोनों मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होते हैं तब बुद्धिमान मनुष्य उन दोनों में से किसी एक को चुन लेता है। जो मनुष्य यथार्थ में बुद्धिमान होता है वह प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अधिक पसन्द करता है; परन्तु जिसकी बुद्धि मन्द होती है वह आत्मकल्याण की अपेक्षा प्रेय अर्थात् बाह्य सुख ही को अधिक पसन्द करता है। इस लिये यह मान लेना नहीं कि संसार में इन्द्रियगम्य विषयसुख ही मनुष्य का ऐहिक परम उद्देश है तथा मनुष्य जो कुछ करता है वह सब केवल बाह्य

अर्थात् आधिभौतिक सुख ही के लिये अथवा अपने दुःखों को दूर करने के लिये ही करता है।

इन्द्रियगम्य बाह्यसुखों की अपेक्षा बुद्धिगम्य अन्तःसुख की – अर्थात् आध्यात्मिक सुख की – योग्यता अधिक तो है ही परन्तु इसके साथ एक बात यह भी है कि विषय-सुख अनित्य है। यह दशा नीति धर्म की नहीं है। इस बात को सभी मानते हैं कि अहिंसा, सत्य आदि धर्म कुछ बाहरी उपाधियों अर्थात् सुखदुःखों पर अवलम्बित नहीं हैं, किन्तु ये सभी अवसरों के लिये और सब कर्मों में एक-समान उपयोगी हो सकते हैं। अतएव ये नित्य हैं। बाह्य बातों पर अवलंबित न रहनेवाली नीति धर्मों की यह नित्यता उनमें कहाँ से और कैसे आई – अर्थात् इस नित्यता का कारण क्या है? इस प्रश्न का आधिभौतिक-वाद से हल होना असंभव है। कारण यह है कि यदि बाह्यसृष्टि के सुख-दुःखों के अवलोकन से कुछ सिद्धान्त निकाला जाय तो सब सुख-दुःखों के स्वभावतः अनित्य होने के कारण उनके अपूर्ण आधार पर बने हुए नीति-सिद्धान्त भी वैसे ही अनित्य होंगे। और, ऐसी अवस्था में सुख-दुःखों की कुछ भी परवाह न करके सत्य के लिये जान दे देने के सत्य धर्म की जो त्रिकालाबाधित नित्यता है वह ‘अधिकांश लोगों का अधिक सुख’ के तत्त्व से सिद्ध नहीं हो सकेगी। इस पर यह आक्षेप किया जाता है कि जब सामान्य व्यवहारों में सत्य के लिये प्राण देनेका समय आ जाता है तो अच्छे लोग भी असत्य पक्ष ग्रहण करने में संकोच नहीं करते और उस समय हमारे शास्त्रकार भी ज़्यादा सख़्ती नहीं करते तब सत्य आदि धर्मों की नित्यता क्यों माननी चाहिये? परन्तु यह आक्षेप या दलील ठीक नहीं है, क्योंकि जो लोग सत्य के लिये जान देने का साहस नहीं कर सकते वे भी अपने मुँह से इस नीति धर्म की सत्यता को माना ही करते हैं। इसी लिये महाभारत में अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों की सिद्धि करनेवाले सब व्यावहारिक धर्मों का विवेचन करके, अन्त में भारत-सावित्री में (और विदुरनीति में भी) व्यासजी ने सब लोगों को यही उपदेश किया है :–

> न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
>
> धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

अर्थात् “सुख-दुःख अनित्य हैं परन्तु (नीति) धर्म नित्य है। इसलिये सुख की इच्छा से, भय से, लोभ से अथवा प्राण-संकट आने पर भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। यह जीव नित्य है और सुखदुःख आदि विषय अनित्य हैं।” इसी लिये व्यासजी उपदेश करते हैं कि अनित्य सुखदुःखों का विचार न करके नित्य जीव का संबंध नित्य धर्म से ही जोड़ देना चाहिये (म. भा. स्व. ५. ६१; उ. ३९. [illegible] [illegible])। यह जानने के लिये कि व्यासजी का उक्त उपदेश उचित है या नहीं, हमें अब इस बात का विचार करना चाहिये कि सुख-दुःख का यथार्थ स्वरूप क्या है और नित्य सुख किसे कहते हैं।

निर्णय नहीं कर सकते। क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार 'इष्ट' शब्द का अर्थ इष्ट वस्तु या पदार्थ भी हो सकता है और इस अर्थ को मानने से इष्ट पदार्थ को भी सुख कहना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, प्यास लगने पर पानी इष्ट होता है; परन्तु इस बाह्य पदार्थ 'पानी' को 'सुख' नहीं कहते। यदि ऐसा होगा, तो नदी के पानी में डूबनेवाले के बारे में कहना पड़ेगा, कि वह सुख में डूबा हुआ है। सच बात यह है कि पानी पीने से जो इन्द्रियतृप्ति होती है, उसे सुख कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य इस इन्द्रियतृप्ति या सुख को चाहता है; परन्तु इससे यह व्यापक सिद्धान्त नहीं बताया जा सकता, कि जिसकी चाह होती है, वह सब सुख ही है। इसी लिये नैयायिकों ने सुखदुःख को वेदना कह कर उनकी व्याख्या इस तरह से की है 'अनुकूलवेदनीयं सुखं' – जो वेदना हमारे अनुकूल है वह सुख है; और 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं' – जो वेदना हमारे प्रतिकूल है, वह दुःख है। ये वेदनाएँ जन्मसिद्ध अर्थात् मूल ही की और अनुभवगम्य हैं। इसलिये नैयायिकों की उक्त व्याख्या से बढ़ कर सुखदुःख का अधिक उत्तम लक्षण बतलाया नहीं जा सकता। कोई यह कहे कि ये वेदनारूप सुख-दुःख केवल मनुष्य के व्यापारों से ही उत्पन्न होते हैं, तो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि, कभी कभी देवताओं के कोप से भी बड़े बड़े रोग और दुःख उत्पन्न हुआ करते हैं जिन्हें मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। इसी लिये वेदान्त-ग्रन्थों में सामान्यतः इन सुख-दुःखों के तीन भेद – आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक – किये गये हैं। देवताओं की कृपा या कोप से जो सुख-दुःख मिलते हैं उन्हें 'आधिदैविक' कहते हैं। बाह्यसृष्टि के – पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतात्मक, पदार्थों का मनुष्य की इन्द्रियों से संयोग होने पर – शीतोष्ण आदि के कारण जो सुखदुःख हुआ करते हैं उन्हें 'आधिभौतिक' कहते हैं। और ऐसे बाह्यसंयोग के बिना ही होनेवाले अन्य सब सुखदुःखों को 'आध्यात्मिक' कहते हैं। यदि सुख-दुःख का यह वर्गीकरण स्वीकार किया जाय, तो शरीर ही के वात-पित्त आदि दोषों का परिणाम बिगड़ जाने से उत्पन्न होनेवाले ज्वर आदि दुःखों को – तथा उन्हीं दोषों का परिणाम यथोचित रहने से अनुभव में आनेवाले, शारीरिक स्वास्थ्य को – आध्यात्मिक सुख दुःख कहना पड़ता है। क्योंकि, यद्यपि ये सुख दुःख पञ्चभूतात्मक शरीर से सम्बन्ध रखते हैं – अर्थात् ये शारीरिक हैं – तथापि हमेशा यह नहीं कहा जा सकता, कि ये शरीर से बाहर रहनेवाले पदार्थों के संयोग से पैदा हुआ है; और इसलिये आध्यात्मिक सुख-दुःखों के, वेदान्त की दृष्टि से फिर भी दो भेद – शारीरिक और मानसिक – करने पड़ते हैं। परन्तु इस प्रकार सुख दुःखों के 'शारीरिक' और 'मानसिक' दो भेद कर दें, तो फिर आधिदैविक सुख दुःखों को भिन्न मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि, यह तो स्पष्ट ही है कि देवताओं की कृपा अथवा कोप से होनेवाले सुख-दुःखों को भी आखिर मनुष्य अपने ही शरीर या मन के द्वारा भोगता है। अतएव हमने इस

ग्रन्थ में वेदान्त-ग्रन्थों की परिभाषा के अनुसार सुख-दुःखों का त्रिविध वर्गीकरण नहीं किया है। किन्तु उनके दो ही वर्ग (बाह्य या शारीरिक और आभ्यन्तर या मानसिक) किये हैं, और इसी वर्गीकरण के अनुसार हमने इस ग्रन्थ में सब प्रकार के शारीरिक सुख-दुःखों को 'आधिभौतिक' और सब प्रकार के मानसिक सुख-दुःखों को 'आध्यात्मिक' कहा है। वेदान्त-ग्रन्थों में जैसा तीसरा वर्ग 'आधिदैविक' किया गया है, वैसा हमने नहीं किया है। क्योंकि, हमारे मतानुसार सुख-दुःखों का शास्त्रीय रीति से विवेचन करने के लिये यह द्विविध वर्गीकरण ही अधिक सुभीते का है। सुखदुःख का जो विवेचन नीचे किया गया है, उसे पढ़ते समय यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि वेदान्त-ग्रन्थों के और हमारे वर्गीकरण में भेद है।

सुख-दुःखों को चाहे आप द्विविध मानिये अथवा त्रिविध, इसमें सन्देह नहीं कि दुःख की चाह किसी मनुष्य को नहीं होती। इसी लिये वेदान्त और सांख्य शास्त्र (सां. का. १; गी. ६. २१, २२) में कहा गया है कि सब प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति करना और आत्यन्तिक तथा नित्य सुख की प्राप्ति करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। जब यह बात निश्चित हो चुकी कि मनुष्य का परम साध्य या उद्देश आत्यन्तिक सुख ही है, तब ये प्रश्न मन में सहज ही उत्पन्न होते हैं कि अत्यन्त सत्य और नित्य सुख किसको कहना चाहिये? उसकी प्राप्ति होना संभव है या नहीं? यदि संभव है तो कब और कैसे? इत्यादि। और जब हम इन प्रश्नों पर विचार करने लगते हैं, तब सब से पहले यही प्रश्न उठता है कि नैयायिकों के बतलाये हुए लक्षण के अनुसार सुख और दुःख दोनों भिन्न भिन्न स्वतंत्र वेदनाएँ, अनुभव या वस्तु हैं, अथवा 'जो उजेला नहीं वह अँधेरा' इस न्याय के अनुसार इन दोनों वेदनाओं में से एक का अभाव होने पर दूसरी संज्ञा का उपयोग किया जाता है। भर्तृहरि ने कहा है कि "प्यास से जब मुँह सूख जाता है तब हम उस दुःख का निवारण करने के लिये पानी पीते हैं; भूख से जब हम व्याकुल हो जाते हैं तब मिष्टान्न खा कर उस व्यथा को हटाते हैं; और काम-वासना के प्रदीप्त होने पर उसको स्त्रीसंग द्वारा तृप्त करते हैं।" इतना कह कर अन्त में कहा है कि –

प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः।

"किसी व्याधि अथवा दुःख के होने पर उसका जो निवारण या प्रतीकार किया जाता है, उसी को लोग भ्रमवश 'सुख' कहा करते हैं!" दुःखनिवारण के अतिरिक्त 'सुख' कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह नहीं समझना चाहिये कि
सिद्धान्त मनुष्यों के सिर्फ़ उन्हीं व्यवहारों के विषय में उपयुक्त होता
स्वार्थ ही के लिये किये जाते हैं। पिछले प्रकरण में आनन्दगिरि का यह म
दी गया है कि जब हम किसी पर कुछ उपकार करते हैं तब उसका
होता है कि उसके दुःख के देखने से हमारी कारुण्यवृत्ति हमारे

निर्णय नहीं कर सकते। क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार 'इष्ट' शब्द का अर्थ इष्ट वस्तु या पदार्थ भी हो सकता है; और इस अर्थ को मानने से इष्ट पदार्थ को भी सुख कहना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, प्यास लगने पर पानी इष्ट होता है; परन्तु इस बाह्य पदार्थ 'पानी' को 'सुख' नहीं कहते। यदि ऐसा होगा, तो नदी के पानी में डूबनेवाले के बारे में कहना पड़ेगा, कि वह सुख में डूबा हुआ है। सच बात यह है कि पानी पीने से जो इन्द्रियतृप्ति होती है, उसे सुख कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मनुष्य इस इन्द्रियतृप्ति या सुख को चाहता है; परन्तु इससे यह व्यापक सिद्धान्त नहीं बताया जा सकता, कि जिसकी चाह होती है वह सब सुख ही है। इसी लिये नैयायिकों ने सुखदुःख को वेदना कह कर उनकी व्याख्या इस तरह से की है 'अनुकूलवेदनीयं सुखं' – जो वेदना हमारे अनुकूल है वह सुख है; और 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं' – जो वेदना हमारे प्रतिकूल है वह दुःख है। ये वेदनाएँ जन्मसिद्ध अर्थात् मूल ही की और अनुभवगम्य हैं। इसलिये नैयायिकों की उक्त व्याख्या से बढ़ कर सुखदुःख का अधिक उत्तम लक्षण बतलाया नहीं जा सकता। कोई यह कहे, कि ये वेदनारूप सुख-दुःख केवल मनुष्य के व्यापारों से ही उत्पन्न होते हैं, तो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि, कभी कभी देवताओं के कोप से भी बड़े बड़े रोग और दुःख उत्पन्न हुआ करते हैं, जिन्हें मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। इसी लिये वेदान्त-ग्रन्थों में सामान्यतः इन सुख-दुःखों के तीन भेद – आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक – किये गये हैं। देवताओं की कृपा या कोप से जो सुख-दुःख मिलते हैं उन्हें 'आधिदैविक' कहते हैं। बाह्यसृष्टि के – पृथ्वी आदि पंचमहाभूतात्मक, पदार्थों का मनुष्य की इन्द्रियों से संयोग होने पर – शीतोष्ण आदि के कारण जो सुखदुःख हुआ करते हैं उन्हें 'आधिभौतिक' कहते हैं। और, ऐसे बाह्यसंयोग के बिना ही होनेवाले अन्य सब सुखदुःखों को 'आध्यात्मिक' कहते हैं। यदि सुख-दुःख का यह वर्गीकरण स्वीकार किया जाय, तो शरीर ही के वात-पित्त आदि दोषों का परिणाम बिगड़ जाने से उत्पन्न होनेवाले ज्वर आदि दुःखों को – तथा उन्हीं दोषों का परिणाम यथोचित रहने से अनुभव में आनेवाले, शारीरिक स्वास्थ्य को – आध्यात्मिक सुख-दुःख कहना पड़ता है। क्योंकि, यद्यपि ये सुख-दुःख पञ्चभूतात्मक शरीर से सम्बन्ध रखते हैं – अर्थात् ये शारीरिक हैं – तथापि हमेशा यह नहीं कहा जा सकता, कि ये शरीर से बाहर रहनेवाले पदार्थों के संयोग से पैदा हुआ है। और इसलिये आध्यात्मिक सुख-दुःखों के, वेदान्त की दृष्टि से फिर भी दो भेद – शारीरिक और मानसिक – करने पड़ते हैं। परन्तु इस प्रकार सुख-दुःखों के 'शारीरिक' और 'मानसिक' दो भेद कर दें, तो फिर आधिदैविक सुख-दुःखों को भिन्न मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि, यह तो स्पष्ट ही है, कि देवताओं की कृपा अथवा कोप से होनेवाले सुख-दुःखों को भी आखिर मनुष्य अपने ही शरीर या मन के द्वारा भोगता है। अतएव हमने इस

ग्रन्थ में वेदान्त-ग्रन्थों की परिभाषा के अनुसार सुख-दुःखों का त्रिविध वर्गीकरण नहीं
किया है। किन्तु उनके दो ही भेद (बाह्य या शारीरिक और आभ्यन्तर या मानसिक)
किये हैं; और इसी वर्गीकरण के अनुसार, हमने इस ग्रन्थ में सब प्रकार के शारीरिक
सुख-दुःखों को 'आधिभौतिक' और सब प्रकार के मानसिक सुख-दुःखों को 'आध्यात्मिक'
कहा है। वेदान्त-ग्रन्थों में जैसा तीसरा वर्ग 'आधिदैविक' दिया गया है, वैसा हमने
नहीं किया है। क्योंकि, हमारे मतानुसार सुख-दुःखों का शास्त्रीय रीति से विवेचन
करने के लिये यह द्विविध वर्गीकरण ही अधिक सुभीते का है। सुखदुःख का जो
विवेचन नीचे किया गया है, उसे पढ़ते समय यह बात अवश्य ध्यान में रखनी
चाहिये, कि वेदान्त-ग्रन्थों के और हमारे वर्गीकरण में भेद है।

सुख-दुःखों को चाहे आप द्विविध मानिये अथवा त्रिविध; इसमें सन्देह नहीं
कि दुःख की चाह किसी मनुष्य को नहीं होती। इसी लिये वेदान्त और सांख्य
शास्त्र (सां. का. १; गी. ६. २१, २२) में कहा गया है, कि सब प्रकार के दुःखों
की अत्यन्त निवृत्ति करना और आत्यन्तिक तथा नित्य सुख की प्राप्ति करना ही
मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। जब यह बात निश्चित हो चुकी, कि मनुष्य का परम
साध्य या उद्देश आत्यन्तिक सुख ही है, तब ये प्रश्न मन में सहज ही उत्पन्न होते
हैं, कि अत्यन्त सत्य और नित्य सुख किसको कहना चाहिये? उसकी प्राप्ति होना
संभव है या नहीं? यदि संभव है तो कब और कैसे? इत्यादि। और जब हम इन
प्रश्नों पर विचार करने लगते हैं, तब सब से पहले यही प्रश्न उठता है, कि नैयायिकों
के बतलाये हुए लक्षण के अनुसार सुख और दुःख दोनों भिन्न भिन्न स्वतन्त्र वेदनाएँ,
अनुभव या वस्तु हैं, अथवा 'जो उजेला नहीं वह अँधेरा' इस न्याय के
अनुसार इन दोनों वेदनाओं में से एक का अभाव होने पर दूसरी संज्ञा का उपयोग
किया जाता है। भर्तृहरि ने कहा है कि "प्यास से जब मुँह सूख जाता है, तब हम
उस दुःख का निवारण करने के लिये पानी पीते हैं। भूख से जब हम व्याकुल हो
जाते हैं, तब मिष्टान्न खा कर उस व्यथा को हटाते हैं; और काम-वासना के प्रदीप्त
होने पर उसको स्त्री-संग द्वारा तृप्त करते हैं।" इतना कह कर अन्त में कहा है कि —

प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः।

"किसी व्याधि अथवा दुःख के होने पर उसका जो निवारण या प्रतिकार
किया जाता है, उसी को लोग भ्रमवश 'सुख' कहा करते हैं।" दुःखनिवारण के
अतिरिक्त 'सुख' कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह नहीं समझना चाहिये कि
सिद्धान्त मनुष्यों के सिर्फ उन्हीं व्यवहारों के विषय में उपयुक्त होता
स्वार्थ ही के लिये किये जाते हैं। पिछले प्रकरण में आनन्दगिरि का यह मत
दी गया है, कि जब हम किसी पर कुछ उपकार करते हैं, तब उसका
होता है कि उसके दुःख के देखने से हमारी कारुण्यवृत्ति हमारे

जाती है और इस दुःसहत्व की व्यथा को दूर करने के लिये ही हम परोपकार किया करते हैं। इस पक्ष के स्वीकृत करने पर हमें महाभारत के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि –

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम्।

पहले जब कोई तृष्णा उत्पन्न होती है तब उसकी पीड़ा से दुःख होता है, और उस दुःख की पीड़ा से फिर सुख उत्पन्न होता है' (शां २५. २२; १७४ १९)। संक्षेप में इस पन्थ का यह कहना है कि मनुष्य के मन में पहले एक-आध आशा वासना या तृष्णा उत्पन्न होती है और जब उससे दुःख होने लगे, तब उस दुःख का जो निवारण किया जावे वही सुख कहलाता है। सुख कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहीं है। अधिक क्या कहें उस पक्ष के लोगों ने यह भी अनुमान निकाला है, कि मनुष्य की सब सांसारिक प्रवृत्तियाँ केवल वासनात्मक और तृष्णात्मक ही हैं। जब तक सब सांसारिक कर्मों का त्याग नहीं किया जायगा, तब तक वासना या तृष्णा की जड़ उखड़ नहीं सकती और जब तक तृष्णा या वासना की जड़ नष्ट नहीं हो जाती तब तक सत्य और नित्य सुख का मिलना भी सम्भव नहीं है। बृहदारण्यक (बृ ४ ४ २२; वे सू, ३ ४ १५) में विकल्प से और जाबाल-संन्यास आदि उपनिषदों में प्रधानता से उसी का प्रतिपादन किया गया है तथा अवधूत-गीता (९. ८; १ १–८) एवं अवधूतगीता (१ ४९) मे उसी का अनुवाद है। इस पन्थ का अन्तिम सिद्धान्त यही है कि जिस किसी को आत्यन्तिक सुख या मोक्ष प्राप्त करना है उसे उचित है कि वह जितना जल्दी हो सके उतना जल्दी संसार को छोड़ कर संन्यास ले ले। स्मृतिग्रन्थों में जिसका वर्णन किया गया है और श्रीशंकराचार्य ने कलियुग में जिसकी स्थापना की है वह श्रौत-स्मार्त कर्म-संन्यास मार्ग इसी तत्त्व पर चलाया गया है। सच है; यदि सुख कोई स्वतंत्र वस्तु ही नहीं है जो कुछ है सो दुःख ही है और वह भी तृष्णामूलक है तो इन तृष्णा आदि विकारों को ही पहले समूल नष्ट कर देने पर फिर स्वार्थ और परार्थ की सारी झंझटें आप-ही आप दूर हो जायगी और तब मन की जो मूल-साम्यावस्था तथा शान्ति है वही रह जायगी। इसी अभिप्राय से महाभारतान्तर्गत शान्तिपर्व के पिंगलगीता में, और मंकिगीता में भी कहा गया है कि –

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

"सांसारिक काम अर्थात् वासना की तृप्ति होने से जो सुख होता है और जो सुख स्वर्ग में मिलता है उन दोनों सुखों की योग्यता तृष्णा के क्षय से होनेवाले सुख के सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं है (शां. १७४ ४८ १७७ ४९)। वैदिक संन्यासमार्ग का ही आगे चल कर जैन और बौद्धधर्म में अनुकरण किया गया है।

इसी लिये इन दोनों धर्मों के ग्रन्थों में तृष्णा के दुष्परिणामों का भार उसकी त्याज्यता का वर्णन, उपर्युक्त वर्णन ही के समान – और कहीं कहीं तो उससे भी बढ़ा-चढ़ा – किया गया है (उदाहरणार्थ धम्मपद के 'तृष्णा-वर्ग' को देखिये)। तिब्बत के बौद्ध धर्मग्रंथों में तो यहाँ तक कहा गया है, कि महाभारत का उक्त श्लोक, बुद्धत्व प्राप्त होने पर गौतम बुद्ध के मुख से निकला था।*

तृष्णा के जो दुष्परिणाम ऊपर बतलाये गये हैं, वे श्रीमद्भगवद्गीता को भी मान्य हैं। परन्तु गीता का यह सिद्धान्त है, कि उन्हें दूर करने के लिये कर्म ही का त्याग नहीं कर बैठना चाहिये। अतएव यहाँ सुख-दुःख की उक्त उपपत्ति पर कुछ सूक्ष्म विचार करना आवश्यक है। संन्यासमार्ग के लोगों का यह कथन सर्वथा सत्य नहीं माना जा सकता कि सब सुख तृष्णा आदि दुःखों के निवारण होने पर ही उत्पन्न होता है। एक बार अनुभव की हुई (देखी हुई, सुनी हुई इत्यादि) वस्तु की जब फिर चाह होती है तब उसे काम, वासना या इच्छा कहते हैं। जब इच्छित वस्तु जल्दी नहीं मिलती तब दुःख होता है; और जब वह इच्छा तीव्र होने लगती है, अथवा जब इच्छित वस्तु के मिलने पर भी पूरा सुख नहीं मिलता और उसकी चाह अधिकाधिक बढ़ने लगती है, तब उसी इच्छा को तृष्णा कहते हैं। परन्तु इस प्रकार केवल इच्छा के तृष्णा-स्वरूप में बदल जाने के पहले ही यदि वह इच्छा पूर्ण हो जाय, तो उससे होनेवाले सुख के बारे में हम यह नहीं कह सकेंगे कि वह तृष्णा-दुःख के क्षय होने से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन नियत समय पर भोजन मिलता है, उसके बारे में अनुभव यह नहीं है कि भोजन करने के पहले हमें दुःख ही होता हो। जब नियत समय पर भोजन नहीं मिलता तभी हमारा जी भूख से व्याकुल हो जाया करता है – अन्यथा नहीं। अच्छा, यदि हम मान लें, कि तृष्णा और इच्छा एक ही अर्थ के द्योतक शब्द हैं, तो भी यह सिद्धान्त सच नहीं माना जा सकता, कि सब सुख तृष्णामूलक ही हैं। उदाहरण के लिये, एक छोटे बच्चे के मुँह में अचानक एक मिश्री की डली डाल दो। तो क्या यह कहा जा सकेगा, कि उस बच्चे को मिश्री खाने से जो सुख हुआ वह पूर्वतृष्णा के क्षय से हुआ है? नहीं। इसी तरह मान लो कि राह चलते चलते हम किसी रमणीय बाग में जा पहुँचे; और वहाँ किसी पक्षी का मधुर गान एकाएक सुन पड़ा। अथवा किसी मन्दिर में भगवान् की मनोहर छवि दीख पड़ी, तब ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता, कि उस गान के सुनने से या उस छवि के दर्शन से होनेवाले सुख की हम पहले ही से इच्छा किये बैठे थे। सच बात तो यही

---

* Rockhill's *Life of Buddha* p. 33. यह श्लोक 'उदान' नामक पाली ग्रन्थ (२. २) में है। परन्तु उसमें ऐसा वर्णन नहीं है कि यह श्लोक बुद्ध के मुख से उन्हें 'बुद्धत्व' प्राप्त होने के समय निकला था। इससे यह साफ मालूम हो जाता है कि यह श्लोक पहले बुद्ध के मुख से नहीं निकला था।

है, कि सुख की इच्छा किये बिना ही उस समय हमें सुख मिला। इन उदाहरणों पर ध्यान देने से यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि संन्यास-मार्गवालों की सुख की उक्त व्याख्या ठीक नहीं है और यह भी मानना पड़ेगा कि इन्द्रियों में भली बुरी वस्तुओं का उपयोग करने की स्वाभाविक शक्ति होने के कारण जब वे अपना व्यापार करती रहती हैं और जब कभी उन्हें अनुकूल या प्रतिकूल विषय की प्राप्ति हो जाती है तब पहले तृष्णा या इच्छा के न रहने पर भी हम सुख-दुःख का अनुभव हुआ करता है। इसी बात पर ध्यान रख कर गीता (२. १४) में कहा गया है कि 'मात्रास्पर्श से शीत उष्ण आदि का अनुभव होने पर सुख-दुःख हुआ करता है। सृष्टि के बाह्य-पदार्थों को 'मात्रा' कहते हैं। गीता के उक्त पदों का अर्थ यह है कि जब उन बाह्य-पदार्थों का इन्द्रियों से स्पर्श अर्थात् संयोग होता है तब सुख या दुःख की वेदना उत्पन्न होती है। यही कर्मयोगशास्त्र का भी सिद्धान्त है। कान को कड़ी आवाज अप्रिय क्यों मालूम होती है? जिह्वा को मधुर रस प्रिय क्यों लगता है? आँखों को पूर्ण चन्द्र का प्रकाश आह्लादकारक क्यों प्रतीत होता है? इत्यादि बातों का कारण कोई भी नहीं बतला सकता। हम लोग केवल इतना ही जानते हैं कि जीभ को मधुर रस मिलने से वह सन्तुष्ट हो जाती है। इससे प्रकट होता है कि आधिभौतिक सुख का स्वरूप केवल इन्द्रियों के अधीन है और इसलिये कभी कभी इन इन्द्रियों के व्यापारों को जारी रखने में ही सुख मालूम होता है – चाहे इसका परिणाम भविष्य में कुछ भी हो। उदाहरणार्थ, कभी कभी ऐसा होता है कि मन में कुछ विचार आने से उस विचार के सूचक शब्द आप-ही-आप मुँह से बाहर निकल पड़ते हैं। ये शब्द कुछ इस इरादे से बाहर नहीं निकाले जाते कि इनको कोई जान ले बल्कि कभी कभी तो इन स्वाभाविक व्यापारों से हमारे मन की गुप्त बात भी प्रकट हो जाया करती है जिससे हमको उल्टा नुकसान हो सकता है। छोटे बच्चे जब चलना सीखते हैं तब वे दिनभर यहाँ वहाँ यों ही चलते फिरते रहते हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें चलते रहने की क्रिया में ही उस समय आनन्द मालूम होता है। इसलिये सब सुखों को दुःखाभावरूप हीन कह कर यही कहा गया है कि "इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ" (गी. ३. ३४) अर्थात् इन्द्रियों में और उनके शब्दस्पर्श आदि विषयों में जो राग (प्रेम) और द्वेष हैं वे दोनों पहले ही से 'व्यवस्थित' अर्थात् स्वतन्त्र सिद्ध हैं। और अब हमें यही जानना है कि इन्द्रियों के ये व्यापार आत्मा के लिये कल्याणदायक कैसे होंगे या कर लिये जा सकेंगे। इसके लिये श्रीकृष्ण भगवान का यही उपदेश है कि इन्द्रियों और मन की वृत्तियों का नाश करने का प्रयत्न करने के बदले उनको अपने आत्मा के लिये लाभदायक बनाने के अर्थ अपने अधीन रखना चाहिये – उन्हें स्वतन्त्र नहीं होने देना चाहिये। भगवान् के इस उपदेश में और तृष्णा तथा उसी के साथ सब मनोवृत्तियों को भी समूल नष्ट करने के लिये कहने में जमीन आसमान का अन्तर है। गीता का यह तात्पर्य नहीं

है, कि संसार के सब कर्तृत्व और पराक्रम का बिलकुल नाश कर दिया जाय; बल्कि उसके अठारहवें अध्याय (१८. २६) में तो कहा है कि कार्य-कर्ता में समबुद्धि के साथ धृति और उत्साह के गुणों का होना भी आवश्यक है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ हमको केवल यही जानना है कि 'सुख' और 'दुःख' दोनों भिन्न वृत्तियाँ हैं या उनमें से एक दूसरी का अभाव मात्र ही है। इस विषय में गीता का मत उपर्युक्त विवेचन से पाठकों के ध्यान में आ ही गया होगा। 'क्षेत्र' का अर्थ बतलाते समय 'सुख' और 'दुःख' की अलग अलग गणना की गई है (गी. १३. ६); बल्कि यह भी कहा गया है कि 'सुख' सत्त्वगुण का और 'तृष्णा' रजोगुण का लक्षण है (गी. १४. ६, ७) और सत्त्वगुण तथा रजोगुण दोनों अलग अलग हैं। इससे भी भगवद्गीता का यह मत साफ़ मालूम हो जाता है कि सुख और दुःख दोनों एक दूसरे के प्रतियोगी हैं और भिन्न भिन्न दो वृत्तियाँ हैं। अठारहवें अध्याय में राजस त्याग की जो न्यूनता दिखलाई है कि 'कोई भी काम यदि दुःखकारक है, तो उसे छोड़ देने से त्यागफल नहीं मिलता; किन्तु ऐसा त्याग राजस कहलाता है' (गीता १८. ८) वह भी इस सिद्धान्त के विरुद्ध है कि 'सब सुख तृष्णा-क्षय मूलक ही है।'

अब यदि यह मान लें कि सब सुख तृष्णा-क्षय-रूप अथवा दुःखाभावरूप नहीं हैं और यह भी मान लें कि सुख-दुःख दोनों स्वतंत्र वस्तु हैं, तो भी (इन दोनों वेदनाओं के परस्पर-विरोधी या प्रतियोगी होने के कारण) यह दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस मनुष्य को दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं है उसे सुख का स्वाद मालूम हो सकता है या नहीं? कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि दुःख का अनुभव हुए बिना सुख का स्वाद ही नहीं मालूम हो सकता। इसके विपरीत, स्वर्ग के देवताओं के नित्यसुख का उदाहरण दे कर कुछ पंडित प्रतिपादन करते हैं कि सुख का स्वाद मालूम होने के लिये दुःख के पूर्वानुभव की कुछ आवश्यकता नहीं है। जिस तरह किसी भी खट्टे पदार्थ को पहले चखे बिना ही शहद, गुड़, शक्कर, आम, केला इत्यादि पदार्थों का भिन्न भिन्न मीठापन मालूम हो जाया करता है, उसी तरह सुख के भी अनेक प्रकार होने के कारण पूर्व-दुःखानुभव के बिना ही भिन्न भिन्न प्रकार के सुखों (जैसे [illegible] गद्दी पर से उठ कर परों की गद्दी पर बैठना इत्यादि) का सदैव अनुभव करते रहना भी सर्वथा सम्भव है। परन्तु सांसारिक व्यवहारों को देखने से मालूम हो जायगा कि यह युक्ति ही निरर्थक है। पुराणों में देवताओं पर भी संकट पड़ने के कई उदाहरण हैं; और पुण्य का अंश घटते ही कुछ समय के बाद स्वर्ग-सुख का भी नाश हो जाया करता है। इसलिये स्वर्गीय सुख का उदाहरण ठीक नहीं है। और, यदि ठीक भी हो, तो स्वर्गीय सुख का उदाहरण हमारे किस काम का? यदि यह सत्य मान लें कि 'नित्यमेव सुखं स्वर्गे', तो इसी के आगे (म. भा. शां. १९०. १४) यह भी कहा है कि 'सुखं दुःखमिहोभयम्' – अर्थात्

इस संसार में सुख और दुःख दोनों मिश्रित हैं। इसी के अनुसार समर्थ श्रीरामदास स्वामी ने भी कहा है, कि विचारवान् मनुष्य इस बात को अच्छी तरह सोच कर देख ले कि इस संसार में पूर्ण सुखी कौन है? इसके सिवा द्रौपदी ने सत्यभामा को यह उपदेश किया है, कि :–

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।

अर्थात् "सुख से कभी नहीं मिलता, साध्वी स्त्री को सुख-प्राप्ति के लिये दुःख या कष्ट सहना पड़ता है" (म. भा. वन. २३३. ४)। इससे कहना पड़ेगा, कि यह उपदेश इस संसार के अनुभव के अनुसार सत्य है। देखिये, यदि जामुन किसी के होंठ पर धर दिया जाय तो भी उसको खाने के लिये पहले मुँह खोलना पड़ता है और यदि मुँह में चला जाय तो उसे खाने का कष्ट सहना ही पड़ता है। सारांश यह बात सिद्ध है कि दुःख के बाद सुख पानेवाले मनुष्य के सुखास्वादन में और हमेशा विषयोपभोगों में ही निमग्न रहनेवाले मनुष्य के सुखास्वादन में बहुत भारी अंतर है। इसका कारण यह है कि हमेशा सुख का उपभोग करते रहने से सुख का अनुभव करनेवाली इन्द्रियाँ भी शिथिल होती जाती हैं। कहा भी है कि :–

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः॥

अर्थात् "श्रीमानों में सुस्वादु अन्न को सेवन करने की भी शक्ति नहीं रहती; परन्तु गरीब लोग काठ को भी पचा जाते हैं" (म. भा. शां. २८. २९)। अतएव जब कि हम को इस संसार के ही व्यवहारों का विचार करना है तब कहना पड़ता है कि इस प्रश्न को अधिक हल करते रहने में कोई अर्थ नहीं कि बिना दुःख पाये हमेशा सुख का अनुभव किया जा सकता है या नहीं। इस संसार में यही क्रम सदा से चल पड़ रहा है कि "सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्" (वन. २६०. ४९; शां. २५. २३) अर्थात् सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख मिला ही करता है। और महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत (मे. २. ४९) में वर्णन किया है –

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

"किसी की भी स्थिति हमेशा सुखमय या हमेशा दुःखमय नहीं होती। सुख-दुःख की दशा पहिये के समान ऊपर और नीचे की ओर हमेशा बदलती रहती है।" अब चाहे यह दुःख हमारे सुख के मिठास को अधिक बढ़ाने के लिये उत्पन्न हुआ हो और इस प्रकृति के संसार में उसको और भी कुछ उपयोग होता हो; उक्त अनुभव सिद्ध क्रम के बारे में मतभेद हो नहीं सकता। हाँ, यह बात कदाचित्

असम्भव न होगी, कि कोई मनुष्य हमेशा ही विषय-सुख का उपभोग किया करे और उससे उसका जी भी न ऊबे। परन्तु इस कर्मभूमि (मृत्युलोक या संसार) में यह बात अवश्य असम्भव है कि दुःख का बिलकुल नाश हो जाय और हमेशा सुख-ही-सुख का अनुभव मिलता रहे।

यदि यह बात सिद्ध है, कि संसार केवल सुखमय नहीं है, किन्तु वह सुख-दुःखात्मक है, तो अब तीसरा प्रश्न आप-ही-आप मन में पैदा होता है कि संसार में सुख अधिक है या दुःख? जो पश्चिमी पंडित आधिभौतिक सुख को ही परम साध्य मानते हैं उनमें से बहुतेरों का कहना है कि यदि संसार में सुख से दुःख ही अधिक होता, तो (सब नहीं तो) अधिकांश लोग अवश्य ही आत्महत्या कर डालते। क्योंकि जब उन्हें मालूम हो जाता, कि संसार दुःखमय है तो वे फिर उसमें रहने की झंझट में क्यों पड़ते? बहुधा देखा जाता है कि मनुष्य अपनी आयु अर्थात् जीवन से नहीं ऊबता; इसलिये निश्चयपूर्वक यही अनुमान किया जा सकता है कि इस संसार में मनुष्य को दुःख की अपेक्षा सुख ही अधिक मिलता है और इसीलिये धर्म-अधर्म का निर्णय भी सुख को ही सब लोगों का परम साध्य समझ कर, किया जाना चाहिये। अब यदि उपर्युक्त मत की अच्छी तरह जाँच की जाय तो मालूम हो जायगा कि यहाँ आत्महत्या का जो सम्बन्ध सांसारिक सुख के साथ जोड़ दिया गया है वह वस्तुतः सत्य नहीं है। हाँ यह बात सच है कि कभी कभी कोई मनुष्य संसार से त्रस्त हो कर आत्महत्या कर डालता है परन्तु सब लोग उसकी गणना 'अपवाद' में अर्थात् पागलों में किया करते हैं। इससे यही बोध होता है कि सर्व-साधारण लोग भी आत्महत्या करने या न करने का सम्बन्ध सांसारिक सुख के साथ नहीं जोड़ते किन्तु उसे (अर्थात् आत्महत्या करने या न करने को) एक स्वतन्त्र बात समझते हैं। यदि असभ्य और जंगली मनुष्यों के उस 'संसार' या 'जीवन' का विचार किया जावे जो सुधरे हुए और सभ्य मनुष्यों की दृष्टि से अत्यन्त कष्टदायक और दुःखमय प्रतीत होता है तो भी वही अनुमान निष्पन्न होगा जिसका उल्लेख ऊपर के वाक्य में किया गया है। प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ चार्ल्स डार्विन ने अपने प्रवास-ग्रन्थ में कुछ ऐसे जंगली लोगों का वर्णन किया है जिन्हें उसने दक्षिण-अमेरिका के अत्यन्त दक्षिण प्रान्तों में देखा था। उस वर्णन में लिखा है कि वे असभ्य लोग – स्त्री, पुरुष सब – कठिण जाड़े के दिनों में भी नंगे घूमते रहते हैं; इनके पास अनाज का कुछ भी संग्रह न रहने से इन्हें कभी कभी भूखों मरना पड़ता है तथापि इनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है।* देखिये जंगली मनुष्य भी अपनी जान नहीं देते; परन्तु क्या इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनका संसार या जीवन सुखमय है? कदापि नहीं। यह बात सच है कि

---

* Darwin's *Naturalist's Voyage Round the World* – Chap X.

व आत्महत्या नहीं करते परन्तु इसके कारण का यदि सूक्ष्म विचार किया जावे तो मालूम होगा कि हर एक मनुष्य को – चाहे वह सभ्य हो या असभ्य – केवल इसी बात में अत्यन्त आनन्द मालूम होता है कि मैं पशु नहीं हूँ। और अन्य सब सुखों की अपेक्षा मनुष्य होने के सुख को वह इतना अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है कि यह संसार कितना भी कष्टमय क्यों न हो तथापि वह उसकी ओर ध्यान नहीं देता और न वह अपने इस मनुष्यत्व के दुर्लभ सुख को खो देने के लिये कभी तैयार रहता है। मनुष्य की बात तो दूर रही पशु-पक्षी भी आत्महत्या नहीं करते। तो क्या इससे हम यह कह सकते हैं कि उनका भी संसार या जीवन सुखमय है ? तात्पर्य यह है कि मनुष्य या पशु-पक्षी आत्महत्या नहीं करते इस बात से यह भ्रामक अनुमान नहीं करना चाहिये कि उनका जीवन सुखमय है। सच्चा अनुमान यही हो सकता है कि संसार कैसा भी हो उसकी कुछ अपेक्षा नहीं सिर्फ़ अचेतन अर्थात् जड़ अवस्था से सचेतन यानी सजीव अवस्था में आने ही से अनुपम आनंद मिलता है और उसमें भी मनुष्यत्व का आनंद तो सबसे श्रेष्ठ है। हमारे शास्त्रकारों ने भी कहा है –

> भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
> बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥
> ब्राह्मणेषु च विद्वांसः विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
> कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥

अर्थात् अचेतन पदार्थों की अपेक्षा सचेतन प्राणी श्रेष्ठ हैं। सचेतन प्राणियों में बुद्धिमान्, बुद्धिमानों में मनुष्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में कृतबुद्धि (वे मनुष्य जिनकी बुद्धि सुसंस्कृत हो), कृतबुद्धियों में कर्ता (काम करनेवाले) और कर्ताओं में ब्रह्मवादी श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार शास्त्रों (मनु. १. ९६, ९७; म. भा. उद्यो. ५. १ और २) में एक से दूसरी बढ़ी हुई श्रेणियों का जो वर्णन है उसका भी रहस्य यही है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। और उसी न्याय से भाषा-ग्रन्थों में भी कहा गया है कि चौरासी लक्ष योनियों में नरदेह श्रेष्ठ है, नरों में मुमुक्षु श्रेष्ठ है और मुमुक्षुओं में सिद्ध श्रेष्ठ है। संसार में जो यह कहावत प्रचलित है कि सब को अपनी जान अधिक प्यारी होती है। उसका भी कारण वही है जो ऊपर लिखा गया है। और इसी लिये संसार के दुःखमय होने पर भी जब कोई मनुष्य आत्महत्या करता है तो उसको लोग पागल कहते हैं और धर्मशास्त्र के अनुसार वह पापी समझा जाता है (म. भा. कर्ण. ७० २८)। तथा आत्महत्या का प्रयत्न भी कानून के अनुसार जुर्म माना जाता है। संक्षेप में यह सिद्ध हो गया कि मनुष्य आत्महत्या नहीं करता – इस बात से संसार के सुखमय होने का अनुमान करना उचित नहीं है। ऐसी अवस्था में हम को यह संसार

सुखमय है या दुःखमय? इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये, पूर्वकर्मानुसार नरदेह प्राप्ति-रूप अपने नैसर्गिक भाग्य की बात को छोड़ कर, केवल इसके पश्चात् अर्थात् इस संसार ही की बातों का विचार करना चाहिये। 'मनुष्य आत्महत्या नहीं करता बल्कि वह जीने की इच्छा करता रहता है' – यो सिर्फ संसार की प्रवृत्ति का कारण है। आधिभौतिक पंडितों के कथनानुसार संसार के सुखमय होने का यह कोई सबूत या प्रमाण नहीं है। यह बात इस प्रकार कही जा सकती है कि, आत्महत्या न करने की बुद्धि स्वाभाविक है वह कुछ संसार के सुखदुःखों के तारतम्य से उत्पन्न नहीं हुई है और, इसी लिये इससे यह सिद्ध हो नहीं सकता कि संसार सुखमय है।

केवल मनुष्यजन्म पाने के सौभाग्य को और (उसके बाद के) मनुष्य के सांसारिक व्यवहार या 'जीवन' को भ्रमवश एक ही नहीं समझ लेना चाहिये। केवल मनुष्यत्व, और मनुष्य के नित्य व्यवहार अथवा सांसारिक जीवन, ये दोनों भिन्न भिन्न बातें हैं। इस भेद को ध्यान में रख कर यह निश्चय करना है कि इस संसार में श्रेष्ठ नरदेहधारी प्राणी के लिये सुख अधिक है अथवा दुःख? इस प्रश्न का यथार्थ निर्णय करने के लिये केवल यही सोचना एकमात्र साधन या उपाय है, कि प्रत्येक मनुष्य के 'वर्तमान समय की' वासनाओं में से कितनी वासनाएँ सफल हुई और कितनी निष्फल। 'वर्तमान समय की' कहने का कारण यह है कि जो बातें सभ्य या सुधरी हुई दशा के सभी लोगों को प्राप्त हो जाया करती हैं उनका नित्य व्यवहार में उपयोग होने लगता है और उनसे जो सुख हमें मिलता है उसे हम लोग भूल जाया करते हैं। एवं जिन वस्तुओं को पाने की नई इच्छा उत्पन्न होती है उनमें से जितनी हम प्राप्त हो सकती हैं सिर्फ उन्हीं के आधार पर हम इस संसार के सुख-दुःखों का निर्णय किया करते हैं। इस बात की तुलना करना कि हमें वर्तमान काल में कितने सुख-साधन उपलब्ध हैं और सौ वर्ष पहले इनमें से कितने सुख-साधन प्राप्त हो गये थे और इस बात का विचार करना आज के दिन मैं मैं सुखी हूँ या नहीं; ये दोनों बातें अत्यन्त भिन्न हैं। इन बातों को समझने के लिये उदाहरण लीजिये। इसमें सन्देह नहीं कि सौ वर्ष पहले की बैलगाड़ी की यात्रा से वर्तमान समय की रेलगाड़ी की यात्रा अधिक सुखकारक है। परन्तु अब इस रेलगाड़ी से मिलनेवाले सुख के 'सुखत्व' को हम भूल गये हैं। और इसका परिणाम यह दीख पड़ता है कि किसी दिन डाक देर से आती है और हमारी चिट्ठी हमें समय पर नहीं मिलती, तो हमें अच्छा नहीं लगता – कुछ दुःख ही सा होता है। अतएव मनुष्य के वर्तमान समय के सुख-दुःखों का विचार उन सुख-साधनों के आधार पर नहीं किया जाता कि जो उपलब्ध हैं; किन्तु यह विचार मनुष्य की 'वर्तमान आवश्यकताओं (इच्छाओं या वासनाओं) के आधार पर ही किया जाता है। और जब हम इन आवश्यकताओं इच्छाओं या वासनाओं का विचार करने लगते हैं तब मालूम हो जाता है कि उनका तो कुछ अन्त ही नहीं – वे अनन्त और अमर्यादित हैं। यदि हमारी एक इच्छा आज सफल

हो जाय, तो फ़ौरन दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि वह इच्छा भी सफल हो। ज्यों ज्यों मनुष्य की इच्छा या वासना सफल होती जाती है, त्यों त्यों उसकी दौड़ एक क़दम आगे ही बढ़ती चली जाती है और, जबकि यह बात अनुभवसिद्ध है, कि इन सब इच्छाओं या वासनाओं का सफल होना सम्भव नहीं, तब इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य दुःखी हुए बिना रह नहीं सकता। यहाँ निम्न दो बातों के भेद पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिये : (१) सब सुख केवल तृष्णा-क्षय-रूप ही है, और (२) मनुष्य को कितना ही सुख मिले तो भी वह असंतुष्ट ही रहता है। यह कहना एक बात है कि प्रत्येक सुख दुःखाभावरूप नहीं है। किन्तु सुख और दुःख इन्द्रियों की दो स्वतन्त्र वेदनाएँ हैं और यह कहना उससे बिलकुल ही भिन्न है कि मनुष्य किसी एक समय पाये हुए सुख को भूल कर भी अधिकाधिक सुख पाने के लिये असंतुष्ट बना रहता है। इनमें से पहली बात सुख के वास्तविक स्वरूप के विषय में है; और दूसरी बात यह है कि पाये हुए सुख से मनुष्य की पूरी तृप्ति होती है या नहीं? विषय-वासना हमेशा अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है इसलिये जब प्रतिदिन नये नये सुख नहीं मिल सकते तब यही मालूम होता है, कि पूर्वप्राप्त सुखों को ही बार बार भोगते रहना चाहिये – और इसी से मन की इच्छा का दमन नहीं होता। विटेलियस नामक एक रोमन बादशाह था। कहते हैं कि वह जिव्हा का सुख हमेशा पाने के लिये, भोजन करने पर किसी औषधि के द्वारा के कर डालता था; और प्रतिदिन अनेक बार भोजन किया करता था। परन्तु, अन्त में पछतानेवाले ययाति राजा की कथा इससे भी अधिक शिक्षादायक है। यह राजा शुक्राचार्य के शाप से, बूढ़ा हो गया था परन्तु उन्हीं की कृपा से इसको यह सहूलियत भी हो गई थी कि अपना बुढ़ापा किसी को दे कर इसके बदले में उसकी जवानी ले ले। तब इसने अपने पुरु नामक बेटे की तरुणावस्था माँग ली और सौ दो सौ नहीं पूरे एक हज़ार वर्ष तक सब प्रकार के विषय-सुखों का उपभोग किया। अन्त में उसे यही अनुभव हुआ कि इस दुनिया के सारे पदार्थ एक मनुष्य की भी सुख-वासना को तृप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। तब उसके मुख से यही उद्गार निकल पड़ा कि :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अर्थात् "*सुखों के उपभोग से विषय-वासना की तृप्ति तो होती ही नहीं; किन्तु विषय* वासना दिनोंदिन उसी प्रकार बढ़ती जाती है जैसे अग्नि की ज्वाला हवनपदार्थों से बढ़ती जाती है" (म. भा. आ. ७५. ४९)। यही श्लोक मनुस्मृति में भी पाया जाता है (मनु. २. ९४)। तात्पर्य यह है कि सुख के साधन चाहे जितने उपलब्ध हों तो भी इन्द्रियों की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इसलिये केवल सुखोपभोग से सुख की इच्छा कभी तृप्त नहीं हो सकती उसको रोकने या दबाने के लिये

कुछ अन्य उपाय अवश्य ही करना पड़ता है। यह तत्त्व हमारे सभी धर्म-ग्रन्थकारों को पूर्णतया मान्य है और इसलिये उनका प्रथम उपदेश यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कामोपभोग की मर्यादा बाँध लेनी चाहिये। जो लोग कहा करते हैं कि इस संसार में परमसाध्य केवल विषयोपभोग ही है, वे यदि उक्त अनुभूत सिद्धान्त पर थोड़ा भी ध्यान दें तो उन्हें अपने मत की निस्सारता तुरन्त ही मालूम हो जायगी। वैदिक धर्म का यह सिद्धान्त बौद्धधर्म में भी पाया जाता है; और, ययाति राजा के सदृश मान्धाता नामक पौराणिक राजा ने भी मरते समय कहा है –

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति॥

"कार्षापण नामक महामूल्यवान् सिक्के की यदि वर्षा होने लगे, तो भी कामवासना की तित्ति अर्थात् तृप्ति नहीं होती और स्वर्ग का भी सुख मिलने पर कामी पुरुष की कामेच्छा पूरी नहीं होती।" यह वर्णन धम्मपद (१८६, १८७) नामक बौद्ध ग्रन्थ में है। इससे कहा जा सकता है कि विषयोपभोगरूपी सुख की पूर्ति कभी हो नहीं सकती और इसी लिये हरएक मनुष्य को हमेशा ऐसा मालूम होता है कि, मैं दुःखी हूँ! मनुष्यों की इस स्थिति को विचारने से वही सिद्धान्त स्थिर करना पड़ता है जो महाभारत (शां. २०५.६; ३३०.१६) में कहा गया है –

सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः।

अर्थात् इस जीवन में यानी संसार में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है। यही सिद्धान्त साधु तुकाराम ने इस प्रकार कहा है :– "सुख देखो तो राई बराबर है और दुःख पर्वत के समान है।" उपनिषत्कारों का भी सिद्धान्त ऐसा ही है (मैत्र्यु. १.२–४)। गीता (८.१५ और ९.३३) में भी कहा गया है कि मनुष्य का जन्म अशाश्वत और दुःखों का घर है तथा यह संसार अनित्य और 'सुखरहित' है। जर्मन पंडित शोपेनहर का ऐसा ही मत है जिसे सिद्ध करने के लिये उस ने एक विचित्र दृष्टान्त दिया है। वह कहता है कि मनुष्य की समस्त सुखेच्छाओं में से जितनी सुखेच्छाएँ सफल होती हैं उसी परिमाण से हम उसे सुखी समझते हैं; और जब सुखेच्छाओं की अपेक्षा सुखोपभोग कम हो जाता है तब कहा जाता है कि वह मनुष्य उस परिमाण से दुःखी है। इस परिमाण को गणितरीति से समझाना हो तो सुखोपभोग को सुखेच्छा से भाग देना चाहिये और अपूर्णांक के रूप में सुखोपभोग ऐसा लिखना चाहिये। परन्तु यह अपूर्णांक है भी विलक्षण; क्योंकि इसका हर (अर्थात् सुखेच्छा) अंश (अर्थात् सुखोपभोग) की अपेक्षा हमेशा अधिकाधिक बढ़ता ही रहता है। यदि यह अपूर्णांक पहले १/२ हो और यदि आगे उसका अंश १ से ३ हो जाय तो उसका हर २ से १० हो जायगा – अर्थात् वही अपूर्णांक ३/१० हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि अंश तिगुना बढ़ता है तो हर पँचगुना बढ़ जाता है; जिसका

फल यह होता है कि वह अपूर्णांक पूर्णता की ओर न जा कर अधिकाधिक अपूर्णता की ओर चला जाता है। इसका मतलब यही है कि कोई मनुष्य कितना ही सुखोपभोग करे, उसकी सुखेच्छा दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है जिससे यह आशा करना व्यर्थ है, कि मनुष्य पूर्ण सुखी हो सकता है। प्राचीन काल में कितना सुख था इसका विचार करते समय हम लोग इस अपूर्णांक के अंश का तो पूर्ण ध्यान रखते हैं परन्तु इस बात को भूल जाते हैं कि अंश की अपेक्षा हर कितना बढ़ गया है। किन्तु जब हमें सुख-दुःख की मात्रा का ही निर्णय करना है तो हमें किसी काल का विचार न करके सिर्फ यही देखना चाहिये कि उक्त अपूर्णांक के अंश और हर में कैसा संबंध है। फिर हमें आप-ही-आप मालूम हो जायगा, कि इस अपूर्णांक का पूर्ण होना असंभव है। 'न जातु कामः कामानां' इस मनुवचन का (२.९४) भी यही अर्थ है। संभव है कि बहुतेरों को सुख-दुःख नापने की गणित की यह रीति पसन्द न हो; क्योंकि यह उष्णतामापक यंत्र के समान कोई निश्चित साधन नहीं है। परन्तु इस युक्तिवाद से प्रकट हो जाता है कि इस बात को सिद्ध न करने के लिये भी कोई निश्चित साधन नहीं कि संसार में सुख ही अधिक है। यह आपत्ति दोनों पक्षों के लिये समान ही है। इसलिये उक्त प्रतिपादन के साधारण सिद्धान्त में – अर्थात् उस सिद्धान्त में जो सुखोपभोग की अपेक्षा सुखेच्छा की अमर्यादित वृद्धि से निष्पन्न होती है – यह आपत्ति कुछ बाधा नहीं डाल सकती। धर्मग्रन्थों में तथा संसार के इतिहास में इस सिद्धान्त के पोषक अनेक उदाहरण मिलते हैं। किसी समय स्पेन देश में मुसलमानों का राज्य था। वहाँ तीसरा अब्दुल रहमान* नामक एक बहुत ही न्यायी और पराक्रमी बादशाह हो गया है। उसने यह देखने के लिये – कि मेरे दिन कैसे कटते हैं – एक रोजनामचा बनाया था जिस देखने से अन्त में उसे यह ज्ञात हुआ कि पचास वर्ष के शासन-काल में उसके केवल चौदह दिन सुखपूर्वक बीते। किसी ने हिसाब करके बतलाया है कि संसारभर के – विशेषतः यूरोप के – प्राचीन और अर्वाचीन सभी तत्त्वज्ञानियों के मतों को देखो; तो यही मालूम होगा कि उनमें से प्रायः आधे लोग संसार को दुःखमय कहते हैं और प्रायः आधे उसे सुखमय कहते हैं। अर्थात् संसार को सुखमय तथा दुःखमय कहनेवालों की संख्या प्रायः बराबर है।† यदि इस तुल्य संख्या में हिंदु तत्त्वज्ञों के मतों को जोड़ दें, तो कहना नहीं होगा कि संसार को दुःखमय माननेवालों की संख्या ही अधिक हो जायगी।

संसार के सुख-दुःखों के उक्त विवेचन को सुन कर कोई संन्यासमार्गीय पुरुष कह सकता है कि यद्यपि तुम इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि 'सुख कोई सच्चा पदार्थ नहीं है' परन्तु सब दुःखात्मक कर्मों को छोड़े बिना शान्ति नहीं मिल सकती।'

---

* *Moors in Spain* p. 128 (Story of the Nations Series).
† Macmillan's *Promotion of Happiness* p. 26.

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

अर्थात् 'जो दूसरों की (बाह्य-वस्तुओं की) अधीनता में है वह सब दुःख है और जो अपने (मन के) अधिकार में है वह सुख है। यही सुख-दुःख का संक्षिप्त लक्षण है' (मनु. ४.१६०)। नैयायिकों के बतलाये हुए लक्षण के 'वेदना' शब्द में शारीरिक और मानसिक दोनों वेदनाओं का समावेश होता है और उससे सुख-दुःख का बाह्य वस्तुस्वरूप भी मालूम हो जाता है; और मनु का विशेष ध्यान सुख-दुःखों के केवल आन्तरिक अनुभव पर है। बस, इस बात को ध्यान में रखने से सुख-दुःखों के उक्त दोनों लक्षणों में कुछ विरोध नहीं पड़ेगा। इस प्रकार जब सुख-दुःखों के लिये इन्द्रियों का अवलम्ब अनावश्यक हो गया, तब तो यही कहना चाहिये कि :–

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।

'मन से दुःखों का चिन्तन न करना ही दुःखनिवारण की अचूक औषधि है' (म. भा. शां. २०५.२) और इसी तरह मन को दबा कर सत्य तथा धर्म के लिये सुखपूर्वक अग्नि में जलकर भस्म हो जानेवालों के अनेक उदाहरण इतिहास में भी मिलते हैं। इसलिये गीता का कथन है कि हमें जो कुछ करना है उसे निग्रह के साथ और उसकी फलाशा को छोड़ कर तथा सुख-दुःख में समभाव रख कर करना चाहिये। ऐसा करने से न तो हमें कर्माचरण का त्याग करना पड़ेगा और न हमें उसके दुःख की बाधा ही होगी। फलाशा-त्याग का यह अर्थ नहीं है कि हमें जो फल मिले उसे छोड़ दें अथवा ऐसी इच्छा रखें कि वह फल किसी को भी न मिले। इसी तरह फलाशा में – और कर्म करने की केवल इच्छा, आशा, हेतु या फल के लिये किसी बात की याचना करने में – भी बहुत अंतर है। केवल हाथ-पैर हिलाने की इच्छा होने में और अमुक मनुष्य को पकड़ने के लिये या किसी मनुष्य को लात मारने के लिये हाथ-पैर हिलाने की इच्छा में बहुत भेद है। पहली इच्छा केवल कर्म करने की ही है। उसमें कोई दूसरा हेतु नहीं है; और यदि यह इच्छा छूट ही जाय तो कर्म का करना ही रुक जायगा। इस इच्छा के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य को इस बात का ज्ञान भी होना चाहिये कि हरएक कर्म का कुछ न कुछ फल अथवा परिणाम अवश्य ही होगा। बल्कि उस ज्ञान के साथ साथ उसे इस बात की इच्छा भी अवश्य होनी चाहिये कि मैं अमुक फलप्राप्ति के लिये अमुक प्रकार की योजना करके ही अमुक कर्म करना चाहता हूँ। नहीं तो उसके सभी कार्य पागलों के से निरर्थक हुआ करेंगे। ये सब इच्छाएँ, हेतु, योजनाएँ, परिणाम में दुःखकारक नहीं होतीं; और गीता का यह कथन भी नहीं है कि कोई उनको छोड़ दे। परन्तु स्मरण रहे कि स्थिति से बहुत आगे बढ़ कर जब मनुष्य के मन में यह

मन होता है कि 'मैं जो कर्म करता हूँ, मेरे उस कर्म का अमुक फल मुझे अवश्य ही मिलना चाहिये' – अर्थात् जब कर्मफल के विषय में, कर्ता की बुद्धि में ममत्व की यह आसक्ति, अभिमान, अभिनिवेश, आग्रह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन उसी से ग्रस्त हो जाता है – और जब इच्छानुसार फल मिलने में बाधा होने लगती है, तभी दुःख-परम्परा का प्रारम्भ हुआ करता है। यदि यह बाधा अनिवार्य अथवा दैवकृत हो, तो केवल निराशामात्र होती है; परन्तु वही कहीं मनुष्यकृत हुई तो फिर क्रोध और द्वेष भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे कुकर्म होने पर मर मिटना पड़ता है। कर्म के परिणाम के विषय में जो यह ममत्वयुक्त आसक्ति होती है, उसी को 'फलाशा', 'संग' और 'अहंकारबुद्धि' कहते हैं; और यह बतलाने के लिये कि संसार की दुःखपरम्परा यहीं से शुरू होती है, गीता के दूसरे अध्याय में कहा गया है कि विषय-संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह और अन्त में मनुष्य का नाश भी हो जाता है (गी. २. ६२, ६३)। अब यह बात सिद्ध हो गई कि जड़ सृष्टि के अचेतन कर्म स्वयं दुःख के मूल कारण नहीं हैं; किन्तु मनुष्य उनमें जो फलाशा, संग, काम या इच्छा लगाये रहता है, वही यथार्थ में दुःख का मूल है। ऐसे दुःखों से बचे रहने का सहज उपाय यही है कि सिर्फ विषय की फलाशा, संग, काम या आसक्ति को मनोनिग्रहद्वारा छोड़ देना चाहिये। संन्यासमार्गियों के कथनानुसार सब विषयों और कर्मों ही को, अथवा सब प्रकार की इच्छाओं ही को, छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी लिये गीता (२.६४) में कहा है कि जो मनुष्य फलाशा को छोड़ कर यथाप्राप्त विषयों का निष्काम और निस्संगबुद्धि से सेवन करता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है। संसार के कर्म-व्यवहार कभी रुक नहीं सकते। मनुष्य चाहे इस संसार में रहे या न रहे; परन्तु प्रकृति अपने गुणधर्मानुसार सदैव अपना व्यापार करती ही रहेगी। जड़ प्रकृति को न तो इसमें कुछ सुख है और न दुःख। मनुष्य व्यर्थ अपनी महत्ता समझ कर प्रकृति के व्यवहारों में आसक्त हो जाता है। इसी लिये वह सुख-दुःख का भागी हुआ करता है। यदि वह इस आसक्त-बुद्धि को छोड़ दे और अपने सब व्यवहार इस भावना से करने लगे कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गी. ३. २८) – प्रकृति के गुणधर्मानुसार ही सब व्यापार हो रहे हैं, तो असन्तोषजन्य कोई भी दुःख उसको हो ही नहीं सकता। इस लिये यह समझ कर कि प्रकृति तो अपना व्यापार करती ही रहती है, उसके लिये संसार को दुःखप्रधान मान कर रोते नहीं रहना चाहिये और न उसको त्यागने ही का प्रयत्न करना चाहिये। महाभारत (शां. २५. २६) में व्यासजी ने युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया है कि –

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥

का नाश होता है और किसी अन्य अवसर पर एक वाक्य (म. भा. सभा. ५५. ११) में यह भी कहा गया है कि 'असन्तोषः श्रियो मूलम्' अर्थात् असन्तोष ही ऐश्वर्य का मूल है।* ब्राह्मणधर्म में सन्तोष एक गुण बतलाया गया है सही; परन्तु उसका अर्थ केवल यही है, कि वह चातुर्वर्ण्य धर्मानुसार द्रव्य और ऐहिक ऐश्वर्य के विषय में सन्तोष रखे। यदि कोई ब्राह्मण कहने लगे, कि मुझे जितना ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसी से मुझे सन्तोष है तो वह स्वयं अपना नाश कर बैठेगा। इसी तरह यदि कोई वैश्य या शूद्र अपने अपने धर्म के अनुसार जितना मिला है उतना पा कर ही सदा सन्तुष्ट बना रहे तो उसकी भी वही दशा होगी। सारांश यह है, कि असन्तोष सब भावी उत्कर्ष का, प्रयत्न का, ऐश्वर्य का और मोक्ष का बीज है। हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि यदि हम असन्तोष का पूर्णतया नाश कर डालेंगे, तो इस लोक और परलोक में भी हमारी दुर्गति होगी। श्रीकृष्ण का उपदेश सुनते समय जब अर्जुन ने कहा, कि 'भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्' (गी. १०. १८) अर्थात् आप के अमृततुल्य भाषण को सुन कर मेरी तृप्ति होती ही नहीं। इसलिये आप फिर भी अपनी विभूतियों का वर्णन कीजिये – तब भगवान् ने फिरसे अपनी विभूतियों का वर्णन आरम्भ किया। उन्हों ने ऐसा नहीं कहा कि तू अपनी इच्छा को वश में कर। असंतोष या अतृप्ति अच्छी बात नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि योग्य और कल्याणकारक बातों में उचित असन्तोष का होना भगवान् को भी इष्ट है। भर्तृहरि का भी इसी आशय का एक श्लोक है। यथाः 'यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ' अर्थात् रुचि या इच्छा अवश्य होनी चाहिये, परन्तु वह यश के लिये ही। और व्यसन भी होना चाहिये परन्तु वह विद्या का हो, अन्य बातों का नहीं। काम-क्रोध आदि विकारों के समान ही असन्तोष को भी अनिवार्य नहीं होने देना चाहिये। यदि वह अनिवार्य हो जायगा तो निस्सन्देह हमारे सर्वस्व का नाश कर डालेगा। इसी हेतु से केवल विषयभोग की प्रीति के लिये तृष्णा लाद कर और एक आशा के बाद दूसरी आशा रख कर सांसारिक सुखों के पीछे हमेशा भटकनेवाले पुरुषों की सम्पत्ति को गीता के सोलहवे अध्याय में 'आसुरी संपत्ति' कहा है। ऐसी रात-दिन की हाय हाय करते रहने से मनुष्य के मन की सात्त्विक वृत्तियों का नाश हो जाता है। उसकी अधोगति होती है और तृष्णा की पूरी तृप्ति होना असम्भव होने के कारण कामोपभोग-वासना नित्य अधिकाधिक बढ़ती जाती है; तथा वह मनुष्य अन्त में उसी दशा में मर जाता है। परन्तु विपरीत पक्ष में तृष्णा और असन्तोष के इस दुष्परिणाम से बचने के लिये सब प्रकार के तृष्णाओं के साथ सब कर्मों को एकदम छोड़ देना भी सात्त्विक मार्ग नहीं है। उक्त कथनानुसार तृष्णा या असन्तोष भावी उत्कर्ष का बीज है। इसलिये चोर के डर से साह को ही मार डालने का प्रयत्न कभी

---

* Cf. "Unhappiness is the cause of progress." Dr. Paul Carus. *The Ethical Problem*, p. 251 (2nd Ed.).

नहीं करना चाहिये। उचित मार्ग तो यही है, कि हम इस बात का भली भाँति विचार किया करें, कि किस तृष्णा या किस असन्तोष से हमें दुःख होगा और जो विशिष्ट आशा तृष्णा या असन्तोष दुःखकारक हो उसे छोड़ दें। उनके लिये समस्त कर्मों को छोड़ देना उचित नहीं। केवल दुःखकारी आशाओं को ही छोड़ने और स्वधर्मानुसार कर्म करने की इस युक्ति या कौशल्य को ही योग अथवा कर्मयोग कहते हैं (गी. २.५०); और यही गीता का मुख्यतः प्रतिपाद्य विषय है। इसलिये यहाँ थोड़ा-सा इस बात का और विचार कर लेना चाहिये, कि गीता में किस प्रकार की आशा को दुःखकारी कहा है।

मनुष्य कान से सुनता है, त्वचा से स्पर्श करता है, आँखों से देखता है, जिह्वा से स्वाद लेता है तथा नाक से सूँघता है। इन्द्रियों के ये व्यापार जिस परिमाण से इन्द्रियों की वृत्तियों के अनुकूल या प्रतिकूल होते हैं उसी परिमाण से मनुष्य को सुख अथवा दुःख हुआ करता है। सुख-दुःख के वस्तुस्वरूप के लक्षण का यह वर्णन पहले हो चुका है; परन्तु सुख-दुःखों का विचार केवल इसी व्याख्या से पूरा नहीं हो सकता। आधिभौतिक सुख-दुःखों के उत्पन्न होने के लिये बाह्य पदार्थों का संयोग इन्द्रियों के साथ होना यद्यपि प्रथमतः आवश्यक है, तथापि इसका विचार करने पर - कि आगे इन सुख-दुःखों का अनुभव मनुष्य को किस रीति से होता है - यह मालूम होगा, कि इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यापार से उत्पन्न होनेवाले इन सुख-दुःखों को जानने का (अर्थात् इन्हें अपने लिये स्वीकार या अस्वीकार करने का) काम हरएक मनुष्य अपने मन के अनुसार ही किया करता है। महाभारत में कहा है कि "चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा" (म. भा. शां. ३११, १७) - अर्थात् देखने का काम केवल आँखों से ही नहीं होता, किन्तु उस में मन की भी सहायता होती है। और यदि मन व्याकुल रहता है तो आँखों से देखने पर भी अन देखा-सा हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१.५.३) में भी यह वर्णन पाया जाता है; यथा (अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्) "मेरा मन दूसरी ओर लगा था; इसलिये मुझे नहीं दीख पड़ा", और (अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्) "मेरा मन दूसरी ही ओर था, इसलिये मैं सुन नहीं सका" - इससे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि आधिभौतिक सुख-दुःखों का अनुभव होने के लिये इन्द्रियों के साथ मन की भी सहायता होनी चाहिये; और आध्यात्मिक सुख-दुःख तो मानसिक होते ही हैं। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के सुख-दुःखों का अनुभव अन्त में हमारे मन पर ही अवलम्बित रहता है; और यदि यह बात सच है तो यह भी आप-ही आप सिद्ध हो जाता है, कि मनोनिग्रह से सुख-दुःखों के अनुभव का भी निग्रह अर्थात् दमन करना कुछ असम्भव नहीं है। इसी बात पर ध्यान रखते हुए मनुजी ने सुख-दुःखों का लक्षण नैयायिकों के लक्षण से भिन्न प्रकार का बतलाया है। उनका कथन है कि -

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

अर्थात् "जो दूसरों की (बाह्य-वस्तुओं की) अधीनता में है वह सब दुःख है और जो अपने (मन के) अधिकार में है वह सुख है। यही सुख-दुःख का संक्षिप्त लक्षण है" (मनु. ४. १६०)। नैयायिकों के बतलाये हुए लक्षण के 'वेदना' शब्द में शारीरिक और मानसिक दोनों वेदनाओं का समावेश होता है और उससे सुख-दुःख का बाह्य वस्तुस्वरूप भी मालूम हो जाता है और मनु का विशेष ध्यान सुख-दुःखों के केवल आन्तरिक अनुभव पर है। बस, इस बात को ध्यान में रखने से सुख-दुःखों के उक्त दोनों लक्षणों में कुछ विरोध नहीं पड़ेगा। इस प्रकार जब सुख-दुःखों के लिये इन्द्रियों का अवलम्ब अनावश्यक हो गया, तब तो यही कहना चाहिये कि —

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।

"मन से दुःखों का चिंतन न करना ही दुःखनिवारण की अचूक औषधि है" (म. भा. शां. २०५. २); और इसी तरह मन को दबा कर सत्य तथा धर्म के लिये सुखपूर्वक अग्नि में जलकर भस्म हो जानेवालों के अनेक उदाहरण इतिहास में भी मिलते हैं। इसलिये गीता का कथन है कि हमें जो कुछ करना है उसे निग्रह के साथ और उसकी फलाशा को छोड़ कर तथा सुख-दुःखों में समभाव रख कर करना चाहिये। ऐसा करने से न तो हमें कर्माचरण का त्याग करना पड़ेगा और न हमें उसके दुःख की बाधा ही होगी। फलाशा-त्याग का यह अर्थ नहीं है, कि हमें जो फल मिले उसे छोड़ दें अथवा ऐसी इच्छा रखें कि वह फल किसी को भी न मिले। इसी तरह फलाशा में — और कर्म करने की केवल इच्छा, आशा, हेतु या फल के लिये किसी बात की योजना करने में — भी बहुत अंतर है। केवल हाथपैर हिलाने की इच्छा होने में और अमुक मनुष्य को पकड़ने के लिये या किसी मनुष्य को लात मारने के लिये हाथ पैर हिलाने की इच्छा में बहुत भेद है। पहली इच्छा केवल कर्म करने की ही है। उसमें कोई दूसरा हेतु नहीं है और यदि यह इच्छा छोड़ दी जाय तो कर्म का करना ही रुक जायगा। इस इच्छा के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य को इस बात का ज्ञान भी होना चाहिये कि हरएक कर्म का कुछ न कुछ फल अथवा परिणाम अवश्य ही होगा। बल्कि ऐसे ज्ञान के साथ साथ उसे इस बात की इच्छा भी अवश्य होनी चाहिये कि मैं अमुक फलप्राप्ति के लिये अमुक प्रकार की योजना करके ही अमुक कर्म करना चाहता हूँ। नहीं तो उसके सभी कार्य पागलों के से निरर्थक हुआ करेंगे। ये सब इच्छाएँ, हेतु, योजनाएँ परिणाम में दुःखकारक नहीं होतीं और गीता का यह कथन भी नहीं है कि कोई उनको छोड़ दे। परन्तु स्मरण रहे कि स्थिति से बहुत आगे बढ़ कर जब मनुष्य के मन में यह

भाव होता है कि 'मैं जो कर्म करता हूँ, मेरे उस कर्म का अमुक फल मुझे अवश्य ही मिलना चाहिये' – अर्थात् जब कर्मफल के विषय में कर्ता की बुद्धि में ममत्व की यह आसक्ति, अभिमान, अभिनिवेश, आग्रह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन उसी से ग्रस्त हो जाता है – और जब इच्छानुसार फल मिलने में बाधा होने लगती है तभी दुःख-परम्परा का प्रारम्भ हुआ करता है। यदि यह बाधा अनिवार्य अथवा दैवकृत हो, तो केवल निराशामात्र होती है; परन्तु वही कहीं मनुष्यकृत हुई तो फिर क्रोध और द्वेष भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे कुकर्म होने पर मर मिटना पड़ता है। कर्म के परिणाम के विषय में जो यह ममत्वयुक्त आसक्ति होती है उसी को 'फलाशा', 'संग' और 'अहंकारबुद्धि' कहते हैं; और यह बतलाने के लिये कि संसार की दुःखपरम्परा यहीं से शुरू होती है, गीता के दूसरे अध्याय में कहा गया है कि विषय-संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह और अन्त में मनुष्य का नाश भी होता है (गी. २. ६२, ६३)। अब यह बात सिद्ध हो गई कि बाह्य सृष्टि के अचेतन कर्म स्वयं दुःख के मूल कारण नहीं हैं; किन्तु मनुष्य उनमें जो फलाशा, संग, काम या इच्छा लगाये रहता है, वही यथार्थ में दुःख का मूल है। ऐसे दुःखों से बचे रहने का सहज उपाय यही है कि सिर्फ विषय की फलाशा, संग, काम या आसक्ति को मनोनिग्रहद्वारा छोड़ देना चाहिये। संन्यासमार्गियों के कथनानुसार सब विषयों और कर्मों ही को, अथवा सब प्रकार की इच्छाओं ही को, छोड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी लिये गीता (२. ६४) में कहा है कि जो मनुष्य फलाशा को छोड़ कर यथाप्राप्त विषयों का निष्काम और निस्संगबुद्धि से सेवन करता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है। संसार के कर्म-व्यवहार कभी रुक नहीं सकते। मनुष्य चाहे इस संसार में रहे या न रहे; परन्तु प्रकृति अपने गुणधर्मानुसार सदैव अपना व्यापार करती ही रहेगी। जड़ प्रकृति को न तो इसमें कुछ सुख है और न दुःख। मनुष्य व्यर्थ अपनी महत्ता समझ कर प्रकृति के व्यवहारों में आसक्त हो जाता है। इसी लिये वह सुख-दुःख का भागी हुआ करता है। यदि वह इस आसक्त-बुद्धि को छोड़ दे और अपने सब व्यवहार इस भावना से करने लगे कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गी. ३. २८) – प्रकृति के गुणधर्मानुसार ही सब व्यापार हो रहे हैं, तो असन्तोषजन्य कोई भी दुःख उसको हो ही नहीं सकता। इस लिये यह समझ कर कि प्रकृति तो अपना व्यापार करती ही रहती है, उसके लिये संसार को दुःखप्रधान मान कर रोते नहीं रहना चाहिये; और न उसको त्यागने ही का प्रयत्न करना चाहिये। महाभारत (शां. २५. २६) में व्यासजी ने युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया है कि :–

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥

क्योंकि दूसरे चरण में भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है, कि तेरा अधिकार कर्मफल के विषय में कुछ भी नहीं है। अर्थात् किसी कर्म का फल मिलना – न मिलना तेरे अधिकार की बात नहीं है। वह सृष्टि के कर्मविपाक पर या ईश्वर पर अवलम्बित है। फिर जिस बात में हमारा अधिकार ही नहीं है उसके विषय में आशा करना – कि वह अमुक प्रकार हो – केवल मूर्खता का लक्षण है परन्तु यह तीसरी बात भी अनुमान पर अवलम्बित नहीं है। तीसरे चरण में कहा गया है, कि इसलिये तू कर्म-फल की आशा रख कर किसी भी कर्म को मत कर। क्योंकि, कर्मविपाक के अनुसार तेरे कर्मों का जो फल होना होगा वह अवश्य होगा ही। तेरी इच्छा से उसमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो सकती और उसके देरी से या जल्दी से हो जाने की भी सम्भावना है। परन्तु यदि तू ऐसी आशा रखेगा या आग्रह करेगा तो तुझे केवल व्यर्थ दुःख ही मिलेगा। अब यहाँ कोई कोई – विशेषतः संन्यासमार्गी पुरुष – प्रश्न करेंगे, कि कर्म करके फलाशा छोड़ने के झगड़े में पड़ने की अपेक्षा कर्माचरण को ही छोड़ देना क्या अच्छा नहीं होगा? इसलिये भगवान् ने अन्त में अपना निश्चित मत भी बतला दिया है कि कर्म न करने का (अकर्म का) तू हठ मत कर। तेरा जो अधिकार है उसके अनुसार – परन्तु फलाशा छोड़ कर – कर्म करता जा। कर्मयोग की दृष्टि से ये सब सिद्धान्त इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उक्त श्लोक के चारों चरणों को यदि हम कर्मयोगशास्त्र या गीताधर्म के चतुःसूत्र भी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यह मालूम हो गया कि इस संसार में सुख दुःख हमेशा क्रम से मिला करते हैं और यहाँ सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा अधिक है। ऐसी अवस्था में भी जब यह सिद्धान्त बतलाया जाता है कि सांसारिक कर्मों को छोड़ नहीं देना चाहिये तब कुछ लोगों की यह समझ हो सकती है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति करने – और अत्यन्त सुख प्राप्त करने – के सब मानवी प्रयत्न व्यर्थ हैं। और, केवल आधिभौतिक अर्थात् इन्द्रियगम्य बाह्य विषयोपभोगरूपी सुखों को ही देखें तो यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी यह समझ ठीक नहीं है। सच है यदि कोई बालक पूर्णचन्द्र को पकड़ने के लिये हाथ फैला दे तो जैसे आकाश का चन्द्रमा उस के हाथ में कभी नहीं आता उसी तरह आत्यन्तिक सुख की आशा रख कर केवल आधिभौतिक सुख के पीछे लगे रहने से आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति कभी नहीं होगी। परन्तु स्मरण रहे आधिभौतिक सुख ही समस्त प्रकार के सुखों का भाण्डार नहीं है। इसलिये उपर्युक्त कठिनाई में भी आत्यन्तिक और नित्य सुख-प्राप्ति का मार्ग ढूँढ लिया जा सकता है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि सुखों के दो भेद हैं – एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। शरीर अथवा इन्द्रियों के व्यापारों की अपेक्षा मन को ही अन्त में अधिक महत्त्व देना पड़ता है। ज्ञानी पुरुषों ने यह सिद्धान्त बतलाया है कि शारीरिक (अर्थात् आधि-

भौतिक) सुख की अपेक्षा मानसिक सुख की योग्यता अधिक है उसे वे कुछ अपने ज्ञान की घमण्ड से नहीं बतलाते। प्रसिद्ध आधिभौतिकवादी मिल ने भी अपने उपयुक्ततावाद-विषयक ग्रन्थ में साफ़ साफ़ मंजूर किया है,* कि उक्त सिद्धान्त में ही श्रेष्ठ मनुष्यजन्म की सच्ची सार्थकता और महत्त्व है। कुत्ते, सूअर और बैल इत्यादि को भी इन्द्रियसुख का आनन्द मनुष्यों के समान ही होता है, और मनुष्य की यदि यह समझ होती कि संसार में सच्चा सुख विषयोपभोग ही है तो मनुष्य पशु बनने पर भी राजी हो गया होता। परन्तु पशुओं के सब विषय-सुखों के नित्य मिलने का अवसर आने पर भी कोई मनुष्य पशु होने को राजी नहीं होता। इससे यही विदित होता है कि मनुष्य और पशु में कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य है। इस विशेषता को समझने के लिये उस आत्मा के स्वरूप का विचार करना पड़ता है जिसे मन और बुद्धि द्वारा स्वयं अपना और बाह्यसृष्टि का ज्ञान होता है; और, ज्योंही यह विचार किया जायगा त्योंही स्पष्ट मालूम हो जायगा कि पशु और मनुष्य के लिये विषयोपभोग-सुख तो एक ही सा है परन्तु इसकी अपेक्षा मन और बुद्धि के अत्यन्त उदात्त व्यापार में तथा शुद्धावस्था में जो सुख है वही मनुष्य का श्रेष्ठ और आत्यन्तिक सुख है। यह सुख आत्मवश है इसकी प्राप्ति किसी बाह्यवस्तु पर अवलम्बित नहीं है इसकी प्राप्ति के लिये दूसरों के सुख को न्यून करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है। यह सुख अपने ही प्रयत्न से हमी को मिलता है। और ज्यों ज्यों हमारी उन्नति होती जाती है त्यों त्यों इस सुख का स्वरूप भी अधिकाधिक शुद्ध और निर्मल होता चला जाता है। भर्तृहरि ने सच कहा है कि "मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः" – मन के प्रसन्न होने पर क्या दरिद्रता और क्या अमीरी दोनों समान ही हैं। प्लेटो नामक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता ने भी यह प्रतिपादन किया है कि शारीरिक (अर्थात् बाह्य आधिभौतिक) सुख की अपेक्षा मन का सुख श्रेष्ठ है और मन के सुखों से भी बुद्धिग्राह्य (अर्थात् परम आध्यात्मिक) सुख अत्यन्त श्रेष्ठ है।‡ इसलिये यदि हम अभी मोक्ष के विचार को छोड़ दें तो भी यही सिद्ध होता है कि जो बुद्धि आत्मविचार में निमग्न हो उसे ही परम सुख मिल सकता है। इसी कारण भगवद्गीता में सुख के (सात्त्विक, राजस और तामस) तीन भेद किये गये हैं; और इनका लक्षण भी बतलाया गया है।

* "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool, or the pig, is of a different opinion, it is because they only know their own side of the question." *Utilitarianism* p 14 (Longmans 1907)

‡ *Republic Book* IX

"चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय जो जिस समय वैसा प्राप्त हो वह उस समय वैसा ही मन को निराश न करते हुए (अर्थात् निष्काम बुद्धि से अपने कर्तव्य को न छोड़ते हुए) सेवन करते रहो!" इस उपदेश का महत्त्व पूर्णतया तभी ज्ञात हो सकता है जब कि हम इस बात को ध्यान में रखें कि संसार में अनेक कर्तव्य ऐसे हैं कि जिन्हें दुःख सह कर भी करना पड़ता है। भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ का यह लक्षण बतलाया है, कि 'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्' (२. ५७) – अर्थात् शुभ अथवा अशुभ जो कुछ आ पड़े उस के बारे में जो सदा निष्काम या निस्संग रहता है और जो उसका अभिनन्दन या द्वेष कुछ भी नहीं करता वही स्थितप्रज्ञ है। फिर पाँचवें अध्याय (५. २०) में कहा है कि 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' – सुख पा कर फूल न जाना चाहिये और दुःख में कातर भी न होना चाहिये। एवं दूसरे अध्याय (२. १४, १५) में इन सुख-दुःखों को निष्काम-बुद्धि से भोगने का उपदेश किया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसी उपदेश को बार बार दुहराया है (गी. ५. ९; १३. ९)। वेदान्तशास्त्र की परिभाषा में इसी को 'सब कर्मों का ब्रह्मार्पण करना' कहते हैं। और भक्तिमार्ग में ब्रह्मार्पण के बदले 'श्रीकृष्णार्पण' शब्द की योजना की जाती है। बस यही गीतार्थ का सारांश है।

कर्म चाहे किसी भी प्रकार का हो परन्तु कर्म करने की इच्छा और उद्योग को बिना छोड़े तथा फलप्राप्ति की आसक्ति न रख कर (अर्थात् निस्संगबुद्धि से) उसे करते रहना चाहिये और साथ हमें भविष्य में परिणाम-स्वरूप में मिलनेवाले सुख-दुःखों को भी एक ही समान भोगने के लिये तैयार रहना चाहिये। ऐसा करने से अमर्यादित तृष्णादि और असन्तोषजनित दुष्परिणामों से तो हम बचेंगे ही; परन्तु दूसरा लाभ यह होगा कि तृष्णा या असन्तोष के साथ साथ कर्म को भी त्याग देने से जीवन के ही नष्ट हो जाने का जो प्रसंग आ सकता है वह भी नहीं आ सकेगा; और हमारी मनोवृत्तियाँ शुद्ध हो कर प्राणिमात्र के लिये हितप्रद हो जावेंगी। इसमें सन्देह नहीं कि इस तरह फलाशा छोड़ने के लिये भी इन्द्रियों का और मन का वैराग्य से पूरा दमन करना पड़ता है; परन्तु स्मरण रहे कि इन्द्रियों को स्वाधीन करके स्वार्थ के बदले वैराग्य से तथापि निष्काम बुद्धि से लोकसंग्रह के लिये उन्हें अपने अपने व्यापार करने देना कुछ और बात है और संन्यास-मार्गानुसार तृष्णा को मारने के लिये इन्द्रियों के सभी व्यापारों को अर्थात् कर्मों का आग्रहपूर्वक समूल नष्ट कर डालना बिलकुल ही भिन्न बात है। इन दोनों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। गीता में जिस वैराग्य का और जिस इन्द्रियनिग्रह का उपदेश किया गया है वह पहले प्रकार का है दूसरे प्रकार का नहीं और उसी तरह अनुगीता (महा. अश्व. ३२. १७–२३) में जनक-ब्राह्मण-संवाद में राजा जनक ब्राह्मणरूपधारी धर्म से कहते हैं कि :–

शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम।
नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा॥

— अर्थात् 'जिस (वैराग्य) बुद्धि को मन में धारण करके मैं सब विषयों का सेवन करता हूँ, उसका हाल सुनो। नाक से मैं अपने लिये बास नहीं लेता (आँखों से मैं अपने लिये नहीं देखता इत्यादि), और मन का भी उपयोग मैं आत्मा के लिये अर्थात् अपने लाभ के लिये नहीं करता। अतएव मेरी नाक (आँख इत्यादि) और मन मेरे वश में हैं अर्थात् मैंने उन्हें जीत लिया है।' गीता के वचन (गी ३ ६ ७) का भी यही तात्पर्य है कि जो मनुष्य केवल इन्द्रियों की वृत्ति को तो रोक देता है और मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है वह पूरा ढोंगी है और जो मनुष्य मनोनिग्रहपूर्वक काम्य-बुद्धि को जीत कर, सब मनोवृत्तियों को लोकसंग्रह के लिये अपना अपना काम करने देता है वही श्रेष्ठ है। बाह्य-जगत् या इन्द्रियों के व्यापार हमारे उत्पन्न किये हुए नहीं हैं वे स्वभावसिद्ध हैं। हम देखते हैं कि जब कोई संन्यासी बहुत भूखा होता है तब उसको – चाहे वह कितना ही निग्रही हो – भीख माँगने के लिये कहीं बाहर जाना ही पड़ता है (गी ३ ३३) और, बहुत देर तक एक ही जगह बैठे रहने से ऊब कर वह उठ खड़ा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि निग्रह चाहे कितना हो परन्तु इन्द्रियों के जो स्वभावसिद्ध व्यापार हैं वे कभी नहीं छूटते। और यदि यह बात सच है तो इन्द्रियों की वृत्ति तथा सब कर्मों को और सब प्रकार की इच्छा या असन्तोष को नष्ट करने के दुराग्रह में न पड़ना (गी २ ४७ १८ ५९) एवं मनोनिग्रहपूर्वक फलाशा छोड़ कर सुख-दुःख को एक बराबर समझना (गी २ ३८), तथा निष्कामबुद्धि से लोकहित के लिये कर्मों का शास्त्रोक्त रीति से करते रहना ही श्रेष्ठ तथा आदर्श मार्ग है। इसी लिये –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

इस श्लोक में (गी २ ४७) श्रीभगवान् अर्जुन को पहले यह बतलाते हैं कि तू इस कर्मभूमि में पैदा हुआ है। इसलिये तुझे कर्म करने का ही अधिकार है परन्तु इस बात को भी ध्यान में रख कि तेरा यह अधिकार केवल (कर्तव्य) कर्म करने का ही है। इस 'एव' पद का अर्थ है 'केवल'; जिससे यह सहज सिद्ध होता है कि मनुष्य का अधिकार कर्म के सिवा अन्य बातों में – अर्थात् कर्मफल के विषय में – नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण बात केवल अनुमान पर ही अवलंबित नहीं रख दी है;

क्योंकि दूसरे चरण में भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि तेरा अधिकार कर्मफल के विषय में कुछ भी नहीं है। अर्थात् किसी कर्म का फल मिलना – न मिलना तेरे अधिकार की बात नहीं है। वह सृष्टि के कर्मविपाक पर या ईश्वर पर अवलम्बित है। फिर जिस बात में हमारा अधिकार ही नहीं है उसके विषय में आशा करना – कि वह अमुक प्रकार हो – केवल मूर्खता का लक्षण है; परन्तु यह तीसरी बात भी अनुमान पर अवलम्बित नहीं है। तीसरे चरण में कहा गया है, कि इसलिये तू कर्म-फल की आशा रख कर किसी भी काम को मत कर। क्योंकि, कर्मविपाक के अनुसार तेरे कर्मों का जो फल होना होगा वह अवश्य होगा ही। तेरी इच्छा से उसमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो सकती; और उसके देरी से या जल्दी से हो जाने ही की सम्भावना है। परन्तु यदि तू ऐसी आशा रखेगा या आग्रह करेगा तो तुझे केवल व्यर्थ दुःख ही मिलेगा। अब यहाँ कोई कोई – विशेषतः संन्यासमार्गी पुरुष – प्रश्न करेंगे, कि कर्म करके फलाशा छोड़ने के झगड़े में पड़ने की अपेक्षा कर्माचरण को ही छोड़ देना क्या अच्छा नहीं होगा? इसलिये भगवान् ने अन्त में अपना निश्चित मत भी बतला दिया है कि कर्म न करने का (अकर्मणि) तू हठ मत कर। तेरा जो अधिकार है उसके अनुसार – परन्तु फलाशा छोड़ कर – कर्म करता जा। कर्मयोग की दृष्टि से ये सब सिद्धान्त इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उक्त श्लोकों के चारों चरणों को यदि हम कर्मयोगशास्त्र या गीताधर्म के चतुःसूत्र भी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यह मालूम हो गया कि इस संसार में सुख-दुःख हमेशा क्रम से मिला करते हैं; और यहाँ सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा अधिक है। ऐसी अवस्था में भी जब यह सिद्धान्त बतलाया जाता है कि सांसारिक कर्मों को छोड़ नहीं देना चाहिये तब कुछ लोगों की यह समझ हो सकती है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति करने – और अत्यन्त सुख प्राप्त करने – के सब मानवी प्रयत्न व्यर्थ हैं। और, केवल आधिभौतिक अर्थात् इन्द्रियगम्य बाह्य विषयोपभोगरूपी सुखों को ही देखें तो यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी यह समझ ठीक नहीं है। सच है यदि कोई बालक पूर्णचन्द्र को पकड़ने के लिये हाथ फैलावे तो जैसे आकाश का चन्द्रमा उस के हाथ में कभी नहीं आता उसी तरह आत्यन्तिक सुख की आशा रख कर केवल आधिभौतिक सुख के पीछे लगे रहने से आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति कभी नहीं होगी। परन्तु स्मरण रहे आधिभौतिक सुख ही समस्त प्रकार के सुखों का भाण्डार नहीं है। इसलिये उपर्युक्त कठिनाई में भी आत्यन्तिक और नित्य सुख-प्राप्ति का मार्ग ढूँढ लिया जा सकता है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि सुखों के दो भेद हैं – एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। शरीर अथवा इन्द्रियों के व्यापारों की अपेक्षा मन को ही अन्त में अधिक महत्त्व देना पड़ता है। ज्ञानी पुरुष जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं कि शारीरिक (अर्थात् आधि

भौतिक) सुख की अपेक्षा मानसिक सुख की योग्यता अधिक है उसे वे कुछ अपने ज्ञान की घमण्ड से नहीं बतलाते। प्रसिद्ध आधिभौतिकवादी मिल ने भी अपने उपयुक्ततावादविषयक ग्रन्थ में साफ़ साफ़ मंज़ूर किया है* कि उक्त सिद्धान्त में ही श्रेष्ठ मनुष्यजन्म की सच्ची सार्थकता और महत्ता है। कुत्ते, सूअर और बैल इत्यादि को भी इन्द्रियसुख का आनन्द मनुष्यों के समान ही होता है और मनुष्य की यदि यह समझ होती, कि संसार में सच्चा सुख विषयोपभोग ही है तो मनुष्य पशु बनने पर भी राज़ी हो गया होता। परन्तु पशुओं के सब विषय-सुखों के नित्य मिलने का अवसर आने पर भी कोई मनुष्य पशु होने को राज़ी नहीं होता। इससे यही विदित होता है कि मनुष्य और पशु में कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य है। इस विशेषता को समझने के लिये, उस आत्मा के स्वरूप का विचार करना पड़ता है जिसे मन और बुद्धि द्वारा स्वयं अपना और बाह्यसृष्टि का ज्ञान होता है और, ज्योंही यह विचार किया जायगा त्योंही स्पष्ट मालूम हो जायगा कि पशु और मनुष्य के लिये विषयोपभोग-सुख तो एक ही सा है; परन्तु इसकी अपेक्षा मन और बुद्धि के अत्यन्त उदात्त व्यापार में तथा शुद्धावस्था में जो सुख है वही मनुष्य का श्रेष्ठ और आत्यन्तिक सुख है। यह सुख आत्मवश है इसकी प्राप्ति किसी बाह्यवस्तु पर अवलम्बित नहीं है इसकी प्राप्ति के लिये दूसरों के सुख को न्यून करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है। यह सुख अपने ही प्रयत्न से हमी को मिलता है। और ज्यों ज्यों हमारी उन्नति होती जाती है त्यों त्यों इस सुख का स्वरूप भी अधिकाधिक शुद्ध और निर्मल होता चला जाता है। भर्तृहरि ने सच कहा है कि "मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः" – मन के प्रसन्न होने पर क्या दरिद्रता और क्या अमीरी दोनो समान ही हैं। प्लेटो नामक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता ने भी यह प्रतिपादन किया है कि शारीरिक (अर्थात् बाह्य आधिभौतिक) सुख की अपेक्षा मन का सुख श्रेष्ठ है और मन के सुखों से भी बुद्धिग्राह्य (अर्थात् परम आध्यात्मिक) सुख अत्यन्त श्रेष्ठ है।‡ इसलिये यदि हम अभी मोक्ष के विचार को छोड़ दें तो भी यही सिद्ध होता है कि जो बुद्धि आत्मविचार में निमग्न हो उसे ही परम सुख मिल सकता है। इसी कारण भगवद्गीता में सुख के (सात्त्विक, राजस और तामस) तीन भेद किये गये हैं और इनका लक्षण भी बतलाया गया है।

* "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool, or the pig, is of a different opinion, it is because they only know their own side of the question." *Utilitarianism* p 14 (Longmans 1907).

‡ *Republic Book* IX.

यथा :– आत्मनिष्ठ बुद्धि (अर्थात् सब भूतों में एक ही आत्मा को जान कर, आत्मा के उसी सच्चे स्वरूप में रत होनेवाली बुद्धि) की प्रसन्नता से जो आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है वही श्रेष्ठ और सात्त्विक सुख है – "तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं आत्म-बुद्धि प्रसादजम्" (गी १८ ३७) जो आधिभौतिक सुख इन्द्रियों से और इन्द्रियों के विषयों से होता है वे सात्त्विक सुखों से कम दर्जे के होते हैं, और राजस कहलाते हैं (गी १८ ३८)। और जिस सुख से चित्त को मोह होता है, तथा जो सुख, निद्रा या आलस्य से उत्पन्न होता है उसकी योग्यता तामस अर्थात् कनिष्ठ श्रेणी की है। इस प्रकरण के आरम्भ में गीता का जो श्लोक दिया है उसका यही तात्पर्य है। और गीता (६ २२) में कहा है कि इस परम सुख का अनुभव मनुष्य को यदि एक बार भी हो जाता है तो फिर उसकी यह सुखमय स्थिति कभी नहीं डिगने पाती। कितने ही भारी दुःख के जबरदस्त धक्के क्यों न लगते रहें यह आत्यन्तिक सुख स्वर्ग के भी विषयोपभोगसुख में नहीं मिल सकता। इसे पाने के लिये पहले अपनी बुद्धि प्रसन्न होनी चाहिये। जो मनुष्य बुद्धि को प्रसन्न करने की युक्ति को बिना सोचे-समझे केवल विषयोपभोग में ही निमग्न हो जाता है उसका सुख अनित्य और क्षणिक होता है। इसका कारण यह है कि जो इन्द्रिय सुख आज है वह कल नहीं रहता। इतना ही नहीं किन्तु जो बात हमारी इन्द्रियों को आज सुखकारक प्रतीत होती है वही किसी कारण से दूसरे दिन दुःखमय हो जाती है। उदाहरणार्थ ग्रीष्म ऋतु में जो ठण्डा पानी हमें अच्छा लगता है वही शीतकाल में अप्रिय हो जाता है। अस्तु इतना करने पर भी उससे सुखेच्छा की पूर्ण तृप्ति होने ही नहीं पाती। इसलिये सुख शब्द का व्यापक अर्थ ले कर यदि हम उस शब्द का उपयोग सभी प्रकार के सुखों के लिये करें तो हमें सुख-सुख में भी भेद करना पड़ेगा। नित्य व्यवहार में सुख का अर्थ मुख्यतः इन्द्रियसुख ही होता है। परन्तु जो इन्द्रियातीत है अर्थात् जो केवल आत्मनिष्ठ बुद्धि को ही प्राप्त हो सकता है उसमें और विषयोपभोग रूपी सुख में जब भिन्नता प्रकट करनी हो तब आत्मबुद्धि-प्रसाद से उत्पन्न होनेवाले सुख को – अर्थात् आध्यात्मिक सुख को – श्रेय कल्याण हित आनन्द अथवा शान्ति कहते हैं और विषयोपभोग से होनेवाले आधिभौतिक सुख को केवल सुख या प्रेय कहते हैं। पिछले प्रकरण के अन्त में दिये हुए कठोपनिषद के वाक्य में प्रेय और श्रेय में नचिकेता ने जो भेद बतलाया है उसका भी अभिप्राय यही है। मृत्यु ने उसे अग्नि का रहस्य पहले ही बतला दिया था। परन्तु इस सुख के मिलने पर भी जब उसने आत्मज्ञान-प्राप्ति का वर माँगा तब मृत्यु ने उसके बदले में उसे अनेक सांसारिक सुखों का लालच दिखलाया। परन्तु नचिकेता इन अनित्य आधिभौतिक सुखों को कल्याणकारक नहीं समझता था। क्योंकि ये (प्रेय) सुख बाहरी दृष्टि से अच्छे हैं पर आत्मा के श्रेय के लिये नहीं। इसी लिये उसने उन सुखों की ओर ध्यान नहीं दिया। किन्तु उस आत्मविद्या की

प्राप्ति के लिये ही हठ किया, जिसका परिणाम आत्मा के लिये श्रेयस्कर या कल्याण-कारक है, और उसे अन्त में पाकर ही छोड़ा। सारांश यह है कि आत्मबुद्धि-प्रसाद से होनेवाले केवल बुद्धिगम्य सुख को – अर्थात् आध्यात्मिक सुख को – ही हमारे शास्त्रकार श्रेष्ठ सुख मानते हैं। और उनका कथन है कि यह नित्य आत्मवश है इसलिये सभी को प्राप्त हो सकता है तथा सब लोगों को चाहिये, कि वे इसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करें। पशु-धर्म से होनेवाले सुख में, और मानवी सुख में जो कुछ विशेषता या विलक्षणता है वह यही है और यह आत्मानन्द केवल बाह्य उपाधियोंपर कभी निर्भर न होने के कारण सब सुखों में नित्य, स्वतन्त्र और श्रेष्ठ है। *इसी को गीता में निर्वाण, अर्थात् परम शान्ति कहा है* (गी. ६. १५) और यही स्थितप्रज्ञों की ब्राह्मी अवस्था की परमावधि का सुख है (गी. २. ७१; ६. २८; १२. १२; १८. ६२ देखो)।

अब इस बात का निर्णय हो चुका कि आत्मा की शान्ति या सुख ही अत्यन्त श्रेष्ठ है और वह आत्मवश होने के कारण सब लोगों को प्राप्य भी है। परन्तु यह प्रकट है कि यद्यपि सब धातुओं में सोना अधिक मूल्यवान् है तथापि केवल सोने से ही – लोहा इत्यादि अन्य धातुओं के बिना – जैसे संसार का काम नहीं चल सकता अथवा जैसे केवल शक्कर से ही – बिना नमक के – काम नहीं चल सकता, उसी तरह आत्मसुख या शान्ति को भी समझना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि इस शान्ति के साथ – शरीर धारण के लिये ही सही – कुछ सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता है और इसी अभिप्राय से आशीर्वाद के संकल्प में केवल 'शान्तिरस्तु' न कह कर 'शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु' – कि शान्ति के साथ पुष्टि और तुष्टि भी चाहिये – कहने की रीति है। यदि शास्त्रकारों की यह समझ होती कि केवल शान्ति से ही तुष्टि हो जा सकती है तो इस संकल्प में 'पुष्टि' शब्द को व्यर्थ घुसेड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसका यह मतलब नहीं है कि पुष्टि – अर्थात् ऐहिक सुखों की वृद्धि के लिये रात-दिन हाय हाय करते रहो। उक्त संकल्प का भावार्थ यही है कि तुम्हें शान्ति, पुष्टि और तुष्टि (सन्तोष) तीनों उचित परिमाण से मिलें और इनकी प्राप्ति के लिये तुम्हें यत्न भी करना चाहिये। कठोपनिषद् का भी यही तात्पर्य है। नचिकेता जब मृत्यु के अर्थात् यम के लोक में गया तब यम ने उससे कहा कि तुम कोई भी तीन वर माँग लो। उस समय नचिकेता ने एकदम यह वर नहीं माँगा कि मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करो। किन्तु उसने कहा कि 'मेरे पिता मुझपर अप्रसन्न हैं, इसलिये प्रथम वर आप मुझे यही दीजिये कि वे मुझपर प्रसन्न हो जावें।' अनन्तर उसने दूसरा वर माँगा कि 'अग्नि के – अर्थात् ऐहिक समृद्धि प्राप्त करा देनेवाले यज्ञ आदि कर्मों के – ज्ञान का उपदेश करो।' इन दोनों वरों को प्राप्त करके अन्त में उसने तीसरा वर यह माँगा कि 'मुझे आत्मविद्या का उपदेश करो।' परन्तु जब यमराज कहने लगे कि इस तीसरे वर के बदले में तुझे और भी अधिक सम्पत्ति देता हूँ

तब – अर्थात् प्रेय (सुख) की प्राप्ति के लिये आवश्यक यज्ञ आदि कर्मों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उसी की अधिक आशा न करके – नचिकेता ने इस बात का आग्रह किया कि अब मुझे श्रेय (आत्यन्तिक सुख) की प्राप्ति करा देनेवाले ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश करो। सारांश यह है कि इस उपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में जो वर्णन है उसके अनुसार 'ब्रह्मविद्या' और 'योगविधि' (अर्थात् यज्ञ-याग आदि कर्म) दोनों को प्राप्त करके नचिकेता मुक्त हो गया है (कठ ६. १८)। इससे ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही इस उपनिषद् का तात्पर्य मालूम होता है। इसी विषय पर इन्द्र की भी एक कथा है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया है, कि इन्द्र तो स्वयं *ब्रह्मज्ञानी था ही, परन्तु उसने प्रतर्दन को भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था।* तथापि जब इन्द्र का राज्य छिन लिया गया और प्रह्लाद को त्रैलोक्य का आधिपत्य मिला, तब उसने देवगुरु बृहस्पति से पूछा कि 'मुझे बतलाइये कि श्रेय किस में है?' तब बृहस्पति ने राज्यभ्रष्ट इन्द्र को ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञान का उपदेश करके कहा कि 'श्रेय इसी में है' – एतावच्छ्रेय इति – परन्तु इससे इन्द्र का समाधान नहीं हुआ। उसने फिर प्रश्न किया 'क्या और भी कुछ अधिक है?' – को विशेषो भवेत्? – तब बृहस्पति ने उसे शुक्राचार्य के पास भेजा। वहाँ भी वही हाल हुआ और शुक्राचार्य ने कहा कि 'प्रह्लाद को वह विशेषता मालूम है।' तब अन्त में इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके प्रह्लाद का शिष्य बन कर सेवा करने लगा। एक दिन प्रह्लाद ने उससे कहा कि शील (सत्य तथा धर्म से चलने का स्वभाव) ही त्रैलोक्य का राज्य पाने की कुंजी है और यही श्रेय है। अनन्तर, जब प्रह्लाद ने कहा कि 'मैं तेरी सेवा से प्रसन्न हूँ, तू वर माँग,' तब ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र ने यही वर माँगा कि 'आप अपना शील मुझे दीजिये।' प्रह्लाद के 'तथास्तु' कहते ही उसके 'शील' के साथ धर्म, सत्य, वृत्त, श्री अथवा ऐश्वर्य आदि सब देवता उसके शरीर से निकल कर इन्द्र-शरीर में प्रविष्ट हो गये। फलतः इन्द्र अपना राज्य पा गया। यह प्राचीन कथा भीष्म ने युधिष्ठिर से महाभारत के शान्तिपर्व (शां. १२४) में कही है। इस सुन्दर कथा से हमें यह बात साफ़ मालूम हो जाती है कि केवल ऐश्वर्य की अपेक्षा केवल आत्मज्ञान की योग्यता भले अधिक हो जाती है, परन्तु जिसे इस संसार में रहना है उसको अन्य लोगों के समान ही अपने लिये तथा अपने देश के लिये ऐहिक समृद्धि प्राप्त कर लेने की आवश्यकता और नैतिक हक़ भी है। इसलिये जब यह प्रश्न उठे, कि इस संसार में मनुष्य का सर्वोत्तम ध्येय परम उद्देश क्या है? तो हमारे कर्मयोगशास्त्र में अन्तिम उत्तर यही मिलता है कि शान्ति और पुष्टि, प्रेय और श्रेय अथवा ज्ञान और ऐश्वर्य दोनों को एक साथ प्राप्त करो। सोचने की बात है कि जिन भगवान् से बढ़ कर संसार में कोई श्रेष्ठ नहीं और जिनके दिखलाये हुए मार्ग में अन्य सभी लोग चलते हैं (गी. ३. २३) उन भगवान् ने ही क्या ऐश्वर्य और सम्पत्ति को छोड़ दिया है?

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

अर्थात् 'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, सम्पत्ति, ज्ञान और वैराग्य इन छः बातों को 'भग' कहते हैं'। भग शब्द की ऐसी व्याख्या पुराणों में है (विष्णु ६ ५ ७४)। कुछ लोग इस श्लोक के ऐश्वर्य शब्द का अर्थ 'योगैश्वर्य' किया करते हैं। क्योंकि श्री अर्थात् सम्पत्तिसूचक शब्द आगे आया है। परन्तु व्यवहार में ऐश्वर्य शब्द में सत्ता, यश और सम्पत्ति का, तथा ज्ञान में वैराग्य और धर्म का समावेश हुआ करता है। इससे हम बिना किसी बाधा के कह सकते हैं कि लौकिक दृष्टि से उक्त श्लोक का सब अर्थ ज्ञान और ऐश्वर्य इन्हीं दो शब्दों से व्यक्त हो जाता है। और जबकि स्वयं भगवान् ने ही ज्ञान और ऐश्वर्य को अंगीकार किया है, तब हमें भी अवश्य करना चाहिये (गी ३ २१ म भा शां. ३४१ २५)। कर्मयोगमार्ग का सिद्धान्त यह कदापि नहीं कि कोरा आत्मज्ञान ही इस संसार में परम साध्य वस्तु है। यह तो संन्यासमार्ग का सिद्धान्त है जो कहता है कि संसार दुःखमय है इसलिये उसको एकदम छोड़ ही देना चाहिये। भिन्न भिन्न मार्गों के इन सिद्धान्तों को एकत्र करके गीता के अर्थ का अनर्थ करना उचित नहीं है। स्मरण रहे गीता का कथन है कि ज्ञान के बिना केवल ऐश्वर्य सिवा आसुरी सम्पत् के और कुछ नहीं है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि ऐश्वर्य के साथ ज्ञान और ज्ञान के साथ ऐश्वर्य अथवा शान्ति के साथ पुष्टि हमेशा होनी चाहिये। ऐसा कहने पर, कि ज्ञान के साथ ऐश्वर्य होना अत्यावश्यक है; कर्म करने की आवश्यकता आप-ही-आप उत्पन्न होती है। क्योंकि मनु का कथन है कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते (मनु. ९ ३) – कर्म करनेवाले पुरुष को ही इस जगत् में श्री अथवा ऐश्वर्य मिलता है, और प्रत्यक्ष अनुभव से भी यही बात सिद्ध होती है एवं गीता में जो उपदेश अर्जुन को दिया गया है वह भी ऐसा ही है (गी ३ ८)। इस पर कुछ लोगों का कहना है कि मोक्ष की दृष्टि से कर्म की आवश्यकता न होने के कारण अन्त में – अर्थात् ज्ञानोत्तर अवस्था में – सब कर्मों को छोड़ देना ही चाहिये। परन्तु यहाँ तो केवल सुख दुःख का विचार करना है। और अब तक मोक्ष तथा कर्म के स्वरूप की परीक्षा भी नहीं की गई है इसलिये उक्त आक्षेप का उत्तर यहीं नहीं दिया जा सकता। आगे नौवें तथा दसवें प्रकरण में अध्यात्म और कर्मविपाक का स्पष्ट विवेचन कर के ग्यारहवें प्रकरण में बतला दिया जायगा कि यह आक्षेप भी बेसिर-पैर का है।

सुख और दुःख दो भिन्न तथा स्वतन्त्र वेदनाएँ हैं। सुखेच्छा केवल सुखोपभोग से ही तृप्त नहीं हो सकती। इसलिये संसार में बहुधा दुःख का ही अधिक अनुभव होता है। परन्तु इस दुःख को टालने के लिये तृष्णा या असन्तोष और सब कर्मों का भी समूल नाश करना उचित नहीं। उचित यही है कि फलाशा छोड़ कर सब कर्मों

छठवाँ प्रकरण

आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्। *

— मनु ६.४६

कर्म-अकर्म की परीक्षा करने का – आधिभौतिक मार्ग के अतिरिक्त – दूसरा पन्थ आधिदैवतवादियों का है। इस पन्थ के लोगों का यह कथन है कि जब कोई मनुष्य कर्म-अकर्म का या कार्य-अकार्य का निर्णय करता है, तब वह इस झगड़े में नहीं पड़ता कि किस कर्म से कितना सुख अथवा दुःख होगा अथवा उनमें से सुख का जोड़ अधिक होगा या दुःख का। वह आत्म-अनात्म-विचार के झंझट में भी नहीं पड़ता; और ये झगड़े बहुतेरों की तो समझ में भी नहीं आते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक प्राणी प्रत्येक कर्म को केवल अपने सुख के लिये ही करता है। आधिभौतिकवादी कुछ भी कहें परन्तु यदि इस बात का थोड़ासा विचार किया जाय कि धर्म-अधर्म का निर्णय करते समय मनुष्य के मन की स्थिति कैसी होती है तो यह ध्यान में आ जायगा कि मन की स्वाभाविक और उदात्त मनोवृत्तियाँ – करुणा, दया, परोपकार आदि – ही किसी काम को करने के लिये मनुष्य को एकाएक प्रवृत्त किया करती हैं। उदाहरणार्थ जब कोई भिखारी दील पड़ता है; तब मन में यह विचार आने के पहले ही – कि दान करने से जगत् का अथवा अपनी आत्मा का कितना हित होगा – मनुष्य के हृदय में करुणावृत्ति जाग्रत हो जाती है और वह अपनी शक्ति के अनुसार उस याचक को कुछ दान कर देता है। इसी प्रकार जब बालक रोता है तब माता उसे दूध पिलाते समय इस बात का कुछ भी विचार नहीं करती कि बालक को पिलाते समय इस बात का कितना हित होगा। अर्थात् ये उदात्त मनोवृत्तियाँ ही कर्मयोगशास्त्र की यथार्थ नींव है। हमें किसी ने ये मनोवृत्तियाँ दी नहीं हैं; किन्तु ये निसर्गसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक अथवा स्वयंभू देवता ही हैं। जब न्यायाधीश न्यायासन पर बैठता है तब उसकी बुद्धि में न्यायदेवता की प्रेरणा हुआ करती है और वह उसी प्रेरणा के अनुसार न्याय किया करता है। परन्तु जब कोई न्यायाधीश इस प्रेरणा का अनादर करता है तभी उससे अन्याय हुआ करते हैं। न्यायदेवता के सदृश ही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्तव्य-प्रेम, धैर्य आदि सद्गुणों की जो स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ हैं वे भी देवता हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः इन देवताओं के शुद्ध स्वरूप से परिचित रहता है। परन्तु यदि

* वही वाक्य बोलना चाहिये जो सत्यपूत अर्थात् शुद्ध किया गया हो, और वही आचरण करना चाहिये जो मन को शुद्ध मालूम हो।

लोभ, द्वेष, मत्सर आदि कारणों से यदि इन देवताओं की परवाह न करे, तो अब देवता क्या करें? यह बात सच है, कि कई बार देवताओं में भी विरोध उत्पन्न हो जाता है। और तब कोई कार्य करते समय हमें इस का सन्देह हो, उसका निर्णय करने के लिये न्याय, करुणा आदि देवताओं के अतिरिक्त किसी दूसरे की सलाह लेना आवश्यक जान पड़ता है। परन्तु ऐसे अवसर पर अध्यात्मविचार अथवा सुख-दुःख की न्यूनाधिकता के झगड़े में न पड़ कर यदि हम अपने मनोदेव की गवाही लें, तो वह एकदम इस बात का निर्णय कर देता है, कि इन दोनों में से कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है। यही कारण है कि उक्त सब देवताओं में मनोदेव श्रेष्ठ है। 'मनोदेवता' शब्द में इच्छा, क्रोध, लोभ सभी मनोविकारों को शामिल नहीं करना चाहिये। किन्तु इस शब्द से मन की वह ईश्वरदत्त और स्वाभाविक शक्ति ही अभीष्ट है कि जिसकी सहायता से भले-बुरे का निर्णय किया जाता है। इसी शक्ति का एक बड़ा भारी नाम 'सदसद्विवेक-बुद्धि'* है। यदि किसी सन्देह-ग्रस्त अवसर पर मनुष्य स्वस्थ अन्तःकरण से और शान्ति के साथ विचार करे, तो यह सदसद्विवेक-बुद्धि कभी उसको धोखा नहीं देगी। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे मौकों पर हम दूसरों से यही कहा करते हैं, कि तुम अपने मन से पूछो। इस बड़े देवता के पास एक सूची हमेशा मौजूद रहती है। उसमें यह लिखा होता है, कि किस सद्गुण को किस समय कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये। यह मनोदेवता समय समय पर इसी सूची के अनुसार अपना निर्णय प्रकट किया करता है। मान लीजिये किसी समय आत्मरक्षा और अहिंसा में विरोध उत्पन्न हुआ और यह शंका उपस्थित हुई कि दुर्भिक्ष के समय अभक्ष्य भक्षण करना चाहिये या नहीं? तब इस संशय को दूर करने के लिये यदि हम शान्त चित्त से इस मनोदेवता की मिन्नत करें, तो उसका यही निर्णय प्रकट होगा कि 'अभक्ष्य भक्षण करो'। इसी प्रकार यदि कभी स्वार्थ और परार्थ अथवा परोपकार के बीच विरोध हो जाय, तो उसका निर्णय भी इस मनोदेवता को मना कर करना चाहिये। मनोदेवता के घर की – धर्म अधर्म के न्यूनाधिक भाव की – यह सूची एक ग्रन्थकार को शान्तिपूर्वक विचार करने से उपलब्ध हुई है, जिसे उसने अपने ग्रन्थ में प्रकाशित किया है।† इस सूची में नम्रतायुक्त पूज्यभाव को पहला अर्थात् अत्युच्च स्थान दिया गया है और उसके बाद करुणा, कृतज्ञता, उदारता, वात्सल्य आदि भावों को क्रमशः नीचे की श्रेणियों में शामिल किया है। इस ग्रन्थकार

---

* इस सदसद्विवेक-बुद्धि को ही अंग्रेजी में Conscience कहते हैं और आधिदैवतपक्ष Intuitionist School कहलाता है।

† इस ग्रन्थकार का नाम James Martineau (जेम्स मार्टिनो) है। इसने यह सूची अपने *Types of Ethical Theory* (Vol. II p. 266. 3rd Ed.) नामक ग्रन्थ में दी है। मार्टिनो अपने पन्थ को Idio-psychological कहता है। परन्तु हम उसे आधिदैवतपक्ष ही में शामिल करते हैं।

को करते रहना चाहिये। केवल विषयोपभोग-सुख कभी पूर्ण होनेवाला नहीं। वह अनित्य पशुधर्म है। अतएव इस संसार में बुद्धिमान् मनुष्य का सच्चा ध्येय इस अनित्य पशुधर्म से ऊँचे दर्जे का होना चाहिये। आत्मबुद्धि प्रसाद से प्राप्त होनेवाला शान्ति-सुख ही वह सच्चा ध्येय है; परन्तु आध्यात्मिक सुख ही यद्यपि इस प्रकार ऊँचे दर्जे का हो तथापि उसके साथ इस सांसारिक जीवन में ऐहिक वस्तुओं की भी उचित आवश्यकता है, और इसलिये सदा निष्काम-बुद्धि से प्रयत्न अर्थात् कर्म करते ही रहना चाहिये। – इतनी सब बातें जब कर्मयोगशास्त्र के अनुसार सिद्ध हो चुकी तो सब सुख की दृष्टि से भी विचार करने पर यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि आधिभौतिक सुखों को ही परम साध्य मान कर कर्मों के केवल सुख-दुःखात्मक बाह्यपरिणामों के तारतम्य से ही *नीतिमत्ता का निर्णय करना अनुचित है।* कारण यह है कि जो वस्तु कभी पूर्णावस्था को पहुँच ही नहीं सकती उसे परम साध्य कहना मानो 'परम' शब्द का दुरुपयोग करके मृगजल के स्थान में जल की खोज करना है। जब हमारा परम साध्य ही *अनित्य तथा अपूर्ण है* तब उसकी आशा में बैठे रहने से हमें अनित्य-वस्तु को छोड़ कर और मिलेगा ही क्या? 'धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये' इस वचन का मर्म भी यही है। 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' इस शब्दसमूह के 'सुख' शब्द के *अर्थ के विषय में आधिभौतिकवादियों में भी बहुत मतभेद है।* उनमें से बहुतेरों का कहना है कि बहुधा मनुष्य सब विषय-सुखों को लात मार कर केवल सत्य अथवा धर्म के लिये जान देने को तैयार हो जाता है। इससे यह *मानना अनुचित है कि मनुष्य की इच्छा सदैव आधिभौतिक सुख प्राप्ति की ही* रहती है। इसलिये इन पण्डितों ने यह सूचना की है, कि सुख शब्द के बदले में हित अथवा कल्याण शब्द की योजना करके 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' इस सूत्र का रूपान्तर *'अधिकांश लोगों का अधिक हित या कल्याण' कर देना चाहिये।* परंतु इतना करने पर भी इस मत में यह दोष बना ही रहता है कि कर्ता की बुद्धि का कुछ भी विचार नहीं किया जाता। अच्छा, यदि यह कहें कि विषय-सुखों के साथ मानसिक सुखों का भी *विचार करना चाहिये,* तो उसके आधिभौतिक पक्ष की इस पहली ही प्रतिज्ञा का विरोध हो जाता है कि किसी भी कर्म की नीतिमत्ता का निर्णय केवल उसके बाह्य-परिणामों से ही करना चाहिये और तब तो किसी-न-किसी अंश में *अध्यात्म पक्ष को स्वीकार करना ही पड़ता है। तो इसे अधूरा या अंशतः स्वीकार करने से क्या लाभ होगा?* इसी लिये हमारे कर्मयोग-शास्त्र में यह अन्तिम सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि सर्वभूतहित – अधिकांश लोगों का अधिक सुख – और मनुष्यत्व का परम उत्कर्ष इत्यादि नीतिनिर्णय के सब बाह्यसाधनों को अथवा आधिभौतिक मार्ग को गौण या अप्रधान समझना चाहिये, और आत्मप्रसाद-रूपी आत्यन्तिक सुख तथा उसी के साथ रहनेवाली कर्ता की शुद्ध-बुद्धि को ही आध्यात्मिक कसौटी मान कर उसी से कर्म अकर्म की परीक्षा करनी चाहिये। उन लोगों की बात

छोड़ दो, जिन्होंने यह कसम खा ली हो, कि हम दृश्य सृष्टि के परे तत्त्वज्ञान में प्रवेश ही न करेंगे। जिन लोगों ने ऐसी कसम खाई नहीं है उन्हें युक्ति से यह मालूम हो जायगा कि मन और बुद्धि के भी परे जा कर नित्य आत्मा के नित्य कल्याण को ही कर्मयोग-शास्त्र में प्रधान मानना चाहिये। कोई कोई भूल से समझ बैठते हैं कि वहाँ एक वेदान्त में घुसे कि बस फिर सभी कुछ ब्रह्ममय हो जाता है; और वहाँ व्यवहार की उपपत्ति का कुछ पता ही नहीं चलता। आजकल जितने वेदान्त-विषयक ग्रन्थ पढ़े जाते हैं, वे प्रायः संन्यास-मार्ग के अनुयायियों के ही लिखे हुए हैं और संन्यासमार्गवाले इस तृष्णारूपी संसार के सब व्यवहारों को निःसार समझते हैं इसलिये उनके ग्रन्थों में कर्मयोग की ठीक ठीक उपपत्ति सचमुच नहीं मिलती। अधिक क्या कहें इन परसम्प्रदाय-असहिष्णु ग्रन्थकारों ने संन्यासमार्गीय कोटिक्रम या युक्तिवाद को कर्मयोग में सम्मिलित कर के ऐसा भी प्रयत्न किया है जिससे लोग समझने लगे हैं कि कर्मयोग और संन्यास दो स्वतन्त्र मार्ग नहीं हैं; किन्तु संन्यास ही अकेला शास्त्रोक्त मोक्षमार्ग है। परन्तु यह समझ ठीक नहीं है। संन्यास-मार्ग के समान कर्मयोग-मार्ग भी वैदिक धर्म में अनादि काल से स्वतन्त्रतापूर्वक चला आ रहा है और इस मार्ग के संचालकों ने वेदान्ततत्त्वों को न छोड़ते हुए कर्म-शास्त्र की ठीक ठीक उपपत्ति भी दिखलाई है। भगवद्गीता ग्रन्थ इसी पन्थ का है। यदि गीता को छोड़ दें तो भी जान पड़ेगा कि अध्यात्म-दृष्टि से कार्य-अकार्य-शास्त्र का विवेचन करने की पद्धति ग्रीन सरीखे ग्रन्थकार द्वारा खुद इंग्लैंड में ही शुरू कर दी गई है* और जर्मनी में तो उससे भी पहले यह पद्धति प्रचलित थी। दृश्यसृष्टि का कितना ही विचार करो परन्तु जब तक यह बात ठीक मालूम नहीं हो जाती कि इस विश्वसृष्टि से इस विषय का भी विचार पूरा हो नहीं सकता कि इस संसार में मनुष्य का परम साध्य, श्रेष्ठ कर्तव्य या अन्तिम ध्येय क्या है। इसी लिये याज्ञवल्क्य का यह उपदेश है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" प्रस्तुत विषय में भी अक्षरशः उपयुक्त होता है। दृश्यजगत् की परीक्षा करने से यदि परोपकार सरीखे तत्त्व ही अन्त में निष्पन्न होते हैं तो इससे आत्मविद्या का महत्त्व कम तो होता नहीं किन्तु उलटा उससे सब प्राणियों में एक ही आत्मा के होने का एक और सबूत मिल जाता है। इस बात के लिये तो कुछ उपाय ही नहीं है कि आधिभौतिकवादी अपनी बनाई हुई मर्यादा से स्वयं बाहर नहीं जा सकते। परन्तु हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि इस संकुचित मर्यादा के परे पहुँच गई है; और इसलिये उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि से ही कर्मयोगशास्त्र की पूरी उपपत्ति दी है। इस उपपत्ति की चर्चा करने के पहले कर्म-अकर्म परीक्षा के एक और पूर्वपक्ष का भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। इसलिये अब इसी पन्थ का विवेचन किया जायगा।

---

* *Prolegomena to Ethics* Book I and Kant's *Metaphysics of Morals* (Trans. by Abbot in Kant's *Theory of Ethics*).

आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्। *

— मनु. ६.४६

कर्म-अकर्म की परीक्षा करने का – आधिभौतिक मार्ग के अतिरिक्त – दूसरा पन्थ आधिदैवतवादियों का है। इस पन्थ के लोगों का यह कथन है कि जब कोई मनुष्य कर्म अकर्म का या कार्य अकार्य का निर्णय करता है तब वह इस झगड़े में नहीं पड़ता कि किस कर्म से कितना सुख अथवा दुःख होगा अथवा उनमें से सुख का जोड़ अधिक होगा या दुःख का। वह आत्म अनात्म-विचार के झंझट में भी नहीं पड़ता और ये झगड़े बहुतेरों की तो समझ में भी नहीं आते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक प्राणी प्रत्येक कर्म को केवल अपने सुख के लिये ही करता है। आधिभौतिकवादी कुछ भी कहें परन्तु यदि इस बात का थोड़ासा विचार किया जाय कि धर्म अधर्म का निर्णय करते समय मनुष्य के मन की स्थिति कैसी होती है तो यह ध्यान में आ जायगा कि मन की स्वाभाविक और उदात्त मनोवृत्तियाँ – करुणा, दया, परोपकार आदि – ही किसी काम को करने के लिये मनुष्य को एकाएक प्रवृत्त किया करती हैं। उदाहरणार्थ जब कोई भिखारी दीख पड़ता है; तब मन में यह विचार आने के पहले ही – कि दान करने से जगत् का अथवा अपनी आत्मा का कितना हित होगा – मनुष्य के हृदय में करुणावृत्ति जागृत हो जाती है और वह अपनी शक्ति के अनुसार उस याचक को कुछ दान कर देता है। इसी प्रकार जब बालक रोता है तब माता उसे दूध पिलाते समय इस बात का कुछ भी विचार नहीं करती कि बालक को पिलाते समय इस बात का कितना हित होगा। अर्थात् ये उदात्त मनोवृत्तियाँ ही कर्मयोगशास्त्र की यथार्थ नींव हैं। हमें किसी ने ये मनोवृत्तियाँ दी नहीं हैं; किन्तु ये निसर्गसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक अथवा स्वयंभू देवता ही हैं। जब न्यायाधीश न्यायासन पर बैठता है तब उसकी बुद्धि में न्यायदेवता की प्रेरणा हुआ करती है और वह उसी प्रेरणा के अनुसार न्याय किया करता है। परन्तु जब कोई न्यायाधीश इस प्रेरणा का अनादर करता है तभी उससे अन्याय हुआ करते हैं। न्यायदेवता के सदृश ही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्तव्य-प्रेम, धैर्य आदि सद्गुणों की जो स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ हैं वे भी देवता हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः इन देवताओं के शुद्ध स्वरूप से परिचित रहता है। परन्तु यदि

---

* वही बोलना चाहिये जो सत्यपूत अर्थात् शुद्ध किया गया है; और वही आचरण करना चाहिये जो मन को शुद्ध मालूम हो।

लोभ, द्वेष, मत्सर आदि कारणों से यह इन देवताओं की परवाह न करे, तो अब देवता क्या करें? यह बात सच है, कि कई बार देवताओं में भी विरोध उत्पन्न हो जाता है। और तब कोई कार्य करते समय हमें इस का सन्देह हो निर्णय करने के लिये न्याय, करुणा आदि देवताओं के अतिरिक्त किसी दूसरे की सलाह लेना आवश्यक जान पड़ता है। परन्तु ऐसे अवसर पर अध्यात्मविचार अथवा सुख-दुःख की न्यूनाधिकता के झगड़े में न पड़ कर यदि हम अपने मनोदेव की गवाही लें, तो वह एकदम इस बात का निर्णय कर देता है कि इन दोनों में से कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है। यही कारण है कि उक्त सब देवताओं में मनोदेव श्रेष्ठ है। 'मनोदेवता' शब्द में इच्छा, क्रोध, लोभ सभी मनोविकारों को शामिल नहीं करना चाहिये। किन्तु इस शब्द से मन की वह ईश्वरदत्त और स्वाभाविक शक्ति ही अभीष्ट है कि जिसकी सहायता से भले-बुरे का निर्णय किया जाता है। इसी शक्ति का एक बड़ा भारी नाम 'सदसद्विवेक-बुद्धि'* है। यदि किसी सन्देह-ग्रस्त अवसर पर मनुष्य स्वस्थ अन्तःकरण से और शान्ति के साथ विचार करे, तो यह सदसद्विवेक-बुद्धि कभी उसको धोखा नहीं देगी। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे मौकों पर हम दूसरों से यही कहा करते हैं कि 'तुम अपने मन से पूछो।' इस बड़े देवता के पास एक सूची हमेशा मौजूद रहती है। उसमें यह लिखा होता है कि किस सद्गुण को किस समय कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये। यह मनोदेवता समय समय पर इसी सूची के अनुसार अपना निर्णय प्रकट किया करता है। मान लीजिये किसी समय आत्मरक्षा और अहिंसा में विरोध उत्पन्न हुआ और यह शंका उपस्थित हुई कि दुर्भिक्ष के समय अभक्ष्य भक्षण करना चाहिये या नहीं? तब इस संशय को दूर करने के लिये यदि हम शान्त चित्त से इस मनोदेवता की मिन्नत करें, तो उसका यही निर्णय प्रकट होगा कि 'अभक्ष्य भक्षण करो'। इसी प्रकार यदि कभी स्वार्थ और परार्थ अथवा परोपकार के बीच विरोध हो जाय, तो उसका निर्णय भी इस मनोदेवता को मना कर करना चाहिये। मनोदेवता के घर की — धर्म-अधर्म के न्यूनाधिक भाव की — यह सूची एक ग्रन्थकार को शान्तिपूर्वक विचार करने से उपलब्ध हुई है, जिसे उसने अपने ग्रन्थ में प्रकाशित किया है।† इस सूची में नम्रतायुक्त पूज्यभाव को पहला अर्थात् अत्युच्च स्थान दिया गया है, और उसके बाद करुणा, कृतज्ञता, उदारता, वात्सल्य आदि भावों को क्रमशः नीचे की श्रेणियों में शामिल किया है। इस ग्रन्थकार

---

* इस सदसद्विवेक-बुद्धि को ही अंग्रेजी में Conscience कहते हैं और आधिदैवत-पक्ष Intuitionist School कहलाता है।

† इस ग्रन्थकार का नाम James Martineau (जेम्स मार्टिनो) है। इसने यह सूची अपने *Types of Ethical Theory* (Vol. II p. 266. 3rd Ed.) नामक ग्रन्थ में दी है। मार्टिनो अपने पक्ष को Idio-psychological कहता है। परन्तु हम उसे आधिदैवत-पक्ष ही में शामिल करते हैं।

का मत है, कि जब ऊपर और नीचे की श्रेणियों के सद्गुणों में विरोध उत्पन्न हो तब ऊपर की श्रेणियों के सद्गुणों को ही अधिक मान देना चाहिये। उसके मत के अनुसार कार्य-अकार्य का अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये इसकी अपेक्षा और कोई उचित मार्ग नहीं है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि हम अत्यन्त दूरदृष्टि से यह निश्चित कर लें कि 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' किसमें है। तथापि इस न्यूनाधिक भाव में यह कहने की सत्ता या अधिकार नहीं है, कि 'जिस बात में अधिकांश लोगों का सुख हो वही तू कर।' इस लिये अन्त में इस प्रश्न का निर्णय ही नहीं होता कि 'जिसमें अधिकांश लोगों का हित है, वह बात मैं क्यों करूँ ?' और सारा झगड़ा ज्यों-का त्यों बना रहता है। राजा से बिना अधिकार प्राप्त किये ही जब कोई न्यायाधीश न्याय करता है तब उसके निर्णय की जो दशा होती है ठीक वही दशा उस कार्य-अकार्य के निर्णय की भी होती है जो दूरदृष्टिपूर्वक सुखदुःखों का विचार करके किया जाता है। केवल दूरदृष्टि यह बात किसी से नहीं कह सकती कि 'तू यह कर, तुझे यह करना ही चाहिये।' इसका कारण यही है कि कितनी भी दूरदृष्टि हो तो भी वह मनुष्यकृत ही है और इसी कारण वह अपना प्रभाव मनुष्यों पर नहीं जमा सकती। ऐसे समय पर आज्ञा करनेवाला हम से श्रेष्ठ कोई अधिकारी अवश्य होना चाहिये। और यह काम ईश्वरदत्त सदसद्विवेकबुद्धि ही कर सकती है। क्योंकि वह मनुष्य की अपेक्षा श्रेष्ठ अतएव मनुष्य पर अपना अधिकार जमाने में समर्थ है। यह सदसद्विवेकबुद्धि या 'देवता' स्वयंभू है। इसी कारण व्यवहार में यह कहने की रीति पड़ गई है कि मेरा 'मनोदेव अमुक प्रकार की गवाही नहीं देता।' जब कोई मनुष्य एक-आध बुरा काम कर बैठता है तब पश्चात्ताप से वही स्वयं लज्जित हो जाता है और उसका मन उसे हमेशा टोंकता रहता है। यह भी उपर्युक्त देवता के शासन का ही फल है। इस बात से स्वतंत्र मनोदेवता का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कारण कि आधिदैवत पन्थ के मतानुसार यदि उपर्युक्त सिद्धान्त न माना जाय तो इस प्रश्न की उपपत्ति नहीं हो सकती कि हमारा मन हमें क्यों टोंका करता है।

ऊपर दिया हुआ वृत्तान्त पश्चिमी आधिदैवत पन्थ के मत का है। पश्चिमी देशों में इस पन्थ का प्रचार विशेषतः ईसाई धर्मोपदेशकों ने किया है। उनके मत के अनुसार धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये केवल आधिभौतिक साधनों की अपेक्षा यह ईश्वरदत्त साधन सुलभ, श्रेष्ठ एवं ग्राह्य है। यद्यपि हमारे देश में प्राचीन काल में कर्मयोगशास्त्र का ऐसा कोई स्वतन्त्र पन्थ नहीं था तथापि उपर्युक्त मत हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कई जगह पाया जाता है। महाभारत में अनेक स्थानोंपर मन की भिन्न भिन्न वृत्तियों को देवताओं का स्वरूप दिया गया है। पिछले प्रकरण में यह बतलाया भी गया है कि धर्म, सत्य, वृत्त, शील और श्री आदि देवताओं ने प्रह्लाद के शरीर को छोड़ कर इन्द्र के शरीर में कैसे प्रवेश किया। कार्य-अकार्य का अथवा

धर्म-अधर्म का निर्णय करनेवाले देवता का नाम भी 'धर्म' ही है। ऐसे वर्णन पाये जाते हैं कि शिबि राजा के सत्त्व की परीक्षा करने के लिये श्येन का रूप धर कर, और युधिष्ठिर की परीक्षा लेने के लिये प्रथम यक्षरूप से तथा दूसरी बार कुत्ता बन कर, धर्मराज प्रकट हुए थे। स्वयं भगवद्गीता (१०. ३४) में भी कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा ये सब देवता माने गये हैं। इनमें से स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मन के धर्म हैं। मन भी एक देवता है; और परब्रह्म का प्रतीक मान कर, उपनिषदों में उसकी उपासना भी बतलाई गई है (तै. ३. ४; छां. ३. १८)। जब मनुजी कहते हैं, कि "मनःपूतं समाचरेत्" (६. ४६) – मन को जो पवित्र मालूम हो, वही करना चाहिये – तब यही बोध होता है कि उन्हें 'मन' शब्द से मनोदेवता ही अभिप्रेत है। साधारण व्यवहार में हम यही कहा करते हैं, कि जो मन को अच्छा मालूम हो, वही करना चाहिये। मनुजी ने मनुसंहिता के चौथे अध्याय (४. १६१) में यह बात विशेष स्पष्ट कर दी है कि –

> यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
> तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

"वह कर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये जिसके करने से हमारा अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो; और जो कर्म इसके विपरीत हो उसे छोड़ देना चाहिये।" इसी प्रकार चातुर्वर्ण्य-धर्म आदि व्यावहारिक नीति के मूलतत्त्वों का उल्लेख करते समय मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृति-ग्रन्थकार भी कहते हैं –

> वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
> एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

"वेद, स्मृति, शिष्टाचार और अपने आत्मा को प्रिय मालूम होना – ये धर्म के चार मूलतत्त्व हैं" (मनु. २. १२)। "अपने आत्मा को जो प्रिय मालूम हो" – इस का अर्थ यही है कि मन को शुद्ध मालूम हो। इससे स्पष्ट होता है, कि श्रुति, स्मृति और सदाचार से जिस बात की धर्म्यता या अधर्म्यता का निर्णय नहीं हो सकता था उसके निर्णय करने का चौथा साधन 'मनःपूतता' समझी जाती थी। पिछले प्रकरण में कही गई प्रह्लाद और इन्द्र की कथा समाप्त करने पर 'शील' के लक्षण के विषय में, धृतराष्ट्र ने महाभारत में यह कहा है –

> यदन्येषां हितं न स्यात् आत्मनः कर्म पौरुषम्।
> अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथंचन॥

अर्थात् "हमारे जिस कर्म से लोगों का हित नहीं हो सकता अथवा जिसके करने में स्वयं अपने ही को लज्जा मालूम होती है, वह कभी नहीं करना चाहिये" (म. भा. शां. १२४. ६६)। इससे पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी, कि "लोगों का हित नहीं हो सकता" और "लज्जा मालूम होती है" इन दो पदों से अधिदैवत

लोगों का अधिक हित' और 'मनोदेवता' इन दोनों पक्षों का इस श्लोक में एक साथ कैसा उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति (१२. ३७) में भी कहा गया है कि जिस कर्म करने में लज्जा मालूम नहीं होती – एवं अन्तरात्मा सन्तुष्ट होता है – वह सात्त्विक है। धम्मपद नामक बौद्धग्रन्थ (६७ और ६८) में भी इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं। कालिदास भी यही कहते हैं कि जब कर्म-अकर्म का निर्णय करने में कुछ सन्देह हो, तब –

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

सत्पुरुष लोग अपने अन्तःकरण ही की गवाही को प्रमाण मानते हैं" (शाकुं. १. २२)। पातञ्जल योग इसी बात की शिक्षा देता है कि चित्तवृत्तियों का निरोध करके मन को किसी एक ही विषय पर कैसे स्थिर करना चाहिये; और यह योगशास्त्र हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। अतएव जब कभी धर्माधर्म के विषय में कुछ सन्देह उत्पन्न हो, तब हम लोगों को किसी से यह न सिखाये जाने की आवश्यकता है कि 'अन्तःकरण को स्वस्थ और शान्त करने से जो उचित मालूम हो वही करना चाहिये'। सब स्मृति-ग्रन्थों के आरम्भ में इस प्रकार के वचन मिलते हैं कि स्मृतिकार ऋषि अपने मन को एकाग्र करके ही धर्म-अधर्म बतलाया करते थे (मनु. १. १)। यों ही देखने से तो 'किसी काम में मन की गवाही लेना' यह मार्ग अत्यन्त सुगम प्रतीत होता है। परन्तु जब हम तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगते हैं कि 'शुद्ध मन' किसे कहना चाहिये, तब यह सरल पन्थ अन्त तक काम नहीं दे सकता। और यही कारण है कि हमारे शास्त्रकारों ने कर्मयोगशास्त्र की इमारत इस कच्ची नींव पर खड़ी नहीं की है। अब इस बात का विचार करना चाहिये कि यह तत्त्वज्ञान कौन-सा है। परन्तु इसका विवेचन करने के पहले यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि पश्चिमी आधिभौतिकवादियों ने इस आधिदैवतपक्ष का किस प्रकार खण्डन किया है। कारण यह है कि यद्यपि इस विषय में आध्यात्मिक और आधिभौतिक पन्थों के कारण भिन्न भिन्न हैं, तथापि उन दोनों का अन्तिम निर्णय एक ही सा है। अतएव पहले आधिभौतिक कारणों का उल्लेख कर देने से आध्यात्मिक कारणों की महत्ता और सयुक्तता पाठकों के ध्यान में शीघ्र आ जायगी।

ऊपर कह आये हैं कि आधिदैविक पन्थ में शुद्ध मन को ही अग्रस्थान दिया गया है। इससे यह प्रगट होता है कि 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' – वाले आधिभौतिक नीतिपन्थ में कर्ता की बुद्धि या हेतु के कुछ भी विचार न किये जाने का जो दोष पहले बतलाया गया है, वह इस आधिदैवतपक्ष में नहीं है। परन्तु जब हम इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगते हैं कि सदसद्विवेकरूपी शुद्ध मनोदेवता किसे कहना चाहिये, तब इस पन्थ में भी दूसरी अनेक अपरिहार्य बाधाएँ उपस्थित

हो जाती है। कोई भी बात लीजिये; कहने की आवश्यकता नहीं है, कि उसके बारे में भली भाँति विचार करना – वह ग्राह्य है अथवा अग्राह्य है, करने के योग्य है या नहीं, उससे लाभ अथवा सुख होगा या नहीं, इत्यादि बातों को निश्चित करना – नाक अथवा आँख का काम नहीं है। किन्तु यह काम उस स्वतंत्र इन्द्रिय का है, जिसे मन कहते हैं। अर्थात् कार्य अकार्य अथवा धर्म अधर्म का निर्णय मन ही करता है। चाहे आप उसे इन्द्रिय कहें या देवता। यदि आधिदैविक पन्थ का सिर्फ यही कहना हो, तो कोई आपत्ति नहीं। परन्तु पश्चिमी आधिदैवत पक्ष इससे एक पग और भी आगे बढ़ा हुआ है। उसका यह कथन है, भला अथवा बुरा (सत् अथवा असत्) न्याय अथवा अन्याय, धर्म अथवा अधर्म का निर्णय करना एक बात है; और इस बात का निर्णय करना दूसरी बात है, कि अमुक पदार्थ भारी है या हलका है, गोरा है या काला, अथवा गणित का कोई उदाहरण सही है या गलत। ये दोनों बातें अत्यन्त भिन्न हैं। इनमें से दूसरे प्रकार की बातों का निर्णय न्याय शास्त्र का आधार ले कर मन कर सकता है; परन्तु पहले प्रकार की बातों का निर्णय करने के लिये केवल मन असमर्थ है। अतएव यह काम सदसद्विवेक-शक्तिरूप देवता ही किया करता है, जो कि हमारे मन में रहता है। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि जब हम किसी गणित के उदाहरण की जाँच करके निश्चय करते हैं कि वह सही है या गलत, तब हम पहले उसके गुणा, जोड़ आदि की जाँच कर लेते हैं और फिर अपना निश्चय स्थिर करते हैं। अर्थात् इस निश्चय के स्थिर होने के पहले मन को अन्य क्रिया या व्यापार करना पड़ता है; परन्तु भले-बुरे का निर्णय इस प्रकार नहीं किया जाता। जब हम यह सुनते हैं, कि किसी एक आदमी ने किसी दूसरे को जान से मार डाला, तब हमारे मुँह से एकाएक यह उद्‌गार निकल पड़ते हैं "राम राम! उसने बहुत बुरा काम किया!" और इस विषय में हमें कुछ भी विचार नहीं करना पड़ता। अतएव, यह नहीं कहा जा सकता, कि कुछ भी विचार न करके आप-ही-आप जो निर्णय हो जाता है और जो निर्णय विचार-पूर्वक किया जाता है, वे दोनों एक ही मनोवृत्ति के व्यापार हैं। इसलिये यह मानना चाहिये कि सदसद्विवेचनशक्ति भी एक स्वतंत्र मानसिक देवता है। सब मनुष्यों के अन्तःकरण में यह देवता या शक्ति एक ही सी जागृत रहती है। इसलिये हत्या करना सभी लोगों को दोष प्रतीत होता है; और उसके विषय में किसी को कुछ सिखलाना भी नहीं पड़ता। इस आधिदैविक युक्तिवाद पर आधिभौतिक पन्थ के लोगों का उत्तर है कि सिर्फ हम एक-आध बात का निर्णय एकदम कर सकते हैं, इतने ही से यह नहीं माना जा सकता कि जिस बात का निर्णय विचार पूर्वक किया जाता है वह उनसे भिन्न है। किसी काम को जल्दी अथवा धीरे करना अभ्यास पर अवलम्बित है। उदाहरणार्थ गणित का विषय लीजिये। व्यापारी लोग मन के भाव से सेर छटाँक के दाम एकदम मुखाग्र गणित की रीति से बतलाया करते हैं। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता

कि गुणाकार करने की उनकी शक्ति या देवता किसी अच्छे गणितज्ञ से भिन्न है। कोई काम अभ्यास के कारण इतना अच्छी तरह सध जाता है, कि बिना विचार किये ही कोई मनुष्य उसको शीघ्र और सरलतापूर्वक कर देता है। उत्तम लक्ष्यभेदी मनुष्य उड़ते हुए पक्षियों को बन्दूक से सहज मार गिराता है इससे कोई भी यह नहीं कहता कि लक्ष्यभेद एक स्वतन्त्र देवता है। इतना ही नहीं; किन्तु निशाना मारना उड़ते हुए पक्षियों की गति को जानना इत्यादि शास्त्रीय बातों को भी निरर्थक और त्याज्य नहीं कह सकता। नेपोलियन के विषय में यह प्रसिद्ध है, कि जब वह समरांगण में खड़ा हो कर चारों ओर सूक्ष्म दृष्टि से देखता था तब उसके ध्यान में यह बात एकदम आ जाया करती थी कि शत्रु किस स्थान पर कमजोर है। इतने ही से किसी ने यह सिद्धान्त नहीं निकाला है कि युद्धकला एक स्वतन्त्र देवता है और उसका अन्य मानसिक शक्तियों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि किसी एक काम में किसी की बुद्धि स्वभावतः अधिक काम देती है और किसी की कम परन्तु सिर्फ इस असमानता के आधार पर ही हम यह नहीं कहते कि दोनों की बुद्धि वस्तुतः भिन्न है। इसके अतिरिक्त यह बात भी सत्य नहीं कि कार्य-अकार्य का अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय एकाएक हो जाता है। यदि ऐसा ही होता तो यह प्रश्न ही कभी उपस्थित न होता कि अमुक काम करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये। यह बात प्रकट है कि इस प्रकार का प्रश्न प्रसंगानुसार अर्जुन की तरह सभी लोगों के सामने उपस्थित हुआ करता है, और कार्य-अकार्य निर्णय के कुछ विषयों में भिन्न भिन्न लोगों के अभिप्राय भी भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। यदि सदसद्विवेचनरूप स्वयम्भू देवता एक ही है तो फिर यह भिन्नता क्यों है? इससे यही कहना पड़ता है कि मनुष्य की बुद्धि जितनी सुशिक्षित अथवा सुसंस्कृत होगी उतनी ही योग्यतापूर्वक वह किसी बात का निर्णय करेगा। बहुतेरे जंगली लोग ऐसे भी हैं कि जो मनुष्य का वध करना अपराध तो मानते ही नहीं किन्तु वे मारे हुए मनुष्य का मांस भी सहर्ष खा जाते हैं! जंगली लोगों की बात जाने दीजिये। सभ्य देशों में भी यह देखा जाता है कि देश के अनुसार किसी एक देश में जो बात गर्ह्य समझी जाती है वही किसी दूसरे देश में सर्वमान्य समझी जाती है। उदाहरणार्थ एक स्त्री के रहते हुए दूसरी स्त्री के साथ विवाह करना विलायत में दोष समझा जाता है परन्तु हिंदुस्थान में यह बात विशेष दूषणीय नहीं मानी जाती। भरी सभा में सिर की पगड़ी उतारना हिन्दू लोगों के लिये लज्जा या अमर्यादा की बात है परन्तु अंग्रेज लोग सिर की टोपी उतारना ही सभ्यता का लक्षण मानते हैं। यदि यह बात सच है कि ईश्वरदत्त या स्वाभाविक सदसद्विवेचन शक्ति के कारण ही बुरे कर्म करने में लज्जा मालूम होती है तो क्या सब लोगों को एक ही कृत्य करने में एक ही समान लज्जा नहीं मालूम होनी चाहिये? बड़े बड़े लुटेरे और डाकू लोग भी—एक बार जिसका नमक खा लेते हैं उस पर हथियार उठाना निंद्य मानते हैं किन्तु

नहीं; बड़े सभ्य पश्चिमी राष्ट्र भी अपने पड़ोसी राष्ट्र का वध करना स्वदेशभक्ति का लक्षण समझते हैं। यदि सदसद्विवेचन शक्तिरूप देवता एक ही है तो यह भेद क्यों है? और यदि यह कहा जाय, कि शिक्षा के अनुसार अथवा देश के चलन के अनुसार सदसद्विवेचनशक्ति में भी भेद हो जाया करते हैं; तो उसकी स्वयंभू नित्यता में बाधा आती है। मनुष्य ज्यों ज्यों अपनी असभ्य दशा को छोड़ कर सभ्य बनता जाता है त्यों त्यों उसके मन और बुद्धि का विकास होता जाता है। और इस तरह बुद्धि का विकास होने पर जिन बातों का विचार वह अपनी पहली असभ्य दशा शीघ्रता से करने लग जाता है। अथवा यह कहना चाहिये कि इस बुद्धि का विकसित होना ही सभ्यता का लक्षण है। यह सभ्य अथवा सुशिक्षित मनुष्य के इन्द्रिय निग्रह का परिणाम है कि वह औरों की वस्तु को ले लेने या माँगने की इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार मन की वह शक्ति भी – जिससे बुरे-भले का निर्णय किया जाता है – धीरे धीरे बढ़ती जाती है। और अब तो कुछ बातों में वह इतनी परिपक्व होती ही है कि किसी विषय में कुछ विचार किये बिना ही हम लोग अपना नैतिक निर्णय प्रकट कर दिया करते हैं। जब हमें आँखों से कोई दूर या पास की वस्तु देखनी होती है तब आँखों की नसों को उचित परिमाण से खींचना पड़ता है; और यह क्रिया इतनी शीघ्रता से होती है कि हमें उसका कुछ बोध भी नहीं होता। परन्तु क्या इतने ही से किसी ने इस बात की उपपत्ति को निरुपयोगी मान रखा है? सारांश यह है कि मनुष्य की बुद्धि या मन सब समय और सब कामों में एक ही है। यह बात यथार्थ नहीं कि काले-गोरे का निर्णय एक प्रकार की बुद्धि करती है और बुरे भले का निर्णय किसी अन्य प्रकार की बुद्धि से किया जाता है। केवल अन्तर इतना ही है कि किसी में बुद्धि कम रहती है और किसी की अशिक्षित अथवा अपरिपक्व रहती है। उक्त भेद की ओर तथा इस अनुभव की ओर भी उचित ध्यान दे कर कि किसी काम को शीघ्रतापूर्वक कर सकना केवल आदत या अभ्यास का फल है पश्चिमी आधिभौतिकवादियों ने यह निश्चय किया है कि मन की स्वाभाविक शक्तियों के परे सदसद्विचारशक्ति नामक कोई भिन्न स्वतन्त्र और विलक्षण शक्ति के मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस विषय में हमारे प्राचीन शास्त्रकारों का अन्तिम निर्णय भी पश्चिमी आधिभौतिकवादियों के सदृश ही है। वे इस बात को मानते हैं कि स्वस्थ और शान्त अन्तःकरण से किसी भी बात का विचार करना चाहिये। परन्तु उन्हें यह बात मान्य नहीं कि धर्म-अधर्म का निर्णय करनेवाली बुद्धि अलग है और काला गोरा पहचानने की बुद्धि अलग है। उन्हों ने यह भी प्रतिपादन किया है कि मन जितना सुशिक्षित होगा उतना ही वह भला या बुरा निर्णय कर सकेगा। अतएव मन को सुशिक्षित करने का प्रयत्न प्रत्येक को इच्छा से करना चाहिये। परन्तु वे इस बात को नहीं मानते कि सदसद्विवेचन शक्ति सामान्य बुद्धि से कोई भिन्न वस्तु या

ईश्वरीय प्रसाद है। प्राचीन समय में इस बात का निरीक्षण सूक्ष्म रीति से किया गया है, कि मनुष्य को ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है और उसके मन का या बुद्धि का व्यापार किस तरह हुआ करता है। इसी निरीक्षण को 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार' कहते हैं। क्षेत्र का अर्थ 'शरीर' और क्षेत्रज्ञ का अर्थ 'आत्मा' है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार अध्यात्मविद्या की जड़ है। इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विद्या का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर, सदसद्विवेक-शक्ति ही का नहीं किन्तु किसी भी मनोदेवता का अस्तित्व आत्मा के परे या स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्था में आधिदैवत पक्ष आप-ही-आप कमजोर हो जाता है। अतएव अब यहाँ इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विद्या ही का विचार संक्षेप में किया जायगा। इस विवेचन से भगवद्गीता के बहुतेरे सिद्धान्तों का सत्यार्थ भी पाठकों के ध्यान में अच्छी तरह आ जायगा।

यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का शरीर (पिंड, क्षेत्र या देह) एक बहुत बड़ा कारखाना ही है। जैसे किसी कारखाने में पहले बाहर का माल भीतर लिया जाता है, फिर उस माल का चुनाव या व्यवस्था करके इस बात का निश्चय किया जाता है, कि कारखाने के लिये उपयोगी और निरुपयोगी पदार्थ कौन-से हैं; और तब बाहर से लाये गये कच्चे माल से नई चीजें बनाते और उन्हें बाहर भेजते हैं। वैसे ही मनुष्य की देह में भी प्रतिक्षण अनेक व्यापार हुआ करते हैं। इस सृष्टि के पाँचभौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य की इन्द्रियाँ ही प्रथम साधन हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा सृष्टि के पदार्थों का यथार्थ अथवा मूलस्वरूप नहीं जाना जा सकता। आधिभौतिकवादियों का यह मत है, कि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप वैसा ही है, जैसा कि वह हमारी इन्द्रियों को प्रतीत होता है। परन्तु यदि कल किसी को कोई नूतन इन्द्रिय प्राप्त हो जाय, तो उसकी दृष्टि से सृष्टि के पदार्थों का गुण-धर्म जैसा आज है, वैसा ही नहीं रहेगा। मनुष्य की इन्द्रियों में भी दो भेद हैं – एक कर्मेन्द्रियाँ और दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ। हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। हम जो कुछ व्यवहार अपने शरीर से करते हैं, वह सब इन्हीं कर्मेन्द्रियों के द्वारा होता है। नाक, आँखें, कान, जीभ और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आँखों से रूप, जिह्वा से रस, कानों से शब्द, नाक से गन्ध और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। किसी किसी भी बाह्य-पदार्थ का जो हमें ज्ञान होता है, वह उस पदार्थ के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श के सिवा और कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, एक सोने का टुकड़ा लीजिये। वह पीला देख पड़ता है, त्वचा को कठोर मालूम होता है, पीटने से लम्बा हो जाता है इत्यादि जो गुण हमारी इन्द्रियों को गोचर होते हैं उन्हीं को हम सोना कहते हैं; और जब ये गुण बार बार एक ही पदार्थ में, एक ही से दृग्गोचर होने लगते हैं, तब हमारी दृष्टि से माना एक ही पदार्थ बन जाता है। जिस प्रकार बाहर का माल भीतर लाने के लिये और भीतर का माल बाहर भेजने के लिये किसी कारखाने में दरवाजे

होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के देह में बाहर के माल को भीतर लेने के लिये ज्ञानेन्द्रिय-रूपी द्वार हैं और भीतर का माल बाहर भेजने के लिये कर्मेन्द्रिय-रूपी द्वार हैं। सूर्य की किरणें किसी पदार्थ पर गिर कर जब लौटती हैं और हमारे नेत्रों में प्रवेश करती हैं तब हमारे आत्मा को उस पदार्थ के रूप का ज्ञान होता है। किसी पदार्थ से आनेवाली गन्ध के सूक्ष्म परमाणु जब हमारी नाक के मज्जातन्तुओं से टकराते हैं तब हमें उस पदार्थ की बास आती है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार भी इसी प्रकार हुआ करते हैं। जब ज्ञानेन्द्रियाँ इस प्रकार अपना व्यापार करने लगती हैं तब हमें उनके द्वारा बाह्य-सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान होने लगता है। परन्तु ज्ञानेन्द्रियाँ जो कुछ व्यापार करती हैं उसका ज्ञान स्वयं उनको नहीं होता इसी लिये ज्ञानेन्द्रियों को 'ज्ञाता' नहीं कहते किन्तु उन्हें सिर्फ बाहर के माल को भीतर ले जानेवाले 'द्वार' ही कहते हैं। इन दरवाजों से माल भीतर आ जाने पर उसकी व्यवस्था करना मन का काम है। उदाहरणार्थ बारह बजे जब घड़ी में घण्टे बजने लगते हैं तब एकदम हमारे कानों को यह नहीं समझ पड़ता कि कितने बजे हैं किन्तु ज्यों ज्यों घड़ी में 'टन् टन्' की एक एक आवाज होती जाती है त्यों त्यों हवा की लहरें हमारे कानों पर आकर टक्कर मारती हैं और मज्जातंतु के द्वारा प्रत्येक आवाज का हमारे मन पर पहले अलग अलग संस्कार होता है और अन्त में इन सबों को जोड़ कर हम निश्चित किया करते हैं कि इतने बजे हैं। पशुओं में भी ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। जब घड़ी की 'टन् टन्' आवाज होती है तब प्रत्येक ध्वनि का संस्कार उनके कानों के द्वारा मन तक पहुँच जाता है। परन्तु उनका मन इतना विकसित नहीं रहता कि वे उन सब संस्कारों को एकत्र करके यह निश्चित कर लें कि बारह बजे हैं। यही अर्थ शास्त्रीय परिभाषा में इस प्रकार कहा जाता है कि यद्यपि अनेक संस्कारों का पृथक् पृथक् ज्ञान पशुओं को हो जाता है तथापि उस अनेकता की एकता का बोध उन्हें नहीं होता। भगवद्गीता (३. ४२) में कहा है — "इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः" अर्थात् इन्द्रियाँ (बाह्य) पदार्थों से श्रेष्ठ हैं, और मन इन्द्रियों से भी श्रेष्ठ है। इसका भावार्थ भी यही है जो ऊपर लिखा गया है। पहले कह आये हैं कि यदि मन स्थिर न हो तो आँखें खुली होने पर भी कुछ दीख नहीं पड़ता और कान खुले होने पर भी कुछ सुन नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि इस देहरूपी कारखाने में 'मन' एक मुंशी (क्लर्क) है, जिसके पास बाहर का सब माल ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भेजा जाता है। और यही मुंशी (मन) माल की जाँच किया करता है। अब इन बातों का विचार करना चाहिये कि यह जाँच किस प्रकार की जाती है, और जिसे हम अबतक सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं उसके भी और कौन-कौन-से भेद किये जा सकते हैं अथवा एक ही मन को भिन्न भिन्न अधिकार के अनुसार के कौन-कौन-से भिन्न भिन्न नाम प्राप्त हो जाते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मन पर जो संस्कार होते हैं उन्हें प्रथम एकत्र करके और उनकी परस्पर तुलना करके इस बात का निर्णय करना पड़ता है कि उनमें से अच्छे कौन-से और बुरे कौन-से हैं, ग्राह्य अथवा त्याज्य कौन-से और लाभदायक तथा हानिकारक कौन-से हैं। यह निर्णय हो जाने पर उनमें से जो बात अच्छी, ग्राह्य, लाभदायक, उचित अथवा करने योग्य होती है, उसे करने में हम प्रवृत्त हुआ करते हैं। यही सामान्य मानसिक व्यवहार है। उदाहरणार्थ, जब हम किसी बगीचे में जाते हैं तब आँख और नाक के द्वारा बाग के वृक्षों और फूलों के संस्कार हमारे मन पर होते हैं। परन्तु जब तक हमारे आत्मा को यह ज्ञान नहीं होता कि इन फूलों में से किसकी सुगन्ध अच्छी और किसकी बुरी है तब तक किसी फूल को प्राप्त कर लेने की इच्छा मन में उत्पन्न नहीं होती और न हम उसे तोड़ने का प्रयत्न ही करते हैं। अतएव सब मनोव्यापारों के तीन स्थूल भाग हो सकते हैं :- (१) ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य-पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके उन संस्कारों को तुलना के लिये व्यवस्थापूर्वक रखना (२) ऐसी व्यवस्था हो जाने पर उसके अच्छेपन या बुरेपन का सार असार-विचार करके यह निश्चय करना कि कौन-सी बात ग्राह्य है और कौन-सी त्याज्य; और (३) निश्चय हो चुकने पर, ग्राह्य-वस्तु को प्राप्त कर लेने की और अग्राह्य को त्यागने की इच्छा उत्पन्न हो कर फिर उसके अनुसार प्रवृत्ति का होना। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि ये तीनों व्यापार बिना रुकावट के लगातार एक के बाद एक होते ही रहें। सम्भव है, कि पहले किसी समय भी देखी हुई वस्तु की इच्छा आज हो जाय। किन्तु इतने ही से यह नहीं कह सकते कि उक्त तीनों क्रियाओं में से किसी भी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि न्याय करने की कचहरी एक ही होती है तथापि उसमें काम का विभाग इस प्रकार किया जाता है :- पहले वादी और प्रतिवादी अथवा उनके वकील अपनी अपनी गवाहियों और सबूत न्यायाधीश के सामने पेश करते हैं। इसके बाद न्यायाधीश दोनों पक्षों के सबूत देख कर निर्णय स्थिर करता है और अन्त में न्यायाधीश के निर्णय के अनुसार नाज़िर कार्रवाई करता है। ठीक इसी प्रकार जिस मुंशी को अभी तक हम सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं उसके व्यापारों के भी विभाग हुआ करते हैं। इनमें से सामने उपस्थित बातों का सार-असार-विचार करके यह निश्चय करने का काम (अर्थात् केवल न्यायाधीश का काम) 'बुद्धि' नामक इन्द्रिय का है कि कोई एक बात अमुक प्रकार ही की (एकमेव) है दूसरे प्रकार की नहीं (नाऽन्यथा)। ऊपर कहे गये सब मनोव्यापारों में से इस सार असार-विवेकशक्ति को अलग कर देने पर सिर्फ़ बचे हुए व्यापार ही जिस इन्द्रिय के द्वारा हुआ करते हैं उसी को सांख्य और वेदान्तशास्त्र में 'मन' कहते हैं (सां. का. २३ और २७ देखो)। यही मन वकील के सदृश कोई बात ऐसी है (संकल्प) अथवा उसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय करने के लिये पेश किया करता

है। इसी लिये इस 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये केवल कल्पना करनेवाली इन्द्रिय कहा गया है। कभी कभी 'संकल्प' शब्द में 'निश्चय' का भी अर्थ शामिल कर दिया जाता है (छांदोग्य ७. ४. १ देखो)। परन्तु यहाँ पर 'संकल्प' शब्द का उपयोग – निश्चय की अपेक्षा न रखते हुए – बात अमुक प्रकार की मालूम होना, मानना, कल्पना करना, समझना अथवा कुछ योजना करना, इच्छा करना, चिंतन करना, मन में लाना आदि व्यापारों के लिये ही किया गया है। परन्तु, इस प्रकार वकील के सदृश अपनी कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णयार्थ सिर्फ उपस्थित कर देने ही से मन का काम पूरा नहीं हो जाता। बुद्धि के द्वारा भले-बुरे का निर्णय हो जाने पर, जिस बात को बुद्धि ने ग्राह्य माना है उसका कर्मेन्द्रियों से आचरण करना अर्थात् बुद्धि की आज्ञा को कार्य में परिणत करना – यह व्याकरण का काम भी मन ही को करना पड़ता है। इसी कारण मन की व्याख्या दूसरी तरह भी की जा सकती है। यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि बुद्धि के निर्णय की कारवाई पर जो विचार किया जाता है वह भी एक प्रकार से संकल्प विकल्पात्मक ही है। परन्तु इसके लिए संस्कृत में 'व्याकरण-विस्तार करना' यह स्वतन्त्र नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त शेष सब कार्य बुद्धि के हैं। यहाँ तक कि मन स्वयं अपनी ही कल्पनाओं के सार असार का विचार नहीं करता। सार असार-विचार करके किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान आत्मा को करा देना अथवा चुनाव करके यह निश्चय करना कि अमुक वस्तु अमुक प्रकार की है या तर्क से कार्य-कारण-सम्बन्ध को देख कर निश्चित अनुमान करना अथवा कार्य-अकार्य का निर्णय करना इत्यादि सब व्यापार बुद्धि के हैं। संस्कृत में इन व्यापारों को 'व्यवसाय' या 'अध्यवसाय' कहते हैं। अतएव इन शब्दों का उपयोग करके, 'बुद्धि' और 'मन' का भेद बतलाने के लिए, महाभारत (शां. २५१. ११) में यह व्याख्या की गई है –

व्यवसायात्मिका बुद्धिः मनो व्याकरणात्मकम्।

'बुद्धि (इन्द्रिय) व्यवसाय करती है; अर्थात् सार असार विचार करके कुछ निश्चय करती है और मन व्याकरण अथवा विस्तार है। वह अगली व्यवस्था करनेवाली प्रवर्तक इन्द्रिय है – अर्थात् बुद्धि व्यवसायात्मिका है और मन व्याकरणात्मक है। भगवद्गीता में भी 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' शब्द पाये जाते हैं (गी. २. ४४) और वहाँ भी बुद्धि का अर्थ 'सार-असार-विचार करके निश्चय करनेवाली इन्द्रिय' ही है। यथार्थ में बुद्धि केवल एक तलवार है। जो कुछ उसके सामने आता है या लाया जाता है उसकी काट-छाँट करना ही उसका काम है उसमें दूसरा कोई भी गुण अथवा धर्म नहीं है (म. भा. वन. १८१. १)। संकल्प, वासना, इच्छा, स्मृति, धृति, श्रद्धा, उत्साह, करुणा, प्रेम, दया, सहानुभूति, कृतज्ञता, काम, लज्जा, आनन्द, भय, राग, संग, द्वेष, लोभ, मद, मत्सर, क्रोध इत्यादि सब मन ही के गुण

अथवा धर्म है (बृ १ ५ ३ मैत्र्यु. ६ ३)। जैसी जैसी ये मनोवृत्तियाँ जागृत होती जाती हैं वैसे ही कर्म करने की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ करती है। उदाहरणार्थ, मनुष्य चाहे कितना बुद्धिमान् हो और चाहे वह गरीब लोगों की दुर्दशा का हाल भली भाँति जानता हो तथापि यदि उसके हृदय में करुणावृत्ति जागृत न हो तो गरीबों की सहायता करने की इच्छा कभी होगी ही नहीं। अथवा यदि धैर्य का अभाव हो तो युद्ध करने की इच्छा होने पर भी वह नहीं लड़ेगा। तात्पर्य यह है कि बुद्धि सिर्फ यही बतलाया करती है कि जिस बात को करने की हम इच्छा करते हैं उसका परिणाम क्या होगा। इच्छा अथवा धैर्य आदि गुण बुद्धि के धर्म नहीं हैं। इसलिये बुद्धि स्वयं (अर्थात् बिना मन की सहायता लिये ही) कभी इन्द्रियों को प्रेरित नहीं कर सकती। इसके विरुद्ध क्रोध आदि वृत्तियों के वश में होकर स्वयं मन चाहे इन्द्रियों को प्रेरित भी कर सके, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि बुद्धि के सार असार-विचार के बिना केवल मनोवृत्तियों की प्रेरणा से किया गया काम नीति की दृष्टि से शुद्ध ही होगा। उदाहरणार्थ यदि बुद्धि का उपयोग न कर केवल करुणावृत्ति से कुछ दान किया जाता है तो सम्भव है कि वह किसी अपात्र को दिया जाय और उसका परिणाम भी बुरा हो। सारांश यह है कि बुद्धि की सहायता के बिना केवल मनोवृत्तियाँ अन्धी हैं अतएव मनुष्य का कोई काम शुद्ध तभी हो सकता है जब कि बुद्धि शुद्ध है। अर्थात् वह भले-बुरे का अचूक निर्णय कर सके, मन बुद्धि के अनुरोध से आचरण करे; और इन्द्रियाँ मन के आधीन रहें। मन और बुद्धि के सिवा अन्तःकरण और 'चित्त' ये दो शब्द भी प्रचलित हैं। इनमें से 'अन्तःकरण शब्द का धात्वर्थ भीतरी करण अर्थात् इन्द्रिय' है। इसलिये उसमें मन बुद्धि चित्त अहंकार आदि सभी का सामान्यतः समावेश किया जाता है और जब 'मन' पहले पहल बाह्य-विषयों का ग्रहण अर्थात् चिन्तन करने लगता है, तब वही 'चित्त' हो जाता है (म भा शां. २७४ १७)। परंतु सामान्य व्यवहार में इन सब शब्दों का अर्थ एक ही सा माना जाता है। इस कारण समझ में नहीं आता कि किस स्थान पर कौन-सा अर्थ विवक्षित है। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिये ही उक्त अनेक शब्दों में से मन और बुद्धि इन्हीं दो शब्दों का उपयोग शास्त्रीय परिभाषा में ऊपर कहे गये निश्चित अर्थ में किया जाता है। जब इस तरह मन और बुद्धि का भेद एक बार निश्चित कर दिया गया तब (न्यायाधीश के समान) बुद्धि को मन से श्रेष्ठ मानना पड़ता है और मन उस न्यायाधीश (बुद्धि) का मुंशी बन जाता है। मनसस्तु परा बुद्धिः — इस गीता-वाक्य का भावार्थ भी यही है कि मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ एवं उसके परे है (गी २ ४२) तथापि जैसा कि ऊपर कह आये हैं उस मुंशी को भी दो प्रकार के काम करने पड़ते हैं – (१) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अथवा बाहर से आये हुए संस्कारों की व्यवस्था करके उनको बुद्धि के सामने निर्णय के लिये उपस्थित करना और (२) बुद्धि का निर्णय हो जाने पर उसकी

आज्ञा अथवा बाह्य कर्मेन्द्रियों के पास भेज कर बुद्धि का हेतु सफल करने के लिये आवश्यक बाह्य क्रिया करवाना। जिस तरह दूकान के लिये माल खरीदने का काम और दूकान में बैठ कर बेचने का काम भी कहीं कहीं उस दूकान के एक ही नौकर को करना पड़ता है उसी तरह मन को भी दुहरा काम करना पड़ता है। मान लो कि हम एक मित्र देख पड़ा और उसे पुकारने की इच्छा से हमने उसे 'अरे' कहा। अब देखना चाहिये कि उतने समय में अन्तःकरण में कितने व्यापार होते हैं। पहले आँखों ने अथवा ज्ञानेन्द्रियों ने यह संस्कार मन के द्वारा बुद्धि को भेजा कि हमारा मित्र पास ही है और बुद्धि के द्वारा उस संस्कार का ज्ञान आत्मा को हुआ। यह हुई ज्ञान होने की क्रिया। जब आत्मा बुद्धि के द्वारा यह निश्चय करता है कि मित्र को पुकारना चाहिये और बुद्धि के इस हेतु के अनुसार कारवाई करने के लिये मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न होती है और मन हमारी जिह्वा (कर्मेन्द्रिय) से 'अरे!' शब्द का उच्चारण करवाता है। पाणिनी के शिक्षा ग्रन्थ में शब्दोच्चारण-क्रिया का वर्णन इसी बात को ध्यान में रख कर किया गया है –

> आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
> मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
> मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

अर्थात् पहले आत्मा बुद्धि के द्वारा सब बातों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करता है और जब मन कायाग्नि को उसकाता है, तब कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है। तदनन्तर यह वायु छाती में प्रवेश करके मन्द्र स्वर उत्पन्न करती है। यही स्वर आगे कण्ठ-तालु आदि के वर्ण-भेद रूप से मुख के बाहर आता है। उक्त श्लोक के अन्तिम दो चरण मैत्र्युपनिषद् में भी मिलते हैं (मैत्र्यु. ७. ११) और, इससे प्रतीत होता है कि ये श्लोक पाणिनि से भी प्राचीन हैं।* आधुनिक शारीरशास्त्रों में कायाग्नि को मज्जातन्तु कहते हैं। परन्तु पश्चिमी शारीरशास्त्रज्ञों का कथन है कि मन भी दो हैं। क्योंकि बाहर के पदार्थों का ज्ञान भीतर लानेवाले और मन के द्वारा बुद्धि की आज्ञा कर्मेन्द्रियों को बतलानेवाले मज्जातन्तु शरीर में भिन्न भिन्न हैं। हमारे शास्त्रकार दो मन नहीं मानते उन्हों ने मन और बुद्धि को भिन्न बतला कर सिर्फ यह कहा है कि मन उभयात्मक है। अर्थात् वह कर्मेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों के समान और ज्ञानेन्द्रियों के साथ ज्ञानेन्द्रियों के समान काम करता है। दोनों का तात्पर्य एक ही है। दोनों की दृष्टि से यही प्रकट है कि बुद्धि निश्चयकर्ता न्यायाधीश है;

---

* मैक्समूलर साहब ने लिखा है कि मैत्र्युपनिषद् पाणिनि की अपेक्षा प्राचीन होना चाहिये। Sacred Books of the East Series Vol. XV pp xlvii–lii. इस पर परिशिष्ट प्रकरण में अधिक विचार किया गया है।

और मन पहले ज्ञानेन्द्रियों के साथ संकल्प-विकल्पात्मक हो जाया करता है; तथा फिर कर्मेन्द्रियों के साथ व्याकरणात्मक या कार्रवाई करनेवाला अर्थात् कर्मेन्द्रियों का साक्षात् प्रवर्तक हो जाता है। किसी बात का 'व्याकरण' करते समय कभी कभी मन यह संकल्प-विकल्प भी किया करता है कि बुद्धि की आज्ञा का पालन किस प्रकार किया जाय। इसी कारण मन की व्याख्या करते समय सामान्यतः सिर्फ यही कहा जाता है कि 'संकल्प-विकल्पात्मकम्'। परन्तु, ध्यान रहे, कि उस समय भी इस व्याख्या में मन के दोनों व्यापारों का समावेश किया जाता है।

'बुद्धि' का जो अर्थ ऊपर किया गया है कि वह निर्णय करनेवाली इन्द्रिय है, वह अर्थ केवल शास्त्रीय और सूक्ष्म-विवेचन के लिये उपयोगी है। परन्तु इन शास्त्रीय अर्थों का निर्णय हमेशा पीछे से किया जाता है। अतएव यहाँ 'बुद्धि' शब्द के उन व्यावहारिक अर्थों का भी विचार करना आवश्यक है, जो इस शब्द के सम्बन्ध में शास्त्रीय अर्थ निश्चित होने के पहले ही प्रचलित हो गये हैं। जब तक व्यवसायात्मक बुद्धि किसी बात का पहले निर्णय नहीं करती तब तक हमें उसका ज्ञान नहीं होता और जब तक ज्ञान नहीं हुआ है तब तक उसके प्राप्त करने की इच्छा या वासना भी नहीं हो सकती। अतएव जिस प्रकार व्यवहार में आम पेड़ और फल के लिये एक ही 'आम' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार व्यवसायात्मक बुद्धि के लिये और उस बुद्धि के वासना आदि फलों के लिये भी एक ही शब्द 'बुद्धि' का उपयोग व्यवहार में कई बार किया जाता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य की बुद्धि खोटी है, तब हमारे बोलने का यह अर्थ होता है कि उसकी वासना खोटी है। शास्त्र के अनुसार इच्छा या वासना मन के धर्म होने के कारण उन्हें 'बुद्धि' शब्द से सम्बोधित करना युक्त नहीं है। परन्तु बुद्धि शब्द की शास्त्रीय जाँच होने के पहले ही से सब साधारण लोगों के व्यवहार में 'बुद्धि' शब्द का उपयोग इन दोनों अर्थों में होता चला आया है — (१) निर्णय करनेवाली इन्द्रिय; और (२) उस इन्द्रिय के व्यापार से मनुष्य के मन में उत्पन्न होनेवाली वासना या इच्छा। अतएव आम के भेद बतलाने के समय जिस प्रकार 'पेड़' और 'फल' इन शब्दों का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार जब बुद्धि के उक्त दोनों अर्थों की भिन्नता व्यक्त करनी होती है तब निर्णय करनेवाली अर्थात् शास्त्रीय बुद्धि को 'व्यवसायात्मिका' विशेषण जोड़ दिया जाता है और वासना को केवल 'बुद्धि' अथवा 'वासनात्मक' बुद्धि कहते हैं। गीता (२.४१, ४४, ४९; और १८.४९) में 'बुद्धि' शब्द का उपयोग उपर्युक्त दोनों अर्थों में किया गया है। कर्मयोग के विवेचन को ठीक ठीक समझ लेने के लिये 'बुद्धि' शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थों पर हमेशा ध्यान रखना चाहिये। जब मनुष्य कुछ काम करने लगता है तब उसके मनोव्यापार का क्रम इस प्रकार है — पहले वह 'व्यवसायात्मिक' बुद्धीन्द्रिय से विचार करता है कि यह काम अच्छा है या बुरा, करने के योग्य है

या नहीं और फिर उस काम के करने की इच्छा या वासना (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) उत्पन्न होती है और तब वह उक्त काम करने के लिये प्रवृत्त हो जाता है। कार्य-अकार्य का निर्णय करना जिस (व्यवसायात्मिक) बुद्धीन्द्रिय का व्यापार है वह स्वस्थ और शान्त हो तो मन में निरर्थक अन्य वासनाएँ (बुद्धि) उत्पन्न नहीं होने पातीं और मन भी बिगड़ने नहीं पाता। अतएव गीता (२ ४१) में कर्मयोग-शास्त्र का प्रथम सिद्धान्त यह है, कि पहले व्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध और स्थिर रखना चाहिये। केवल गीता ही में नहीं किन्तु कान्ट* ने भी बुद्धि के इसी प्रकार दो भेद किये हैं; और शुद्ध अर्थात् व्यवसायात्मिक बुद्धि के एवं व्यावहारिक अर्थात् वासनात्मक बुद्धि के व्यापारों का विवेचन दो स्वतंत्र ग्रन्थों में किया है। वस्तुतः देखने से तो यही प्रतीत होता है कि व्यवसायात्मिक बुद्धि को स्थिर करना पातंजल योगशास्त्र ही का विषय है कर्मयोगशास्त्र का नहीं। किन्तु गीता का सिद्धान्त है कि कर्म का विचार करते समय उसके परिणाम की ओर ध्यान दे कर पहले सिर्फ़ यही देखना चाहिये कि कर्म करनेवाले की वासना अर्थात् वासनात्मक बुद्धि कैसी है (गी २ ४९)। और इस प्रकार जब वासना के विषय में विचार किया जाता है तब प्रतीत होता है कि जिसकी व्यवसायात्मिक बुद्धि स्थिर और शुद्ध नहीं रहती उसके मन में वासनाओं की भिन्न भिन्न तरंगें उत्पन्न हुआ करती हैं। और इसी कारण कहा नहीं जा सकता कि वे वासनाएँ सदैव शुद्ध और पवित्र ही होंगी (गी २ ४१)। जब कि वासनाएँ ही शुद्ध नहीं हैं तब आगे कर्म भी शुद्ध कैसे हो सकता है? इसी लिये कर्मयोग में भी – व्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये – साधनों अथवा उपायों का विस्तारपूर्वक विचार करने की आवश्यकता होती है और इसी कारण भगवद्गीता के छठे अध्याय में बुद्धि को शुद्ध करने के लिये एक साधन के तौर पर पातंजलयोग का विवेचन किया गया है। परंतु इस सम्बन्ध पर ध्यान न दे कर कुछ साम्प्रदायिक टीकाकारों ने गीता का यह तात्पर्य निकाला है कि गीता में केवल पातंजलयोग का ही प्रतिपादन किया गया है। अब पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी कि गीताशास्त्र में 'बुद्धि' शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थों पर और उन अर्थों के परस्पर सम्बन्ध पर ध्यान रखना कितने महत्त्व का है।

इस बात का वर्णन हो चुका कि मनुष्य के अन्तःकरण के व्यापार किस प्रकार हुआ करते हैं तथा उन व्यापारों को देखते हुए मन और बुद्धि के कार्य कौन कौनसे हैं तथा बुद्धि शब्द के कितने अर्थ होते हैं। अब मन और व्यवसायात्मिक बुद्धि को इस प्रकार पृथक् कर देने पर देखना चाहिये कि सदसद्विवेक-देवता का यथार्थ रूप क्या है? इस देवता का काम सिर्फ़ भले-बुरे का चुनाव करना है। अतएव इसका

---

* कान्ट ने व्यवसायात्मिक बुद्धि को Pure Reason और वासनात्मक बुद्धि को Practical Reason कहा है।

समावेश 'मन' में नहीं किया जा सकता और किसी भी बात का विचार करके निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मिक बुद्धि केवल एक ही है इसलिये सदसद्विवेक-रूप 'देवता' के लिये कोई स्वतन्त्र स्थान ही नहीं रह जाता। हाँ इसमें सन्देह नहीं कि जिन बातों का या विषयों का सार-असार-विचार करके निर्णय करना पड़ता है, वे अनेक और भिन्न भिन्न देवता हो सकते हैं। जैसे व्यापार, लड़ाई, फौजदारी या दीवानी मुकद्दमे, साहुकारी, कृषि आदि अनेक व्यवसायों में हर मौके पर सार असार-विवेक करना पड़ता है। परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि व्यवसायात्मिक बुद्धियाँ भी भिन्न भिन्न अथवा कई प्रकार की होती हैं। सार असार विवेक नाम की क्रिया सर्वत्र एक ही सी है और इसी कारण विवेक अथवा निर्णय करनेवाली बुद्धि भी एक होनी चाहिये। परन्तु मन के सदृश बुद्धि भी शरीर का धर्म है। अतएव पूर्वकर्म के अनुसार — पूर्वपरम्परागत या आनुवंशिक संस्कारों के कारण अथवा शिक्षा आदि अन्य कारणों से — यह बुद्धि कम या अधिक सात्त्विकी राजसी या तामसी हो सकती है। यही कारण है कि जो बात किसी एक की बुद्धि में ग्राह्य प्रतीत होती है, वही दूसरे की बुद्धि में अग्राह्य जँचती है। इतने ही से यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि बुद्धि नाम की इन्द्रिय ही प्रत्येक समय भिन्न भिन्न रहती है। आँख ही का उदाहरण लीजिये। किसी की आँखें तिरछी रहती हैं तो किसी की भद्दी और किसी की कानी किसी की दृष्टि मन्द और किसी की साफ़ रहती है। इससे हम यह कभी नहीं कहते कि नेत्रेन्द्रिय एक नहीं अनेक हैं। यही न्याय बुद्धि के विषय में भी उपयुक्त होना चाहिये। जिस बुद्धि से चावल अथवा गेहूँ जाने जाते हैं जिस बुद्धि से पत्थर और हीरे का भेद जाना जाता है जिस बुद्धि से काले-गोरे या मीठे-कड़वे का ज्ञान होता है वही इन सब बातों के तारतम्य का विचार करके अन्तिम निर्णय भी किया करती है कि भय किसमें है और किसमें नहीं धर्म अथवा अधर्म और कार्य अथवा अकार्य में क्या भेद है, इत्यादि। साधारण व्यवहार में 'मनोदेवता' कह कर उसका चाहे जितना गौरव किया जाय तथापि तत्त्वज्ञान की दृष्टि से वह एक ही व्यवसायात्मिक बुद्धि है। इसी अभिप्राय की ओर ध्यान दे कर गीता के अठारहवें अध्याय में एक ही बुद्धि के तीन भेद (सात्त्विक, राजस और तामस) करके भगवान ने अर्जुन को पहले यह बतलाया है कि :—

> प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
> बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

अर्थात् "सात्त्विक बुद्धि वह है कि जिसे इन बातों का यथार्थ ज्ञान है :— कौन-सा काम करना चाहिये और कौन सा नहीं कौन-सा काम करने योग्य है और कौन सा अयोग्य किस बात से डरना चाहिये और किस बात से नहीं किसमें बन्धन है और किसमें मोक्ष" (गी. १८. ३०)। इसके बाद यह बतलाया है कि :—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

अर्थात् धर्म और अधर्म अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय जो बुद्धि नहीं कर सकती यानी जो बुद्धि हमेशा भूल किया करती है वह राजसी है (१८. ३१)। और अन्त में कहा है कि –

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

अर्थात् अधर्म को ही धर्म माननेवाली अथवा सब बातों का विपरीत या उलटा निर्णय करनेवाली बुद्धि तामसी कहलाती है" (गी १८ ३२)। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि केवल भले बुरे का निर्णय करनेवाली अर्थात् सदसद्विवेक बुद्धिरूप स्वतन्त्र और भिन्न देवता गीता को सम्मत नहीं है। उसका अर्थ यह नहीं है, कि सदैव ठीक ठीक निर्णय करनेवाली बुद्धि हो ही नहीं सकती। उपर्युक्त श्लोकों का भावार्थ यही है कि बुद्धि एक ही है और ठीक ठीक निर्णय करने का सात्त्विक गुण इसी एक बुद्धि में पूर्वसंस्कारों के कारण शिक्षा से तथा इन्द्रियनिग्रह अथवा आहार आदि के कारण उत्पन्न हो जाता है और इन पूर्वसंस्कार प्रभृति कारणों के अभाव से ही – वह बुद्धि जैसे कार्य-अकार्य-निर्णय के विषय में वैसे ही अन्य दूसरी बातों में भी – राजसी अथवा तामसी हो सकती है। इस सिद्धान्त की सहायता से भली भाँति मालूम हो जाता है कि चोर और साहू की बुद्धि में तथा भिन्न भिन्न देशों के मनुष्यों की बुद्धि में भिन्नता क्यों हुआ करती है। परन्तु जब हम सदसद्विवेचन शक्ति को स्वतन्त्र देवता मानते हैं तब उक्त विषय की उपपत्ति ठीक ठीक सिद्ध नहीं होती। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि को सात्त्विक बनावे। यह काम इन्द्रियनिग्रह के बिना हो नहीं सकता। जब तक व्यवसायात्मिक बुद्धि यह जानने में समर्थ नहीं है कि मनुष्य का हित किस बात में है और जब तक वह उस बात का निर्णय या परीक्षा किये बिना ही इन्द्रियों की इच्छानुसार आचरण करती रहती है तब तक वह बुद्धि 'शुद्ध' नहीं कही जा सकती। अतएव बुद्धि को मन और इन्द्रियों के अधीन नहीं होने देना चाहिये। किन्तु ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे मन और इन्द्रियाँ बुद्धि के अधीन रहें। भगवद्गीता (२. ६७ ६८ ३ ७ ४१ ६ २४–२६) में यही सिद्धान्त अनेक स्थानों में बतलाया गया है और यही कारण है कि कठोपनिषद् में शरीर को रथ की उपमा दी गई है; तथा यह रूपक बाँधा गया है कि इस शरीररूपी रथ में जुते हुए इन्द्रियोंरूपी घोड़ों को विषयोपभोग के मार्ग में अच्छी तरह चलाने के लिये (व्यवसायात्मिक) बुद्धिरूपी सारथी को मनोमय लगाम धीरता से खींच रहना चाहिये (कठ १ ३–)। महाभारत (वन २१ २८ भी ७ १३; अश्व

२१. ८) में भी यही रूपक दो-तीन स्थानों में कुछ हेरफेर के साथ लिया गया है। इन्द्रियनिग्रह के इस कार्य का वर्णन करने के लिये उक्त दृष्टान्त इतना अच्छा है कि ग्रीस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने भी इन्द्रियनिग्रह का वर्णन करते समय इसी रूपक का उपयोग अपने ग्रन्थ में किया है (फिड्रस २४६)। भगवद्गीता में यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष रूप से नहीं पाया जाता। तथापि इस विषय के सन्दर्भ की ओर जो ध्यान देगा उसे यह बात अवश्य मालूम हो जायगी कि गीता के उपर्युक्त श्लोकों में इन्द्रियनिग्रह का वर्णन इस दृष्टान्त को लक्ष्य करके ही किया गया है। सामान्यतः अर्थात् जब शास्त्रीय सूक्ष्म भेद करने की आवश्यकता नहीं होती तब, उसी को मनोनिग्रह भी कहते हैं। परन्तु जब 'मन' और 'बुद्धि' में – जैसा कि ऊपर कह आये हैं – भेद किया जाता है तब निग्रह करने का कार्य मन को नहीं, किन्तु व्यवसायात्मिक बुद्धि को ही करना पड़ता है। इस व्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये – पातंजलयोग की समाधि से, भक्ति से, ज्ञान से अथवा ध्यान से परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को पहचान कर – यह तत्त्व पूर्णतया बुद्धि में भिद जाना चाहिये कि, 'सब प्राणियों में एक ही आत्मा है'। इसी को आत्मनिष्ठ बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार जब व्यवसायात्मिक बुद्धि आत्मनिष्ठ हो जाती है और मनोनिग्रह की सहायता से मन और इन्द्रियाँ उसकी अधीनता में रह कर आज्ञानुसार आचरण करना सीख जाती हैं तब इच्छा वासना आदि मनोधर्म (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) आप-ही आप शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं और शुद्ध सात्त्विक कर्मों की ओर देहेन्द्रियों की सहज ही प्रवृत्ति होने लगती है। अध्यात्म दृष्टि से यही सब सदाचरणों की जड़ अर्थात् कर्मयोगशास्त्र का रहस्य है।

ऊपर किये गये विवेचन से पाठक समझ जावेंगे कि हमारे शास्त्रकारों ने मन और बुद्धि की स्वाभाविक वृत्तियों के अतिरिक्त सदसद्विवेक-शक्तिरूप स्वतन्त्र देवता का अस्तित्व क्यों नहीं माना है। उनके मतानुसार भी मन या बुद्धि का गौरव करने के लिये उन्हें देवता कहने में कोई हर्ज नहीं है, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करके उन्होंने निश्चित सिद्धान्त किया है कि जिसे हम मन या बुद्धि कहते हैं उससे भिन्न और स्वयम्भू 'सदसद्विवेक' नामक किसी तीसरे देवता का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। 'सतां हि सन्देहपदेषु' वचन के 'सतां' पद की उपयुक्तता और महत्ता भी अब भली भाँति प्रकट हो जाती है। जिनके मन शुद्ध और आत्मनिष्ठ हैं वे यदि अपने अन्तःकरण की गवाही दें तो कोई अनुचित बात न होगी अथवा यह भी कहा जा सकता है कि किसी काम को करने के पहले उनके लिये यही उचित है कि वे अपने मन को अच्छी तरह शुद्ध करके उसी की गवाही लिया करें। परन्तु यदि कोई चोर कहने लगे कि मैं भी इसी प्रकार आचरण करता हूँ तो यह कदापि उचित न होगा। क्योंकि, दोनों की सदसद्विवेचन-शक्ति एक ही सी नहीं होती। सत्पुरुषों की बुद्धि सात्त्विक और चोरों की तामसी होती है। तात्पर्य आधिदैवत

पक्षवालों का 'सदसद्विवेक-देवता' तत्त्वज्ञान की दृष्टि से स्वतन्त्र देवता सिद्ध नहीं होता, किन्तु हमारे शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि वह तो व्यवसायात्मिक बुद्धि के स्वरूपों ही में से एक आत्मनिष्ठ अर्थात् सात्त्विक स्वरूप है। और जब यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है, तब आधिदैवत पक्ष भी अपने आप ही कमज़ोर हो जाता है।

जब सिद्ध हो गया कि आधिभौतिक-पक्ष एकदेशीय तथा अपूर्ण है और आधिदैवत पक्ष की सहज युक्ति भी किसी काम की नहीं, तब यह जानना आवश्यक है कि कर्मयोगशास्त्र की उपपत्ति ढूँढ़ने के लिये कोई अन्य मार्ग है या नहीं। और उत्तर भी यह मिलता है कि हाँ मार्ग है, और उसी को आध्यात्मिक कहते हैं। इसका कारण यह है कि यद्यपि बाह्य-कर्मों की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, तथापि जब सदसद्विवेक-बुद्धि नामक स्वतन्त्र और स्वयम्भू देवता का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, तब कर्मयोगशास्त्र में भी इन प्रश्नों का विचार करना आवश्यक हो जाता है कि शुद्ध कर्म करने के लिये बुद्धि को किस प्रकार शुद्ध रखना चाहिये, शुद्ध बुद्धि किसे कहते हैं, अथवा बुद्धि किस प्रकार शुद्ध की जा सकती है। और यह विचार केवल बाह्य-सृष्टि का विचार करनेवाले आधिभौतिकशास्त्रों को छोड़े बिना, तथा अध्यात्मज्ञान में प्रवेश किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता। इस विषय में हमारे शास्त्रकारों का अन्तिम सिद्धान्त यही है कि जिस बुद्धि को आत्मा का अथवा परमेश्वर के सर्वव्यापी यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, वह बुद्धि शुद्ध नहीं है। गीता में अध्यात्मशास्त्र का निरूपण यही समझाने के लिये किया गया है कि आत्मनिष्ठ बुद्धि किसे कहना चाहिये। परन्तु इस पूर्वापर-सम्बन्ध की ओर ध्यान न दे कर, गीता के कुछ साम्प्रदायिक टीकाकारों ने यह निश्चय किया है कि गीता में मुख्य प्रतिपाद्य वेदान्त ही है। आगे चल कर यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई जायगी कि गीता में प्रतिपादन किये गये विषय के सम्बन्ध में उक्त टीकाकारों का किया हुआ निर्णय ठीक नहीं है। यहाँ पर सिर्फ यही बतलाया है कि बुद्धि को शुद्ध रखने के लिये आत्मा का भी अवश्य विचार करना पड़ता है। आत्मा के विषय में यह विचार दो प्रकार किया जाता है – (१) स्वयं अपने पिण्ड, क्षेत्र अथवा शरीर के और मन के व्यापारों का निरीक्षण करके यह विचार करना कि उस निरीक्षण से क्षेत्रज्ञरूपी आत्मा कैसे निष्पन्न होता है (गी. अ. १३)। इसी को शारीरिक अथवा क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार कहते हैं, और इसी कारण वेदान्तसूत्रों को शारीरक (शरीर का विचार करनेवाले) सूत्र कहते हैं। स्वयं अपने अपने शरीर और मन का इस प्रकार विचार होने पर (२) जानना चाहिये कि उस विचार से निष्पन्न होनेवाला तत्त्व – और हमारे चारों ओर की दृश्य-सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड के निरीक्षण से निष्पन्न होनेवाला तत्त्व – दोनों एक ही हैं अथवा भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार किये गये सृष्टि के निरीक्षण को क्षर-अक्षर-विचार अथवा व्यक्त-अव्यक्त विचार कहते हैं। सृष्टि के सब नाशवान् पदार्थों को 'क्षर' या 'व्यक्त' कहते हैं और सृष्टि के उन नाशवान् पदार्थों में जो सारभूत नित्यतत्त्व है, उसे अक्षर या अव्यक्त

पृथक् पृथक् व्यापार हुआ करते हैं, इनका एकत्र ज्ञान होने के लिये जो एकता करनी पड़ती है, वह एकता या एकीकरण कौन करता है, तथा उसी के अनुसार आगे सब इन्द्रियों को अपना अपना व्यापार तदनुकूल करने की दिशा कौन दिखाता है। यह नहीं कहा जा सकता, कि यह सब काम मनुष्य का जड़ शरीर ही किया करता है। इसका कारण यह है, कि जब शरीर की चेतना अथवा सब हलचल करने के व्यापार नष्ट हो जाते हैं, तब जड़ शरीर के बने रहने पर भी वह इन कामों को नहीं कर सकता; और जड़ शरीर के घटकावयव जैसे मांस, स्नायु इत्यादि तो अन्न के परिणाम हैं तथा वे हमेशा जीर्ण हो कर नये हो जाया करते हैं। इसलिये 'कल जो मैंने अमुक एक बात देखी थी, वही मैं आज दूसरी देख रहा हूँ' इस प्रकार की एकत्व-बुद्धि के विषय में यह नहीं कहा जा सकता, कि वह नित्य बदलनेवाले जड़ शरीर का ही धर्म है। अच्छा, अब जड़ देह छोड़ कर चेतना को ही स्वामी मानें, तो यह आपत्ति दीख पड़ती है, कि गाढ़ निद्रा में प्राणादि वायु के श्वासोच्छ्वास प्रभृति व्यापार अथवा रुधिराभिसरण आदि व्यापार – अर्थात् चेतना – के रहते हुए भी 'मैं' का ज्ञान नहीं रहता (बृ. २. १. १५–१८)। अतएव यह सिद्ध होता है, कि चेतना – अथवा प्राण प्रभृति का व्यापार – भी जड़ पदार्थ में उत्पन्न होनेवाला एक प्रकार का विशिष्ट गुण है। वह इन्द्रियों के सब व्यापारों की एकता करनेवाली मूलशक्ति या स्वामी नहीं है (कठ. ५. ५)। 'मेरा' और 'तेरा' इन सम्बन्धकारक शब्दों से केवल अहंकाररूपी गुण का बोध होता है; परन्तु इस बात का निर्णय नहीं होता, कि 'अहं' अर्थात् 'मैं' कौन हूँ। यदि इस 'मैं' या 'अहं' को केवल भ्रम मान लें, तो प्रत्येक की प्रतीति अथवा अनुभव वैसा नहीं है; और इस अनुभव को छोड़ कर किसी अन्य बात की कल्पना करना मानों श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के निम्न वचनों की सार्थकता ही कर दिखाना है – 'प्रतीति के बिना कोई भी कथन अच्छा नहीं लगता। वह कथन ऐसा होता है, जैसे कुत्ता मुँह फैला कर रो गया हो!' (दा. ९. ५. १५)। अनुभव के विपरीत इस बात को मान लेने पर भी इन्द्रियों के व्यापारों की एकता की उपपत्ति का कुछ भी पता नहीं लगता। कुछ लोगों की राय है, कि 'मैं' कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, क्षेत्र शब्द में जिन – मन, बुद्धि, चेतना, जड़ देह आदि – तत्त्वों का समावेश किया जाता है, उन सब के संघात या समुच्चय को ही 'मैं' कहना चाहिये। अब यह बात हम प्रत्यक्ष देखा करते हैं, कि लकड़ी पर लकड़ी रख देने से ही सन्दूक नहीं बन जाती; अथवा किसी घड़ी के सब कील पुर्जों को एक स्थान में रख देने से ही उसमें गति उत्पन्न नहीं हो जाती। अतएव यह नहीं कहा जा सकता, कि केवल संघात या समुच्चय से ही कर्तृत्व उत्पन्न होता है। कहने की आवश्यकता नहीं, कि क्षेत्र के सब व्यापार सीमी सरीखे नहीं होते। किन्तु उनमें कोई विशिष्ट दिशा, उद्देश या हेतु रहता है। तो फिर क्षेत्ररूपी कारखाने में काम करनेवाले मन, बुद्धि आदि सब नौकरों को इस विशिष्ट दिशा या उद्देश की ओर कौन प्रवृत्त

करता है? संघात का अर्थ केवल समूह है। कुछ पदार्थों को एकत्र करके उनका एक समूह बन जाने पर भी बिखरा न होने के लिये उनमें धागा डालना पड़ता है। नहीं तो वे फिर कभी-न-कभी अलग अलग हो जायेंगे। अब हमें सोचना चाहिये, कि यह धागा कौनसा है? यह बात नहीं है, कि गीता को संघात मान्य न हो; परन्तु उसकी गणना क्षेत्र ही में की जाती है (गीता १३. ६)। संघात से इस बात का निर्णय नहीं होता, कि क्षेत्र का स्वामी अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है। कुछ लोग समझते हैं कि समुच्चय में कोई नया गुण उत्पन्न हो जाता है। परन्तु पहले तो यह मत ही सत्य नहीं; क्योंकि तत्त्वज्ञों ने पूर्ण विचार करके सिद्धान्त कर दिया है, कि जो पहले किसी भी रूप से अस्तित्व में नहीं था, वह इस जगत् में नया उत्पन्न नहीं होता (गीता २. १६)। यदि हम इस सिद्धान्त को क्षण भर के लिये एक ओर धर दें तो भी यह प्रश्न सहज ही उपस्थित हो जाता है, कि संघात में उत्पन्न होनेवाला यह नया गुण ही क्षेत्र का स्वामी क्यों न माना जाय। इस पर कई अर्वाचीन आधिभौतिकशास्त्रियों का कथन है कि द्रव्य और उसके गुण भिन्न भिन्न नहीं रह सकते; गुण के लिये किसी-न-किसी अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। इसी कारण समुच्चयोत्पन्न गुण के बदले लोग समुच्चय ही को उस क्षेत्र का स्वामी मानते हैं। ठीक है; परन्तु व्यवहार में भी अग्नि शब्द के बदले लकड़ी, विद्युत् के बदले मेघ अथवा पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के बदले पृथ्वी ही क्यों नहीं कहा जाता? यदि यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि क्षेत्र के सब व्यापार व्यवस्थापूर्वक उचित रीति से मिल-जुल कर चलते रहने के लिये – मन और बुद्धि के सिवा – किसी भिन्न शक्ति का अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है। और यदि यह बात सच हो, कि उस शक्ति का अधिष्ठान अब तक हमारे लिये अगम्य है अथवा उस शक्ति या अधिष्ठान का पूर्ण स्वरूप ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता है, तो यह कहना न्यायोचित कैसे हो सकता है, कि वह शक्ति है ही नहीं? जैसे कोई भी मनुष्य अपने ही कन्धे पर बैठ नहीं सकता, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता, कि संघातसम्बन्धी ज्ञान स्वयं संघात ही प्राप्त कर लेता है। अतएव तर्क की दृष्टि से भी यही दृढ़ अनुमान किया जाता है, कि देहेन्द्रिय आदि संघात के व्यापार जिसके उपभोग के लिये अथवा लाभ हुआ करते हैं, वह संघात से भिन्न ही है। यह तत्त्व – जो कि संघात से भिन्न है – स्वयं सब बातों को जानता है। इसलिये यह बात सच है, कि सृष्टि के अन्य पदार्थों के सदृश यह स्वयं अपने ही लिये 'ज्ञेय' अर्थात् गोचर हो नहीं सकता। परन्तु इसके अस्तित्व में कुछ बाधा नहीं पड़ सकती। क्योंकि यह नियम नहीं है, कि सब पदार्थों को एक ही श्रेणी या वर्ग (जैसे ज्ञेय) में शामिल कर लेना चाहिये। सब पदार्थों के वर्ग या विभाग होते हैं, जैसे ज्ञाता और ज्ञेय – अर्थात् जाननेवाला और जानने की वस्तु। और जब कोई वस्तु दूसरे वर्ग (ज्ञेय) में शामिल नहीं होती, तब उसका समावेश

चलते हैं (गी. ८. २१; १५. १६)। क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार और क्षर अक्षर-विचार से प्राप्त होनेवाले इन दोनों तत्त्वों का फिर से विचार करने पर प्रकट होता है कि ये दोनों तत्त्व जिससे निष्पन्न हुए हैं और इन दोनों के परे जो सब का मूलभूत एकतत्त्व है, उसी को 'परमात्मा' अथवा 'पुरुषोत्तम' कहते हैं (गी. ८. २)। इन बातों का विचार भगवद्गीता में किया गया है और अन्त में कर्मयोगशास्त्र की उपपत्ति बतलाने के लिये यह दिखलाया गया है, कि मूलभूत परमात्मरूपी तत्त्व के ज्ञान से बुद्धि किस प्रकार शुद्ध हो जाती है। अतएव उस उपपत्ति को अच्छी तरह समझ लेने के लिये हमें भी उन्हीं मार्गों का अनुकरण करना चाहिये। इन मार्गों में से ब्रह्माण्ड ज्ञान अथवा क्षर अक्षर विचार का विवेचन अगले प्रकरण में किया जायगा। इस प्रकरण में सदसद्विवेक देवता के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिये पिण्ड-ज्ञान अथवा क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का जो विवेचन आरम्भ किया गया वह अधूरा ही रह गया है। इस लिये अब उसे पूरा कर लेना चाहिये।

पाँचभौतिक स्थूल देह, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, इन ज्ञानेन्द्रियों के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मक पाँच विषय, संकल्प-विकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिक बुद्धि – इन सब विषयों का विवेचन हो चुका। परन्तु, इतने ही से शरीरसम्बन्धी विचार की पूर्णता हो नहीं जाती। मन और बुद्धि केवल विचार के साधन अथवा इन्द्रियाँ हैं। यदि उस जड शरीर में इनके अतिरिक्त प्राणरूपी चेतना अर्थात् हलचल न हो, तो मन और बुद्धि का होना न होना बराबर ही – अर्थात् किसी काम का नहीं – समझा जायगा। अर्थात्, शरीर में उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त चेतना नामक एक और तत्त्व का भी समावेश होना चाहिये। कभी कभी 'चेतना' शब्द का अर्थ 'चैतन्य' नहीं माना गया है; वरन् जड देह में दृग्गोचर होनेवाली प्राणों की हलचल, चेष्टा या जीवितावस्था का व्यवहार सिर्फ यही अर्थ विवक्षित है। जिस चित्‌शक्ति के द्वारा जड पदार्थों में भी हलचल अथवा व्यापार उत्पन्न हुआ करता है, उसको चैतन्य कहते हैं और अब इसी शक्ति के विषय में विचार करना है। शरीर में दृग्गोचर होनेवाले सजीवता के व्यापार अथवा चेतना के अतिरिक्त जिसके कारण 'मेरा तेरा' यह भेद उत्पन्न होता है, वह भी एक भिन्न गुण है। उसका कारण यह है कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार बुद्धि सार-असार का विचार करके केवल निर्णय करनेवाली एक इन्द्रिय है; अतएव 'मेरा-तेरा' इस भेद भाव के मूल को अर्थात् अहंकार को उस बुद्धि से पृथक् ही मानना पड़ता है। इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व मन ही के गुण हैं। परन्तु नैयायिक इन्हें आत्मा के गुण समझते हैं। इसी लिये इस भ्रम को हटाने के भय वेदान्तशास्त्र ने इसका समावेश मन ही में किया है। इसी प्रकार जिन मूलतत्त्वों से पंचमहाभूत उत्पन्न हुए हैं उन प्रकृतिरूप तत्त्वों का भी समावेश शरीर ही में किया जाता है (गी. १३. ५. ६)। जिस शक्ति के द्वारा ये तत्त्व स्थिर रहते हैं वह भी इन सब से न्यारी है। उसे धृति कहते हैं (गी. १८. ३३)। इन सब बातों को एकत्र करने से जो समुच्चय-रूपी पदार्थ बनता है

उसे शास्त्रों में सविकार शरीर अथवा क्षेत्र कहा है; और व्यवहार में इसी चलते फिरते (सविकार) मनुष्य शरीर अथवा पिण्ड कहते हैं। क्षेत्र शब्द की यह व्याख्या गीता के आधार पर की गई है; परन्तु इच्छा-द्वेष आदि गुणों की गणना करते समय कभी इस व्याख्या में कुछ हेरफेर भी कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, शान्ति-पर्व के जनक-सुलभा-संवाद (शां. ३२०) में शरीर की व्याख्या करते समय पंचकर्मेन्द्रियों के बदले काल, सदसद्भाव, विधि, शुक्र और बल का समावेश किया गया है। इस गणना के अनुसार पंचकर्मेन्द्रियों को पंचमहाभूतों ही में शामिल करना पड़ता है; और यह मानना पड़ता है, कि गीता की गणना के अनुसार काम का अन्तर्भाव आकाश में और विधि-बल आदिकों का अन्तर्भाव अन्य महाभूतों में किया गया है। कुछ भी हो; इसमें सन्देह नहीं, कि क्षेत्र शब्द से सब लोगों का एक ही अर्थ अभिप्रेत है। अर्थात्, मानसिक और शारीरिक सब द्रव्यों और गुणों का प्राणधारी विशिष्ट चेतनायुक्त जो समुदाय है, उसी को क्षेत्र कहते हैं। शरीर शब्द का उपयोग मृत देह के लिये भी किया जाता है। अतएव इस विषय का विचार करते समय 'क्षेत्र' शब्द ही का अधिक उपयोग किया जाता है। क्योंकि वह शरीर शब्द से भिन्न है। 'क्षेत्र' का मूल अर्थ खेत है; परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में 'सविकार और सजीव मनुष्य-देह' के अर्थ में उसका लाक्षणिक उपयोग किया गया है। पहले जिसे हमने 'बड़ा कारखाना' कहा है वह यही 'सविकार और सजीव मनुष्य देह' है। बाहर का माल भीतर लेने के लिये और कारखाने के भीतर का माल बाहर भेजने के लिये ज्ञानेन्द्रियाँ इस कारखाने के यथाक्रम द्वार हैं; और मन, बुद्धि, अहंकार एवं चेतना उस कारखाने में काम करनेवाले नौकर हैं। ये नौकर जो कुछ व्यवहार करते हैं या कराते हैं उन्हें इस क्षेत्र के व्यापार, विकार अथवा कर्म कहते हैं।

इस प्रकार 'क्षेत्र' शब्द का अर्थ निश्चित हो जाने पर यह प्रश्न सहज ही उठता है, कि यह क्षेत्र अथवा खेत है किसका? कारखाने का कोई स्वामी भी है या नहीं? आत्मा शब्द का उपयोग बहुधा मन, अन्तःकरण तथा स्वयं अपने लिये भी किया जाता है। परन्तु उसका प्रधान अर्थ 'क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर का स्वामी' ही है। मनुष्य के जितने व्यापार हुआ करते हैं – चाहे वे मानसिक हों या शारीरिक – वे सब उसकी बुद्धि आदि अन्तरिन्द्रियाँ, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा हस्त पाद आदि कर्मेन्द्रियाँ ही किया करती हैं। इन्द्रियों के इस समूह में बुद्धि और मन सब से श्रेष्ठ हैं, परन्तु, यद्यपि वे श्रेष्ठ हैं तथापि अन्य इन्द्रियों के समान वे भी अन्त में जड़ देह या प्रकृति के ही विकार हैं (अगला प्रकरण देखो)। अतएव, यद्यपि मन और बुद्धि सबमें श्रेष्ठ हैं, तथापि उन्हें अपने अपने विशिष्ट व्यापार के अतिरिक्त और कुछ करते धरते नहीं बनता; और न वह कर सकना सम्भव ही है। यही सच है, कि मन चिन्तन करता है और बुद्धि निश्चय करती है; परन्तु इससे यह निश्चित नहीं होता कि इन कर्मों का फल और मन किस के लिये करते हैं? अथवा भिन्न भिन्न समय पर मन और बुद्धि के [illegible] ?

पृथक् पृथक् व्यापार हुआ करते हैं; इनका एकत्र ज्ञान होने के लिये जो एकता करनी पड़ती है, वह एकता या एकीकरण कौन करता है; तथा उसी के अनुसार आगे सब इन्द्रियों को अपना अपना व्यापार तदनुकूल करने की दिशा कौन दिखाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब काम मनुष्य का जड़ शरीर ही किया करता है। इसका कारण यह है कि जब शरीर की चेतना अथवा सब हलचल करने के व्यापार नष्ट हो जाते हैं, तब जड़ शरीर के बने रहने पर भी वह इन कामों को नहीं कर सकता; और जड़ शरीर के घटकावयव जैसे मांस, स्नायु इत्यादि तो अन्न के परिणाम हैं; तथा वे हमेशा जीर्ण हो कर नये हो जाया करते हैं। इसलिये 'कल जो मैंने अमुक एक बात देखी थी, वही मैं आज दूसरी देख रहा हूँ' इस प्रकार की एकत्व-बुद्धि के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह नित्य बदलनेवाले जड़ शरीर का ही धर्म है। अच्छा; अब जड़ देह छोड़ कर चेतना को ही स्वामी मानें, तो यह आपत्ति दीख पड़ती है, कि गाढ़ निद्रा में प्राणादि वायु के श्वासोच्छ्वास प्रभृति व्यापार अथवा रुधिराभिसरण आदि व्यापार – अर्थात् चेतना – के रहते हुए भी 'मैं' का ज्ञान नहीं रहता (बृ. २. १. १५–१८)। अतएव यह सिद्ध होता है कि चेतना – अथवा प्राण प्रभृति का व्यापार – भी जड़ पदार्थ में उत्पन्न होनेवाला एक प्रकार का विशिष्ट गुण है। वह इन्द्रियों के सब व्यापारों की एकता करनेवाली मूलशक्ति या स्वामी नहीं है (कठ. ५. ५)। 'मेरा' और 'तेरा' इन सम्बन्धकारक शब्दों से केवल अहंकाररूपी गुण का बोध होता है; परन्तु इस बात का निर्णय नहीं होता कि 'अहं' अर्थात् 'मैं' कौन हूँ। यदि इस 'मैं' या 'अहं' को केवल भ्रम मान लें, तो प्रत्येक की प्रतीति अथवा अनुभव ऐसा नहीं है; और इस अनुभव को छोड़ कर किसी अन्य बात की कल्पना करना मानों श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के निम्न वचनों की सार्थकता ही कर दिखाना है – "प्रतीति के बिना कोई भी कथन अच्छा नहीं लगता। वह कथन ऐसा होता है जैसे कुत्ता मुँह फैला कर रो गया हो!" (दा. ९. ५. १५)। अनुभव के विपरीत इस बात को मान लेने पर भी इन्द्रियों के व्यापारों की एकता की उपपत्ति का कुछ भी पता नहीं लगता। कुछ लोगों की राय है कि 'मैं' कोई भिन्न पदार्थ नहीं है; 'क्षेत्र' शब्द में जिन – मन, बुद्धि, चेतना, जड़ देह आदि – तत्त्वों का समावेश किया जाता है, उन सब के संघात या समुच्चय को ही 'मैं' कहना चाहिये। अब यह बात हम प्रत्यक्ष देखा करते हैं कि लकड़ी पर लकड़ी रख देने से ही सन्दूक नहीं बन जाती; अथवा किसी घड़ी के सब कील-पुर्जों को एक स्थान में रख देने से ही उसमें गति उत्पन्न नहीं हो जाती। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि केवल संघात या समुच्चय से ही कर्तृत्व उत्पन्न होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि क्षेत्र के सब व्यापार चींटी सरीखे नहीं होते। किन्तु उनमें कोई विशिष्ट दिशा, उद्देश या हेतु रहता है। तो फिर क्षेत्ररूपी कारखाने में काम करनेवाले मन, बुद्धि आदि सब नौकरों को इस विशिष्ट दिशा या उद्देश की ओर कौन प्रवृत्त

करता है? संघात का अर्थ केवल समूह है। कुछ पदार्थों को एकत्र करके उनका एक समूह बन जाने पर भी बिखरा न होने के लिये उनमें धागा डालना पड़ता है। नहीं तो वे फिर कभी-न-कभी अलग अलग हो जायँगे। अब हमें सोचना चाहिये, कि यह धागा कौनसा है? यह बात नहीं है कि गीता को संघात मान्य न हो। परन्तु उसकी गणना क्षेत्र ही में की जाती है (गीता १३. ६)। संघात से इस बात का निर्णय नहीं होता कि क्षेत्र का स्वामी अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है। कुछ लोग समझते हैं कि समुच्चय में कोई नया गुण उत्पन्न हो जाता है। परन्तु पहले तो यह मत ही सत्य नहीं; क्योंकि तत्त्वज्ञों ने पूर्ण विचार करके सिद्धान्त कर दिया है कि जो पहले किसी भी रूप से अस्तित्व में नहीं था वह इस जगत् में नया उत्पन्न नहीं होता (गीता २. १६)। यदि हम इस सिद्धान्त को क्षण भर लिये एक ओर धर दें तो भी यह प्रश्न सहज ही उपस्थित हो जाता है कि संघात में उत्पन्न होनेवाला यह नया गुण ही क्षेत्र का स्वामी क्यों न माना जाय। इस पर कई अर्वाचीन आधिभौतिकशास्त्रज्ञों का कथन है कि द्रव्य और उसके गुण भिन्न भिन्न नहीं रह सकते; गुण के लिये किसी-न-किसी अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। इसी कारण समुच्चयोत्पन्न गुण के बदले वे सब समुच्चय ही को इस क्षेत्र का स्वामी मानते हैं। ठीक है; परन्तु व्यवहार में भी 'अग्नि' शब्द के बदले लकड़ी, विद्युत् के बदले मेघ अथवा पृथ्वी की 'आकर्षण-शक्ति' के बदले पृथ्वी ही क्यों नहीं कहा जाता? यदि यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि क्षेत्र के सब व्यापार व्यवस्थापूर्वक उचित रीति से मिल-जुल कर चलते रहने के लिये – मन और बुद्धि के सिवा – किसी भिन्न शक्ति का अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है। और यदि यह बात सच हो कि उस शक्ति का अधिष्ठान अब तक हमारे लिये अगम्य है अथवा उस शक्ति या अधिष्ठान का पूर्ण-स्वरूप ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता है; तो यह कहना न्यायोचित कैसे हो सकता है कि वह शक्ति है ही नहीं? जैसे कोई भी मनुष्य अपने ही कन्धे पर बैठ नहीं सकता वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि संघातसम्बन्धी ज्ञान स्वयं संघात ही प्राप्त कर लेता है। अतएव तर्क की दृष्टि से भी यही दृढ़ अनुमान किया जाता है कि देहेन्द्रिय आदि संघात के व्यापार जिसके उपभोग के लिये अथवा लाभ होने के लिये हैं वह संघात से भिन्न ही है। यह तत्त्व – जो कि संघात से भिन्न है – स्वयं सब बातों को जानता है। इसलिये यह बात सच है कि सृष्टि के अन्य पदार्थों के सदृश यह स्वयं अपने ही लिये 'ज्ञेय' अर्थात् गोचर हो नहीं सकता। परन्तु इसके अस्तित्व में कुछ बाधा नहीं पड़ सकती। क्योंकि यह नियम नहीं है कि सब पदार्थों का एक ही श्रेणी या वर्ग (जैसे ज्ञेय) में शामिल कर देना चाहिये। सब पदार्थों के वर्ग या विभाग होते हैं; जैसे ज्ञाता और ज्ञेय – अर्थात् जाननेवाला और जानने की वस्तु। और जब कोई वस्तु दूसरे वर्ग (ज्ञेय) में शामिल नहीं होती तब उसका समावेश

पहले वर्ग (ज्ञाता) में हो जाता है। एवं उसका अस्तित्व भी ज्ञेय वस्तु के समान ही पूर्णतया सिद्ध होता है। इतना नहीं किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि संघात के परे जो आत्मतत्त्व है वह स्वयं ज्ञाता है। इसलिये उसको होनेवाले ज्ञान का यदि वह स्वयं विषय न हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी अभिप्राय से बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने कहा है अरे! जो सब बातों को जानता है उसको जाननेवाला दूसरा कहाँ से आ सकता है? – विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृ. २. ४. १४)। अतएव अन्त में यही सिद्धान्त करना पड़ता है कि इस चेतनाविशिष्ट सजीव शरीर (क्षेत्र) में एक ऐसी शक्ति रहती है, जो हाथ-पैर आदि इन्द्रियों से लेकर प्राण चेतना मन और बुद्धि जैसे परतन्त्र एवं एकदेशीय नौकरों के भी परे है जो उन सब के व्यापारों की एकता करती है और उनके कार्यों की दिशा बतलाती है; अथवा जो उनके कर्मों की नित्य साक्षी रह कर उनसे भिन्न अधिक व्यापक और समर्थ है। सांख्य और वेदान्तशास्त्रों का यह सिद्धान्त मान्य है और अर्वाचीन समय में जर्मन तत्त्वज्ञ कान्ट ने भी कहा है कि बुद्धि के व्यापारों का सूक्ष्म निरीक्षण करने से यही तत्त्व निष्पन्न होता है। मन बुद्धि अहंकार और चेतना ये सब शरीर के अर्थात् क्षेत्र के गुण अथवा अवयव हैं। इनका प्रवर्तक इससे भिन्न स्वतन्त्र और इनके परे है – यो बुद्धेः परतस्तु सः (गी. ३. ४२)। सांख्यशास्त्र में इसी का नाम पुरुष है। वेदान्ती इसी को क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र को जाननेवाला आत्मा कहते हैं। मैं हूँ यह प्रत्येक मनुष्य को होनेवाली प्रतीति ही आत्मा के अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण है (वे. सू. शां. भा. ३. ३. ५४)। किसी को यह नहीं मालूम होता कि मैं नहीं हूँ। इतना ही नहीं किन्तु मुख से मैं नहीं हूँ शब्दों का उच्चारण करते समय भी नहीं हूँ इस क्रियापद के कर्ता का – अर्थात् 'मैं' का – अथवा आत्मा का या 'अपना' का अस्तित्व वह प्रत्यक्ष रीति से माना ही करता है। इस प्रकार 'मैं' इस अहंकारयुक्त सगुण रूप से शरीर में स्वयं अपने ही को व्यक्त होनेवाला आत्मतत्त्व के अर्थात् क्षेत्रज्ञ के असली शुद्ध और गुणविरहित स्वरूप का यथाशक्ति निर्णय करने के लिये वेदान्तशास्त्र की उत्पत्ति हुई है। (गी. १३. ४)। तथापि यह निर्णय केवल शरीर अर्थात् क्षेत्र का ही विचार कर के नहीं किया जाता। पहले कहा जा चुका है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार के अतिरिक्त यह भी सोचना पड़ता है कि बाह्यसृष्टि (ब्रह्माण्ड) का विचार करने से कौन-सा तत्त्व निष्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड के इस विचार का ही नाम 'क्षर-अक्षर-विचार' है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार से इस बात का निर्णय होता है कि क्षेत्र में (अर्थात् शरीर या पिण्ड में) कौन-सा मूलतत्त्व (क्षेत्रज्ञ या आत्मा) है और क्षर-अक्षर से बाह्य-सृष्टि के अर्थात् ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व का ज्ञान होता है। जब इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्वों का पहले पृथक् पृथक् निर्णय हो जाता है तब वेदान्त में अन्तिम सिद्धान्त

किया जाता है* कि ये दोनों तत्त्व एकरूप अर्थात् एक ही हैं — यानी 'जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है'। यही चराचर सृष्टि में अन्तिम सत्य है। पश्चिमी देशों में भी इन बातों की चर्चा की गई है और कान्ट जैसे कुछ पश्चिमी तत्त्वज्ञों के सिद्धान्त हमारे वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्तों से बहुत कुछ मिलते-जुलते भी हैं। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं, और जब हम यह भी देखते हैं कि वर्तमान समय की नाई प्राचीन काल में आधिभौतिक शास्त्र की उन्नति नहीं हुई थी तब ऐसी अवस्था में जिन लोगों ने वेदान्त के अपूर्व सिद्धान्तों को ढूँढ निकाला उनके अलौकिक बुद्धिवैभव के बारे में आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। और न केवल आश्चर्य ही होना चाहिये किन्तु उसके बारे में उचित अभिमान भी होना चाहिये।

---

* हमारे शास्त्रों के क्षर-अक्षर-विचार और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार के वर्गीकरण से ग्रीन साहब परिचित न थे। तथापि उन्होंने अपने *Prolegomena to Ethics* ग्रन्थ के आरम्भ में अध्यात्म का जो विवेचन किया है उसमें पहले Spiritual Principle in Nature और Spiritual Principle in Man इन दोनों तत्त्वों का विचार किया है और फिर उनकी एकता दिखाई गई है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में Psychology आदि मानस शास्त्रों का और क्षर-अक्षर-विचार में Physics, Metaphysics आदि शास्त्रों का समावेश होता है। इस बात को पश्चिमी पण्डित भी मानते हैं कि उक्त सब शास्त्रों का विचार कर लेने पर ही आत्मस्वरूप का निर्णय करना पड़ता है।

सातवाँ प्रकरण

कापिलसांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार

> प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । *
>
> – गी. १३.१९

पिछले प्रकरण में यह बात बतला दी गई है कि शरीर और शरीर के स्वामी या अधिष्ठाता – क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ – के विचार के साथ ही साथ दृश्यसृष्टि और उसके मूलतत्त्व – क्षर और अक्षर – का भी विचार करने के पश्चात् फिर आत्मा के स्वरूप का निर्णय करना पड़ता है। इस क्षर-अक्षर सृष्टि का योग्य रीति से वर्णन करनेवाले तीन शास्त्र हैं। पहला न्यायशास्त्र और दूसरा कापिलसांख्यशास्त्र। परन्तु इन दोनों शास्त्रों के सिद्धान्तों को अपूर्ण ठहरा कर वेदान्तशास्त्र ने ब्रह्म-स्वरूप का निर्णय एक तीसरी ही रीति से किया है। इस कारण वेदान्तप्रतिपादित उपपत्ति का विचार करने के पहले हमें न्याय और सांख्यशास्त्रों के सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिये। बादरायणाचार्य के वेदान्तसूत्रों में इसी पद्धति से काम लिया गया है; और न्याय तथा सांख्य के मतों का दूसरे अध्याय में खण्डन किया गया है। यद्यपि इस विषय का यहाँ पर विस्तृत वर्णन नहीं कर सकते तथापि हमने उन बातों का उल्लेख इस प्रकरण में और अगले प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है कि जिनकी भगवद्गीता का रहस्य समझने में आवश्यकता है। नैयायिकों के सिद्धान्तों की अपेक्षा सांख्यवादियों के सिद्धान्त अधिक महत्त्व के हैं। इसका कारण यह है कि कणाद के न्यायमतों को किसी भी प्रमुख वेदान्ती ने स्वीकार नहीं किया है परन्तु कापिलसांख्यशास्त्र के बहुत से सिद्धान्तों का उल्लेख मनु आदि के स्मृतिग्रन्थों में तथा गीता में भी पाया जाता है। यही बात बादरायणाचार्य ने भी (वे. सू. २. १. १२ और २. २. १७) कही है। इस कारण पाठकों को सांख्य के सिद्धान्तों का परिचय प्रथम ही होना चाहिये। इस में सन्देह नहीं कि वेदान्त में सांख्यशास्त्र के बहुत से सिद्धान्त पाये जाते हैं; परन्तु स्मरण रहे कि सांख्य और वेदान्त के अन्तिम सिद्धान्त एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदान्त और सांख्य के जो सिद्धान्त आपस में मिलते जुलते हैं उन्हें पहले किसने निकाला था – वेदान्तियों ने या सांख्यवादियों ने? परन्तु इस ग्रन्थ में इतने गहन विचार में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रश्न का उत्तर तीन प्रकार से दिया जा सकता है। पहला यह कि शायद उपनिषद् (वेदान्त) और सांख्य दोनों की वृद्धि दो सगे भाइयों के समान साथ ही साथ हुई हो और उपनिषदों में जो सिद्धान्त सांख्यों के मतों के समान दीख पड़ते हैं

---

* प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जानो।

उन्हें उपनिषत्कारों ने स्वतंत्र रीति से खोज निकाला हो। दूसरा यह, कि कदाचित् कुछ सिद्धान्त सांख्यशास्त्र से लेकर वेदान्तियों ने उन्हें वेदान्त के अनुकूल स्वरूप दे दिया हो। तीसरा यह कि प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों में ही कपिलाचार्य ने अपने मत के अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके सांख्यशास्त्र की उपपत्ति कर दी हो। इन तीनों में से तीसरी बात ही अधिक विश्वसनीय ज्ञात होती है क्योंकि, यद्यपि वेदान्त और सांख्य दोनों बहुत प्राचीन हैं तथापि उनमें वेदान्त या उपनिषद् सांख्य से भी अधिक प्राचीन (श्रौत) हैं। अस्तु यदि पहले हम न्याय और सांख्य के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ लें तो फिर वेदान्त के – विशेषतः गीता-प्रतिपादित वेदान्त के – तत्त्व जल्दी समझ आ जायेंगे। इसलिये पहले हम इस बात का विचार करना चाहिये कि इन दो स्मार्त शास्त्रों का, क्षर अक्षर-सृष्टि की रचना के विषय में क्या मत है।

बहुतेरे लोग न्यायशास्त्र का यही उपयोग समझते हैं कि किसी विवक्षित अथवा गृहीत बात से तर्क के द्वारा कुछ अनुमान कैसे निकाले जावें और इन अनुमानों में से यह निर्णय कैसे किया जावे कि कौन-से सही हैं और कौन-से गलत हैं। परन्तु यह भूल है। अनुमानादि प्रमाणखण्ड न्यायशास्त्र का एक भाग है सही परन्तु यही कुछ उसका प्रधान विषय नहीं है। प्रमाणों के अतिरिक्त, सृष्टि की अनेक वस्तुओं का यानी प्रमेय पदार्थों का वर्गीकरण करके नीचे के वर्ग से ऊपर के वर्ग की ओर चढ़ते जाने से सृष्टि के सब पदार्थों के मूलवर्ग कितने हैं उनके गुण धर्म क्या हैं उनसे अन्य पदार्थों की उत्पत्ति कैसी होती है, और ये बातें किस प्रकार सिद्ध हो सकती हैं इत्यादि अनेक प्रश्नों का भी विचार न्यायशास्त्र में किया गया है। यही कहना उचित होगा कि यह शास्त्र केवल अनुमान खण्ड का विचार करने के लिये नहीं वरन् उक्त प्रश्नों का विचार करने ही के लिये निर्माण किया गया है। कणाद के न्यायसूत्रों का आरम्भ और आगे की रचना भी इसी प्रकार की है। कणाद के अनुयायियों को काणाद कहते हैं। इन लोगों का कहना है कि जगत् का मूलकारण परमाणु ही है। परमाणु के विषय में कणाद की और पश्चिमी आधिभौतिक-शास्त्रज्ञों की व्याख्या एक ही समान है। किसी भी पदार्थ का विभाग करते करते अन्त में जब विभाग नहीं हो सकता तब उसे परमाणु (परम + अणु) कहना चाहिये। जैसे जैसे ये परमाणु एकत्र होते जाते हैं वैसे वैसे संयोग के कारण उनमें नये नये गुण उत्पन्न होते हैं और भिन्न भिन्न पदार्थ बनते जाते हैं। मन और आत्मा के भी परमाणु होते हैं और जब वे एकत्र होते हैं तब चैतन्य की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी जल तेज, और वायु के परमाणु स्वभाव ही से पृथक् पृथक् हैं। पृथ्वी के मूलपरमाणु में चार गुण (रूप रस गन्ध स्पर्श) हैं पानी के परमाणु में तीन गुण हैं तेज के परमाणु में दो गुण हैं और वायु के परमाणु में एक ही गुण है। इस प्रकार सब जगत् पहले से ही

सूक्ष्म और नित्य परमाणुओं से भरा हुआ है। परमाणुओं के सिवा संसार का मूलकारण और कुछ भी नहीं है। जब सूक्ष्म और नित्य परमाणुओं के परस्पर संयोग का आरम्भ होता है तब सृष्टि के व्यक्त पदार्थ बनने लगते हैं। नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध की कल्पना को 'आरम्भ-वाद' कहते हैं। कुछ नैयायिक इसके आगे कभी नहीं बढ़ते। एक नैयायिक के बारे में कहा जाता है कि मृत्यु के समय जब उससे ईश्वर का नाम लेने को कहा गया तब वह "पीलवः! पीलवः! पीलवः! – परमाणु! परमाणु! परमाणु! – चिल्ला उठा। कुछ दूसरे नैयायिक यह मानते हैं कि परमाणुओं के संयोग का निमित्तकारण ईश्वर है! इस प्रकार वे सृष्टि की कारण-परम्परा की शृंखला को पूर्ण कर लेते हैं। ऐसे नैयायिकों को सेश्वर कहते हैं। वेदान्तसूत्र के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद में इस परमाणुवाद का (२.२.११–१७) और इसके साथ ही साथ ईश्वर केवल निमित्तकारण है इस मत का भी (२.२.३७–३९) खण्डन किया गया है।

उल्लिखित परमाणुवाद का वर्णन पढ़ कर अंग्रेजी पढ़े-लिखे पाठकों को अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञ डाल्टन के परमाणुवाद का अवश्य ही स्मरण होगा। परन्तु पश्चिमी देशों में प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ डार्विन के उत्क्रान्तिवाद ने जिस प्रकार डाल्टन के परमाणुवाद की जड़ ही उखाड़ दी है उसी प्रकार हमारे देश में भी प्राचीन समय में सांख्य मत ने कणाद के मत की बुनियाद हिला डाली थी। कणाद के अनुयायी यह नहीं बतला सकते कि मूल परमाणु को गति कैसे मिली। इसके अतिरिक्त वे लोग इस बात का भी यथोचित निर्णय नहीं कर सकते कि वृक्ष, पशु, मनुष्य इत्यादि सचेतन प्राणियों की क्रमशः बढ़ती हुई श्रेणियाँ कैसे बनीं; और अचेतन को सचेतनता कैसे प्राप्त हुई। यह निर्णय पश्चिमी देशों में उन्नीसवीं सदी में लामार्क और डार्विन ने तथा हमारे यहाँ प्राचीन समय में कपिलमुनि ने किया है। दोनों मतों का यही तात्पर्य है कि एक ही मूलपदार्थ के गुणों का विकास हुआ और फिर धीरे धीरे सब सृष्टि की रचना होती गई। इस कारण पहले हिन्दुस्थान में और अब पश्चिमी देशों में भी परमाणुवाद पर विश्वास नहीं रहा है। अब तो आधुनिक पदार्थशास्त्रज्ञों ने यह भी सिद्ध कर दिखाया है कि परमाणु अविभाज्य नहीं है। आजकल जैसे सृष्टि के अनेक पदार्थों का पृथक्करण और परीक्षण करके अनेक सृष्टिशास्त्रों के आधार पर परमाणुवाद या उत्क्रान्तिवाद को सिद्ध कर देते हैं वैसे प्राचीन समय में नहीं कर सकते थे। सृष्टि के पदार्थों पर नये नये और भिन्न भिन्न प्रयोग करना अथवा अनेक प्रकार से उनका पृथक्करण करके उनके गुण-धर्म निश्चित करना या सजीव सृष्टि के नये पुराने अनेक प्राणियों के शारीरिक अवयवों की एकत्र तुलना करना इत्यादि आधिभौतिक शास्त्रों की अर्वाचीन युक्तियाँ कणाद या कपिल को मालूम नहीं थीं। उस समय उनकी दृष्टि के सामने जितनी सामग्री थी उसी के आधार पर उन्हों ने अपने सिद्धान्त

हैं निकले हैं। तथापि यह आश्चर्य की बात है कि सृष्टि की वृद्धि और उसकी घटना के विषय में सांख्यशास्त्रकारों के तात्विक सिद्धान्त में और अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रकारों के तात्विक सिद्धान्त में, बहुत-सा भेद नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि सृष्टिशास्त्र के ज्ञान की वृद्धि के कारण वर्तमान समय में इस मत की आधिभौतिक उपपत्ति का वर्णन अधिक नियमबद्ध प्रणाली से किया जा सकता है और आधिभौतिक ज्ञान की वृद्धि के कारण हमें व्यवहार की दृष्टि से भी बहुत लाभ हुआ है। परन्तु आधिभौतिक शास्त्रकार भी एक ही अव्यक्त प्रकृति से अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि कैसे हुई इस विषय में कपिल की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं बतला सकते। इस बात को भली भाँति समझा देने के लिये ही हमने आगे चल कर, बीच बीच में कपिल के सिद्धान्तों के साथ हेकेल के सिद्धान्तों का भी तुलना के लिये संक्षिप्त वर्णन किया है। हेकेल ने अपने ग्रन्थ में साफ़ साफ़ लिख दिया है कि मैंने ये सिद्धान्त कुछ नये सिरे से नहीं खोजे हैं वरन् डार्विन स्पेन्सर, इत्यादि पिछले आधिभौतिक पंडितों के ग्रन्थों के आधार से ही मैं अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता हूँ। तथापि पहले पहल उसी ने इन सब सिद्धान्तों को ठीक ठीक नियमानुसार लिख कर सरलता पूर्वक उनका एकत्र वर्णन विश्व की पहेली * नामक ग्रन्थ में किया है। इस कारण सुभीते के लिये हमने उसे ही सब आधिभौतिक तत्त्वज्ञों का मुखिया माना है और उसी के मतों का इस प्रकरण में तथा अगले प्रकरण में विशेष उल्लेख किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उल्लेख बहुत ही संक्षिप्त है परन्तु इससे अधिक इन सिद्धान्तों का विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं किया जा सकता। जिन्हें इस विषय का विस्तृत वर्णन पढ़ना हो उन्हें स्पेन्सर, डार्विन हेकल आदि पण्डितों के मूलग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

कापिल के सांख्यशास्त्र का विचार करने के पहले यह कह देना उचित होगा कि 'सांख्य' शब्द के दो भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। पहला अर्थ कपिलाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'सांख्यशास्त्र' है। उसी का उल्लेख इस प्रकरण में तथा एक बार भगवद्गीता (१८. १३) में भी किया गया है। परन्तु इस विशिष्ट अर्थ के सिवा सब प्रकार के तत्त्वज्ञान का भी सामान्यतः 'सांख्य' ही कहने की परिपाटी है; और इसी 'सांख्य' शब्द में वेदान्तशास्त्र का भी समावेश किया है। 'सांख्यनिष्ठा' अथवा 'सांख्ययोग' शब्द में 'सांख्य' का यही सामान्य अर्थ अभीष्ट है। इस निष्ठा के ज्ञानी पुरुषों को भी भगवद्गीता में जहाँ (गी. ३. ३; ५. ४, ५ और १३. २४) 'सांख्य' कहा है वहाँ सांख्य का अर्थ केवल कापिल सांख्यमार्गी ही नहीं है वरन् उसमें, आत्म अनात्म-विचार से सब कर्मों का सन्यास

---

* *The Riddle of the Universe* by Ernst Haeckel इस ग्रन्थ का R. P. A. Cheap reprint आवृत्ति का ही हमने सर्वत्र उपयोग किया है।

करके ब्रह्मज्ञान में निमग्न रहनेवाले वेदान्तियों का भी समावेश किया गया है। शब्द-शास्त्रज्ञों का कथन है कि 'सांख्य' शब्द 'संख्या' धातु से बना है। इसलिये इसका पहला अर्थ 'गिननेवाला' है; और कपिलशास्त्र के मूलतत्त्व गिने-गिनाये सिर्फ पच्चीस ही हैं। इसलिये उसे 'गिननेवाले' के अर्थ में यह विशिष्ट 'सांख्य' नाम दिया गया। अनन्तर फिर 'सांख्य' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक हो गया और उसमें सब प्रकार के तत्त्वज्ञान का समावेश होने लगा। यही कारण है कि जब पहले-पहल कापिल-भिक्षुओं को 'सांख्य' कहने की परिपाटी प्रचलित हो गई, तब वेदान्ती संन्यासियों को भी यही नाम दिया जाने लगा होगा। कुछ भी हो; इस प्रकरण का हमने जान-बूझकर यह लम्बा-चौड़ा 'कापिलसांख्यशास्त्र' नाम इसलिये रखा है कि सांख्य शब्द के उक्त अर्थ-भेद के कारण कुछ गड़बड़ी न हो। कापिलसांख्यशास्त्र में भी कणाद के न्यायशास्त्र के समान सूत्र हैं। परन्तु गौडपादाचार्य या शारीर-भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने इन सूत्रों का आधार अपने ग्रन्थों में नहीं लिया है। इसलिये बहुतेरे विद्वान् समझते हैं कि ये सूत्र कदाचित् प्राचीन न हों। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' उक्त सूत्रों से प्राचीन मानी जाती है; और उस पर शंकराचार्य के दादागुरु गौडपाद ने भाष्य लिखा है। शांकर भाष्य में भी इसी कारिका के कुछ अवतरण लिये हैं। सन् ५७० ईसवी से पहले इस ग्रन्थ का जो अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था वह इस समय उपलब्ध है*। ईश्वरकृष्ण ने अपनी 'कारिका' के अन्त में कहा है कि 'षष्टितन्त्र' नामक साठ प्रकरणों के एक प्राचीन और विस्तृत ग्रन्थ का भावार्थ (कुछ प्रकरणों को छोड़) सत्तर आर्या-पद्यों में इस ग्रन्थ में दिया गया है। यह षष्टितन्त्र ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इसी लिये इन कारिकाओं के आधार पर ही कापिलसांख्यशास्त्र के मूलसिद्धान्तों का विवेचन हमने यहाँ किया है। महाभारत में सांख्य-मत का निर्णय कई अध्यायों में किया गया है। परन्तु उनमें वेदान्त-मतों का भी मिश्रण हो गया है; इसलिये कपिल के शुद्ध सांख्य-मत को जानने के लिये दूसरे ग्रन्थों को भी देखने की आवश्यकता होती है। इस काम के लिये उक्त सांख्यकारिका की

* अब बौद्ध ग्रन्थों से ईश्वरकृष्ण का बहुत कुछ हाल जाना जा सकता है। बौद्ध पण्डित वसुबन्धु का गुरु ईश्वरकृष्ण का समकालीन प्रतिपक्षी था। वसुबन्धु का जो जीवन-चरित परमार्थ ने (सन् ४ – ५ में) चीनी भाषा में लिखा था, वह अब प्रकाशित हुआ है। इससे डॉक्टर टक्कसु ने यह अनुमान किया है कि ईश्वरकृष्ण का समय सन् ४ ई० के लगभग है; *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland* 1905 pp. 33-53. परन्तु डॉक्टर विन्सेन्ट स्मिथ की राय है कि स्वयं वसुबन्धु का समय ही चौथी सदी में (लगभग –३६०) होना चाहिये; क्योंकि उसके ग्रन्थों का अनुवाद सन् ४ ईसवी में चीनी भाषा में हुआ है। वसुबन्धु का समय इस प्रकार जब पीछे हट जाता है, तब उसी प्रकार ईश्वरकृष्ण का समय भी करीब वर्ष पीछे हटाना पड़ता है; अर्थात् सन् ४ ईसवी के लगभग ईश्वरकृष्ण का समय आ पहुँचता है। Vincent Smith's *Early History of India* 3rd Ed. p. 328.

अपेक्षा कोई भी अधिक प्राचीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। भगवान् ने भगवद्गीता में कहा, 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गी. १०.२६) – सिद्धों में कपिलमुनि मैं हूँ – इस से कपिल की योग्यता भली भाँति सिद्ध होती है। तथापि यह बात मालूम नहीं कि कपिल ऋषि कहाँ और कब हुए। शान्तिपर्व (३४०.६७) में एक जगह लिखा है कि सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सन, सनत्सुजात, सनातन और कपिल ये सातों ब्रह्मदेव के मानसपुत्र हैं। इन्हें जन्म से ही ज्ञान हो गया था। दूसरे स्थान (शां. २१८) में कपिल के शिष्य आसुरि के चेले पञ्चशिख ने जनक को सांख्यशास्त्र का जो उपदेश दिया था उसका उल्लेख है। इसी प्रकार शान्तिपर्व (३०१.१०८, १०९) में भीष्म ने कहा है कि सांख्यों ने सृष्टि-रचना इत्यादि के बारे में एक बार जो ज्ञान प्रचलित कर दिया है वही 'पुराण, इतिहास, अर्थशास्त्र' आदि सब में पाया जाता है। यही क्यों, यहाँ तक कहा गया है कि 'ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्' – अर्थात् इस जगत् का सब ज्ञान सांख्यों से ही प्राप्त हुआ है (म. भा. शां. ३०१.१०९)। यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि वर्तमान समय में पश्चिमी ग्रन्थकार उत्क्रान्तिवाद का उपयोग सब जगह कैसा किया करते हैं; तो यह बात आश्चर्यजनक नहीं मालूम होगी कि इस देश के निवासियों ने भी उत्क्रान्तिवाद की बराबरी के सांख्यशास्त्र का सर्वत्र कुछ अंश में स्वीकार किया है। 'गुरुत्वाकर्षण,' सृष्टिरचना के 'उत्क्रान्तितत्त्व'* या 'ब्रह्मात्मैक्य' के समान उदात्त विचार सैकड़ों बरसों में ही किसी महात्मा के ध्यान में आया करते हैं। इसलिये यह बात सामान्यतः सभी देशों के ग्रन्थों में पाई जाती है कि जिस समय जो सामान्य सिद्धान्त या व्यापक तत्त्व समाज में प्रचलित रहता है उस के आधार पर ही किसी ग्रन्थ के विषय का प्रतिपादन किया जाता है।

आजकल कापिलसांख्यशास्त्र का अभ्यास प्रायः लुप्त हो गया है। इसी लिये यह प्रस्तावना करनी पड़ी। अब हम यह देखेंगे कि इस शास्त्र के मुख्य सिद्धान्त कौन-से हैं। सांख्यशास्त्र का पहला सिद्धान्त यह है कि इस संसार में नई वस्तु कोई भी उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि, शून्य से – अर्थात् जो पहले था ही नहीं उससे – शून्य को छोड़ और कुछ भी प्राप्त हो नहीं सकता। इसलिये यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि उत्पन्न हुए वस्तु में – अर्थात् कार्य में – जो गुण दीख पड़ते हैं वे गुण जिससे यह वस्तु उत्पन्न हुई है उसमें (अर्थात् कारण में) सूक्ष्म रीति से तो अवश्य होने ही चाहिये (सां. का. ९)। बौद्ध और काणाद यह मानते हैं कि पदार्थ का नाश हो कर उससे दूसरा नया पदार्थ बनता है। उदाहरणार्थ

---

* Evolution Theory के अर्थ में 'उत्क्रान्ति-तत्त्व' का उपयोग आजकल किया जाता है। इसलिये हमने भी यहाँ उसी शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु संस्कृत में 'उत्क्रान्ति' शब्द का अर्थ मृत्यु है। इस कारण 'उत्क्रान्ति' के बदले गुणविकास, गुणोत्कर्ष या गुणपरिणाम आदि सांख्यवादियों के शब्दों का उपयोग करना हमारी समझ में अधिक योग्य होगा।

करके ब्रह्मज्ञान निमग्न रहनेवाले वेदान्तियों का भी समावेश किया गया है। शब्दशास्त्रज्ञों का कथन है कि 'सांख्य' शब्द 'संख्या' धातु से बना है। इसलिये इसका पहला अर्थ 'गिननेवाला' है और कपिलशास्त्र के मूलतत्त्व इने गिने सिर्फ पचीस ही हैं; इसलिये उसे 'गिननेवाले' के अर्थ में यह विशिष्ट 'सांख्य' नाम दिया गया। अनन्तर फिर 'सांख्य' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक हो गया और उसमें सब प्रकार के तत्त्वज्ञान का समावेश होने लगा। यही कारण है कि जब पहले पहल कपिल-भिक्षुओं को 'सांख्य' कहने की परिपाटी प्रचलित हो गई, तब वेदान्ती संन्यासियों को भी यही नाम दिया जाने लगा होगा। कुछ भी हो; इस प्रकरण का हमने जान-बूझकर यह लम्बा-चौड़ा 'कापिलसांख्यशास्त्र' नाम इसलिये रखा है कि सांख्य शब्द के उक्त अर्थभेद के कारण कुछ गड़बड़ी न हो। कापिलसांख्यशास्त्र में भी कणाद के न्यायशास्त्र के समान सूत्र हैं। परन्तु गौडपादाचार्य या शारीर-भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने इन सूत्रों का आधार अपने ग्रन्थों में नहीं लिया है। इसलिये बहुतेरे विद्वान् समझते हैं कि ये सूत्र कदाचित् प्राचीन न हों। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' उक्त सूत्रों से प्राचीन मानी जाती है और उस पर शंकराचार्य के दादागुरु गौडपाद ने भाष्य लिखा है। शांकर भाष्य में भी इसी कारिका के कुछ अवतरण लिये हैं। सन् ५७० ईसवी से पहले इस ग्रन्थ का जो अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था वह इस समय उपलब्ध है*। ईश्वरकृष्ण ने अपनी 'कारिका' के अन्त में कहा है कि 'षष्टितन्त्र' नामक साठ प्रकरणों के एक प्राचीन और विस्तृत ग्रन्थ का भावार्थ (कुछ प्रकरणों को छोड़) सत्तर आर्या-पद्यों में इस ग्रन्थ में दिया गया है। यह षष्टितन्त्र ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इसी लिये इन कारिकाओं के आधार पर ही कापिलसांख्यशास्त्र के मूलसिद्धान्तों का विवेचन हमने यहाँ किया है। महाभारत में सांख्य-मत का निर्णय कई अध्यायों में किया गया है। परन्तु उनमें वेदान्त-मतों का भी मिश्रण हो गया है; इसलिये कपिल के शुद्ध सांख्य मत को जानने के लिये दूसरे ग्रन्थों को भी देखने की आवश्यकता होती है। इस काम के लिये उक्त सांख्यकारिका की

---

* अब बौद्ध ग्रन्थों से ईश्वरकृष्ण का बहुत कुछ हाल जाना जा सकता है। बौद्ध पण्डित वसुबन्धु का गुरु ईश्वरकृष्ण का समकालीन प्रतिपक्षी था। वसुबन्धु का जो जीवनचरित परमार्थ ने (सन् ४९९–५६९ में) चीनी भाषा में लिखा था, वह अब प्रकाशित हुआ है। इससे डॉक्टर टककसु ने यह अनुमान किया है कि ईश्वरकृष्ण का समय सन् ४५० ई० के लगभग है। *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland* 1905 pp 33–53. परन्तु डॉक्टर विन्सेन्ट स्मिथ की राय है कि स्वयं वसुबन्धु का समय ही चौथी सदी में (लगभग २८०–३६० ई०) मानना चाहिये। क्योंकि उसके ग्रन्थों का अनुवाद सन् ४०४ ईसवी में चीनी भाषा में हुआ है। वसुबन्धु का समय इस प्रकार जब पीछे हट जाता है तब उसी प्रकार ईश्वरकृष्ण का समय भी करीब २०० वर्ष पीछे हटाना पड़ता है, अर्थात् सन् २४० ईसवी के लगभग ईश्वरकृष्ण का समय आ पहुँचता है। Vincent Smith's *Early History of India* 3rd Ed., p 328.

शास्त्र का सिद्धान्त इससे अधिक व्यापक है। 'कार्य' का कोई भी गुण 'कारण' के बाहर के गुणों से उत्पन्न नहीं हो सकता। इतना ही नहीं किन्तु जब कारण को कार्य का स्वरूप प्राप्त होता है तब उस कार्य में रहनेवाले द्रव्यांश और कर्म-शक्ति का कुछ भी नाश नहीं होता। पदार्थ की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के द्रव्यांश और कर्मशक्ति के जोड़ का वजन भी सदैव एक ही सा रहता है – न तो वह घटता है और न बढ़ता है। यह बात प्रत्यक्ष प्रयोग से गणित के द्वारा सिद्ध कर दी गई है। यही उक्त दोनों सिद्धान्तों में महत्त्व की विशेषता है। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं तो हमें जान पड़ता है कि भगवद्गीता के "नासतो विद्यते भावः" – जो है ही नहीं उसका कभी भी अस्तित्व हो नहीं सकता – इत्यादि सिद्धान्त को दूसरे अध्याय के आरम्भ में दिये हैं (गी. २.१६) वे यद्यपि देखने में सत्कार्यवाद के समान दीख पड़े, तो भी उनकी समता केवल कार्यकारणात्मक सत्कार्यवाद की अपेक्षा अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञानशास्त्र के सिद्धान्तों के साथ अधिक है। छांदोग्योपनिषद् के उपर्युक्त वचन का भी यही भावार्थ है। सारांश, सत्कार्यवाद का सिद्धान्त वेदान्तियों को मान्य है; परन्तु अद्वैत वेदान्तशास्त्र का मत है कि इस सिद्धान्त का उपयोग सगुण सृष्टि के परे कुछ भी नहीं किया जा सकता। और निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति कैसे दीख पड़ती है इस बात की उपपत्ति और ही प्रकार से लगानी चाहिये। इस वेदान्त-मत का विचार आगे चल कर अध्यात्म प्रकरण में विस्तृत रीति से किया जायगा। इस समय तो हम सिर्फ यही विचार करना है कि सांख्यवादियों की पहुँच कहाँ तक है। इसलिये अब हम इस बात का विचार करेंगे कि सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान कर सांख्यों ने क्षर-अक्षर शास्त्र में उसका उपयोग कैसे किया है।

सांख्यमतानुसार जब सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है तब यह मत आप-ही आप गिर जाता है कि दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति शून्य से हुई है। क्योंकि शून्य से, अर्थात् जो कुछ भी नहीं है उससे, अस्तित्व में है वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इस बात से यह साफ साफ सिद्ध होता है कि सृष्टि किसी-न-किसी पदार्थ से उत्पन्न हुई है; इस समय सृष्टि में जो गुण हमें दीख पड़ते हैं वे ही इस मूलपदार्थ में भी होने चाहिये। अब यदि हम सृष्टि की ओर देखें, तो हमें वृक्ष, पशु, मनुष्य, पत्थर, सोना, चाँदी, हीरा, जल, वायु इत्यादि अनेक पदार्थ दीख पड़ते हैं और इन सब के रूप तथा गुण भी भिन्न भिन्न हैं। सांख्यवादियों का सिद्धान्त है कि यह भिन्नता या नानात्व आदि में – अर्थात् मूलपदार्थ में – नहीं है; किन्तु मूल में सब वस्तुओं का द्रव्य एक ही है। अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञों ने भिन्न भिन्न द्रव्यों का पृथक्करण करके पहले ६२ मूलतत्त्व ढूँढ़ निकाले थे; परन्तु अब पश्चिम विज्ञानवेत्ताओं ने भी यह निश्चय कर लिया है कि ये ६२ मूलतत्त्व स्वतंत्र या स्वयंसिद्ध नहीं हैं; किन्तु इन सब की जड़ में कोई-न-कोई एक ही पदार्थ है; और उस पदार्थ से ही सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथ्वी इत्यादि सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। ... ये अब उक्त सिद्धान्त

बीज का नाश होने के बाद उससे अंकुर और अंकुर का नाश होने के बाद उससे पेड़ होता है। परन्तु सांख्यशास्त्रियों और वेदान्तियों को यह मत पसंद नहीं है। वे कहते हैं कि वृक्ष के बीज में जो 'द्रव्य' हैं उनका नाश नहीं होता किन्तु वे ही द्रव्य जमीन से और वायु से दूसरे द्रव्यों को खींच लिया करते हैं और इसी कारण से बीज को अंकुर का नया स्वरूप या अवस्था प्राप्त हो जाती है (वे. सू. शां. भा. २. १. १८)। इसी प्रकार जब लकड़ी जलती है तब उसके ही राख या धुआँ आदि रूपान्तर हो जाते हैं। लकड़ी के मूल 'द्रव्यों' का नाश हो कर धुआँ नामक कोई नया पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। छांदोग्योपनिषद् (६. २. २) में कहा है "कथमसतः सज्जायेत" — जो है ही नहीं — उससे जो है — वह कैसे प्राप्त हो सकता है। जगत् के मूलकारण के लिये 'असत्' शब्द का उपयोग कभी कभी उपनिषदों में किया गया है (छां. ३. १९. १; तै. २. ७. १)। परन्तु यहाँ 'असत्' का अर्थ 'अभाव — नहीं' नहीं है किन्तु वेदान्तसूत्रों (२. १. १६, १७) में यह निश्चय किया गया है कि 'असत्' शब्द से केवल नामरूपात्मक व्यक्त स्वरूप या अवस्था का अभाव ही विवक्षित है। दूध से ही दही बनता है, पानी से नहीं; तिल से ही तेल निकलता है, बालू से नहीं; इत्यादि प्रत्यक्ष देखे हुए अनुभवों से भी यही सिद्धान्त प्रकट होता है। यदि हम यह मान लें, कि 'कारण' में जो गुण नहीं है वे 'कार्य' में स्वतन्त्र रीति से उत्पन्न होते हैं; तो फिर हम इसका कारण नहीं बतला सकते कि पानी से दही क्यों नहीं बनता? सारांश यह है कि जो मूल में है ही नहीं उससे, अभी जो अस्तित्व में है वह, उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये सांख्यवादियों ने यह सिद्धान्त निकाला है कि किसी कार्य के वर्तमान द्रव्यांश और गुण मूलकारण में भी किसी न किसी रूप से रहते हैं। इसी सिद्धान्त को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। अर्वाचीन पदार्थविज्ञान के ज्ञाताओं ने भी यही सिद्धान्त ढूँढ निकाला है कि पदार्थों के जड़ द्रव्य और कर्मशक्ति दोनों सर्वदा मौजूद रहते हैं। किसी पदार्थ के चाहिये जितने रूपान्तर हो जायें तो भी अन्त में सृष्टि के कुल द्रव्यांश का और कर्मशक्ति का जोड़ हमेशा एक-सा बना रहता है। उदाहरणार्थ, जब हम दीपक को जलता देखते हैं तब तेल भी धीरे धीरे कम होता जाता है और अन्त में वह नष्ट हुआ-सा दीख पड़ता है। यद्यपि यह सब तेल जल जाता है तथापि उसके परमाणुओं का बिलकुल ही नाश नहीं हो जाता। उन परमाणुओं का अस्तित्व धुएँ या काजल या अन्य सूक्ष्म द्रव्यों के रूप में बना रहता है। यदि हम इन सूक्ष्म द्रव्यों को एकत्र करके तौलें तो मालूम होगा कि उनका तौल या वजन तेल और तेल के जलते समय उसमें मिले हुए वायु के पदार्थों के बराबर होता है। अब तो यह भी सिद्ध हो चुका है कि उक्त नियम कर्मशक्ति के विषय में भी लगाया जा सकता है। यह बात याद रखनी चाहिये कि यद्यपि आधुनिक पदार्थविज्ञानशास्त्र का और सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त देखने में एक ही सा जान पड़े, तथापि सांख्यवादियों का सिद्धान्त केवल एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति के ही विषय में — अर्थात् सिर्फ कार्य-कारण भाव ही के सम्बन्ध में — उपयुक्त होता है। परन्तु, अर्वाचीन पदार्थविज्ञान

है उसमें रज और तम की अपेक्षा, सत्त्वगुण का जोर या परिमाण अधिक रहता है इस कारण उस पदार्थ में हमेशा रहनेवाले रज और तम दोनों गुण दब जाते हैं और वे हमें दीख नहीं पड़ते। वस्तुतः सत्त्व, रज और तम तीनों गुण अन्य पदार्थों के समान सात्त्विक पदार्थ में भी विद्यमान रहते हैं। केवल सत्त्वगुण का, केवल रजोगुण का, या केवल तमोगुण का कोई पदार्थ ही नहीं है। प्रत्येक पदार्थ में तीनों का रगड़ा-झगड़ा चला ही करता है और, इस झगड़े में जो गुण प्रबल हो जाता है उसी के अनुसार हम प्रत्येक पदार्थ को सात्त्विक, राजस या तामस कहा करते हैं (शां. अ. १२ म. भा. अश्व. – अनुगीता – ३६, और सां. का. १२)। उदाहरणार्थ, अपने शरीर में जब रज और तम गुणों पर सत्त्व का प्रभाव जम जाता है तब अपने अन्तःकरण में ज्ञान उत्पन्न होता है, सत्य का परिचय होने लगता है और चित्तवृत्ति शान्त हो जाती है। उस समय यह नहीं समझना चाहिये कि अपने शरीर में रजोगुण और तमोगुण बिलकुल है ही नहीं, बल्कि वे सत्त्वगुण के प्रभाव से दब जाते हैं। इसलिये उनका कुछ अधिकार चलने नहीं पाता (गी. १४. १०)। यदि सत्त्व के बदले रजोगुण प्रबल हो जाय तो अन्तःकरणमें लोभ जागृत हो जाता है, इच्छा बढ़ने लगती है और वह हमें अनेक कर्मों में प्रवृत्त करती है। इसी प्रकार जब सत्त्व और रज की अपेक्षा तमोगुण प्रबल हो जाता है तब निद्रा, आलस्य, स्मृतिभ्रंश इत्यादि दोष शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इस जगत् के पदार्थों में नाना प्रकार की जो अनेकता या भिन्नता दीख पड़ती है वह प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की ही परस्पर-न्यूनाधिकता का फल है। मूलप्रकृति यद्यपि एक ही है तो भी जानना चाहिये कि यह अनेकता या भिन्नता कैसे उत्पन्न हो जाती है। बस इसी विचार को 'विज्ञान' कहते हैं। इसी में सब आधिभौतिक शास्त्रों का भी समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ, रसायनशास्त्र, विद्युत्शास्त्र, पदार्थविज्ञानशास्त्र, सब विविध ज्ञान या विज्ञान ही हैं।

साम्यावस्था में रहनेवाली प्रकृति को सांख्यशास्त्र में 'अव्यक्त' अर्थात् इन्द्रियों को गोचर न होनेवाली कहा है। इस प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की परस्पर-न्यूनाधिकता के कारण जो अनेक पदार्थ हमारी इन्द्रियों को गोचर होते हैं, अर्थात् जिन्हें हम देखते हैं, सुनते हैं, चखते हैं, सूँघते हैं या स्पर्श करते हैं, उन्हें सांख्यशास्त्र में 'व्यक्त' कहा है। स्मरण रहे कि जो पदार्थ हमारी इन्द्रियों को स्पष्ट रीति से गोचर हो सकते हैं, वे सब 'व्यक्त' कहलाते हैं। चाहे फिर वे पदार्थ अपनी आकृति के कारण, रूप के कारण, गन्ध के कारण या किसी अन्य गुण के कारण व्यक्त होते हों। व्यक्त पदार्थ अनेक हैं। उनमें से कुछ, जैसे पत्थर, पेड़, पशु इत्यादि स्थूल कहलाते हैं और कुछ, जैसे मन, बुद्धि, आकाश इत्यादि (यद्यपि ये इन्द्रिय-गोचर अर्थात् व्यक्त हैं तथापि) सूक्ष्म कहलाते हैं। यहाँ 'सूक्ष्म' से छोटे का मतलब नहीं है। क्योंकि आकाश यद्यपि सूक्ष्म है तथापि वह सारे जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। इसलिये सूक्ष्म शब्द से 'स्थूल के विरुद्ध' या वायु से भी अधिक

का अधिक विवेचन आवश्यक नहीं है। जगत् के सब पदार्थों का जो यह मूलद्रव्य है उसे ही सांख्यशास्त्र में 'प्रकृति' कहते हैं। प्रकृति का अर्थ 'मूल का' है। इस प्रकृति से आगे जो पदार्थ बनते हैं उन्हें 'विकृति' अर्थात् मूलद्रव्य के विकार कहते हैं।

परन्तु यद्यपि सब पदार्थों में मूलद्रव्य एक ही है, तथापि यदि इस मूलद्रव्य में गुण भी एक ही हो, तो सत्कार्यवादानुसार इस एक ही गुण से अनेक गुणों का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। और इधर तो जब हम इस जगत् के पत्थर, मिट्टी, पानी, सोना इत्यादि भिन्न भिन्न पदार्थों की ओर देखते हैं, तब उनमें भिन्न भिन्न अनेक गुण पाये जाते हैं। इसलिये पहले सब पदार्थों के गुणों का निरीक्षण करके सांख्यवादियों ने इन गुणों के सत्त्व, रज और तम ये तीन भेद या वर्ग कर दिये हैं। इसका कारण यही है, कि जब हम किसी भी पदार्थ को देखते हैं, तब स्वभावतः उसकी दो भिन्न भिन्न अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं; — पहली शुद्ध, निर्मल या पूर्णावस्था और दूसरी उसके विरुद्ध निकृष्टावस्था। परन्तु साथ ही साथ निकृष्टावस्था से पूर्णावस्था की ओर बढ़ने की उस पदार्थ की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर हुआ करती है; यही तीसरी अवस्था है। इन तीनों अवस्थाओं में से शुद्धावस्था या पूर्णावस्था को सात्त्विक, निकृष्टावस्था को तामसिक और प्रवर्तकावस्था को राजसिक कहते हैं। इस प्रकार सांख्यवादी कहते हैं, कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुण सब पदार्थों के मूलद्रव्य में अर्थात् प्रकृति में आरम्भ से ही रहा करते हैं। यदि यह कहा जाय कि इन तीन गुणों ही को प्रकृति कहते हैं, तो अनुचित नहीं होगा। इन तीनों गुणों में से प्रत्येक गुण का जोर आरम्भ में समान या बराबर रहता है; इसी लिये पहले पहले यह प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। यह साम्यावस्था जगत् के आरम्भ में थी और जगत् का लय हो जाने पर वैसी ही फिर हो जायगी। साम्यावस्था में कुछ भी हलचल नहीं होती, सब कुछ स्तब्ध रहता है। परन्तु जब उक्त तीनों न्यूनाधिक होने लगते हैं, तब प्रवृत्त्यात्मक रजोगुण के कारण मूलप्रकृति से भिन्न भिन्न पदार्थ होने लगते हैं और सृष्टि का आरम्भ होने लगता है। अब यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है, कि यदि पहले सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में थे, तो इनमें न्यूनाधिकता कैसे हुई? इस प्रश्न का सांख्यवादी यही उत्तर देते हैं, कि यह प्रकृति का मूलधर्म ही है (सां. का. ६१)। यद्यपि प्रकृति जड़ है, तथापि वह आप-ही-आप व्यवहार करती रहती है। इन तीनों गुणों में से सत्त्वगुण का लक्षण ज्ञान अर्थात् जानना और तमोगुण का लक्षण अज्ञानता है। रजोगुण बुरे या भले कार्य का प्रवर्तक है। ये तीनों गुण कभी अलग अलग नहीं रह सकते। सब पदार्थों में सत्त्व, रज और तम तीनों का मिश्रण रहता ही है; और यह मिश्रण हमेशा इन तीनों की परस्पर न्यूनाधिकता से हुआ करता है। इसलिये यद्यपि मूलद्रव्य एक ही है, तो भी गुण-भेद के कारण एक मूलद्रव्य के ही सोना, मिट्टी, जल, आकाश, मनुष्य का शरीर इत्यादि भिन्न भिन्न अनेक विकार हो जाते हैं। जिसे हम सात्त्विक गुण का पदार्थ कहते

यहाँ सिर्फ़ यही विचार है कि सांख्यवादियों का मत क्या है। जब हम इस प्रकार 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्दों का अर्थ समझने लगे तब कहना पड़ेगा कि सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म और अव्यक्त प्रकृति के रूप से रहता है। फिर वह (चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल हो) व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर होता है; और जब प्रलयकाल में इस व्यक्त स्वरूप का नाश होता है, तब फिर वह पदार्थ अव्यक्त प्रकृति में मिलकर अव्यक्त हो जाता है। गीता में भी यही मत दीख पड़ता है (गी. २. २८ और ८. १८)। सांख्यशास्त्र में इस अव्यक्त प्रकृति ही को 'अक्षर' भी कहते हैं; और प्रकृति से होनेवाले सब पदार्थों को 'क्षर' कहते हैं। यहाँ 'क्षर' शब्द का अर्थ संपूर्ण नाश नहीं है; किन्तु सिर्फ़ व्यक्त स्वरूप का नाश ही अपेक्षित है। प्रकृति के और भी अनेक नाम हैं। जैसे प्रधान, गुण-क्षोभिणी, बहुधानक, प्रसव-धर्मिणी इत्यादि। सृष्टि के सब पदार्थों का मुख्य मूल होने के कारण उसे (प्रकृति को) प्रधान कहते हैं। तीनों गुणों की साम्यावस्था का भंग स्वयं आप ही करती है, इसलिये उसे गुण-क्षोभिणी कहते हैं। गुणत्रयरूपी पदार्थभेद के बीज प्रकृति में हैं, इसलिये उसे बहुधानक कहते हैं। और प्रकृति से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसे प्रसवधर्मिणी कहते हैं। इस प्रकृति ही को वेदान्तशास्त्र में 'माया' अर्थात् मायिक दिखावा कहते हैं।

सृष्टि के सब पदार्थों को 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' या 'क्षर' और 'अक्षर' इन दो विभागों में बाँटने के बाद अब यह सोचना चाहिये कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार में बतलाये गये आत्मा, मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों को सांख्यमत के अनुसार, किस विभाग या वर्ग में रखना चाहिये। क्षेत्र और इन्द्रियाँ तो जड़ ही हैं, इस कारण उनका समावेश व्यक्त पदार्थों में हो सकता है। परन्तु मन, अहंकार, बुद्धि और विशेष करके आत्मा के विषय में क्या कहा जा सकता है? यूरोप के वर्तमान समय के प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ हेकेल ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि मन, बुद्धि, अहंकार और आत्मा ये सब शरीर के धर्म ही हैं। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि जब मनुष्य का मस्तिष्क बिगड़ जाता है तब उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है और वह पागल भी हो जाता है। इसी प्रकार सिर पर चोट लगने से जब मस्तिष्क का कोई भाग बिगड़ जाता है तब भी उस भाग की मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। सारांश यह है कि मनोधर्म भी जड़ मस्तिष्क के ही गुण हैं; अतएव ये जड़ वस्तु से कभी अलग नहीं किये जा सकते; और इसी लिये मस्तिष्क के साथ साथ मनोधर्म और आत्मा को भी 'व्यक्त' पदार्थों के वर्ग में शामिल करना चाहिये। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो अन्त में केवल अव्यक्त और जड़ प्रकृति ही शेष रह जाती है; क्योंकि सब व्यक्त पदार्थ इस मूल अव्यक्त प्रकृति से ही बने हैं। ऐसी अवस्था में प्रकृति के सिवा जगत् का कर्ता या कारण दूसरा कोई भी नहीं हो सकता; तब तो यही कहना होगा कि [illegible] की शक्ति धीरे धीरे बढ़ती गई और अन्त में [illegible] है।

महीन यही अर्थ लेना चाहिये। 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' शब्दों से किसी वस्तु की शरीर रचना का ज्ञान होता है और 'व्यक्त एवं अव्यक्त' शब्दों से हमें यह बोध होता है कि उस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें हो सकता है या नहीं। अतएव भिन्न भिन्न पदार्थों में से (चाहे वे दोनों सूक्ष्म हो तो भी) एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त हो सकता है। उदाहरणार्थ यद्यपि हवा सूक्ष्म है तथापि हमारी स्पर्शेन्द्रिय को उसका ज्ञान होता है। इसलिये उसे व्यक्त कहते हैं। और सब पदार्थों की मूलप्रकृति (या मूलद्रव्य) वायु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और उसका ज्ञान हमारी किसी इन्द्रिय को नहीं होता इसलिये उसे अव्यक्त कहते हैं। अब यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि इस प्रकृति का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय को नहीं होता तो उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्यवादी इस प्रकार देते हैं कि अनेक व्यक्त पदार्थों के अवलोकन से सत्कार्यवाद के अनुसार यही अनुमान सिद्ध होता है कि इन सब पदार्थों का मूलरूप (प्रकृति) यद्यपि इन्द्रियों को प्रत्यक्ष गोचर न हो तथापि उसका अस्तित्व सूक्ष्म रूप से अवश्य होना ही चाहिये (सां का ८)। वेदान्तियों ने भी ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये इसी युक्ति को स्वीकार किया है (कठ ६ १२ १३ पर शांकरभाष्य देखो)। यदि हम प्रकृति को इस प्रकार अत्यंत सूक्ष्म और अव्यक्त मान लें तो नैयायिकों के परमाणुवाद की जड़ ही उखड़ जाती है। क्योंकि परमाणु यद्यपि अव्यक्त और असंख्य हो सकते हैं तथापि प्रत्येक परमाणु के स्वतन्त्र व्यक्ति या अवयव हो जाने के कारण यह प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है कि दो परमाणुओं के बीच में कौन-सा पदार्थ है? इसी कारण सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है कि प्रकृति में परमाणुरूप अवयव-भेद नहीं है। किन्तु वह सदैव एक से एक लगी हुई – बीच में थोड़ा भी अन्तर न छोड़ती हुई – एक ही समान है अथवा यों कहिये कि वह अव्यक्त (अर्थात् इन्द्रियों को गोचर होनेवाले) और निरवयवरूप से निरन्तर और सर्वत्र है। परब्रह्म का वर्णन करते हुए दासबोध (२ २. १) में श्रीसमर्थ रामदासस्वामी कहते हैं जिधर देखिये उधर ही वह अपार है उसका किसी और पार नहीं है। वह एक ही प्रकार का और स्वतंत्र है उसमें द्वैत (या और कुछ) नहीं है। * सांख्यवादियों की प्रकृति' विषय में भी यही वर्णन उपयुक्त हो सकता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति अव्यक्त, स्वयम्भू और एक ही प्रकार की है और चारों ओर निरन्तर व्याप्त है। आकाश वायु आदि भेद पीछे से हुए, और यद्यपि वे सूक्ष्म हैं तथापि व्यक्त हैं और इन सब की मूल-प्रकृति एक ही सी तथा सर्वव्यापी और अव्यक्त है। स्मरण रहे कि वेदान्तियों के 'परब्रह्म' म और सांख्य-वादियों की प्रकृति' मे आकाश पाताल का अन्तर है। उसका कारण यह है कि परब्रह्म चैतन्यरूप और निर्गुण है परन्तु प्रकृति जडरूप और सत्वरज तमोमयी अर्थात् सगुण है। इस विषय पर अधिक विचार आगे किया जायगा।

---

* हिन्दी दासबोध पृ ४ १ (चित्रशाला छपा)।

यहाँ सिर्फ यही विचार है कि सांख्यशास्त्रियों का मत क्या है। जब हम इस प्रकार 'सूक्ष्म' और 'स्थूल', 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्दों का अर्थ समझ लेंगे, तब कहना पड़ेगा कि सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म और अव्यक्त प्रकृति के रूप से रहता है। फिर वह (चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल हो) व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर होता है; और जब प्रलयकाल में इस व्यक्त स्वरूप का नाश होता है, तब फिर वह पदार्थ अव्यक्त प्रकृति में मिलकर अव्यक्त हो जाता है। गीता में भी यही मत दीख पड़ता है (गी. २.२८ और ८.१८)। सांख्यशास्त्र में इस अव्यक्त प्रकृति ही को 'अक्षर' भी कहते हैं; और प्रकृति से होनेवाले सब पदार्थों को 'क्षर' कहते हैं। यहाँ 'क्षर' शब्द का अर्थ सम्पूर्ण नाश नहीं है, किन्तु सिर्फ व्यक्त स्वरूप का नाश ही अपेक्षित है। प्रकृति के और भी अनेक नाम हैं। जैसे प्रधान, गुणक्षोभिणी, बहुधानक, प्रसवधर्मिणी इत्यादि। सृष्टि के सब पदार्थों का मुख्य मूल होने के कारण उसे (प्रकृति को) प्रधान कहते हैं। तीनों गुणों की साम्यावस्था का भंग स्वयं आप ही करती है, इसलिये उसे गुण-क्षोभिणी कहते हैं। गुणत्रयरूपी पदार्थ-भेद के बीज प्रकृति में हैं, इसलिये उसे बहुधानक कहते हैं। और प्रकृति से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसे प्रसवधर्मिणी कहते हैं। इस प्रकृति ही को वेदान्तशास्त्र में 'माया' अर्थात् मायिक दिखावा कहते हैं।

सृष्टि के सब पदार्थों का 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' या 'क्षर' और 'अक्षर' इन दो विभागों में वर्गीकरण करने के बाद, अब यह सोचना चाहिये कि क्षर-अक्षर विचार में मनुष्य जिसे आत्मा, मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियाँ कहता है, उनको सांख्यमत के अनुसार किस विभाग या वर्ग में रखना चाहिये। क्षेत्र और इन्द्रियाँ तो जड़ ही हैं, इस कारण उनका समावेश व्यक्त पदार्थों में हो सकता है। परन्तु मन, अहंकार, बुद्धि और विशेष करके आत्मा के विषय में क्या कहा जा सकता है? यूरोप के वर्तमान समय के प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ हेकल ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि मन, बुद्धि, अहंकार और आत्मा ये सब शरीर के धर्म ही हैं। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि जब मनुष्य का मस्तिष्क बिगड़ जाता है तब उसकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है, और वह पागल भी हो जाता है। इसी प्रकार सिर पर मार लगने से जब मस्तिष्क का कोई भाग बिगड़ जाता है, तब भी उस भाग की मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। सारांश यह है कि मनोधर्म भी जड़ मस्तिष्क के ही गुण हैं; अतएव वे जड़ वस्तु से कभी अलग नहीं किये जा सकते; और इसीलिये मस्तिष्क के साथ साथ मनोधर्म और आत्मा को भी व्यक्त पदार्थों के वर्ग में शामिल करना चाहिये। यदि यह जड़वाद मान लिया जाय, तो अन्त में केवल अव्यक्त और जड़ प्रकृति ही शेष रह जाती है। [illegible] सब व्यक्त पदार्थ [illegible] अव्यक्त प्रकृति से ही [illegible] है। इसी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

उसी को चैतन्य या आत्मा का स्वरूप प्राप्त हो गया। सत्कार्यवाद के समान, इस जड़प्रकृति के कुछ कायदे या नियम बने हुए हैं। और उन्हीं नियमों के अनुसार सब जगत् और साथ ही साथ मनुष्य भी कैदी के समान बर्ताव किया करता है। जड़ प्रकृति के सिवा आत्मा कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं; तब कहना नहीं होगा, कि आत्मा न तो अविनाशी है और न स्वतन्त्र। तब मोक्ष या मुक्ति की आवश्यकता ही क्या है? प्रत्येक मनुष्य को मालूम होता है कि मैं अपनी इच्छा के अनुसार अमुक काम कर लूँगा; परन्तु वह सब केवल भ्रम है। प्रकृति जिस ओर खींचेगी उसी ओर मनुष्य को झुकना पड़ेगा! अथवा किसी कवि के कथनानुसार कहना चाहिये कि यह सारा विश्व एक बहुत बड़ा कारागार है, प्राणिमात्र कैदी हैं और पदार्थों के गुणधर्म बेड़ियाँ हैं! इन बेड़ियों को कोई तोड़ नहीं सकता। बस यही हेकेल के मत का सारांश है। उसके मतानुसार सारी सृष्टि का मूलकारण एक जड़ और अव्यक्त प्रकृति ही है। इसलिये उसने अपने सिद्धान्त को सिर्फ़* 'अद्वैत' कहा है। परन्तु यह अद्वैत जड़मूलक है, अर्थात् अकेली जड़ प्रकृति में ही सब बातों का समावेश करता है; इस कारण हम इसे जड़ाद्वैत या आधिभौतिक शास्त्राद्वैत कहेंगे।

हमारे सांख्यशास्त्रकार इस जड़ाद्वैत को नहीं मानते। वे कहते हैं कि मन, बुद्धि और अहंकार पञ्चमहाभूतात्मक जड़ प्रकृति ही के धर्म हैं, और सांख्यशास्त्र में भी यही लिखा है, कि अव्यक्त प्रकृति से ही बुद्धि, अहंकार इत्यादि गुण क्रम से उत्पन्न होते जाते हैं। परन्तु उनका कथन है कि जड़ प्रकृति से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इतना ही नहीं; वरन् जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने ही कंधे पर बैठ नहीं सकता, उसी प्रकार प्रकृति को जाननेवाला या देखनेवाला जब तक प्रकृति से भिन्न न हो, तब तक वह 'मैं यह जानता हूँ – वह जानता हूँ' इत्यादि भाषा व्यवहार का उपयोग कर ही नहीं सकता। और इस जगत् के व्यवहारों की ओर देखने से तो सब लोगों का यही अनुभव जान पड़ता है, कि 'मैं जो कुछ देखता हूँ, या जानता हूँ, वह मुझ से भिन्न है।' इसलिये सांख्यशास्त्रकारों ने कहा है कि ज्ञाता और ज्ञेय, देखनेवाला और देखने की वस्तु या प्रकृति को देखनेवाला और जड़ प्रकृति, इन दोनों बातों को मूल से ही पृथक् पृथक् मानना चाहिये (सां. का. १७)। पिछले प्रकरण में जिसे क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहा है, वही यह देखनेवाला, ज्ञाता या उपभोग करनेवाला है; और इसे ही सांख्यशास्त्र में 'पुरुष' या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहते हैं। यह ज्ञाता प्रकृति से भिन्न है। इस कारण निसर्ग से ही प्रकृति के तीनों (सत्त्व, रज और तम) गुणों के परे रहता है; अर्थात् यह निर्विकार और निर्गुण है, और जानने या देखने के सिवा कुछ भी नहीं करता। इससे यह भी मालूम हो जाता है कि जगत् में जो घटनाएँ होती रहती हैं, वे सब प्रकृति ही के खेल हैं। सारांश यह

---

* हेकेल का मूल शब्द monism है। और इस विषय पर उसने स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है।

है कि प्रकृति अचेतन या जड़ है और पुरुष सचेतन है। प्रकृति सब काम किया करती है और पुरुष उदासीन या अकर्ता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है और पुरुष निर्गुण है। प्रकृति अंधी है और पुरुष साक्षी है। इस प्रकार इस सृष्टि में यही दो भिन्न भिन्न तत्त्व अनादिसिद्ध, स्वतन्त्र और स्वयम्भू हैं। यही सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है। इस बात को ध्यान में रख करके ही भगवद्गीता में पहले कहा गया है कि "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" – प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं (गी. १३. १९)। इसके बाद उनका वर्णन इस प्रकार किया है: "कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते" अर्थात् देह और इन्द्रियों का व्यापार प्रकृति करती है; और "पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" – अर्थात् पुरुष सुखदुःखों के उपभोग करने के लिये कारण है। यद्यपि गीता में भी प्रकृति और पुरुष अनादि माने गये हैं, तथापि यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि सांख्यवादियों के समान, गीता में ये दोनों तत्त्व स्वतन्त्र या स्वयम्भू नहीं माने गये हैं। कारण यह है कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रकृति को अपनी 'माया' कहा है (गी. ७. १४; १४. ३); और पुरुष के विषय में भी यही कहा है कि "ममैवांशो जीवलोके" (गी. १५. ७) अर्थात् वह भी मेरा अंश है। इससे मालूम हो जाता है कि गीता सांख्यशास्त्र से भी आगे बढ़ गई है। परन्तु अभी इस बात की ओर ध्यान न दे कर हम देखेंगे कि सांख्यशास्त्र क्या कहता है।

सांख्यशास्त्र के अनुसार सृष्टि के सब पदार्थों के तीन वर्ग होते हैं। पहला अव्यक्त (प्रकृति मूल), दूसरा व्यक्त (प्रकृति के विकार) और तीसरा पुरुष अर्थात् ज्ञ। परन्तु इनमें से प्रलयकाल के समय व्यक्त पदार्थों का स्वरूप नष्ट हो जाता है। इसलिये अब मूल में केवल प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्व शेष रह जाते हैं। ये दोनों मूलतत्त्व सांख्यवादियों के मतानुसार अनादि और स्वयम्भू हैं। इसलिये सांख्यों को द्वैतवादी (दो मूलतत्त्व माननेवाले) कहते हैं। वे लोग प्रकृति और पुरुष के परे ईश्वर, काल, स्वभाव या अन्य किसी भी मूलतत्त्व को नहीं मानते।*

---

* ईश्वरकृष्ण कट्टर निरीश्वरवादी था। उसने अपनी सांख्यकारिका की अन्तिम उपसंहारात्मक तीन आर्याओं में कहा है कि मूल विषय ७० आर्याओं में था। परन्तु कोलब्रुक और विल्सन के अनुवाद के साथ बम्बई में श्रीयुत तुकाराम तात्या ने जो पुस्तक मुद्रित की है उसमें मूल विषय पर कुल ६९ आर्याएँ हैं। इसलिये विल्सन साहब ने अपने अनुवाद में यह सन्देह प्रकट किया है कि ७० वीं आर्या कौन-सी है? परन्तु वह आर्या उनको नहीं मिली और उनकी शंका का समाधान नहीं हुआ। हमारा मत है कि यह वर्तमान ६१ वीं आर्या के आगे थी। कारण यह है कि ६१ वीं आर्या पर गौडपादाचार्य का जो भाष्य है वह कुछ एक ही आर्या पर नहीं किन्तु दो आर्याओं पर है; और यदि इस भाष्य के प्रतीक पदों को लेकर आर्या बनाई जाय तो वह इस प्रकार होगी :–

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥

इसका कारण यह है कि सगुण ईश्वर, काल और स्वभाव, ये सब व्यक्त होने के कारण प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले व्यक्त पदार्थों में ही शामिल हैं। और, यदि ईश्वर को निर्गुण मानें, तो सत्कार्यवादानुसार निर्गुण मूलतत्त्व से त्रिगुणात्मक प्रकृति कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये उन्होंने यह निश्चित सिद्धान्त किया है कि प्रकृति और पुरुष को छोड़ कर इस सृष्टि का और कोई तीसरा मूलकारण नहीं है। इस प्रकार जब उन लोगों ने दो ही मूलतत्त्व निश्चित कर लिये, तब उन्हों ने अपने मत के अनुसार इस बात को भी सिद्ध कर दिया है कि इन दोनों मूलतत्त्वों से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई है। वे कहते हैं कि यद्यपि निर्गुण पुरुष कुछ भी कर नहीं सकता, तथापि जब प्रकृति के साथ उसका संयोग होता है तब जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के लिये दूध देती है या लोहचुम्बक पास होने से लोहे में आकर्षण शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार मूल अव्यक्त प्रकृति अपने गुणों (सूक्ष्म और स्थूल) का व्यक्त फैलाव पुरुष के सामने फैलाने लगती है (सां. का. ५७)। यद्यपि पुरुष सचेतन और ज्ञाता है, तथापि केवल अर्थात् निर्गुण होने के कारण स्वयं कर्म करने के कोई साधन उसके पास नहीं हैं; और प्रकृति यद्यपि काम करनेवाली है तथापि जड़ या अचेतन होने के कारण वह नहीं जानती कि क्या करना चाहिये। इस प्रकार लँगड़े और अन्धे की यह जोड़ी है। जैसे अन्धे के कन्धे पर लँगड़ा बैठे और वे दोनों एक दूसरे की सहायता से मार्ग चलने लगें, वैसे ही अचेतन प्रकृति और सचेतन पुरुष का संयोग हो जाने पर सृष्टि के सब कार्य आरम्भ हो जाते हैं (सां. का. २१)। और जिस प्रकार नाटक की रंगभूमि पर प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ एक ही नटी कभी एक तो कभी दूसरा ही स्वाँग बना कर नाचती रहती है, उसी प्रकार पुरुष के लाभ के लिये (पुरुषार्थ के लिये) यद्यपि पुरुष कुछ भी पारितोषिक नहीं देता; तो भी यह प्रकृति सत्त्व-रज-तम गुणों की न्यूनाधिकता से अनेक रूप धारण करके उसके सामने लगातार नाचती रहती है (सां. का. ५९)। प्रकृति के इस नाच

यह आर्या पिछली और अगले सन्दर्भ (अर्थ या भाव) से ठीक मिलती भी है। इस आर्या में निरीश्वरमत का प्रतिपादन है। इसलिये जान पड़ता है कि किसी ने इसे पीछे से निकाल डाला होगा। परन्तु इस आर्या का शोधन करनेवाला मनुष्य इसका भाष्य भी निकाल डालना भूल गया। इसलिये अब हम इस आर्या का ठीक ठीक पता लगा सकते हैं और इसी से उस मनुष्य का धन्यवाद है। इस आर्या से श्वेताश्वतरोपनिषद के छठे अध्याय के पहले मन्त्र से प्रगट होता है कि प्राचीन समय में कुछ लोग स्वभाव और काल को – और वेदान्ती तो इससे भी आगे बढ़ कर ईश्वर को – जगत् का मूलकारण मानते थे। वह मन्त्र यह है –

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥

परन्तु [illegible] की आर्या के बाद सिर्फ यह [illegible] लिख दिया है ([illegible] अर्थात् स्वभाव, काल और ईश्वर) साम्ख्यवादियों को मान्य नहीं है।

को ध्यान कर – मोह से भूल जाने के कारण या वृथाभिमान के कारण – जब तक पुरुष इस प्रकृति के कर्तृत्व को स्वयं अपना ही कर्तृत्व मानता रहता है और जब तक वह सुखदुःख के फांस में स्वयं अपने को फँसा रखता है तब तक उसे मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती (गी ३ २७)। परन्तु जिस समय पुरुष को यह ज्ञान हो जाय, कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ उस समय वह मुक्त ही है (गी १३ २९ ३ १४ २३)। क्योंकि, यथार्थ में पुरुष न तो कर्ता है और न बँधा ही है – वह सब प्रकृति ही का खेल है। यहाँ तक कि मन और बुद्धि भी प्रकृति के ही विकार हैं। इसलिये बुद्धि को जो ज्ञान होता है वह भी प्रकृति के कार्य का फल है। यह ज्ञान तीन प्रकार का होता है जैसे ; सात्त्विक, राजस और तामस (गी १८ २०–२२)। जब बुद्धि को सात्त्विक ज्ञान प्राप्त होता है तब पुरुष को यह मालूम होने लगता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। सत्त्व रजस्तमोगुण प्रकृति के ही धर्म हैं पुरुष के नहीं। पुरुष निर्गुण है और त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका दर्पण है (म भा शां २ ४ ८) जब यह दर्पण स्वच्छ या निर्मल हो जाता है अर्थात् जब अपनी यह बुद्धि – जो प्रकृति का विकार है – सात्त्विक हो जाती है तब इस निर्मल दर्पण में पुरुष को अपना सात्त्विक स्वरूप दीखने लगता है और उसे यह बोध हो जाता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। उस समय यह प्रकृति लज्जित हो कर उस पुरुष के सामने नाचना खेलना या जाल फैलाना बन्द कर देती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब पुरुष सब पाशों या जालों से मुक्त हो कर अपने स्वाभाविक कैवल्य पद को पहुँच जाता है। कैवल्य शब्द का अर्थ है केवलता अकेलापन या प्रकृति के साथ संयोग न होना। पुरुष के इस नैसर्गिक या स्वाभाविक स्थिति को ही सांख्य शास्त्र में मोक्ष (मुक्ति या छुटकारा) कहते हैं। इस अवस्था के विषय में सांख्य वादियों ने एक बहुत ही नाजुक प्रश्न का विचार उपस्थित किया है। उनका प्रश्न है, कि पुरुष प्रकृति को छोड़ देता है या प्रकृति पुरुष को छोड़ देती है? कुछ लोगों की समझ में यह प्रश्न वैसा ही निरर्थक प्रतीत होगा जैसा यह प्रश्न कि दुल्हे के लिये दुलहिन ऊँची है या दुलहिन के लिये दुल्हा ठिगना है। क्योंकि जब दो वस्तुओं का एक दूसरे से वियोग होता है तब हम देखते हैं कि दोनों एक दूसरे को छोड़ देती हैं। इसलिये ऐसे प्रश्न का विचार करने से कुछ लाभ नहीं है कि किसने किसको छोड़ दिया। परन्तु कुछ अधिक सोचने पर मालूम हो जायगा कि सांख्यवादियों का उक्त प्रश्न उनकी दृष्टि से अयोग्य नहीं है। सांख्यशास्त्र के अनुसार 'पुरुष निर्गुण अकर्ता और उदासीन है। इसलिये तत्त्वदृष्टि से 'छोड़ना' या 'पकड़ना' क्रियाओं का कर्ता पुरुष नहीं हो सकता (गी १३ ३१ ३२)। इसलिये सांख्यवादी कहते हैं कि प्रकृति ही 'पुरुष' को छोड़ दिया करती है। अर्थात् वही 'पुरुष' से अपना छुटकारा या मुक्ति कर लेती है। क्योंकि कर्तृत्वधर्म 'प्रकृति' ही का है (सां का ६२ और गी १३ ३४)। सारांश यह है कि मुक्ति नाम की ऐसी कोई निराली अवस्था

नहीं है जो 'पुरुष' को कहीं बाहर से प्राप्त हो जाती हो। अथवा यह कहिये, कि वह 'पुरुष' की मूल और स्वाभाविक स्थिति से कोई भिन्न स्थिति भी नहीं है। प्रकृति और पुरुष में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि घास के बाहरी छिलके और अन्दर के गूदे में रहता है या जैसा पानी और उसमें रहनेवाली मछली में। सामान्य पुरुष प्रकृति के गुणों से मोहित हो जाते हैं और अपनी यह स्वाभाविक भिन्नता पहचान नहीं सकते। इसी कारण वे संसार-चक्र में फँसे रहते हैं। परन्तु जो इस भिन्नता को पहचान लेता है वह मुक्त ही है। महाभारत (शां १९४. ५८; २४८.११ और १९-२०) में लिखा है कि ऐसे ही पुरुष को 'ज्ञाता' या 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' कहते हैं। गीता के वचन 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्' (गी. १५. २०) में बुद्धिमान् शब्द का भी यही अर्थ है। अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से मोक्ष का सच्चा स्वरूप भी यही है (वे. सू. शां भा. १. १. ४)। परन्तु सांख्यवादियों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्तियों का विशेष कथन यह है कि आत्मा ही मूल में परब्रह्मस्वरूप है; और जब वह अपने मूलस्वरूप का अर्थात् परब्रह्म को पहचान लेता है तब वही उसकी मुक्ति है। वे लोग यह कारण नहीं बतलाते कि पुरुष निसर्गतः 'केवल' है। सांख्य और वेदान्त का यह भेद अगले प्रकरण में स्पष्ट रीति से बतलाया जायगा।

यद्यपि अद्वैत वेदान्तियों को सांख्यवादियों की यह बात मान्य है कि पुरुष (आत्मा) निर्गुण, उदासीन और अकर्ता है; तथापि वे लोग सांख्यशास्त्र की 'पुरुष'-सम्बन्धि इस दूसरी कल्पना को नहीं मानते कि एक ही प्रकृति को देखनेवाले (साक्षी) स्वतन्त्र पुरुष मूल में ही असंख्य हैं (गी. ८. ४; १३. २०-२२; म. भा. शां. ३५१; और वे. सू. शां भा. २. १. १ देखो)। वेदान्तियों का कहना है कि उपाधिभेद के कारण सब जीव भिन्न भिन्न मालूम होते हैं परन्तु वस्तुतः सब ब्रह्म ही हैं। सांख्यवादियों का मत है कि जब हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का जन्म, मृत्यु और जीवन अलग अलग हैं; और जब इस जगत् में हम यह भेद पाते हैं, कि कोई सुखी है तो कोई दुःखी है तब मानना पड़ता है कि प्रत्येक आत्मा या पुरुष मूल से ही भिन्न है और उनकी संख्या भी अनन्त है (सां. का. १८)। केवल प्रकृति और पुरुष ही सब सृष्टि के मूलतत्त्व हैं सही परन्तु उनमें से पुरुष शब्द में सांख्यवादियों के मतानुसार असंख्य पुरुषों के समुदाय का समावेश होता है। इन असंख्य पुरुषों के और त्रिगुणात्मक प्रकृति के संयोग से सृष्टि का सब व्यवहार हो रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रकृति का जब संयोग होता है तब प्रकृति अपने गुणों का जाला उस पुरुष के सामने फैलाती है, और पुरुष उसका उपभोग करता रहता है। ऐसा होते होते जिस पुरुष के चारों ओर की प्रकृति के खेल सात्त्विक हो जाते हैं उस पुरुष को ही (सब पुरुषों को नहीं) सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है; और उस पुरुष के लिये ही प्रकृति के सब खेल बन्द हो जाते हैं; एवं वह अपने मूल तथा कैवल्यपद को पहुँच जाता है। परन्तु यद्यपि उस पुरुष को मोक्ष मिल गया,

तो भी शेष सब पुरुषों को संसार में फँसे ही रहना पड़ता है। कदाचित् कोई यह समझे, कि ज्योंही पुरुष इस प्रकार कैवल्यपद को पहुँच जाता है त्योंही वह एकदम प्रकृति के जाले से छूट जाता होगा। परन्तु सांख्यमत के अनुसार यह समझ गलत है। देह और इन्द्रियरूपी प्रकृति के विकार उस मनुष्य की मृत्यु तक उसे नहीं छोड़ते। सांख्यवादी इसका यह कारण बतलाते हैं, कि जिस प्रकार कुम्हार का पहिया – घड़ा बन कर निकाल लिया जाने पर भी – पूर्व संस्कार के कारण कुछ देर तक घूमता ही रहता है उसी प्रकार कैवल्यपद की प्राप्ति हो जाने पर भी इस मनुष्य का शरीर कुछ समय तक शेष रहता है (सां. का. ६७)। तथापि उस शरीर से कैवल्यपद पर आरूढ होनेवाले पुरुष को कुछ भी अड़चन या सुखदुःख की बाधा नहीं होती। क्योंकि, यह शरीर जड़ प्रकृति का विकार होने के कारण स्वयं जड़ ही है। इसलिये इसे सुखदुःख दोनों समान ही हैं; और यदि यह कहा जाय कि पुरुष को सुखदुःख की बाधा होती है तो यह भी ठीक नहीं। क्यों कि उसे मालूम है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ, सब कर्तृत्व प्रकृति का है मेरा नहीं। ऐसी अवस्था में प्रकृति के मनमाने खेल हुआ करते हैं। परन्तु उसे सुखदुःख नहीं होता और वह सदा उदासीन रहता है। जो पुरुष प्रकृति के तीनों गुणों से छूट कर यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका वह जन्म-मरण से छुट्टी नहीं पा सकता। चाहे वह सत्त्वगुण के उत्कर्ष के कारण देवयोनि में जन्म ले या रजोगुण के कारण मानवयोनि में जन्म ले या तमोगुण की प्रबलता के कारण पशु-कोटि में जन्म ले (सां. का. ४४, ५४) जन्ममरणरूपी चक्र के ये फल प्रत्येक मनुष्य को उसके चारों ओर की प्रकृति अर्थात् उसकी बुद्धि के सत्त्व-रज-तम गुणों के उत्कर्ष-अपकर्ष के कारण प्राप्त हुआ करते हैं। गीता में भी कहा है कि 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' सात्त्विक वृत्ति के पुरुष स्वर्ग को जाते हैं; और तामस पुरुषों को अधोगति प्राप्त होती है (गीता १४. १८)। परन्तु स्वर्गादि फल अनित्य हैं। जिसे जन्म-मरण से छुट्टी पाना है या सांख्यों की परिभाषा के अनुसार जिसे प्रकृति से अपनी भिन्नता अर्थात् कैवल्य चिरस्थायी रखना है उसे त्रिगुणातीत हो कर विरक्त (संन्यस्त) होने के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। कपिलाचार्य को यह वैराग्य और ज्ञान जन्म से ही प्राप्त हुआ था परन्तु यह स्थिति सब लोगों को जन्म ही से प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये तत्त्व-विवेक रूप साधन से प्रकृति और पुरुष की भिन्नता को पहचान कर प्रत्येक पुरुष को अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेने का यत्न करना चाहिये। ऐसे प्रयत्नों से जब बुद्धि सात्त्विक हो जाती है तो फिर उसमें ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुण उत्पन्न होते हैं; और मनुष्य को अन्त में कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तु को पाने की मनुष्य इच्छा करता है उसे प्राप्त कर लेने के योग्य सामर्थ्य को ही यहाँ ऐश्वर्य कहा है। सांख्यमत के अनुसार धर्म की गणना सात्त्विक गुण में ही की जाती है। परन्तु कपिलाचार्य ने अन्त में यह भेद किया है कि केवल धर्म से

स्वर्गप्राप्ति ही होती है और ज्ञान तथा वैराग्य (संन्यास) से मोक्ष या कैवल्य प्राप्त होता है तथा पुरुष के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

जब देहेन्द्रियों और बुद्धि में पहले सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है; और जब धीरे धीरे उन्नति होते होते अन्त में पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न हूँ तब उसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' अर्थात् सत्त्व-रज-तम गुणों के परे पहुँचा हुआ कहते हैं। इस त्रिगुणातीत अवस्था में सत्त्व-रज-तम में से कोई भी गुण शेष नहीं रहता। कुछ सूक्ष्म विचार करने से मानना पड़ता है कि यह त्रिगुणातीत अवस्था सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। इसी अभिप्राय से भागवत में भक्ति के तामस, राजस और सात्त्विक भेद करने के पश्चात् एक और चौथा भेद किया गया है। तीनों गुणों के पार हो जानेवाला पुरुष निर्हेतुक कहलाता है और अभेदभाव से जो भक्ति की जाती है उसे निर्गुण भक्ति कहते हैं (भाग. ३. २९. ७–१४)। परन्तु सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों वर्गों की अपेक्षा वर्गीकरण के तत्त्वों को व्यर्थ अधिक बढ़ाना उचित नहीं है। इसलिये सांख्यवादी कहते हैं कि सत्त्वगुण के अत्यन्त उत्कर्ष से ही अन्त में त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त हुआ करती है और इसलिये वे इस अवस्था की गणना सात्त्विक वर्ग में ही करते हैं। गीता में भी यह मत स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ वहाँ कहा है कि जिस अभेदात्मक ज्ञान से यह मालूम हो कि सब कुछ एक ही है उसी को सात्त्विक ज्ञान कहते हैं (गी. १८. २०)। इसके सिवा सत्त्वगुण के वर्णन के बाद ही गीता में १४ वें अध्याय के अन्त में त्रिगुणातीत अवस्था का वर्णन है। परन्तु भगवद्गीता को यह प्रकृति और पुरुषवाला द्वैत मान्य नहीं है। इसलिये ध्यान रखना चाहिये कि गीता में 'प्रकृति', 'पुरुष', 'त्रिगुणातीत' इत्यादि सांख्यवादियों के पारिभाषिक शब्दों का उपयोग कुछ भिन्न अर्थ में किया गया है; अथवा यह कहिये कि गीता में सांख्यवादियों के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की 'छाप' सर्वत्र लगी हुई है। उदाहरणार्थ, सांख्यवादियों के प्रकृति-पुरुष भेद का ही गीता के १३ वें अध्याय में वर्णन है (गी. १३. १९–३४)। परन्तु वहाँ 'प्रकृति' और 'पुरुष' शब्दों का उपयोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार १४ वें अध्याय में त्रिगुणातीत अवस्था का वर्णन (गी. १४. २२–२७) भी उस सिद्ध पुरुष के विषय में किया गया है जो त्रिगुणात्मक माया के फन्दे से छूटकर उस परमात्मा को पहचानता है कि जो प्रकृति और पुरुष के भी परे है। यह वर्णन सांख्यवादियों के उस सिद्धान्त के अनुसार नहीं है जिसके द्वारा वे यह प्रतिपादन करते हैं कि 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों पृथक् पृथक् तत्त्व हैं और पुरुष का 'कैवल्य' ही त्रिगुणातीत अवस्था है। यह भेद आगे अध्यात्म प्रकरण में अच्छी तरह समझा दिया गया है। परन्तु गीता में यद्यपि अध्यात्म पक्ष ही प्रतिपादित किया गया है तथापि आध्यात्मिक तत्त्वों का वर्णन करते समय भगवान् श्रीकृष्ण

सांख्यपरिभाषा का और युक्तिवाद का हर जगह उपयोग किया है। इसलिये सम्भव है कि गीता पढ़ते समय कोई यह समझ बैठे, कि गीता को सांख्यवादियों के ही सिद्धान्त मान्य हैं। इस भ्रम को हटाने के लिये ही सांख्यशास्त्र और गीता के तत्सदृश सिद्धान्तों का भेद फिर से यहाँ बतलाया गया है। वेदान्तसूत्रों के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने कहा है कि उपनिषदों के इस अद्वैत सिद्धान्त को न छोड़ कर – कि 'प्रकृति और पुरुष के परे इस जगत् का परब्रह्मरूपी एक ही मूलभूत तत्त्व है और उसी से प्रकृतिपुरुष आदि सब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है' – सांख्यशास्त्र के शेष सिद्धान्त हमें अमान्य नहीं हैं (वे. सू. शां. भा. २. १. ३)। यही बात गीता के उपपादन के विषय में भी चरितार्थ होती है।

सांख्यपरिभाषा का और युक्तिवाद का हर जगह उपयोग किया है। इसलिये सम्भव है कि गीता पढ़ते समय कोई यह समझ बैठे, कि गीता को सांख्यवादियों के ही सिद्धान्त मान्य हैं। इस भ्रम को हटाने के लिये ही सांख्यशास्त्र और गीता के तत्सदृश सिद्धान्तों का भेद फिर से यहाँ बतलाया गया है। वेदान्तसूत्रों के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने कहा है, कि उपनिषदों के इस अद्वैत सिद्धान्त को न छोड़ कर – कि प्रकृति और पुरुष के परे इस जगत् का परब्रह्मरूपी एक ही मूलभूत तत्त्व है और उसी से प्रकृतिपुरुष आदि सब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है – सांख्यशास्त्र के शेष सिद्धान्त हमें अमान्य नहीं हैं (वे. सू. शां. भा. २. १. १)। यही बात गीता के उपपादन के विषय में भी चरितार्थ होती है।

आठवाँ प्रकरण

विश्व की रचना और संहार

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च। *

— महाभारत शांति १ ५ २१

इस बात का विवेचन हो चुका कि कापिलसांख्य के अनुसार संसार में जो दो स्वतन्त्र मूलतत्त्व – प्रकृति और पुरुष – हैं उनका स्वरूप क्या है, और जब इन दोनों का संयोग ही निमित्त कारण हो जाता है तब पुरुष के सामने प्रकृति अपने गुणों का जाला कैसे फैलाया करती है और उस जाले से हम को अपना छुटकारा किस प्रकार कर लेना चाहिये। परन्तु अब तक इस बात का स्पष्टीकरण नहीं किया गया कि प्रकृति अपने जाले को (अथवा लेख संहार या ज्ञानेश्वर महाराज के शब्दों में 'प्रकृति की टकसाल' को) किस क्रम से पुरुष के सामने फैलाया करती है; और उसका लय किस प्रकार हुआ करता है। प्रकृति के इस व्यापार ही को 'विश्व की रचना और संहार' कहते हैं; और इसी विषय का विवेचन प्रस्तुत प्रकरण में किया जायगा। सांख्यमत के अनुसार प्रकृति ने इस जगत् या सृष्टि को असंख्य पुरुषों के लाभ के लिये ही निर्माण किया है। 'दासबोध' में श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने भी प्रकृति से सारे ब्रह्माण्ड के निर्माण होने का बहुत अच्छा वर्णन किया है। उसी वर्णन से 'विश्व की रचना और संहार' शब्द इस प्रकरण में लिये गये हैं। इसी प्रकार, भगवद्गीता के सातवें और आठवें अध्यायों में मुख्यतः इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। और, ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो यह प्रार्थना की है कि "भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया" (गी. ११. २) – भूतों की उत्पत्ति और प्रलय (जो आपने) विस्तारपूर्वक (बतलाया, उसको) मैंने सुना। अब मुझे अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाकर कृतार्थ कीजिये – उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विश्व की रचना और संहार क्षर-अक्षर-विचार ही का एक मुख्य भाग है। 'ज्ञान' वह है जिससे यह बात मालूम हो जाती है कि सृष्टि के अनेक (नाना) व्यक्त पदार्थों में एक ही अव्यक्त मूलद्रव्य है (गीता १८. २); और 'विज्ञान' उसे कहते हैं जिससे यह मालूम हो कि एक ही मूलभूत अव्यक्त द्रव्य से भिन्न भिन्न अनेक पदार्थ किस प्रकार अलग अलग निर्मित हुए (गी. ११. १); और इस में न केवल क्षर-अक्षर-विचार ही का समावेश होता है किन्तु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान और अध्यात्म विषयों का भी समावेश हो जाता है।

---

* "गुणों से ही गुणों की उत्पत्ति होती है और उन्हीं में उनका लय हो जाता है।"

भगवद्गीता के मतानुसार प्रकृति अपना खेल करने या सृष्टि का काम चलाने के लिये स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु उसे यह काम ईश्वर की इच्छा के अनुसार करना पड़ता है (गी. ९. १०)। परन्तु पहले बतलाया जा चुका है कि कपिलाचार्य ने प्रकृति को स्वतन्त्र माना है। सांख्यशास्त्र के अनुसार, प्रकृति का संसार आरम्भ होने के लिये पुरुष का संयोग ही निमित्त-कारण बस हो जाता है। इस विषय में प्रकृति और किसी की अपेक्षा नहीं करती। सांख्यों का यह कथन है कि ज्योंही पुरुष और प्रकृति का संयोग होता है त्योंही उसकी टकसाल जारी हो जाती है। जिस प्रकार वसन्त ऋतु में नये पत्ते दीख पड़ते हैं, और क्रमशः फूल और फल लगते हैं (म. भा. शां. २११. ७१; मनु. १. ३०) उसी प्रकार प्रकृति की मूल साम्यावस्था नष्ट हो जाती है, और उसके गुणों का विस्तार होने लगता है। इसके विरुद्ध वेदसंहिता, उपनिषद् और स्मृति-ग्रन्थों में प्रकृति को मूल न मान कर परब्रह्म को मूल माना है; और परब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति होने के विषय में भिन्न भिन्न वर्णन किये गये हैं — "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" — पहले हिरण्यगर्भ (ऋ. १०. १२१. १) और इस हिरण्यगर्भ से अथवा सत्य से सब सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ. १०. ७२; १०. १९०); अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ (ऋ. १०. ८२. ६; तै. ब्रा. १. १. ३. ७; ऐ. उ. १. १. २) और फिर उससे सृष्टि हुई। इस पानी में एक अण्डा उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ; ब्रह्मा से अथवा उस मूल अण्डे से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ (मनु. १. ८-१३; छां. ३. १९); अथवा वही ब्रह्मा (पुरुष) आधे हिस्से से स्त्री हो गया (बृ. १. ४. ३; मनु. १. ३२); अथवा पानी उत्पन्न होने के पहले ही पुरुष था (कठ. ४. ६); अथवा परब्रह्म से तेज, पानी और पृथ्वी (अन्न) यही तीन तत्त्व उत्पन्न हुए, और पश्चात् उनके मिश्रण से सब पदार्थ बने (छां. ६. २-६)। यद्यपि उक्त वर्णनों में बहुत भिन्नता है; तथापि वेदान्तसूत्रों (२. ३. १-१५) में अन्तिम निर्णय यह किया गया है कि आत्मरूपी मूलब्रह्म से ही आकाश आदि पञ्चमहाभूत क्रमशः उत्पन्न हुए हैं (तै. उ. २. १)। प्रकृति, महत् आदि तत्त्वों का भी उल्लेख कठ. (३. ११), मैत्रायणी (६. १०), श्वेताश्वतर (४. १०; ६. १६) आदि उपनिषदों में स्पष्ट रीति से किया गया है। इससे दीख पड़ेगा कि यद्यपि वेदान्तमतवाले प्रकृति को स्वतन्त्र न मानते हों, तथापि जब एक बार शुद्ध ब्रह्म ही में मायात्मक प्रकृतिरूप विकार दृग्गोचर होने लगता है तब, आगे सृष्टि के उत्पत्तिक्रम के सम्बन्ध में उनका और सांख्यमतवालों का अन्त में मेल हो गया; और इसी कारण महाभारत में कहा है कि "इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र आदि में जो कुछ ज्ञान भरा है वह सब सांख्यों से प्राप्त हुआ है" (शां. ३०१. १०८, १०९)। उसका यह मतलब नहीं है कि वेदान्तियों ने अथवा पौराणिकों ने यह ज्ञान कपिल से प्राप्त किया है; किन्तु यहाँ पर केवल इतना ही अर्थ अभिप्रेत है कि सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का ज्ञान सर्वत्र एक-सा दीख पड़ता है। इतना ही नहीं, किन्तु यह भी

कहा जा सकता है कि यहाँ पर सांख्य शब्द का प्रयोग 'ज्ञान' के व्यापक अर्थ ही में किया गया है। कपिलाचार्य ने सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का वर्णन शास्त्रीय दृष्टि से विशेष पद्धतिपूर्वक किया है और भगवद्गीता में भी विशेष करके इसी सांख्यक्रम का स्वीकार किया गया है। इस कारण उसी का विवेचन इस प्रकरण में किया जायगा।

सांख्यों का सिद्धान्त है कि इन्द्रियों को अगोचर अर्थात् अव्यक्त, सूक्ष्म और चारों ओर अखण्डित भरे हुए एक ही निरवयव मूलद्रव्य से सारी व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह सिद्धान्त पश्चिमी देशों के अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रज्ञों को ग्राह्य है। ग्राह्य ही क्यों? अब तो उन्हों ने यह भी निश्चित किया है कि इसी मूल द्रव्य की शक्ति का क्रमशः विकास होता आया है और इस पूर्वापार क्रम को छोड़ अचानक या निरर्थक कुछ भी निर्माण नहीं हुआ है। इसी मत को उत्क्रान्तिवाद या विकास सिद्धान्त कहते हैं। जब यह सिद्धान्त पश्चिमी राष्ट्रों में गत शताब्दी में पहले पहल ढूँढ निकाला गया, तब वहाँ बड़ी खलबली मच गई थी। ईसाई धर्म-पुस्तकों में वर्णन है कि ईश्वर ने पंचमहाभूतों को और जंगमवर्ग के प्रत्येक प्राणी की जाति को भिन्न भिन्न समय पर पृथक् पृथक् और स्वतन्त्र निर्माण किया है, और इसी मत को उत्क्रान्ति-वाद के पहले सब ईसाई लोग सत्य मानते थे। अतएव, जब ईसाई धर्म का उक्त सिद्धान्त उत्क्रान्तिवाद से असत्य ठहराया जाने लगा, तब उत्क्रान्तिवादियों पर खूब जोर से आक्रमण और कटाक्ष होने लगे। ये कटाक्ष आजकल भी न्यूनाधिक होते ही रहते हैं। तथापि, शास्त्रीय सत्य में अधिक शक्ति होने के कारण सृष्ट्युत्पत्ति के सम्बन्ध में सब विद्वानों को उत्क्रान्तिमत ही आजकल अधिक ग्राह्य होने लगा है। इस मत का सारांश यह है — सूर्यमाला में पहले कुछ एक ही सूक्ष्मद्रव्य था। उसकी गति अथवा उष्णता का परिमाण घटता गया। तब द्रव्य का अधिकाधिक संकोच होने लगा और पृथ्वीसमवेत सब ग्रह क्रमशः उत्पन्न हुए। अन्त में जो शेष अंश बचा वही सूर्य है। पृथ्वी का भी सूर्य के सदृश पहले एक उष्ण गोला था। परन्तु ज्यों ज्यों उसकी उष्णता कम होती गई त्यों त्यों मूलद्रव्यों में से कुछ द्रव्य पतले और कुछ घने हो गये। इस प्रकार पृथ्वी के ऊपर की हवा और पानी तथा उसके नीचे का पृथ्वी का जड़ गोला — ये तीन पदार्थ बने; और इसके बाद इन तीनों के मिश्रण अथवा संयोग से सब सजीव तथा निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई है। डार्विन प्रभृति पण्डितों ने तो यह प्रतिपादन किया है कि इसी तरह मनुष्य भी छोटे कीड़े से बढ़ते बढ़ते अपनी वर्तमान अवस्था में आ पहुँचा है। परन्तु अब तक आधिभौतिकवादियों में और अध्यात्मवादियों में इस बात पर बहुत मतभेद है कि सारी सृष्टि के मूल में आत्मा जैसे किसी भिन्न और स्वतन्त्र तत्त्व को मानना चाहिये या नहीं। हेकल के सदृश कुछ पण्डित यह मान कर कि जड़ पदार्थों से ही बढ़ते बढ़ते आत्मा और चैतन्य की उत्पत्ति हुई, जड़ाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं; और इसके विरुद्ध कान्ट सरीखे अध्यात्मज्ञानियों का यह कथन है कि हमें सृष्टि का जो ज्ञान होता है वह हमारी आत्मा के एकीकरण व्यापार का फल है, इसलिये

आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व मानना ही पड़ता है। क्योंकि यह कहना – कि जो आत्मा बाह्यसृष्टि का ज्ञाता है वह उसी सृष्टि का एक भाग है अथवा उस सृष्टि ही से वह उत्पन्न हुआ है – तर्कदृष्टि से ठीक वैसा ही असमंजस या भ्रामक प्रतीत होगा जैसे यह उक्ति कि हम स्वयं अपने ही कन्धे पर बैठ सकते हैं। यही कारण है कि सांख्यशास्त्र में प्रकृति और पुरुष ये दो स्वतन्त्र तत्त्व माने गये हैं। सारांश यह है कि आधिभौतिक सृष्टिज्ञान चाहे कितना बढ़ गया हो तथापि अब तक पश्चिमी देशों में बहुतेरे बड़े बड़े पण्डित यही प्रतिपादन किया करते हैं कि सृष्टि के मूलतत्त्व के स्वरूप का विवेचन भिन्न पद्धति ही से किया जाना चाहिये। परन्तु, यदि केवल इतना ही विचार किया जाय, कि एक जड़ प्रकृति से आगे सब व्यक्त पदार्थ किस क्रम से बने हैं तो पाठकों को मालूम हो जायगा कि पश्चिमी उत्क्रान्ति-मत में और सांख्यशास्त्र में वर्णित प्रकृति के कार्य-सम्बन्धी तत्त्वों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि इस मुख्य सिद्धान्त से दोनों सहमत हैं कि अव्यक्त सूक्ष्म और एक ही मूलप्रकृति से क्रमशः (सूक्ष्म और स्थूल) विविध तथा व्यक्त सृष्टि निर्मित हुई है। परन्तु अब आधिभौतिक शास्त्रों के ज्ञान की खूब वृद्धि हो जाने के कारण सांख्यवादियों के सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों के बदले आधुनिक सृष्टिशास्त्रज्ञों ने गति, उष्णता और आकर्षणशक्ति को प्रधान गुण मान रखा है। यह बात सच है कि सत्त्व, रज, तम, गुणों की न्यूनाधिकता के परिमाणों की अपेक्षा उष्णता अथवा आकर्षणशक्ति की न्यूनाधिकता की बात आधिभौतिकशास्त्र की दृष्टि से सरलतापूर्वक समझ में आ जाती है। तथापि गुणों के विकास अथवा गुणोत्कर्ष का जो यह तत्त्व है कि गुणा गुणेषु वर्तन्ते (गी. ३. २८) वह दोनों ओर समान ही है। सांख्य शास्त्रज्ञों का कथन है कि जिस तरह मोड़दार पंखे को धीरे धीरे खोलते हैं उसी तरह सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था में रहनेवाली प्रकृति की तह जब धीरे धीरे खुलने लगती है तब सब व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है – इस कथन में और उत्क्रान्तिवाद में वस्तुतः कुछ भेद नहीं है। तथापि यह भेद तात्त्विक धर्मदृष्टि से ध्यान में रखने योग्य है कि ईसाई धर्म के समान गुणोत्कर्षतत्त्व का अनादर न करते हुए, गीता में और अंशतः उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थों में भी अद्वैत वेदान्त के साथ ही साथ, बिना किसी विरोध के गुणोत्कर्षवाद स्वीकार किया गया है।

अब देखना चाहिये कि प्रकृति के विकास के विषय में सांख्यशास्त्रकारों का क्या कथन है। इस क्रम ही को गुणोत्कर्ष अथवा गुणपरिणामवाद कहते हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि कोई काम आरम्भ करने के पहले मनुष्य उसे अपनी बुद्धि से निश्चित कर लेता है अथवा पहले काम करने की बुद्धि या इच्छा उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उपनिषदों में भी इस प्रकार का वर्णन है कि आरम्भ में मूल परमात्मा को यह बुद्धि या इच्छा हुई कि हमें अनेक होना चाहिये – बहु स्यां प्रजायेय – और इसके बाद सृष्टि उत्पन्न हुई (छां. ६. २. ३; तै. २. ६)।

कह जा सकता है कि यहाँ पर सांख्य शब्द का प्रयोग 'ज्ञान' के व्यापक अर्थ ही में किया गया है। कपिलाचार्य ने सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का वर्णन शास्त्रीय दृष्टि से विशेष पद्धतिपूर्वक किया है और भगवद्गीता में भी विशेष करके इसी सांख्यक्रम का स्वीकार किया गया है। इस कारण उसी का विवेचन इस प्रकरण में किया जायगा।

सांख्यों का सिद्धान्त है कि इन्द्रियों को अगोचर अर्थात् अव्यक्त सूक्ष्म और चारों ओर अखण्डित भरे हुए एक ही निरवयव मूलद्रव्य से सारी व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह सिद्धान्त पश्चिमी देशों के अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रज्ञों को ग्राह्य है। ग्राह्य ही क्यों अब तो उन्हों ने यह भी निश्चित किया है कि इसी मूल द्रव्य की शक्ति का क्रमशः विकास होता आया है और इस पूर्वापार क्रम को छोड़ अचानक या निरर्थक कुछ भी निर्माण नहीं हुआ है। इसी मत को उत्क्रान्तिवाद या विकास सिद्धान्त कहते हैं। जब यह सिद्धान्त पश्चिमी राष्ट्रों में गत शताब्दी में पहले पहले ढूँढ़ निकाला गया तब वहाँ बड़ी खलबली मच गई थी। ईसाई धर्म पुस्तकों में वर्णन है कि ईश्वर ने पंचमहाभूतों को और जंगमवर्ग के प्रत्येक प्राणी की जाति को भिन्न भिन्न समय पर पृथक् पृथक् और स्वतन्त्र निर्माण किया है और इसी मत को उत्क्रान्तिवाद के पहले सब ईसाई लोग सत्य मानते थे। अतएव जब ईसाई धर्म का उक्त सिद्धान्त उत्क्रान्तिवाद से असत्य ठहराया जाने लगा तब उत्क्रान्तिवादियों पर खूब जोर से आक्रमण और कटाक्ष होने लगे। ये कटाक्ष आजकल भी न्यूनाधिक होते ही रहते हैं। तथापि शास्त्रीय सत्य में अधिक शक्ति होने के कारण सृष्ट्युत्पत्ति के सम्बन्ध में सब विद्वानों को उत्क्रान्तिमत ही आजकल अधिक ग्राह्य होने लगा है। इस मत का सारांश यह है – सूर्यमाला में पहले कुछ एक ही सूक्ष्मद्रव्य था। उसकी गति अथवा उष्णता का परिमाण घटता गया। तब द्रव्य का अधिकाधिक संकोच होने लगा और पृथ्वीसमेत सब ग्रह क्रमशः उत्पन्न हुए। अन्त में जो शेष अंश बचा वही सूर्य है। पृथ्वी का भी सूर्य के सदृश पहले एक उष्ण गोला था। परन्तु ज्यों ज्यों उसकी उष्णता कम होती गई त्यों त्यों मूलद्रव्यों में से कुछ द्रव्य पतले और कुछ घन हो गये। इस प्रकार पृथ्वी के ऊपर की हवा और पानी तथा उसके नीचे का पृथ्वी का जड़ गोला – ये तीन पदार्थ बने और इसके बाद इन तीनों के मिश्रण अथवा संयोग से सब सजीव तथा निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई है। डार्विन प्रभृति पण्डितों ने तो यह प्रतिपादन किया है कि इसी तरह मनुष्य भी छोटे कीड़े से बढ़ते बढ़ते अपनी वर्तमान अवस्था में आ पहुँचा है। परन्तु अब तक आधिभौतिकवादियों में और अध्यात्मवादियों में इस बात पर बहुत मतभेद है कि सारी सृष्टि के मूल में आत्मा जैसे किसी भिन्न और स्वतन्त्र तत्त्व को मानना चाहिये या नहीं। हेकेल के सदृश कुछ पण्डित यह मान कर कि जड़ पदार्थों से ही बढ़ते बढ़ते आत्मा और चैतन्य की उत्पत्ति हुई जड़ाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं; और इसके विरुद्ध कान्ट सरीखे अध्यात्मज्ञानियों का यह कथन है कि हमें सृष्टि का जो ज्ञान होता है वह हमारी आत्मा के एकीकरण-व्यापार का फल है इसलिये

नाम भी हैं। मालूम होता है कि इनमें से 'महत्' (पुल्लिंग कर्ता का एकवचन महान् – बड़ा) नाम इस गुण की श्रेष्ठता के कारण दिया गया होगा अथवा इसलिये दिया गया होगा कि अब प्रकृति बढ़ने लगती है। प्रकृति में पहले उत्पन्न होनेवाला महान् अथवा बुद्धि-गुण सत्त्व-रज-तम के मिश्रण ही का परिणाम है। इसलिये प्रकृति की यह बुद्धि यद्यपि देखने में एक ही प्रतीत होती हो, तथापि यह आगे कह प्रकार की हो सकती है। क्योंकि ये गुण – सत्त्व, रज, और तम – प्रथम दृष्टि से यद्यपि तीन हैं, तथापि विचार दृष्टि से प्रकट हो जाता है, कि इनके मिश्रण में प्रत्येक गुण का परिणाम अनन्त रीति से भिन्न भिन्न हुआ करता है, और, इसी लिये इन तीनों में से एक प्रत्येक गुण के अनन्त भिन्न परिणाम से उत्पन्न होनेवाली बुद्धि के प्रकार भी निदान अनन्त हो सकते हैं। अव्यक्त प्रकृति से निर्मित होनेवाली यह बुद्धि भी प्रकृति के ही सदृश होती है। परन्तु पिछले प्रकरण में 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' तथा 'सूक्ष्म' का जो अर्थ बतलाया गया है उसके अनुसार यह बुद्धि प्रकृति के समान सूक्ष्म होने पर भी उसके समान अव्यक्त नहीं है – मनुष्य को इसका ज्ञान हो सकता है। अतएव अब यह सिद्ध हो चुका कि इस बुद्धि का समावेश व्यक्त में (अर्थात् मनुष्य को गोचर होनेवाले पदार्थों में) होता है, और सांख्य शास्त्र में न केवल बुद्धि किन्तु बुद्धि के आगे प्रकृति के सब विकार भी व्यक्त ही माने जाते हैं। एक मूल प्रकृति के सिवा कोई भी अन्य तत्त्व अव्यक्त नहीं है।

इस प्रकार यद्यपि अव्यक्त प्रकृति में व्यक्त व्यवसायात्मिक बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तथापि प्रकृति अब तक एक एक ही बनी रहती है। इस एकता का भंग होना और बहुत्व या विविधत्व का उत्पन्न होना ही पृथक्त्व कहलाता है। उदाहरणार्थ, पारे का जमीन पर गिरना और उसकी अलग अलग छोटी छोटी गोलियाँ बन जाना। बुद्धि के बाद जब तक यह पृथक्ता या विविधता उत्पन्न न हो, तब तक प्रकृति से अनेक पदार्थ हो जाना सम्भव नहीं। बुद्धि से आगे उत्पन्न होनेवाली पृथक्ता के गुण को ही अहंकार कहते हैं। क्योंकि पृथक्ता 'मैं-तू' शब्दों से ही प्रथम व्यक्त की जाती है, और 'मैं-तू' का अर्थ ही अहंकार अथवा अहं-अहं (मैं मैं) करना है। प्रकृति में उत्पन्न होनेवाले अहंकार के इस गुण को यदि आप चाहें तो अस्वयं वेद्य अर्थात् अपने आप को ज्ञात न होनेवाले अहंकार कह सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि मनुष्य में प्रकट होनेवाला अहंकार और वह अहंकार कि जिसके कारण पेड़, पत्थर, पानी अथवा भिन्न भिन्न मूल परमाणु एक ही प्रकृति से उत्पन्न होते हैं – ये दोनों एक ही जाति के हैं। भेद केवल इतना ही है कि पत्थर में चैतन्य न होने के कारण उसे 'अहं' का ज्ञान नहीं होता और मुँह न होने के कारण 'मैं-तू' कह कर स्वाभिमानपूर्वक वह अपनी पृथक्ता किसी पर प्रकट नहीं कर सकता। सारांश यह है कि दूसरों से पृथक् रहने का – अर्थात् अभिमान या अहंकार का – तत्त्व सब जगह समान ही है। इस अहंकार ही को तैजस, अभिमान, भूतादि और धातु भी

कहते हैं। अहंकार बुद्धि ही का एक भाग है। इसलिये पहले जब तक बुद्धि न होगी, तब तक अहंकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। अतएव सांख्यों ने यह निश्चित किया है कि अहंकार यह दूसरा – अर्थात् बुद्धि के बाद का – गुण है। अब यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सात्त्विक, राजस और तामस भेदों से बुद्धि के समान ही अहंकार भी अनन्त प्रकार हो जाते हैं। इसी तरह उनके बाद के गुणों के भी प्रत्येक के विषय अनन्त भेद हैं। अथवा यह कहिये कि व्यक्त सृष्टि में प्रत्येक वस्तु के इसी प्रकार अनन्त सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं और इसी सिद्धान्त को लक्ष्य करके गीता में गुणत्रय विभाग और श्रद्धात्रय विभाग बतलाये गये हैं (गी. अ. १४ और १७)।

व्यवसायात्मिक बुद्धि और अहंकार दोनों व्यक्त गुण जब मूल साम्यावस्था की प्रकृति में उत्पन्न हो जाते हैं तब प्रकृति की एकता भंग हो जाती है और उससे अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। तथापि उसकी सूक्ष्मता अब तक कायम रहती है। अर्थात् यह कहना अयुक्त न होगा कि अब नैयायिकों के सूक्ष्म परमाणुओं का आरम्भ होता है। क्योंकि अहंकार उत्पन्न होने के पहले प्रकृति अखण्डित और निरवयव थी। वस्तुतः देखने से तो प्रतीत होता है कि निरी बुद्धि और निरा अहंकार केवल गुण हैं। अतएव, उपर्युक्त सिद्धान्तों से यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि ये (बुद्धि और अहंकार) प्रकृति के द्रव्य से पृथक् रहते हैं। वास्तव में बात यह है कि जब मूल और अवयवरहित एक ही प्रकृति में इन गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है तब उसी को विविध और अवयवसहित द्रव्यात्मक व्यक्त रूप प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जब अहंकार से मूलप्रकृति में भिन्न भिन्न पदार्थ बनने की शक्ति आ जाती है तब आगे उसकी वृद्धि की दो शाखायें हो जाती हैं। एक – पेड़, मनुष्य आदि सेन्द्रिय प्राणियों की सृष्टि और दूसरी – निरिन्द्रिय पदार्थों की सृष्टि। यहाँ इन्द्रिय शब्द से केवल इन्द्रियवान् प्राणियों की इन्द्रियों की शक्ति इतना ही अर्थ समझना चाहिये। इसका कारण यह है कि सेन्द्रिय प्राणियों के जड़ देह का समावेश जड़ यानी निरिन्द्रिय सृष्टि में होता है; और इन प्राणियों का आत्मा 'पुरुष' नामक अन्य वर्ग में शामिल किया जाता है। इसी लिये सांख्यशास्त्र में सेन्द्रिय सृष्टि का विचार करते समय देह और आत्मा को छोड़ केवल इन्द्रियों का ही विचार किया गया है। इस जगत् में सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय पदार्थों के अतिरिक्त किसी तीसरे पदार्थ का होना सम्भव नहीं। इसलिये कहने की आवश्यकता नहीं कि अहंकार से दो से अधिक शाखायें निकल ही नहीं सकतीं। इनमें निरिन्द्रिय पदार्थों की अपेक्षा इन्द्रियशक्ति श्रेष्ठ है। इस लिये इन्द्रिय सृष्टि को सात्त्विक (अर्थात् सत्त्वगुण के उत्कर्ष से होनेवाली) कहते हैं और निरिन्द्रिय सृष्टि को तामस (अर्थात् तमोगुण के उत्कर्ष से होनेवाली) कहते हैं। सारांश यह है कि जब अहंकार अपनी शक्ति से भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न करने लगता है तब

उसी में एक बार तमोगुण का उत्कर्ष हो कर एक ओर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन मिल कर इन्द्रिय-सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं; और दूसरी ओर, तमोगुण का उत्कर्ष हो कर उससे निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलभूत पाँच तन्मात्रद्रव्य उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रकृति की सूक्ष्मता अब तक कायम रहती है इसलिये अहंकार से उत्पन्न होनेवाले ये सोलह तत्त्व भी सूक्ष्म ही रहते हैं।*

शब्द, स्पर्श, रूप और रस की तन्मात्राएँ – अर्थात् बिना मिश्रण हुए प्रत्येक गुण के भिन्न भिन्न अति सूक्ष्म मूलस्वरूप – निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलतत्त्व हैं; और मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ सेन्द्रिय-सृष्टि की बीज हैं। इस विषय की सांख्यशास्त्र की उपपत्ति विचार करने योग्य है, कि निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलतत्त्व (तन्मात्र) पाँच ही क्यों और सेन्द्रिय सृष्टि के मूलतत्त्व ग्यारह ही क्यों माने जाते हैं। अर्वाचीन सृष्टिशास्त्रज्ञों ने सृष्टि के पदार्थों के तीन भेद – घन, द्रव और वायुरूपी – किये हैं; परन्तु सांख्यशास्त्रकारों का वर्गीकरण इससे भिन्न है। उनका कथन है कि मनुष्य को सृष्टि के सब पदार्थों का ज्ञान केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियों से हुआ करता है; और इन ज्ञानेन्द्रियों की रचना कुछ ऐसी विलक्षण है कि एक इन्द्रिय को सिर्फ एक ही गुण का ज्ञान हुआ करता है। आँखों से सुगन्ध नहीं मालूम होती और न कान से दीखता ही है; त्वचा से मीठा कड़ुवा नहीं समझ पड़ता और न जिह्वा से शब्दज्ञान ही होता है; नाक से सफेद और काले रंग का भेद भी नहीं मालूम होता। जब इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके पाँच विषय – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध – निश्चित हैं, तब यह प्रगट है कि सृष्टि के सब गुण भी पाँच से अधिक नहीं माने जा सकते। क्योंकि यदि हम कल्पना से यह मान भी लें कि गुण पाँच से अधिक हैं, तो कहना नहीं होगा कि उनको जानने के लिये हमारे पास कोई साधन या उपाय नहीं है। इन पाँच गुणों में से प्रत्येक के अनेक भेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि 'शब्द'-गुण एक ही है, तथापि उसके छोटा, मोटा, कर्कश, भद्दा, फटा हुआ, कोमल, अथवा गायनशास्त्र के अनुसार निषाद, गान्धार, षड्ज आदि; और व्याकरणशास्त्र के अनुसार कण्ठ्य, तालव्य, ओष्ठ्य आदि अनेक भेद हुआ करते हैं। इसी तरह यद्यपि 'रूप' एक ही गुण है, तथापि उसके भी अनेक भेद हुआ करते हैं, जैसे सफेद, काला, हरा, नीला, पीला, लाल आदि। इसी तरह यद्यपि 'रस' या 'रुचि' एक ही गुण है, तथापि उसके खट्टा, मीठा, तीखा, कड़ुवा, खारा आदि अनेक भेद हो जाते हैं; और 'सुगन्ध' यद्यपि एक विशिष्ट

* [illegible] में इस प्रकार कहा जा सकता है –

The Primeval matter (*Prakriti*) was at first *homogeneous*. It *resolved* (*Buddhi*) to unfold itself and by the *principle of differentiation* (*Ahamkara*) became *heterogeneous*. It then branched off into *Two Sections* — one organic (*Sendriya*) and the other inorganic (*Nirindriya*). There are *eleven* elements of the organic and *five* of the inorganic creation. *Purusha* or the observer is different from all these, and falls under none of the above categories.

यदि है, तथापि हम देखते हैं, कि गन्ने का मिठास, दूध का मिठास, गुड़ का मिठास और शक्कर का मिठास भिन्न भिन्न होता है; तथा इस प्रकार उस एक ही 'मिठास' के अनेक भेद हो जाते हैं। यदि भिन्न भिन्न गुणों के भिन्न भिन्न मिश्रणों पर विचार किया जाय तो यह गुणवैचित्र्य अनन्त प्रकार से अनन्त हो सकता है। परन्तु चाहे जो हो, पदार्थों के मूलगुण पाँच से कभी अधिक हो नहीं सकते। क्योंकि इन्द्रियाँ केवल पाँच हैं और प्रत्येक को एक ही एक गुण का बोध हुआ करता है। इसलिये सांख्यों ने यह निश्चित किया है, कि यद्यपि केवल शब्दगुण के अथवा केवल स्पर्शगुण के पृथक् पृथक् यानी दूसरे गुणों के मिश्रणरहित पदार्थ हमें दीख न पड़ते हों, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि मूलप्रकृति में निरा शब्द, निरा स्पर्श, निरा रूप, निरा रस और निरा गन्ध है। अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ही हैं। अर्थात् मूलप्रकृति के ये ही पाँच भिन्न भिन्न सूक्ष्म तन्मात्रविकार अथवा द्रव्य निःसन्देह हैं। आगे इस बात का विचार किया गया है कि पञ्चतन्मात्राओं अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाले पञ्चमहाभूतों के सम्बन्ध में उपनिषत्कारों का कथन क्या है।

इस प्रकार निरिन्द्रिय-सृष्टि का विचार करके यह निश्चित किया गया है कि उसमें पाँच ही मूलतत्त्व हैं। और जब हम सेन्द्रिय सृष्टि पर दृष्टि डालते हैं तब भी यही प्रतीत होता है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन इन ग्यारह इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक इन्द्रियाँ किसी के भी नहीं हैं। स्थूल देह में हाथपैर आदि इन्द्रियाँ यद्यपि स्थूल प्रतीत होती हैं, तथापि इनमें से प्रत्येक की जड़ में किसी मूल-सूक्ष्म तत्त्व का अस्तित्व माने बिना इन्द्रियों की भिन्नता का यथोचित कारण मालूम नहीं होता। वे कहते हैं कि मूल के अत्यन्त छोटे और गोलाकार जन्तुओं में सिर्फ 'त्वचा' ही एक इन्द्रिय होती है और इस त्वचा से अन्य इन्द्रियाँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, मूलजन्तु की त्वचा से प्रकाश का संयोग होने पर आँख उत्पन्न हुई, इत्यादि। आधिभौतिकवादियों का यह तत्त्व – कि प्रकाश आदि के संयोग से स्थूल-इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है – सांख्यों को भी मान्य है। महाभारत (शां २१३. १६) में सांख्यप्रक्रिया के अनुसार इन्द्रियों के प्रादुर्भाव का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है :–

शब्दरागात् श्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः।
रूपरागात् तथा चक्षुः घ्राणं गन्धजिघृक्षया॥

अर्थात् "प्राणियों के आत्मा को जब सुनने की भावना हुई तब कान उत्पन्न हुआ; रूप पहचानने की इच्छा से आँख, सूँघने की इच्छा से नाक उत्पन्न हुई।" परन्तु सांख्यों का यह कथन है कि यद्यपि त्वचा का प्रादुर्भाव पहले होता हो, तथापि मूलप्रकृति में ही यदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों के उत्पन्न होने की शक्ति न हो, तो सजीव-सृष्टि के अत्यन्त छोटे कीड़ों की त्वचा पर सूर्यप्रकाश का चाहे कितना

आपस में संयोग होता रहे, तो भी उन्हें आँखें – और वे भी शरीर के एक विशिष्ट भाग ही में – कैसे प्राप्त हो सकती हैं? डार्विन का सिद्धान्त सिर्फ यह आशय प्रकट करता है कि दो प्राणियों – एक चक्षुवाला और दूसरा चक्षुरहित – के निर्मित होने पर, इस सृष्टि के कलह में चक्षुवाला अधिक समय तक टिक सकता है और दूसरा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। परन्तु पश्चिमी आधिभौतिक सृष्टिशास्त्रज्ञ इस बात का मूलकारण नहीं बतला सकते कि नेत्र आदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों की उत्पत्ति पहले हुई ही क्यों। सांख्यों का मत यह है कि ये सब इन्द्रियाँ किसी एक ही मूल इन्द्रिय से क्रमशः उत्पन्न नहीं होतीं; किन्तु जब अहंकार के कारण प्रकृति में विविधता आरम्भ होने लगती है, तब पहले उस अहंकार से (पाँच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, इन सब को मिला कर) ग्यारह भिन्न भिन्न गुण (शक्ति) सब के सब एक साथ (युगपत्) स्वतन्त्र हो कर मूलप्रकृति में ही उत्पन्न होते हैं और फिर इसके आगे स्थूल-सेन्द्रिय सृष्टि उत्पन्न हुआ करती है। इन ग्यारह इन्द्रियों में से मन के बारे में पहले ही छठवें प्रकरण में बतला दिया गया है कि वह ज्ञानेन्द्रियों के साथ संकल्प-विकल्पात्मक होता है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किये गये संस्कारों की व्यवस्था करके वह उन्हें बुद्धि के सामने निर्णयार्थ उपस्थित करता है और कर्मेन्द्रियों के साथ वह व्याकरणात्मक होता है। अर्थात् उसे बुद्धि के निर्णय को कर्मेन्द्रियों के द्वारा अमल में लाना पड़ता है। इस प्रकार वह उभयविध, अर्थात् इन्द्रियभेद के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के काम करनेवाला होता है। उपनिषदों में इन्द्रियों को ही 'प्राण' कहा है और सांख्यों के मतानुसार उपनिषत्कारों का भी यही मत है कि ये प्राण पञ्चमहाभूतात्मक नहीं हैं, किन्तु परमात्मा से पृथक् उत्पन्न हुए हैं (मुंड. २. १. ३)। इन प्राणों की – अर्थात् इन्द्रियों की – संख्या उपनिषदों में कहीं सात, कहीं दस, ग्यारह, बारह और कहीं कहीं तेरह बतलाई गई है। परन्तु वेदान्तसूत्रों के आधार से श्रीशंकराचार्य ने निश्चित किया है कि उपनिषदों के सब वाक्यों की एकरूपता करने पर इन्द्रियों की संख्या ग्यारह ही सिद्ध होती है (वे. सू. शां. भा. २. ४. ५, ६)। और गीता में तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि 'इन्द्रियाणि दशैकं च' (गी. १३. ५) – अर्थात् इन्द्रियाँ दस और एक, अर्थात् ग्यारह हैं। अब इस विषय पर सांख्य और वेदान्त दोनों में कुछ मतभेद नहीं रहा।

सांख्यों के निश्चित किये हुए मत का सारांश यह है – सात्त्विक अहंकार से सेन्द्रिय-सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इन्द्रियशक्तियाँ (गुण) उत्पन्न होती हैं और तामस अहंकार से निरिन्द्रिय सृष्टि के मूलभूत पाँच तन्मात्रद्रव्य निर्मित होते हैं। इसके बाद पञ्चतन्मात्रद्रव्यों से क्रमशः स्थूल पञ्चमहाभूत (जिन्हें 'विशेष' भी कहते हैं) और स्थूल निरिन्द्रिय पदार्थ बनने लगते हैं; तथा यथासम्भव इन पदार्थों का संयोग ग्यारह इन्द्रियों के साथ हो जाने पर सेन्द्रिय-सृष्टि बन जाती है।

सांख्यमतानुसार प्रकृति से प्रादुर्भूत होनेवाले तत्त्वों का क्रम जिसका वर्णन अब तक किया गया है निम्न लिखित वंशवृक्ष से अधिक स्पष्ट हो जायगा —

ब्रह्माण्ड का वंशवृक्ष

पुरुष → (दोनों स्वयंभू और अनादि) ← प्रकृति (अव्यक्त और सूक्ष्म)
(निर्गुण; पर्यायशब्द — ज्ञ, द्रष्टा इ.)। (सत्त्व-रज-तमोगुणी; पर्यायशब्द — प्रधान,
अव्यक्त, माया, प्रसव-धर्मिणी आदि)

महान् अथवा बुद्धि (अव्यक्त और सूक्ष्म)
(पर्यायशब्द — आसुरी, मति, ज्ञान, ख्याति इ.)

अहंकार (अव्यक्त और सूक्ष्म)
(पर्यायशब्द — अभिमान, तैजस आदि)

(सात्त्विक सृष्टि अर्थात् व्यक्त और सूक्ष्म इन्द्रियाँ) (तामस अर्थात् निरिन्द्रिय-सृष्टि)

पाँच बुद्धीन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन पञ्चतन्मात्राएँ (सूक्ष्म)

विशेष या पञ्चमहाभूत (स्थूल)

[illegible] (सूक्ष्म)

स्थूल पञ्चमहाभूत और पुरुष को मिला कर कुल तत्त्वों की संख्या पच्चीस है। इनमें से महान् अथवा बुद्धि के बाद के तेईस गुण मूलप्रकृति के विकार हैं। किन्तु उनमें भी यह भेद है कि सूक्ष्म तन्मात्राएँ और पाँच स्थूल महाभूत द्रव्यात्मक विकार हैं और बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियाँ केवल शक्ति या गुण हैं। ये तेईस तत्त्व व्यक्त हैं और मूलप्रकृति अव्यक्त है। सांख्यों ने इन तेईस तत्त्वों में से आकाशतत्त्व ही में दिक् और काल को भी सम्मिलित कर दिया है। वे प्राण को भिन्न तत्त्व नहीं मानते। किन्तु जब सब इन्द्रियों के व्यापार आरम्भ होने लगते हैं तब उसी को वे प्राण कहते हैं (सां. का. २९)। परन्तु वेदान्तियों को यह मत मान्य नहीं है। उन्हों ने प्राण को स्वतन्त्र तत्त्व माना है (वे. सू. २. ४. ९)। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि वेदान्ती लोग प्रकृति और पुरुष को स्वयम्भू और स्वतन्त्र नहीं मानते, जैसा कि सांख्यमतानुयायी मानते हैं; किन्तु उनका कथन है कि दोनों (प्रकृति और पुरुष) एक ही परमेश्वर की विभूतियाँ हैं। सांख्य और वेदान्त के उक्त भेदों को छोड़ कर शेष सृष्ट्युत्पत्तिक्रम दोनों पक्षों को मान्य है। उदाहरणार्थ, महाभारत में अनुगीता में 'ब्रह्मवृक्ष' अथवा 'ब्रह्मवन' का जो दो बार वर्णन किया गया है (म. भा. अश्व. ३५. २०-२३ और ४७. १२-१५) वह सांख्यतत्त्वों के अनुसार ही है —

अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्।
महाहंकारविटपः इन्द्रियान्तरकोटरः॥

> महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान्।
> सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः॥
> आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
> एवं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः॥
> हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान्।
> निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः॥

अर्थात् "अव्यक्त (प्रकृति) जिसका बीज है, बुद्धि (महान्) जिसका तना या पिंड है, अहंकार जिसका प्रधान पल्लव है, मन और दस इन्द्रियाँ जिसकी अन्तर्गत खोखली या खोड़र हैं, (सूक्ष्म) महाभूत (पञ्चतन्मात्राएँ) जिसकी बड़ी बड़ी शाखाएँ हैं, और विशेष अर्थात् स्थूल महाभूत जिसकी छोटी छोटी टहनियाँ हैं, इसी प्रकार सदा पत्र, पुष्प और शुभाशुभ फल धारण करनेवाला, समस्त प्राणिमात्र के लिये आधारभूत यह सनातन बृहद् ब्रह्मवृक्ष है। ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह उसे तत्त्वज्ञानरूपी तलवार से काट कर टूक टूक कर डाले, जन्म जरा और मृत्यु उत्पन्न करनेवाले संगमय पाशों को नष्ट करे और ममत्वबुद्धि तथा अहंकार को त्याग दे; तब वह निःसंशय मुक्त होता है।" संक्षेप में, यही ब्रह्माण्ड प्रकृति अथवा माया का 'खेल', 'जाल' या 'पसारा' है। अत्यन्त प्राचीन काल ही से—ऋग्वेदकाल ही से—इसे 'वृक्ष' कहने की रीति पड़ गई है और उपनिषदों में भी उसको 'सनातन अश्वत्थवृक्ष' कहा है (कठ. ६. १)। परन्तु वेदों में इसका सिर्फ यही वर्णन किया गया है, कि उस वृक्ष का मूल (परब्रह्म) ऊपर है और शाखाएँ (दृश्य-सृष्टि का फैलाव) नीचे हैं। इस वैदिक वर्णन को और सांख्यों के तत्त्वों को मिला कर गीता में अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन किया गया है। इसका स्पष्टीकरण हमने गीता के १५. १–२ श्लोकों की अपनी टीका में कर दिया है।

ऊपर बतलाये गये पच्चीस तत्त्वों का वर्गीकरण सांख्य और वेदान्ती भिन्न भिन्न रीति से किया करते हैं। अतएव यहाँ पर उस वर्गीकरण के विषय में कुछ लिखना चाहिये। सांख्यों का यह कथन है कि इन पच्चीस तत्त्वों के चार वर्ग होते हैं—अर्थात् मूलप्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकृति और न प्रकृति। (१) प्रकृति-तत्त्व किसी दूसरे से उत्पन्न नहीं हुआ है, अतएव उसे 'मूलप्रकृति' कहते हैं। (२) मूलप्रकृति से आगे बढ़ने पर जब हम दूसरी सीढ़ी पर आते हैं तब 'महान्' तत्त्व का पता लगता है। यह महान् तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न हुआ है इसलिये यह प्रकृति की विकृति या विकार है; और इसके बाद महान् तत्त्व से अहंकार निकला है अतएव 'महान्' अहंकार की प्रकृति अथवा मूल है। इस प्रकार महान् अथवा बुद्धि एक ओर अहंकार की प्रकृति या मूल है और दूसरी ओर से वह मूलप्रकृति की विकृति अथवा विकार है। इसीलिये सांख्यों ने उसे 'प्रकृति-विकृति' नामक वर्ग में रखा;

और इसी न्याय के अनुसार अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राओं का समावेश भी 'प्रकृति-विकृति' वर्ग ही में किया जाता है। जो तत्त्व अथवा गुण स्वयं दूसरे से उत्पन्न (विकृति) हो और आगे वही स्वयं अन्य तत्त्वों का मूलभूत (प्रकृति) हो जावे उसे 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इस वर्ग के सात तत्त्व ये हैं :– महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ। (३) परन्तु पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और स्थूल पञ्चमहाभूत इन सोलह तत्त्वों से फिर और अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु ये स्वयं दूसरे तत्त्वों से प्रादुर्भूत हुए हैं। अतएव इन सोलह तत्त्वों को 'प्रकृति-विकृति' न कह कर केवल 'विकृति' अथवा विकार कहते हैं। (४) 'पुरुष' न प्रकृति है और न विकृति। वह स्वतन्त्र और उदासीन द्रष्टा है। ईश्वरकृष्ण ने इस प्रकार वर्गीकरण करके फिर उसका स्पष्टीकरण यों किया है –

मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

अर्थात् "यह मूलप्रकृति अविकृति है – अर्थात् किसी का भी विकार नहीं है; महदादि सात (अर्थात् महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) तत्त्व प्रकृति-विकृति हैं; और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ तथा स्थूल पञ्चमहाभूत मिलकर सोलह तत्त्वों को केवल विकृति अथवा विकार कहते हैं। पुरुष न प्रकृति है न विकृति" (सां. का. ३)। आगे इन्हीं पच्चीस तत्त्वों के और तीन भेद किये गये हैं – अव्यक्त, व्यक्त और ज्ञ। इनमें से केवल एक मूलप्रकृति ही अव्यक्त है; प्रकृति से उत्पन्न हुए तेईस तत्त्व व्यक्त हैं; और पुरुष 'ज्ञ' है। ये हुए सांख्यों के वर्गीकरण के भेद। पुराण, स्मृति, महाभारत आदि वैदिकमार्गीय ग्रन्थों में प्रायः इन्हीं पच्चीस तत्त्वों का उल्लेख पाया जाता है (मैत्र्यु. ६. १०; मनु. १. १४, १५ देखो)। परन्तु, उपनिषदों में वर्णन किया गया है कि ये सब तत्त्व परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं; और वहाँ इनका विशेष विवेचन या वर्गीकरण भी नहीं किया गया है। उपनिषदों के बाद जो ग्रन्थ हुए हैं उनमें इनका वर्गीकरण किया हुआ दिख पड़ता है; परन्तु वह उपर्युक्त सांख्यों के वर्गीकरण से भिन्न है। कुल तत्त्व पच्चीस हैं। इनमें से सोलह तत्त्व तो सांख्यमत के अनुसार ही विकार, अर्थात् दूसरे तत्त्वों से उत्पन्न हुए हैं। इस कारण उन्हें प्रकृति में अथवा मूलभूत पदार्थों के वर्ग में सम्मिलित नहीं कर सकते। अब ये नौ तत्त्व शेष रहे – १ पुरुष, २ प्रकृति, ३–९ महत्, और पाँच तन्मात्राएँ। इनमें से पुरुष और प्रकृति को छोड़ शेष सात तत्त्वों को सांख्यों ने प्रकृति-विकृति कहा है। परन्तु वेदान्तशास्त्र में प्रकृति को स्वतन्त्र न मान कर यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि पुरुष और प्रकृति दोनों एक ही परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त को मान लेने से सांख्यों के 'मूल-प्रकृति' और 'प्रकृति-विकृति' भेदों के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। क्योंकि प्रकृति भी परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण मूल नहीं कही जा

सकती किन्तु वह प्रकृति-विकृति के ही वर्ग में शामिल हो जाती है। अतएव, सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते समय वेदान्ती कहा करते हैं कि परमेश्वर ही से एक ओर जीव निर्माण हुआ और दूसरी ओर (महान् आदि सात प्रकृति-विकृतिसहित) अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की प्रकृति निर्मित हुई (म. भा. शां. ३०६. २९ और ३१० देखो)। अर्थात् वेदान्तियों के मत से पच्चीस तत्त्वों में से सोलह तत्त्वों को छोड़ बाकी नौ तत्त्वों के केवल दो ही वर्ग किये जाते हैं – एक 'जीव' और दूसरी 'अष्टधा प्रकृति'। भगवद्गीता में वेदान्तियों का यह वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है। परन्तु इसमें भी अन्त में थोड़ा-सा फर्क हो गया है। सांख्यवादी जिसे पुरुष कहते हैं उसे ही गीता में जीव कहा है और यह बतलाया है कि वह (जीव) ईश्वर की 'परा प्रकृति' अर्थात् श्रेष्ठ स्वरूप है और सांख्यवादी जिसे मूलप्रकृति कहते हैं उसे ही गीता में परमेश्वर का 'अपर' अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप कहा गया है (गी. ७. ४, ५)। इस प्रकार पहले दो बड़े बड़े वर्ग कर लेने पर उनमें से दूसरे वर्ग के अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप के जब और भी भेद या प्रकार बतलाने पड़ते हैं तब इस कनिष्ठ स्वरूप के अतिरिक्त उससे उपजे हुए शेष तत्त्वों की भी बतलाना आवश्यक होता है। क्योंकि यह कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् सांख्यों की मूलप्रकृति) स्वयं अपना ही एक प्रकार या भेद हो नहीं सकता। उदाहरणार्थ जब यह बतलाना पड़ता है कि बाप के लड़के कितने हैं तब उन लड़कों में ही बाप की गणना नहीं की जा सकती। अतएव परमेश्वर के कनिष्ठ स्वरूप के अन्य भेदों को बतलाते समय कहना पड़ता है कि वेदान्तियों की अष्टधा प्रकृति में से मूलप्रकृति को छोड़ शेष सात तत्त्व ही (अर्थात् महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) उस मूलप्रकृति के भेद या प्रकार हैं। परन्तु ऐसा करने से कहना पड़ेगा कि परमेश्वर का कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् मूलप्रकृति) सात प्रकार का है और ऊपर कह आये हैं कि वेदान्ती तो प्रकृति अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की मानते हैं। अब इस स्थान पर यह विरोध दीख पड़ता है कि जिस प्रकृति को वेदान्ती अष्टधा या आठ प्रकार की कहें उसी को गीता सप्तधा या सात प्रकार की कहे। परन्तु गीताकार को अभीष्ट था कि उक्त विरोध दूर हो जावे और 'अष्टधा प्रकृति' का वर्णन बना रहे। इसीलिये महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ इन सातों में ही आठवें मनतत्त्व को सम्मिलित कर के गीता में वर्णन किया गया है कि परमेश्वर का कनिष्ठ स्वरूप अर्थात् मूलप्रकृति अष्टधा है (गी. ७. ५)। इनमें से केवल मन ही में दस इन्द्रियों और पञ्चतन्मात्राओं में पञ्चमहाभूतों का समावेश किया गया है। अब यह प्रतीत हो जायगा कि गीता में किया गया वर्गीकरण सांख्यों और वेदान्तियों के वर्गीकरण से यद्यपि कुछ भिन्न है तथापि इससे कुल तत्त्वों की संख्या में कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो जाती। सब जगह तत्त्व पच्चीस ही माने गये हैं। परन्तु वर्गीकरण की उक्त भिन्नता के कारण किसी के मन में कुछ भ्रम न हो जाय इसलिये ये तीनों वर्गीकरण कोष्टक के रूप में एकत्र करके आगे दिये गये हैं। गीता के तेरहवें अध्याय

(१३. ५) में वर्गीकरण के झगड़े में न पड़ कर, सांख्यों के पच्चीस तत्त्वों का वर्णन ज्यों-का-त्यों पृथक् पृथक् किया गया है; और इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चाहे वर्गीकरण में कुछ भिन्नता हो, तथापि तत्त्वों की संख्या दोनों स्थानों पर बराबर ही है।

पच्चीस मूलतत्त्वों का वर्गीकरण

सांख्यों का वर्गीकरण।	तत्त्व।	वेदान्तियों का वर्गीकरण।	गीता का वर्गीकरण
न प्रकृति न विकृति	१ पुरुष	परब्रह्म का श्रेष्ठ स्वरूप	परा प्रकृति
मूलप्रकृति	१ प्रकृति		अपरा प्रकृति
७ प्रकृति-विकृति	१ महान् १ अहंकार ५ तन्मात्राएँ	परब्रह्म का कनिष्ठ स्वरूप (आठ प्रकार का)	अपरा प्रकृति के आठ प्रकार
१६ विकार	१ मन ५ बुद्धीन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ ५ महाभूत	विकार होने के कारण इन सोलह तत्त्वों को वेदान्ती मूलतत्त्व नहीं मानते।	विकार होने के कारण गीता में इन पन्द्रह तत्त्वों की गणना मूल-तत्त्वों में नहीं की गई है।
	२५		

यहाँ तक इस बात का विवेचन हो चुका कि पहले मूलसाम्यावस्था में रहनेवाली एक ही अवयवरहित जड़ प्रकृति में व्यक्तसृष्टि उत्पन्न करने की अस्वयंवेद्य 'बुद्धि' कैसे प्रकट हुई; फिर उसमें अहंकार से अवयवसहित विविधता कैसे उपजी; और इसके बाद 'गुणों से गुण' इस गुणपरिणामवाद के अनुसार एक ओर सात्त्विक (अर्थात् सेन्द्रिय) सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इन्द्रियाँ तथा दूसरी ओर तामस (अर्थात् निरिन्द्रिय) सृष्टि की मूलभूत पाँच सूक्ष्मतन्मात्राएँ कैसे निर्मित हुईं। अब इसके बाद की सृष्टि (अर्थात् स्थूल पञ्चमहाभूतों या उनसे उत्पन्न होनेवाले अन्य जड़ पदार्थों) की उत्पत्ति के क्रम का वर्णन किया जावेगा। सांख्यशास्त्र में सिर्फ यही कहा है कि सूक्ष्मतन्मात्राओं से 'स्थूल पञ्चमहाभूत' अथवा 'विशेष' गुणपरिणाम के कारण उत्पन्न हुए हैं। परन्तु वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थों में इस विषय का अधिक विवेचन किया गया है; इसलिये प्रसंगानुसार उसका भी संक्षिप्त वर्णन – इस सूचना के साथ कि यह वेदान्तशास्त्र का मत है, सांख्यों का नहीं – कर देना आवश्यक जान पड़ता है। स्थूल पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश को पञ्चमहाभूत अथवा विशेष कहते हैं। इनका उत्पत्तिक्रम तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार है – "आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।" इ० (तै. उ. २. १) – अर्थात् पहले परमात्मा से (जड़ मूल-प्रकृति से नहीं, जैसा कि सांख्यवादियों का कथन है) आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी और फिर पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। तैत्तिरीयोपनिषद् में यह नहीं बतलाया गया कि इस क्रम का कारण क्या है। परन्तु प्रतीत होता है कि उत्तर-वेदान्तग्रन्थों

में पञ्चमहाभूतों के उत्पत्तिक्रम के कारणों का विचार सांख्यशास्त्रोक्त गुणपरिणाम के तत्त्व पर ही किया गया है। इन उत्तर-वेदान्तियों का यह कथन है, कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इस न्याय से पहले एक ही गुण का पदार्थ उत्पन्न हुआ। उससे दो गुणों के और फिर तीन गुणों के पदार्थ उत्पन्न हुए। इसी प्रकार वृद्धि होती गई। पञ्चमहाभूतों में से आकाश का मुख्य एक गुण केवल शब्द ही है। इसलिये पहले आकाश उत्पन्न हुआ। इसके बाद वायु की उत्पत्ति हुई। क्योंकि उसमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। जब वायु जोर से चलती है तब उसकी आवाज सुन पड़ती है और हमारी स्पर्शेन्द्रिय को भी उसका ज्ञान होता है। वायु के बाद अग्नि की उत्पत्ति होती है। क्योंकि शब्द और स्पर्श के अतिरिक्त उसमें तीसरा गुण (रूप) भी है। इन तीनों गुणों के साथ-ही-साथ पानी में चौथा गुण (रुचि या रस) होता है। इसलिये उसका प्रादुर्भाव अग्नि के बाद ही होना चाहिये। और अन्त में इन चारों गुणों की अपेक्षा पृथ्वी में 'गन्ध' गुण विशेष होने से यह सिद्ध किया गया है कि पानी के बाद ही पृथ्वी उत्पन्न हुई है। यास्काचार्य का यही सिद्धान्त है (निरुक्त १४. ४)। तैत्तिरीय उपनिषद् में आगे चल कर किया गया है कि उक्त क्रम से स्थूल पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति हो चुकने पर फिर – 'पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।' पृथ्वी से वनस्पति, वनस्पति से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ (तै. २. १)। यह सृष्टि पञ्चमहाभूतों के मिश्रण से बनती है। इसलिये इस मिश्रणक्रिया को वेदान्त ग्रन्थों में 'पञ्चीकरण' कहते हैं। पञ्चीकरण का अर्थ "पञ्चमहाभूतों में से प्रत्येक का न्यूनाधिक भाग ले कर सब के मिश्रण से किसी नये पदार्थ का बनना" है। यह पञ्चीकरण स्वभावतः अनेक प्रकार का हो सकता है। श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने अपने दासबोध में जो वर्णन किया है वह भी इसी बात को सिद्ध करता है। देखिये – "काला और सफेद मिलाने से नीला बनता है और काला और पीला मिलाने से हरा बनता है (दा. ६. ४)। पृथ्वी में अनन्त कोटि बीजों की जातियाँ होती हैं। पृथ्वी और पानी का मेल होने पर इन बीजों से अंकुर निकलते हैं, अनेक प्रकार की बेलें होती हैं, पत्र पुष्प होते हैं और अनेक प्रकार के स्वादिष्ट फल होते हैं अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज सब का बीज पृथ्वी और पानी है। यही सृष्टिरचना का अद्भुत चमत्कार है। इस प्रकार चार खानी, चार वाणी, चौरासी लक्ष जीवयोनि, तीन लोक, पिण्ड, ब्रह्माण्ड सब निर्मित

[illegible]

होते हैं (गी. ११. ३. १०–१५)। परन्तु पञ्चीकरण से केवल जड़ पदार्थ अथवा जड़ शरीर ही उत्पन्न होते हैं। ध्यान रहे कि जब इस जड़ देह का संयोग प्रथम सूक्ष्म इन्द्रियों से और फिर आत्मा से अर्थात् पुरुष से होता है तभी इस जड़ देह से सचेतन प्राणी हो सकता है।

यहाँ यह भी बतला देना चाहिये कि उत्तर-वेदान्त-ग्रन्थों में वर्णित यह पञ्चीकरण प्राचीन उपनिषदों में नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् में पाँच तन्मात्राएँ या पाँच महाभूत नहीं माने गये हैं; किन्तु कहा है कि तेज, आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) इन्हीं तीन सूक्ष्म मूलतत्त्वों के मिश्रण से अर्थात् 'त्रिवृत्करण' से सब विविध सृष्टि बनी है। और श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि, "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" (श्वेता. ४. ५) अर्थात् लाल (तेजोरूप), सफेद (जलरूप) और काले (पृथ्वीरूप) रंगों की (अर्थात् तीन तत्त्वों की) एक अजा (बकरी) से नामरूपात्मक प्रजा (सृष्टि) उत्पन्न हुई। छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में श्वेतकेतु और उसके पिता का संवाद है। संवाद के आरम्भ में श्वेतकेतु के पिता ने स्पष्ट कह दिया है कि "अरे! इस जगत् के आरम्भ में 'एकमेवाद्वितीयं सत्' के अतिरिक्त – अर्थात् जहाँ तहाँ सब एक ही और नित्य परब्रह्म के अतिरिक्त – और कुछ भी नहीं था। जो असत् (अर्थात् नहीं है) उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतएव आदि में सर्वत्र सत् ही व्याप्त था। इसके बाद उसे अनेक अर्थात् विविध होने की इच्छा हुई और उससे क्रमशः सूक्ष्म तेज (अग्नि), आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) की उत्पत्ति हुई। पश्चात् इन तीन तत्त्वों में ही जीवरूप से परब्रह्म

की अनेक पीढ़ियाँ बीत गई होंगी। इसमें एक ओर जीवशास्त्र के पण्डितों के द्वारा सिद्ध किया है कि पानी में रहनेवाली छोटी छोटी मछलियों के गुणधर्मों का विकास होते होते उन्हीं को मनुष्यस्वरूप प्राप्त होने में भिन्न भिन्न जातियों की लगभग ५३ लाख ७५ हजार पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं और सम्भव है कि इन पीढ़ियों की संख्या कदाचित् इससे दस गुनी भी हो। ये हुई पानी में रहनेवाले जलचरों से ले कर मनुष्य तक की बातें। अब यदि इनमें ही छोटे जलचरों से पहले के सूक्ष्म जन्तुओं का समावेश कर दिया जाय तो न मालूम कितने लाख पीढ़ियों की कल्पना करनी होगी। इससे मालूम हो जायगा कि हमारे पुराणों में वर्णित चौरासी लाख योनियों की कल्पना की अपेक्षा आधिभौतिक शास्त्रज्ञों के पुराणों में वर्णित पीढ़ियों की कल्पना कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। कल्पनातरंग... यह न्याय काल (समय) को भी उपयुक्त हो सकता है। भूगर्भशास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि इस बात का स्थूल दृष्टि से निश्चय नहीं किया जा सकता कि सजीवसृष्टि के सूक्ष्म जन्तु इस पृथ्वी पर कब उत्पन्न हुए। और सूक्ष्म जलचरों की उत्पत्ति तो करोड़ों वर्ष के पहले हुई है। इस विषय का विवेचन The Last Link by Ernst Haeckel with notes, etc. by Dr H Gadow (1898) नामक पुस्तक में किया गया है। डाक्टर गेडो ने इस पुस्तक में जो दो तीन उपयोगी परिशिष्ट जोड़े हैं उनसे ही उपर्युक्त बातें ली गई हैं। हमारे पुराणों में चौरासी लाख योनियों की गिनती इस प्रकार की गई है – ९ लाख जलचर, १० लाख पक्षी, ११ लाख कृमि, २० लाख पशु, ३० लाख स्थावर और ४ लाख मनुष्य (दासबोध २०. ६ देखो)।

का प्रवेश होने पर उनके त्रिवृत्करण से जगत् की अनेक नामरूपात्मक वस्तुएँ निर्मित हुईं। स्थूल अग्नि, सूर्य या विद्युल्लता की ज्योति में जो लाल (लोहित) रंग है वह तेजोरूपी मूलतत्त्व का परिणाम है, जो सफ़ेद (शुक्ल) रंग है, वह सूक्ष्म आप-तत्त्व का परिणाम है और जो कृष्णकाला रंग है, वह सूक्ष्म पृथ्वी-तत्त्व का परिणाम है। इसी प्रकार मनुष्य जिस अन्न का सेवन करता है उसमें भी सूक्ष्म तेज, सूक्ष्म आप और सूक्ष्म अन्न (पृथ्वी) — ये ही तीन तत्त्व होते हैं। जैसे दही को मथने से मक्खन ऊपर आ जाता है वैसे ही उक्त तीन सूक्ष्म तत्त्वों से बना हुआ अन्न जब पेट में जाता है तब उसमें से तेजतत्त्व के कारण मनुष्य के शरीर में स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म परिणाम — जिन्हें क्रमशः अस्थि, मज्जा और वाणी कहते हैं — उत्पन्न हुआ करते हैं। इसी प्रकार आप अर्थात् जलतत्त्व से मूत्र, रक्त और प्राण तथा अन्न अर्थात् पृथ्वीतत्त्व से पुरीष, मांस और मन ये तीन द्रव्य निर्मित होते हैं" (छां. ६. २-६)। छान्दोग्योपनिषद् की यही पद्धति वेदान्त-सूत्रों (२. ४.   ) में भी कही गई है कि मूल महाभूतों की संख्या पाँच नहीं केवल तीन ही है और उनके त्रिवृत्करण से सब दृश्य पदार्थों की उत्पत्ति भी मालूम की जा सकती है। बादरायणाचार्य तो पञ्चीकरण का नाम तक नहीं लेते। तथापि तैत्तिरीय (२. १), प्रश्न (४. ८), बृहदारण्यक (४. ४. ५) आदि अन्य उपनिषदों में और विशेषतः श्वेताश्वतर (२. १२) वेदान्तसूत्र (२. ३. १-१४) तथा गीता (७. ४; १३. ५) में भी तीन के बदले पाँच महाभूतों का वर्णन है। गर्भोपनिषद् के आरम्भ ही में कहा है कि मनुष्य देह 'पञ्चात्मक' है और महाभारत तथा पुराणों में तो पञ्चीकरण का स्पष्ट वर्णन ही किया गया है (म. भा. शां. १८४-१८६)। इससे यही सिद्ध होता है कि यद्यपि त्रिवृत्करण प्राचीन है तथापि जब महाभूतों की संख्या तीन के बदले पाँच मानी जाने लगी तब त्रिवृत्करण के उदाहरण ही से पञ्चीकरण की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ और त्रिवृत्करण पीछे रह गया। एवं अन्त में पञ्चीकरण की कल्पना सब वेदान्तियों को मान्य हो गई। आगे चल कर इसी पञ्चीकरण शब्द के अर्थ में यह बात भी शामिल हो गई कि मनुष्य का शरीर केवल पञ्चमहाभूतों से ही बना नहीं है किन्तु उन पञ्चमहाभूतों में से हर एक पाँच प्रकार से शरीर में विभाजित भी हो गया है। उदाहरणार्थ त्वक्, मांस, अस्थि, मज्जा और स्नायु ये पाँच विभाग अन्नमय पृथ्वी तत्त्व के हैं इत्यादि (म. भा. शां. १८४. २०-२५ और दासबोध १७. ८ देखो)। प्रतीत होता है कि यह कल्पना भी उपर्युक्त छान्दोग्योपनिषद् के त्रिवृत्करण के वर्णन से सूझ पड़ी है; क्योंकि वहाँ भी अन्तिम वर्णन यही है कि 'तेज, अन्न और पृथ्वी' *इन तीनों में से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार से मनुष्य के देह में पाया जाता है।*

इस बात का विवेचन हो चुका कि मूल अव्यक्त प्रकृति से अथवा वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म से अनेक नाम और रूप धारण करनेवाले सृष्टि के अचेतन अथवा निर्जीव या जड़ पदार्थ कैसे बने हैं। अब इसका विचार करना

चाहिये कि सृष्टि के सचेतन अर्थात् सजीव प्राणियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्यशास्त्र का विशेष कथन क्या है और फिर यह देखना चाहिये, कि वेदान्त-शास्त्र के सिद्धान्तों से उसका कहाँ तक मेल है। जब मूलप्रकृति से प्रादुर्भूत पृथ्वी आदि स्थूल पञ्चमहाभूतों का संयोग सूक्ष्म इन्द्रियों के साथ होता है, तब उससे सजीव प्राणियों का शरीर बनता है। परन्तु यद्यपि यह शरीर सेन्द्रिय हो तथापि वह जड़ ही रहता है। इन इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाला तत्त्व जड़ प्रकृति से भिन्न होता है, जिसे 'पुरुष' कहते हैं। सांख्यों के इन सिद्धान्तों का वर्णन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है कि यद्यपि मूल में 'पुरुष' अकर्ता है तथापि प्रकृति के साथ उसका संयोग होने पर सजीव सृष्टि का आरम्भ होता है और "मैं प्रकृति से भिन्न हूँ" यह ज्ञान हो जाने पर पुरुष का प्रकृति से संयोग छूट जाता है; तथा वह मुक्त हो जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो जन्म-मरण के चक्कर में उसे घूमना पड़ता है। परन्तु इस बात का विवेचन नहीं किया गया कि जिस 'पुरुष' की मृत्यु प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान हुए बिना ही हो जाती है उसको नये जन्म कैसे प्राप्त होते हैं। अतएव यहाँ विषय का कुछ अधिक विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है। यह स्पष्ट है कि जो मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है उसका आत्मा प्रकृति के चक्र से सदा के लिये छूट नहीं सकता। क्योंकि यदि ऐसा हो तो ज्ञान अथवा पाप पुण्य का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जायगा। और फिर चार्वाक के मतानुसार यह कहना पड़ेगा कि मृत्यु के बाद हर एक मनुष्य प्रकृति के फंदे से छूट जाता है – अर्थात् वह मोक्ष पा जाता है। अच्छा यदि यह कहें कि मृत्यु के बाद केवल आत्मा अर्थात् पुरुष बच जाता है और वही स्वयं नये नये जन्म लिया करता है तो यह मूलभूत सिद्धान्त – कि पुरुष अकर्ता और उदासीन है और सब कर्तृत्व प्रकृति ही का है – मिथ्या प्रतीत होने लगता है। इसके सिवा जब हम यह मानते हैं कि आत्मा स्वयं ही नये नये जन्म लिया करता है तब वह उसका गुण या धर्म हो जाता है। और तब तो ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जाती है कि वह जन्म-मरण के आवागमन से कभी छूट ही नहीं सकता। इसलिये यह सिद्ध होता है कि यदि बिना ज्ञान प्राप्त किये कोई मनुष्य मर जाय तो भी आगे नया जन्म प्राप्त करा देने के लिये उसके आत्मा से प्रकृति का सम्बन्ध अवश्य रहना ही चाहिये। मृत्यु के बाद स्थूल देह का नाश हो जाया करता है। इसलिये यह प्रकट है कि अब उक्त सम्बन्ध स्थूल महाभूतात्मक प्रकृति के साथ नहीं रह सकता। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति केवल स्थूल पञ्चमहाभूतों ही से बनी है। प्रकृति से कुल तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं और स्थूल पञ्चमहाभूत उन तेईस में से अन्तिम पाँच हैं। इन अन्तिम पाँच तत्त्वों (स्थूल पञ्चमहाभूतों) को तेईस तत्त्वों में से अलग करने पर १८ तत्त्व बाकी रहते हैं। अतएव अब यह कहना चाहिये कि जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है वह यद्यपि पञ्चमहाभूतात्मक स्थूल शरीर से – अर्थात् अन्तिम पाँच

तत्त्वों से — छूट जाता है; तथापि इस प्रकार की मृत्यु से प्रकृति के अन्य १८ तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध कभी छूट नहीं सकता। वे अठारह तत्त्व ये हैं — महान् (बुद्धि), अहंकार, मन, दस इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ (इस प्रकरण में दिया गया ब्रह्माण्ड का वंशवृक्ष पृष्ठ १८० देखिये)। ये सब तत्त्व सूक्ष्म हैं। अतएव इन तत्त्वों के साथ पुरुष का संयोग स्थिर हो कर जो शरीर बनता है, उसे स्थूलशरीर के विरुद्ध सूक्ष्म अथवा लिंगशरीर कहते हैं (सां. का. ४०)। जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसके आत्मा के साथ ही प्रकृति के उन १८ तत्त्वों से बना हुआ यह लिंगशरीर भी स्थूल देह से बाहर हो जाता है। और जब तक उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति हो नहीं जाती, तब तक उस लिंगशरीर ही के कारण उसको नये नये जन्म लेने पड़ते हैं। इस पर कुछ लोगों का यह प्रश्न है कि मनुष्य की मृत्यु के बाद जीव के साथ साथ इस जड़ देह में से बुद्धि, अहंकार, मन और दस इन्द्रियों के व्यापार भी नष्ट होते हुए हमें प्रत्यक्ष में दीख पड़ते हैं। इस कारण लिंगशरीर में इन तेरह तत्त्वों का समावेश किया जाना तो उचित है; परन्तु इन तेरह तत्त्वों के साथ पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं का भी समावेश लिंगशरीर में क्यों किया जाना चाहिये? इस पर सांख्यों का उत्तर यह है कि ये तेरह तत्त्व — निरी बुद्धि, निरा अहंकार, मन और दस इन्द्रियाँ — प्रकृति के केवल गुण हैं। और जिस तरह छाया को किसी-न-किसी पदार्थ का — तथा चित्र को दीवार, कागज आदि का — आश्रय आवश्यक है; उसी तरह इन गुणात्मक तेरह तत्त्वों को भी एकत्र रहने के लिये किसी द्रव्य के आश्रय की आवश्यकता होती है। अब आत्मा (पुरुष) स्वयं निर्गुण और अकर्ता है, इसलिये वह स्वयं किसी भी गुण का आश्रय हो नहीं सकता। मनुष्य की जीवितावस्था में उसके शरीर के स्थूल पञ्चमहाभूत ही इन तेरह तत्त्वों के आश्रयस्थान हुआ करते हैं। परन्तु मृत्यु के बाद अर्थात् स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर स्थूल पञ्चमहाभूतों का यह आधार छूट जाता है। तब उस अवस्था में इन तेरह गुणात्मक तत्त्वों के लिये किसी अन्य द्रव्यात्मक आश्रय की आवश्यकता होती है। यदि मूलप्रकृति ही को आश्रय मान लें, तो वह अव्यक्त और अविकृत अवस्था की — अर्थात् अनन्त और सर्वव्यापी होने के कारण — एक छोटे-से लिंगशरीर के अहंकार, बुद्धि आदि गुणों का आधार नहीं हो सकती। अतएव मूलप्रकृति के ही द्रव्यात्मक विकारों में से स्थूल पञ्चमहाभूतों के बदले उनके मूलभूत पाँच सूक्ष्म तन्मात्र द्रव्यों का समावेश उपर्युक्त तेरह गुणों के साथ ही-साथ उनके आश्रयस्थान की दृष्टि से लिंगशरीर में करना पड़ता है (सां. का. ४१)। बहुतेरे सांख्य ग्रन्थकार लिंगशरीर और स्थूलशरीर के बीच एक और तीसरे शरीर (पञ्चतन्मात्राओं से बना हुआ) की कल्पना करके प्रतिपादन करते हैं कि यह तीसरा शरीर लिंगशरीर का आधार है। परन्तु हमारा मत यह है कि यह सांख्यकारिका की इकतालीसवीं आर्या का यथार्थ अर्थ वैसा नहीं है; टीकाकारों ने भ्रम से इस तीसरे शरीर की कल्पना की है। हमारे

मतानुसार उस आर्या का उद्देश सिर्फ इस बात का कारण बतलाना ही है कि बुद्धि आदि तेरह तत्त्वों के साथ पञ्चतन्मात्राओं का भी समावेश लिङ्गशरीर में क्यों किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं है।*

कुछ विचार करने से प्रतीत हो जायगा, कि सूक्ष्म अठारह तत्त्वों के सांख्योक्त लिङ्गशरीर में और उपनिषदों में वर्णित लिङ्गशरीर में विशेष भेद नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि – "जिस प्रकार जोंक (जलायुका) घास के तिनके के छोर तक पहुँचने पर दूसरे तिनके पर (सामने के पैरों से) अपने शरीर का अग्रभाग रखती है और फिर पहले तिनके पर से अपने शरीर के अन्तिम भाग को खींच लेती है, उसी प्रकार आत्मा एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में जाता है" (बृ. ४. ४. ३)। परन्तु केवल इस दृष्टान्त से ये दोनों अनुमान सिद्ध नहीं होते, कि निरा आत्मा ही दूसरे शरीर में जाता है। और वह भी एक शरीर से छूटते ही चला जाता है। क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् (४. ४. ५) में आगे चल कर यह वर्णन किया गया है, कि आत्मा के साथ साथ पाँच (सूक्ष्म) भूत, मन, इन्द्रियाँ, प्राण और धर्माधर्म भी शरीर से बाहर निकल जाते हैं। और यह भी कहा है कि आत्मा को अपने कर्म के अनुसार भिन्न भिन्न लोक प्राप्त होते हैं। एवं वहाँ उसे कुछ कालपर्यंत निवास करना पड़ता है (बृ. ६. २. १४ और १५)। इसी प्रकार, छान्दोग्योपनिषद् में भी आप (पानी) मूलतत्त्व के साथ जीव की जिस गति का वर्णन किया है (छां. ५. ३. ३; ५. ९. १) उससे और वेदान्तसूत्रों में उसके अर्थ का जो निर्णय किया गया है (वे. सू. ३. १. १–७) इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लिङ्गशरीर में – पानी, तेज और अन्न – इन तीनों मूलतत्त्वों का समावेश किया जाना छान्दोग्योपनिषद् को भी अभिप्रेत है। सारांश यही दीख पड़ता है कि महदादि अठारह सूक्ष्मतत्त्वों से बने हुए सांख्यों के 'लिङ्गशरीर' में ही प्राण और धर्माधर्म अर्थात् कर्म को भी शामिल कर देने से वेदान्तमतानुसार लिङ्गशरीर हो जाता है। परन्तु सांख्यशास्त्र के अनुसार प्राण का समावेश ग्यारह इन्द्रियों की वृत्तियों में ही, और धर्म-अधर्म का समावेश बुद्धीन्द्रियों के व्यापार में ही हुआ करता है। अतएव उक्त भेद के विषय में यह

---

* भट्ट कुमारिल कृत 'मीमांसाश्लोकवार्तिक' ग्रन्थ के एक श्लोक से (आत्मवाद श्लोक ६२) पता चलता है कि उन्होंने इस आर्या का अर्थ हमारे अनुसार ही किया है। वह श्लोक यह है :–

अन्तराभवदेहो हि नेष्यते विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किंचिदवगम्यते।

"अन्तराभव अर्थात् लिङ्गशरीर और स्थूलशरीर के बीचवाले शरीर को विन्ध्यवासी नहीं मानते; इस बात के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि उक्त प्रकार का कोई शरीर है।" ईश्वरकृष्ण विन्ध्याचल पर्वत पर रहता था इसलिये उसको विन्ध्यवासी कहा है। अन्तराभवशरीर को 'गन्धर्व' भी कहते हैं – अमरकोश [illegible] और उसपर श्री कृष्णाजी गोविन्द ओक द्वारा प्रकाशित क्षीरस्वामी की टीका तथा उस ग्रन्थ की प्रस्तावना पृष्ठ [illegible] देखो।

कहा जा सकता है, कि यह केवल पारिभाषिक है – वस्तुतः लिंगशरीर के घटकावयव के सम्बन्ध में वेदान्त और सांख्यमतों में कुछ भी भेद नहीं है। इसी लिये मैत्र्युपनिषद् (६. १०) में 'महदादि सूक्ष्मपर्यन्तं' यह सांख्योक्त लिंगशरीर का लक्षण 'महदाद्यं विशेषान्तं' इस पर्याय से ज्यों-का-त्यों रख दिया है।* भगवद्गीता (१५. ७) में पहले यह वर्णन कर, कि 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' – मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों ही का सूक्ष्म शरीर होता है – आगे ऐसा वर्णन किया है 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' (१५. ८) – जिस प्रकार हवा फूलों की सुगन्ध को हर लेती है, उसी प्रकार जीव स्थूलशरीर का त्याग करते समय इस लिंगशरीर को अपने साथ ले जाता है। तथापि, गीता में जो अध्यात्म ज्ञान है, वह उपनिषदों ही में से लिया गया है। इसलिये कहा जा सकता है कि मनसहित छः इन्द्रियाँ, इन शब्दों में ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राएँ, प्राण और पाप पुण्य का संग्रह भगवान् को अभिप्रेत है। मनुस्मृति (१२. १६, १७) में भी यह वर्णन किया गया है, कि मरने पर मनुष्य को, इस जन्म में किये हुए पाप पुण्य का फल भोगने के लिये, पञ्चतन्मात्रात्मक सूक्ष्मशरीर प्राप्त होता है। गीता के 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' इस दृष्टान्त से केवल इतना ही सिद्ध होता है, कि यह शरीर सूक्ष्म है। परन्तु उससे यह नहीं मालूम होता, कि उसका आकार कितना बड़ा है। महाभारत के सावित्री उपाख्यान में यह वर्णन पाया जाता है, कि सत्यवान् के (स्थूल) शरीर में से अँगूठे के बराबर एक पुरुष को यमराज ने बाहर निकाला – 'अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्' (म. भा. वन. २९७. १६)। इससे प्रतीत होता है, कि दृष्टान्त के लिये ही क्यों न हो, लिंगशरीर अँगूठे के आकार का माना जाता था।

इस बात का विवेचन हो चुका, कि यद्यपि लिंगशरीर हमारे नेत्रों को गोचर नहीं है, तथापि उसका अस्तित्व किन अनुमानों से सिद्ध हो सकता है, और उस शरीर के घटकावयव कौन-से हैं। परन्तु केवल यह कह देना ही यथेष्ट प्रतीत नहीं होता, कि प्रकृति और पाँच स्थूल-महाभूतों के अतिरिक्त अठारह तत्त्वों के

---

* आनन्दाश्रम (पूना) से प्रकाशित द्वात्रिंशदुपनिषदों की पोथी मैत्र्युपनिषद् में उपर्युक्त मन्त्र का 'महदाद्यं विशेषान्तं' पाठ है और उसी को टीकाकार ने भी माना है। यदि यह पाठ लिया जाय, तो लिंगशरीर में आरम्भ के महत्तत्त्व का समावेश करके विशेषान्त पद से सूचित विशेष अर्थात् पञ्चतन्मात्राओं को छोड़ देना पड़ता है। यानी यह अर्थ करना पड़ता है कि महदाद्यं में से महत् को न लेना और विशेषान्त में से विशेष को छोड़ देना चाहिये। परन्तु जहाँ आद्यन्त का उपयोग किया जाता है, वहाँ उन दोनों को छोड़ना ठीक होता है। अतएव प्रो० डॉयसन का कथन है कि महदाद्यं पद के अन्तिम अक्षर का अनुस्वार निकालकर 'महदाद्यविशेषान्तम्' (महदादि + अविशेषान्तम्) पाठ कर देना चाहिये। ऐसा करने पर अविशेष पद बन जाने से महत् और अविशेष अर्थात् आदि और अन्त दोनों का भी एक ही स्थान पर्याय होगा और लिंगशरीर में दोनों का ही समावेश किया जा सकेगा। यही इस पाठ का विशेष गुण है। परन्तु स्मरण रहे कि पाठ कोई भी लिया जाय अर्थ में भेद नहीं पड़ता।

समुच्चय से लिंगशरीर निर्माण होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ जहाँ लिंगशरीर रहेगा, वहाँ वहाँ इन अठारह तत्त्वों का समुच्चय अपने अपने गुण धर्म के अनुसार माता-पिता के स्थूलशरीर में से तथा आगे स्थूल-सृष्टि के अन्न से हस्तपाद आदि स्थूल अवयव या स्थूल इन्द्रियाँ उत्पन्न करेगा, अथवा उनका पोषण करेगा। परन्तु अब यह बतलाना चाहिये कि अठारह तत्त्वों के समुच्चय से बना हुआ लिंगशरीर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भिन्न भिन्न देह क्यों उत्पन्न करता है। सजीव सृष्टि के सचेतन तत्त्व को सांख्यवादी 'पुरुष' कहते हैं; और सांख्यमतानुसार ये पुरुष चाहे असंख्य भी हों, तथापि प्रत्येक पुरुष स्वभावतः उदासीन तथा अकर्ता है। इसलिये पशु-पक्षी आदि प्राणियों के भिन्न भिन्न शरीर उत्पन्न करने का कर्तृत्व पुरुष के हिस्से में नहीं आ सकता। वेदान्तशास्त्र में कहा है कि पाप पुण्य आदि कर्मों के परिणाम से ये भेद उत्पन्न हुआ करते हैं। इस कर्म विपाक का विवेचन आगे चल कर किया जायगा। सांख्यशास्त्र के अनुसार कर्म को (पुरुष और प्रकृति से भिन्न) तीसरा तत्त्व नहीं मान सकते; और जब कि पुरुष उदासीन ही है, तब कहना पड़ता है कि कर्म प्रकृति के सत्त्व-रज-तमोगुणों का ही विकार है। लिंगशरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समुच्चय है, उनमें से बुद्धितत्त्व प्रधान है। इसका कारण यह है कि बुद्धि ही से आगे अहंकार आदि सत्रह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। अर्थात्, जिसे वेदान्त में कर्म कहते हैं, उसी को सांख्यशास्त्र में सत्त्व-रज-तम गुणों के न्यूनाधिक परिमाण से उत्पन्न होनेवाला बुद्धि का व्यापार-धर्म या विकार कहते हैं। इस धर्म का नाम 'भाव' है। सत्त्व-रज-तम गुणों के तारतम्य से ये 'भाव' कई प्रकार के हो जाते हैं। जिस प्रकार फूल में सुगन्ध तथा कपड़े में रंग लिपटा रहता है, उसी प्रकार लिंगशरीर में ये भाव भी लिपटे रहते हैं। (सां. का. ४०)। इन भावों के अनुसार, अथवा वेदान्त-परिभाषा से कर्म के अनुसार, लिंगशरीर नये नये जन्म लिया करता है; और जन्म लेते समय माता-पिताओं के शरीरों में से जिन द्रव्यों को वह आकर्षित किया करता है, उन द्रव्यों में भी दूसरे भाव आ जाया करते हैं। 'देवयोनि, मनुष्ययोनि, पशुयोनि तथा वृक्षयोनि' ये सब भेद इन भावों की समुच्चयता के ही परिणाम हैं। (सां. का. ४४–४५)। इन सब भावों में सात्त्विक गुण का उत्कर्ष होने से जब मनुष्य को ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति होती है, और उसके कारण प्रकृति और पुरुष की भिन्नता समझ में आने लगती है, तब मनुष्य अपने मूलस्वरूप अर्थात् 'कैवल्य' पद को पहुँच जाता है; और तब उसका लिंगशरीर छूट जाता है, एवं मनुष्य के दुःखों का पूर्णतया निवारण हो जाता है। परन्तु प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान न होते हुए, यदि केवल सात्त्विक गुण ही का उत्कर्ष हो, तो लिंगशरीर देवयोनि में अर्थात् स्वर्ग में जन्म लेता है; रजोगुण की प्रबलता हो, तो मनुष्ययोनि में अर्थात् पृथ्वी पर पैदा होता है; और तमोगुण की अधिकता हो जाने से उसे तिर्यग्योनि में प्रवेश करना पड़ता है (गी. १४. १८)।

गुणा गुणेषु वर्तन्ते इस तत्त्व के ही आधार पर सांख्यशास्त्र में वर्णन किया गया है कि मानवयोनि में जन्म होने के बाद देह किंवा लिङ्ग में क्रमानुसार बल्य, पुरुष, स्त्री और भिन्न भिन्न प्रकार इन्द्रियाँ कैसे बनती जाती हैं (सां. का. ४३ म. भा. शां. १)। गर्भोपनिषद् का वर्णन प्रायः सांख्यशास्त्र के उक्त वर्णन के समान ही है। उपयुक्त विवेचन से यह बात मालूम हो जायगी कि सांख्यशास्त्र में 'भाव' शब्द का जो पारिभाषिक अर्थ बतलाया गया है वह यद्यपि वेदान्तग्रन्थों में विवक्षित नहीं है तथापि भगवद्गीता में (१० ४ ५ ७ १२) बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः इत्यादि गुणों को (इसके आगे के श्लोक में) जो 'भाव' नाम दिया है वह प्रायः सांख्यशास्त्र की परिभाषा को सोच कर ही दिया गया होगा।

इस प्रकार सांख्यशास्त्र के अनुसार मूल-अव्यक्त-प्रकृति से अथवा वेदान्त के अनुसार मूल सद्रूपी परब्रह्म से सृष्टि के सब सजीव और निर्जीव व्यक्त पदार्थ क्रमशः उत्पन्न हुए। और जब सृष्टि के संहार का समय आ पहुँचता है तब सृष्टि-रचना का जो गुणपरिणामक्रम ऊपर बतलाया गया है ठीक उसके विरुद्ध क्रम से सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त प्रकृति में अथवा मूल ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। यह सिद्धान्त सांख्य और वेदान्त दोनों शास्त्रों को मान्य है (वे. सू. २ ३ १४ म. भा. शां. २३२)। उदाहरणार्थ पञ्चमहाभूतों में से पृथ्वी का लय पानी में, पानी का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का तन्मात्राओं में, तन्मात्राओं का अहंकार में, अहंकार का बुद्धि में और बुद्धि या महान् का लय प्रकृति में हो जाता है तथा वेदान्त के अनुसार प्रकृति का लय मूल ब्रह्म में हो जाता है। सांख्यकारिका में किसी स्थान पर यह नहीं बतलाया गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति या रचना हो जाने पर उसका लय तथा संहार होने तक बीच में कितना समय लग जाता है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि मनुसंहिता (१ ६६–७३) भगवद्गीता (८ १७) तथा महाभारत (शां. २३१) में वर्णित कालगणना सांख्यों को भी मान्य है। हमारा उत्तरायण देवताओं का दिन है और हमारा दक्षिणायन उनकी रात है। क्योंकि स्मृतिग्रन्थों में और ज्योतिषशास्त्र की संहिता (सूर्यसिद्धान्त १ १३ १ १२ ६७) में भी यही वर्णन है कि देवता मेरुपर्वत पर अर्थात् उत्तरध्रुव में रहते हैं। अर्थात् दो अयनों का हमारा एक वर्ष देवताओं के एक दिनरात के बराबर है और हमारे ३६० वर्ष देवताओं के ३६० दिनरात अथवा एक वर्ष के बराबर हैं। कृत त्रेता द्वापर और कलि हमारे चार युग हैं। युगों की कालगणना इस प्रकार है — कृतयुग में चार हजार वर्ष त्रेतायुग में तीन हजार द्वापर में दो हजार और कलि में एक हजार वर्ष। परन्तु एक युग समाप्त होते ही दूसरा युग एकदम आरम्भ नहीं हो जाता बीच में दो युगों के सन्धिकाल में कुछ वर्ष बीत जाते हैं। इस प्रकार कृतयुग आदि और अन्त में से प्रत्येक ओर चार सौ वर्ष का त्रेतायुग के आगे और पीछे प्रत्येक

और तीन सौ वर्ष का, द्वापर के पहले और बाद प्रत्येक और दो सौ वर्ष का कलियुग के पूर्व तथा अनन्तर प्रत्येक और सौ वर्ष का सन्धिकाल होता है। सब मिला कर चारों युगों का आदि-अन्त-सहित सन्धिकाल दो हजार वर्ष का होता है। ये दो हजार वर्ष और पहले बतलाये हुए सांख्यमतानुसार चारों युगों के दस हजार वर्ष मिला कर कुल बारह हजार वर्ष होते हैं। ये बारह हजार वर्ष मनुष्यों के हैं या देवताओं के? यदि मनुष्यों के माने जावें तो कलियुग का आरम्भ हुए पाँच हजार वर्ष बीत चुकने के कारण यह कहना पड़ेगा कि हजार मानवी वर्षों का कलियुग पूरा हो चुका। उसके बाद फिर से आनेवाला कृतयुग भी समाप्त हो गया और हमने अब त्रेतायुग में प्रवेश किया है! यह विरोध मिटाने के लिये पुराणों में निश्चित किया है कि ये बारह हजार वर्ष देवताओं के हैं। देवताओं के बारह हजार वर्ष मनुष्यों के ३६ × १२ = ४३२ (तेतालीस लाख बीस हजार) वर्ष होते हैं। वर्तमान पंचांगों का युग-परिमाण इसी पद्धति से निश्चित किया जाता है। (देवताओं के) बारह हजार वर्ष मिल कर मनुष्यों का एक महायुग या देवताओं का युग होता है। देवताओं के इकहत्तर युगों को मन्वन्तर कहते हैं और ऐसे मन्वन्तर चौदह हैं। परन्तु पहले मन्वन्तर के आरम्भ तथा अन्त में और आगे चलकर प्रत्येक मन्वन्तर के आखिर में दोनों ओर कृतयुग की बराबरी के एक एक ऐसे १५ सन्धिकाल होते हैं। ये पन्द्रह सन्धिकाल और चौदह मन्वन्तर मिल कर देवताओं के एक हजार युग अथवा ब्रह्मदेव का एक दिन होता है (सूर्यसिद्धान्त १ १ –२) और मनुस्मृति तथा महाभारत में लिखा है कि ऐसे ही हजार युग मिल कर ब्रह्मदेव की रात होती है (मनु. १ ६९–७३ और ७९ म भा शां २३१ १८–३१ और यास्क का निरुक्त १४ ९ देखो)। इस गणना के अनुसार ब्रह्मदेव का एक दिन मनुष्यों के चार अब्ज बत्तीस करोड़ वर्ष के बराबर होता है और इसी का नाम है कल्प।* भगवद्गीता (८ १८ और ९ ७) में कहा है कि जब ब्रह्मदेव के इस दिन अर्थात् कल्प का आरम्भ होता है तब :—

> अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
> राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

"अव्यक्त से सृष्टि के सब पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं और जब ब्रह्मदेव की रात्रि आरम्भ होती है तब सब व्यक्त पदार्थ पुनश्च अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। स्मृतिग्रन्थ और महाभारत में भी यही बतलाया है। इसके अतिरिक्त पुराणों में अन्य प्रलयों का भी वर्णन है परन्तु इन प्रलयों में सूर्य-चन्द्र आदि सारी सृष्टि का

---

* ज्योतिःशास्त्र के आधार पर युगादिगणना का विचार स्वर्गीय शंकर बाळकृष्ण दीक्षित ने अपने भारतीय ज्योतिःशास्त्र नामक (मराठी) ग्रंथ में किया है पृ १ १ देखो।

नाश नहीं हो जाता इसलिये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और संहार का विवेचन करते समय इनका विचार नहीं किया जाता। कल्प ब्रह्मदेव का एक दिन अथवा रात्रि है और ऐसे ३६० दिन तथा ३६० रात्रियाँ मिल कर ब्रह्मदेव का एक वर्ष होता है। इसी से पुराणादिकों (विष्णुपुराण १ ३) में यह वर्णन पाया जाता है कि ब्रह्मदेव की आयु उनके सौ वर्ष की है। उसमें से आधी बीत गई। शेष आयु के अर्थात् इक्यावनवें वर्ष के पहले दिन का अथवा श्वेतवाराह नामक कल्प का अब आरम्भ हुआ है और इस कल्प के चौदह मन्वन्तरों में से छः मन्वन्तर बीत चुके, तथा सातवें (अर्थात् वैवस्वत) मन्वन्तर के ७१ महायुगों में से २७ महायुग पूरे हो गये। एवं अब २८ वें महायुग के कलियुग का प्रथम अर्थात् चतुर्थ भाग जारी है। संवत् १९७६ (शक १८४१) में इस कलियुग के ठीक ५०२० वर्ष बीत चुके। इस प्रकार गणित करने से मालूम होगा कि इस कलियुग का प्रलय होने के लिये संवत् १९७६ में मनुष्य के ४ लाख २७ हजार वर्ष शेष थे फिर वर्तमान मन्वन्तर के अन्त में अथवा वर्तमान कल्प के अन्त में होनेवाले महाप्रलय की बात ही क्या! मानवी चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का जो ब्रह्मदेव का दिन इस समय जारी है उसका पूरा मध्याह्न भी नहीं हुआ। अर्थात् सात मन्वन्तर भी अब तक नहीं बीते हैं।

सृष्टि की रचना और संहार का जो अब तक विवेचन किया गया वह वेदान्त के – और परब्रह्म का छोड़ देने से सांख्यशास्त्र के तत्त्वज्ञान के आधार पर किया गया है। इसलिये सृष्टि के उत्पत्तिक्रम की इसी परम्परा को हमारे शास्त्रकार सदैव प्रमाण मानते हैं; और यही क्रम भगवद्गीता में भी दिया हुआ है। इस प्रकरण के आरम्भ ही में बतला दिया गया है कि सृष्ट्युत्पत्तिक्रम के बारे में कुछ भिन्न भिन्न विचार पाये जाते हैं। जैसे श्रुतिस्मृतिपुराणों में कहीं कहीं कहा है कि प्रथम ब्रह्मदेव या हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ और उसमें परमेश्वर के बीज से एक सुवर्णमय अण्डा निर्मित हुआ। परन्तु इन सब विचारों को गौण तथा उपलक्षणात्मक समझ कर जब उनकी उपपत्ति बतलाने का समय आता है तब यही कहा जाता है कि हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मदेव ही प्रकृति है। भगवद्गीता (१४ ३) में त्रिगुणात्मक प्रकृति ही को ब्रह्म कहा है – मम योनिर्महद् ब्रह्म। और भगवान ने यह भी कहा है कि हमारे बीज से इस प्रकृति में त्रिगुणों के द्वारा अनेक मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं अन्य स्थानों में ऐसा वर्णन है कि ब्रह्मदेव से आरम्भ में दक्ष प्रभृति सात मानसपुत्र अथवा मनु उत्पन्न हुए और उन्होंने आगे सब चराचर सृष्टि का निर्माण किया (म भा आ ६५–६७ ; म भा शां २०७ ; मनु १ ३४–६३) और इसी का गीता में भी एक बार उल्लेख किया गया है (गी १० ६)। परन्तु वेदान्तग्रन्थ यह प्रतिपादन करते हैं कि इन सब भिन्न भिन्न वर्णनों में ब्रह्मदेव को ही प्रकृति मान लेने से उपर्युक्त तात्त्विक सृष्ट्युत्पत्तिक्रम से मेल हो जाता है और यही न्याय अन्य स्थानों में भी उपयोगी हो सकता

है। उदाहरणार्थ शैव तथा पाशुपत दर्शनों में शिव को निमित्तकारण मान कर यह कहते हैं कि उसी से कार्यकारणादि पाँच पदार्थ उत्पन्न हुए। और नारायणीय या भागवतधर्म में वासुदेव को प्रधान मान कर यह वह कथन किया है कि पहले वासुदेव से संकर्षण (जीव) हुआ, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) उत्पन्न हुआ। परन्तु वेदान्तशास्त्र के अनुसार जीव प्रत्येक समय नये सिरे से उत्पन्न नहीं होता। वह नित्य और सनातन परमेश्वर का नित्य – अतएव अनादि – अंश है। इसलिये वेदान्तसूत्र के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद (वे. सू. २. २. ४२–४५) में भागवतधर्म में वर्णित जीव के उत्पत्तिविषयक उपर्युक्त मत का खंडन करके कहा है कि वह मत वेदविरुद्ध अतएव त्याज्य है। गीता (१३. ४–१५. ७) में वेदान्तसूत्रों के इसी सिद्धान्त का अनुवाद किया गया है। इसी प्रकार सांख्यवादी प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतंत्र तत्त्व मानते हैं; परन्तु इस द्वैत को स्वीकार न कर वेदान्तियों ने यह सिद्धान्त किया है कि प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व एक ही नित्य और निर्गुण परमात्मा की विभूतियाँ हैं। यही सिद्धान्त भगवद्गीता को भी मान्य है (गी. ९. १०)। परन्तु इस का विस्तारपूर्वक विवेचन अगले प्रकरण में किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही बतलाया है कि भागवत या नारायणीय धर्म में वर्णित वासुदेवभक्ति का और प्रवृत्तिप्रधान धर्म का तत्त्व यद्यपि भगवद्गीता को मान्य है, तथापि गीता भागवतधर्म की इस कल्पना से सहमत नहीं है कि पहले वासुदेव से संकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ, और उससे आगे प्रद्युम्न (मन) तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) का प्रादुर्भाव हुआ। संकर्षण, प्रद्युम्न या अनिरुद्ध का नाम तक गीता में नहीं पाया जाता। पाञ्चरात्र में बतलाये हुए भागवतधर्म में तथा गीता-प्रतिपादित भागवतधर्म में यही तो महत्त्व का भेद है। इस बात का उल्लेख यहाँ जान बूझ कर किया गया है; क्योंकि केवल इतने ही से – कि भगवद्गीता में भागवतधर्म बतलाया गया है – कोई यह न समझ ले कि सृष्ट्युत्पत्ति-क्रम-विषयक अथवा जीव परमेश्वर स्वरूप-विषयक भागवत आदि भक्तिसम्प्रदाय के मत भी गीता को मान्य हैं। अब इस बात का विचार किया जायगा कि सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति और पुरुष के भी परे सब व्यक्ताव्यक्त तथा क्षराक्षर जगत् के मूल में कोई तत्त्व है या नहीं। इसी को अध्यात्म या वेदान्त कहते हैं।

निष्पन्न होनेवाली सत्त्व-रज-तम-गुणमयी अव्यक्त प्रकृति ये दोनों स्वतन्त्र हैं और इस प्रकार जगत् के मूलतत्त्व को द्विधा मानना आवश्यक है। परन्तु वेदान्त इसके आगे जा कर यों कहता है कि सांख्य के 'पुरुष' निर्गुण भले ही हों तो भी वे असंख्य हैं। इसलिये यह मान लेना उचित नहीं कि इन असंख्य पुरुषों का लाभ जिस बात में हो उसे जान कर प्रत्येक पुरुष के साथ तदनुसार बर्ताव करने का सामर्थ्य प्रकृति में है। ऐसा मानने की अपेक्षा सात्त्विक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तो यही अधिक युक्तिसंगत होगा कि उस एकीकरण की ज्ञान क्रिया का अन्त तक निरपवाद उपयोग किया जावे और प्रकृति तथा असंख्य पुरुषों का एक ही परमतत्त्व में अविभक्तरूप से समावेश किया जावे जो 'अविभक्तं विभक्तेषु' के अनुसार नीचे से ऊपर तक की श्रेणियों में दीख पड़ती है और जिसकी सहायता से ही सृष्टि के अनेक व्यक्त पदार्थों का एक अव्यक्त प्रकृति में समावेश किया जाता है (गी. १८. २०–)। भिन्नता का भास होना अहंकार का परिणाम है और पुरुष यदि निर्गुण है तो असंख्य पुरुषों के अलग अलग रहने का गुण उसमें रह नहीं सकता। अथवा यह कहना पड़ता है कि वस्तुतः पुरुष असंख्य नहीं है। केवल प्रकृति की अहंकाररूपी उपाधि से उनमें अनेकता दीख पड़ती है। दूसरा एक प्रश्न यह उठता है कि स्वतन्त्र प्रकृति का स्वतन्त्र पुरुष के साथ जो संयोग हुआ है वह सत्य है या मिथ्या? यदि सत्य माने, तो वह संयोग कभी भी छूट नहीं सकता। अतएव सांख्यमतानुसार आत्मा को मुक्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती। यदि मिथ्या माने तो यह सिद्धान्त ही निर्मूल या निराधार हो जाता है कि पुरुष के संयोग से प्रकृति अपना खेल उसके आगे खेला करती है। और यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं कि जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के लिये दूध देती है उसी प्रकार पुरुष के लाभ के लिये प्रकृति सदा कार्यतत्पर रहती है। क्योंकि, बछड़ा गाय के पेट से ही पैदा होता है। इसलिये उस पर पुत्रवात्सल्य के प्रेम का उदाहरण जैसा संगठित होता है वैसा प्रकृति और पुरुष के विषय में नहीं कहा जा सकता (वे. सू. शां. भा. ३)। सांख्यमत के अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व अत्यन्त भिन्न हैं – एक जड़ है दूसरा सचेतन। अच्छा; जब ये दोनों पदार्थ सृष्टि के उत्पत्तिकाल से ही एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न और स्वतन्त्र हैं, तो फिर एक की प्रवृत्ति दूसरे के फायदे ही के लिये क्यों होनी चाहिये? यह तो कोई समाधानकारक उत्तर नहीं कि उनका स्वभाव ही वैसा है। स्वभाव ही मानना हो तो फिर हेकेल का जड़ाद्वैतवाद क्यों बुरा है? हेकेल का भी सिद्धान्त यही है न कि मूलप्रकृति के गुणों की वृद्धि होते होते उसी प्रकृति में अपने आप को देखने की और स्वयं अपने विषय में विचार करने की चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है – अर्थात् यह प्रकृति का स्वभाव ही है। परन्तु इस मत को स्वीकार न कर सांख्यशास्त्र ने यह भेद किया है कि 'द्रष्टा' अलग है और 'दृश्यसृष्टि' अलग है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सांख्यवादी जिस न्याय का अवलम्बन कर 'द्रष्टा पुरुष' और 'दृश्य सृष्टि' में भेद बतलाते हैं उसी

न्याय का उपयोग करते हुये और आगे क्यों न चलें ? दृश्य सृष्टि की चाहे कितनी ही सूक्ष्मता से परीक्षा करें और यह जान लें, कि जिन नेत्रों से हम पदार्थों को देखते परखते हैं उनके मज्जातन्तुओं में अमुक अमुक गुण धर्म हैं। तथापि इन सब बातों को जाननेवाला या द्रष्टा भिन्न रह ही जाता है। क्या इस द्रष्टा के विषय में – जो दृश्य सृष्टि से भिन्न है – विचार करने के लिये कोई साधन या उपाय नहीं है ? और यह जानने के लिये भी कोई मार्ग है या नहीं कि इस दृश्य सृष्टि का सच्चा स्वरूप जैसा हम अपनी इन्द्रियों से देखते हैं वैसा ही है या उससे भिन्न है ? सांख्यवादी कहते हैं कि इन प्रश्नों का निर्णय होना असम्भव है। अतएव यह मान लेना पड़ता है कि प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व मूल ही में स्वतन्त्र और भिन्न हैं। यदि केवल आधिभौतिक शास्त्रों की प्रणाली से विचार कर देखें तो सांख्यवादियों का मत अनुचित नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि सृष्टि के अन्य पदार्थों को जैसे हम अपनी इन्द्रियों से देखभाल करें उनके गुणधर्मों का विचार करते हैं वैसे यह द्रष्टा पुरुष या देखनेवाला – अर्थात् जिसे वेदान्त में 'आत्मा' कहा है वह – द्रष्टा (अर्थात् अपनी ही) इन्द्रियों को भिन्न रूप में कभी गोचर नहीं हो सकता। और जिस पदार्थ का इस प्रकार इन्द्रियगोचर होना असम्भव है यानी जो वस्तु इन्द्रियातीत है उसकी परीक्षा मानवी इन्द्रियों से कैसे हो सकती है ? उस आत्मा का वर्णन भगवान् ने गीता (गी. २. २३) में इस प्रकार किया है –

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

अर्थात् आत्मा ऐसा कोई पदार्थ नहीं कि यदि हम सृष्टि के अन्य पदार्थों के समान उस पर तेजाब आदि द्रव पदार्थ डालें तो उसका द्रवरूप हो जाय अथवा प्रयोगशाला के पैने शस्त्रों से काट-छाँट कर उसका आन्तरिक स्वरूप देख लें या आग पर धर देने से उसका धुआँ हो जाय अथवा हवा में रखने से वह सूख जाय ! सारांश सृष्टि के पदार्थों की परीक्षा करने के आधिभौतिक शास्त्रवेत्ताओं ने जितने कुछ उपाय ढूँढ़े हैं वे सब यहाँ निष्फल हो जाते हैं ? प्रश्न है तो फिर पर विचार करने में कुछ कठिनाई दीख नहीं पड़ती। क्या सांख्यवादियों ने भी 'पुरुष' को निर्गुण और स्वतन्त्र कैसे जाना ? केवल अपने अन्तःकरण के अनुभव से ही जाना है न ? फिर उसी रीति का उपयोग प्रकृति और पुरुष के सच्चे स्वरूप का निर्णय करने के लिये क्यों न किया जाय ? आधिभौतिकशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में जो बड़ा भारी भेद है वह यही है। आधिभौतिकशास्त्रों के विषय इन्द्रियगोचर होते हैं और अध्यात्मशास्त्र का विषय इन्द्रियातीत अर्थात् केवल स्वसंवेद्य है यानी अपने आप ही जानने योग्य है। कोई यह कहे कि यदि आत्मा स्वसंवेद्य है तो प्रत्येक मनुष्य को उसके विषय में जैसा ज्ञान होवे वैसा होने दो फिर अध्यात्मशास्त्र

की आवश्यकता ही क्या है?' हाँ; यदि प्रत्येक मनुष्य का मन या अन्तःकरण समान रूप से शुद्ध हो, तो फिर यह प्रश्न ठीक होगा। परन्तु जब कि अपना यह प्रत्यक्ष अनुभव है, कि सब लोगों के मन या अन्तःकरण की शुद्धि और शक्ति एक सी नहीं होती; तब जिन लोगों के मन अत्यन्त शुद्ध, पवित्र और विशाल हो गये हैं; उन्हीं की प्रतीति इस विषय में हमारे लिये प्रमाणभूत होनी चाहिये। यों ही 'मुझे ऐसा मालूम होता है' और 'तुझे ऐसा मालूम होता है' कह कर निरर्थक वाद करने से कोई लाभ न होगा। वेदान्तशास्त्र तुम्हें युक्तियों का उपयोग करने से बिल्कुल नहीं रोकता। वह सिर्फ यही कहता है, कि इस विषय में निरी युक्तियाँ वहीं तक मानी जावेंगी, जहाँ तक कि इन युक्तियों से अत्यन्त विशाल, पवित्र और निर्मल अन्तःकरणवाले महात्माओं के विषयसम्बन्धी साक्षात् अनुभव का विरोध न होता हो। क्योंकि अध्यात्मशास्त्र का विषय स्वसंवेद्य है – अर्थात् केवल आधिभौतिक युक्तियों से उसका निर्णय नहीं हो सकता। जिस प्रकार आधिभौतिकशास्त्रों में वे अनुमान त्याज्य माने जाते हैं, कि जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध हों; उसी प्रकार वेदान्तशास्त्र में युक्तियों की अपेक्षा उपर्युक्त स्वानुभव की (अर्थात् आत्मप्रतीति की) योग्यता ही अधिक मानी जाती है। जो युक्ति इस अनुभव के अनुकूल हो, उसे वेदान्ती अवश्य मानते हैं। श्रीमान् शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रों के भाष्य में यही सिद्धान्त दिया है। अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास करनेवालों को इस पर हमेशा ध्यान रखना चाहिये –

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

'जो पदार्थ इन्द्रियातीत हैं, और इसी लिये जिनका चिन्तन नहीं किया जा सकता, उनका निर्णय केवल तर्क या अनुमान से नहीं कर लेना चाहिये। सारी सृष्टि की मूल प्रकृति से भी परे जो पदार्थ है, वह इस प्रकार अचिन्त्य है' – यह एक पुराना श्लोक है जो *महाभारत* (भीष्म १२) में पाया जाता है; और जो श्रीशंकराचार्य के वेदान्तभाष्य में भी 'साधयेत्' के पाठभेद से पाया जाता है (वे. सू. शां. भा. २ ७)। मुण्डक और कठोपनिषद् में भी लिखा है, कि आत्मज्ञान केवल तर्क ही से नहीं प्राप्त हो सकता (मुं. ३ २ कठ. २ ८ और २२)। अध्यात्मशास्त्र में उपनिषद् ग्रन्थों का विशेष महत्त्व भी इसी लिये है। मन को एकाग्र करने के उपायों के विषय में प्राचीन काल में हमारे हिन्दुस्थान में बहुत चर्चा हो चुकी है और अन्त में इस विषय पर (पातञ्जल) योगशास्त्र नामक एक स्वतन्त्र शास्त्र ही निर्माण हो गया है। जो बड़े बड़े ऋषि इस योगशास्त्र में अत्यन्त प्रवीण थे, तथा जिनके मन स्वभाव ही से अत्यन्त पवित्र और विशाल थे; उन महात्माओं ने मन को अन्तर्मुख करके आत्मा के स्वरूप के विषय में जो अनुभव प्राप्त किया –

अथवा आत्मा के स्वरूप के विषय में उनकी शुद्ध और शान्त बुद्धि में जो स्फूर्ति हुई – उसी का वर्णन उन्होंने उपनिषद्-ग्रन्थों में किया है। इसलिये किसी भी अध्यात्म तत्त्व का निर्णय करने में इस श्रुतिग्रन्थों में कहे गये अनुभविक ज्ञान का सहारा लेने के अतिरिक्त और दूसरा उपाय नहीं है (क॰ ४ १)। मनुष्य केवल अपनी बुद्धि की तीव्रता से उक्त आत्मप्रतीति की पोषक भिन्न भिन्न युक्तियाँ बतला सकेगा परन्तु इससे उस मूल प्रतीति की प्रामाणिकता में रत्ती भर भी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। भगवद्गीता की गणना स्मृतिग्रन्थों में की जाती है सही परन्तु पहले प्रकरण के आरम्भ ही में हम कह चुके हैं कि इस विषय में गीता की योग्यता उपनिषदों की बराबरी की मानी जाती है। अतएव इस प्रकरण में अब आगे चल कर सिर्फ यह बतलाया जायगा कि प्रकृति के परे जो अचिन्त्य पदार्थ है उसके विषय में गीता और उपनिषदों में कौन कौन-से सिद्धान्त किये गये हैं और उनके कारणों का (अर्थात् शास्त्ररीति से उनकी उपपत्ति का) विचार पीछे किया जायगा।

सांख्यवादियों का द्वैत – प्रकृति और पुरुष – भगवद्गीता को मान्य नहीं है। भगवद्गीता के अध्यात्मज्ञान का और वेदान्तशास्त्र का भी पहला सिद्धान्त यह है कि प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्वव्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्त्व है जो चर अचर सृष्टि का मूल है। सांख्यों की प्रकृति यद्यपि अव्यक्त है तथापि वह त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण है। परन्तु प्रकृति और पुरुष का विचार करते समय भगवद्गीता के आठवें अध्याय के बीसवें श्लोक में (इस प्रकरण के आरम्भ में ही यह श्लोक दिया गया है) कहा है कि सगुण है वह नाशवान् है इसलिये इस अव्यक्त और सगुण प्रकृति का भी नाश हो जाने पर अन्त में जो कुछ अव्यक्त शेष रह जाता है वही सारी सृष्टि का सच्चा और नित्य तत्त्व है। और आगे पन्द्रहवें अध्याय (१५ १७) में क्षर और अक्षर – व्यक्त और अव्यक्त – इस भाँति सांख्यशास्त्र के अनुसार दो तत्त्व बतला कर यह वर्णन किया है –

> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

अर्थात् जो इन दोनों से भी भिन्न है वही उत्तम पुरुष है उसी को परमात्मा कहते हैं वही अव्यय और सर्वशक्तिमान् है और वही तीनों लोकों में व्याप्त हो कर उनकी रक्षा करता है। यह पुरुष क्षर और अक्षर (अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त) इन दोनों से भी परे है। इसलिये इसे पुरुषोत्तम कहा है (गी १५ १८)। महाभारत में भी भृगु ऋषि ने भरद्वाज से 'परमात्मा' शब्द की व्याख्या बतलाते हुए कहा है –

> आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
> तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

अर्थात् "जब आत्मा प्रकृति में या शरीर में बद्ध रहता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा कहते हैं और वही प्राकृत गुणों से यानी प्रकृति या शरीर के गुणों से मुक्त होने पर 'परमात्मा' कहलाता है" (म. भा. शां. १८७. २४)। सम्भव है कि 'परमात्मा' की उपर्युक्त दो व्याख्याएँ भिन्न भिन्न जान पड़ें, परन्तु वस्तुतः वे भिन्न भिन्न नहीं हैं। क्षर-अक्षर-सृष्टि और जीव (अथवा सांख्यशास्त्र के अनुसार अव्यक्त प्रकृति और पुरुष) इन दोनों से भी परे एक ही परमात्मा है। इसलिये कभी कहा जाता है कि वह क्षर-अक्षर के परे है और कभी कहा जाता है कि वह जीव के या जीवात्मा के (पुरुष के) परे है – एवं एक ही परमात्मा की ऐसी द्विविध व्याख्याएँ करने में वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं हो जाती। इसी अभिप्राय को मन में रख कर कालिदास ने भी कुमारसम्भव में परमेश्वर का वर्णन इस प्रकार किया है – "पुरुष के लाभ के लिये उद्युक्त होनेवाली प्रकृति भी तू ही है और स्वयं उदासीन रह कर उस प्रकृति का द्रष्टा भी तू ही है" (कुमा. २. १३)। इसी भाँति गीता में भगवान् कहते हैं कि "मम योनिर्महद्ब्रह्म" – यह प्रकृति मेरी योनि या मेरा एक स्वरूप है (१४. ३) और जीव या आत्मा भी मेरा ही अंश है (१५. ७)। सातवें अध्याय में भी कहा गया है –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अर्थात् "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार – इस तरह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है; और इसके सिवा (अपरेयमितस्त्वन्याम्) सारे संसार का धारण जिसने किया है वह जीव भी मेरी ही दूसरी प्रकृति है" (गी. ७. ४, ५)। महाभारत के शान्तिपर्व में सांख्यों के पचीस तत्त्वों का कई स्थानों पर विवेचन है, परन्तु वहीं यह भी कह दिया गया है कि पचीस तत्त्वों के परे एक छब्बीसवाँ (षड्विंश) परमतत्त्व है, जिसे पहचाने बिना मनुष्य 'बुद्ध' नहीं हो सकता (शां. ३०८)। सृष्टि के पदार्थों का जो ज्ञान हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों से होता है वही हमारी सारी सृष्टि है। अतएव प्रकृति या सृष्टि ही को कई स्थानों पर 'ज्ञान' कहा है और इसी दृष्टि से पुरुष 'ज्ञाता' कहा जाता है (शां. ३०६. ३५–४१)। परन्तु जो सच्चा ज्ञेय है (गी. १३. १२) वह प्रकृति और पुरुष – ज्ञान और ज्ञाता – से भी परे है। इसलिये भगवद्गीता में इसे परमपुरुष कहा है। तीनों लोकों को व्याप कर उन्हें सदैव धारण करनेवाला जो यह परमपुरुष या परपुरुष है उसे पहचानो। वह एक है, अव्यक्त है, नित्य है, अक्षर है। यह बात केवल भगवद्गीता ही नहीं, किन्तु वेदान्तशास्त्र के सारे ग्रंथ एक स्वर से कह रहे हैं। सांख्यशास्त्र में 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्दों या विशेषणों का प्रयोग प्रकृति के लिये किया जाता है; क्योंकि सांख्यों का सिद्धान्त है कि प्रकृति की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और बाद

उत्पन्न हो गये हैं। यह सिद्धान्त सब लोगों को एक-सा मान्य है कि जीव और जगत् के सारे व्यवहार परमेश्वर की इच्छा से होते हैं। परन्तु कुछ लोग तो मानते हैं कि जीव, जगत् और परब्रह्म इन तीनों का मूलस्वरूप आकाश के समान एक ही और अखण्डित है तथा दूसरे वेदान्ती कहते हैं कि जड़ और चैतन्य का एक होना सम्भव नहीं। अतएव अनार या दाड़िम के फल में यद्यपि अनेक दाने होते हैं तो भी उससे जैसे फल की एकता नष्ट नहीं होती वैसे ही जीव और जगत् यद्यपि परमेश्वर में भरे हुए हैं तथापि ये मूल में उससे भिन्न हैं और उपनिषदों में जब ऐसा वर्णन आता है कि तीनों 'एक' हैं तब उसका अर्थ दाड़िम के फल के समान एक जानना चाहिये। जब जीव के स्वरूप के विषय में यह मतान्तर उपस्थित हो गया तब भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक टीकाकार अपने अपने मत के अनुसार उपनिषदों और गीता का यथार्थ स्वरूप – उसमें प्रतिपादित व्यापक कर्मयोग विषय – तो एक ओर रह गया और अनेक साम्प्रदायिक टीकाकारों के मत में गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही हो गया कि गीताप्रतिपादित वेदान्त द्वैतमत का है या अद्वैतमत का! अस्तु इसके बारे में अधिक विचार करने के पहले यह देखना चाहिये कि जगत् (प्रकृति) जीव (आत्मा अथवा पुरुष) और परब्रह्म (परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम) के परस्पर सम्बन्ध के विषय में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही क्या कहते हैं। इस विषय में गीता और उपनिषदों का एक ही मत है और गीता में कहे गये सब विचार उपनिषदों में पहले ही आ चुके हैं।

प्रकृति और पुरुष के भी परे जो पुरुषोत्तम परपुरुष परमात्मा या परब्रह्म है उसका वर्णन करते समय भगवद्गीता में पहले उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं यथा व्यक्त और अव्यक्त (आँखों से दिखनेवाला और आँखों से न दिखनेवाला)। अब इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्त स्वरूप अर्थात् इन्द्रियगोचर रूप सगुण ही होना चाहिये। और अव्यक्त रूप यद्यपि इन्द्रियों को अगोचर है तो भी इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि वह निर्गुण ही हो। क्योंकि, यद्यपि वह हमारी आँखों से न दीख पड़े तो भी उसमें सब प्रकार के गुण सूक्ष्म रूप से रह सकते हैं। इसलिये अव्यक्त के भी तीन भेद किये गये हैं जैसे सगुण सगुणनिर्गुण और निर्गुण। यहाँ 'गुण' शब्द में उन सब गुणों का समावेश किया गया है कि जिनका ज्ञान मनुष्य को केवल उसकी बाह्येन्द्रियों से ही नहीं होता किन्तु मन से भी होता है। परमेश्वर के मूर्तिमान अवतार भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंसाक्षात् अर्जुन के सामने खड़े हो कर उपदेश कर रहे थे। इसलिये गीता में जगह जगह पर उन्होंने अपने विषय में प्रथम पुरुष का निर्देश इस प्रकार किया है जैसे प्रकृति मेरा स्वरूप है (८) जीव मेरा अंश है (१) सब भूतों का अंतर्यामी आत्मा मैं हूँ (१ २) संसार में जितनी श्रीमान् या विभूतिमान् मूर्तियाँ हैं वे सब मेरे अंश से उत्पन्न हुई हैं (१ ४१) मुझमें मन लगा कर मेरा भक्त हो (९ १४) तो तू

मुझमें मिल जायगा; तू मेरा प्रिय भक्त है, इसलिये मैं तुझे यह प्रीतिपूर्वक बतलाता हूँ (१८.६५)। और जब अपने विश्वरूप-दर्शन से अर्जुन को यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया कि सारी चराचर सृष्टि मेरे व्यक्त रूप में ही साक्षात् भरी हुई है, तब भगवान ने उसको यही उपदेश किया है कि अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप की उपासना करना अधिक सहज है। इसलिये तू मुझ में ही अपना भक्तिभाव रख (१२.८); मैं ही ब्रह्म का, अव्यय मोक्ष का, शाश्वत धर्म का और अनन्त सुख का मूलस्थान हूँ (गी. १४.२७)। इससे विदित होगा कि गीता में आदि से अन्त तक अधिकांश में परमात्मा के व्यक्त स्वरूप का ही वर्णन किया गया है।

इतने ही से केवल भक्ति के अभिमानी कुछ पंडितों और टीकाकारों ने यह मत प्रकट किया है कि गीता में परमात्मा का व्यक्त रूप ही अन्तिम साध्य माना गया है। परन्तु यह मत सच नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उक्त वर्णन के साथ ही भगवान् ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि मेरा व्यक्त स्वरूप मायिक है, और उसके परे का जो अव्यक्त रूप – अर्थात् जो इन्द्रियों को अगोचर – है वही मेरा सच्चा स्वरूप है। उदाहरणार्थ सातवें अध्याय (गी. ७.२४) में कहा है कि –

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

"यद्यपि मैं अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर हूँ तो भी मूर्ख लोग मुझे व्यक्त समझते हैं और व्यक्त से भी परे के मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्त रूप को नहीं पहचानते।" और इसके अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं कि "मैं अपनी योगमाया से आच्छादित हूँ, इसलिये मूर्ख लोग मुझे नहीं पहचानते" (७.२५)। फिर चौथे अध्याय में उन्होंने अपने व्यक्त रूप की उपपत्ति इस प्रकार बतलाई है: "मैं यद्यपि जन्मरहित और अव्यय हूँ, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित हो कर मैं अपनी माया से (स्वात्ममाया से) जन्म लिया करता हूँ – अर्थात् व्यक्त हुआ करता हूँ" (४.६)। वे आगे सातवें अध्याय में कहते हैं, "यह त्रिगुणात्मक प्रकृति मेरी दैवी माया है; इस माया को जो पार कर जाते हैं वे मुझे पाते हैं, और इस माया से जिन का ज्ञान नष्ट हो जाता है वे मूढ़ नराधम मुझे नहीं पा सकते" (७.१४, १५)। अन्त में अठारहवें (१८.६१) अध्याय में भगवान् ने उपदेश किया है: "हे अर्जुन! सब प्राणियों के हृदय में जीवरूप परमात्मा ही का निवास है; और वह अपनी माया से यन्त्र की भाँति प्राणियों को घुमाता है।" भगवान ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखाया है वही नारद को भी दिखलाया था। इसका वर्णन महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत नारायणीय प्रकरण (शां. ३३९) में है; और हम पहले ही प्रकरण में बतला चुके हैं कि नारायणीय यानी भागवतधर्म ही गीता में प्रतिपादित किया गया है। नारद को हजारों नेत्रों, रंगों तथा अन्य दृश्य गुणों का विश्वरूप दिखला कर भगवान ने कहा –

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैव त्वं ज्ञातुमर्हसि॥

तुम मेरा जो रूप देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। इससे तुम यह न समझो कि मैं सर्वभूतों के गुणों से युक्त हूँ। और फिर यह भी कहा है कि मेरा सच्चा स्वरूप सर्वव्यापी, अव्यक्त और नित्य है। उसे सिद्ध पुरुष पहचानते हैं (शां. ३३९. ४४, ४८)। इससे कहना पड़ता है कि गीता में वर्णित भगवान् का अर्जुन को दिखलाया हुआ विश्वरूप भी मायिक था। सारांश, उपर्युक्त विवेचन से इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता कि गीता का यही सिद्धान्त होना चाहिये कि यद्यपि केवल उपासना के लिये व्यक्त स्वरूप की प्रशंसा गीता में भगवान् ने की है, तथापि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय को अगोचर ही है; और अव्यक्त से व्यक्त होना ही उसकी माया है। और इस माया से पार हो कर जब तक मनुष्य को परमात्मा के शुद्ध तथा अव्यक्त रूप का ज्ञान न हो, तब तक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। अब इसका अधिक विचार आगे करेंगे कि माया क्या वस्तु है। ऊपर दिये गये वचनों से इतनी बात स्पष्ट है कि यह मायावाद श्रीशंकराचार्य ने नये सिरे से नहीं उपस्थित किया है, किन्तु उनके पहले ही भगवद्गीता, महाभारत और भागवतधर्म में भी यह माना गया था। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी सृष्टि की उत्पत्ति इस प्रकार कही गई है – "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता. ४. १०) – अर्थात् माया ही (सांख्यों की) प्रकृति है और परमेश्वर उस माया का अधिपति है और वही अपनी माया से विश्व निर्माण करता है।

अब इतनी बात यद्यपि स्पष्ट हो चुकी कि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप व्यक्त नहीं अव्यक्त है; तथापि थोड़ा-सा यह विचार होना भी आवश्यक है कि परमात्मा का यह श्रेष्ठ अव्यक्त स्वरूप सगुण है या निर्गुण। जब कि सगुण अव्यक्त का हमारे सामने यह एक उदाहरण है कि सांख्यशास्त्र की प्रकृति अव्यक्त (अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर) होने पर भी सगुण अर्थात् सत्त्व-रज-तम-गुणमय है; तब कुछ लोग यह कहते हैं कि परमेश्वर का अव्यक्त और श्रेष्ठ रूप भी उसी प्रकार सगुण माना जावे। अपनी माया ही से न हो, परन्तु जब कि वही अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त सृष्टि निर्माण करता है (गी. ९. ८) और सब लोगों के हृदय में रहकर उनसे सारे व्यापार करता है (१८. ६१); जब कि वह सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु है (९. २४); जब कि प्राणियों के सुख-दुःख आदि सब 'भाव' उसी से उत्पन्न होते हैं (१०. ५); और जब कि प्राणियों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला भी वही है, एवं "लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्" (७. २२) – प्राणियों की वासना का फल देनेवाला भी वही है; तब तो यही बात सिद्ध होती है कि वह अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर भले ही हो, तथापि वह दया, कर्तृत्व आदि गुणों से युक्त अर्थात्

पुरुष क्रतुमय है। जिसका जैसा क्रतु (निश्चय) हो, उसे मृत्यु के पश्चात् वैसा ही फल भी मिलता है। और भगवद्गीता भी कहती है – देवताओं की भक्ति करनेवाले देवताओं में और पितरों की भक्ति करनेवाले पितरों में जा मिलते हैं (गी. ९. २५) अथवा "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" – जिसकी जैसी श्रद्धा हो, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है (१७. ३)। तात्पर्य यह है कि उपासक के अधिकारभेद के अनुसार उपास्य अव्यक्त परमात्मा के गुण भी उपनिषदों में भिन्न भिन्न कहे गये हैं। उपनिषदों के इस प्रकरण को 'विद्या' कहते हैं। विद्या ईश्वरप्राप्ति का (उपासनारूप) मार्ग है, और यह मार्ग जिस प्रकरण में बतलाया गया है, उसे भी 'विद्या' ही नाम अन्त में दिया जाता है। शाण्डिल्यविद्या (छां. ३. १४), पुरुषविद्या (छां. ३. १६, १७), पर्यंकविद्या (कौषी. १), प्राणोपासना (कौषी. २) इत्यादि अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन उपनिषदों में किया गया है, और इन सब का विवेचन वेदान्तसूत्रों के तृतीयाध्याय के तीसरे पाद में किया गया है। इस प्रकरण में अव्यक्त परमात्मा का सगुण वर्णन इस प्रकार है कि वह मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध और सर्वरस है (छां. ३. १४. २)। तैत्तिरीय उपनिषद् में तो अन्न, प्राण, मन, ज्ञान या आनन्द – इन रूपों में भी परमात्मा की क्रमशः बढ़ती हुई उपासना बतलाई गई है (तै. २. १–५; ३. २–६)। बृहदारण्यक (२. १) में गार्ग्य बालाकी ने अजातशत्रु को पहले पहले आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल या दिशाओं में रहनेवाले पुरुषों की ब्रह्मरूप से उपासना बतलाई है; परन्तु आगे अजातशत्रु ने उससे यह कहा कि सच्चा ब्रह्म इनके भी परे है, और अन्त में प्राणोपासना ही को मुख्य ठहराया है। इतने ही से यह परम्परा कुछ पूरी नहीं हो जाती। उपर्युक्त सब ब्रह्मरूपों को प्रतीक, अर्थात् इन सब को उपासना के लिये कल्पित गौण ब्रह्मस्वरूप अथवा ब्रह्मनिदर्शक चिन्ह कहते हैं; और जब यही गौणरूप किसी मूर्ति के रूप में नेत्रों के सामने रखा जाता है, तब उसी को 'प्रतिमा' कहते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि सब उपनिषदों का सिद्धान्त यही है कि सच्चा ब्रह्मरूप इससे भिन्न है (केन. १. २–८)। इस ब्रह्म के लक्षण का वर्णन करते समय कहीं तो "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति. २. १) या "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ. ३. ९. २८) कहा है। अर्थात् ब्रह्म सत्य (सत्), ज्ञान (चित्) और आनन्दरूप है – अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप है – इस प्रकार सब गुणों का तीन ही गुणों में समावेश करके वर्णन किया गया है। और अन्य स्थानों में भगवद्गीता के समान ही परस्परविरुद्ध गुणों को एकत्र कर के ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि "ब्रह्म सत् भी नहीं और असत् भी नहीं" (ऋ. १०. १२९. १) अथवा "अणोरणीयान्महतो महीयान्" अर्थात् अणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है (कठ. २. २०), "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके" अर्थात् वह हिलता है और हिलता भी नहीं, वह दूर है और समीप भी है (ईश. ५; मुं. ३. १. ७) अथवा 'सर्वेन्द्रियगुणाभास'

हो कर भी 'सर्वेन्द्रियविवर्जित' है (श्वेता. ३. १७)। परन्तु नचिकेता का यह उपदेश किया है, कि अन्त में उपर्युक्त सब रूपों को छोड़ दो और जो धर्म और अधर्म के, कृत और अकृत के, अथवा भूत और भव्य के भी पर है, उसे ही ब्रह्म जानो (कठ. २. १४)। इसी प्रकार महाभारत के नारायणीय धर्म में ब्रह्मा रुद्र से (म. भा. शां. ३५१. ११) और मोक्षधर्म में नारद शुक से कहते हैं (३३१. ४४)। बृहदारण्यकोपनिषद् (२. ३. २) में भी पृथ्वी, जल और अग्नि – इन तीनों को ब्रह्म का मूर्त रूप कहा है। फिर वायु तथा आकाश को अमूर्त रूप कह कर दिखलाया है कि इन अमूर्तों के सारभूत पुरुषों के रूप या रंग बदल जाते हैं; और अन्त में यह उपदेश किया है कि 'नेति नेति' अर्थात् अब तक जो कहा गया है, वह नहीं है, वह ब्रह्म नहीं है – इन सब नामरूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थों के पर जो 'अगृह्य' या अवर्णनीय है उसे ही परब्रह्म समझो (बृह. २. ३. ६ और वे. सू. ३. २. २२)। अधिक क्या कहें; जिन जिन पदार्थों को कुछ नाम दिया जा सकता है, उन सब से भी पर जो है वही ब्रह्म है; और उस ब्रह्म का अव्यक्त तथा निर्गुण स्वरूप दिखलाने के लिये 'नेति नेति' एक छोटा-सा निर्देश, आदेश या सूत्र ही हो गया है; और बृहदारण्यक उपनिषद् में ही उसका चार बार प्रयोग हुआ है (बृह. ३. ९. २६; ४. २. ४; ४. ४. २२; ४. ५. १५)। इसी प्रकार दूसरे उपनिषदों में भी परब्रह्म के निर्गुण और अचिन्त्य रूप का वर्णन पाया जाता है। जैसे – 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति. २. ९); 'अद्रेश्य' (अदृश्य), 'अग्राह्य' (मुं. १. १. ६); 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' (मुं. ३. १. ८) अथवा –

> अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
> अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

अर्थात् वह परब्रह्म पंचमहाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध – इन पाँच गुणों से रहित, अनादि, अनन्त और अव्यय है (कठ. ३. १५; वे. सू. ३. २. २२ – ३० देखो)। महाभारतान्तर्गत शान्तिपर्व में नारायणीय या भागवतधर्म के वर्णन में भी भगवान ने नारद को अपना सच्चा स्वरूप 'अदृश्य, अघ्रेय, अस्पृश्य, निर्गुण, निष्कल (निरवयव), अज, नित्य, शाश्वत और निष्क्रिय' बतला कर कहा है कि वही सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय करनेवाला त्रिगुणातीत परमेश्वर है, और इसी को 'वासुदेव परमात्मा' कहते हैं (म. भा. शां. ३३९. २१ – २८)।

उपर्युक्त वचनों से यह प्रकट होगा, कि न केवल भगवद्गीता में ही, वरन् महाभारतान्तर्गत नारायणीय या भागवतधर्म में और उपनिषदों में भी परमात्मा का अव्यक्त स्वरूप ही व्यक्त स्वरूप से श्रेष्ठ माना गया है; और यहाँ अव्यक्त और व्यक्त स्वरूप यहाँ तीन प्रकार से वर्णित है, अर्थात् सगुण, सगुण-निर्गुण और अन्त में केवल निर्गुण। अब यह है कि अव्यक्त और व्यक्त स्वरूप के उक्त तीन परस्परविरोधी हैं।

रूपों का मेल किस तरह मिलाया जावे ? यह कहा जा सकता है कि इन तीनों में से जो सगुण-निर्गुण अर्थात् उभयात्मक रूप है, वह सगुण से निर्गुण में (अथवा अज्ञेय में) जाने की सीढ़ी या साधना है । क्योंकि (पहले सगुण रूप का ज्ञान होने पर ही) धीरे धीरे एक एक गुण का त्याग करने से निर्गुण स्वरूप का अनुभव हो सकता है; और इसी रीति से ब्रह्मप्रतीक की चढ़ती हुई उपासना उपनिषदों में बतलाई गई है । उदाहरणार्थ तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को पहले यही उपदेश किया है कि अन्न ही ब्रह्म है; फिर क्रम क्रम से प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द – इन ब्रह्मरूपों का ज्ञान उसे करा दिया है (तैत्ति. ३. २-६) । अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि गुणबोधक विशेषणों से निर्गुण रूप का वर्णन करना असम्भव है । अतएव परस्परविरोधी विशेषणों से ही उसका वर्णन करना पड़ता है । इस का कारण यह है कि जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में 'दूर' या 'सत्' शब्दों का उपयोग करते हैं तब हमें किसी अन्य वस्तु के 'समीप' या 'असत्' होने का भी अप्रत्यक्ष रूप से बोध हो जाया करता है । परन्तु यदि एक ही ब्रह्म सर्वव्यापी है तो परमेश्वर को 'दूर' या 'सत्' कह कर 'समीप' या 'असत्' किसे कहें ? ऐसी अवस्था में 'दूर नहीं, समीप नहीं; सत् नहीं, असत् नहीं' – इस प्रकार की भाषा उपयोग करने से दूर और समीप, सत् और असत् इत्यादि परस्परसापेक्ष गुणों की जोड़ियाँ भी लगा दी जाती हैं । और यह बोध होने के लिये परस्परविरुद्ध विशेषणों की भाषा का ही व्यवहार में उपयोग करना पड़ता है कि जो कुछ निर्गुण, सर्वव्यापी, सर्वदा निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता है, वही सच्चा ब्रह्म है (गी. १३. १२) । जो कुछ है वह सब ब्रह्म ही है । इसलिये दूर वही, समीप भी वही, सत् भी वही और असत् भी वही है । अतएव दूसरी दृष्टि से उसी ब्रह्म का एक ही समय परस्परविरोधी विशेषणों के द्वारा वर्णन किया जा सकता है (गी. ११. ३७; १३. १५) । अब यद्यपि उभयविध सगुण-निर्गुण वर्णन की भी उपपत्ति इस प्रकार बतला चुके, तथापि इस बात का स्पष्टीकरण रह ही जाता है कि एक ही परमेश्वर के परस्परविरोधी दो स्वरूप – सगुण और निर्गुण – कैसे हो सकते हैं ? माना कि जब अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त रूप अर्थात् इन्द्रियगोचर रूप धारण करता है तब वह उसकी माया कहलाती है; परन्तु जब वह व्यक्त – यानी इन्द्रियगोचर – न होते हुए अव्यक्त रूप में ही निर्गुण का सगुण हो जाता है तब उसे क्या कहें ? उदाहरणार्थ, एक ही निराकार परमेश्वर को कोई 'नेति नेति' कह कर निर्गुण मानते हैं और कोई उसे सत्काम, सत्यसंकल्प सर्वकर्मा तथा दयालु मानते हैं । इसका रहस्य क्या है ? उक्त दोनों में श्रेष्ठ पक्ष कौन-सा है ? इस निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्म से सारी व्यक्त सृष्टि और जीव की उत्पत्ति कैसे हुई ? – इत्यादि बातों का खुलासा हो जाना आवश्यक है । यह कहना मानो अध्यात्मशास्त्र ही की जड़ काटना है कि सब संकल्पों का दाता अव्यक्त परमेश्वर तो यथार्थ में सगुण है और उपनिषदों में या गीता में निर्गुण स्वरूप का जो वर्णन

किया गया है वह केवल अतिशयोक्ति या प्रशंसा है। जिन बड़े बड़े महात्माओं और ऋषियों ने एकाग्र मन करके सूक्ष्म तथा शान्त विचारों से यह सिद्धान्त ढूँढ निकाला कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै. २. ९) – मन को भी जो दुर्गम है और वाणी भी जिसका वर्णन कर नहीं सकती, वही अन्तिम ब्रह्मस्वरूप है – उनके आत्मानुभव को अतिशयोक्ति कैसे कहें! केवल एक साधारण मनुष्य अपने क्षुद्र मन में यदि अनन्त निर्गुण ब्रह्म का ग्रहण नहीं कर सकता इसलिये यह कहना कि सच्चा ब्रह्म सगुण ही है, मानो सूर्य की अपेक्षा अपने छोटे-से दीपक को श्रेष्ठ बतलाना है। हाँ; यदि निर्गुण रूप की उपपत्ति उपनिषदों में और गीता में न दी गई होती तो बात ही दूसरी थी; परन्तु यथार्थ में वैसा नहीं है। देखिये न! भगवद्गीता में तो स्पष्ट ही कहा है कि परमेश्वर का सच्चा श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त है और व्यक्त सृष्टि का धारण करना तो उसकी माया है (गी. ४. ६); परन्तु भगवान् ने यह भी कहा है कि प्रकृति के गुणों से मोह में फँस कर मूर्ख लोग (अव्यक्त और निर्गुण) आत्मा को ही कर्ता मानते हैं (गी. ३. २७–२९); किन्तु ईश्वर तो कुछ नहीं करता, लोग केवल अज्ञान से धोखा खाते हैं (गी. ५. १५)। अर्थात् भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में यह उपदेश किया है कि यद्यपि अव्यक्त आत्मा या परमेश्वर वस्तुतः निर्गुण है (गी. १३. ३१) तो भी लोग उस पर 'मोह' या अज्ञान से कर्तृत्व आदि गुणों का अध्यारोप करते हैं और उसे अव्यक्त सगुण बना देते हैं (गी. ७. २४)। उक्त विवेचन से परमेश्वर के स्वरूप के विषय में गीता के ये ही सिद्धान्त मालूम होते हैं :- (१) गीता में परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का यद्यपि बहुत-सा वर्णन है तथापि परमेश्वर का मूल और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण तथा अव्यक्त ही है और मनुष्य मोह या अज्ञान से उसे सगुण मानते हैं; (२) सांख्यों की प्रकृति या उसका व्यक्त फैलाव – यानी अखिल संसार – उस परमेश्वर की माया है; और (३) सांख्यों का पुरुष यानी जीवात्मा यथार्थ में परमेश्वररूपी है, परमेश्वर के समान ही निर्गुण और अकर्ता है, परन्तु अज्ञान के कारण लोग उसे कर्ता मानते हैं। वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्त भी ऐसे ही हैं; परन्तु उत्तर-वेदान्त-ग्रन्थों में इन सिद्धान्तों को बतलाते समय माया और अविद्या में कुछ भेद किया जाता है। उदाहरणार्थ, पञ्चदशी में पहले यह बतलाया गया है कि आत्मा और परब्रह्म दोनों में एक ही यानी ब्रह्मस्वरूप हैं; और यह चित्स्वरूपी ब्रह्म जब माया में प्रतिबिम्बित होता है तब सत्त्वरजतमोगुणमयी (सांख्यों की मूल) प्रकृति का निर्माण होता है। परन्तु आगे चल कर इस माया के ही दो भेद – 'माया' और 'अविद्या' – किये गये हैं; और यह बतलाया गया है कि जब माया के तीनों गुणों में से 'शुद्ध' सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है तब उसे केवल माया कहते हैं, और इस माया में प्रतिबिम्बित होनेवाले ब्रह्म को सगुण यानी व्यक्त ईश्वर (हिरण्यगर्भ) कहते हैं; और जब यही सत्त्वगुण 'अशुद्ध' होता है तब उसे अविद्या कहते हैं, तथा इस अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को 'जीव' कहते हैं (पञ्च.

१८–२७)। इस दृष्टि से यानी उत्तरकालीन वेदान्त की दृष्टि से देखें तो एक ही माया के स्वरूपतः दो भेद करने पड़ते हैं – अर्थात् परब्रह्म से 'व्यक्त ईश्वर' के निर्माण होने का कारण माया और 'जीव' के निर्माण होने का कारण अविद्या मानना पड़ता है। परन्तु गीता में इस प्रकार का भेद नहीं किया गया है। गीता कहती है, कि जिस माया से स्वयं भगवान् व्यक्त रूप यानी सगुण रूप धारण करते हैं (७. २५) अथवा जिस माया के द्वारा अष्टधा प्रकृति अर्थात् सृष्टि की सारी विभूतियाँ उनसे उत्पन्न होती हैं (४. ६), उसी माया के अज्ञान से जीव मोहित होता है (७. ४–१५)। 'अविद्या' शब्द गीता में कहीं भी नहीं आया है और श्वेताश्वतरोपनिषद् में जहाँ वह शब्द आया है, वहाँ इसका स्पष्टीकरण भी इस प्रकार किया है, कि माया के प्रपञ्च को ही 'अविद्या' कहते हैं (श्वेता. ५. १)। अतएव उत्तरकालीन वेदान्तग्रन्थों में केवल निरूपण की सरलता के लिये – जीव और ईश्वर की दृष्टि से – किये गये सूक्ष्म भेद – अर्थात् माया और अविद्या – को स्वीकार न कर हम 'माया', 'अविद्या' और 'अज्ञान' शब्दों को समानार्थक ही मानते हैं। और अब शास्त्रीय रीति से संक्षेप में इस विषय का विवेचन करते हैं, कि त्रिगुणात्मक माया, अविद्या या अज्ञान और मोह का सामान्यतः तात्त्विक स्वरूप क्या है, और उसकी सहायता से गीता तथा उपनिषदों के सिद्धान्तों की उपपत्ति कैसे लग सकती है।

निर्गुण और सगुण शब्द देखने में छोटे हैं; परन्तु जब इसका विचार करने लगें कि इन शब्दों में किन किन बातों का समावेश होता है, तब सचमुच सारा ब्रह्माण्ड दृष्टि के सामने खड़ा हो जाता है। जैसे, इस संसार का मूल जब वही अनादि परब्रह्म है जो एक, निष्क्रिय और उदासीन है, तब उसी में मनुष्य की इन्द्रियों को गोचर होनेवाले अनेक प्रकार के व्यापार और गुण कैसे उत्पन्न हुए? तथा इस प्रकार उसकी अखण्डता भंग कैसे हो गई? अथवा जो मूल में एक ही है, उसी के बहुविध भिन्न भिन्न पदार्थ कैसे दिखाई देते हैं? जो परब्रह्म निर्विकार है, और जिसमें खट्टा-मिठा-कड़ुवा या गाढ़ा पतला अथवा शीत उष्ण आदि भेद नहीं हैं, उसी में नाना प्रकार की रुचि न्यूनाधिक गाढ़ा-पतलापन या शीत और उष्ण, सुख और दुःख, प्रकाश और अँधेरा, मृत्यु और अमरता इत्यादि अनेक प्रकार के द्वन्द्व कैसे उत्पन्न हुए? जो परब्रह्म शान्त और निर्वात है, उसी में नाना प्रकार की ध्वनि और शब्द कैसे निर्माण होते हैं? जिस परब्रह्म में भीतर बाहर या दूर समीप का कोई भेद नहीं है, उसी में आगे या पीछे, दूर या समीप, अथवा पूर्व-पश्चिम इत्यादि दिक्कृत या स्थलकृत भेद कैसे हो गये? जो परब्रह्म अविकारी, त्रिकालाबाधित, नित्य और अमृत है, उसी के न्यूनाधिक कालमान से नाशवान पदार्थ कैसे बने? अथवा जिसे कार्यकारणभाव का स्पर्श भी नहीं होता, उसी परब्रह्म के कार्यकारणरूप – जैसे मिट्टी और घड़ा – क्यों दिखाई देते हैं? ऐसे ही और भी अनेक विषयों का उक्त छोटे से दो शब्दों में समावेश हुआ है। अथवा संक्षेप में कहा जाय, तो अब इस बात का विचार करना है, कि

एक ही में अनेकता, निर्द्वन्द्व में नाना प्रकार की द्वन्द्वता, अद्वैत में द्वैत और निःसंग में संग कैसे हो गया। सांख्यों ने तो इस झगड़े से बचने के लिये यह द्वैत कल्पित कर लिया है कि निर्गुण और नित्यपुरुष के साथ त्रिगुणात्मक यानी सगुण प्रकृति भी नित्य और स्वतन्त्र है। परन्तु जगत् के मूलतत्त्व को ढूँढ़ निकालने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसका समाधान इस द्वैत से नहीं होता। इतना ही नहीं, किन्तु यह द्वैत युक्तिवाद के भी सामने ठहर नहीं पाता। इसलिये प्रकृति और पुरुष के भी परे जा कर उपनिषत्कारों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि सच्चिदानन्द ब्रह्म से भी श्रेष्ठ श्रेणी का 'निर्गुण' ब्रह्म ही जगत् का मूल है। परन्तु अब इसकी उपपत्ति देना चाहिये, कि निर्गुण से सगुण कैसे हुआ। क्योंकि सांख्य के समान वेदान्त का भी यह सिद्धान्त है, कि जो वस्तु नहीं है, वह हो ही नहीं सकती और उससे, जो वस्तु है, उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार निर्गुण (अर्थात् जिस में गुण नहीं उस) ब्रह्म से सगुण सृष्टि के पदार्थ (कि जिन में गुण हैं) उत्पन्न हो नहीं सकते। तो फिर सगुण आया कहाँ से? यदि कहें कि सगुण कुछ नहीं है, तो वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। और यदि निर्गुण के समान सगुण को भी सत्य मानें, तो हम देखते हैं कि इन्द्रियगोचर होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि सब गुणों के स्वरूप आज एक हैं तो कल दूसरे ही–अर्थात् ये नित्य परिवर्तनशील होने के कारण नाशवान्, विकारी और अशाश्वत हैं। तब तो (ऐसी कल्पना करके कि परमेश्वर विभाज्य है) यही कहना होगा कि ऐसा सगुण परमेश्वर भी परिवर्तनशील एवं नाशवान् है। परन्तु जो विभाज्य और नाशवान् होकर सृष्टि के नियमों की पकड़ में नित्य परतन्त्र रहता है, उसे परमेश्वर ही कैसे कहें? सारांश, चाहे यह मानो कि इन्द्रियगोचर सारे सगुण पदार्थ पञ्चमहाभूतों से निर्मित हुए हैं, अथवा सांख्यानुसार या आधिभौतिक दृष्टि से यह अनुमान कर लो कि सारे पदार्थों का निर्माण एक ही अव्यक्त सगुण मूलप्रकृति से हुआ है। किसी भी पक्ष का स्वीकार करो, यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि जब तक नाशवान् गुण इस मूलप्रकृति से भी छूट नहीं गये हैं, तब तक पञ्चमहाभूतों को या प्रकृतिरूप इस सगुण मूल पदार्थ को जगत् का अविनाशी, स्वतन्त्र और अमृत तत्त्व कह नहीं सकते। अतएव जिसे प्रकृतिवाद का स्वीकार करना है, उसे उचित है कि वह या तो यह कहना छोड़ दे कि परमेश्वर नित्य, स्वतन्त्र और अमृतरूप है; या इस बात की खोज करे, कि पञ्चमहाभूतों के परे अथवा सगुण प्रकृति के भी परे और कौनसा तत्त्व है। इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है। जिस प्रकार मृगजल से प्यास नहीं बुझती, या बालू से तेल नहीं निकलता, उसी प्रकार प्रत्यक्ष नाशवान् वस्तु से अमृतत्व की प्राप्ति की आशा करना भी व्यर्थ है। और इसीलिये याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को स्पष्ट उपदेश किया है कि चाहे जितनी सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो जाय, पर उससे अमृतत्व की आशा करना व्यर्थ है– "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" (बृ. २. ४. २)। अच्छा, अब

यदि अमृतत्व को मिथ्या कहें तो मनुष्यों की यह स्वाभाविक इच्छा दीख पड़ती है कि वे किसी राजा से मिलनेवाले पुरस्कार या पारितोषिक का उपभोग न केवल अपने लिये वरन अपने पुत्रपौत्रादि के लिये भी – अर्थात् चिरकाल के लिये – करना चाहते हैं। अथवा यह भी देखा जाता है कि चिरकाल रहनेवाली या शाश्वत कीर्ति का जब अवसर आता है तब मनुष्य अपने जीवन की भी परवाह नहीं करता। ऋग्वेद के समान अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में भी पूर्व-ऋषियों की प्रार्थना है, कि 'हे इन्द्र! तू हमें 'अक्षित श्रव' अर्थात् अक्षय कीर्ति या धन दे" (ऋ. १ ९.७) अथवा 'हे सोम! तू मुझे वैवस्वत (यम) लोक में अमर कर दे" (ऋ. ९ ११३ ८)। और अर्वाचीन समय में इसी दृष्टि को स्वीकार कर के स्पेन्सर कोम्ट प्रभृति केवल आधिभौतिक पण्डित भी यही कहते हैं, कि इस संसार में मनुष्यमात्र का नैतिक परम कर्तव्य यही है कि वह किसी प्रकार के क्षणिक सुख में न फँस कर वर्तमान और भावी मनुष्यजाति के चिरकालिक सुख के लिये उद्योग करे। अपने जीवन के पश्चात के चिरकालिक कल्याण की अर्थात् अमृतत्व की यह कल्पना आई कहाँ से? यदि कहें कि यह स्वभावसिद्ध है तो मानना पड़ेगा कि इस नाशवान् देह के सिवा और कोई अमृत वस्तु अवश्य है। और यदि कहें कि ऐसी अमृत वस्तु कोई नहीं है तो हमें जिस मनोवृत्ति की साक्षात् प्रतीति होती है उसका अन्य कोई कारण भी नहीं बतलाते बन पड़ता! ऐसी कठिनाई आ पड़ने पर कुछ आधिभौतिक पण्डित यह उपदेश करते हैं कि इन प्रश्नों का कभी समाधानकारक उत्तर नहीं मिल सकता। अतएव इनका विचार न करके दृश्यसृष्टि के पदार्थों के गुणधर्म के परे अपने मन की दौड़ कभी न जाने दो। यह उपदेश है तो सरल परन्तु मनुष्य के मन में तत्त्वज्ञान की जो स्वाभाविक लालसा होती है उसका प्रतिरोध कौन और किस प्रकार से कर सकता है? और इस दुर्धर जिज्ञासा का यदि नाश कर डालें तो फिर ज्ञान की वृद्धि हो कैसे? जब से मनुष्य इस पृथ्वीतल पर उत्पन्न हुआ है तभी से वह इस प्रश्न का विचार करता चला आया है कि सारी दृश्य और नाशवान सृष्टि का मूलभूत अमृततत्त्व क्या है? और वह मुझे कैसे प्राप्त होगा? आधिभौतिक शास्त्रों की चाहे जैसी उन्नति हो तथापि मनुष्य की अमृततत्त्वसम्बन्धी ज्ञान की स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी कम होने की नहीं। आधिभौतिक शास्त्रों की चाहे जैसी वृद्धि हो तो भी सारे आधिभौतिक सृष्टिविज्ञान को बगल में दबा कर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान सदा उसके आगे ही दौड़ता रहेगा! दो-चार हजार वर्ष के पहले यही दशा थी और अब पश्चिमी देशों में भी यही बात दीख पड़ती है। और तो क्या मनुष्य की बुद्धि की ज्ञानलालसा जिस दिन छूटेगी उस दिन उसके विषय में यही कहना होगा कि "वह मुक्त अथवा पशु!"

दिक्काल से अमर्यादित अमृत अनादि स्वतन्त्र एक, निरन्तर सर्वव्यापी और निर्गुण तत्त्व के अस्तित्व के विषय में अथवा उस निर्गुण तत्त्व से सगुण सृष्टि

की उत्पत्ति के विषय में जैसा व्याख्यान हमारे प्राचीन उपनिषदों में किया गया है, उससे अधिक सयुक्तिक व्याख्यान अन्य देशों के तत्त्वज्ञों ने अब तक नहीं किया है। अर्वाचीन जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट ने इस बात का सूक्ष्म विचार किया है कि मनुष्य को बाह्यसृष्टि की विविधता या भिन्नता का ज्ञान एकता से क्यों और कैसे होता है! और फिर उक्त उपपत्ति को ही उसने अर्वाचीन शास्त्र की रीति से अधिक स्पष्ट कर दिया है। और हेगेल यद्यपि अपने विचार में कान्ट से कुछ आगे बढ़ा है, तथापि उसके भी सिद्धान्त वेदान्त के आगे बढ़े नहीं हैं। शोपेनहर का भी यही हाल है। लैटिन भाषा में उपनिषदों के अनुवाद का अध्ययन उसने किया था – और उसने यह बात भी लिख रखी है कि 'संसार के साहित्य में अत्युत्तम' इन ग्रन्थों से कुछ विचार मैंने अपने ग्रन्थों में लिये हैं। इस छोटे-से ग्रन्थ में इन सब बातों का विस्तारपूर्वक निरूपण करना सम्भव नहीं कि उक्त गम्भीर विचारों और उनके साधकबाधक प्रमाणों में अथवा वेदान्त के सिद्धान्तों और कान्ट प्रभृति पश्चिमी तत्त्वज्ञों के सिद्धान्तों में समानता कितनी है और अन्तर कितना है। इसी प्रकार इस बात की भी विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते, कि उपनिषद् और वेदान्त-सूत्र जैसे प्राचीन ग्रन्थों के वेदान्त में और तदुत्तरकालीन ग्रन्थों के छोटे मोटे भेद कौन-कौनसे हैं। अतएव गीतारहस्य के अध्यात्मसिद्धान्तों की सत्यता, महत्त्व और उपपत्ति समझा देने के लिये जिन जिन बातों की आवश्यकता है सिर्फ उन्हीं बातों का यहाँ दिग्दर्शन किया गया है और इस काम के लिये उपनिषद्, वेदान्त-सूत्र और उसके शाङ्करभाष्य का आधार प्रधान रूप से लिया गया है। प्रकृति पुरुषरूपी सांख्योक्त द्वैत के परे क्या है – इसका निर्णय करने के लिये केवल द्रष्टा और दृश्यसृष्टि के द्वैतभेद पर ही ठहर जाना उचित नहीं। किन्तु इस बात का भी सूक्ष्म विचार करना चाहिये कि द्रष्टा पुरुष को बाह्यसृष्टि का जो ज्ञान होता है उसका स्वरूप क्या है? वह ज्ञान किसको होता है? बाह्यसृष्टि के पदार्थ मनुष्य को नेत्रों से जैसे दिखाई देते हैं वैसे ही वे गुण पशुओं को भी दिखाई देते हैं। परन्तु मनुष्य में यह विशेषता है कि आँख, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों से उसके मन पर जो संस्कार हुआ करते हैं उनका एकीकरण करने की शक्ति उसमें है और इसी लिये बाह्यसृष्टि के पदार्थमात्र का ज्ञान उसको हुआ करता है। पहले क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार में बतला चुके हैं कि जिस एकीकरणशक्ति का फल उपर्युक्त विशेषता है वह शक्ति मन और बुद्धि के भी परे है – अर्थात् वह आत्मा की शक्ति है। यह बात नहीं कि किसी एक ही पदार्थ का ज्ञान उक्त रीति से होता हो किन्तु सृष्टि के भिन्न भिन्न पदार्थों में कार्यकारणभाव आदि जो अनेक सम्बन्ध हैं – जिन्हें हम सृष्टि के नियम कहते हैं – उनका ज्ञान भी इसी प्रकार हुआ करता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि हम भिन्न भिन्न पदार्थों को दृष्टि से देखते हैं तथापि उनका कार्यकारणसम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु हम अपने मानसिक व्यापारों से निश्चित किया करते हैं। उदाहरणार्थ जब कोई एक पदार्थ हमारे नेत्रों के सामने आता है तब

उसका रूप और उसकी गति देख कर हम निश्चय करते हैं कि यह एक 'फौजी सिपाही' है और यही संस्कार मन में बना रहता है। इसके बाद जब कोई दूसरा पदार्थ उसी रूप और गति में दृष्टि के सामने आता है तब वही मानसिक क्रिया फिर शुरू हो जाती है; और हमारी बुद्धि का निश्चय हो जाता है कि वह भी एक फौजी सिपाही है। इस प्रकार भिन्न भिन्न समय में (एक के बाद दूसरे) जो अनेक संस्कार हमारे मन पर होते रहते हैं उन्हें हम अपनी स्मरणशक्ति से याद कर एकत्र रखते हैं और जब वह पदार्थसमूह हमारी दृष्टि के सामने आ जाता है तब उन सब भिन्न भिन्न संस्कारों का ज्ञान एकता के रूप में होकर हम कहने लगते हैं कि हमारे सामने से 'फौज' जा रही है। इस सेना के पीछे जानेवाले पदार्थ का रूप देख कर हम निश्चय करते हैं कि वह 'राजा' है। और 'फौज'-सम्बन्धी पहले संस्कार को तथा 'राजा'सम्बन्धी इस नूतन संस्कार को एकत्र कर हम कह सकते हैं, कि यह राजा की सवारी जा रही है। इसलिये कहना पड़ता है कि सृष्टिज्ञान केवल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला जड़ पदार्थ नहीं है किन्तु इन्द्रियों के द्वारा मन पर होनेवाले अनेक संस्कारों या परिणामों का जो 'एकीकरण' 'द्रष्टा आत्मा' किया करता है उसी एकीकरण का फल ज्ञान है। इसीलिये भगवद्गीता में भी ज्ञान का लक्षण इस प्रकार कहा है— 'अविभक्तं विभक्तेषु' अर्थात् ज्ञान वही है कि जिससे विभक्त या निरालेपन में अविभक्तता या एकता का बोध हो* (गी. १८. २०)। परन्तु इस विषय का यदि सूक्ष्म विचार किया जावे, कि इन्द्रियों के द्वारा मन पर जो ज्ञान पड़ेगा कि यद्यपि आँख, कान, नाक इत्यादि इन्द्रियों से पदार्थ के रूप, शब्द, गन्ध आदि गुणों का ज्ञान हमें होता है। तथापि जिस पदार्थ में ये बाह्यगुण हैं उसके आन्तरिक स्वरूप के विषय में हमारी इन्द्रियाँ हमें कुछ भी नहीं बतला सकतीं। हम यह देखते हैं सही कि 'गीली मिट्टी' का घड़ा बनता है परन्तु यह नहीं जान सकते कि जिसे हम 'गीली मिट्टी' कहते हैं उस पदार्थ का यथार्थ तात्त्विक स्वरूप क्या है। चिकनाई, गीलापन, मैला रंग या गोलाकार (रूप) इत्यादि गुण जब इन्द्रियों के द्वारा मन को पृथक् पृथक् मालूम हो जाते हैं तब उन संस्कारों का एकीकरण करके 'द्रष्टा आत्मा' कहता है कि 'यह गीली मिट्टी है'। और आगे इसी द्रव्य की (क्योंकि यह मानने के लिये कोई कारण नहीं कि द्रव्य का तात्त्विक रूप बदल गया) गोल तथा पोली आकृति या रूप, ठन ठन आवाज और सूखापन इत्यादि गुण जब इन्द्रियों के द्वारा मन को मालूम हो जाते हैं तब आत्मा उनका एकीकरण करके उसे 'घड़ा' कहता है। सारांश, सारा भेद 'रूप या आकार' में ही होता रहता है। और जब इन्हीं गुणों के संस्कारों का (जो मन पर हुआ करते हैं) 'द्रष्टा' आत्मा

---

* Cf. "Knowledge is first produced by the synthesis of what is manifold." Kant's Critique of Pure Reason, p. 64. Max Muller's translation, 2nd Ed.

एकत्र कर देता है तब एक ही तात्त्विक पदार्थ को अनेक नाम प्राप्त हो जाते हैं। इनका सब से सरल उदाहरण समुद्र और तरंग का या सोना और अलंकार का है। क्योंकि इन दोनों उदाहरणों में रंग, गाढ़ापन-पतलापन, वजन आदि गुण एक ही से रहते हैं और केवल रूप (आकार) तथा नाम ये ही दो गुण बदलते रहते हैं। इसी लिये वेदान्त में ये सरल उदाहरण हमेशा पाये जाते हैं। सोना तो एक पदार्थ है परन्तु भिन्न भिन्न समय पर बदलनेवाले उसके आकारों के जो संस्कार इन्द्रियों के द्वारा मन पर होते हैं उन्हें एकत्र करके 'द्रष्टा' उस सोने को ही – कि जो तात्त्विक दृष्टि से एक ही मूल पदार्थ है – कभी 'कड़ा', कभी 'अँगूठी' या कभी 'पँचलड़ी', 'पहुँची' और 'कंगन' इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिया करता है। भिन्न भिन्न समय पर पदार्थों को जो इस प्रकार नाम दिये जाते हैं, उन नामों को (तथा पदार्थों की भिन्न भिन्न आकृतियों के कारण ये नाम बदलते रहते हैं उन आकृतियों को) उपनिषदों में 'नामरूप' कहते हैं और इन्हीं में अन्य सब गुणों का भी समावेश कर दिया जाता है (छां. ६. १ और ४; बृ. १. ४. ७)। और इस प्रकार समावेश होना ठीक भी है। क्योंकि कोई भी गुण लीजिये; उसका कुछ-न-कुछ नाम या रूप अवश्य होगा। यद्यपि इन नामरूपों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहे तथापि कहना पड़ता है कि – इन नामरूपों के मूल में आधारभूत कोई तत्त्व या द्रव्य है जो इन नामरूपों से भिन्न है पर कभी बदलता नहीं – जिस प्रकार पानी पर तरंगें होती हैं उसी प्रकार ये सब नामरूप किसी एक ही मूलद्रव्य पर तरंगों के समान हैं। यह सच है कि हमारी इन्द्रियाँ नामरूप के अतिरिक्त और कुछ भी पहचान नहीं सकतीं। अतएव इन इन्द्रियों को उस मूलद्रव्य का ज्ञान होना सम्भव नहीं कि जो नामरूप से भिन्न हो परन्तु उसका आधारभूत है। परन्तु सारे संसार का आधारभूत यह तत्त्व भले ही अव्यक्त हो अर्थात् इन्द्रियों से न जाना जा सके तथापि हमको अपनी बुद्धि से यही निश्चित् अनुमान करना पड़ता है कि वह सत् है – अर्थात् वह सचमुच सब काल सब नामरूपों के मूल में तथा नामरूपों में भी निवास करता है और उसका कभी नाश नहीं होता। क्योंकि यदि इन्द्रियगोचर नामरूपों के अतिरिक्त मूलतत्त्व को कुछ मानें ही नहीं तो फिर 'कड़ा', 'कंगन' आदि भिन्न भिन्न पदार्थ हो जावेंगे। एवं इस समय हमें जो यह ज्ञान हुआ करता है कि ये सब एक ही धातु के (सोने के) बने हैं उस ज्ञान के लिये कुछ भी आधार नहीं रह जावेगा। ऐसी अवस्था में केवल इतना ही कहना पड़ेगा कि 'कड़ा' है, यह 'कंगन' है। यह कदापि न कह सकेंगे कि कड़ा सोने का है और कंगन भी सोने का है। अतएव न्यायतः यह सिद्ध होता है कि 'कड़ा सोने का है', 'कंगन सोने का है' इत्यादि वाक्यों में 'है' शब्द से जिस सोने के साथ नामरूपात्मक 'कड़े' और 'कंगन' का सम्बन्ध जोड़ा गया है वह सोना केवल शशशृंगवत् अभावरूप नहीं है। किन्तु वह उस द्रव्यांश का ही बोधक है कि जो सारे आभूषणों का आधार है। इसी का उपयोग सृष्टि के सारे पदार्थों में करें तो

यह सिद्धान्त निकलता है, कि पत्थर, मिट्टी, चाँदी, लोहा, लकड़ी इत्यादि अनेक नामरूपात्मक पदार्थ, जो नज़र आते हैं, सब किसी एक ही द्रव्य पर भिन्न भिन्न नामरूपों का मुलम्मा या गिलट कर उत्पन्न हुए हैं; अर्थात् सारा भेद केवल नामरूपों का है, मूलद्रव्य का नहीं। भिन्न भिन्न नामरूपों की जड़ में एक ही द्रव्य नित्य निवास करता है। सब पदार्थों में इस प्रकार से नित्य रूप से रहना – संस्कृत में 'सत्तासामान्यत्व' कहलाता है।

वेदान्तशास्त्र के उक्त सिद्धान्त को ही कान्ट आदि अर्वाचीन पश्चिमी तत्त्वज्ञानियों ने भी स्वीकार किया है। नामरूपात्मक जगत् की जड़ में नामरूपों से भिन्न जो कुछ अदृश्य नित्य द्रव्य है, उसे कान्ट ने अपने ग्रन्थ में 'वस्तुतत्त्व' कहा है; और नेत्र आदि इन्द्रियों को गोचर होनेवाले नामरूप को 'बाहरी दृश्य' कहा है।* परन्तु वेदान्तशास्त्र में नित्य बदलनेवाले नामरूपात्मक दृश्य जगत् को 'मिथ्या' या 'नाशवान्' और मूलद्रव्य को 'सत्य' या 'अमृत' कहते हैं। सामान्य लोग सत्य की व्याख्या यों करते हैं कि 'चक्षुर्वै सत्यं' अर्थात् जो आँखों से दीख पड़े वही सत्य है; और व्यवहार में भी देखते हैं कि किसी ने स्वप्न में लाख रुपया पा लिया अथवा लाख रुपया मिलने की बात कान से सुन ली, तो इस स्वप्न की बात में और सचमुच लाख रुपये की रकम के मिल जाने में बड़ा भारी अन्तर रहता है। इस कारण एक दूसरे से सुनी हुई और आँखों से प्रत्यक्ष देखी हुई – इन दोनों बातों में किस पर अधिक विश्वास करें? आँखों पर या कानों पर? इसी दुविधा को मेटने के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् (५. १४. ४) में यह 'चक्षुर्वै सत्यं' वाक्य आया है। किन्तु जिस शास्त्र में रुपये खरे होने का निश्चय 'रुपये' की गोलमोल सूरत और उसके प्रचलित नाम से करना है, वहाँ सत्य की इस सापेक्ष व्याख्या का क्या उपयोग होगा? हम व्यवहार में देखते हैं कि यदि किसी की बातचीत का ठिकाना नहीं है, और यदि घड़ी घड़ी में अपनी बात बदलने लगा, तो लोग उसे झूठा कहते हैं। फिर इसी न्याय से 'रुपये' के नामरूप को (भीतरी द्रव्य को नहीं) झूठा अथवा मिथ्या कहने में क्या हानि है? क्योंकि रुपये का जो नामरूप आज इस घड़ी है, उसे दूर करके, उसके बदले 'करधनी' या 'कटोरे' का नामरूप उसे दूसरे ही दिन दिया जा सकता है; अर्थात् हम अपनी आँखों से देखते हैं कि यह नामरूप हमेशा बदलता रहता है – नित्य नहीं है। अब यदि कहें कि जो आँखों से दीख पड़ता है, उसके सिवा अन्य कुछ सत्य नहीं है, तो एकीकरण की जिस मानसिक क्रिया से सृष्टिज्ञान होता है वह भी

---

* कान्ट ने अपने Critique of Pure Reason नामक ग्रन्थ में यह विचार किया है। नामरूपात्मक जगत् की जड़ में जो द्रव्य है, उसे उसने 'डिंग आन् सिश' (Ding an sich–Thing in itself) कहा है, और हमने उसी का भाषान्तर 'वस्तुतत्त्व' किया है। नामरूपों के बाहरी दृश्य को कान्ट ने 'एर्शाइनुंग' (Erscheinung–appearance) कहा है। कान्ट कहता है कि वस्तुतत्त्व अज्ञेय है।

सत्य है और तत्त्वज्ञान का सच्चा विषय है भी यही। व्यवहार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि गहना गढ़वाने में चाहे जितना मेहनताना देना पड़ा हो पर आपत्ति के समय जब उसे बेचने के लिये सराफ की दूकान पर ले जाते हैं तब वह साफ़ साफ़ कह देता है कि "मैं नहीं जानना चाहता कि गहना गढ़वाने में तोले पीछे क्या उजरत देनी पड़ी है यदि सोने के चलन् भाव में बेचना चाहो, तो हम ले लेंगे!" वेदान्त की परिभाषा में इसी विचार को इस ढंग से व्यक्त करेंगे – सराफ को गहना मिथ्या और उसका सोना भर सत्य दीख पड़ता है। इसी प्रकार यदि किसी नये मकान को बेचें तो उसकी सुन्दर बनावट (रूप) और गुंजाइश की जगह (आकृति) बनाने में जो खर्च लगा होगा उसकी ओर खरीददार ज़रा भी ध्यान नहीं देता। वह कहता है कि ईंट-चूना लकड़ी-पत्थर और मज़दूरी की लागत में यदि बेचना चाहो तो बेच डालो। इन दृष्टान्तों से वेदान्तियों के इस कथन को पाठक भली भाँति समझ जावेंगे कि नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है, और ब्रह्म सत्य है। "दृश्य जगत् मिथ्या है" इसका अर्थ यह नहीं कि वह आँखों से दीख ही नहीं पड़ता। किन्तु इसका ठीक ठीक अर्थ यही है कि वह आँखों से तो दीख पड़ता है पर एक ही द्रव्य के नामरूप-भेद के कारण जगत् के बहुतेरे जो स्थलकृत अथवा सूक्ष्मकृत दृश्य हैं वे नाशवान् हैं और इसी से मिथ्या हैं। इन सब नामरूपात्मक दृश्यों के आच्छादन में छिपा हुआ सदैव वर्तमान जो अविनाशी और अविकारी द्रव्य है वही नित्य और सत्य है। सराफ़ को कड़े, कङ्गन, गुंज और अँगूठियाँ खोटी जँचती हैं। उसे सिर्फ़ उनका सोना सच्चा जँचता है। परन्तु सृष्टि सुनार के कारखाने में मूल में ऐसा एक द्रव्य है कि जिसके भिन्न भिन्न नामरूप दे कर सोना, चाँदी, लोहा, पत्थर, लकड़ी, हवा-पानी आदि सारे गहने गढ़वाये जाते हैं। इसलिये सराफ की अपेक्षा वेदान्ती कुछ और आगे बढ़कर सोना, चाँदी या पत्थर प्रभृति नामरूपों को जेवर के ही समान मिथ्या समझ कर सिद्धान्त करता है कि इन सब पदार्थों के मूल में जो द्रव्य अर्थात् वस्तुतत्त्व मौजूद है वही सच्चा अर्थात् अविकारी सत्य है। इस वस्तुतत्त्व में नामरूप आदि कोई भी गुण नहीं हैं। इस कारण इसे नेत्र आदि इन्द्रियाँ कभी नहीं जान सकतीं। परन्तु आँखों से न दीख पड़े, नाक से न सूँघे जाने अथवा हाथ से न टटोले जाने पर भी बुद्धि से निश्चयपूर्वक अनुमान किया जाता है कि अव्यक्त रूप से वह होगा अवश्य ही। न केवल इतना ही बल्कि यह भी निश्चय करना पड़ता है कि इस जगत् में कभी भी न बदलनेवाला "जो कुछ" है वह यही सत्य वस्तुतत्त्व है। जगत् का मूल सत्य इसी को कहते हैं। परन्तु जो नामरूप – विषयी और कुछ स्वरूपी पश्चिम मत्य भी (सत्य और मिथ्या शब्दों के वेदान्तशास्त्रवाले पारिभाषिक अर्थ का न तो शोधन-समझन है और न यह देखने का ही कष्ट उठाते हैं कि सत्य शब्द का जो अर्थ हमें सूझता है उसकी अपेक्षा सत्य अर्थ कुछ और भी हो सकेगा या नहीं वे)

समझना चाहिये कि बाह्यसृष्टि का दृश्य नामरूप अमत्य अर्थात् विनाशवान् है। नामरूपात्मक बाह्य दृश्य मिथ्या भले रहे पर उससे इस सिद्धान्त में रत्ती भर भी आँच नहीं लगती कि उस बाह्यसृष्टि के मूल में कुछ-न-कुछ इन्द्रियातीत सत्यवस्तु है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में जिस प्रकार यह सिद्धान्त किया है कि देहेन्द्रिय आदि विनाशवान् नामरूपों के मूल में कोई नित्य आत्मतत्त्व है उसी प्रकार कहना पड़ता है कि नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि के मूल में भी कुछ न-कुछ नित्य आत्मतत्त्व है। अतएव वेदान्तशास्त्र ने निश्चित किया है कि देहेन्द्रियों और बाह्यसृष्टि के नित्यभिन्न दिखनेवाले अर्थात मिथ्या दृश्यों के मूल में – दोनों ही ओर – कोई नित्य अर्थात् सत्य द्रव्य छिपा हुआ है। इसके आगे अब प्रश्न होता है कि दोनों ओर जो ये नित्य तत्त्व हैं वे अलग अलग हैं या एकरूपी हैं? परन्तु इसका विचार फिर करेंगे। इस मत पर कोई कोई इसकी अर्वाचीनता के सम्बन्ध में जो आक्षेप हुआ करता है उसीका थोड़ा-सा विचार करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि बौद्धों का विज्ञानवाद यदि वेदान्तशास्त्र को सम्मत नहीं है, तो श्रीशंकराचार्य के मायावाद का भी प्राचीन उपनिषदों मे वर्णन नहीं है इसलिये उसे भी वेदान्तशास्त्र का मूलभाग नहीं मान सकते। श्रीशंकराचार्य का मत – कि जिसे मायावाद कहते हैं – यह है कि बाह्यसृष्टि का आँखों से दीख पड़नेवाला नामरूपात्मक स्वरूप मिथ्या है। उसके मूल मे जो अव्यय और नित्यद्रव्य है वही सत्य है। परन्तु उपनिषदों का मन लगा कर अध्ययन करने से कोई भी सहज ही जान जायेगा कि यह आक्षेप निराधार है। यह पहले ही बतला चुके हैं कि 'सत्य' शब्द का उपयोग साधारण व्यवहार में आँखों से प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाली वस्तु के लिये किया जाता है। अतः 'सत्य' शब्द के इसी प्रचलित अर्थ को ले कर उपनिषदों में कुछ स्थानों पर आँखों से दीख पड़नेवाले नामरूपात्मक बाह्य पदार्थों को 'सत्य' और इन नामरूपों से आच्छादित द्रव्य को 'अमृत' नाम दिया गया है। उदाहरण लीजिये। बृहदारण्यक उपनिषद् (१ ६ ३) में "तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं" – वह अमृत सत्य से आच्छादित है – कह कर फिर अमृत और सत्य शब्दों की यह व्याख्या की है कि "प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः" अर्थात् प्राण अमृत है और नामरूप सत्य है। एवं इस नामरूप सत्य से प्राण ढँका हुआ है। यहाँ प्राण का अर्थ प्राणस्वरूपी परब्रह्म है। इससे प्रकट है कि आगे के उपनिषदों में जिसे 'मिथ्या' और 'सत्य' कहा है पहले उसी के नाम क्रम से 'सत्य' और 'अमृत' थे। अनेक स्थानों पर इसी अमृत को "सत्यस्य सत्यं" – आँखों से दीख पड़नेवाले सत्य के भीतर का अन्तिम सत्य (बृ. २ १ २०) – कहा है। किन्तु उक्त आक्षेप इतने ही से सिद्ध नहीं हो जाता कि उपनिषदों में कुछ स्थानों पर आँखों से दीख पड़नेवाली सृष्टि को ही सत्य कहा है। क्योंकि बृहदारण्यक में ही अन्त में यह सिद्धान्त किया है कि आत्मरूप परब्रह्म को छोड़ और सब 'आर्तम्' अर्थात् विनाशवान् है (बृ. ३

७.२१)। जब पहले पहल जगत् के मूलतत्त्व की खोज होने लगी, तब खोजक लोग आँखों से दीख पड़नेवाले जगत् को पहले से ही सत्य मान कर ढूँढ़ने लगे, कि उसके पेट में और कौन-सा सूक्ष्म सत्य छिपा हुआ है। किन्तु फिर ज्ञात हुआ, कि जिस दृश्य सृष्टि के रूप को हम सत्य मानते हैं, वह तो असल में विनाशवान् है और उसके भीतर कोई अविनाशी या अमृत तत्त्व मौजूद है। दोनों के बीच के इस भेद को जैसे जैसे अधिक व्यक्त करने की आवश्यकता होने लगी, वैसे वैसे 'सत्य और अमृत' शब्दों के स्थान में 'अविद्या और विद्या', एवं अन्त में 'माया और सत्य' अथवा 'मिथ्या और सत्य' इन पारिभाषिक शब्दों का प्रचार होता गया। क्योंकि 'सत्य' का धात्वर्थ 'सदैव रहनेवाला' है। इस कारण नित्य बदलनेवाले और नाशवान् नामरूप को सत्य कहना उत्तरोत्तर और भी अनुचित जँचने लगा। परन्तु इस रीति से 'माया अथवा मिथ्या' शब्दों का प्रचार पीछे भले ही हुआ हो; तो भी ये विचार बहुत पुराने जमाने से चले आ रहे हैं, कि जगत् की वस्तुओं का वह दृश्य, जो नजर से दीख पड़ता है, विनाशी और असत्य है। एवं उसका आधारभूत 'तात्त्विक द्रव्य' ही सत् या सत्य है। प्रत्यक्ष ऋग्वेद में भी कहा है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (१.१६४.४६ और १०.११४.५) – मूल में जो एक और नित्य (सत्) है, उसी को विप्र (ज्ञाता) भिन्न भिन्न नाम देते हैं – अर्थात् एक ही सत्य वस्तु नामरूप से भिन्न भिन्न दीख पड़ती है। 'एक रूप अनेक रूप' दिखलाने के अर्थ में यह 'माया' शब्द ऋग्वेद में भी प्रयुक्त है और वहाँ यह वर्णन है कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' – इन्द्र अपनी माया से अनेक रूप धारण करता है (ऋ. ६.४७.१८)। तैत्तिरीय संहिता (१.२.११) में एक स्थान पर 'माया' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है और श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस 'माया' शब्द का नामरूप के लिये उपयोग हुआ है। जो हो; नामरूप के लिये 'माया' शब्द के प्रयोग किये जाने की रीति श्वेताश्वतर उपनिषद् के समय में भले ही चल निकली हो; पर इतना तो निर्विवाद है, कि नामरूप के अनित्य अथवा असत्य होने की कल्पना इससे पहले की है। 'माया' शब्द का विपरीत अर्थ करके श्रीशंकराचार्य ने यह कल्पना नई नहीं चला दी है। नामरूपात्मक सृष्टि के स्वरूप को जो श्रीशंकराचार्य के समान बेधड़क 'मिथ्या' कह देने की हिम्मत न कर सकें, अथवा जैसा गीता में भगवान ने उसी अर्थ में 'माया' शब्द का उपयोग किया है, वैसा करने में जो हिचकते हों, वे चाहें तो खुशी से बृहदारण्यक उपनिषद् के 'सत्य' और 'अमृत' शब्दों का उपयोग करें। कुछ भी क्यों न कहा जावे, पर इस सिद्धान्त में जरा भी बाधा नहीं लगती कि नामरूप 'विनाशवान्' है और जो तत्त्व उसमें आच्छादित है वह अमृत या अविनाशी है। एवं यह भेद प्राचीन वैदिक काल से चला आ रहा है।

अपने आत्मा को नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि के सारे पदार्थों का ज्ञान होने के लिये 'कुछ-न-कुछ' एक ऐसा नित्य मूल द्रव्य होना चाहिये कि जो आत्मा का

नारद ने कहा, कि "मैंने इतिहास-पुराणरूपी पाँचवें वेदसहित ऋग्वेद प्रभृति समग्र वेद, व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र, कालशास्त्र, सभी वेदांग, धर्मशास्त्र, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, और सर्पदेवजनविद्या प्रभृति सब कुछ पढ़ा है। परन्तु जब इससे आत्मज्ञान नहीं हुआ, तब अब तुम्हारे यहाँ आया हूँ।" इसके सनत्कुमार ने यह उत्तर दिया, कि "तूने जो कुछ सीखा है, वह तो सारा नामरूपात्मक है। सच्चा ब्रह्म इस नामब्रह्म से बहुत आगे है"; और फिर नारद को क्रमशः इस प्रकार पहचान करा दी, कि इस नामरूप से अर्थात् सांख्यों की अव्यक्त प्रकृति से अथवा वाणी, आशा, संकल्प, मन, बुद्धि (ज्ञान) और प्राण से भी परे एवं उनसे बढ़-चढ़ कर जो है, वही परमात्मरूपी अमृततत्त्व है।

यहाँ तक जो विवेचन किया गया, उसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मनुष्य की इन्द्रियों को नामरूप के अतिरिक्त और किसी का भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, तो भी इस अनित्य नामरूप के आच्छादन से ढँका हुआ लेकिन आँखों से न दीख पड़नेवाला अर्थात् कुछ-न-कुछ अव्यक्त नित्य द्रव्य रहना ही चाहिये, और इसी कारण सारी सृष्टि का ज्ञान हमें एकता से होता रहता है। जो कुछ ज्ञान होता है सो आत्मा को ही होता है। इस लिये आत्मा ही ज्ञाता यानी जाननेवाला हुआ। और इस ज्ञाता को नामरूपात्मक सृष्टि का ही ज्ञान होता है। अतः नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि ज्ञान हुई (म. भा. शां. २ ६ ४) और इस नामरूपात्मक सृष्टि के मूल में जो कुछ वस्तुतत्त्व है वही ज्ञेय है। इसी वर्गीकरण को मान कर भगवद्गीता ने ज्ञाता को क्षेत्रज्ञ आत्मा और ज्ञेय को इन्द्रियातीत नित्य परब्रह्म कहा है (गी. १३. १२–१७)। और फिर आगे ज्ञान के तीन भेद करके कहा है कि भिन्नता या नानात्व से जो सृष्टि-ज्ञान होता है तथा इस नानात्व का जो ज्ञान एकत्वरूप से होता है वह सात्त्विक ज्ञान है (गी. १८. २०–२१)। इस पर कुछ लोग कहते हैं कि इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का तीसरा भेद करना ठीक नहीं है। एवं यह मानने के लिये हमारे पास कुछ भी प्रमाण नहीं है कि हमें जो कुछ ज्ञान होता है उसकी अपेक्षा जगत् में और भी कुछ है। गाय, घोड़े प्रभृति जो बाह्य वस्तुएँ हमें दीख पड़ती हैं वह तो ज्ञान ही है जो कि हमें होता है। और यद्यपि यह ज्ञान सत्य है तो भी यह बतलाने के लिये (कि यह ज्ञान है काहे का) हमारे पास ज्ञान को छोड़ और कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि इस ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ के नाम से कुछ स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं अथवा इन बाह्य वस्तुओं के मूल में और कोई स्वतन्त्र है। क्योंकि जब ज्ञाता ही न रहा तब जगत् कहाँ से रहे? इस दृष्टि से विचार करने पर उक्त तीसरे वर्गीकरण में – अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में – ज्ञेय नहीं रह पाता। ज्ञाता और उसको होनेवाला ज्ञान यही दो बच जाते हैं और इसी युक्ति को और ज़रा-सा आगे ले चलें तो 'ज्ञाता' या 'द्रष्टा' भी तो एक प्रकार का ज्ञान ही है। इसलिये अन्त में ज्ञान के सिवा दूसरी

वस्तु ही नहीं रहती। इसी को 'विज्ञानवाद' कहते हैं; और योगाचार पन्थ के बौद्धों ने इसे ही प्रमाण माना है। इस पन्थ के विद्वानों ने प्रतिपादन किया है, कि ज्ञाता के ज्ञान के अतिरिक्त इस जगत् में और कुछ भी स्वतन्त्र नहीं है। और तो क्या ? दुनिया ही नहीं है। जो कुछ है, मनुष्य का ज्ञान ही ज्ञान है। अर्वाचीन पश्चिमी में भी ह्यूम जैसे पण्डित इस ढँग के मत के पुरस्कर्ता हैं। परन्तु वेदान्तियों को यह मत मान्य नहीं है। वेदान्तसूत्रों (२.२.२८–३२) में आचार्य बादरायण ने और इन्हीं सूत्रों के भाष्य में श्रीमच्छङ्कराचार्य ने इस मत का खण्डन किया है। यह कुछ झूठ नहीं, कि मनुष्य के मन पर जो संस्कार होते हैं अन्त में वे ही उसे विदित रहते हैं और इसी को हम ज्ञान कहते हैं। परन्तु अब प्रश्न होता है, कि यदि इस ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो 'गाय'-सम्बन्धी ज्ञान जुदा है 'घोड़ा'-सम्बन्धी ज्ञान जुदा है और मैं विषयक ज्ञान जुदा है – इस प्रकार ज्ञान ज्ञान में ही जो भिन्नता हमारी बुद्धि को जँचती है उसका कारण क्या है ? माना कि, ज्ञान होने की मानसिक क्रिया सर्वत्र एक ही है। परन्तु यदि कहा जाय कि इसके सिवा और कुछ है ही नहीं तो गाय घोड़ा इत्यादि भिन्न भिन्न भेद आ गये कहाँ से ? यदि कोई कहे कि स्वप्न की सृष्टि के समान मन आप ही अपनी मर्जी से ज्ञान के ये भेद बनाया करता है तो स्वप्न की सृष्टि के पृथक् जाग्रत अवस्था के ज्ञान में जो एक प्रकार का ठीक ठीक सिलसिला मिलता है उसका कारण बतलाते नहीं बनता (वे. सू. शां. भा. २. २. [illegible] १ २. ४)। अच्छा यदि कहें कि ज्ञान को छोड़ दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है; और 'द्रष्टा' का मन ही सारे भिन्न भिन्न पदार्थों का निर्मित करता है तो प्रत्येक द्रष्टा को 'अहंपूर्वक' यह सारा ज्ञान होना चाहिये कि मेरा मन यानी मैं ही खम्भा हूँ अथवा मैं ही गाय हूँ। परन्तु ऐसा होता कहाँ है ? इसी से शंकराचार्य ने सिद्धान्त किया है कि जब सभी को यह प्रतीति होती है कि मैं अलग हूँ और मुझ से खम्भा और गाय प्रभृति पदार्थ भी अलग हैं तब द्रष्टा के मन में समूचा ज्ञान होने के लिए इस आधारभूत बाह्य सृष्टि में कुछ-न कुछ स्वतन्त्र वस्तुएँ अवश्य होनी चाहिये (वे. सू. शां. भा. [illegible])। कान्ट का मत भी इसी प्रकार का है। उसने स्पष्ट कह दिया है कि सृष्टि का ज्ञान होने के लिये यद्यपि मनुष्य की बुद्धि का एकीकरण आवश्यक है तथापि बुद्धि इस ज्ञान को सर्वथा अपनी ही ओर से – अर्थात् निराधार या [illegible] [illegible] इस सृष्टि की [illegible] वस्तुओं की [illegible] [illegible] प्रश्न [illegible] [illegible] शंकराचार्य [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रश्न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उनका [illegible] [illegible]

समझना चाहिये कि बाह्यसृष्टि का दृश्य नामरूप असत्य अर्थात् विनाशवान् है। नामरूपात्मक बाह्य दृश्य मिथ्या बना रहे पर उससे इस सिद्धान्त में रत्ती भर भी आँच नहीं लगती कि उस बाह्यसृष्टि के मूल में कुछ-न-कुछ इन्द्रियातीत सत्यवस्तु है। देहेन्द्रिय-विचार में जिस प्रकार यह सिद्धान्त किया है कि देहेन्द्रिय आदि विनाशवान् नामरूपों के मूल में कोई नित्य आत्मतत्त्व है उसी प्रकार कहना पड़ता है कि नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि के मूल में भी कुछ न कुछ नित्य आत्मतत्त्व है। अतएव वेदान्तशास्त्र ने निश्चित किया है कि देहेन्द्रियों और बाह्यसृष्टि के निशिदिन बदलनेवाले अर्थात् मिथ्या दृश्यों के मूल में – दोनों ही ओर – कोई नित्य अर्थात् सत्य द्रव्य छिपा हुआ है। इसके आगे अब प्रश्न होता है कि दोनों ओर जो ये नित्य तत्त्व हैं वे अलग अलग हैं या एकरूपी हैं? परन्तु इसका विचार फिर करेंगे। इस मत पर मीमांसकों ने इसकी अर्वाचीनता के सम्बन्ध में जो आक्षेप हुआ करता है उसीका थोड़ा-सा विचार करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि बौद्धों का विज्ञानवाद यदि वेदान्तशास्त्र को सम्मत नहीं है तो श्रीशंकराचार्य के मायावाद का भी प्राचीन उपनिषदों में वर्णन नहीं है, इसलिये उसे भी वेदान्तशास्त्र का मूलभाग नहीं मान सकते। श्रीशंकराचार्य का मत – कि जिसे मायावाद कहते हैं – यह है कि बाह्यसृष्टि का आँखों से दीख पड़नेवाला नामरूपात्मक स्वरूप मिथ्या है। उसके मूल में जो अव्यय और नित्यद्रव्य है, वही सत्य है। परन्तु उपनिषदों का मन लगा कर अध्ययन करने से कोई भी सहज ही जान जावेगा कि यह आक्षेप निराधार है। यह पहले ही बतला चुके हैं कि 'सत्य' शब्द का उपयोग साधारण व्यवहार में आँखों से प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाली वस्तु के लिये किया जाता है। अत 'सत्य' शब्द के इसी प्रचलित अर्थ को ले कर उपनिषदों में कुछ स्थानों पर आँखों से दीख पड़नेवाले नामरूपात्मक बाह्य पदार्थों को 'सत्य' और इन नामरूपों से आच्छादित द्रव्य को 'अमृत' नाम दिया गया है। उदाहरण लीजिये। बृहदारण्यक उपनिषद् (१ ६ ३) में "तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नम्" – वह अमृत सत्य से आच्छादित है – कह कर फिर अमृत और सत्य शब्दों की यह व्याख्या की है कि "प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः" अर्थात् प्राण अमृत है और नामरूप सत्य है। एवं इस नामरूप सत्य से प्राण ढँका हुआ है। यहाँ प्राण का अर्थ प्राणस्वरूपी परब्रह्म है। इससे प्रकट है कि आगे के उपनिषदों में जिसे 'मिथ्या' और 'सत्य' कहा है पहले इसी के नाम क्रम से 'सत्य' और 'अमृत' थे। अनेक स्थानों पर इसी अमृत को "सत्यस्य सत्यं" – आँखों से दीख पड़नेवाले सत्य के भीतर का अन्तिम सत्य (बृ. ३ ६) – कहा है। किन्तु उक्त आक्षेप इतने ही से सिद्ध नहीं हो जाता कि उपनिषदों में कुछ स्थानों पर आँखों से दीख पड़नेवाली सृष्टि को ही सत्य कहा है। क्योंकि बृहदारण्यक में ही अन्त में यह सिद्धान्त किया है कि आत्मरूप परब्रह्म को छोड़ और सब 'आर्तम्' अर्थात् विनाशवान् है (बृ. ३

आधारभूत हो, और उसीके मेल का हो। एवं नामरूपों के नाना पदार्थों की जड़ में वर्तमान रहता हो; नहीं तो यह ज्ञान ही न होगा। किन्तु इतना ही निश्चय कर देने से अध्यात्मशास्त्र का काम समाप्त नहीं हो जाता। नामरूपों के मूल में वर्तमान इस नित्य द्रव्य को ही वेदान्ती लोग 'ब्रह्म' कहते हैं; और अब हो सके तो इस ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करना भी आवश्यक है। सारे नामरूपात्मक पदार्थों के मूल में वर्तमान यह नित्य तत्त्व है अव्यक्त। इसलिये प्रकट ही है, कि इसका स्वरूप नामरूपात्मक पदार्थों के समान व्यक्त और स्थूल (जड़) नहीं रह सकता। परन्तु यदि व्यक्त और स्थूल पदार्थों को छोड़ दें, तो मन, स्मृति, वासना, प्राण और ज्ञान प्रभृति बहुत से ऐसे अव्यक्त पदार्थ हैं, कि जो स्थूल नहीं हैं। एवं यह असम्भव नहीं, कि परब्रह्म इनमें से किसी भी एक आध के स्वरूप का हो। कुछ लोग कहते हैं, कि प्राण का और परब्रह्म का स्वरूप एक ही है। जर्मन पण्डित शोपेनहर ने परब्रह्म को वासनात्मक निश्चित किया है; और वासना मन का धर्म है। अतः इस मत के अनुसार ब्रह्म मनोमय ही कहा जावेगा (तै. ३. ४)। परन्तु, अब तक जो विवेचन हुआ है उससे तो यही कहा जावेगा कि – 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ. ३. ३) अथवा 'विज्ञानं ब्रह्म' (तै. ३. ५) – जगत् के नानात्व का जो ज्ञान एकत्वरूप से हमें ज्ञात होता है, वही ब्रह्म का स्वरूप होगा। हेकेल का सिद्धान्त इसी ढंग का है। परन्तु उपनिषदों में चिद्रूपी ज्ञान के साथ सत् (अर्थात् जगत् की सारी वस्तुओं के अस्तित्व के सामान्य धर्म या सत्तासमानता) का और आनन्द का भी ब्रह्मस्वरूप में ही अन्तर्भाव करके ब्रह्म को सच्चिदानन्दरूपी माना है। इसके अतिरिक्त दूसरा ब्रह्मस्वरूप कहना हो, तो वह ॐकार है। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है :– पहले समस्त अनादि ॐकार से उपजे हैं; और वेदों के निकल चुकने पर उनके नित्य शब्दों से ही सब कर ब्रह्मा ने जब सारी सृष्टि का निर्माण किया है (गी. १७. २३; म. भा. शां. २३१. ५६–५८), तब मूल आरम्भ में ॐकार को छोड़ और कुछ न था। इससे सिद्ध होता है कि ॐकार ही सच्चा ब्रह्मस्वरूप है (माण्डूक्य १; तैत्ति. १. ८)। परन्तु केवल अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय, तो परब्रह्म के ये सभी स्वरूप थोड़ेबहुत नामरूपात्मक ही हैं। क्योंकि इन सभी स्वरूपों को मनुष्य अपनी इन्द्रियों से जान सकता है; और मनुष्य को इस रीति से जो कुछ ज्ञात हुआ करता है, वह नामरूप की ही श्रेणी में है। फिर इस नामरूप के मूल में जो अनादि भीतरबाहर सर्वत्र एक-सा भरा हुआ, एक ही नित्य और अमृत तत्त्व है (गी. १३. १२–१७), उसके वास्तविक स्वरूप का निर्णय ही तो क्योंकर हो? कितने ही अध्यात्मशास्त्री पण्डित कहते हैं कि कुछ भी हो; यह तत्त्व हमारी इन्द्रियों को अज्ञेय ही रहेगा, और कान्ट ने तो इस प्रश्न पर विचार करना ही छोड़ दिया है। इसी प्रकार उपनिषदों में भी परब्रह्म के अज्ञेय स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है 'नेति नेति' – अर्थात् वह नहीं है, कि जिसके विषय में कुछ कहा जा सकता है, ब्रह्म इससे परे है;

वह आँखों से भी नहीं दिखता, वह वाणी का और मन को भी अगोचर है – 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' फिर भी अध्यात्मशास्त्र ने निश्चय किया है कि इस अगम्य स्थिति में भी मनुष्य अपनी बुद्धि से ब्रह्म के स्वरूप का एक प्रकार से निर्णय कर सकता है। ऊपर जो वासना, स्मृति, धृति, आशा, प्राण और ज्ञान प्रभृति अव्यक्त पदार्थ बतलाये गये हैं, उनमें से जो सब से अतिशय व्यापक अथवा सब से श्रेष्ठ निर्णित हो, उसी को परब्रह्म का स्वरूप मानना चाहिये। क्योंकि यह तो निर्विवाद ही है कि सब अव्यक्त पदार्थों में परब्रह्म श्रेष्ठ है। अब इस दृष्टि से आशा, स्मृति, वासना और धृति आदि का विचार करें, तो ये सब मन के धर्म हैं। अतएव इनकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ हुआ। मन से ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञान है बुद्धि का धर्म। अतः ज्ञान से बुद्धि श्रेष्ठ हुई। और अन्त में यह बुद्धि भी जिसकी नौकर है, वह आत्मा ही सब से श्रेष्ठ है (गी. ३. ४२)। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-प्रकरण में इसका विचार किया गया है। अब वासना और मन आदि अव्यक्त पदार्थों से यदि आत्मा श्रेष्ठ है, तो आप ही सिद्ध हो गया कि परब्रह्म का स्वरूप भी वही आत्मा होगा। छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय में इसी युक्ति से काम लिया गया है। और सनत्कुमार ने नारद से कहा है कि वाणी की अपेक्षा मन अधिक योग्यता का (भूयस्) है। मन से ज्ञान, ज्ञान से बल और इसी प्रकार बढ़ते बढ़ते जब कि आत्मा सब से श्रेष्ठ (भूमन्) है, तब आत्मा ही को परब्रह्म का सच्चा स्वरूप कहना चाहिये। अंग्रेज ग्रन्थकारों में ग्रीन ने इसी सिद्धान्त को माना है; किन्तु उसकी युक्तियाँ कुछ कुछ भिन्न हैं। इसलिये यहाँ उन्हें संक्षेप से वेदान्त की परिभाषा में बतलाते हैं। ग्रीन कहता है, कि हमारे मन पर इन्द्रियों के द्वारा बाह्य नामरूप के जो संस्कार हुआ करते हैं, उनके एकीकरण से आत्मा को ज्ञान होता है। उस ज्ञान के मेल के लिये बाह्यसृष्टि के भिन्न भिन्न नामरूपों के मूल में भी एकता से रहनेवाली कोई न कोई वस्तु होनी चाहिये। नहीं तो आत्मा के एकीकरण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वकपोलकल्पित और निराधार हो कर विज्ञानवाद के समान असत्य प्रामाणिक हो जायगा। इस 'कोई न कोई' वस्तु को हम ब्रह्म कहते हैं। भेद इतना ही है कि कान्ट की परिभाषा को मान कर ग्रीन उसको वस्तुतत्त्व कहता है। कुछ भी कहो; अन्त में वस्तुतत्त्व (ब्रह्म) और आत्मा ये ही दो पदार्थ रह जाते हैं कि जो परस्पर के मेल के हैं। इन में से आत्मा मन और बुद्धि से परे अर्थात् इन्द्रियातीत है। तथापि अपने विश्वास के प्रमाण पर हम माना करते हैं कि आत्मा जड़ नहीं है। वह या तो चिद्रूपी है या चैतन्यरूपी है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का निश्चय करके देखना है कि बाह्यसृष्टि के ब्रह्म का स्वरूप क्या है। इस विषय में यहाँ दो ही प्रश्न हो सकते हैं, यह ब्रह्म या वस्तुतत्त्व (१) आत्मा के स्वरूप का होगा या (२) आत्मा से भिन्न स्वरूप का? क्योंकि, ब्रह्म और आत्मा के सिवा अब तीसरी वस्तु ही नहीं रह जाती। परन्तु सभी का अनुभव यह है कि यदि कोई भी दो

पदार्थ स्वरूप से भिन्न हों तो उनके परिणाम अथवा कार्य भी भिन्न भिन्न होने चाहिये। अतएव हमलोग पदार्थों के भिन्न अथवा एकरूप होने का निश्चय उन पदार्थों के परिणामों से ही किसी भी शास्त्र में किया करते हैं। एक उदाहरण लीजिये, दो वृक्षों के फल, फूल, पत्ते, छिलके और जड़ को देख कर हम निश्चय करते हैं कि वे दोनों अलग अलग हैं या एक ही हैं। यदि इसी रीति का अवलम्बन करके यहाँ विचार करें, तो दीख पड़ता है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही स्वरूप के होंगे। क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि सृष्टि के भिन्न भिन्न पदार्थों के जो संस्कार मन पर होते हैं उनका आत्मा की क्रिया से एकीकरण होता है। इस एकीकरण के साथ उस एकीकरण का मेल होना चाहिये कि जिसे भिन्न भिन्न बाह्य पदार्थों के मूल में रहनेवाला वस्तुतत्त्व अर्थात् ब्रह्म इन पदार्थों की अनेकता को मिटा कर निष्पन्न करता है। यदि इस प्रकार इन दोनों में मेल न होगा तो समूचा ज्ञान निराधार और असत्य हो जावेगा। एक ही नमूने के और बिलकुल एक दूसरे की जोड़ के एकीकरण करनेवाले ये तत्त्व दो स्थानों पर भले ही हों, परन्तु वे परस्पर भिन्न भिन्न नहीं रह सकते। अतएव यह आप ही सिद्ध होता है कि इनमें से आत्मा का जो रूप होगा, वही रूप ब्रह्म का भी होना चाहिये।* सारांश, किसी भी रीति से विचार क्यों न किया जाय, सिद्ध यही होगा कि बाह्यसृष्टि के नाम और रूप से आच्छादित ब्रह्मतत्त्व, नामरूपात्मक प्रकृति के समान जड़ तो है ही नहीं; किन्तु वासनात्मक ब्रह्म, मनोमय ब्रह्म, ज्ञानमय ब्रह्म, प्राणब्रह्म अथवा ओंकाररूपी शब्दब्रह्म – ये ब्रह्म के रूप भी निम्न श्रेणी के हैं; और ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप इनसे परे है, एवं इनसे अधिक योग्यता का अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपी है। और इस विषय का गीता में अनेक स्थानों पर जो उल्लेख है, उससे स्पष्ट होता है कि गीता का सिद्धान्त भी यही है (देखो गी. २. २०; ७. ५; ८. ४; १३. ३१; १५. ७, ८)। फिर भी यह न समझ लेना चाहिये कि ब्रह्म और आत्मा के एकस्वरूप रहने के सिद्धान्त को हमारे ऋषियों ने ऐसी युक्ति प्रयुक्तियों से ही पहले खोजा था। इसका कारण इसी प्रकरण के आरम्भ में बतला चुके हैं कि अध्यात्मशास्त्र में अकेली बुद्धि की ही सहायता से कोई भी एक ही अनुमान निश्चित नहीं किया जाता है। उसे सदैव आत्मप्रतीति का सहारा चाहिये। उसके अतिरिक्त सदा देखा जाता है कि आधिभौतिक शास्त्र में भी अनुभव पहले होता है; और उसकी उपपत्ति या तो पीछे से मालूम हो जाती है या ढूँढ़ ली जाती है। इसी न्याय से उक्त ब्रह्मात्मैक्य की बुद्धिगम्य उपपत्ति निकलने के सैकड़ों वर्ष पहले हमारे प्राचीन ऋषियों ने निर्णय कर दिया था कि "नेह नानाऽस्ति किंचन" (बृ. ४. ४. १९; कठ. ४. ११) – सृष्टि में दीख पड़नेवाली अनेकता सच नहीं है। उसके मूल में चारों ओर एक ही

---

* Green's *Prolegomena to Ethics* pp. 26-36

अमृत अव्यय और नित्य तत्त्व है (गी. १८.)। और फिर उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह सिद्धान्त ढूँढ निकाला, कि बाह्यसृष्टि के नामरूप से आच्छादित अविनाशी तत्त्व और अपने शरीर का वह आत्मतत्त्व – कि जो बुद्धि से परे है – ये दोनों एक ही अमर और अव्यय हैं अथवा जो तत्त्व ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में यानी मनुष्य की देह में वास करता है। एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को गार्गी-वारुणि प्रभृति को और जनक को (बृ. ३. ५–८. ४. २–४) पूरे वेदान्त का यही रहस्य बतलाया है। इसी उपनिषद् में पहले कहा गया है कि जिसने जान लिया कि 'अहं ब्रह्मास्मि' – मैं ही परब्रह्म हूँ – उसने सब कुछ जान लिया (बृ. १. ४. १०) और छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में श्वेतकेतु को उसके पिता ने अद्वैत वेदान्त का यही तत्त्व अनेक रीतियों से समझा दिया है। जब अध्याय के आरम्भ में श्वेतकेतु ने अपने पिता से पूछा कि "जिस प्रकार मिट्टी के एक गोले का भेद जान लेने से मिट्टी के नामरूपात्मक सभी विकार जाने जाते हैं उसी प्रकार जिस एक ही वस्तु का ज्ञान हो जाने से सब कुछ समझ में आ जावे। वही एक वस्तु मुझे बतलाओ मुझे उसका ज्ञान नहीं।" तब पिता ने नदी समुद्र पानी और नमक प्रभृति अनेक दृष्टान्त देकर समझाया कि बाह्यसृष्टि के मूल में जो द्रव्य है वह (तत्) और तू (त्वम्) अर्थात् तेरी देह की आत्मा दोनों एक ही हैं – 'तत्त्वमसि' एवं ज्योंही तूने अपने आत्मा को पहचाना त्योंही तुझे आप ही मालूम हो जावेगा कि समस्त जगत् के मूल में क्या है। इस प्रकार पिता ने श्वेतकेतु को भिन्न भिन्न नौ दृष्टान्तों से उपदेश किया है और प्रति बार 'तत्त्वमसि' – वही तू है – इस सूत्र की पुनरावृत्ति की है (छां. ६. ८–१६)। यह 'तत्त्वमसि' अद्वैत वेदान्त के महावाक्यों में मुख्य वाक्य है।

इस प्रकार निर्णय हो गया कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है। परन्तु आत्मा चिद्रूपी है। इसलिये सम्भव है कि कुछ लोग ब्रह्म को भी चिद्रूपी समझें। अतएव यहाँ ब्रह्म के और उसके साथ ही साथ आत्मा के सच्चे स्वरूप का थोड़ा-सा खुलासा कर देना आवश्यक है। आत्मा के सान्निध्य से जड़ात्मक बुद्धि में उत्पन्न होनेवाले धर्म को चित् अर्थात् ज्ञान कहते हैं। परन्तु जब कि बुद्धि के इस धर्म को आत्मा पर लादना उचित नहीं है तब तात्त्विक दृष्टि से आत्मा के मूलस्वरूप को भी निर्गुण और अज्ञेय ही मानना चाहिये। अतएव कई-एकों का मत है कि यदि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है तो इन दोनों को या इनमें से किसी भी एक को चिद्रूपी कहना कुछ अंशों में गौण ही है। यह आक्षेप अकेले चिद्रूपी पर ही नहीं है। किन्तु यह आप-ही आप सिद्ध होता है कि परब्रह्म के लिये 'सत्' विशेषण का प्रयोग करना उचित नहीं है। क्योंकि सत् और असत् ये दोनों धर्म परस्परविरुद्ध और सदैव परस्पर सापेक्ष हैं। अर्थात् भिन्न भिन्न दो वस्तुओं का निर्देश करने के लिये कहे जाते हैं। जिसने कभी उजेला न देखा हो वह अँधेरे की कल्पना नहीं कर सकता। यही नहीं;

किन्तु 'उजेला' और अँधेरा इन शब्दों की यह जोड़ी ही उसको सूझ न पड़ेगी। सत् और असत् शब्दों की जोड़ी (द्वन्द्व) के लिये यही न्याय उपयोगी है। जब हम देखते हैं कि कुछ वस्तुओं का नाश होता है तब हम सब वस्तुओं के असत् (नाश होनेवाली) और सत् (नाश न होनेवाली), ये दो भेद करने लगते हैं अथवा सत् और असत् शब्द सूझ पड़ने के लिये मनुष्य की दृष्टि के आगे दो प्रकार के विरुद्ध धर्मों की आवश्यकता होती है। अच्छा यदि आरम्भ में एक ही वस्तु थी तो द्वैत के उत्पन्न होने पर दो वस्तुओं के उद्देश से जिन सापेक्ष सत् और असत् शब्दों का प्रचार हुआ है उनका प्रयोग इस मूलवस्तु के लिये कैसे किया जावेगा? क्योंकि, यदि इसे सत् कहते हैं, तो शंका होती है कि क्या उस समय उसकी जोड़ का कुछ असत् भी था? यही कारण है जो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१ १२९) में परब्रह्म कोई भी विशेषण न दे कर सृष्टि के मूलतत्त्व का वर्णन इस प्रकार किया है, कि जगत् के आरम्भ में न तो सत् था और न असत् ही था। जो कुछ था वह एक ही था। इन सत् और असत् शब्दों की जोड़ियाँ (अथवा द्वन्द्व) तो पीछे से निकली हैं और गीता (७ २८ २ ४५) में कहा है कि सत् और असत्, शीत और उष्ण द्वन्द्वों से जिसकी बुद्धि मुक्त हो जाय वह इन सब द्वन्द्वों से परे अर्थात् निर्द्वन्द्व ब्रह्मपद को पहुँच जाता है। इससे दीख पड़ेगा कि अध्यात्मशास्त्र के विचार कितने गहन और सूक्ष्म हैं। केवल तर्कदृष्टि से विचार करें, तो परब्रह्म का अथवा आत्मा का भी अज्ञेयत्व स्वीकार किये बिना गति ही नहीं रहती। परन्तु ब्रह्म इस प्रकार अज्ञेय और निर्गुण अतएव इन्द्रियातीत हो तो भी यह प्रतीति हो सकती है, कि परब्रह्म का भी वही स्वरूप है; जो कि हमारे निर्गुण तथा अनिर्वाच्य आत्मा का है और जिसे हम साक्षात्कार से पहचानते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आत्मा की साक्षात प्रतीति होती ही है। अतएव अब यह सिद्धान्त निरर्थक नहीं हो सकता कि ब्रह्म और आत्मा एकरूपी है। इस दृष्टि से देखें, तो ब्रह्मस्वरूप विषय में इससे अपेक्षा कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है। शेष बातों के सम्बन्ध में अपने अनुभव को ही पूरा प्रमाण मानना पड़ता है। किन्तु बुद्धिगम्य शास्त्रीय प्रतिपादन में जितना शब्दों से हो सकता है उतना खुलासा कर देना आवश्यक है। इसलिये यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र एक-सा व्याप्त अज्ञेय और अनिर्वाच्य है तो भी जड़सृष्टि का और आत्मस्वरूपी ब्रह्मतत्त्व का भेद व्यक्त करने के लिये आत्मा के सान्निध्य से जड़प्रकृति में चैतन्यरूपी जो गुण हमें दृग्गोचर होता है उसी को आत्मा का प्रधान लक्षण मान कर अध्यात्मशास्त्र में आत्मा और ब्रह्म दोनों को चिद्रूपी या चैतन्यस्वरूपी कहते हैं। क्योंकि यदि ऐसा न करें, तो आत्मा और ब्रह्म दोनों ही निर्गुण निरंजन एवं अनिर्वाच्य होने के कारण उनके रूप का वर्णन करने में या तो चुप्पी साध जाना पड़ता है या शब्दों में किसी ने कुछ वर्णन किया तो नहीं नहीं का यह मन्त्र रटना पड़ता है कि नेति नेति।

एतस्मादन्यत्परमस्ति।' – यह नहीं है, यह (ब्रह्म) नहीं है (यह तो नामरूप हो गया)। सच्चा ब्रह्म इससे परे और ही है। इस नकारात्मक पाठ का आवर्तन करने के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता (बृ. २. ३. ६)। यही कारण है, जो सामान्य रीति से ब्रह्म के स्वरूप के लक्षण चित् (ज्ञान), सत् (सत्तामात्रत्व अथवा अस्तित्व) और आनन्द बतलाये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये लक्षण अन्य सभी लक्षणों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। फिर भी स्मरण रहे, कि शब्दों से ब्रह्मस्वरूप की जितनी पहचान हो सकती है, उतनी करा देने के लिये ये लक्षण भी कहे गये हैं। वास्तविक ब्रह्मस्वरूप निर्गुण ही है। उसका ज्ञान होने के लिये उसका अपरोक्षानुभव ही होना चाहिये। यह अनुभव कैसे हो सकता है? – इन्द्रियातीत होने के कारण अनिर्वाच्य ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को कब और कैसे होता है? – इस विषय में हमारे शास्त्रकारों ने जो विवेचन किया है, उसे यहाँ संक्षेप में बतलाये हैं।

ब्रह्म और आत्मा की एकता के उक्त समीकरण को सरल भाषा में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं, कि 'जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है'। जब इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव हो जावे, तब यह भेदभाव नहीं रह सकता, कि ज्ञाता अर्थात् द्रष्टा भिन्न वस्तु है और ज्ञेय अर्थात् देखने की वस्तु अलग है। किन्तु इस विषय में शंका हो सकती है, कि मनुष्य जब तक जीवित है, तब तक उसकी नेत्र आदि इन्द्रियाँ यदि छूट नहीं जाती हैं, तो इन्द्रियाँ पृथक् हुईं और उनको गोचर होनेवाले विषय पृथक् हुए – यह भेद छूटेगा तो कैसे? और यदि यह भेद नहीं छूटता, तो ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव कैसे होगा? तब यदि इन्द्रियदृष्टि से ही विचार करें, तो यह शंका एकाएक अनुचित भी नहीं जान पड़ती। परन्तु हाँ, गम्भीर विचार करने लगें, तो जान पड़ेगा, कि इन्द्रियाँ बाह्य विषयों को देखने का काम कुछ मुख्तारी से – अपनी ही मर्जी से – नहीं किया करती हैं। पहले बतला दिया है, कि 'चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा' (म. भा. शां. ३११. १७) – किसी भी वस्तु को देखने के लिये (और सुनने आदि के लिये भी) नेत्रों को (ऐसे ही कान प्रभृति को भी) मन की सहायता आवश्यक है। यदि मन शून्य हो, किसी और विचार में डूबा हो, तो आँखों के आगे धरी हुई वस्तु भी नहीं सूझती? व्यवहार में होनेवाले इस अनुभव पर ध्यान देने से सहज ही अनुमान होता है, कि नेत्र आदि इन्द्रियों के अक्षुण्ण रहते हुए भी मन को यदि उनमें से निकाल लें, तो इन्द्रियों के द्वन्द्व बाह्यसृष्टि में वर्तमान होने पर भी अपने लिये न होने के समान रहेंगे। फिर परिणाम यह होगा, कि मन केवल आत्मा में अर्थात् आत्मस्वरूपी ब्रह्म में ही रत रहेगा। इससे हमें ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार होने लगेगा। ध्यान से, समाधि से, एकान्त उपासना से अथवा अत्यन्त ब्रह्मविचार करने से अन्त में यह मानसिक स्थिति जिसको प्राप्त हो जाती है, फिर उसकी नजर के आगे दृश्य सृष्टि के द्वन्द्व या भेद नाचते भले ही रहा करें, पर वह उनसे

लापरवाह है – उस न दीन्त ही नहीं पड़ता; और उसको अद्वैत ब्रह्मस्वरूप का आप-ही आप पूर्ण साक्षात्कार होता जाता है। पूर्ण ब्रह्मज्ञान के अन्त में परमावधि की जो यह स्थिति प्राप्त होती है उसमें ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान का तीसरा भेद अर्थात् त्रिपुटी नहीं रहती; अथवा उपास्य और उपासक का द्वैतभाव भी नहीं बचने पाता। अतएव यह अवस्था और किसी दूसरे को बतलाई नहीं जा सकती। क्योंकि ज्योंहि 'दूसरे' शब्द का उच्चारण किया त्योंही अवस्था बिगड़ी और फिर प्रकट ही है कि मनुष्य अद्वैत से द्वैत में आ जाता है। और तो क्या? यह कहना भी मुश्किल है, कि मुझे इस अवस्था का ज्ञान हो गया। क्योंकि 'मैं' कहते ही औरों से भिन्न होने की भावना मन में आ जाती है; और ब्रह्मात्मैक्य होने में यह भावना पूरी बाधक है। इसी कारण से याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यक (४.५.१५; ४.३.२७) में इस परमावधि की स्थिति का वर्णन यों किया है: 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति जिघ्रति शृणोति विजानाति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् जिघ्रेत् शृणुयात् विजानीयात्। विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। एतावदरे खल्वमृतत्वमिति।' इसका भावार्थ यह है कि "देखनेवाले (द्रष्टा) और देखने का पदार्थ जब तक बना हुआ था तब तक एक दूसरे को देखता था, सूँघता था, सुनता था और जानता था। परन्तु जब सभी आत्ममय हो गया (अर्थात् अपना और पराया भेद ही न रहा) तब कौन किसको देखेगा सूँघेगा सुनेगा और जानेगा? अरे! जो स्वयं ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है उसी को जाननेवाला और दूसरा कहाँ से लाओगे?" इस प्रकार सभी आत्मभूत या ब्रह्मभूत हो जाने पर वहाँ भीति शोक अथवा सुखदुःख आदि द्वन्द्व भी रह नहीं सकते हैं (ईश. ७)। क्योंकि, जिससे डरना है या जिसका शोक करना है वह तो अपने से – हम से – जुदा होना चाहिये और ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव हो जाने पर इस प्रकार की किसी भी भिन्नता को अवकाश ही नहीं मिलता। इसी दुःखशोकविरहित अवस्था को 'आनन्दमय' नाम दे कर तैत्तिरीय उपनिषद् (२.८; ३.६) में कहा है कि यही आनन्द ही ब्रह्म है। किन्तु यह वर्णन भी गौण ही है। क्योंकि आनन्द का अनुभव करनेवाला अब रह ही कहाँ जाता है? अतएव बृहदारण्यक उपनिषद् (४.३.३२) में कहा है कि लौकिक आनन्द की अपेक्षा आत्मानन्द कुछ विलक्षण होता है। ब्रह्म के वर्णन में 'आनन्द' शब्द आया करता है। उसकी गौणता पर ध्यान दे कर अन्य स्थानों में ब्रह्मवेत्ता पुरुष का अन्तिम वर्णन ('आनन्द' शब्द को बाहर निकालकर) इतना ही किया जाता है 'ब्रह्म भवति य एवं वेद' (बृ. ४.४.२५)। अथवा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३.२.९) – जिसने ब्रह्म को जान लिया वह ब्रह्म ही हो गया। उपनिषदों (बृ. २.४.१२; छां. ६.१३) में इस स्थिति के लिये यह दृष्टान्त दिया गया है कि नमक की डली जब पानी में घुल जाती है तब जिस प्रकार यह भेद नहीं रहता कि इतना भाग खारे

पानी का है और इतना भाग मामूली पानी का है – उसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान हो जाने पर सब ब्रह्ममय हो जाता है। किन्तु जगद्गुरु श्री तुकाराम महाराज ने (कि 'जिनकी कही नित्य वेदान्त वाणी') इस खारे पानी के दृष्टान्त के बदले गुड़ का यह मीठा दृष्टान्त * देकर अपने अनुभव का वर्णन किया है –

> गूँगे का गुड़ है भगवान्, बाहर भीतर एक समान।
> किसका ध्यान करूँ सविवेक? जल-तरंग से हैं हम एक॥

इसीलिये कहा जाता है कि परब्रह्म इन्द्रियों को अगोचर और मन को भी अगम्य होने पर भी स्वानुभवगम्य है; अर्थात् अपने अपने अनुभव से जाना जाता है। परब्रह्म की जिस अज्ञेयता का वर्णन किया जाता है वह ज्ञाता और ज्ञेय –वाली द्वैती स्थिति की है, और 'अद्वैत-साक्षात्कार'-वाली स्थिति नहीं। जब तक यह बुद्धि बनी है कि मैं अलग हूँ और दुनिया अलग है, तब तक कुछ भी क्यों न किया जाय, ब्रह्मात्मैक्य का पूरा ज्ञान होना सम्भव नहीं। किन्तु नदी यदि समुद्र को निगल नहीं सकती – उसको अपने में लीन नहीं कर सकती – तो जिस प्रकार समुद्र में गिर कर नदी तद्रूप हो जाती है, उसी प्रकार परब्रह्म में निमग्न होने से मनुष्य को उसका अनुभव हो जाया करता है; और उसकी परब्रह्म स्थिति हो जाती है कि 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' (गी. ६. २९) – सब प्राणी मुझ में हैं और मैं सब में हूँ। केन उपनिषद् में बड़ी खूबी के साथ परब्रह्म के स्वरूप का विरोधाभासात्मक वर्णन इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये किया गया है कि पूर्ण परब्रह्म का ज्ञान केवल अपने अनुभव पर ही निर्भर है। वह वर्णन इस प्रकार है: 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' (केन. २. ३) – जो कहते हैं कि हमें परब्रह्म का ज्ञान हो गया उन्हें उसका ज्ञान नहीं हुआ है; और जिन्हें ज्ञान ही नहीं पड़ता कि हमने उसको जान लिया, उन्हें ही वह ज्ञान हुआ है। क्योंकि, जब कोई कहता है कि मैंने परमेश्वर को जान लिया, तब उसके मन में यह द्वैतबुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि मैं (ज्ञाता) जुदा हूँ और मैंने जान लिया वह (ज्ञेय) ब्रह्म अलग है। अतएव उसका ब्रह्मात्मैक्यरूपी अद्वैती अनुभव उस समय उतना ही कच्चा और अपूर्ण होता है। फलतः उसी के मुँह से यही बात का निकलना ही सम्भव नहीं रहता कि मैंने उस (अर्थात् अपने से भिन्न और कुछ) जान लिया। अतएव इस स्थिति में अर्थात् जब कोई ज्ञानी पुरुष यह स्वानुभव से अनुभव होता है कि मैं ब्रह्म को जान गया, तब कहना पड़ता है कि उस ब्रह्म का ज्ञान हो गया। इस प्रकार द्वैत का बिल्कुल लोप हो कर परब्रह्म में ज्ञाता का अथवा रंग जाना, लय पा जाना, बिल्कुल चुप रहना अथवा एकजी हो जाना सामान्य रूप से दीख तो दुष्कर पड़ता है; परन्तु हमारे शास्त्रकारों ने अनुभव से निश्चय किया है कि एकाएक दुष्कर प्रतीत होनेवाली 'निर्वाण स्थिति' अभ्यास और वैराग्य से अन्त में मनुष्य को साध्य हो सकती है

'मैं'-पनरूपी द्वैतभाव इस स्थिति में डूब जाता है, नष्ट हो जाता है। अतएव कुछ लोग शंका किया करते हैं कि यह तो फिर आत्मनाश का ही एक तरीका है। किन्तु ज्योंही समझ में आया कि यद्यपि इस स्थिति का अनुभव करते समय इसका वर्णन करते नहीं बनता है, परन्तु पीछे उसका स्मरण हो सकता है, त्योंही उक्त शंका निर्मूल हो जाती है।* इसकी अपेक्षा और भी अधिक प्रबल प्रमाण साधुसन्तों का अनुभव है। बहुत प्राचीन सिद्ध पुरुषों के अनुभव की बातें पुरानी हैं। उन्हें जाने दीजिये। बिलकुल अभी के प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम महाराज ने भी इस परमावधि की स्थिति का वर्णन आलंकारिक भाषा में बड़ी खूबी से धन्यतापूर्वक इस प्रकार किया है कि 'हमने अपनी मृत्यु अपनी आँखों से देख ली, यह भी एक उत्सव हो गया।' व्यक्त अथवा अव्यक्त सगुण ब्रह्म की उपासना से ध्यान के द्वारा धीरे धीरे बढ़ता हुआ उपासक अन्त में 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. १. ४. १०)–मैं ही ब्रह्म हूँ–की स्थिति में जा पहुँचता है और ब्रह्मात्मैक्यस्थिति का उसे साक्षात्कार होने लगता है। फिर उसमें इतना मग्न हो जाता है कि इस बात की ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता कि मैं किस स्थिति में हूँ अथवा किसका अनुभव कर रहा हूँ। इसमें जागृति बनी रहती है। अतः इस अवस्था को न तो स्वप्न कह सकते हैं, और न सुषुप्ति। यदि जागृत कहें तो इसमें वे सब व्यवहार रुक जाते हैं कि जो जागृत अवस्था में सामान्य रीति से हुआ करते हैं। इसलिये स्वप्न, सुषुप्ति (नींद) अथवा जागृति – इन तीनों व्यावहारिक अवस्थाओं से बिलकुल भिन्न इसे चौथी अथवा तुरीय अवस्था शास्त्रों ने कही है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये पातञ्जलयोग की दृष्टि से मुख्य साधन निर्विकल्प समाधियोग लगाना है कि जिसमें द्वैत का ज़रा-सा भी सम्बन्ध नहीं रहता। और यही कारण है जो गीता (६. २०–२१) में कहा है कि इस निर्विकल्प समाधियोग को अभ्यास से प्राप्त कर लेने में मनुष्य को उकताना नहीं चाहिये। यही ब्रह्मात्मैक्य स्थिति ज्ञान की पूर्णावस्था है। क्योंकि जब सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप अर्थात् एक ही हो चुका, तब गीता के अनुसार इस ज्ञान की पूर्णता हो जाती है कि 'अविभक्तं विभक्तेषु' अनेकत्व की एकता करनी चाहिये – और फिर इसके आगे किसी को भी अधिक ज्ञान हो नहीं सकता। इसी प्रकार नामरूप से परे इस अमृतत्व का जहाँ मनुष्य को अनुभव हुआ कि जन्ममरण

* ध्यान से और समाधि से प्राप्त होनेवाली अद्वैत की अथवा अभेदभाव की यह अवस्था nitrous-oxide gas नामक एक प्रकार की रासायनिक वायु का सेवन करने से भी प्राप्त हो जाया करती है। इसी वायु को 'लाफिंग गैस' भी कहते हैं। *Will to Believe and Other Essays on Popular Philosophy* by William James pp. 294, 298. परन्तु यह नकली अवस्था है; समाधि से जो अवस्था प्राप्त होती है, वह सच्ची–असली–है। यही इन दोनों में महत्त्व का भेद है। फिर भी यहाँ उसका उल्लेख हमने इसलिये किया है कि इस कृत्रिम अवस्था के अस्तित्व के विषय में कुछ भी शंका नहीं रह जाती।

का चक्कर भी आप ही से छूट जाता है। क्योंकि जन्ममरण तो नामरूप में ही है और यह मनुष्य पहुँच जाता है उन नामरूपों से परे (गी. ८. २१)। इसी से महात्माओं ने इस स्थिति का नाम 'मरण का मरण' रख छोड़ा है। और इसी कारण से याज्ञवल्क्य इस स्थिति को अमृतत्व की सीमा या पराकाष्ठा कहते हैं। यही जीवन्मुक्तावस्था है। पातञ्जलयोगसूत्र और अन्य स्थानों में भी वर्णन है, कि इस अवस्था में आकाशगमन आदि की कुछ अपूर्व अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं (पातञ्जलसूत्र ३. १६–५५) और इन्हीं को पाने के लिये कितने ही मनुष्य योगाभ्यास की धुन में लग जाते हैं। परन्तु योगवासिष्ठप्रणेता कहते हैं कि आकाश-गमन प्रभृति सिद्धियाँ न तो ब्रह्मनिष्ठस्थिति का साध्य है और न उसका कोई भाग ही। अतः जीवन्मुक्त पुरुष इन सिद्धियों को पाने का उद्योग नहीं करता और बहुधा उसमें ये देखी भी नहीं जातीं (देखो यो. ५. ८९)। इसी कारण इन सिद्धियों का उल्लेख न तो योगवासिष्ठ में ही और न गीता में ही कहीं है। वसिष्ठ ने राम से स्पष्ट कह दिया है कि ये चमत्कार तो माया के खेल हैं कुछ ब्रह्मविद्या नहीं हैं। कदाचित् ये सच हों। हम यह नहीं कहते कि ये होंगे ही नहीं। जो हो; इतना तो निर्विवाद है कि यह ब्रह्मविद्या का विषय नहीं है। अतएव (ये सिद्धियाँ मिलें तो और न मिलें तो) इनकी परवाह न करनी चाहिये। ब्रह्मविद्याशास्त्र का कथन है कि इनकी इच्छा अथवा आशा भी न करके मनुष्य को वही प्रयत्न करते रहना चाहिये कि जिससे प्राणिमात्र में एक आत्मा वाली परमावधि की ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त हो जावे। ब्रह्मज्ञान आत्मा की शुद्ध अवस्था है। वह कुछ जादू, करामात या तिलस्माती लटका नहीं है। इस कारण इन सिद्धियों से – इन चमत्कारों से – ब्रह्मज्ञान के गौरव का बढ़ना तो दूर, किन्तु उसके गौरव के – उसकी महत्ता के – ये चमत्कार प्रमाण भी नहीं हो सकते। पक्षी तो पहले भी उड़ते थे; पर अब विमानवाले लोग भी आकाश में उड़ने लगे हैं। किन्तु सिर्फ इसी गुण के होने से कोई इनकी गिनती ब्रह्मवेत्ताओं में नहीं करता। और तो क्या जिन पुरुषों को ये आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं वे 'मालती-माधव' नाटकवाले अघोरघण्ट के समान क्रूर और घातकी भी हो सकते हैं।

ब्रह्मात्मैक्यरूप आनन्दमय स्थिति का अनिर्वाच्य अनुभव और किसी दूसरे को पूर्णतया बतलाया नहीं जा सकता। क्योंकि जब उसे दूसरे को बतलाने लगेंगे, तब 'मैं-तू'-वाली द्वैत की ही भाषा से काम लेना पड़ेगा; और इस द्वैती भाषा में अद्वैत का समस्त अनुभव व्यक्त करते नहीं बनता। अतएव उपनिषदों में इस परमावधि की स्थिति के जो वर्णन हैं उन्हें भी अधूरे और गौण समझना चाहिये। और जब ये वर्णन गौण हैं तब सृष्टि की उत्पत्ति एवं रचना समझाने के लिये अनेक स्थानों पर उपनिषदों में जो निरे द्वैती वर्णन पाये जाते हैं उन्हें भी गौण ही मानना चाहिये। उदाहरण लीजिये; उपनिषदों में दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ऐसे वर्णन हैं कि

आत्मस्वरूपी शुद्ध नित्य सर्वव्यापी और अविकारी ब्रह्म ही से आगे चल कर हिरण्यगर्भ नामक सगुण पुरुष या आप (पानी) प्रभृति सृष्टि के व्यक्त पदार्थ क्रमशः निर्मित हुए अथवा परमेश्वर ने इन नामरूपों की रचना करके फिर जीवरूप से उनमें प्रवेश किया (तै २ ६ छां ६ २ ३ बृ १ ४ ७) ऐसे सब द्वैतपूर्ण वर्णन अद्वैतदृष्टि से यथार्थ नहीं हो सकते। क्योंकि ज्ञानगम्य, निर्गुण परमेश्वर ही जब चारों ओर भरा हुआ है, तब तात्त्विक दृष्टि से यह कहना ही निर्मूल हो जाता है, कि एक ने दूसरे को पैदा किया। परन्तु साधारण मनुष्यों को सृष्टि की रचना समझा देने के लिये व्यावहारिक अर्थात् द्वैत की भाषा ही तो एक साधन है। इस कारण व्यक्तसृष्टि की अर्थात् नामरूप की उत्पत्ति के वर्णन उपनिषदों में उसी ढँग के मिलते हैं, जैसा कि ऊपर एक उदाहरण दिया गया है। तो भी उसमें अद्वैत का तत्त्व बना ही है और अनेक स्थानों में कह दिया है, कि इस प्रकार द्वैती व्यावहारिक भाषा बर्तने पर भी मूल में अद्वैत ही है। देखिये, अब निश्चय हो चुका है कि सूर्य घूमता नहीं है स्थिर है फिर बोलचाल में जिस प्रकार यही कहा जाता है कि सूर्य निकल आया अथवा डूब गया। उसी प्रकार यद्यपि एक ही आत्मस्वरूपी परब्रह्म चारों और अखण्ड भरा हुआ है, और वह अविकार्य है; तथापि उपनिषदों में भी ऐसी ही भाषा के प्रयोग मिलते हैं कि परब्रह्म से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार गीता में भी यद्यपि यह कहा गया है, कि "मेरा सच्चा स्वरूप अव्यक्त और अज है (गी ७ २५) तथापि भगवान् ने कहा है कि मैं सारे जगत् को उत्पन्न करता हूँ (४ ६)। परन्तु इन वर्णनों के मर्म को बिना समझे-बूझे कुछ पण्डित लोग इनको शब्दशः सच्चा मान लेते हैं और फिर इन्हीं को मुख्य समझ कर यह सिद्धान्त किया करते हैं कि द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत मत का उपनिषदों में प्रतिपादन है। वे कहते हैं कि यदि यह मान लिया जाय कि एक ही निर्गुण ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है; तो फिर इसकी *उपपत्ति नहीं लगती कि इस अविकारी ब्रह्म से विकारयुक्त नाशवान् सगुण* पदार्थ कैसे निर्मित हो गये। क्योंकि नामरूपात्मक सृष्टि को यदि 'माया' कहें तो निर्गुण ब्रह्म से सगुणमाया का उत्पन्न होना ही तर्कदृष्ट्या शक्य नहीं है। इससे अद्वैतवाद लँगड़ा हो जाता है। इससे तो कहीं अच्छा यह होगा कि सांख्यशास्त्र के मतानुसार प्रकृति के सदृश नामरूपात्मक व्यक्तसृष्टि के किसी सगुण परन्तु व्यक्त रूप को नित्य मान लिया जावे और उस व्यक्त रूप के अभ्यन्तर में परब्रह्म कोई दूसरा नित्यतत्त्व ऐसा ओतप्रोत भरा हुआ रखा जावे, जैसा कि पत्थर की नली में भाफ रहती है (बृ ३ ७)। एवं इन दोनों में वैसी ही एकता मानी जाय जैसी कि दाड़िम या अनार के फल भीतरी दानों के साथ रहती है। परन्तु हमारे मत में उपनिषदों के तात्पर्य का ऐसा विचार करना योग्य नहीं है। उपनिषदों में कहीं कहीं द्वैती और कहीं कहीं अद्वैती वचन पाये

जाते हैं। तो इन दोनों की कुछ-न-कुछ एकवाक्यता करना तो ठीक है परन्तु अद्वैतवाद को मुख्य समझने और यह मान लेने से कि जब निर्गुण ब्रह्म सगुण होने लगता है तब उतने ही समय के लिये मायिक द्वैत की स्थिति प्राप्त हो जाती है। सब वचनों की जैसी व्यवस्था लगती है, वैसी व्यवस्था द्वैत पक्ष को प्रधान मानने से लगती नहीं है। उदाहरण लीजिये इस तत् त्वमसि वाक्य के पद का अन्वय द्वैती मतानुसार कभी भी ठीक नहीं लगता। तो क्या इस अड़चन को द्वैतमतवालों ने समझ ही नहीं पाया? नहीं समझा ज़रूर है। तभी तो वे इस महावाक्य का जैसा-तैसा अर्थ लगा कर अपने मन को समझा लेते हैं। 'तत्त्वमसि' को द्वैतवाले इस प्रकार उलझाते हैं – तत्त्वम् = तस्य त्वम् – अर्थात् उसका तू है कि जो कोई तुमसे भिन्न है तू वही नहीं है। परन्तु जिसको संस्कृत का थोड़ा-सा भी ज्ञान है और जिसकी बुद्धि आग्रह में बँध नहीं गई है वह तुरन्त ताड़ लेगा कि यह खींचातानी का अर्थ ठीक नहीं है। कैवल्य उपनिषद् (१ १६) में तो स त्वमेव त्वमेव तत् इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' को उलट-पालट कर उक्त महावाक्य के अद्वैतप्रधान होने का ही सिद्धान्त दर्शाया है। अब और क्या बतलावें? समस्त उपनिषदों का बहुतसा भाग निकाल डाले बिना अथवा जान-बूझ कर उस पर दुर्लक्ष किये बिना उपनिषच्छास्त्र में अद्वैत को छोड़ और कोई दूसरा रहस्य बतला देना सम्भव ही नहीं है। परन्तु ये वाद तो ऐसे हैं कि जिनका कोई ओर-छोर ही नहीं तो फिर यहाँ हम इनकी विशेष चर्चा क्यों करें? जिन्हें अद्वैत के अतिरिक्त अन्य मत रुचते हों वे खुशी से उन्हें स्वीकार कर लें। उन्हें रोकता कौन है। जिन उदार महात्माओं ने उपनिषदों में अपना यह स्पष्ट विश्वास बतलाया है नेह नानास्ति किंचन (बृ ४ ४ १९; कठ ४ ११) – इस सृष्टि में किसी भी प्रकार की अनेकता नहीं है जो कुछ है वह मूल में सब 'एकमेवाद्वितीयम्' (छां ६ २ ..) है और जिन्होंने आगे यह वर्णन किया है कि मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति – जिसे इस जगत् में नानात्व दीख पड़ता है वह जन्ममरण के चक्कर में फँसता है – हम नहीं समझते कि उन महात्माओं का आशय अद्वैत को छोड़ और भी किसी प्रकार हो सकेगा। परन्तु अनेक वैदिक शाखाओं के अनेक उपनिषद् होने के कारण जैसे इस शंका को थोड़ी-सी गुंजाइश मिल जाती है कि कुल उपनिषदों का तात्पर्य क्या एक ही है? वैसा हाल गीता का नहीं है। जब गीता एक ही ग्रन्थ है तब प्रकट ही है कि उसमें एक ही प्रकार के वेदान्त का प्रतिपादन होना चाहिये। और जो विचारने लगें कि वह कौन-सा वेदान्त है? तो वह अद्वैत प्रधान सिद्धान्त करना पड़ता है कि सब भूतों का नाश हो जाने पर भी जो एक ही स्थिर रहता है (गी ८. २) वही यथार्थ में सत्य है। वही देह और विश्व में भिन्न कर सबमें वही व्याप्त हो रहा है (गी १३ ३१)। और तो क्या! आत्मौपम्यबुद्धि का जो नीतितत्त्व गीता में बतलाया गया है उसकी पूरी पूरी

उपपत्ति भी अद्वैत को छोड़ और दूसरे प्रकार की वेदान्तदृष्टि से नहीं लगती है। इससे कोई हमारा यह आशय न समझ लें कि श्रीशंकराचार्य के समय में अथवा उनके पश्चात् अद्वैतमत की पोषण करनेवाली जितनी युक्तियाँ निकली हैं अथवा प्रमाण निकले हैं वे सभी यथावकाश् गीता में प्रतिपादित हैं। यह तो हम भी मानते हैं कि द्वैत अद्वैत और विशिष्टाद्वैत प्रभृति सम्प्रदायों की उत्पत्ति होने से पहले ही गीता बन चुकी है और इसी कारण से गीता में किसी भी विशेष सम्प्रदाय की युक्तियों का समावेश होना सम्भव नहीं है। किन्तु इस सम्मति से यह कहने में कोई भी बाधा नहीं आती कि गीता का वेदान्त मामूली तौर पर शाङ्करसम्प्रदाय के अनुसार अद्वैती है – द्वैती नहीं। इस प्रकार गीता और शाङ्करसम्प्रदाय में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सामान्य मेल है सही पर हमारा मत है कि आचारदृष्टि से गीता कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को अधिक महत्त्व देती है। इस कारण गीताधर्म शाङ्करसम्प्रदाय से भिन्न हो गया है। इसका विचार आगे किया जावेगा। प्रस्तुत विषय तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी है। इसलिये यहाँ इतना ही कहना है कि गीता और शाङ्करसम्प्रदाय में – दोनों में – यह तत्त्वज्ञान एक ही प्रकार का है अर्थात् अद्वैती है। अन्य साम्प्रदायिक भाष्यों की अपेक्षा गीता के शाङ्करभाष्य को जो अधिक महत्त्व हो गया है उसका कारण भी यही है।

ज्ञानदृष्टि से सारे नामरूपों का एक ओर निकाल देने पर एक ही अविकारी और निर्गुण तत्त्व स्थिर रह जाता है। अतएव पूर्ण और सूक्ष्म विचार करने पर अद्वैत सिद्धान्त को ही स्वीकार करना पड़ता है। जब इतना सिद्ध हो चुका तब अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से यह विवेचन करना आवश्यक है कि इस एक निर्गुण अव्यक्त द्रव्य से नाना प्रकार की व्यक्त सगुण सृष्टि क्योंकर उपजी? पहले बतला आये हैं कि सांख्यों ने तो निर्गुण पुरुष के साथ ही त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण प्रकृति को अनादि और स्वतन्त्र मान कर, इस प्रश्न को हल कर लिया है। किन्तु यदि इस प्रकार सगुण प्रकृति को स्वतन्त्र मान लें तो जगत् के मूलतत्त्व दो हुए जाते हैं। और ऐसा करने से उस अद्वैत मत में बाधा आती है कि जिसका ऊपर अनेक कारणों के द्वारा पूर्णतया निश्चय कर लिया गया है। यदि सगुण प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं मानते हैं तो यह बतलाते नहीं बनता कि एक मूल निर्गुण द्रव्य से नानाविध सगुण सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई। क्योंकि सत्कार्यवाद का सिद्धान्त यह है कि निर्गुण से सगुण – जो कुछ भी नहीं है उससे और कुछ – का उपजना शक्य नहीं है; और यह सिद्धान्त अद्वैत-वादियों को भी मान्य हो चुका है। इसलिये दोनों ही ओर अड़चन है। फिर यह उलझन सुलझे कैसे? बिना अद्वैत को छोड़ ही निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होने का मार्ग बतलाना है और सत्कार्यवाद की दृष्टि से वह तो रुका हुआ-सा ही है। सचा पेंच है – इसीसी उलझन नहीं है। और तो क्या! कुछ लोगों की समझ में अद्वैत सिद्धान्त के मानने में यही ऐसी अड़चन है जो सब मुख्य पेचीदा और कठिन है।

इसी अड़चन से छूट कर वे द्वैत को अंगीकार कर लिया करते हैं। किन्तु अद्वैती पण्डितों ने अपनी बुद्धि के द्वारा इस विकट अड़चन के फन्दे से छूटने के लिये भी एक युक्तिसङ्गत बेजोड़ मार्ग ढूँढ लिया है। वे कहते हैं कि सत्कार्यवाद अथवा गुणपरिणामवाद के सिद्धान्त का उपयोग तब होता है जब कार्य और कारण दोनों एक ही श्रेणी के अथवा एक ही वर्ग के होते हैं और इस कारण अद्वैती वेदान्ती भी इसे स्वीकार कर लेंगे, कि सत्य और निर्गुण ब्रह्म से सत्य और सगुण माया का उत्पन्न होना शक्य नहीं है। परन्तु यह स्वीकृति उस समय की है। जब कि दोनों पदार्थ सत्य हों जहाँ एक पदार्थ सत्य है पर दूसरा उसका सिर्फ दृश्य है वहाँ सत्कार्यवाद का उपयोग नहीं होता। सांख्यमतवाले पुरुष के समान ही प्रकृति को स्वतन्त्र और सत्य पदार्थ मानते हैं। यही कारण है जो वे निर्गुण पुरुष से सगुण प्रकृति की उत्पत्ति का विवेचन सत्कार्यवाद के अनुसार कर नहीं सकते। किन्तु अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि माया अनादि भले ही रहे फिर भी वह सत्य और स्वतन्त्र नहीं है। वह तो गीता के कथनानुसार 'मोह, अज्ञान' अथवा 'इन्द्रियों को दिखाई देनेवाला दृश्य' है। इसलिये सत्कार्यवाद से जो आक्षेप निष्पन्न हुआ था, उसका उपयोग अद्वैत सिद्धान्त के लिए किया ही नहीं जा सकता। बाप से लड़का पैदा हो तो कहेंगे कि वह उसके गुणपरिणाम से हुआ है। परन्तु पिता एक व्यक्ति है और जब कभी वह बच्चे का कभी जवान का और कभी बुड्ढे का स्वाँग बनाये हुए दीख पड़ता है तब हम सदैव देखा करते हैं कि इस व्यक्ति में और इसके अनेक स्वाँगों में गुणपरिणामरूपी कार्यकारणभाव नहीं रहता। ऐसे ही जब निश्चित हो जाता है कि सूर्य एक ही है तब पानी में आँखों को दिखाई देनेवाले उसके प्रतिबिम्ब को हम भ्रम कह देते हैं और उसे गुणपरिणाम से उपजा हुआ दूसरा सूर्य नहीं मानते। इसी प्रकार दूरबीन से किसी ग्रह के यथार्थ स्वरूप का निश्चय हो जाने पर ज्योतिःशास्त्र स्पष्ट कह देता है कि उस ग्रह का जो स्वरूप निरी आँखों से दीख पड़ता है वह दृष्टि की कमजोरी और उसके अत्यन्त दूरी पर रहने के कारण निरा दृश्य उत्पन्न हो गया है। इससे प्रकट हो गया कि कोई भी बात नेत्र आदि इन्द्रियों को प्रत्यक्ष गोचर हो जाने से ही स्वतन्त्र और सत्य वस्तु मानी नहीं जा सकती। फिर इसी न्याय का अध्यात्मशास्त्र में उपयोग करके यदि यह कहें तो क्या हानि है कि ज्ञानचक्षुरूप दूरबीन से जिसका निश्चय कर लिया गया है वह निर्गुण परब्रह्म सत्य है। और ज्ञानहीन चर्मचक्षुओं को जो नामरूप गोचर होता है वह इस परब्रह्म का कार्य नहीं है – वह तो इन्द्रियों की दुर्बलता से उपजा हुआ निरा भ्रम अर्थात् मोहात्मक दृश्य है। यहाँ पर यह आक्षेप ही नहीं पड़ता कि निर्गुण से सगुण उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों वस्तुएँ एक ही श्रेणी की नहीं हैं। इनमें एक तो सत्य है और दूसरी है सिर्फ दृश्य। एवं अनुभव यह है कि मूल में एक ही वस्तु रहने पर भी देखनेवाले पुरुष के दृष्टिभेद से अज्ञान से अथवा नजरबन्दी

से उस एक ही वस्तु के रूप भासते रहते हैं। उदाहरणार्थ, कानों को सुनाई देनेवाले शब्द और आँखों से दिखाई देनेवाले रङ्ग – इन्हीं दो गुणों को लीजिये। इनमें से कानों को जो शब्द या आवाज सुनाई देती है, उनकी सूक्ष्मता से जाँच करके आधिभौतिकशास्त्रियों ने पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि 'शब्द' या तो वायु की लहर है या गति। और अब सूक्ष्म शोध करने से निश्चय हो गया है कि आँखों से दीख पड़नेवाले लाल, हरे, पीले आदि रङ्ग भी मूल में एक ही सूर्यप्रकाश के विकार हैं और सूर्यप्रकाश स्वयं एक प्रकार की गति ही है। जब कि 'गति' मूल में एक ही है, पर कान उसे शब्द और आँखें उसे रङ्ग बतलाती हैं; तब यदि इसी न्याय का उपयोग कुछ अधिक व्यापक रीति से सारी इन्द्रियों के लिये किया जावे, तो सभी नामरूपों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सत्कार्यवाद की सहायता के बिना ठीक उपपत्ति इस प्रकार लगाई जा सकती है कि किसी भी एक अविकार्य वस्तु पर मनुष्य की भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ अपनी अपनी ओर से शब्दरूप आदि अनेक नाम-रूपात्मक गुणों का 'अध्यारोप' करके नाना प्रकार के दृश्य उपजाया करती हैं। परन्तु कोई आवश्यकता नहीं है कि मूल की एक ही वस्तु में ये दृश्य, ये गुण अथवा ये नामरूप होवें ही। और इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिये रस्सी में सर्प का अथवा सीप में चाँदी का भ्रम होना, या आँख में उँगली डालने से एक के दो पदार्थ दीख पड़ना आदि अनेक रङ्गों के चश्मे लगाने पर एक पदार्थ का रङ्ग-बिरङ्गा दीख पड़ना आदि अनेक दृष्टान्त वेदान्तशास्त्र में दिये जाते हैं। मनुष्य की इन्द्रियाँ उससे कभी छूट नहीं जाती हैं। इस कारण जगत् के नामरूप अथवा गुण उसके नयनपथ में गोचर तो अवश्य होंगे; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रियवान् मनुष्य की दृष्टि से जगत् का जो सापेक्ष स्वरूप दीख पड़ता है, वही इस जगत् के मूल का अर्थात् निरपेक्ष और नित्य स्वरूप है। मनुष्य की वर्तमान इन्द्रियों की अपेक्षा यदि उसे न्यूनाधिक इन्द्रियाँ प्राप्त हो जावें, तो यह सृष्टि उसे जैसी आजकल दीख पड़ती है वैसी ही न दीखती रहेगी। और यदि यह ठीक है, तो जब कोई पूछे, कि द्रष्टा की – देखनेवाले मनुष्य की – इन्द्रियों की अपेक्षा न करके बतलाओ कि सृष्टि के मूल में जो तत्त्व है उसका नित्य और सत्य स्वरूप क्या है? तब यही उत्तर देना पड़ता है कि वह मूलतत्त्व है तो निर्गुण; परन्तु मनुष्य को सगुण दिखलाई देता है – यह मनुष्य की इन्द्रियों का धर्म है, न कि मूलवस्तु का गुण। आधिभौतिकशास्त्र में उन्हीं बातों की जाँच होती है कि जो इन्द्रियों को गोचर हुआ करती हैं; और यही कारण है कि वहाँ इस ढँग के प्रश्न होते ही नहीं। परन्तु मनुष्य और उसकी इन्द्रियों के नष्ट प्राय हो जाने से यह नहीं कह सकते कि ईश्वर भी नष्ट हो जाता है; अथवा मनुष्य को वह अमुक प्रकार का दीख पड़ता है। इसलिये उसका त्रिकालाबाधित नित्य और निरपेक्ष स्वरूप भी वही होना चाहिये। अतएव जिस अध्यात्मशास्त्र में यह विचार करना होता है कि जगत् के मूल में वर्तमान तत्त्व का मूलस्वरूप क्या है।

सारांश, इन्द्रियों के द्वारा अध्यारोपित गुणों के अतिरिक्त परब्रह्म में यदि और कुछ दूसरे गुण हों, तो उनका ज्ञान लेना हमारे सामर्थ्य के बाहर है; और जिन गुणों का ज्ञान लेना हमारे वश में नहीं, उनको परब्रह्म में मानना भी न्यायशास्त्र की दृष्टि से योग्य नहीं है। अतएव गुण शब्द का 'मनुष्य को ज्ञात होनेवाले गुण' अर्थ करके वेदान्ती लोग सिद्धान्त किया करते हैं, कि ब्रह्म 'निर्गुण' है। न तो अद्वैत वेदान्त ही यह कहता है, और न कोई दूसरा भी कह सकेगा, कि मूल परब्रह्मस्वरूप में ऐसा गुण या ऐसी शक्ति भी होगी, कि जो मनुष्य के लिये अतर्क्य है। किंबहुना यह तो पहले ही बतला दिया है, कि वेदान्ती लोग भी इन्द्रियों के उक्त अज्ञान अथवा माया को उसी मूल परब्रह्म की एक अतर्क्य शक्ति कहा करते हैं।

त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति कोई दूसरी स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, किन्तु एक ही निर्गुण ब्रह्म पर मनुष्य की इन्द्रियाँ अज्ञान से सगुण दृश्यों का अध्यारोप किया करती हैं। इसी मत को 'विवर्तवाद' कहते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह उपपत्ति इस बात की हुई, कि जब निर्गुण ब्रह्म एक ही मूलतत्त्व है, तब नाना प्रकार का सगुण जगत् पहले दिखाई कैसे देने लगा? कणादप्रणीत न्यायशास्त्र में असंख्य परमाणु जगत् के मूलकारण माने गये हैं, और नैयायिक इन परमाणुओं को सत्य मानते हैं। इसलिये उन्होंने निश्चय किया है, कि जहाँ इन असंख्य परमाणुओं का संयोग होने लगा, वहाँ सृष्टि के अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। परमाणुओं के संयोग का आरम्भ होने पर इस मत से सृष्टि का निर्माण होता है। इसलिये इसको 'आरम्भवाद' कहते हैं। परन्तु नैयायिकों के असंख्य परमाणुओं के मत को सांख्यमार्गवाले नहीं मानते। वे कहते हैं, कि जडसृष्टि का मूलकारण 'एक, सत्य, त्रिगुणात्मक प्रकृति' ही है। एवं इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों के विकास से अथवा परिणाम से व्यक्त सृष्टि बनती है। इस मत को 'गुणपरिणामवाद' कहते हैं। क्योंकि इसमें यह प्रतिपादन किया जाता है, कि एक मूल सगुण प्रकृति के गुणविकास से ही सारी व्यक्त सृष्टि पैदा हुई है। किन्तु इन दोनों वादों का अद्वैती वेदान्ती स्वीकार नहीं करते। परमाणु असंख्य हैं, इसलिये अद्वैत मत के अनुसार वे जगत् का मूल हो नहीं सकते; और रह गई प्रकृति। सो यद्यपि वह एक हो, तो भी उसके पुरुष से भिन्न और स्वतन्त्र होने के कारण अद्वैत सिद्धान्त से यह द्वैत भी विरुद्ध है। परन्तु इस प्रकार इन दोनों वादों को त्याग देने से और कोई न कोई उपपत्ति इस बात की देनी होगी, कि एक निर्गुण से सगुण ब्रह्म से सगुण सृष्टि कैसे उपजी है। क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार निर्गुण से सगुण हो नहीं सकता। इस पर वेदान्ती कहते हैं, कि सत्कार्यवाद के इस सिद्धान्त का उपयोग वहीं होता है। जहाँ कार्य और कारण दोनों वस्तुएँ सत्य हों, परन्तु जहाँ मूलवस्तु एक ही है, और जहाँ उसके भिन्न भिन्न दृश्य ही पलटते हैं, वहाँ इस न्याय का उपयोग नहीं होता। क्योंकि हम नित्य देखते हैं, कि एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न दृश्यों का दीख पड़ना उस वस्तु का धर्म नहीं, किन्तु द्रष्टा – देखनेवाले पुरुष – के दृष्टिभेद के कारण से भिन्न

भिन्न द्रव्य उत्पन्न हो सकते हैं।* इस न्याय का उपयोग निर्गुण ब्रह्म और सगुण जगत् के लिये करने पर कहेंगे, कि ब्रह्म तो निर्गुण है, पर मनुष्य के इन्द्रियधर्म के कारण उसी में सगुणत्व की झलक उत्पन्न हो जाती है। यह विवर्तवाद है। विवर्तवाद में यह मानते हैं, कि एक ही मूल सत्य द्रव्य पर अनेक असत्य अर्थात् सदा बदलते रहनेवाले दृश्यों का अध्यारोप होता है; और गुणपरिणामवाद में पहले से ही दो सत्य द्रव्य मान लिये जाते हैं, जिनमें से एक एक में गुणों का विकास हो कर जगत् की नाना गुणयुक्त अन्यान्य वस्तुएँ उपजती रहती हैं। रस्सी में सर्प का भास होना विवर्त है; और दूध से दही बन जाना गुणपरिणाम है। इसी कारण वेदान्तसार नामक ग्रन्थ की एक प्रति में इन दोनों वादों के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं –

यस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः।
अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः॥

"किसी मूलवस्तु से जब तात्त्विक अर्थात् सचमुच ही दूसरे प्रकार की वस्तु बनती है, तब उसको (गुण) परिणाम कहते हैं; और जब ऐसा न हो कर मूलवस्तु ही कुछ-की-कुछ (अतात्त्विक) भासने लगती है, तब उसे विवर्त कहते हैं" (वे. सा. २१)। आरम्भवाद नैयायिकों का है, गुणपरिणामवाद सांख्यों का है, और विवर्तवाद अद्वैती वेदान्तियों का है। अद्वैती वेदान्ती परमाणु या प्रकृति इन दोनों सगुण वस्तुओं को निर्गुण ब्रह्म से भिन्न और स्वतन्त्र नहीं मानते; परन्तु फिर यह आक्षेप होता है, कि सत्कार्यवाद के अनुसार निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होना असम्भव है। इसे दूर करने के लिये ही विवर्तवाद निकला है। परन्तु इसी से कुछ लोग जो यह समझते हैं, कि वेदान्ती लोग गुणपरिणामवाद को कभी भी स्वीकार नहीं करते; अथवा आगे कभी न करेंगे, यह उनकी भूल है। अद्वैतमत पर सांख्यमतवालों का अथवा अन्यान्य द्वैतमतवालों का भी जो यह मुख्य आक्षेप रहता है, कि निर्गुण ब्रह्म से सगुण प्रकृति का अर्थात् माया का उद्गम हो नहीं सकता, सो यह आक्षेप कुछ अपरिहार्य नहीं है। विवर्तवाद का मुख्य उद्देश इतना ही दिखला देना है, कि एक ही निर्गुण ब्रह्म में माया के दृश्यों का हमारी इन्द्रियों को दीख पड़ना सम्भव है। यह उद्देश सफल हो जाने पर – अर्थात् जहाँ विवर्तवाद से यह सिद्ध हुआ, कि एक निर्गुण परब्रह्म में ही त्रिगुणात्मक सगुण प्रकृति के दृश्य का दीख पड़ना शक्य है, वहाँ – वेदान्तशास्त्र को यह स्वीकार करने में कुछ भी हानि नहीं, कि इस प्रकृति का अगला विस्तार गुणपरिणाम से हुआ है। अद्वैत वेदान्त का मुख्य कथन यही है, कि स्वयं मूलप्रकृति एक दृश्य है – सत्य नहीं है।

* अंग्रेजी में इसी अर्थ को व्यक्त करना हो तो यों कहेंगे – appearances, are the results of subjective conditions, i.e. the senses of the observer and not of the thing itself.

जहाँ प्रकृति का द्रव्य एक बार दिखाई देने लगा वहाँ फिर इन द्रव्यों से आगे चलकर निकलनेवाले दूसरे द्रव्यों को स्वतन्त्र न मान कर अद्वैत वेदान्त को यह मान लेने में कुछ भी आपत्ति नहीं है कि एक द्रव्य के गुणों से दूसरे द्रव्य के एक और दूसरे से तिसरे आदि के इस प्रकार नानागुणात्मक द्रव्य उत्पन्न होते हैं। अतएव यद्यपि गीता में भगवान् ने बतलाया है कि 'यह प्रकृति मेरी ही माया है' (गी. ७. १४; ४. ६) फिर भी गीता में ही यह कह दिया है कि ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित (गी. ९. १०) इस प्रकृति का अगला विस्तार 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गी. ३. २८; १४. २३) के न्याय से ही होता रहता है। इससे ज्ञात होता है कि विवर्तवाद के अनुसार मूलनिर्गुणपरब्रह्म में एक बार माया का दृश्य उत्पन्न हो चुकने पर इस मायिक दृश्य की अर्थात् प्रकृति के अगले विस्तार की – उपपत्ति के लिये गुणोत्कर्ष का तत्त्व गीता को भी मान्य हो चुका है। जब समूचे दृश्य जगत् को ही एक बार मायात्मक दृश्य कह दिया, तब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि इन दृश्यों के अन्यान्य रूपों के लिये गुणोत्कर्ष के ऐसे कुछ नियम होने ही चाहिये। वेदान्तियों को यह अस्वीकार नहीं है कि मायात्मक दृश्य का विस्तार भी नियमबद्ध ही रहता है। उनका तो इतना ही कहना है कि मूलप्रकृति के समान ये नियम भी मायिक ही हैं और परमेश्वर इन सब मायिक नियमों का अधिपति है। वह इनसे परे है और उसकी सत्ता से ही इन नियमों को नियमत्व अर्थात् नित्यता प्राप्त हो गई है। दृश्यरूपी सगुण अतएव विनाशी विकृति में ऐसे नियम बना देने का सामर्थ्य नहीं रह सकता कि जो त्रिकाल में भी अबाधित रहें।

यहाँ तक जो विवेचन किया गया है उससे ज्ञात होगा कि जगत्, जीव और परमेश्वर – अथवा अध्यात्मशास्त्र की परिभाषा के अनुसार माया (अर्थात् माया से उत्पन्न किया हुआ जगत्), आत्मा और परब्रह्म – का स्वरूप क्या है? एवं इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है? अध्यात्मदृष्टि से जगत् की सभी वस्तुओं के दो वर्ग होते हैं। 'नामरूप' और नामरूप से आच्छादित 'नित्य तत्त्व'। इनमें से नामरूपों को ही सगुण माया अथवा प्रकृति कहते हैं। परन्तु नामरूपों को निकाल डालने पर जो 'नित्य द्रव्य' बच रहता है वह निर्गुण ही रहना चाहिये। क्योंकि कोई भी गुण बिना नामरूप के रह नहीं सकता। यह नित्य और अव्यक्त तत्त्व ही परब्रह्म है; और मनुष्य की दुर्बल इन्द्रियों को इस निर्गुण परब्रह्म में ही सगुण माया उपजी हुई दीख पड़ती है। यह माया सत्य पदार्थ नहीं है। परब्रह्म ही सत्य अर्थात् त्रिकाल में भी अबाधित और कभी भी न पलटनेवाली वस्तु है। दृश्यसृष्टि के नामरूप और उनसे आच्छादित परब्रह्म के स्वरूपसम्बन्धी ये सिद्धान्त हुए। अब इसी न्याय से मनुष्य का विचार करें तो सिद्ध होता है कि मनुष्य की देह और इन्द्रियाँ दृश्यसृष्टि के अन्य पदार्थों के समान नामरूपात्मक अर्थात् अनित्य माया के वर्ग में हैं; और इन इन्द्रियों में लिपटा हुआ आत्मा नित्यस्वरूपी परब्रह्म की श्रेणी का

अदृश्य होने पर भी नित्य है; और नामरूपात्मक जगत् दृश्य होने पर भी पल पल में बदलनेवाला है। इस सत् या सत्य शब्द का व्यावहारिक अर्थ है: (१) आँखों के आगे अभी प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाला – अर्थात् व्यक्त (फिर कल उसका दृश्य स्वरूप चाहे बदले, चाहे न बदले) और दूसरा अर्थ है (२) वह अव्यक्त स्वरूप, कि जो सदैव एक-सा रहता है। आँखों से भले ही न दीख पड़े, पर जो कभी न बदले। इनमें से पहला अर्थ जिनको सम्मत है, वे आँखों से दिखाई देनेवाले नामरूपात्मक जगत् को सत्य कहते हैं और परब्रह्म को इसके विरुद्ध अर्थात् आँखों से न दीख पड़नेवाला अतएव असत् अथवा असत्य कहते हैं। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय उपनिषद् में दृश्य सृष्टि के लिये 'सत्' और जो दृश्य सृष्टि से परे है उसके लिये 'त्यत्' (अर्थात् जो कि परे है) अथवा 'अनृत' (आँखों को न दीख पड़नेवाला) शब्दों का उपयोग करके ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है कि जो कुछ मूल में या आरम्भ में था वही द्रव्य "सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च।" (तै. २. ६) – सत् (आँखों से दीख पड़नेवाला) और वह (जो परे है), वाच्य और अनिर्वाच्य, साधार और निराधार, ज्ञात और अविज्ञात (अज्ञेय), सत्य और अनृत – इस प्रकार द्विधा बना हुआ है। परन्तु इस प्रकार ब्रह्म को 'अनृत' कहने से अनृत का अर्थ झूठ या असत्य नहीं है। क्योंकि आगे चल कर तैत्तिरीय उपनिषद् में ही कहा है कि "यह अनृत ब्रह्म जगत् की 'प्रतिष्ठा' अथवा आधार है। इसे और दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं है। एवं जिसने इसको जान लिया वह अभय हो गया।" इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि शब्दभेद के कारण भावार्थ में कुछ अन्तर नहीं होता है। ऐसे ही अन्त में कहा है कि "असद्वा इदमग्र आसीत्" – यह सारा जगत् (ब्रह्म) था और ऋग्वेद के (१. १२. ४) वर्णन के अनुसार आगे चल कर उसी से सत् यानी नामरूपात्मक व्यक्त जगत् निकला है (तै. २. ७)। इससे भी स्पष्ट ही हो जाता है कि यहाँ पर 'असत्' शब्द का प्रयोग 'अव्यक्त अर्थात् आँखों से न दीख पड़नेवाले' के अर्थ में ही हुआ है; और वेदान्तसूत्रों (२. १. १७) में बादरायणाचार्य ने इन वचनों का ऐसा ही अर्थ किया है। किन्तु जिन लोगों को 'सत्' अथवा 'सत्य' शब्द का यह अर्थ (ऊपर बतलाये हुए अर्थों में से दूसरा अर्थ) सम्मत है – आँखों से न दीख पड़ने पर भी सदैव रहनेवाला अथवा टिकाऊ – वे उस अदृश्य परब्रह्म को ही सत् या सत्य कहते हैं कि जो कभी नहीं बदलता; और नामरूपात्मक माया को असत् यानी असत्य अर्थात् विनाशी कहते हैं। उदाहरणार्थ छान्दोग्य में वर्णन किया गया है कि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् कथमसतः सज्जायेत" – पहले यह सारा जगत् सत् (ब्रह्म) था, जो असत् है यानी नहीं, उससे सत् यानी जो विद्यमान है – मौजूद है – कैसे उत्पन्न होगा (छां. ६. २. १, २)? फिर भी छांदोग्य उपनिषद् में ही इस परब्रह्म के लिये

एक स्थान पर अव्यक्त अर्थ में 'असत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है (छां. ३. १९. १)।* एक ही परब्रह्म को भिन्न भिन्न समयों और अर्थों में एक बार 'सत्', तो एक बार 'असत्' यों परस्परविरुद्ध नाम देने की यह गड़बड़ – अर्थात् वाच्य अर्थ के एक ही होने पर भी निरा शब्दवाद मचवाने में सहायक – प्रणाली आगे चल कर रुक गई। और अन्त में इतनी ही एक परिभाषा स्थिर हो गई है कि ब्रह्म सत् या सत्य यानी सदैव स्थिर रहनेवाला है और दृश्य सृष्टि असत् अर्थात् नाशवान् है। भगवद्गीता में यही अन्तिम परिभाषा मानी गई है और इसी के अनुसार दूसरे अध्याय (२. १६–१८) में कह दिया है कि परब्रह्म सत् और अविनाशी है। एवं नामरूप असत् अर्थात् नाशवान् है और वेदान्तसूत्रों का भी ऐसा ही मत है। फिर भी दृश्यसृष्टि को 'सत्' कह कर परब्रह्म को 'असत्' या 'त्यत्' (वह = परे का) कहने की तैत्तिरीयोपनिषद्वाली उस पुरानी परिभाषा का नामनिशान अब भी बिलकुल जाता नहीं रहा है। पुरानी परिभाषा से इसका भली भाँति खुलासा हो जाता है कि गीता के इस 'ॐ तत्सत्' ब्रह्मनिर्देश (गी. १७. २३) का मूल अर्थ क्या रहा होगा। यह 'ॐ' गूढाक्षररूपी वैदिक मन्त्र है। उपनिषदों में इसका अनेक रीतियों से व्याख्यान किया गया है (प्र. ५; मां. ८–१२; छां. १. १)। 'तत्' यानी वह अथवा दृश्य सृष्टि से परे, दूर रहनेवाला अनिर्वाच्य तत्त्व है और 'सत्' का अर्थ है आँखों के सामनेवाली दृश्य सृष्टि। इस संकल्प का अर्थ यह है कि ये तीनों मिल कर सब ब्रह्म ही है। और इसी अर्थ में भगवान् ने गीता में कहा है कि 'सदसच्चाहमर्जुन' (गी. ९. १९) – सत् यानी परब्रह्म और असत् अर्थात् दृश्य सृष्टि, दोनों मैं ही हूँ। तथापि जब कि गीता में कर्मयोग ही प्रतिपाद्य है, तब सत्रहवें अध्याय के अन्त में प्रतिपादन किया है कि इस ब्रह्मनिर्देश से भी कर्मयोग का पूर्ण समर्थन होता है। 'ॐ तत्सत्' के 'सत्' शब्द का अर्थ लौकिक दृष्टि से भला अर्थात् सद्बुद्धि से किया हुआ अथवा वह कर्म है कि जिसका अच्छा फल मिलता है; और तत् का अर्थ परे का या फलाशा छोड़ कर किया हुआ कर्म है। संकल्प में जिसे 'सत्' कहा है वह सृष्टि यानी कर्म ही है (अगला प्रकरण देखो)। अतः इस ब्रह्मनिर्देश का यह कर्मप्रधान अर्थ मूल अर्थ से सहज ही निष्पन्न होता है। 'ॐ तत्सत्', 'नेति नेति', 'सच्चिदानन्द' और 'सत्यस्य सत्यं' के अतिरिक्त और भी कुछ ब्रह्मनिर्देश उपनिषदों में हैं; परन्तु उनको यहाँ इसलिये नहीं बतलाया कि गीता का अर्थ समझने में उनका उपयोग नहीं है।

* अध्यात्मशास्त्रवाले अंग्रेज़ ग्रन्थकारों में [illegible] इस विषय में गड़बड़ है कि real अर्थात् [illegible] के रूप [illegible] के लिए [illegible] अथवा [illegible] के लिए। [illegible] (real [illegible] का अविनाशी [illegible]) [illegible] unreal [illegible] real [illegible]

अस्तु; जीव और परमेश्वर (परमात्मा) के परस्पर सम्बन्ध का इस प्रकार निर्णय हो जाने पर गीता में भगवान् ने जो कहा है कि "जीव मेरा ही अंश है" (गीता १५. ७) और "मैं ही एक अंश से सारे जगत् में व्याप्त हूँ" (गी. १०. ४२) – एवं बादरायणाचार्य ने भी वेदान्तसूत्र (२. ३. ४३; ४. ४. १९) में यही बात कही है – अथवा पुरुषसूक्त में जो "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" यह वर्णन है, उसके 'पाद' या 'अंश' शब्द के अर्थ का निर्णय भी सहज ही हो जाता है। परमेश्वर या परमात्मा यद्यपि सर्वव्यापी है, तथापि वह निरवयव और नामरूपरहित है। अतएव उसे काट नहीं सकते (अच्छेद्य); और उसमें विकार भी नहीं होता (अविकार्य); और इसलिये उसके अलग अलग विभाग या टुकड़े नहीं हो सकते (गी. २. २५)। अतएव जो परब्रह्म सघनता से अकेला ही चारों ओर व्याप्त है, उसका और मनुष्य के शरीर में निवास करनेवाले आत्मा का भेद बतलाने के लिये यद्यपि व्यवहार में ऐसा कहना पड़ता है कि 'शारीर आत्मा' परब्रह्म का ही 'अंश' है; तथापि 'अंश' या 'भाग' शब्द का अर्थ 'काट कर अलग किया हुआ टुकड़ा' या 'अनार के अनेक दानों में से एक दाना' नहीं है। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से उसका अर्थ यह समझना चाहिये कि जैसे घर के भीतर का आकाश और घड़े का आकाश (मठाकाश और घटाकाश) एक ही सर्वव्यापी आकाश का 'अंश' या भाग है, उसी प्रकार 'शारीर आत्मा' भी परब्रह्म का अंश है (अमृतबिन्दूपनिषद् १३ देखो)। सांख्यवादियों की प्रकृति और हेकल के जड़ाद्वैत में माना गया एक वस्तुतत्त्व ये भी इसी प्रकार सत्य निर्गुण अर्थात् मर्यादित अंश है। अधिक क्या कहें? आधिभौतिक शास्त्र की प्रणाली से तो यही मालूम होता है कि जो कुछ व्यक्त या अव्यक्त मूलतत्त्व है (फिर चाहे वह आकाशवत् कितना भी व्यापक हो) वह सब स्थल और काल से बद्ध से केवल नामरूप अतएव मर्यादित और नाशवान् है। यह बात सच है कि उन तत्त्वों की व्यापकता भर के लिये उतना ही परब्रह्म उनसे आच्छादित है; परन्तु परब्रह्म उन तत्त्वों से मर्यादित न हो कर उन सब में ओतप्रोत भरा हुआ है और इसके अतिरिक्त न जाने वह कितना बाहर है कि जिसका कुछ पता नहीं। परमेश्वर की व्यापकता दृश्य सृष्टि के बाहर कितनी है, यह बतलाने के लिये यद्यपि 'त्रिपाद' शब्द का उपयोग पुरुषसूक्त में किया गया है, तथापि उसका अर्थ अनन्त ही इष्ट है। वस्तुतः देखा जाय तो देश और काल, माप और तौल या संख्या इत्यादि सब नामरूप के ही प्रकार हैं; और यह बतला चुके हैं कि परब्रह्म इन सब नामरूपों के परे है। इसीलिये उपनिषदों में ब्रह्मस्वरूप के ऐसे वर्णन पाये जाते हैं कि जिस नामरूपात्मक 'काल' से सब ग्रसित हैं उस 'काल' का भी ग्रसने वाला या पचा जानेवाला जो तत्त्व है, वही परब्रह्म है (मै. ६. १५)। और "न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः" – परमेश्वर को प्रकाशित करनेवाला सूर्य, चन्द्र, अग्नि इत्यादिकों के समान कोई प्रकाशक साधन नहीं है; किन्तु वह स्वयं

आचरण जिस पुरुष में दिखाई न दे, उसे कच्चा समझना चाहिये – अभी वह ब्रह्मज्ञानाग्नि में पूरा पक नहीं पाया है। सच्चे साधु और निरे वेदान्तशास्त्रियों में जो भेद है, वह यही है। और इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में ज्ञान का लक्षण बतलाते समय यह नहीं कहा कि 'बाह्यसृष्टि के मूलतत्त्व को केवल बुद्धि से जान लेना ज्ञान है।' किन्तु यह कहा है कि सच्चा ज्ञान वही है जिससे 'अमानित्व, क्षान्ति, आत्मनिग्रह, समबुद्धि' इत्यादि उदात्त मनोवृत्तियाँ जाग्रत हो जावें और जिससे चित्त की पूरी शुद्धता आचरण में सदैव व्यक्त हो जावे (गी. १३. ७–११)। जिसकी व्यवसायात्मक बुद्धि ज्ञान से आत्मनिष्ठ (अर्थात् आत्म-अनात्म विचार में स्थिर) हो जाती है और जिसके मन को सर्वभूतात्मैक्य का पूरा परिचय हो जाता है उस पुरुष की वासनात्मक बुद्धि भी निस्सन्देह शुद्ध ही होती है। परन्तु यह समझने के लिये कि किसकी बुद्धि कैसी है उसके आचरण के सिवा दूसरा बाहरी साधन नहीं है। अतएव केवल पुस्तकों से प्राप्त कोरे ज्ञानप्रसार के आधुनिक काल में इस बात पर विशेष ध्यान रहे, कि 'ज्ञान' या 'समबुद्धि' शब्द में ही शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि, शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि) और शुद्ध आचरण इन तीनों शुद्ध बातों का समावेश किया जाता है। ब्रह्म के विषय में कोरा वाक्पाण्डित्य दिखलानेवाले और उसे सुन कर 'वाह! वाह!' कहते हुए सिर हिलानेवाले या किसी नाटक के दर्शकों के समान 'एक बार फिर से – वन्स मोर' कहनेवाले बहुतेरे होंगे (गी. २. २९; क. २. ७)। परन्तु जैसा कि ऊपर कह आये हैं – जो मनुष्य अन्तर्बाह्य शुद्ध अर्थात् साम्यशील हो गया हो – वही सच्चा आत्मनिष्ठ है और उसी को मुक्ति मिलती है, न कि कोरे पण्डित को – चाहे वह कैसा ही बहुश्रुत और बुद्धिमान् क्यों न हो! उपनिषदों में स्पष्ट कहा है कि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (क. २. २२; मुं. ३. २. ३)। और इसी प्रकार तुकाराम महाराज भी कहते हैं – 'यदि तू पण्डित होगा तो तू पुराण कथा कहेगा; परन्तु तू यह नहीं जान सकता कि 'मैं' कौन हूँ।' देखिये हमारा ज्ञान कितना संकुचित है। 'मुक्ति मिलती है' – ये शब्द सहज ही हमारे मुख से निकल पड़ते हैं! मानो यह मुक्ति आत्मा से कोई भिन्न वस्तु है! ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होने के पहले द्रष्टा और दृश्य जगत् में भेद था सही; परन्तु हमारे अध्यात्मशास्त्र ने निश्चित कर के रखा है कि जब ब्रह्मात्मैक्य का पूरा ज्ञान हो जाता है तब आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है और ब्रह्मज्ञानी पुरुष आप ही ब्रह्मरूप हो जाता है। इस आध्यात्मिक अवस्था को ही 'ब्रह्मनिर्वाण' मोक्ष कहते हैं। यह ब्रह्मनिर्वाण किसी से किसी को दिया नहीं जाता। यह कहीं दूसरे स्थान से आता नहीं या इसकी प्राप्ति के लिये किसी अन्य लोक में जाने की भी आवश्यकता नहीं। पूर्ण आत्मज्ञान जब और जहाँ होगा उसी क्षण में और उसी स्थान पर मोक्ष धरा हुआ है। क्योंकि मोक्ष तो आत्मा ही की मूल शुद्धावस्था है। वह कुछ निराली स्वतन्त्र वस्तु या स्थान नहीं। शिवगीता (१३. ३२) में यह श्लोक है :–

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

अर्थात् "मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं कि जो किसी एक स्थान में रखी हो, अथवा यह भी नहीं, कि उसकी प्राप्ति के लिये किसी दूसरे गाँव या प्रदेश को जाना पड़े! वास्तव में हृदय की अज्ञानग्रन्थि के नाश हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं"। इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र से निष्पन्न होनेवाला यही अर्थ भगवद्गीता के 'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्' (गी. ५. २६) – जिन्हें पूर्ण आत्मज्ञान हुआ है, उन्हें ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष आप-ही-आप प्राप्त हो जाता है; तथा 'यः सदा मुक्त एव सः' (गी. ५. २८) इस श्लोक में वर्णित है; और 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' – जिसने ब्रह्म जाना, वह ब्रह्म ही हो जाता है (मुं. ३. २. ९) इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में भी यही अर्थ वर्णित है। मनुष्य के आत्मा की ज्ञानदृष्टि से जो यह पूर्णावस्था होती है, उसी को 'ब्रह्मभूत' (गी. १८. ५४) या 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं (गी. २. ७२); और स्थितप्रज्ञ (गी. २. ५५–७२), भक्तिमान (गी. १२. १३–२०) या त्रिगुणातीत (गी. १४. २२–२७) पुरुषों के विषय में भगवद्गीता में जो वर्णन है, वे भी इसी अवस्था के हैं। यह नहीं समझना चाहिये, कि जैसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' पद से प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतन्त्र मान कर पुरुष के केवलपन या 'कैवल्य' को मोक्ष मानते हैं, वैसा ही मोक्ष गीता को भी सम्मत है। किन्तु गीता का अभिप्राय है, कि अध्यात्मशास्त्र में कही गई ब्राह्मी अवस्था – 'अहं ब्रह्मास्मि' – मैं ही ब्रह्म हूँ (बृ. १. ४. १०) – कभी तो भक्तिमार्ग से, कभी चित्तनिरोधरूप पातञ्जलयोगमार्ग से और कभी गुणागुणविवेचनरूप सांख्यमार्ग से भी प्राप्त होती है। इन मार्गों में अध्यात्मविचार केवल बुद्धिगम्य मार्ग है। इसलिये गीता में कहा है, कि सामान्य मनुष्यों को परमेश्वर स्वरूप का ज्ञान होने के लिये भक्ति ही सुगम साधन है। इस साधन का विस्तारपूर्वक विचार हमने आगे चल कर तेरहवें प्रकरण में किया है। साधन कुछ भी हो, इतनी बात निर्विवाद है, कि ब्रह्मात्मैक्य का अर्थात् सच्चे परमेश्वरस्वरूप का ज्ञान होना, सब प्राणियों में एक ही आत्मा पहचानना और उसी भाव के अनुसार बर्ताव करना ही अध्यात्मज्ञान की परमावधि है; तथा यह अवस्था जिसे प्राप्त हो जाय, वही पुरुष धन्य तथा कृतकृत्य होता है। यह पहले ही बतला चुके हैं, कि केवल इन्द्रियसुख पशुओं और मनुष्यों को एक ही समान होता है; इसलिये मनुष्यजन्म की सार्थकता अथवा मनुष्य की मनुष्यता ज्ञानप्राप्ति ही में है; सब प्राणियों के विषय में काया-वाचा-मन से सदैव ऐसी ही साम्यबुद्धि रख कर अपने सब कर्मों को करते रहना ही नित्य मुक्तावस्था, पूर्णयोग या सिद्धावस्था है। इस अवस्था के जो वर्णन गीता में हैं, उनमें से बारहवें अध्यायवाले भक्तिमान पुरुष के वर्णन पर टीका करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज*

* ज्ञानेश्वर महाराज के ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद [illegible] ने किया है और वह ग्रन्थ [illegible] मिल सकता है।

ने अनेक दृष्टान्त दे कर ब्रह्मभूत पुरुष की साम्यावस्था का अत्यन्त मनोहर और चमत्कारिक निरूपण किया है। और यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि इस निरूपण में गीता के चारों स्थानों में वर्णित ब्राह्मी अवस्था का सार आ गया है। यथाः– "हे पार्थ! जिसके हृदय में विषमता का नाम तक नहीं है, जो शत्रु और मित्र दोनों को समान ही मानता है, अथवा हे पाण्डव! दीपक के समान जो इस बात का भेदभाव नहीं जानता कि यह मेरा घर है इसलिये यहाँ प्रकाश करूँ और वह पराया घर है इसलिये वहाँ अँधेरा करूँ। बीज बोनेवाले पर और पेड़ काटनेवाले पर भी वृक्ष जैसे समभाव से छाया करता है" इत्यादि (ज्ञा. १२. १८)। इसी प्रकार "पृथ्वी के समान वह इस बात का भेद बिलकुल नहीं जानता कि उत्तम का ग्रहण करना चाहिये और अधम का त्याग करना चाहिये। जैसे कृपालु प्राण इस बात को नहीं सोचता कि राजा के शरीर को चलाऊँ और रंक के शरीर को गिराऊँ; (जैसे जल यह भेद नहीं करता कि गौ की तृषा बुझाऊँ और व्याघ्र के लिये विष बन कर उसका नाश करूँ), वैसे ही सब प्राणियों के विषय में जिसकी एकसी मित्रता है, जो स्वयं कृपा की मूर्ति है, और जो 'मैं' और 'मेरा' का व्यवहार नहीं जानता और जिसे सुखदुःख का भान भी नहीं होता" इत्यादि (ज्ञा. १२. १३)। अध्यात्मविद्या से जो कुछ अन्त में प्राप्त करना है वह यही है।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होगा कि सारे मोक्षधर्म के मूलभूत अध्यात्मज्ञान की परम्परा हमारे यहाँ उपनिषदों से लगा कर ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, कबीर दास, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि आधुनिक साधुपुरुषों तक किस प्रकार अव्याहत चली आ रही है। परन्तु उपनिषदों के भी पहले यानी अत्यन्त प्राचीन काल में ही हमारे देश में इस ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ था और तब से क्रम क्रम से आगे उपनिषदों के विचारों की उन्नति होती चली गई है। यह बात पाठकों को अच्छी भाँति समझा देने के लिये ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध सूक्त भाषान्तरसहित यहाँ अन्त में दिया गया है। जो उपनिषदन्तर्गत ब्रह्मविद्या का आधारस्तम्भ है। सृष्टि के अगम्य मूलतत्त्व और उससे विविध दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जैसे विचार इस सूक्त में प्रदर्शित किये गये हैं वैसे प्रगल्भ, स्वतन्त्र और मूल तक की खोज करनेवाले तत्त्वज्ञान के मार्मिक विचार अन्य किसी भी धर्म के मूलग्रन्थ में दिखाई नहीं देते। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे अध्यात्मविचारों से परिपूर्ण और इतना प्राचीन लेख भी अब तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिये अनेक पश्चिमी पण्डितों ने धार्मिक इतिहास की दृष्टि से भी इस सूक्त को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जान कर आश्चर्यचकित हो अपनी अपनी भाषाओं में इसका अनुवाद यह दिखलाने के लिये किया है कि मनुष्य के मन की प्रवृत्ति इस नाशवान और नामरूपात्मक सृष्टि के परे नित्य और अचिन्त्य ब्रह्मशक्ति की ओर सहज ही कैसे झुक जाया करती है। यह ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १२९ वाँ सूक्त है और इसके प्रारम्भिक शब्दों से इसे 'नासदीय सूक्त' कहते

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

अर्थात् "यह सब पहले तम से यानी अन्धकार से व्याप्त था। भेदाभेद नहीं जाना जाता था। अगम्य और निद्रित-सा था। फिर आगे इसमें अव्यक्त परमेश्वर ने प्रवेश करके पहले पानी उत्पन्न किया" (मनु १. ५–८)। सृष्टि के आरम्भ के मूलद्रव्य के सम्बन्ध में उक्त वचन या ऐसे ही भिन्न भिन्न वर्णन नासदीय सूक्त के समय भी अवश्य प्रचलित रहे होंगे और उस समय भी यही प्रश्न उपस्थित हुआ होगा, कि इनमें कौन-सा मूलद्रव्य सत्य माना जावे? अतएव उसके सत्यांश के विषय में इस सूक्त के ऋषि यह कहते हैं कि:—

सूक्त	अनुवाद
नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्म अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥१	१ तब अर्थात् मूलारम्भ में असत् नहीं था और सत् भी नहीं था। अन्तरिक्ष नहीं था और उसके परे का आकाश न था। (ऐसी अवस्था में) किस ने (किस पर) आवरण डाला? कहाँ? किस के सुख के लिये? अगाध और गहन जल (भी) कहाँ था?*
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकम्। तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस॥२	२ तब मृत्यु अर्थात् मृत्युग्रस्त नाशवान दृश्य सृष्टि न थी अतएव (दूसरा) अमृत अर्थात् अविनाशी नित्य पदार्थ (यह भेद) भी न था। (इसी प्रकार) रात्रि और दिन का भेद समझने के लिये कोई साधन (= प्रकेत) न था। (जो कुछ था) वह अकेला एक ही अपनी शक्ति (स्वधा) से वायु के बिना श्वासोच्छ्वास लेता अर्थात् स्फूर्तिमान होता रहा। इसके अतिरिक्त या इसके परे और कुछ भी न था।

* ऋचा चौथी – चौथे चरण में 'आसीत्' क्रिया का अन्वय करके हमने उक्त अर्थ किया है और उसका भावार्थ है 'पानी तब नहीं था' (न था [illegible])।

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽ
  प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
  तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥

३ जो (यत्) ऐसा कहा जाता है कि अन्धकार था, आरम्भ में यह सब अन्धकार से व्याप्त (और) भेदाभेद रहित जल था (या) आभु अर्थात् सर्वव्यापी ब्रह्म (पहले ही) तुच्छ से अर्थात् झूठी माया से आच्छादित था वह (तत्) मूल में एक (ब्रह्म ही) तप की महिमा से (आगे रूपान्तर से) प्रकट हुआ था।*

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
  मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
  हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

४ इसके मन का जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः निकला वही आरम्भ में काम (अर्थात् सृष्टि निर्माण करने की प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ। ज्ञाताओं ने अन्तःकरण में विचार करके बुद्धि से निश्चित किया कि (यही) असत् में अर्थात् मूल परब्रह्म में सत् का यानी विनाशी दृश्यसृष्टि का (पहला) सम्बन्ध है।

---

* ऋचा तीसरी — कुछ लोग इसके प्रथम तीन चरणों को स्वतन्त्र मानकर उनका ऐसा विधानात्मक अर्थ करते हैं कि 'अन्धकार से व्याप्त पानी' या 'तुच्छ से आच्छादित आभु' था। परन्तु हमारे मत से यह भूल है। क्योंकि पहली दो ऋचाओं में जब कि ऐसा स्पष्ट कहा है कि मूलारम्भ में कुछ भी न था, तब उसके विपरीत इसी सूक्त में यह कहा जाना सम्भव नहीं कि मूलारम्भ में अन्धकार या पानी था। अच्छा; यदि वैसा अर्थ करें भी, तो तीसरे चरण के 'यत्' शब्द को निरर्थक मानना होगा। अतएव तीसरे चरण के 'यत्' का चौथे चरण के 'तत्' से सम्बन्ध लगाकर, जैसा कि हमने ऊपर किया है, अर्थ करना आवश्यक है। 'मूलारम्भ में पानी वगैरह पदार्थ थे' ऐसा कहनेवालों को उत्तर देने के लिये इस सूक्त में यह कहा है [illegible] और इसमें ऋषि का उद्देश यह बतलाने का है कि [illegible] क्रमानुसार मूल में [illegible] पानी इत्यादि पदार्थ न थे किन्तु एक मूल ब्रह्म का ही आगे यह सब विस्तार हुआ है। 'तुच्छ' और 'आभु' ये शब्द एक दूसरे के प्रतियोगी हैं, अतएव तुच्छ के विपरीत 'आभु' शब्द का अर्थ बड़ा या समर्थ होता है और ऋग्वेद में जहाँ अन्य दो स्थानों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ सायणाचार्य ने भी उसका यही अर्थ किया है (ऋ. [illegible] ४)। पञ्चदशी (चित्र. [illegible]) में 'तुच्छ' शब्द का उपयोग माया के लिये किया गया है [illegible] अर्थात् 'आभु' का अर्थ [illegible] होता है। [illegible] — [illegible] है और इसका अर्थ [illegible] होता है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्
अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥५॥

५ (यह) रश्मि या किरण या धागा इनमें आड़ा फैल गया और यदि कहें कि यह नीचे था तो यह ऊपर भी था। (इनमें से कुछ) रेतोधा अर्थात् बीजप्रद हुए और (बढ़कर) बड़े भी हुए। उन्हीं की स्वशक्ति इस ओर रही और प्रयति अर्थात् प्रभाव उस ओर (व्याप्त) हो रहा।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना-
था को वेद यत आबभूव॥६॥

६ (सत् का) यह विसर्ग यानी पसारा किससे या कहाँ से आया? यह (इससे अधिक) प्र यानी विस्तारपूर्वक यहाँ कौन कहेगा? इसे कौन निश्चयात्मक जानता है? देव भी इस (सत् सृष्टि के) विसर्ग के पश्चात् हुए हैं। फिर वह जहाँ से हुई उसे कौन जानेगा?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥७॥

७ (सत् का) यह विसर्ग अर्थात् फैलाव जहाँ से हुआ अथवा निर्मित किया गया या नहीं किया गया – उसे परम आकाश में रहनेवाला इस सृष्टि का जो अध्यक्ष (हिरण्यगर्भ) है, वही जानता होगा या न भी जानता हो! (कौन कह सके?)

सारे वेदान्तशास्त्र का रहस्य यही है कि नेत्रों को या सामान्यतः सब इन्द्रियों को गोचर होनेवाले विकारी और विनाशी नामरूपात्मक अनेक दृश्यों के फन्दे में फँसे न रह कर ज्ञानदृष्टि से यह जानना चाहिये कि इस दृश्य के परे कोई न कोई एक और अमृत तत्त्व है। इस मक्खन के गोले को ही पाने के लिये उक्त सूक्त के ऋषि की बुद्धि एकदम दौड़ पड़ी है; इससे यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि उसका अन्तर्ज्ञान कितना तीव्र था। [illegible] सृष्टि के सारे पदार्थों के उत्पन्न होने के पहले [illegible] आकाश [illegible]

उत्पत्ति के अनन्तर की है। अतएव सृष्टि में इन द्वन्द्वों के उत्पन्न होने के पूर्व अर्थात् जब 'एक और दूसरा' यह भेद ही न था तब कौन किसे आच्छादित करता? इसलिये आरम्भ ही में इस सूक्त का ऋषि निर्भय हो कर यह कहता है कि मूलारम्भ के एक द्रव्य को सत् या असत्, आकाश या जल, प्रकाश या अन्धकार, अमृत या मृत्यु इत्यादि कोई भी परस्परसापेक्ष नाम देना उचित नहीं। जो कुछ था वह इन सब पदार्थों से विलक्षण था और वह अकेला एक चारों ओर अपनी अपरंपार शक्ति से स्फूर्तिमान् था। उसकी जोड़ी में या उसे आच्छादित करनेवाला अन्य कुछ भी न था। दूसरी ऋचा में 'आनीत्' क्रियापद के 'अन्' धातु का अर्थ है श्वासोच्छ्वास लेना या स्फुरण होना और 'प्राण' शब्द भी इसी धातु से बना है। परन्तु जो न सत् है और न असत्, उसके विषय में कौन कह सकता है कि वह सजीव प्राणियों के समान श्वासोच्छ्वास लेता था? और श्वासोच्छ्वास के लिये वहाँ वायु ही कहाँ है? अतएव 'आनीत्' पद के साथ ही – 'अवातं' = बिना वायु के और 'स्वधया' = स्वयं अपनी ही महिमा से – इन दोनों पदों को जोड़ कर 'सृष्टि का मूलतत्त्व जड़ नहीं था' यह अद्वैतावस्था का अर्थ द्वैत की भाषा में बड़ी युक्ति से इस प्रकार कहा है कि 'वह एक बिना वायु के केवल अपनी ही शक्ति से श्वासोच्छ्वास लेता या स्फूर्तिमान् होता था!' इसमें बाह्यदृष्टि से जो विरोध दिखाई देता है वह द्वैती भाषा की अपूर्णता से उत्पन्न हुआ है। 'नेति नेति', 'एकमेवाद्वितीयम्' या 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' (छां. ७. २४. १)– अपनी ही महिमा से अर्थात् अन्य किसी की अपेक्षा न करते हुए अकेला ही रहनेवाला इत्यादि जो परब्रह्म के वर्णन उपनिषदों में पाये जाते हैं वे भी उपर्युक्त अर्थ के ही द्योतक हैं। सारी सृष्टि के मूलारम्भ में चारों ओर जिस एक अनिर्वाच्य तत्त्व के स्फुरण होने की बात इस सूक्त में कही गई है, वही तत्त्व सृष्टि का प्रलय होने पर भी निःसन्देह शेष रहेगा। अतएव गीता में इसी परब्रह्म का कुछ पर्याय से इस प्रकार वर्णन है कि 'सब पदार्थों का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता' (गी. ८. २०)। और आगे इसी ऋचा के अनुसार स्पष्ट कहा है कि 'वह सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है' (गी. १३. १२)। परन्तु प्रश्न यह है कि जब सृष्टि के मूलारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के सिवा और कुछ भी न था, तो फिर वेदों में जो ऐसे वचन पाये जाते हैं कि 'आरंभ में पानी, अन्धकार, या आभु और तुच्छ की जोड़ी थी' उनकी क्या व्यवस्था होगी? अतएव तीसरी ऋचा में कवि ने कहा है कि इस प्रकार के जितने वर्णन हैं [जैसे कि – सृष्टि के आरम्भ में अन्धकार था या अन्धकार से आच्छादित पानी था, या आभु (ब्रह्म) और उसको आच्छादित करनेवाली माया (तुच्छ) ये दोनों पहले से थे इत्यादि] वे सब उस समय के हैं कि जब अकेले एक मूल परब्रह्म के तपोमाहात्म्य से उसका विविध रूप से फैलाव हो गया था। ये वर्णन मूलारम्भ की स्थिति के नहीं हैं। इस ऋचा में 'तप' शब्द से मूलब्रह्म की ज्ञानमय विलक्षण शक्ति विवक्षित है और उसी का वर्णन चौथी ऋचा में किया गया है

(मुं. १ १ ९ देखो) एतावान् अस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः' (ऋ. १ ९ ३)। इस न्याय से सारी सृष्टि ही जिसकी महिमा कहलाई, उस मूलद्रव्य के विषय में कहना पड़ेगा कि वह इन सब के परे सब से श्रेष्ठ और भिन्न है। परन्तु दृश्य वस्तु और द्रष्टा भोक्ता और भोग्य आच्छादन करनेवाले और आच्छाद्य, अन्धकार और प्रकाश, मर्त्य और अमर इत्यादि सारे द्वैतों को इस प्रकार अलग कर यद्यपि यह निश्चय किया गया कि केवल एक निर्मल चिद्रूपी विलक्षण परब्रह्म ही मूलारम्भ में था तथापि जब यह बतलाने का समय आया कि इस अनिर्वाच्य निर्गुण अकेले एकतत्त्व से आकाश जल इत्यादि द्वन्द्वात्मक विनाशी सगुण नामरूपात्मक विविध सृष्टि या इस सृष्टि की मूलभूत त्रिगुणात्मक प्रकृति कैसे उत्पन्न हुई तब तो हमारे प्रस्तुत ऋषि ने भी मन काम असत् और सत् जैसी द्वैती भाषा का ही उपयोग किया है। और अन्त में स्पष्ट कह दिया है कि यह प्रश्न मानवी बुद्धि की पहुँच के बाहर है। चौथी ऋचा में मूलब्रह्म को ही असत् कहा है परन्तु उसका अर्थ कुछ नहीं यह नहीं मान सकते। क्योंकि ऋचा में ही स्पष्ट कहा है कि वह है । न केवल इसी सूक्त में किन्तु अन्यत्र भी व्यावहारिक भाषा को स्वीकार कर के ही ऋग्वेद और वाजसनेयी संहिता में गहन विषयों का विचार ऐसे प्रश्नों के द्वारा किया गया है। (ऋ. १ ११ ७ १ ८१ ४ वाज. सं. १७ २ देखो) – जैसे दृश्यसृष्टि को यज्ञ की उपमा दे कर प्रश्न किया है कि इस यज्ञ के लिये आवश्यक घृत समिधा इत्यादि सामग्री प्रथम कहाँ से आई (ऋ. १ ११ ३)? अथवा घर का दृष्टान्त ले कर प्रश्न किया है कि मूल एक निर्गुण से नेत्रों को प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली आकाश-पृथ्वी की इस भव्य इमारत को बनाने के लिये लकड़ी (मूलप्रकृति) कैसे मिली? – कि स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। इन प्रश्नों का उत्तर उपर्युक्त सूक्त की चौथी और पाँचवीं ऋचा में जो कुछ कहा गया है उससे अधिक दिया जाना सम्भव नहीं है (वाज. सं. ११ ७४ देखो) और वह उत्तर यही है कि उस अनिर्वाच्य अकेले एक ब्रह्म ही के मन में सृष्टि निर्माण करने का 'काम' रूपी तत्त्व किसी तरह उत्पन्न हुआ और बस के धागे समान या सूर्यप्रकाश के समान उसी की शाखाएँ तुरन्त नीचे ऊपर और चहुँ ओर फैल गईं। तथा सत् का सारा फैलाव हो गया – अर्थात् आकाश-पृथ्वी की यह भव्य इमारत बन गई। उपनिषदों में इस सूक्त के अर्थ को फिर भी इस प्रकार प्रकट किया है कि सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। (तै. २ ६ छां. ६ २ ३) – उस परब्रह्म को ही अनेक होने की इच्छा हुई (बृ. १ ४ देखो); और अथर्ववेद में भी ऐसा वर्णन है कि इस सारी दृश्यसृष्टि के मूलभूत द्रव्य से ही पहले पहल काम हुआ (अथर्व. २ १)। परन्तु इस सूक्त में विशेषता यह है कि निर्गुण से सगुण की असत् से सत् की निर्द्वन्द्व से द्वन्द्व की अथवा असङ्ग से सङ्ग की उत्पत्ति का प्रश्न मानवी बुद्धि के लिये अगम्य समझ कर सांख्यों के समान केवल तर्कवश हो

मूलप्रकृति ही को या उसके सदृश किसी दूसरे तत्त्व को स्वयम्भू और स्वतन्त्र नहीं माना है। किन्तु इस सूक्त का ऋषि कहता है कि जो बात समझ में नहीं आती, उसके लिये साफ़ साफ़ कह दो कि यह समझ में नहीं आती। परन्तु उसके लिये शुष्कबुद्धि से और आत्मप्रतीति से निश्चित किये गये अनिर्वाच्य ब्रह्म की योग्यता को दृश्यसृष्टिरूप माया की योग्यता के बराबर मत समझो और न परब्रह्म के विषय में अपने अद्वैतभाव ही को छोड़ो। इसके सिवा यह सोचना चाहिये कि, यद्यपि प्रकृति को एक भिन्न त्रिगुणात्मक स्वतन्त्र पदार्थ मान भी लिया जाय तथापि इस प्रश्न का उत्तर तो दिया ही नहीं जा सकता कि उसमें सृष्टि को निर्माण करने के लिये प्रथमतः बुद्धि (महान्) या अहंकार कैसे उत्पन्न हुआ? और, जब कि यह दोष कभी टल ही नहीं सकता है तो फिर प्रकृति को स्वतन्त्र मान लेने में क्या लाभ है? सिर्फ़ इतना कहो कि यह बात समझ में नहीं आती कि मूलब्रह्म से सत् अर्थात् प्रकृति कैसे निर्मित हुई। इसके लिये प्रकृति को स्वतन्त्र मान लेने की ही कुछ आवश्यकता नहीं है। मनुष्य की बुद्धि की कौन कहे परन्तु देवताओं की दिव्यबुद्धि से भी सत् की उत्पत्ति का रहस्य समझ में आ जाना संभव नहीं। क्योंकि देवता भी दृश्यसृष्टि के आरम्भ होने पर उत्पन्न हुए हैं। उन्हें पिछला हाल क्या मालूम? (गी. १०. २ देखो)। परन्तु हिरण्यगर्भ देवताओं से भी बहुत प्राचीन और श्रेष्ठ है। और ऋग्वेद में ही कहा है कि आरम्भ में वह अकेला ही 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋ. १०. १२१. १) – सारी सृष्टि का 'पति' अर्थात् राजा या अध्यक्ष था। फिर उसे यह बात क्योंकर मालूम न होगी? और यदि उसे मालूम होगी तो फिर कोई पूछ सकता है कि इस बात को दुर्बोध या अगम्य क्यों कहते हो? अतएव इस सूक्त के ऋषि ने पहले तो उस प्रश्न का यह औपचारिक उत्तर दिया है कि 'हाँ, वह इस बात को जानता होगा।' परन्तु अपनी बुद्धि से ब्रह्मदेव के भी ज्ञानसागर की थाह लेनेवाले इस ऋषि ने आश्चर्य से साशंक हो अन्त में तुरन्त ही कह दिया है कि 'अथवा न भी जानता हो! कौन कह सकता है? क्योंकि वह भी सत् ही की श्रेणी में है। इस लिये 'परम' स्थान पर भी 'आकाश' ही में रहनेवाले जगत् के इस अध्यक्ष को सत्, असत्, आकाश और जल के भी पूर्व की इन बातों का ज्ञान निश्चित रूप से कैसे हो सकता है?' परन्तु यद्यपि यह बात समझ में नहीं आती कि एक 'असत्' अर्थात् अव्यक्त और निर्गुण द्रव्य ही के साथ विविध नामरूपात्मक सत् का अर्थात् मूल प्रकृति का सम्बन्ध कैसे हो गया, तथापि मूलब्रह्म के एकत्व के विषय में ऋषि ने अपने अद्वैत भाव को डिगने नहीं दिया है। यह इस बात का एक उत्तम उदाहरण है कि सात्त्विक श्रद्धा और निर्मल प्रतिभा के बल पर मनुष्य की बुद्धि अचिन्त्य वस्तुओं के गहन वन में सिंह के समान निर्भय हो कर कैसे सञ्चार किया करती है और वहाँ की अतर्क्य बातों का यथाशक्ति कैसे निश्चय किया करती है। यह सचमुच ही आश्चर्य तथा गौरव की बात है कि ऐसा सूक्त ऋग्वेद में पाया जाता है। हमारे देश में इस

सूक्त के ही विषय का आगे ब्राह्मणों (तैत्ति. ब्रा. २. ८. ९) में उपनिषदों में और अनन्तर वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थों में सूक्ष्म रीति से विवेचन किया गया है और पश्चिमी देशों में भी अर्वाचीन काल के कान्ट इत्यादि तत्त्वज्ञानियों ने उसीका अत्यन्त सूक्ष्म परीक्षण किया है। परन्तु स्मरण रहे कि इस सूक्त के ऋषि की पवित्र बुद्धि में जिन परम सिद्धान्तों की स्फूर्ति हुई है वही सिद्धान्त आगे प्रतिपक्षियों को विवर्तवाद के समान उचित उत्तर दे कर और भी दृढ स्पष्ट या तर्कदृष्टि से निःसन्देह किये गये हैं। इसके आगे अभी तक न कोई बढ़ा है और न बढ़ने की विशेष आशा ही की जा सकती है।

अध्यात्म-प्रकरण समाप्त हुआ। अब आगे चलने के पहले 'केसरी' की चाल के अनुसार इस मार्ग का कुछ निरीक्षण हो जाना चाहिये कि जो यहाँ तक चल आये हैं। कारण यह है कि यदि इस प्रकार सिंहावलोकन न किया जावे तो विषयानुसन्धान के चूक जाने से सम्भव है कि और किसी अन्य मार्ग में सञ्चार होने लगे। ग्रन्थारम्भ में पाठकों का विषय में प्रवेश करा कर्मजिज्ञासा का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया है; और तीसरे प्रकरण में यह दिखलाया है कि कर्मयोगशास्त्र ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है अनन्तर चौथे, पाँचवें और छठे प्रकरण में सुखदुःख-विवेकपूर्वक यह बतलाया है कि कर्मयोगशास्त्र की आधिभौतिक उपपत्ति एकदेशीय तथा अपूर्ण है और आधिदैविक उपपत्ति लँगड़ी है। फिर कर्मयोग की आध्यात्मिक उपपत्ति बतलाने के पहले – यह जानने के लिये कि आत्मा किसे कहते हैं – छठे प्रकरण में ही पहले – क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार और आगे सातवें तथा आठवें प्रकरण में सांख्यशास्त्रान्तर्गत द्वैत के अनुसार क्षर-अक्षर विचार किया गया है। और फिर इस प्रकरण में आकर इस विषय का निरूपण किया गया है कि आत्मा का स्वरूप क्या है? तथा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में दोनों ओर एक ही अमृत और निर्गुण आत्मतत्त्व किस प्रकार ओतप्रोत और निरन्तर व्याप्त है। इसी प्रकार यहाँ यह भी निश्चित किया गया है कि ऐसा समबुद्धियोग प्राप्त करके (कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है) उसे सदैव जागृत रखना ही आत्मज्ञान की और आत्मसुख की पराकाष्ठा है। और फिर यह बतलाया गया है कि अपनी बुद्धि को इस प्रकार शुद्ध आत्मनिष्ठ अवस्था में पहुँचा देने में ही मनुष्य का मनुष्यत्व अर्थात् नरदेह की सार्थकता या मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार मनुष्यजाति के आध्यात्मिक परमसाध्य का निश्चय हो जानेपर कर्मयोगशास्त्र के इस मुख्य प्रश्न का भी निर्णय आप-ही आप हो जाता है कि संसार में हमें प्रतिदिन जो व्यवहार करने पड़ते हैं वे किस नीति से किये जावें? अथवा किस शुद्धबुद्धि से उन सांसारिक व्यवहारों को करना चाहिये उसका यथार्थ स्वरूप क्या है? क्योंकि अब यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ये सारे व्यवहार उसी रीति से किये जाने चाहिये कि जिससे वे परिणाम में ब्रह्मात्मैक्यरूप समबुद्धि के पोषक या अविरोधी हों। भगवद्गीता में कर्मयोग के इसी

आध्यात्मिक तत्त्व का उपदेश अर्जुन को किया गया है। परन्तु कर्मयोग का प्रतिपादन केवल इतने ही से पूरा नहीं होता। क्योंकि कुछ लोगों का कहना है, कि नामरूपात्मक सृष्टि के व्यवहार आत्मज्ञान के विरुद्ध हैं। अतएव ज्ञानी पुरुष उनको छोड़ दें। और यदि यही बात सत्य हो, तो संसार के सारे व्यवहार त्याज्य समझे जायँगे और फिर कर्म-अकर्मशास्त्र भी निरर्थक हो जावेगा। अतएव इस विषय का निर्णय करने के लिये कर्मयोगशास्त्र में ऐसे प्रश्नों का भी विचार अवश्य करना पड़ता है कि कर्म के नियम कौनसे हैं ! और उनका परिणाम क्या होता है ! अथवा बुद्धि की शुद्धता होने पर व्यवहार अर्थात् कर्म क्यों करना चाहिये ! भगवद्गीता में ऐसा विचार किया भी गया है। संन्यासमार्गवाले लोगों को इन प्रश्नों का कुछ भी महत्त्व नहीं जान पड़ता। अतएव ज्योंहि भगवद्गीता का वेदान्त या भक्ति का निरूपण समाप्त हुआ त्योंही प्रायः वे लोग अपनी पोथी समेटने लग जाते हैं। परन्तु ऐसा करना हमारे मत से गीता के मुख्य उद्देश की ओर ही दुर्लक्ष करना है। अतएव अब आगे क्रम से इस बात का विचार किया जायगा कि भगवद्गीता में उपर्युक्त प्रश्नों के क्या उत्तर दिये गये हैं।

दसवाँ प्रकरण

कर्मविपाक और आत्मस्वातन्त्र्य

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते। *

— महाभारत, शांति. २४०. ७.

यद्यपि यह सिद्धान्त अन्त में सच है, कि इस संसार में जो कुछ है वह परब्रह्म ही है, परब्रह्म को छोड़ कर अन्य कुछ नहीं है; तथापि मनुष्य की इन्द्रियों को गोचर होनेवाली दृश्य सृष्टि के पदार्थों का अध्यात्मशास्त्र की चलनी में जब हम संशोधन करने लगते हैं, तब उनके नित्य-अनित्यरूपी दो विभाग या समूह हो जाते हैं। एक तो उन पदार्थों का नामरूपात्मक दृश्य है जो इन्द्रियों को प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, परन्तु हमेशा बदलनेवाला होने के कारण अनित्य है; और दूसरा परमात्मतत्त्व है जो नामरूपों से आच्छादित होने के कारण अदृश्य परन्तु नित्य है। यह सच है कि रसायनशास्त्र में जिस प्रकार सब पदार्थों का पृथक्करण करके उनके घटकद्रव्य अलग अलग निकाल लिये जाते हैं, उसी प्रकार ये दो विभाग आँखों के सामने पृथक् पृथक् नहीं रखे जा सकते। परन्तु ज्ञानदृष्टि से उन दोनों को अलग करके शास्त्रीय उपपादन के सुभीते के लिये उनको क्रमशः 'ब्रह्म' और 'माया' तथा कभी कभी 'ब्रह्मसृष्टि' और 'मायासृष्टि' नाम दिया जाता है। तथापि स्मरण रहे कि ब्रह्म मूल से ही नित्य और सत्य है। इस कारण उसके साथ सृष्टि शब्द ऐसे अवसर पर अनुप्रासार्थ लगा रहता है, और 'ब्रह्मसृष्टि' शब्द से यह मतलब नहीं है कि ब्रह्म को किसी ने उत्पन्न किया है। इन दो सृष्टियों में से देशकाल आदि नामरूपों से अमर्यादित, अनादि, नित्य, अविनाशी, अमृत, स्वतन्त्र और सारी दृश्य सृष्टि के लिये आधारभूत हो कर उसके भीतर रहनेवाली ब्रह्मसृष्टि में ज्ञानचक्षु से संचार करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप अथवा अपने परम साध्य का विचार पिछले प्रकरण में किया गया; और सच पूछिये तो शुद्ध अध्यात्मशास्त्र वहीं समाप्त हो गया। परन्तु मनुष्य का आत्मा यद्यपि आदि में ब्रह्मसृष्टि का है, तथापि दृश्य सृष्टि की अन्य वस्तुओं की तरह वह भी नामरूपात्मक देहेन्द्रियों से आच्छादित है और ये देहेन्द्रिय आदिक नामरूप विनाशी हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि इनसे छूट कर अमृतत्व कैसे प्राप्त करूँ? और इस इच्छा की पूर्ति के लिये मनुष्य को व्यवहार में कैसे चलना चाहिये? – कर्मयोगशास्त्र के इस विषय का विचार करने के लिये कर्म के कायदों से बँधी हुई अनित्य मायासृष्टि के द्वैती प्रदेश में ही अब हमें आना चाहिये। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों मूल में यदि एक ही नित्य और स्वतन्त्र आत्मा है, तो

* कर्म से प्राणी बाँधा जाता है, और विद्या से उसका छुटकारा हो जाता है।

अब सहज ही प्रश्न होता है कि पिण्ड के आत्मा को ब्रह्माण्ड के आत्मा की पहचान हो जाने में कौन-सी अड़चन रहती है? और वह दूर कैसे हो? इस प्रश्न को हल करने के लिये नामरूपों का विवेचन करना आवश्यक होता है। क्योंकि वेदान्त की दृष्टि से सब पदार्थों के दो वर्ग होते हैं; एक आत्मा अथवा परमात्मा और दूसरा उसके ऊपर का नामरूपों का आवरण। इसलिये नामरूपात्मक आवरण के सिवा अब अन्य कुछ भी शेष नहीं रहता। वेदान्तशास्त्र का मत है कि नामरूप का यह आवरण किसी जगह घना तो किसी जगह विरल होने के कारण दृश्य सृष्टि के पदार्थों में सचेतन और अचेतन, तथा सचेतन में भी पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, गन्धर्व और राक्षस इत्यादि भेद हो जाते हैं। यह नहीं कि आत्मरूपी ब्रह्म किसी स्थान में न हो। वह सभी जगह है – वह पत्थर में है और मनुष्य में भी है। परन्तु जिस प्रकार दीपक एक होने पर भी किसी लोहे के बक्स में, अथवा न्यूनाधिक स्वच्छ काँच की लालटेन में रखने से अन्तर पड़ता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व सर्वत्र एक ही होने पर भी उसके ऊपर के कोश – अर्थात् नामरूपात्मक आवरण के तारतम्य भेद से अचेतन और सचेतन ऐसे भेद हो जाया करते हैं। और तो क्या? इसका भी कारण यही है कि सचेतन में मनुष्यों और पशुओं को ज्ञान सम्पादन करने का एक समान ही सामर्थ्य क्यों नहीं होता। आत्मा सर्वत्र एक ही है सही; परन्तु वह आदि से ही निर्गुण और उदासीन होने के कारण मन, बुद्धि इत्यादि नामरूपात्मक साधनों के बिना स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता; और ये साधन मनुष्ययोनि को छोड़ अन्य किसी भी योनि में उसे पूर्णतया प्राप्त नहीं होते। इसलिये मनुष्यजन्म सब में श्रेष्ठ कहा गया है। इस श्रेष्ठ जन्म में आने पर आत्मा के नामरूपात्मक आवरण के स्थूल और सूक्ष्म दो भेद होते हैं। इनमें से स्थूल आवरण मनुष्य की स्थूलदेह ही है कि जो शुक्र, शोणित आदि से बनी है। शुक्र से आगे चल कर स्नायु, अस्थि और मज्जा, तथा शोणित अर्थात् रक्त से त्वचा, मांस और केश उत्पन्न होते हैं – ऐसा समझ कर इन सब को वेदान्ती 'अन्नमय कोश' कहते हैं। इस स्थूलकोश को छोड़ कर हम यह देखने लगते हैं कि इसके अन्दर क्या है, तब क्रमशः वायुरूपी प्राण अर्थात् 'प्राणमय कोश', मन अर्थात् 'मनोमय कोश', बुद्धि अर्थात् 'ज्ञानमय कोश' और अन्त में 'आनन्दमय कोश' मिलता है। आत्मा इससे भी परे है। इसलिये तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्नमय कोश से आगे इस अन्त में आनन्दमय कोश तक का वर्णन करके बतला दिया है कि आत्मस्वरूप की पहचान करना चाहिये (तै. २. १-५; ३. २-६)। इन सब कोशों में से स्थूलदेह का कोश छोड़ शेष १८ तत्त्व प्राणादि कोशों सहित इन्द्रियों और पञ्चतन्मात्राओं का बना हुआ लिङ्ग अथवा सूक्ष्म शरीर कहते हैं। वे लोग 'एक ही आत्मा को भिन्न भिन्न योनियों में जन्म कैसे प्राप्त होता है?' – इसकी उपपत्ति सांख्यशास्त्र की तरह बुद्धि के अनेक 'भाव' मान कर नहीं लगाते; किन्तु इस विषय में उनका यह सिद्धान्त है कि यह सब कर्मविपाक का अथवा कर्म

के कर्मों का परिणाम है। गीता में वेदान्तसूत्रों में और उपनिषदों में स्पष्ट कहा है, कि यह कर्म लिंगशरीर के आश्रय से अर्थात् आधार से रहा करता है और जब आत्मा स्थूलदेह छोड़कर जाने लगता है तब यह कर्म भी लिंगशरीर द्वारा उसके साथ जा कर बार बार उसको भिन्न भिन्न जन्म लेने के लिये बाध्य करता है। इसलिये नामरूपात्मक जन्ममरण के चक्कर से छूट कर नित्य परब्रह्मरूपी होने में अथवा मोक्ष की प्राप्ति में पिण्ड के आत्मा को जो अड़चन हुआ करती है उसका विचार करते समय लिंगशरीर और कर्म दोनों का भी विचार करना पड़ता है। इनमें से लिंगशरीर का सांख्य और वेदान्त दोनों दृष्टियों से पहले ही विचार किया जा चुका है। इसलिये यहाँ फिर उसकी चर्चा नहीं की जाती। इस प्रकरण में सिर्फ इसी बात का विवेचन किया गया है कि जिस कर्म के कारण आत्मा को ब्रह्मज्ञान न होते हुए अनेक जन्मों के चक्कर में पड़ना होता है उस कर्म का स्वरूप क्या है? और उससे छूट कर आत्मा को अमृतत्व प्राप्त होने के लिये मनुष्य को इस संसार में कैसे चलना चाहिये?

सृष्टि के आरम्भकाल में अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्म जिस देशकाल आदि नामरूपात्मक सगुण शक्ति से व्यक्त अर्थात् दृश्यसृष्टिरूप हुआ-सा दीख पड़ता है, उसी को वेदान्तशास्त्र में 'माया' कहते हैं (गी. ७. २४, २५) और उसी में कर्म का भी समावेश होता है (वृ. १. ६. १)। किंबहुना यह भी कहा जा सकता है, कि 'माया' और 'कर्म' दोनों समानार्थक हैं। क्योंकि पहले कुछ-न-कुछ कर्म अर्थात् व्यापार हुए बिना अव्यक्त का व्यक्त होना अथवा निर्गुण का सगुण होना सम्भव नहीं। इसीलिये पहले यह कह कर कि मैं अपनी माया से प्रकृति में उत्पन्न होता हूँ (गी. ४. ६) फिर आगे आठवें अध्याय में गीता में ही कर्म का यह लक्षण दिया है कि "अक्षर परब्रह्म से पञ्चमहाभूतादि विविध सृष्टि निर्माण होने की जो क्रिया है वही कर्म है" (गी. ८. ३)। कर्म कहते हैं व्यापार अथवा क्रिया को। फिर वह मनुष्यकृत हो, सृष्टि के अन्य पदार्थों की क्रिया हो अथवा मूल सृष्टि के उत्पन्न होने की ही हो। इतना व्यापक अर्थ इस जगह विवक्षित है। परन्तु कर्म कोई हो, उसका परिणाम सदैव केवल इतना ही होता है कि एक प्रकार का नामरूप बदल कर उसकी जगह दूसरा नामरूप उत्पन्न किया जाय। क्योंकि इन नामरूपों से आच्छादित मूलद्रव्य कभी नहीं बदलता — वह सदा एक-सा ही रहता है। उदाहरणार्थ, बुनने की क्रिया से 'सूत' यह नाम बदल कर उसी द्रव्य को 'कपड़ा' नाम मिल जाता है; और कुम्हार के व्यापार से 'मिट्टी' नाम के स्थान में 'घट' प्राप्त हो जाता है। इसलिये माया की व्याख्या देते समय कर्म को न लेकर नाम और रूप को ही कभी कभी माया कहते हैं। तथापि कर्म का जब स्वतन्त्र विचार करना पड़ता है तब यह कहने का समय आता है कि कर्मस्वरूप और मायास्वरूप एक ही हैं। इसलिये आरम्भ ही में यह कह देना अधिक सुभीते की बात होगी कि माया, नामरूप और कर्म ये तीनों मूल में एक

त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य 'माया' 'शक्तिः' 'प्रकृति' रिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते (वे. सू. शां. भा. २. १. १४)। इसका भावार्थ यह है – (इन्द्रियों के) अज्ञान से मूलब्रह्म में कल्पित किये हुए नामरूप को ही श्रुति और स्मृतिग्रन्थों में सर्वज्ञ ईश्वर की 'माया', 'शक्ति' अथवा 'प्रकृति' कहते हैं। ये नामरूप सर्वज्ञ परमेश्वर के आत्मभूत-से जान पड़ते हैं। परन्तु इनके जड़ होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि ये परब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न (तत्त्वान्यत्व)। और यही जड़ सृष्टि (दृश्य) के विस्तार के मूल हैं; और इस माया के योग से ही ये ही सृष्टि परमेश्वरनिर्मित दीख पड़ती है। इस कारण यह माया चाहे विनाशी हो, तथापि दृश्य सृष्टि की उत्पत्ति के लिये आवश्यक और अत्यन्त उपयुक्त है; तथा इसी को उपनिषदों में अव्यक्त, आकाश, अक्षर इत्यादि नाम दिये गये हैं (वे. सू. शां. भा. १. ४. ३)। इससे दीख पड़ेगा, कि चिन्मय (पुरुष) और अचेतन माया (प्रकृति) इन दोनों तत्त्वों को सांख्यवादी स्वयम्भू, स्वतन्त्र और अनादि मानते हैं। पर माया का अनादित्व यद्यपि वेदान्ती एक तरह से स्वीकार करते हैं; तथापि यह उन्हें मान्य नहीं, कि माया स्वयम्भू और स्वतन्त्र है। और इसी कारण संसारात्मक माया का वृक्षरूप से वर्णन करते समय गीता (१५. ३) में कहा गया है कि "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा" – इस संसार वृक्ष का रूप, अन्त, आदि, मूल अथवा ठौर नहीं मिलता। इसी प्रकार तीसरे अध्याय में जो ऐसे वर्णन हैं, कि "कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि" (३. १५) – ब्रह्म से कर्म उत्पन्न हुआ; "यज्ञः कर्मसमुद्भवः" (३. १४) – यज्ञ भी कर्म से ही उत्पन्न होता है; अथवा "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" (३. १०) – ब्रह्मदेव ने प्रजा (सृष्टि), यज्ञ (कर्म) दोनों को साथ ही निर्माण किया। इन सब का तात्पर्य भी यही है, कि "कर्म अथवा कर्मरूपी यज्ञ और सृष्टि अर्थात् प्रजा, ये सब साथ ही उत्पन्न हुए हैं। फिर चाहे इस सृष्टि को प्रत्यक्ष ब्रह्मदेव से निर्मित हुई कहो, अथवा मीमांसकों की नाईं यह कहो, कि उस ब्रह्मदेव ने नित्य वेदशब्दों से उसको बनाया – अर्थ दोनों का एक ही है (म. भा. शां. २३१; मनु. १. २१)। सारांश, दृश्य सृष्टि का निर्माण होने के समय मूल निर्गुण ब्रह्म में जो व्यापार दीख पड़ता है, वही कर्म है। इस व्यापार को ही नामरूपात्मक माया कहा गया है; और मूलकर्म से ही सूर्यचन्द्र आदि सृष्टि के सब पदार्थों के व्यापार आगे परम्परा से उत्पन्न हुए हैं (बृ. ३. ८. ९)। ज्ञानी पुरुषों ने अपनी बुद्धि से निश्चित किया है, कि संसार के सारे व्यापार का मूलभूत जो यह सत्कृत्यात्मक कर्म अथवा माया है, सो ब्रह्म की ही लीला है, न कोई अतर्क्य लीला है, स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।* परन्तु ज्ञानी पुरुषों की गति यहीं पर कुण्ठित हो जाती है।

* "What belongs to mere appearance is necessarily subordinated by reason to the nature of the thing in itself." Kant's *Metaphysic of Morals* (Abbot's trans. in Kant's *Theory of Ethics*, p. 81).

इसलिये इस बात का पता नहीं लगता कि यह दृश्य नामरूप अथवा मायात्मक कर्म कब उत्पन्न हुआ? अतः केवल कर्मसृष्टि का ही विचार जब करना होता है तब इस परतन्त्र और विनाशी माया को तथा माया के साथ ही तदङ्गभूत कर्म को भी वेदान्तशास्त्र में अनादि कहा करते हैं (वे. सू. २. १. ३५)। स्मरण रहे कि जैसा सांख्यवादी कहते हैं उस प्रकार अनादि का यह मतलब नहीं है कि माया मूल में ही परमेश्वर की बराबरी की निरारम्भ और स्वतन्त्र है – परन्तु यहाँ अनादि शब्द का यह अर्थ विवक्षित है कि वह दुर्ज्ञेयारम्भ है – अर्थात् उसका आदि (आरम्भ) मालूम नहीं होता।

परन्तु यद्यपि हमें इस बात का पता नहीं लगता कि चिद्रूप कर्मात्मक अर्थात् दृश्यसृष्टिरूप कर्म और क्यों होने लगा? तथापि इस मायात्मक कर्म के अगले सब व्यापारों के नियम निश्चित हैं और उनमें से बहुतेरे नियमों को हम निश्चित रूप से जान भी सकते हैं। आठवें प्रकरण में सांख्यशास्त्र के अनुसार इस बात का विवेचन किया गया है कि मूलप्रकृति से अर्थात् अनादि मायात्मक कर्म से ही आगे चल कर सृष्टि के नामरूपात्मक विविध पदार्थ किस क्रम से निर्मित हुए? और वहीं आधुनिक आधिभौतिक शास्त्र के सिद्धान्त भी तुलना के लिये बतलाये गये हैं। यह सच है, कि वेदान्तशास्त्र प्रकृति को परब्रह्म की तरह स्वयम्भू नहीं मानता परन्तु प्रकृति के अगले विस्तार का क्रम जो सांख्यशास्त्र में कहा गया है वही वेदान्त को भी मान्य है। इसलिये यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं की जाती। कर्मात्मक मूलप्रकृति से विश्व की उत्पत्ति का जो क्रम पहले बतलाया गया है उसमें उन सामान्य नियमों का कुछ भी विचार नहीं हुआ कि जिनके अनुसार मनुष्य को कर्मफल भोगने पड़ते हैं। इसलिये अब उन नियमों का विवेचन करना आवश्यक है। इसी को 'कर्मविपाक' कहते हैं। इस कर्मविपाक का पहला नियम यह है कि जहाँ एक बार कर्म का आरम्भ हुआ फिर उसका व्यापार आगे बराबर अखण्ड जारी रहता है और जब ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर सृष्टि का संहार होता है तब भी यह कर्म बीजरूप से बना रहता है। एवं फिर जब सृष्टि का आरम्भ होने लगता है तब उसी कर्मबीज से फिर पूर्ववत् अंकुर फूटने लगते हैं। महाभारत का कथन है कि –

> येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
> तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥

अर्थात् "पूर्व की सृष्टि में प्रत्येक प्राणी ने जो जो कर्म किये होंगे, ठीक वे ही कर्म उसे (चाहे उसकी इच्छा हो या न हो) फिर फिर यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं" (देखो म. भा. शां. २३१. ४८, ४९ और गी. ८. १८ तथा १९)। गीता (४. १७) में कहा है कि "गहना कर्मणो गतिः" – कर्म की गति कठिन है; इतना ही नहीं किन्तु कर्म का बन्धन भी बड़ा कठिन है। कर्म किसी से भी नहीं छूट सकता। वायु कर्म से ही चलती है; सूर्यचन्द्रादिक कर्म से ही घूमा करते हैं; और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि

इस अनादि कर्मप्रवाह के और भी दूसरे अनेक नाम हैं। जैसे संसार, प्रकृति, माया, दृश्य सृष्टि, सृष्टि के कायदे या नियम इत्यादि। क्योंकि सृष्टिशास्त्र के नियम नामरूपों में होनेवाले परिवर्तनों के ही नियम हैं। और यदि इस दृष्टि से देखें तो सब आधिभौतिक शास्त्र नामरूपात्मक माया के प्रपंच में ही आ जाते हैं। इस माया के नियम तथा बन्धन सुदृढ एवं सर्वव्यापी हैं। इसीलिये हेकेल जैसे आधिभौतिकशास्त्रज्ञ – जो इस नामरूपात्मक माया किंवा दृश्य सृष्टि के मूल में अथवा उससे पर – किसी नित्यतत्त्व का होना नहीं मानते, उन लोगों ने सिद्धान्त किया है कि यह सृष्टिक्रम मनुष्य को जिधर ढकेलता है उधर ही उसे जाना पड़ता है। इन पण्डितों का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य को जो ऐसा मालूम होता रहता है कि नामरूपात्मक विनाशी स्वरूप से हमारी मुक्ति होनी चाहिये, अथवा अमुक काम करने से हमें अमृतत्व मिलेगा – यह सब केवल भ्रम है। आत्मा या परमात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है और अमृतत्व भी झूठ है। इतना ही नहीं, किन्तु इस संसार में कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से कुछ काम करने को स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य आज जो कुछ कार्य करता है वह पूर्वकाल में किये गये स्वयं उसके या उसके पूर्वजों के कर्मों का परिणाम है। इससे उक्त कार्य का करना या न करना भी उसकी इच्छा पर कभी अवलम्बित नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, किसी की एकआध उत्तम वस्तु को देख कर पूर्वकर्मों से अथवा वंशपरम्परागत संस्कारों से उसे चुरा लेने की बुद्धि कई लोगों के मन में इच्छा न रहने पर भी उत्पन्न हो जाती है और वे उस वस्तु को चुरा लेने के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं। अर्थात् इन आधिभौतिक पण्डितों के मत का सारांश यही है कि गीता में जो यह तत्त्व बतलाया गया है कि "अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः" (गी. ३. ३६) इच्छा न होने पर भी मनुष्य पाप करता है! – यही सभी जगह एकसमान उपयोगी है। उसके लिये एक भी अपवाद नहीं है; और इससे बचने का भी कोई उपाय नहीं है। इस मत के अनुसार यदि देखा जाय, तो मानना पड़ेगा कि मनुष्य की जो बुद्धि और इच्छा आज होती है वह कल के कर्मों का फल है, तथा कल जो बुद्धि उत्पन्न हुई थी वह परसों के कर्मों का फल था; और ऐसा होते होते इस कारण परम्परा का कभी अन्त ही नहीं मिलेगा; तथा यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से कुछ भी नहीं कर सकता। जो कुछ होता है वह सब पूर्वकर्म अर्थात् दैव का ही फल है। क्योंकि प्राक्तनकर्म को ही लोग दैव कहा करते हैं। इस प्रकार यदि किसी काम को करने अथवा न करने के लिये मनुष्य को कोई स्वतन्त्रता ही नहीं है तो फिर यह कहना भी व्यर्थ है कि मनुष्य को अपना आचरण अमुक रीति से सुधार लेना चाहिये और अमुक रीति से ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त करके अपनी बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये। तब तो मनुष्य की वही दशा होती है कि जो नदी के प्रवाह में बहती हुई लकड़ी की हो जाती है। अर्थात् जिस ओर माया, प्रकृति, सृष्टिक्रम या कर्म का प्रवाह उसे खींचेगा, उसी ओर उसे चुपचाप चले जाना चाहिये। फिर

चाहे उसमें अधोगति हो अथवा प्रगति इस पर कुछ अन्य आधिभौतिक उत्क्रान्ति वादियों का कहना है कि प्रकृति का स्वरूप स्थिर नहीं है और नामरूप क्षण क्षण में बदला करते हैं। इसलिये जिन सृष्टिनियमों के अनुसार ये परिवर्तन होते हैं उन्हें जानकर मनुष्य को बाह्यसृष्टि में ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिये कि जो उसे हित कारक हो। और हम देखते हैं कि मनुष्य इसी न्याय से प्रत्यक्ष व्यवहारों में अग्नि या विद्युच्छक्ति का उपयोग अपने फायदे के लिये किया करता है। इसी तरह यह भी अनुभव की बात है कि प्रयत्न से मनुष्यस्वभाव में थोड़ाबहुत परिवर्तन अवश्य हो जाता है। परन्तु प्रस्तुत प्रश्न यह नहीं है कि सृष्टिरचना में या मनुष्यस्वभाव में परिवर्तन होता है या नहीं? और करना चाहिये या नहीं? हमें तो पहले यही निश्चय करना है कि ऐसा परिवर्तन करने की जो बुद्धि या इच्छा मनुष्य में उत्पन्न होती है उसे रोकने या न रोकने की स्वाधीनता उस में है या नहीं। और, आधि भौतिक शास्त्र की दृष्टि से इस बुद्धि का होना या न होना ही यदि "बुद्धिः कर्मानु सारिणी" के न्याय के अनुसार प्रकृति, कर्म या सृष्टि के नियमोंसे पहले ही निश्चित हुआ रहता है तो यही निष्पन्न होता है कि इस आधिभौतिक शास्त्र के अनुसार किसी भी कर्म को करने या न करने के लिये मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। इस वाद को "वासनास्वातन्त्र्य", "इच्छास्वातन्त्र्य" या "प्रवृत्तिस्वातन्त्र्य" कहते हैं। केवल कर्मविपाक अथवा केवल आधिभौतिक शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो अन्त में यही सिद्धान्त करना पड़ता है कि मनुष्य को किसी भी प्रकार का प्रवृत्ति-स्वातन्त्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य नहीं है। यह कर्म के अभेद्य बन्धनों से वैसा ही जकड़ा हुआ है जैसे किसी गाड़ी का पहिया चारों तरफ से लोहे की पट्टी से जकड़ दिया जाता है। परन्तु इस सिद्धान्त की सत्यता के लिये मनुष्यों के अन्तःकरण का अनुभव गवाही देने को तैयार नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरण में यही कहता है कि यद्यपि मुझ में सूर्य का उदय पश्चिम दिशा में करा देने की शक्ति नहीं तो भी मुझ में इतनी शक्ति अवश्य है कि मैं अपने हाथ से होनेवाले कार्यों की भलाई बुराई का विचार करके उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार करूँ या न करूँ। अथवा जब मेरे सामने पाप और पुण्य तथा धर्म और अधर्म के दो मार्ग उपस्थित हों तब उनमें से किसी एक को स्वीकार कर लेने के लिये मैं स्वतन्त्र हूँ। अब यही देखना है कि यह समझ सच है या झूठ? यदि इस समझ को झूठ कहें तो हम देखते हैं कि इसी के आधार पर चोरी, हत्या आदि अपराध करनेवालों को अपराधी ठहरा कर सजा दी जाती है और यदि सच मानें तो कर्मवाद, कर्मविपाक या दृश्य सृष्टि के नियम मिथ्या प्रतीत होते हैं। आधिभौतिक शास्त्रों में केवल जड़ पदार्थों की क्रियाओं का ही विचार किया जाता है इसलिये वहाँ यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। परन्तु जिस कर्मयोगशास्त्र में ज्ञानवान मनुष्य के कर्तव्य अकर्तव्य का विवेचन करना होता है उसमें यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और इसका उत्तर देना भी आवश्यक है। क्योंकि एक बार यदि

यही अन्तिम निश्चय हो जाय कि मनुष्य को कुछ भी प्रवृत्तिस्वातन्त्र्य नहीं है फिर अमुक प्रकार से बुद्धि शुद्ध करना चाहिये अमुक नहीं करना चाहिये अमुक धर्म्य है अमुक अधर्म्य इत्यादि विधिनिषेधशास्त्र के सब झगड़े ही आप-ही-आप मिट जायेंगे (वे सू. २ १ ११) * और तब परम्परा से या प्रत्यक्ष रीति से महामाया प्रकृति के दासत्व में सदैव रहना ही मनुष्य का पुरुषार्थ हो जायगा। अथवा पुरुषार्थ ही काहे का ! अपने वश की बात हो तो पुरुषार्थ ठीक है परन्तु जहाँ एक रत्तीभर भी अपनी सत्ता और इच्छा नहीं रह जाती वहाँ दास्य और परतन्त्रता के सिवा और हो ही क्या सकता है ! हल में जुते हुए बैलों के समान सब लोगों को प्रकृति की आज्ञा में चल कर एक आधुनिक कवि के कथनानुसार पदार्थधर्म की शृङ्खलाओं से बँध जाना चाहिये। हमारे भारतवर्ष में कर्मवाद या दैववाद से और पश्चिमी देशों में पहले पहले ईसाई धर्म के भवितव्यवाद से तथा अर्वाचीन काल में शुद्ध आधिभौतिक शास्त्रों के सृष्टिक्रमवाद से इच्छास्वातन्त्र्य के इस विषय की ओर पण्डितों का ध्यान आकर्षित हो गया है और इसकी बहुत-कुछ चर्चा हो रही है। परन्तु यहाँ पर उसका वर्णन करना असम्भव है। इसलिये इस प्रकरण में यही बतलाया जायगा कि वेदान्तशास्त्र और भगवद्गीता ने इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया है।

यह सच है कि कर्मप्रवाह अनादि है और जब एक बार कर्म का चक्कर शुरू हो जाता है तब परमेश्वर भी उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। तथापि अध्यात्मशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि दृश्यसृष्टि केवल नामरूप या कर्म ही नहीं है किन्तु इस नामरूपात्मक आवरण के लिये आधारभूत एक आत्मरूपी स्वतन्त्र और अविनाशी ब्रह्मसृष्टि है तथा मनुष्य के शरीर का आत्मा उस नित्य एवं स्वतन्त्र परब्रह्म ही का अंश है। इस सिद्धान्त की सहायता से प्रत्यक्ष में अनिवार्य दीखनेवाली उक्त अड़चन से भी छुटकारा हो जाने के लिये हमारे शास्त्रकारों का निश्चित किया हुआ एक मार्ग है। परन्तु इसका विचार करने के पहले कर्मविपाकप्रक्रिया के शेष अंश का वर्णन पूरा कर लेना चाहिये। जो जस करै सो तस फल चाखा। यानी जैसी करनी वैसी भरनी। यह नियम न केवल एक ही व्यक्ति के लिये किन्तु कुटुम्ब जाति राष्ट्र और समस्त संसार के लिये भी उपयुक्त होता है। और चूँ कि प्रत्येक मनुष्य का किसी-न किसी कुटुम्ब जाति अथवा देश में समावेश हुआ ही करता है। इस लिये उसे स्वयं अपने कर्मों के साथ कुटुम्ब आदि के सामाजिक कर्मों के फलों को भी अंशतः भोगना पड़ता है। परन्तु व्यवहार में प्रायः एक मनुष्य के कर्मों का ही विवेचन करने का प्रसंग आया करता है। इसलिये कर्मविपाकप्रक्रिया में कर्म के

---

* वेदान्तसूत्र के इस अधिकरण को जीवकर्तृत्वाधिकरण कहते हैं। उसका पहला ही सूत्र कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् अर्थात् विधिनिषेधशास्त्र मे अर्थवत्त्व होने के लिये जीव को कर्ता मानना चाहिये। पाणिनि के स्वतन्त्रः कर्ता (पा १ ४ ५४) सूत्र के 'कर्ता' शब्द से ही आत्मस्वातन्त्र्य का बोध होता है, और इससे मालूम होता है कि यह अधिकरण इसी विषय का है।

विभाग प्रायः एक मनुष्य का ही लक्ष्य करके किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य से किये जानेवाले अशुभ कर्मों के मनुजी ने – कायिक, वाचिक और मानसिक – तीन भेद किये हैं। व्यभिचार, हिंसा और चोरी – इन तीनों को कायिक; कटु, मिथ्या, ताना मारना और असंगत बोलना – इन चारों को वाचिक; और परद्रव्याभिलाषा, दूसरों का अहितचिन्तन और व्यर्थ आग्रह करना – इन तीनों को मानसिक पाप कहते हैं। सब मिला कर दस प्रकार के अशुभ या पापकर्म बतलाये गये हैं (मनु. १२. ५–७; म. भा. अनु. १३) और इनके फल भी कहे गये हैं। परन्तु ये भेद कुछ स्थायी नहीं हैं; क्योंकि इसी अध्याय में सब कर्मों के फिर भी – सात्त्विक, राजस और तामस – तीन भेद किये गये हैं; और प्रायः भगवद्गीता में दिये गये वर्णन के अनुसार इन तीनों प्रकार के गुणों या कर्मों के लक्षण भी बतलाये गये हैं (गी. १४. ११–१५; १८. २३–२५; मनु. १२. ३१–३४)। परन्तु कर्मविपाक प्रकरण में कर्म का जो सामान्यतः विभाग पाया जाता है, वह इन दोनों से भी भिन्न है। उसमें कर्म के संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद किये जाते हैं। किसी मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है – चाहे वह इस जन्म में किया गया हो या पूर्वजन्म में – वह सब 'संचित' अर्थात् 'एकत्रित' कर्म कहा जाता है। इसी 'संचित' का दूसरा नाम 'अदृष्ट' और मीमांसकों की परिभाषा में 'अपूर्व' भी है। इन नामों के पड़ने का कारण यह है, कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है उसी समय के लिये वह दृश्य रहती है; उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया स्वरूपतः शेष नहीं रहती; किन्तु उसके सूक्ष्म अतएव अदृश्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणाम ही बाकी रह जाते हैं (वे. सू. शां. भा. ३. २. ३९, ४०)। कुछ भी हो; परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि इस क्षण तक जो जो कर्म किये गये होंगे उन सब के परिणामों के संग्रह को ही 'संचित', 'अदृष्ट' या 'अपूर्व' कहते हैं। उन सब संचित कर्मों को एकदम भोगना असम्भव है; क्योंकि इनके परिणामों से कुछ परस्परविरोधी अर्थात् भले और बुरे दोनों प्रकार के फल देनेवाले हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, कोई संचित कर्म स्वर्गप्रद और कोई नरकप्रद भी होते हैं। इसलिये इन दोनों के फलों को एक ही समय भोगना सम्भव नहीं है – इन्हें एक के बाद एक भोगना पड़ता है। अतएव 'संचित' में से जितने कर्मों के फलों को भोगना पहले शुरू होता है उतने ही को 'प्रारब्ध' शब्द का बहुधा उपयोग किया जाता है; परन्तु यह भूल है। शास्त्रदृष्टि से यही प्रकट होता है, कि संचित के अर्थात् समस्त भूतपूर्व कर्मों के संग्रह के एक छोटे भेद को ही 'प्रारब्ध' कहते हैं। 'प्रारब्ध' कुछ समस्त संचित नहीं है; संचित के *जितने भाग के फलों का (कार्यों का) भोगना आरम्भ हो गया हो उतना ही प्रारब्ध* है; और इसी कारण से इस प्रारब्ध का दूसरा नाम आरब्धकर्म है। प्रारब्ध और संचित के अतिरिक्त कर्म का क्रियमाण नामक एक और तीसरा भेद है। 'क्रियमाण' वर्तमानकालवाचक धातुसाधित शब्द है; और उसका अर्थ है – 'जो कर्म अभी हो

से स्थापित किया गया है। परन्तु यह तर्क भी अन्त तक नहीं टिकता। सारांश, कर्म के द्वारा कर्म से छुटकारा पाने की आशा रखना वैसा ही व्यर्थ है जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे को रास्ता दिखला कर पार कर दे। अच्छा; अब यदि मीमांसकों की इस युक्ति को मंजूर न करें और कर्म के बन्धनों से छुटकारा पाने के लिये सब कर्मों को आग्रहपूर्वक छोड़ कर निरुद्योगी बन बैठें, तो भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि अनारब्धकर्मों के फलों का भोगना तो बाकी रहता ही है; और इसके साथ कर्म छोड़ने का आग्रह तथा चुपचाप बैठे रहना तामस कर्म हो जाता है। एवं इस तामस कर्मों के फलों को भोगने के लिये फिर भी जन्म लेना ही पड़ता है (गी. १८. ७, ८)। इसके सिवा गीता में अनेक स्थलों पर यह भी बतलाया गया है कि जब तक शरीर है तब तक श्वासोच्छ्वास, सोना, बैठना इत्यादि कर्म होते ही रहते हैं। इस लिये सब कर्मों को छोड़ देने का आग्रह भी व्यर्थ ही है – यथार्थ में इस संसार में कोई क्षणभर के लिये भी कर्म करना छोड़ नहीं सकता (गी. ३. ५; १८. ११)।

कर्म चाहे अच्छा हो या बुरा, परन्तु उसका फल भोगने के लिये मनुष्य को एक-न-एक जन्म ले कर हमेशा तैयार रहना चाहिये। कर्म अनादि है, और उसके अखण्ड व्यापार में परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं करता। सब कर्मों को छोड़ देना सम्भव नहीं है; और मीमांसकों के कथनानुसार कुछ कर्मों को करने से और कुछ कर्मों को छोड़ देने से भी कर्मबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता – इत्यादि बातों के सिद्ध हो जाने पर यह पहला प्रश्न फिर भी होता है, कि कर्मात्मक नामरूप के विनाशी चक्र से छूट जाने (एवं उसके मूल में रहनेवाले अमृत तथा अविनाशी तत्त्व में मिल जाने) की मनुष्य को जो स्वाभाविक इच्छा होती है, उसकी तृप्ति करने का कौन-सा मार्ग है? वेद और स्मृतिग्रन्थों में यज्ञयाग आदि पारलौकिक कल्याण के अनेक साधनों का वर्णन है, परन्तु मोक्षशास्त्र की दृष्टि से ये सब कनिष्ठ श्रेणी के हैं। क्योंकि यज्ञयाग आदि पुण्यकर्मों के द्वारा स्वर्गप्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु जब उन पुण्यकर्मों के फलों का अन्त हो जाता है तब – चाहे दीर्घकाल में ही क्यों न हो – कभी न कभी इस कर्मभूमि में फिर लौट कर आना ही पड़ता है (म. भा. वन. २५९, २६०; गी. ८. २५ और ९. २१)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्म के पंजे से बिलकुल छूट कर अमृतत्व में मिल जाने का और जन्ममरण की झंझट को सदा के लिये दूर कर देने का यह सच्चा मार्ग नहीं है। इस झंझट को दूर करने का अर्थात् मोक्षप्राप्ति का अध्यात्मशास्त्र के कथनानुसार 'ज्ञान' ही एक सच्चा मार्ग है। 'ज्ञान' शब्द का अर्थ व्यवहारज्ञान या नामरूपात्मक सृष्टिशास्त्र का ज्ञान नहीं है, किन्तु यहाँ उसका अर्थ ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है। इसी को विद्या भी कहते हैं; और इस प्रकरण के आरम्भ में 'कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्यया तु प्रमुच्यते' – कर्म से ही प्राणी बाँधा जाता है और विद्या से उसका छुटकारा होता है – यह जो वचन दिया गया है, उसमें विद्या का अर्थ 'ज्ञान' ही विवक्षित है। भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि:–

रहा है अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है। परन्तु वर्तमान समय में हम जो कुछ करते हैं वह प्रारब्धकर्म का ही (अर्थात् सञ्चित कर्मों में से जिन कर्मों का भोगना शुरू हो गया है उनका ही) परिणाम है। अतएव 'क्रियमाण' को कर्म का तीसरा भेद मानने के लिये हमें कोई कारण दीख नहीं पड़ता। हाँ, यह भेद दोनों में अवश्य किया जा सकता है कि प्रारब्ध कारण है और क्रियमाण उसका फल अर्थात् कार्य है। परन्तु कर्म-विपाक प्रक्रिया में इस भेद का कुछ उपयोग नहीं हो सकता। सञ्चित में से जिन कर्मों के फलों का भोगना अभी तक आरम्भ नहीं हुआ है उनका — अर्थात् सञ्चित में से प्रारब्ध को घटा देने पर जो कर्म बाकी रह जायँ उनका — बोध कराने के लिये किसी दूसरे शब्द की आवश्यकता है। इसलिये वेदान्तसूत्र (४. १. १५) में प्रारब्ध ही को प्रारब्धकर्म और जो प्रारब्ध नहीं हैं उन्हें अनारब्धकार्य कहा है। हमारे मतानुसार सञ्चित कर्मों के इस रीति से — प्रारब्धकार्य और अनारब्धकार्य — दो भेद करना ही शास्त्रदृष्टि से अधिक युक्तिपूर्ण मालूम होता है। इसलिये 'क्रियमाण' को वर्तमानकालवाचक न समझ कर "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस पाणिनी-सूत्र के अनुसार (पा. ३. ३. १३१) भविष्यत्कालवाचक समझें, तो उसका अर्थ 'जो आगे शीघ्र ही भोगने को है' — किया जा सकेगा; और तब क्रियमाण का ही अर्थ अनारब्धकार्य हो जायगा। एवं 'प्रारब्ध' तथा 'क्रियमाण' ये दो शब्द क्रम से वेदान्तसूत्र के आरब्धकार्य और अनारब्धकार्य शब्दों के समानार्थक हो जायँगे। परन्तु क्रियमाण का ऐसा अर्थ आजकल कोई नहीं करता; उसका अर्थ प्रचलित कर्म ही लिया जाता है। इस पर यह आक्षेप है कि ऐसा अर्थ लेने से प्रारब्ध के फल को ही क्रियमाण कहना पड़ता है; और जो कर्म अनारब्धकार्य हैं उनका बोध कराने के लिये सञ्चित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण इन तीनों शब्दों में कोई भी शब्द पर्याप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त क्रियमाण शब्द के रूढार्थ को छोड़ देना भी अच्छा नहीं है। इसलिये कर्मविपाकक्रिया में सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म के इन लौकिक भेदों को न मान कर हमने उनके अनारब्धकार्य और प्रारब्धकार्य ये ही दो वर्ग किये हैं और ये ही शास्त्रदृष्टि से भी सुभीते के हैं। 'भोगना' क्रिया के कालकृत तीन भेद होते हैं — जो भोगा जा चुका है (भूत), जो भोगा जा रहा है (वर्तमान) और जिसे आगे भोगना है (भविष्य)। परन्तु कर्म-विपाक क्रिया में इस प्रकार कर्म के तीन भेद नहीं हो सकते। क्योंकि सञ्चित में से जो कर्म प्रारब्ध हो कर भोगे जाते हैं, उनके फल फिर भी सञ्चित ही में जा मिलते हैं। इसलिये कर्मभोग का विचार करते समय सञ्चित के ही ये दो भेद हो सकते हैं — (१) वे कर्म जिनका भोगना शुरू हो गया है अर्थात् प्रारब्ध और (२) जिनका भोगना शुरू नहीं है अर्थात् अनारब्ध। इन दो से अधिक भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सब कर्मों के फलों का द्विविध वर्गीकरण करके उनके उपभोग के सम्बन्ध में कर्मविपाक-क्रिया यह बतलाती है कि सञ्चित ही कुल भोग्य है। इनमें से जिन कर्मफलों का उपभोग

आरम्भ होने से यह शरीर या जन्म मिला है (अर्थात् संचित में से जो कर्म प्रारब्ध हो गये हैं) उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं है – 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।' जब एक बार हाथ से बाण छूट जाता है तब वह लौट कर आ नहीं सकता; अन्त तक चला ही जाता है। अथवा जब एक बार कुम्हार का चक्र घुमा दिया जाता है तब उसकी गति का अन्त होने तक वह घूमता ही रहता है। ठीक इसी तरह 'प्रारब्ध' कर्मों की (अर्थात् जिनके फल का भोग होना शुरू हो गया है उनकी) भी अवस्था होती है। जो शुरू हो गया है उसका अन्त ही होना चाहिये। इसके सिवा दूसरी गति नहीं है। परन्तु अनारब्ध-कार्य-कर्म का ऐसा हाल नहीं है – इन सब कर्मों का ज्ञान से पूर्णतया नाश किया जा सकता है। प्रारब्धकार्य और अनारब्धकार्य में जो यह महत्त्वपूर्ण भेद है इसके कारण ज्ञानी पुरुष को ज्ञान होने के बाद भी नैसर्गिक रीति से मृत्यु होने तक (अर्थात् जन्म के साथ ही प्रारब्ध हुए कर्मों का अन्त होने तक) शान्ति के साथ राह देखनी पड़ती है। ऐसा न करके यदि वह हठ से देहत्याग करे, तो – ज्ञान से उसके अनारब्धकर्मों का क्षय हो जाने पर भी – देहारम्भक प्रारब्ध कर्मों का भोग अपूर्ण रह जायगा और उन्हें भोगने के लिये उसे फिर भी जन्म लेना पड़ेगा। एवं उसके मोक्ष में भी बाधा आ जायगी। यह वेदान्त और सांख्य दोनों शास्त्रों का निर्णय है। (वे. सू. ४. १. १३-१९ तथा सां. का. ६७)। उक्त बाधा के सिवा हठ से आत्महत्या करना एक नया कर्म हो जायगा और उसका फल भोगने के लिये नया जन्म लेने की फिर भी आवश्यकता होगी। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि कर्मशास्त्र की दृष्टि से भी आत्महत्या करना मूर्खता ही है।

कर्मफलभोग की दृष्टि से कर्म के भेदों का वर्णन हो चुका। अब इसका विचार किया जायगा कि कर्मबन्धन से छुटकारा कैसे अर्थात् किस युक्ति से हो सकता है? पहली युक्ति कर्मवादियों की है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि अनारब्धकार्य [illegible] पुराने संचित का परिणाम है – फिर इस कर्म को चाहे इसी [illegible] में भोगना पड़े या उसके लिये और भी दूसरा जन्म लेना पड़े। परन्तु इस अर्थ [illegible] कुछ मीमांसकों ने कर्मबन्धन से छूट कर मोक्ष पाने का एक सहज मार्ग ढूँढ निकाला है। तीसरे प्रकरण में कहे अनुसार मीमांसकों [illegible] सब कर्मों के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ऐसे चार भेद [illegible] नित्य कर्मों को न करने से पाप लगता है और नैमित्तिक कर्म नहीं करने पर [illegible] इसलिये मीमांसकों का कहना है कि इन दोनों कर्मों को करना ही चाहिये। [illegible] काम्य और निषिद्ध कर्म [illegible] निषिद्ध कर्म करने से पाप लगता है [illegible] करना चाहिये और काम्य कर्मों को करने से उनके फलों का भोगने के [illegible] फिर जन्म लेना पड़ता है [illegible] नहीं करना चाहिये। इस प्रकार भिन्न [illegible] के परिणामों का विचार करके [illegible] मनुष्य कुछ कर्मों को

छोड़े और कुछ कर्मों को शास्त्रोक्त रीति से करता रहे तो वह आप-ही-आप मुक्त हो जायगा। क्योंकि, प्रारब्ध कर्मों का इस जन्म में उपभोग कर लेने से उनका अन्त हो जाता है। और इस जन्म में सब नित्यनैमित्तिक कर्मों को करते रहने से तथा निषिद्ध कर्मों से बचते रहने से नरक में नहीं जाना पड़ता। एवं काम्य कर्मों का छोड़ देने से स्वर्ग आदि सुखों के भोगने की भी आवश्यकता नहीं रहती। और जब इहलोक, नरक, और स्वर्ग, ये तीनों गति इस प्रकार छूट जाती हैं तब आत्मा के लिये मोक्ष के सिवा कोई दूसरी गति ही नहीं रह जाती। इस वाद को 'कर्ममुक्ति' या 'नैष्कर्म्यसिद्धि' कहते हैं। कर्म करने पर भी जो न करने के समान हो अर्थात् जब किसी कर्म के पापपुण्य का बन्धन कर्ता को नहीं हो सकता तब उस स्थिति को नैष्कर्म्य कहते हैं। परन्तु वेदान्तशास्त्र में निश्चय किया गया है कि मीमांसकों की उक्त युक्ति से यह नैष्कर्म्य पूर्ण रीति से नहीं सध सकता (वे. सू. शां. भा. ४. ३. १४) और इसी अभिप्राय से गीता भी कहती है कि "कर्म न करने से नैष्कर्म्य नहीं होता और छोड़ देने से सिद्धि भी नहीं मिलती" (गी. ३. ४)। धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि पहले तो सब निषिद्ध कर्मों का त्याग करना ही असम्भव है। और यदि कोई निषिद्ध कर्म हो जाता है तो केवल नैमित्तिक प्रायश्चित्त से उसके सब दोषों का नाश भी नहीं होता। अच्छा, यदि मान लें कि उक्त बात सम्भव है, तो भी मीमांसकों के इस कथन में ही कुछ सत्यांश नहीं दीख पड़ता कि "प्रारब्ध कर्मों को भोगने से तथा इस जन्म में किये जानेवाले कर्मों को उक्त युक्ति के अनुसार करने या न करने से सब 'संचित' कर्मों का संग्रह समाप्त हो जाता है"। क्योंकि दो 'संचित' कर्मों के फल परस्परविरोधी – उदाहरणार्थ, एक का फल स्वर्गसुख तथा दूसरे का फल नरक-यातना – हों, तो उन्हें एक ही समय में और एक ही स्थल में भोगना असम्भव है। इसलिये इसी जन्म में 'प्रारब्ध' हुए कर्मों से तथा इसी जन्म में किये जानेवाले कर्मों से सब 'संचित' कर्मों के फलों का भोगना पूरा नहीं हो सकता। महाभारत में पराशरगीता में कहा है :–

कदाचित्सुकृतं तात कूटस्थमिव तिष्ठति।
मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते॥

"कभी कभी मनुष्य के सांसारिक दुःखों से छूटने तक उसका पूर्वकाल में किया गया पुण्य (उसे अपना फल देने की राह देखता हुआ) चुप बैठा रहता है" (म. भा. शां. २९०. १०); और यही न्याय संचित पापकर्मों को भी लागू है। इस प्रकार संचित कर्मोपभोग एक ही जन्म में नहीं चुक जाता; किन्तु संचित कर्मों का एक भाग अर्थात् अनारब्धकार्य हमेशा बचा ही रहता है। और इस जन्म में सब कर्मों को यदि उपर्युक्त युक्ति से करते रहें तो भी बचे हुए अनारब्धकार्य संचितों को भोगने के लिये पुनः जन्म लेना ही पड़ता है। इसीलिये वेदान्त का सिद्धान्त है कि मीमांसकों की उपर्युक्त सरल मोक्षयुक्ति खोटी तथा भ्रान्तिमूलक है। कर्मबन्धन से छूटने का यह मार्ग किसी भी उपनिषद् में नहीं बतलाया गया है। यह केवल तर्क के आधार

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

'ज्ञानरूप अग्नि से सब कर्म भस्म हो जाते हैं (गी ४ ३७)। और दो स्थलों पर महाभारत में भी कहा गया है कि –

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः॥

भूना हुआ बीज जैसे उग नहीं सकता, वैसे ही जब ज्ञान से (कर्मों के) क्लेश दग्ध हो जाते हैं तब वे आत्मा को पुनः प्राप्त नहीं होते (म भा वन १९९. १ ६ १ ७ शां. २११ १७)। उपनिषदों में भी इसी प्रकार ज्ञान की महत्ता बतलानेवाले अनेक वचन हैं। जैसे – य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्व भवति' (बृ १ ४ १) – जो यह जानता है, कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वही अमृत ब्रह्म होता है। जिस प्रकार कमलपत्र में पानी लग नहीं सकता उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया उसे कर्म दूषित नहीं कर सकते (छां ४ १४ ३)। ब्रह्म जाननेवाले को मोक्ष मिलता है (तै २ १)। जिसे यह मालूम हो चुका है कि सब कुछ आत्ममय है उसे पाप नहीं लग सकता (बृ ४ ४ २३)। ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे ५ १३ ६ १३) – परमेश्वर का ज्ञान होने पर सब पाशों से मुक्त हो जाता है। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे (मुं २ २ ८) परब्रह्म का ज्ञान होने पर उसके सब कर्मों का क्षय हो जाता है। 'विद्ययामृतमश्नुते। (ईशा ११ मैत्र्यु ७ ९) – विद्या से अमृतत्व मिलता है। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे. ३ ८) – परमेश्वर को जान लेने से अमरत्व मिलता है। इसको छोड़ मोक्षप्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है; और शास्त्रदृष्टि से विचार करने पर भी यही सिद्धान्त दृढ होता है। क्योंकि दृश्य सृष्टि में जो कुछ है वह सब यद्यपि कर्ममय है तथापि इस सृष्टि के आधारभूत परब्रह्म की ही वह सब लीला है। इस लिये यह स्पष्ट है कि कोई भी कर्म परब्रह्म को बाधा नहीं दे सकते – अर्थात् सब कर्मों को करके भी परब्रह्म अलिप्त ही रहता है। इस प्रकरण के आरम्भ में बतलाया जा चुका है कि अध्यात्मशास्त्र के अनुसार इस संसार के सब पदार्थ के कर्म (माया) और ब्रह्म दो ही वर्ग होते हैं। इससे यही प्रकट होता है कि इनमें से किसी एक वर्ग से अर्थात् कर्म से छुटकारा पाने की इच्छा हो तो मनुष्य को दूसरे वर्ग में अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में प्रवेश करना चाहिये। उसके लिये और दूसरा मार्ग नहीं है। क्योंकि जब सब पदार्थों के केवल दो ही वर्ग होते हैं तब कर्म से मुक्त अवस्था सिवा ब्रह्मस्वरूप के और कोई शेष नहीं रह जाती। परन्तु ब्रह्मस्वरूप की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये स्पष्टरूप से ज्ञान लेना चाहिये कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है? नहीं तो करने चलेंगे एक और होगा कुछ दूसरा ही। विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम् – मूर्ति तो गणेश की बनानी थी परन्तु (वह न बन कर) बन गई बन्दर

की। ठीक यही दशा होगी। इसलिये अध्यात्मशास्त्र के युक्तिवाद से भी यही सिद्ध होता है, कि ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य का तथा ब्रह्म की अलिप्तता का ज्ञान) प्राप्त करके उसे मृत्युपर्यन्त स्थिर रखना ही कर्मपाश से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। गीता में भगवान् ने भी यही कहा है कि "कर्मों में मेरी कुछ भी आसक्ति नहीं है इसलिये मुझे कर्म का बन्धन नहीं होता – और जो इस तत्त्व को समझ जाता है वह कर्मपाश से मुक्त हो जाता है।" (गी. ४. १४ तथा १३. २३)। स्मरण रहे, कि यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ केवल शाब्दिक ज्ञान या केवल मानसिक क्रिया नहीं है किन्तु हर समय और प्रत्येक स्थान में उसका अर्थ 'पहले मानसिक ज्ञान होने पर (और फिर इन्द्रियों पर जय प्राप्त कर लेने पर) ब्रह्मीभूत होने की अवस्था या ब्राह्मी स्थिति' ही है। यह बात वेदान्तसूत्र के शांकरभाष्य के आरम्भ ही में कही गई है। पिछले प्रकरण के अन्त में ज्ञान के सम्बन्ध में अध्यात्मशास्त्र का यही सिद्धान्त बतलाया गया है। और महाभारत में भी जनक ने सुलभा से कहा है कि – "ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्" – ज्ञान (अर्थात् मानसिक क्रियारूपी ज्ञान) हो जाने पर मनुष्य यत्न करता है, और यत्न के इस मार्ग से ही अन्त में उसे महत्तत्त्व (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है (शां. ३२०. ३०)। अध्यात्मशास्त्र इतना ही बतला सकता है कि मोक्षप्राप्ति के लिये किस मार्ग से और कहाँ जाना चाहिये? इससे अधिक वह और कुछ नहीं बतला सकता। शास्त्र से ये बातें जान कर प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रोक्त मार्ग से स्वयं आप ही चलना चाहिये। और उस मार्ग में जो काँटे या बाधाएँ हों, उन्हें निकाल कर अपना रास्ता खुद साफ़ कर लेना चाहिये। एवं उसी मार्ग में चलते हुए स्वयं अपने प्रयत्न से ही अन्त में ध्येयवस्तु की प्राप्ति कर लेनी चाहिये। परन्तु यह प्रयत्न भी पातञ्जलयोग, अध्यात्मविचार, भक्ति, कर्मफलत्याग इत्यादि अनेक प्रकार से किया जा सकता है (गी. १२. ८–१२) और इस कारण मनुष्य बहुधा उलझन में फँस जाता है। इसीलिये गीता में पहले निष्कामकर्मयोग का मुख्य मार्ग बतलाया गया है, और उसकी सिद्धि के लिये छठे अध्याय में यमनियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अङ्गभूत साधनों का भी वर्णन किया गया है; तथा आगे सातवें अध्याय में यह बतलाया है कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान अध्यात्मविचार-द्वारा अथवा (इससे भी सुलभ रीति से) भक्तिमार्ग-द्वारा हो जाता है (गी. १८. ५६)।

कर्मबन्धन से छुटकारा होने के लिये कर्म छोड़ देना कोई उचित मार्ग नहीं है; किन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करके परमेश्वर के समान आचरण करते रहने से ही अन्त में मोक्ष मिलता है; कर्म को छोड़ देना भ्रम है; क्योंकि कर्म किसी से छूट नहीं सकता – इत्यादि बातें यद्यपि अब निर्विवाद सिद्ध हो गईं, तथापि यह पहले का प्रश्न फिर भी उठता है कि क्या इस मार्ग में सफलता पाने के लिये आवश्यक ज्ञानप्राप्ति का जो प्रयत्न करना पड़ता है, वह मनुष्य के वश में है?

अथवा नामरूप कर्मात्मक प्रकृति जिधर खींचे उधर ही उसे चले जाना चाहिये। भगवान् गीता में कहते हैं कि 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।' (गी. ३. ३३) – निग्रह से क्या होगा। प्राणिमात्र अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं। 'मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' – तेरा निश्चय व्यर्थ है। जिधर तू न चाहेगा उधर तेरी प्रकृति तुझे खींच लेगी (गी. १८. ५९; २. ६०)। और मनुजी कहते हैं कि 'बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु. २. २१५) – विद्वानों को भी इन्द्रियाँ अपने वश में कर लेती हैं। कर्मविपाकप्रक्रिया का भी निष्कर्ष यही है। क्योंकि जब ऐसा मान लिया जाय कि मनुष्य के मन की सब प्रेरणाएँ पूर्वकर्मों से ही उत्पन्न होती हैं तब तो यही अनुमान करना पड़ता है कि उसे एक कर्म से दूसरे कर्म में अर्थात् सदैव भवचक्र में ही रहना चाहिये। अधिक क्या कहें! कर्म से छुटकारा पाने की प्रेरणा और कर्म दोनों बातें परस्परविरुद्ध हैं। और यदि यह सत्य है तो यह आपत्ति आ पड़ती है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। इस विषय का विचार अध्यात्मशास्त्र में इस प्रकार किया गया है कि नामरूपात्मक सारी दृश्यसृष्टि का आधारभूत जो तत्त्व है वही मनुष्य की देह में भी निवास करता है। इससे उसके कृत्यों का विचार देह और आत्मा दोनों की दृष्टि से करना चाहिये। इनमें से आत्मस्वरूपी ब्रह्म मूल में केवल एक ही होने के कारण कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता। क्योंकि किसी एक वस्तु को दूसरे की अधीनता में होने के लिये एक से अधिक – कम-से-कम दो – वस्तुओं का होना नितान्त आवश्यक है। यहाँ नामरूपात्मक कर्म ही वह दूसरी वस्तु है। परन्तु यह कर्म अनित्य है और मूल में वह परब्रह्म की लीला है। जिससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि यद्यपि उसने परब्रह्म के एक अंश को आच्छादित कर लिया है तथापि वह परब्रह्म को अपना दास कभी भी बना नहीं सकता। इसके अतिरिक्त यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि जो आत्मा कर्मसृष्टि के व्यापारों का एकीकरण करके सृष्टिज्ञान उत्पन्न करता है उसे कर्मसृष्टि से भिन्न अर्थात् ब्रह्मसृष्टि का ही होना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि परब्रह्म और उसीका अंश शारीर आत्मा दोनों मूल में स्वतन्त्र अर्थात् कर्मात्मक प्रकृति की सत्ता से मुक्त हैं। इनमें से परमात्मा के विषय में मनुष्य को इससे अधिक ज्ञान नहीं हो सकता कि वह अनन्त, सर्वव्यापी, नित्य, शुद्ध और मुक्त है। परन्तु इस परमात्मा ही के अंशरूप जीवात्मा की बात भिन्न है। यद्यपि वह मूल में शुद्ध, मुक्तस्वभाव, निर्गुण तथा अकर्ता है तथापि शरीर और बुद्धि आदि इन्द्रियों के बन्धन में फँसा होने के कारण वह मनुष्य के मन में जो स्फूर्ति उत्पन्न करता है उसका प्रत्यक्षानुभवरूपी ज्ञान हमें हो सकता है। भाफ का उदाहरण लीजिये। जब वह खुली जगह में रहती तब उसका कुछ जोर नहीं चलता परन्तु वह जब किसी बर्तन में बन्द कर दी जाती है, तब उसका दबाव उस बर्तन पर जोर से होता हुआ दीख पड़ने लगता है। ठीक

इसी तरह जब परमात्मा का ही अंशभूत जीव (गी १ ७) अनादि पूर्वकर्मार्जित बद्ध देह तथा इन्द्रियों में बन्धनों से बद्ध हो जाता है तब इस बद्धावस्था से उसको मुक्त करने के लिये (मोक्षानुकूल) कर्म करने की प्रवृत्ति देहेन्द्रियों में होने लगती है और इसी को व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति' कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से कहने का कारण यह है कि शुद्ध मुक्तावस्था में या तात्त्विक दृष्टि से आत्मा इच्छारहित तथा अकर्ता है – सब कर्तृत्व केवल प्रकृति का है (११ २ वे सू, शां भा २ १ ४)। परन्तु वेदान्ती लोग सांख्यमत की भाँति यह नहीं मानते कि प्रकृति ही स्वयं मोक्षानुकूल कर्म किया करती है क्योंकि ऐसा मान लेने से यह कहना पड़ेगा कि जड़प्रकृति अपने अज्ञेपन से अज्ञानियों का भी मुक्त कर सकती है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो आत्मा मूल ही में अकर्ता है वह स्वतन्त्र रीति से – अर्थात् बिना किसी निमित्त के – अपने नैसर्गिक गुणों से ही प्रवर्तक हो जाता है। इसलिये आत्मस्वातन्त्र्य के उक्त सिद्धान्त को वेदान्तशास्त्र में इस प्रकार बतलाना पड़ता है कि आत्मा यद्यपि मूल में अकर्ता है तथापि बन्धनों के निमित्त से वह इतने ही के लिये दिखाऊ प्रेरक बन जाता है और जब यह आगन्तुक प्रेरकता उसमें एक बार किसी भी निमित्त से आ जाती है तब वह कर्म के नियमों से भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र ही रहती है। स्वातन्त्र्य का अर्थ निर्निमित्तक नहीं है और आत्मा अपनी मूल शुद्धावस्था में कर्ता भी नहीं रहता। परन्तु बार बार इस लम्बीचौड़ी कथा को न बतलाते रह कर इसी को संक्षेप में आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति या प्रेरणा कहने की परिपाटी हो गई है। बन्धन में पड़ने के कारण आत्मा के द्वारा इन्द्रियों को मिलनेवाली स्वतन्त्र प्रेरणा में और बाह्यसृष्टि के पदार्थों के संयोग से इन्द्रियों में उत्पन्न होनेवाली प्रेरणा में बहुत भिन्नता है। खाना पीना चैन करना – ये सब सब इन्द्रियों की प्रेरणाएँ हैं। और आत्मा की प्रेरणा मोक्षानुकूल कर्म करने के लिये हुआ करती है। पहली प्रेरणा केवल बाह्य अर्थात् कर्मसृष्टि की है। परन्तु दूसरी प्रेरणा आत्मा की अर्थात् ब्रह्मसृष्टि की है। और ये दोनों प्रेरणाएँ प्रायः परस्परविरोधी हैं जिससे इन के झगड़े में ही मनुष्य की सब आयु बीत जाती है। इनके झगड़े के समय जब मन में सन्देह उत्पन्न होता है तब कर्मसृष्टि की प्रेरणा को न मान कर (मा ११ १ ४) यदि मनुष्य शुद्धात्मा की स्वतन्त्र प्रेरणा के अनुसार चलने लगे – और इसी का सच्चा आत्मज्ञान या आत्मनिष्ठा कहते हैं – तो इसके सब व्यवहार स्वभावतः मोक्षानुकूल ही होंगे। और अन्त में –

> विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
> विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥
> स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते।

वह जीवात्मा या शारीर आत्मा – जो मूल में स्वतन्त्र है – ऐसे परमात्मा में मिल जाता है जो नित्य शुद्ध बुद्ध निर्मल और स्वतन्त्र है (म भा शां ३ ८

बिना किसी उपपत्ति के केवल प्रत्यक्षसिद्ध कह कर इस बात को अवश्य मानता है, कि प्रयत्न से मनुष्य अपने आचरण और परिस्थिति को सुधार सकता है।

यद्यपि यह सिद्ध हो चुका, कि कर्मपाश से मुक्त हो कर सर्वभूतान्तर्गत एक आत्मा को पहचान लेने की जो आध्यात्मिक पूर्णावस्था है उसे प्राप्त करने के लिये ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ही एकमात्र उपाय है और इस ज्ञान को प्राप्त कर लेना हमारे अधिकार की बात है। तथापि स्मरण रहे कि यह स्वतन्त्र आत्मा भी अपनी छाती पर लदे हुए प्रकृति के बोझ को एकदम अर्थात् एक ही क्षण में अलग नहीं कर सकता। जैसे कोई कारीगर कितना ही कुशल क्यों न हो परन्तु वह हथियारों के बिना कुछ काम नहीं कर सकता। और यदि हथियार खराब हों तो उन्हें ठीक करने में उसका बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है। वैसा ही जीवात्मा का भी हाल है। ज्ञानप्राप्ति की प्रेरणा करने के लिये जीवात्मा स्वतन्त्र तो अवश्य है परन्तु वह तात्त्विक दृष्टि से मूल में निर्गुण और केवल है। अथवा सातवें प्रकरण में बतलाये अनुसार नेत्रयुक्त परन्तु लँगड़ा है। (मैत्र्यु. ३. २. ३; गी. १३. २)। इसलिये उक्त प्रेरणा के अनुसार कर्म करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता होती है (जैसे कुम्हार को चाक की आवश्यकता होती है) वे इस आत्मा के पास स्वयं अपने नहीं होते – जो साधन उपलब्ध हैं (जैसे देह और बुद्धि आदि इन्द्रियाँ) वे सब मायात्मक प्रकृति के विकार हैं। अतएव जीवात्मा को अपनी मुक्ति के लिये भी प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त देहेन्द्रिय आदि सामग्री (साधन या उपाधि) के द्वारा ही सब काम करना पड़ता है। इन साधनों में बुद्धि मुख्य है। इसलिये कुछ काम करने के लिये जीवात्मा पहले बुद्धि को ही प्रेरणा करता है। परन्तु पूर्वकर्मानुसार और प्रकृति के स्वभावानुसार यह कोई नियम नहीं कि यह बुद्धि हमेशा शुद्ध तथा सात्त्विक ही हो। इसलिये पहले त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रपञ्च से मुक्त हो कर यह बुद्धि अन्तर्मुख शुद्ध सात्त्विक या आत्मनिष्ठ होनी चाहिये। अर्थात् यह बुद्धि ऐसी होनी चाहिये कि जीवात्मा की प्रेरणा को माने उसकी आज्ञा का पालन करे और उन्हीं कर्मों को करने का निश्चय करे जिनसे आत्मा का कल्याण हो ऐसा होने के लिये दीर्घकाल तक वैराग्य का अभ्यास करना पड़ता है। इतना होने पर भी भूख प्यास आदि देहधर्म और सञ्चित कर्मों के वे फल – जिनका भोगना आरम्भ हो गया है – मृत्युसमय तक छूटते ही नहीं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपाधिबद्ध जीवात्मा देहेन्द्रियों को मोक्षानुकूल कर्म करने की प्रेरणा करने के लिये स्वतन्त्र है तथापि प्रकृति ही के द्वारा चूँकि उसे सब काम कराने पड़ते हैं इसलिये उतने भर के लिये (बढ़ई कुम्हार आदि कारीगरों के समान) वह परावलम्बी हो जाता है और उसे देहेन्द्रिय आदि हथियारों को पहले शुद्ध करके अपने अधिकार में कर लेना पड़ता है (कठ. २. १. ४)। यह काम एकदम नहीं हो सकता। इसे धीरे धीरे करना

चाहिये। नहीं तो भड़कने और भड़कनेवाले घोड़े के समान इन्द्रियाँ बलपूर्वक मनुष्य को घर दबावेंगी। इसीलिये भगवान ने कहा है कि इन्द्रियनिग्रह करने के लिये बुद्धि को धृति या धैर्य की सहायता मिलनी चाहिये (गी. ६. २[illegible]) और आगे अठारहवें अध्याय (१८. ३३–३[illegible]) में बुद्धि की भाँति धृति के भी – सात्त्विक, राजस और तामस – तीन नैसर्गिक भेद बतलाये गये हैं। इनमें से तामस और राजस को छोड़ कर बुद्धि को सात्त्विक बनाने के लिये इन्द्रियनिग्रह करना पड़ता है। और इसी से छठे अध्याय में इसका भी संक्षिप्त वर्णन किया है कि इस इन्द्रियनिग्रहाभ्यासरूप योग के लिये उचित स्थल, आसन और आहार कौन कौन-से हैं? इस प्रकार गीता (६. २८) में बतलाया गया है कि 'शनैः शनैः' अभ्यास करने पर चित्त स्थिर हो जाता है, इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं और आगे कुछ समय के बाद (एकदम नहीं) ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होता है। एवं फिर 'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय' – उस ज्ञान से कर्मबन्धन छूट जाता है (गी. ४. ३८–४१)। परन्तु भगवान एकान्त में योगाभ्यास करने का उपदेश देते हैं (गी. ६. १[illegible]), इससे गीता का तात्पर्य यह नहीं समझ लेना चाहिये कि संसार के सब व्यवहारों को छोड़ कर योगाभ्यास में ही सारी आयु बिता दी जावे। जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने पास की पूँजी से ही – चाहे वह बहुत थोड़ी ही क्यों न हो – पहले धीरे धीरे व्यापार करने लगता है और उसके द्वारा अन्त में अपार सम्पत्ति कमा लेता है, उसी प्रकार गीता के कर्मयोग का भी हाल है। अपने से जितना हो सकता है, उतना ही इन्द्रियनिग्रह करके पहले कर्मयोग को शुरू करना चाहिये और इसी से अन्त में अधिकाधिक इन्द्रियनिग्रहसामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। तथापि चौराहे में बैठ कर भी योगाभ्यास करने से काम नहीं चल सकता। क्योंकि इससे बुद्धि को एकाग्रता की जो आदत हुई होगी, उसके घट जाने का भय होता है। इसलिये कर्मयोग का आचरण करते हुए कुछ समय तक नित्य या कभी कभी एकान्त का सेवन करना भी आवश्यक है (गी. ११. १[illegible])। इसके लिये संसार के समस्त व्यवहारों को छोड़ देने का उपदेश भगवान् ने कहीं भी नहीं दिया है; प्रत्युत सांसारिक व्यवहारों को निष्कामबुद्धि से करने के लिये ही इन्द्रियनिग्रह का अभ्यास बतलाया गया है। और गीता का यही कथन है कि इस इन्द्रियनिग्रह के साथ साथ यथाशक्ति निष्कामकर्मयोग का भी आचरण प्रत्येक मनुष्य को हमेशा करते रहना चाहिये। पूर्ण इन्द्रियनिग्रह के सिद्ध होने तक राह देखते बैठे नहीं रहना चाहिये। मैत्र्युपनिषद् में और महाभारत में कहा गया है कि यदि कोई मनुष्य बुद्धिमान् और निग्रही हो, तो वह इस प्रकार के योगाभ्यास से छः महिने में साम्यबुद्धि प्राप्त कर सकता है (मै. ६. २८; म. भा. शां. २३९. ३२; अश्व. अनुगीता १९. ६६)। परन्तु भगवान् ने जिस सात्त्विक, सम या आत्मनिष्ठ बुद्धि का वर्णन किया है, वह बहुतेरे लोगों को छः महिने में

२७–२)। ऊपर जो कहा गया है कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है, उसका यही अर्थ है। इसके विपरीत जब वह इन्द्रियों के *प्राकृत धर्म की – अर्थात् कर्मसृष्टि की प्रेरणा* की – मातहती हो जाती है तब मनुष्य की अधोगति होती है। शरीर में बँधे हुए जीवात्मा में देहेन्द्रियों से मोक्षानुकूल कर्म करने की तथा ब्रह्मात्मैक्यज्ञान मोक्ष से प्राप्त कर लेने की जो यह स्वतन्त्र शक्ति है उसकी ओर ध्यान दे कर ही भगवान् ने अर्जुन को आत्मस्वातन्त्र्य अर्थात् स्वावलम्बन के तत्त्व का उपदेश किया है कि –

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार आप ही करे। वह अपनी अवनति आप ही न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बन्धु (हितकारी) है और स्वयं अपना शत्रु (नाशकर्ता) है (गी. ६. ५) और इसी हेतु से योगवासिष्ठ (२ सर्ग ४–८) में दैव का निराकरण करके पौरुष के महत्त्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस तत्त्व को पहचान कर आचरण किया करता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है उसी के आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं। और जीवात्मा का भी यही स्वतन्त्र धर्म है कि ऐसे आचरण की ओर देहेन्द्रियों को प्रवृत्त किया करे। इसी धर्म के कारण दुराचारी मनुष्य का अन्तःकरण भी सदाचरण ही की तरफ़दारी किया करता है जिससे उसे अपने किये हुए दुष्कर्मों का पश्चात्ताप होता है। आधिदैवत पक्ष के पण्डित इसे सदसद्विवेकबुद्धिरूपी देवता की स्वतन्त्र स्फूर्ति कहते हैं। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि बुद्धीन्द्रियाँ जड़ प्रकृति ही का विकार होने के कारण स्वयं अपनी ही प्रेरणा से कर्म के नियमबन्धनों से मुक्त नहीं हो सकतीं। यह प्रेरणा उसे कर्मसृष्टि के बाहर के आत्मा से प्राप्त होती है। इसी प्रकार पश्चिमी पण्डितों का 'इच्छास्वातन्त्र्य' शब्द भी वेदान्त की दृष्टि से ठीक नहीं है। क्योंकि इच्छा मन का धर्म है। और आठवें प्रकरण में कहा जा चुका है कि बुद्धि तथा उसके साथ साथ मन भी कर्मात्मक जड़ प्रकृति के अस्वयंवेद्य विकार हैं। इसलिये ये दोनों स्वयं आप ही कर्म के बन्धन से छूट नहीं सकते। अतएव वेदान्तशास्त्र का निश्चय है, कि सच्चा स्वातन्त्र्य न तो बुद्धि का है और न मन का – वह केवल आत्मा का है। यह स्वातन्त्र्य न तो आत्मा को कोई देता है और न कोई उससे छीन सकता है। स्वतन्त्र परमात्मा का अंशरूप जीवात्मा जब उपाधि के बन्धन में पड़ जाता है तब वह स्वयं स्वतन्त्र रीति से ऊपर कहे अनुसार बुद्धि तथा मन में प्रेरणा किया करता है। अन्तःकरण की इस प्रेरणा का अनादर करके कोई बर्ताव करेगा तो यही कहा जा सकता है कि वह स्वयं अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारने को तैयार है। भगवद्गीता में इसी तत्त्व का उल्लेख यों किया गया है – 'न हिनस्त्यात्मनात्मानम्' – जो स्वयं अपना घात आप ही नहीं

करता, उसे उत्तम गति मिलती है (गी. ११. २८) और दासबोध में भी इसी का स्पष्ट अनुवाद किया गया है (दा. बो. १७. ७. ७–१)। यद्यपि दीख पड़ता है कि मनुष्य कर्मसृष्टि के अभेद्य नियमों से जकड़ कर बँधा हुआ है, तथापि स्वभावतः उसे ऐसा मालूम होता है कि मैं किसी काम को स्वतन्त्र रीति से कर सकूँगा। अनुभव के इस तत्त्व की उपपत्ति ऊपर कहे अनुसार ब्रह्मसृष्टि को जड़ सृष्टि से भिन्न माने बिना किसी भी अन्य रीति से नहीं बतलाई जा सकती। इसलिये जो अध्यात्मशास्त्र को नहीं मानते उन्हें इस विषय में या तो मनुष्य के नित्य दासत्व को मानना चाहिये या प्रवृत्तिस्वातन्त्र्य के प्रश्न को अगम्य समझ कर यों ही छोड़ देना चाहिये; उनके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि जीवात्मा और परमात्मा मूल में एकरूप हैं (वे. सू. शां. भा. २. ३. ४); और इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रवृत्तिस्वातन्त्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य की उक्त उपपत्ति बतलाई गई है। परन्तु जिन्हें यह अद्वैत मत मान्य नहीं है अथवा जो भक्ति के लिये द्वैत को स्वीकार किया करते हैं, उनका कथन है कि जीवात्मा का यह सामर्थ्य स्वयं उसका नहीं है, बल्कि यह उसे परमेश्वर से प्राप्त होता है। तथापि "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।" (ऋ. ४. ३३. ११) – थकने तक प्रयत्न करनेवाले मनुष्य के अतिरिक्त अन्यों की देवता लोग मदद नहीं करते – ऋग्वेद के इस तत्त्वानुसार यह कहा जाता है कि जीवात्मा को यह सामर्थ्य प्राप्त करा देने के लिये पहले स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिये – अर्थात् आत्मप्रयत्न का और पर्याय से आत्मस्वातन्त्र्य का तत्त्व फिर भी स्थिर बना ही रहता है (वे. सू. २. ३. ४१, ४२; गी. [illegible] और [illegible])। अधिक क्या कहें? बौद्धधर्मी लोग आत्मा का या परब्रह्म का अस्तित्व नहीं मानते; और यद्यपि उनको ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान मान्य नहीं है, तथापि उनके धर्मग्रन्थों में यही उपदेश किया गया है कि "अत्तना (आत्मना) चोदयऽत्तानं" – अपने आप को स्वयं अपने ही प्रयत्न से राह पर लगाना चाहिये। इस उपदेश का समर्थन करने के लिये कहा गया है कि –

> अत्ता (आत्मा) हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
> तस्मा सञ्ञमयऽत्तानं अस्सं (अश्वं) भद्रं व वाणिजो॥

"हम ही खुद अपने स्वामी या मालिक हैं और आत्मा के सिवा हमें तारनेवाला दूसरा कोई नहीं है। इसलिये जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़े का संयमन करता है, उसी प्रकार हमें अपना संयमन आप ही अच्छी रीति से करना चाहिये" (धम्मपद ३८०)। और गीता की भाँति आत्मस्वातन्त्र्य के अस्तित्व तथा उसकी आवश्यकता का भी वर्णन किया गया है (देखो महापरिनिब्बाण-सुत्त २. ३३–३५)। आधिभौतिक फ्रेंच पण्डित कोंट की भी गणना इसी वर्ग में करनी चाहिये। क्योंकि यद्यपि वह किसी भी अध्यात्मवाद को नहीं मानता, तथापि वह

२७–१)। ऊपर जो कहा गया है कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है, उसका यही अर्थ है। इसके विपरीत जब वह इन्द्रियों के प्राकृत धर्म की – अर्थात् कर्मसृष्टि की प्रेरणा की – अवस्था हो जाती है तब मनुष्य की अधोगति होती है। शरीर में बँधे हुए जीवात्मा में देहेन्द्रियों से मोक्षानुकूल कर्म करने की तथा ब्रह्मात्मैक्यज्ञान मोक्ष से प्राप्त कर लेने की जो यह स्वतन्त्र शक्ति है उसकी ओर ध्यान दे कर ही भगवान् ने अर्जुन को आत्मस्वातन्त्र्य अर्थात् स्वावलम्बन के तत्त्व का उपदेश किया है, कि –

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार आप ही करे। वह अपनी अवनति आप ही न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बन्धु (हितकारी) है और स्वयं अपना शत्रु (नाशकर्ता) है (गी. ६. ५) और इसी हेतु से *योगवासिष्ठ* (२. सर्ग ४–८) में दैव का निराकरण करके पौरुष के महत्त्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस तत्त्व को पहचान कर आचरण किया करता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, उसी के आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं। और जीवात्मा का भी यही स्वतन्त्र धर्म है, कि ऐसे आचरण की ओर देहेन्द्रियों को प्रवृत्त किया करे। इसी धर्म के कारण दुराचारी मनुष्य का अन्तःकरण भी सदाचरण ही की तरफदारी किया करता है जिससे उसे अपने किये हुए दुष्कर्मों का पश्चात्ताप होता है। आधिदैवत पक्ष के पण्डित इसे सदसद्विवेकबुद्धिरूपी देवता की स्वतन्त्र स्फूर्ति कहते हैं। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि बुद्धीन्द्रिय जड़ प्रकृति ही का विकार होने के कारण स्वयं अपनी ही प्रेरणा से कर्म के नियमबन्धनों से मुक्त नहीं हो सकती। यह प्रेरणा उसे कर्मसृष्टि के बाहर के आत्मा से प्राप्त होती है। इसी प्रकार पश्चिमी पण्डितों का 'इच्छास्वातन्त्र्य' शब्द भी वेदान्त की दृष्टि से ठीक नहीं है; क्योंकि इच्छा मन का धर्म है। और आठवें प्रकरण में कहा जा चुका है कि बुद्धि तथा उसके साथ साथ मन भी कर्मात्मक जड़ प्रकृति के अस्वयंवेद्य विकार हैं। इसलिये ये दोनों स्वयं आप ही कर्म के बन्धन से छूट नहीं सकते। अतएव वेदान्तशास्त्र का निश्चय है, कि सच्चा स्वातन्त्र्य न तो बुद्धि का है और न मन का – वह केवल आत्मा का है। यह स्वातन्त्र्य न तो आत्मा को कोई देता है और न कोई उससे छीन सकता है। स्वतन्त्र परमात्मा का अंशरूप जीवात्मा जब उपाधि के बन्धन में पड़ जाता है तब वह स्वयं स्वतन्त्र रीति से ऊपर के अनुसार बुद्धि तथा मन में प्रेरणा किया करता है। अन्तःकरण की इस प्रेरणा का अनादर करके कोई बर्ताव करेगा तो यही कहा जा सकता है कि वह स्वयं अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारने को तैयार है। भगवद्गीता में इसी तत्त्व का उल्लेख यों किया गया है 'न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानम्' – जो स्वयं अपना घात आप ही नहीं

चाहिये। नहीं तो चमकने और मचकनेवाले घोड़े के समान इन्द्रियाँ कलवा करने लगेंगी और मनुष्य को घर दबावेंगी। इसीलिये भगवान ने कहा है कि इन्द्रिय निग्रह करने के लिये बुद्धि को धृति या धैर्य की सहायता मिलनी चाहिये (गी ६) और आगे अठारहवें अध्याय (१८ ३३–३५) में बुद्धि की भाँति धृति के भी – सात्त्विक, राजस, और तामस – तीन नैसर्गिक भेद बतलाये गये हैं। इनमें से तामस और राजस को छोड़ कर बुद्धि को सात्त्विक बनाने के लिये इन्द्रियनिग्रह करना पड़ता है। और इसी से छठवें अध्याय में इसका भी संक्षिप्त वर्णन किया है कि ऐसे इन्द्रियनिग्रहाभ्यासरूप योग के लिये उचित स्थल, आसन और आहार कौन कौन से हैं? इस प्रकार गीता (६) में बतलाया गया है कि "शनैः शनैः" अभ्यास करने पर चित्त स्थिर हो जाता है इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं और आगे कुछ समय के बाद (एकदम नहीं) ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होता है। एवं फिर "आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय" – इस ज्ञान से कर्मबन्धन छूट जाता है (गी ४ ३८–४१)। परन्तु भगवान एकान्त में योगाभ्यास करने का उपदेश देते हैं (गी ६) इससे गीता का तात्पर्य यह नहीं समझ लेना चाहिये कि संसार के सब व्यवहारों को छोड़ कर योगाभ्यास में ही सारी आयु बिता दी जावे। जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने पास की पूँजी से ही – चाहे वह बहुत थोड़ी ही क्यों न हो – पहले धीरे धीरे व्यापार करने लगता है और उसके द्वारा अन्त में अपार सम्पत्ति कमा लेता है उसी प्रकार गीता के कर्मयोग का भी हाल है। अपने से जितना हो सकता है उतना ही इन्द्रियनिग्रह करके पहले कर्मयोग को शुरू करना चाहिये और इसी से अन्त में अधिकाधिक इन्द्रियनिग्रहसामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। तथापि चौराहे में बैठ कर भी योगाभ्यास करने से काम नहीं चल सकता। क्योंकि इससे बुद्धि को एकाग्रता की जो आदत हुई होगी उसके घट जाने का भय होता है। इसलिये कर्मयोग का आचरण करते हुए कुछ समय तक नित्य या कभी कभी एकान्त का सेवन करना भी आवश्यक है (गी १३ १)। इसके लिये संसार के समस्त व्यवहारों को छोड़ देने का उपदेश भगवान् ने कहीं भी नहीं दिया है प्रत्युत सांसारिक व्यवहारों को निष्कामबुद्धि से करने के लिये ही इन्द्रिय निग्रह का अभ्यास बतलाया गया है। और गीता का यही कथन है कि इस इन्द्रियनिग्रह के साथ साथ यथाशक्ति निष्कामकर्मयोग का भी आचरण प्रत्येक मनुष्य को हमेशा करते रहना चाहिये। पूर्ण इन्द्रियनिग्रह के सिद्ध होने तक राह देखते बैठे नहीं रहना चाहिये। मैत्र्युपनिषद् में और महाभारत में कहा गया है कि यदि कोई मनुष्य बुद्धिमान् और निग्रही हो तो वह इस प्रकार के योगाभ्यास से छः महिने में साम्यबुद्धि प्राप्त कर सकता है (मै ६ २८; म भा. शां. २३९ ३२ अश्व अनुगीता १ ६६)। परन्तु भगवान् ने जिस सात्त्विक सम या आत्मनिष्ठ बुद्धि का वर्णन किया है वह बहुतेरे लोगों को छः महिने में

बिना किसी उपपत्ति के केवल प्रत्यक्षसिद्ध कह कर इस बात को अवश्य मानता है कि प्रयत्न से मनुष्य अपने आचरण और परिस्थिति को सुधार सकता है।

यद्यपि यह सिद्ध हो चुका कि कर्मपाश से मुक्त हो कर सर्वभूतान्तर्गत एक आत्मा को पहचान लेने की जो आध्यात्मिक पूर्णावस्था है उसे प्राप्त करने के लिये ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ही एकमात्र उपाय है और इस ज्ञान को प्राप्त कर लेना हमारे अधिकार की बात है। तथापि स्मरण रहे कि यह स्वतन्त्र आत्मा भी अपनी छाती पर लदे हुए प्रकृति के बोझ को एकदम अर्थात् एक ही क्षण में अलग नहीं कर सकता। जैसे कोई कारीगर कितना ही कुशल क्यों न हो, परन्तु वह हथियारों के बिना कुछ काम नहीं कर सकता। और यदि हथियार खराब हों तो उन्हें ठीक करने में उसका बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है। वैसा ही जीवात्मा का भी हाल है। ज्ञानप्राप्ति की प्रेरणा करने के लिये जीवात्मा स्वतन्त्र तो अवश्य है परन्तु वह तात्त्विक दृष्टि से मूल में निर्गुण और केवल है। अथवा सातवें प्रकरण में बतलाये अनुसार नेत्रयुक्त परन्तु लँगड़ा है। (मैत्र्यु. ३. २; ३; गी. १३. २०)। इसलिये उक्त प्रेरणा के अनुसार कर्म करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता होती है (जैसे कुम्हार को चाक की आवश्यकता होती है) वे इस आत्मा के पास स्वयं अपने नहीं होते – जो साधन उपलब्ध हैं (जैसे देह और बुद्धि आदि इन्द्रियाँ) वे सब मायात्मक प्रकृति के विकार हैं। अतएव जीवात्मा को अपनी मुक्ति के लिये भी प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त देहेन्द्रिय आदि सामग्री (साधन या उपाधि) के द्वारा ही सब काम करना पड़ता है। इन साधनों में बुद्धि मुख्य है। इसलिये कुछ काम करने के लिये जीवात्मा पहले बुद्धि को ही प्रेरणा करता है। परन्तु पूर्वकर्मानुसार और प्रकृति के स्वभावानुसार यह कोई नियम नहीं कि यह बुद्धि हमेशा शुद्ध तथा सात्त्विक ही हो। इसलिये पहले त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रपञ्च से मुक्त हो कर यह बुद्धि अन्तर्मुख शुद्ध सात्त्विक या आत्मनिष्ठ होनी चाहिये। अर्थात् यह बुद्धि ऐसी होनी चाहिये कि जीवात्मा की प्रेरणा को माने उसकी आज्ञा का पालन करे और उन्हीं कर्मों को करने का निश्चय करे जिनसे आत्मा का कल्याण हो। ऐसा होने के लिये दीर्घकाल तक वैराग्य का अभ्यास करना पड़ता है। इतना होने पर भी भूख-प्यास आदि देहधर्म और संचित कर्मों के वे फल – जिनका भोगना आरम्भ हो गया है – मृत्युसमय तक छूटते ही नहीं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपाधिबद्ध जीवात्मा देहेन्द्रियों को मोक्षानुकूल काम करने की प्रेरणा करने के लिये स्वतन्त्र है तथापि प्रकृति ही के द्वारा चूँकि उसे सब काम कराने पड़ते हैं इसलिये उतने भर के लिये (बढ़ई, कुम्हार आदि कारीगरों के समान) वह पराधीन हो जाता है और उसे देहेन्द्रिय आदि हथियारों को पहले शुद्ध करके अपने अधिकार में कर लेना पड़ता है (वे. सू. २. ३. ४०)। यह काम एकदम नहीं हो सकता। इसे धीरे धीरे करना

चाहिये। नहीं तो चमकने और भड़कनेवाले घोड़े के समान इन्द्रियाँ [illegible] करने लगेंगी और मनुष्य को घर दबावेंगी। इसीलिये भगवान् ने कहा है, कि इन्द्रिय-निग्रह करने के लिये बुद्धि को धृति या धैर्य की सहायता मिलनी चाहिये (गी. ६. २५) और आगे अठारहवें अध्याय (१८. ३३-३५) में बुद्धि की भाँति धृति के भी — सात्त्विक, राजस और तामस — तीन नैसर्गिक भेद बतलाये गये हैं। इनमें से तामस और राजस को छोड़ कर बुद्धि को सात्त्विक बनाने के लिये इन्द्रियनिग्रह करना पड़ता है। और इसी से छठे अध्याय में इसका भी संक्षिप्त वर्णन किया है कि ऐसे इन्द्रियनिग्रहाभ्यासरूप योग के लिये उचित स्थल, आसन और आहार कौन कौन से हैं। इस प्रकार गीता (६. २५) में बतलाया गया है कि 'शनैः शनैः' अभ्यास करने पर चित्त स्थिर हो जाता है, इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं और आगे कुछ समय के बाद (एकदम नहीं) ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होता है। एवं फिर 'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय' — उस ज्ञान से कर्मबन्धन छूट जाता है (गी. ४. ३८-४१)। परन्तु भगवान् एकान्त में योगाभ्यास करने का उपदेश देते हैं (गी. ६. १०), इससे गीता का तात्पर्य यह नहीं समझ लेना चाहिये कि संसार के सब व्यवहारों को छोड़ कर योगाभ्यास में ही सारी आयु बिता दी जावे। जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने पास की पूँजी से ही — चाहे वह बहुत थोड़ी ही क्यों न हो — पहले धीरे धीरे व्यापार करने लगता है और उसके द्वारा अन्त में अपार सम्पत्ति कमा लेता है, उसी प्रकार गीता के कर्मयोग का भी हाल है। अपने से जितना हो सकता है उतना ही इन्द्रियनिग्रह करके पहले कर्मयोग को शुरू करना चाहिये और इसी से अन्त में अधिकाधिक इन्द्रियनिग्रहसामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। तथापि चौराहे में बैठ कर भी योगाभ्यास करने से काम नहीं चल सकता। क्योंकि इससे बुद्धि को एकाग्रता की जो आदत हुई होगी उसके घट जाने का भय होता है। इसलिये कर्मयोग का आचरण करते हुए कुछ समय तक नित्य या कभी कभी एकान्त का सेवन करना भी आवश्यक है (गी. १३. १०)। इसके लिये संसार के समस्त व्यवहारों को छोड़ देने का उपदेश भगवान् ने कहीं भी नहीं दिया है; प्रत्युत सांसारिक व्यवहारों को निष्कामबुद्धि से करने के लिये ही इन्द्रिय-निग्रह का अभ्यास बतलाया गया है। और गीता का यही कथन है कि इस इन्द्रियनिग्रह के साथ साथ यथाशक्ति निष्कामकर्मयोग का भी आचरण प्रत्येक मनुष्य को हमेशा करते रहना चाहिये। पूर्ण इन्द्रियनिग्रह के सिद्ध होने तक राह देखते बैठे नहीं रहना चाहिये। मैत्र्युपनिषद् में और महाभारत में कहा गया है कि यदि कोई मनुष्य बुद्धिमान् और निग्रही हो तो वह इस प्रकार के योगाभ्यास से छः महीने में साम्यबुद्धि प्राप्त कर सकता है (मै. ६. २८; म. भा. शां. २३९. ३२; अश्व. अनुगीता १९. ६६)। परन्तु भगवान् ने जिस सात्त्विक, सम या आत्मनिष्ठ बुद्धि का वर्णन किया है, वह बहुतेरे लोगों को छः महीने में

क्या [illegible] वय में भी प्राप्त नहीं हो सकती। और इस अभ्यास [illegible] के अपूर्ण रह जाने के कारण इस जन्म में तो पूरी सिद्धि होगी ही नहीं परन्तु [illegible] दूसरा जन्म ले कर फिर भी शुरू से वही अभ्यास करना पड़ेगा; और उस जन्म [illegible] का अभ्यास भी पूर्वजन्म के अभ्यास की भाँति ही अधूरा रह जायगा। इसलिये [illegible] यह शंका उत्पन्न होती है कि ऐसे मनुष्य को पूर्ण सिद्धि कभी मिल ही नहीं सकती। [illegible] फलतः ऐसा भी मालूम होने लगता है कि कर्मयोग का आचरण करने के पूर्व [illegible] पातञ्जलयोग की सहायता से पूर्ण निर्विकल्प समाधि पहले सीख लेना चाहिये। अर्जुन [illegible] के मन में यही शंका उत्पन्न हुई थी और उसने गीता के छठवें अध्याय (६. ३७ [illegible]) में श्रीकृष्ण से पूछा है कि ऐसी दशा में मनुष्य को क्या करना चाहिये? [illegible] उत्तर में भगवान् ने कहा है कि आत्मा अमर होने के कारण इस पर लिङ्ग [illegible] द्वारा इस जन्म में जो थोड़ेबहुत संस्कार होते हैं वे आगे भी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं; तथा यह 'योगभ्रष्ट' पुरुष अर्थात् कर्मयोग को पूरा न साध सकने के कारण उससे भ्रष्ट होनेवाला पुरुष अगले जन्म में अपना प्रयत्न वहीं से शुरू करता है कि जहाँ से उसका अभ्यास छूट गया था। और ऐसा होते होते क्रम से "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" (गी. ६. ४५) – अनेक जन्मों में पूर्ण सिद्धि हो जाती है एवं अन्त में उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य करके दूसरे अध्याय में कहा गया है कि "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।" (गी. २. ४०) – इस धर्म का अर्थात् कर्मयोग का स्वल्प आचरण भी बड़े बड़े संकटों से बचा देता है। सारांश, मनुष्य का आत्मा मूल में यद्यपि स्वतन्त्र है तथापि मनुष्य एक ही जन्म में पूर्ण सिद्धि नहीं पा सकता। क्योंकि पूर्वकर्मों के अनुसार उसे मिली हुई देह का प्राकृतिक स्वभाव अशुद्ध होता है। परन्तु इससे "नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।" (मनु. ४. १३७) – किसी को निराश नहीं होना चाहिये और एक ही जन्म में परम सिद्धि पा जाने के दुराग्रह में पड़ कर पातञ्जल योगाभ्यास में अर्थात् इन्द्रियों का जबर्दस्ती दमन करने में ही सब आयु वृथा खो नहीं देनी चाहिये। आत्मा को कोई जल्दी नहीं पड़ी है। जितना आज हो सके, उतने ही योगबल को प्राप्त करके कर्मयोग का आचरण शुरू कर देना चाहिये। इससे धीरे धीरे बुद्धि अधिकाधिक सात्त्विक तथा शुद्ध होती जायगी और कर्मयोग स्वल्पाचरण ही – नहीं, जिज्ञासा तक रहँट में बैठे हुए मनुष्य की तरह आगे ढकेलते ढकेलते अन्त में आज नहीं तो कल – इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में – उसके आत्मा को पूर्ण ब्रह्मप्राप्ति करा देगा। इसीलिये भगवान् ने गीता में साफ़ कहा है कि कर्मयोग में एक विशेष गुण यह है कि उसका स्वल्प से भी स्वल्प आचरण कभी व्यर्थ नहीं जाने पाता (गी. [illegible] पर हमारी टीका देखो)। मनुष्य को उचित है कि वह केवल इसी जन्म पर ध्यान दे और धीरज को न छोड़े। किन्तु निष्काम कर्म करने के अपने

उद्योग को स्वतन्त्रता से और धीरे धीरे यथाशक्ति जारी रखे। प्राक्तन-संस्कार के कारण ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति की गाँठ हमसे इस जन्म में आज नहीं छूट सकती। परन्तु वही बन्धन क्रम क्रम से बढ़नेवाले कर्मयोग के अभ्यास से कल या दूसरे जन्मों में आप-ही-आप ढीला हो जाता है। और ऐसा होते होते "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" (गी. ७. १९) – कभी-न-कभी पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होने से प्रकृति का बन्धन या पराधीनता छूट जाती है। एवं आत्मा अपने मूल की पूर्ण निर्गुण मुक्तावस्था को अर्थात् मोक्षदशा को पहुँच जाता है। मनुष्य क्या नहीं कर सकता है? जो यह कहावत प्रचलित है, कि "नर करनी करे तो नर का नारायण होय" वह वेदान्त के उक्त सिद्धान्त का ही अनुवाद है। और इसीलिये योगवासिष्ठकार ने मुमुक्षु प्रकरण में उद्योग की खूब प्रशंसा की है तथा असन्दिग्ध रीति से कहा है कि अन्त में सब कुछ उद्योग से ही मिलता है (यो. २. ४. १०-१८)।

यह सिद्ध हो चुका कि ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न करने के लिये जीवात्मा मूल में स्वतन्त्र है और स्वावलंबनपूर्वक दीर्घोद्योग से उसे कभी-न-कभी प्राक्तनकर्म के पंजे से छुटकारा मिल जाता है। अब थोड़ा-सा इस बात का स्पष्टीकरण और हो जाना चाहिये कि कर्मक्षय किसे कहते हैं? और वह कब होता है? कर्मक्षय का अर्थ है – कर्मों के बन्धनों से पूर्ण अर्थात् निःशेष मुक्ति होना। परन्तु पहले कह आये हैं कि चाहे पुरुष ज्ञानी भी हो जाय तथापि जब तक शरीर है तब तक सोना, बैठना, भूख, प्यास इत्यादि कर्म छूट नहीं सकते; और प्रारब्धकर्म का भी बिना भोगे क्षय नहीं होता। इसलिये वह आग्रह से देह का त्याग नहीं कर सकता। इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञान होने के पूर्व किये गये सब कर्मों का नाश ज्ञान होने पर हो जाता है; परन्तु जब कि ज्ञानी पुरुष को यावज्जीवन ज्ञानोत्तरकाल में भी कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है, तब ऐसे कर्मों से उसका छुटकारा कैसे होगा? और यदि छुटकारा न हो तो यह शंका उत्पन्न होती है कि फिर पूर्वकर्मक्षय या आगे मोक्ष भी न होगा। इस पर वेदान्तशास्त्र का उत्तर यह है कि ज्ञानी मनुष्य को नामरूपात्मक देह को नामरूपात्मक कर्मों से यद्यपि कभी छुटकारा नहीं मिल सकता, तथापि इन कर्मों के फल को अपने ऊपर लाद लेने या न लेने में आत्मा पूर्ण रीति से स्वतन्त्र है। इसलिये यदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके – कर्म के विषय में प्राणिमात्र की जो आसक्ति होती है – केवल उसका ही क्षय किया जाय, तो ज्ञानी मनुष्य कर्म करके भी नहीं होता। उसके फल का भागी नहीं कर्म स्वभावतः अन्धा अचेतन या मृत होता है। वह न तो किसी को स्वयं पकड़ता है और न किसी को छोड़ता ही है। वह स्वयं न अच्छा है न बुरा। मनुष्य अपने जीव को इन कर्मों में फँसा कर इन्हें अपनी आसक्ति से अच्छा या बुरा और शुभ या अशुभ बना लेता है। इसलिये कहा जा सकता है कि इस ममत्वयुक्त आसक्ति के छूटने पर कर्म के बन्धन आप ही टूट जाते हैं; फिर चाहे वे कर्म बने रहें या चले जायँ। गीता

चखना है, यह यही वस्तु है। सब प्राणियों के विषय में समबुद्धि रख कर अपने सब व्यापारों की इस ममत्वबुद्धि को जिसने क्षय (नष्ट कर) दिया है वही धन्य है, वही कृतकृत्य और मुक्त है। सब कुछ करते रहने पर भी उसके सब कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध समझे जाते हैं। (गी ४ १९ १८ २६)। इस प्रकार कर्मों का दग्ध होना मन की निर्विषयता पर और ब्रह्मात्मैक्य के अनुभव पर ही सर्वथा अवलम्बित है। अतएव प्रगट है कि जिस तरह आग कभी भी उत्पन्न हो, परन्तु वह दहन करने का अपना धर्म नहीं छोड़ती उसी तरह ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के होते ही कर्मक्षयरूप परिणाम के होने में कालावधि की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। ज्योंही ज्ञान हुआ कि उसी क्षण कर्म क्षय हो जाता है। परन्तु अन्य सब कालों से मरणकाल इस सम्बन्ध में अधिक महत्त्व का माना जाता है। क्योंकि यह आयु के बिलकुल अन्त का काल है। और इसके पूर्व किसी एक काल में ब्रह्मज्ञान से अनारब्ध-संचित का यदि क्षय हो गया हो तो भी प्रारब्ध नष्ट नहीं होता। इसलिये यदि यह ब्रह्मज्ञान अन्त तक एक समान स्थिर रहे तो प्रारब्ध-कर्मानुसार मृत्यु के पहले जो जो अच्छे या बुरे कर्म होंगे वे सब सकाम हो जावेंगे और उनका फल भोगने के लिये फिर भी जन्म लेना ही पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि जो पूरा जीवन्मुक्त हो जाता है उसे यह भय कदापि नहीं रहता। परन्तु जब इस विषय का शास्त्रदृष्टि से विचार करना हो तब इस बात का भी विचार अवश्य कर लेना पड़ता है कि मृत्यु के पहले जो ब्रह्मज्ञान हो गया था वह कदाचित् मरणकाल तक स्थिर न रह सके। इसीलिये शास्त्रकार मृत्यु से पहले के काल की अपेक्षा मरणकाल ही को विशेष महत्त्वपूर्ण मानते हैं। और यह कहते हैं कि इस समय यानी मृत्यु के समय ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का अनुभव अवश्य होना चाहिये नहीं तो मोक्ष नहीं होगा। इसी अभिप्राय से उपनिषदों के आधार पर गीता में कहा गया है। कि अन्तकाल में मेरा अनन्यभाव से स्मरण करने पर मनुष्य मुक्त होता है (गी ८ ५)। इस सिद्धान्त के अनुसार कहना पड़ता है कि यदि कोई दुराचारी मनुष्य अपनी सारी आयु दुराचरण में व्यतीत करे और केवल अन्त समय में ब्रह्मज्ञान हो जाय तो वह भी मुक्त हो जाता है। इस पर कितने ही लोगों का कहना है कि यह बात युक्तिसंगत नहीं है। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने पर मालूम होगा, कि यह बात अनुचित नहीं कही जा सकती। यह बिलकुल सत्य और सयुक्तिक है। वस्तुतः यह सम्भव नहीं कि जिसका सारा जन्म दुराचार में बीता हो उसे केवल मृत्युसमय में ही ब्रह्मज्ञान हो जावे। अन्य सब बातों के समान ही ब्रह्मनिष्ठ होने के लिये मन को आदत डालनी पड़ती है। और जिसे इस जन्म में एक बार भी ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का अनुभव नहीं हुआ है उसे केवल मरणकाल में ही उसका एकाएक ज्ञान हो जाना परम दुर्घट या असम्भव ही है। इसीलिये गीता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि मन को निर्विषय[illegible]ने के लिये प्रत्येक मनुष्य को सदैव अभ्यास करते रहना चाहिये। जिससे [illegible] में भी वही स्थिति बनी

रहेगी और मुक्ति भी अवश्य हो जायगी (गी. ८. ६. ७ तथा २. ७२)। परन्तु शास्त्र की छानबीन करने के लिये मान लीजिये कि पूर्वसंस्कार आदि कारणों से किसी मनुष्य का केवल मृत्युसमय में ही ब्रह्मज्ञान हो गया। निस्सन्देह ऐसा उदाहरण लाखों और करोड़ों मनुष्यों में एक-आध ही मिल सकेगा। परन्तु चाहे ऐसा उदाहरण मिले या न मिले; इस विचार को एक ओर रख कर हमें यही देखना है कि यदि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय तो क्या होगा? ज्ञान चाहे मरणकाल में ही क्यों न हो; परन्तु उससे मनुष्य के अनारब्ध-संचित का क्षय होता ही है और इस जन्म के भोग से आरब्धसंचित का क्षय मृत्यु के समय हो जाता है। इसलिये उसे कुछ भी कर्म भोगना बाकी नहीं रह जाता है और यही सिद्ध होता है कि वह सब कर्मों से अर्थात् संसारचक्र से मुक्त हो जाता है। यही सिद्धान्त गीता के इस वाक्य में कहा गया है "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्" (गी. ९. ३०)—यदि कोई बड़ा दुराचारी मनुष्य भी परमेश्वर का अनन्य भाव से स्मरण करेगा तो वह भी मुक्त हो जायगा और यह सिद्धान्त संसार के अन्य सब धर्मों में भी ग्राह्य माना गया है। 'अनन्य भाव' का यही अर्थ है, कि परमेश्वर में मनुष्य की चित्तवृत्ति पूर्ण रीति से लीन हो जाय। स्मरण रहे कि मुँह से तो 'राम राम' बड़बड़ाते रहे; और चित्तवृत्ति दूसरी ही ओर, तो इसे अनन्य भाव नहीं कहेंगे। सारांश, परमेश्वरज्ञान की महिमा ही ऐसी है कि ज्योंही ज्ञान की प्राप्ति हुई त्योंही सब अनारब्धसंचित का एकदम क्षय हो जाता है। यह अवस्था कभी भी प्राप्त हो, सदैव इष्ट ही है। परन्तु इसके साथ एक आवश्यक बात यह है कि मृत्यु के समय यह स्थिर बनी रहे; और यदि पहले प्राप्त न हुई हो तो कम-से-कम मृत्यु के समय यह प्राप्त होवे। नहीं तो हमारे शास्त्रकारों के कथनानुसार मृत्यु के समय कुछ-न-कुछ वासना अवश्य ही बची रह जायगी, जिससे पुनः जन्म लेना पड़ेगा और मोक्ष भी नहीं मिलेगा।

इसका विचार हो चुका कि कर्मबन्धन क्या है और कर्मक्षय किसे कहते हैं? वह कैसे और कब होता है? अब प्रसंगानुसार इस बात का भी कुछ विचार किया जायगा कि जिनके कर्मबन्धन नष्ट हो गये हैं उनको, और जिनके कर्मबन्धन नहीं छूटे हैं उनको, मृत्यु के अनन्तर वैदिक धर्म के अनुसार कौन सी गति मिलती है? इसके सम्बन्ध में उपनिषदों में बहुत चर्चा की गई है (छां. ४. १५; ५. १०; बृ. ६. २. २–१६; कौ. १. २–३) जिसकी एकवाक्यता वेदान्तसूत्र के चौथे अध्याय के तीसरे पाद में की गई है। परन्तु इन सब चर्चा को यहाँ बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है; हमें केवल उन्हीं दो मार्गों का विचार करना है जो भगवद्गीता (८. २३–२७) में कहे गये हैं। वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दो प्रसिद्ध भेद हैं। कर्मकाण्ड का मूल उद्देश यह है कि सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र इत्यादि वैदिक देवताओं का यज्ञ द्वारा पूजन करके उनके प्रसाद से इस लोक में पुत्र पौत्र आदि सन्तति तथा गौ अश्व, धन धान्य आदि सम्पत्ति प्राप्त कर ली जाय और अन्त में मरने पर सद्गति प्राप्त

में भी स्थान स्थान पर यही उपदेश दिया गया है कि सच्चा नैष्कर्म्य इसी में है, कर्म का त्याग करने में नहीं (गी ३ ४)। तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है, फल का मिलना न मिलना तेरे अधिकार की बात नहीं है (गी २ ४७)। 'कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः (गी ३ ७) – फल की आशा न रख कर्मेन्द्रियों को कर्म करने दे। त्यक्त्वा कर्मफलासंगम् (गी ४) कर्मफल का त्याग कर। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते (गी ५ ७) – जिन पुरुषों की समस्त प्राणियों में समबुद्धि हो जाती है उनके किये हुए कर्म उनके बन्धन का कारण नहीं हो सकते। सर्वकर्मफलत्यागं कुरु (गी १ ११) – सब कर्मफलों का त्याग कर। कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियते (गी १८) – केवल कर्तव्य समझ कर जो प्राप्त कर्म किया जाता है वही सात्त्विक है। चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य' (गी १८ ७) सब कर्मों को मुझे अर्पण करके बर्ताव कर। इन सब उपदेशों का रहस्य वही है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। अब यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है, कि ज्ञानी मनुष्य को सब व्यावहारिक कर्म करने चाहिये या नहीं। इसके सम्बन्ध में गीताशास्त्र का जो सिद्धान्त है उसका विचार अगले प्रकरण में किया जायगा। अभी तो केवल यही देखना है कि ज्ञान से सब कर्मों के भस्म हो जाने का अर्थ क्या है? और ऊपर दिये गये वचनों से इस विषय में गीता का जो अभिप्राय है वह भली भाँति प्रकट हो जाता है। व्यवहार में भी इसी न्याय का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि एक मनुष्य ने किसी दूसरे मनुष्य को धोखे से धक्का दे दिया तो हम उसे उजड्ड नहीं कहते। इसी तरह यदि केवल दुर्घटना से किसी की हत्या हो जाती है तो उसे फौजदारी कानून के अनुसार खून नहीं समझते। अग्नि से घर जल जाता है अथवा पानी से सैकड़ों खेत बह जाते हैं तो क्या अग्नि और पानी को कोई दोषी समझता है? केवल कर्मों की ओर देखें तो मनुष्य की दृष्टि से प्रत्येक कर्म में कुछ न कुछ दोष या अवगुण अवश्य ही मिलेगा – सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः (गी १८ ४८)। परन्तु यह वह दोष नहीं है, कि जिसे छोड़ने के लिये गीता कहती है। मनुष्य के किसी कर्म को जब हम अच्छा या बुरा कहते हैं तब यह अच्छापन या बुरापन यथार्थ में उस कर्म में नहीं रहता किन्तु कर्म करनेवाले मनुष्य की बुद्धि में रहता है। इसी बात पर ध्यान दे कर गीता (२ ४ –) में कहा है कि इन कर्मों के बुरेपन को दूर करने के लिये कर्ता को चाहिये कि वह अपना मन और बुद्धि को शुद्ध रखे और उपनिषदों में भी कर्ता की बुद्धि को ही प्रधानता दी गई है। जैसे –

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥

मनुष्य के (कर्म से) बन्धन या मोक्ष का मन ही (एक) कारण है। मन के विषयासक्त होने से बन्धन और निष्काम या निर्विषय अर्थात् निःसंग होने से मोक्ष

होता है' (मैत्र्यु. ६. ३४ अमृतबिंदु.)। गीता में यही बात प्रधानता से बतलाई गई है कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से बुद्धि की उक्त साम्यावस्था कैसे प्राप्त कर लेनी चाहिये? इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर कर्म करने पर भी पूरा कर्मक्षय हो जाया करता है। निरग्नि होने से – अर्थात् संन्यास ले कर अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ देने से – अथवा अक्रिय रहने से – अर्थात् किसी भी कर्म को न कर चुपचाप बैठे रहने से – कर्म का क्षय नहीं होता (गी. ६. १)। चाहे मनुष्य की इच्छा रहे या न रहे, परन्तु प्रकृति का चक्र हमेशा घूमता ही रहता है, जिसके कारण मनुष्य को भी उसके साथ अवश्य ही चलना पड़ेगा (गी. ३. ३३; १८. ६०)। परन्तु अज्ञानी जन ऐसी स्थिति में प्रकृति की पराधीनता में रह कर जैसे नाचा करते हैं, वैसा न करके जो मनुष्य अपनी बुद्धि को इन्द्रियनिग्रह के द्वारा स्थिर एवं शुद्ध रखता है और सृष्टिक्रम के अनुसार अपने हिस्से के (प्राप्त) कर्मों को केवल कर्तव्य समझ कर अनासक्तबुद्धि से एवं शान्तिपूर्वक किया करता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है और उसी को ब्रह्मपद पर पहुँचा हुआ कहना चाहिये (गी. ३. ७; ४. २१; ५. ७–९; १८. ११)। यदि कोई ज्ञानी पुरुष किसी भी व्यावहारिक कर्म को न करके संन्यास ले कर जंगल में जा बैठे, तो इस प्रकार कर्मों को छोड़ देने से यह समझना बड़ी भारी भूल है कि उसके कर्मों का क्षय हो गया (गी. ३. ४)। इस तत्त्व पर हमेशा ध्यान देना चाहिये कि कोई कर्म करे या न करे, परन्तु उसके कर्मों का क्षय उसकी बुद्धि की साम्यावस्था के कारण होता है, न कि कर्मों को छोड़ने से या न करने से। कर्मक्षय का सच्चा स्वरूप दिखलाने के लिये यह उदाहरण दिया जाता है कि जिस तरह अग्नि से लकड़ी जल जाती है, उसी तरह ज्ञान से सब कर्म भस्म हो जाते हैं। परन्तु इसके बदले उपनिषद् में और गीता में दिया गया यह दृष्टान्त अधिक समर्पक है, कि जिस तरह कमलपत्र पानी में रह कर भी पानी से अलिप्त रहता है, उसी तरह ज्ञानी पुरुष को – अर्थात् ब्रह्मार्पण करके अथवा आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवाले को – कर्मों का लेप नहीं होता (छां. ४. १४. ३; गी. ५. १०)। कर्म स्वरूपतः कभी जलते ही नहीं और न उन्हें जलाने की कोई आवश्यकता है। जब यह बात सिद्ध है, कि कर्म नामरूप है और नामरूप दृश्यसृष्टि है, तब यह समस्त दृश्य सृष्टि जलेगी कैसे? और कदाचित् जल भी जाय, तो सत्कार्यवाद के अनुसार सिर्फ यही होगा कि उसका नामरूप बदल जायगा। नामरूपात्मक कर्म या माया हमेशा बदलती रहती है। इसलिये मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार नामरूपों में भले ही परिवर्तन कर ले; परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि वह चाहे कितना ही ज्ञानी हो, परन्तु इस नामरूपात्मक कर्म या माया का समूल नाश कदापि नहीं कर सकता। यह काम केवल परमेश्वर से ही हो सकता है (वे. सू. ४. ४. १७)। हाँ, मूल में इन जड़ कर्मों में भला बुरा या न्याय है ही नहीं; और जिस मनुष्य उनमें अपनी ममत्वबुद्धि से उत्पन्न किया करता है, उसका नाश करना मनुष्य के हाथ में है; और उसे जो कुछ

कहलाता है, वह यही वस्तु है। सब प्राणियों के विषय में समबुद्धि रख कर अपने सब व्यापारों की इस ममत्वबुद्धि को जिसने छोड़ (नष्ट कर) दिया है, वही धन्य है; वही कृतकृत्य और मुक्त है। सब कुछ करते रहने पर भी उसके सब कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध समझे जाते हैं। (गी. ४. १९; १८. ४९)। इस प्रकार कर्मों का दग्ध होना मन की निर्विषयता पर और ब्रह्मात्मैक्य के अनुभव पर ही सर्वथा अवलम्बित है। अतएव प्रकट है कि जिस तरह आग कभी भी उत्पन्न हो, परन्तु वह दहन करने का अपना धर्म नहीं छोड़ती; उसी तरह ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के होते ही कर्मक्षयरूप परिणाम के होने में कालावधि की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। ज्योंही ज्ञान हुआ कि उसी क्षण कर्मक्षय हो जाता है। परन्तु अन्य सब कालों से मरणकाल इस सम्बन्ध में अधिक महत्त्व का माना जाता है। क्योंकि यह आयु के बिलकुल अन्त का काल है। और इसके पूर्व किसी एक काल में ब्रह्मज्ञान से अनारब्ध-संचित का यदि क्षय हो गया हो, तो भी प्रारब्ध नष्ट नहीं होता। इसलिये यदि वह ब्रह्मज्ञान अन्त तक एक समान स्थिर न रहे, तो प्रारब्ध-कर्मानुसार मृत्यु के पहले जो जो अच्छे या बुरे कर्म होंगे, वे सब सकाम हो जावेंगे और उनका फल भोगने के लिये फिर भी जन्म लेना ही पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं, कि जो पूरा जीवन्मुक्त हो जाता है, उसे यह भय कदापि नहीं रहता। परन्तु जब इस विषय का शास्त्रदृष्टि से विचार करना हो, तब इस बात का भी विचार अवश्य कर लेना पड़ता है, कि मृत्यु के पहले जो ब्रह्मज्ञान हो गया था, वह कदाचित् मरणकाल तक स्थिर न रह सके। इसीलिये शास्त्रकार मृत्यु से पहले के काल की अपेक्षा मरणकाल ही को विशेष महत्त्वपूर्ण मानते हैं। और वे कहते हैं, कि इस समय यानी मृत्यु के समय ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का अनुभव अवश्य होना चाहिये; नहीं तो मोक्ष नहीं होगा। इसी अभिप्राय से उपनिषदों के आधार पर गीता में कहा गया है, कि "अन्तकाल में मेरा अनन्यभाव से स्मरण करने पर मनुष्य मुक्त होता है" (गी. ८.)। इस सिद्धान्त के अनुसार कहना पड़ता है, कि यदि कोई दुराचारी मनुष्य अपनी सारी आयु दुराचरण में व्यतीत करे और केवल अन्त समय में ब्रह्मज्ञान हो जाय, तो वह भी मुक्त हो जाता है। इस पर कितने ही लोगों का कहना है, कि यह बात युक्तिसंगत नहीं है। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने पर मालूम होगा, कि यह बात अनुचित नहीं कही जा सकती। यह बिलकुल सत्य और संयुक्तिक है। वस्तुतः यह सम्भव नहीं, कि जिसका सारा जन्म दुराचार में बीता हो, उसे केवल मृत्युसमय में ही ब्रह्मज्ञान हो जावे। अन्य सब बातों के समान ही ब्रह्मनिष्ठ होने के लिये मन को आदत डालनी पड़ती है; और जिसे इस जन्म में एक बार भी ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का अनुभव नहीं हुआ है, उसे केवल मरणकाल में ही उसका एकदम ज्ञान हो जाना परम दुर्घट या असम्भव ही है। इसीलिये गीता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कथन यह है, कि मन को विषयवासनारहित बनाने के लिये प्रत्येक मनुष्य को सदैव अभ्यास करते रहना चाहिये। जिसका फल यह होगा, कि अन्तकाल में भी यही स्थिति बनी

रहेगी और मुक्ति भी अवश्य हो जायगी (गी ८ ६ ७ तथा २ ७२)। परन्तु शास्त्र की छानबीन करने के लिये मान लीजिये, कि पूर्वसंस्कार आदि कारणों से किसी मनुष्य को केवल मृत्युसमय में ही ब्रह्मज्ञान हो गया। निस्सन्देह ऐसा उदाहरण लाखों और करोड़ों मनुष्यों में एक-आध ही मिल सकेगा। परन्तु, चाहे ऐसा उदाहरण मिले या न मिले इस विचार को एक ओर रख कर हमें यही देखना है कि यदि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय, तो क्या होगा? ज्ञान चाहे मरणकाल में ही क्यों न हो परन्तु उससे मनुष्य के अनारब्ध-संचित का क्षय होता ही है और इस जन्म के भोग से आरब्धसंचित का क्षय मृत्यु के समय हो जाता है। इसलिये उसे कुछ भी कर्म भोगना बाकी नहीं रह जाता है और यही सिद्ध होता है कि वह सब कर्मों से अर्थात् संसारचक्र से छूट हो जाता है। यही सिद्धान्त गीता के इस वाक्य में कहा गया है, अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् (गी ९ ३०)—यदि कोई बड़ा दुराचारी मनुष्य भी परमेश्वर का अनन्य भाव से स्मरण करेगा, तो वह भी मुक्त हो जावेगा और यह सिद्धान्त संसार के अन्य सब धर्मों में भी ग्राह्य माना गया है। अनन्य भाव का यही अर्थ है कि परमेश्वर में मनुष्य की चित्तवृत्ति पूर्ण रीति से लीन हो जावे। स्मरण रहे कि मुँह से तो राम राम बड़बड़ाते रहे और चित्तवृत्ति दूसरी ही ओर हो तो इसे अनन्य भाव नहीं कहेंगे। सारांश परमेश्वरज्ञान की महिमा ही ऐसी है कि ज्योंही ज्ञान की प्राप्ति हुई त्योंही सब अनारब्धसंचित का एकदम क्षय हो जाता है। यह अवस्था कभी भी प्राप्त हो सदैव इष्ट ही है। परन्तु इसके साथ एक आवश्यक बात यह है कि मृत्यु के समय यह स्थिर बनी रहे और यदि पहले प्राप्त न हुई हो तो कम-से-कम मृत्यु के समय यह प्राप्त होवे। नहीं तो हमारे शास्त्रकारों के कथनानुसार मृत्यु के समय कुछ-न-कुछ वासना अवश्य ही बाकी रह जावेगी जिससे पुनः जन्म लेना पड़ेगा और मोक्ष भी नहीं मिलेगा।

इसका विचार हो चुका कि कर्मबन्धन क्या है? कर्मक्षय किसे कहते हैं? वह कैसे और कब होता है? अब प्रसङ्गानुसार इस बात का भी कुछ विचार किया जावेगा कि जिनके कर्मफल नष्ट हो गये हैं उनको और जिनके कर्मबन्धन नहीं छूटे हैं उनको मृत्यु के अनन्तर वैदिक धर्म के अनुसार कौन-सी गति मिलती है? इसके सम्बन्ध में उपनिषदों में बहुत चर्चा की गई है (छां ४ १५ ५ १० बृ ६ २ २–१६ कौ १ १–३) जिसकी एकवाक्यता वेदान्तसूत्र के चौथे अध्याय के तीसरे पाद में की गई है। परन्तु इन सब चर्चाओं को यहाँ बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमें केवल उन्हीं दो मार्गों का विचार करना है जो भगवद्गीता (८ २३–२७) में कहे गये हैं। वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दो प्रसिद्ध भेद हैं। कर्मकाण्ड का मूल उद्देश यह है कि सूर्य अग्नि इन्द्र वरुण रुद्र इत्यादि वैदिक देवताओं का यज्ञ द्वारा पूजन किया जावे उनके प्रसाद से इस लोक में पुत्र पौत्र आदि सन्तति तथा गौ अश्व धन धान्य आदि सम्पत्ति प्राप्त कर ली जावे और अन्त में मरने पर सद्गति प्राप्त

का अर्थात् मीमांसकों का कहना है कि श्रौतधर्म में चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञयाग आदि कर्म ही प्रधान हैं और जो इन्हें करेगा उसे ही वेदों के आज्ञानुसार मोक्ष प्राप्त होगा। इन यज्ञयाग आदि कर्मों को कोई भी छोड़ नहीं सकता। यदि छोड़ देगा, तो समझना चाहिये कि वह श्रौतधर्म से वञ्चित हो गया। क्योंकि वैदिक यज्ञ की उत्पत्ति सृष्टि के साथ ही हुई है। और यह चक्र अनादि काल से चलता आया है कि मनुष्य यज्ञ करके देवताओं को तृप्त करे तथा मनुष्य की पर्जन्य आदि सब आवश्यकताओं को देवगण पूरा करें। आजकल हमें विचारों का कुछ महत्त्व मालूम नहीं होता। क्योंकि यज्ञयागरूपी श्रौतधर्म अब प्रचलित नहीं है। परन्तु गीताकाल की स्थिति भिन्न थी। इसलिये भगवद्गीता (३. १६–२५) में भी यज्ञचक्र का महत्त्व ऊपर कहे अनुसार बतलाया गया है। तथापि गीता से यह साफ मालूम होता है कि उस समय भी उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान के कारण मोक्षदृष्टि से इन कर्मों की गौणता आ चुकी थी (गी. २. ४१–४६)। यही गौणता अहिंसाधर्म का प्रचार होने पर आगे अधिकाधिक बढ़ती गई। भागवतधर्म में स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है कि यज्ञयाग वेदविहित हैं तो भी उनके लिये पशुवध नहीं करना चाहिये। धान्य से ही यज्ञ करना चाहिये (देखो म. भा. शां. ३३६. १ और ३३७)। इस कारण (तथा कुछ अंशों में आगे जैनियों के भी ऐसे ही प्रयत्न करने के कारण) श्रौतयज्ञमार्ग की आजकल यह दशा हो गई है कि काशी सरीखे बड़े बड़े धर्मक्षेत्रों में भी श्रौताग्निहोत्र पालन करनेवाले अग्निहोत्री बहुत ही थोड़े दीख पड़ते हैं; और ज्योतिष्टोम आदि पशुयज्ञों का होना तो दस-बीस वर्षों में कभी कभी सुन पड़ता है। तथापि श्रौतधर्म ही सब वैदिक धर्मों का मूल है; और इसीलिये उसके विषय में इस समय भी कुछ आदरबुद्धि पाई जाती है। और जैमिनी के सूत्र अर्थनिर्णायक शास्त्र के तौर पर प्रमाण माने जाते हैं। यद्यपि श्रौतयज्ञयाग आदि धर्म इस प्रकार शिथिल हो गया तो भी मन्वादि स्मृतियों में वर्णित दूसरे यज्ञ – जिन्हें पञ्चमहायज्ञ कहते हैं – अब तक प्रचलित हैं। और उनके सम्बन्ध में भी श्रौतयज्ञयागचक्र आदि के ही उक्त न्याय का उपयोग होता है। उदाहरणार्थ मनु आदि स्मृतिकारों ने पाँच अहिंसात्मक तथा नित्य गृहयज्ञ बतलाये हैं। जैसे वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ है तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है और अतिथिसन्तर्पण मनुष्ययज्ञ है तथा गार्हस्थ्यधर्म में यह कहा है कि इन पाँच यज्ञों के द्वारा क्रमानुसार ऋषियों, पितरों, देवताओं, प्राणियों तथा मनुष्यों को पहले तृप्त करके फिर किसी गृहस्थ को स्वयं भोजन करना चाहिये (मनु. ३. ६८–१२३)। इन यज्ञों के कर चुकने पर जो अन्न बच जाता है उसको 'अमृत' कहते हैं और पहले सब मनुष्यों के भोजन कर लेने पर जो अन्न बच उसे 'विघस' कहते हैं (म. ३. २८५)। यह 'अमृत' और 'विघस' अन्न ही गृहस्थ के लिये विहित एवं श्रेयस्कर है। ऐसा न करके जो कोई सिर्फ अपने पेट के लिये ही भोजन पका कर खावे तो वह अघ अर्थात् पाप का भक्षण करता है। और उसे मनु

मनुस्मृति, क्या ऋग्वेद और गीता; सभी ग्रन्थों में 'अघायु' कहा गया है (ऋ. १०. ११७. ६; मनु. ३. ११८; गी. ३. १३)। इन स्मार्त पञ्चमहायज्ञों के सिवा दान, सत्य, दया, अहिंसा आदि सर्वभूतहितप्रद अन्य धर्म भी उपनिषदों तथा स्मृति-ग्रन्थों में गृहस्थ के लिये विहित माने गये हैं (तै. १. ११)। और उन्हीं में साफ़ उल्लेख किया गया है, कि कुटुम्ब की वृद्धि करके वंश को स्थिर रखो – 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'।' ये सब कर्म एक प्रकार के यज्ञ ही माने जाते हैं; और इन्हें करने का कारण तैत्तिरीय संहिता में यह बतलाया गया है, कि जन्म से ही ब्राह्मण अपने ऊपर तीन प्रकार के ऋण ले आता है – एक ऋषियों का, दूसरा देवताओं का और तीसरा पितरों का। इनमें से ऋषियों का ऋण वेदाभ्यास से, देवताओं का यज्ञ से और पितरों का पुत्रोत्पत्ति से चुकाना चाहिये। नहीं तो उसकी अच्छी गति न होगी (तै. सं. ६. ३. १०. ५)।* महाभारत (आ. १३) में एक कथा है, कि जरत्कारु ऐसा न करते हुए विवाह करने के पहले ही उग्र तपश्चर्या करने लगा; तब सन्तानक्षय के कारण उसके यायावर नामक पितर आकाश में लटकते हुए उसे दीख पड़े और फिर उनकी आज्ञा से उसने अपना विवाह किया। यह भी कुछ बात नहीं है, कि इन सब कर्मों या यज्ञों को केवल ब्राह्मण ही करें। वैदिक यज्ञों को छोड़ अन्य सब कर्म यथाधिकार स्त्रियों और शूद्रों के लिये भी विहित हैं। इसलिये स्मृतियों में कही गई चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार जो कर्म किये जावें वे सब यज्ञ ही हैं। उदाहरणार्थ, क्षत्रियों का युद्ध करना भी एक यज्ञ है; और इस प्रकरण में यज्ञ का यही व्यापक अर्थ विवक्षित है। मनु ने कहा है कि जो जिसके लिये विहित है वही उसके लिये तप है (११. २३६) और महाभारत में भी कहा है, कि :–

> आरम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
> परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः॥

आरम्भ (उद्योग), हवि, सेवा और जप ये चार यज्ञ क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मण इन चार वर्णों के लिये यथानुक्रम विहित हैं (म. भा. शां. २३७. १२)। सारांश, इस सृष्टि के सब मनुष्यों को यज्ञ ही के लिये ब्रह्मदेव ने उत्पन्न किया है (म. भा. अनु. ४८. ३; और गीता ३. १०; ४. ३२)। फलतः चातुर्वर्ण्य आदि सब शास्त्रोक्त कर्म एक प्रकार के यज्ञ ही हैं। और प्रत्येक मनुष्य अपने अपने अधिकार के अनुसार इन शास्त्रोक्त कर्मों या धर्मों को – धन्धे, व्यवसाय या कर्तव्य व्यवहार को – न करे तो समूचे समाज की हानि होगी। और सम्भव है कि अन्त में उसका नाश भी हो जाय। इसलिये ऐसे व्यापक अर्थ से सिद्ध होता है कि लोकसंग्रह के लिये यज्ञ की सदा आवश्यकता होती है।

---

* तैत्तिरीय संहिता का वचन है – 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी'।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि वेद और चातुर्वर्ण्य आदि स्मार्तव्यवस्था के अनुसार गृहस्थों के लिये वही यज्ञप्रधान वृत्ति विहित मानी गई है, कि जो केवल कर्ममय है तो क्या इन सांसारिक कर्मों को धर्मशास्त्र के अनुसार यथा विधि (अर्थात् नीति से और धर्म के आज्ञानुसार) करते रहने से ही कोई मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जायगा? और यदि कहा जाय कि वह मुक्त हो जाता है, तो फिर ज्ञान की बड़ाई और योग्यता ही क्या रही? ज्ञानकाण्ड अर्थात् उपनिषदों का साफ यही कहना है कि जब तक ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हो कर कर्म के विषय में विरक्ति न हो जाय तब तक नामरूपात्मक माया से या जन्ममरण के चक्कर से छुटकारा नहीं मिल सकता। और श्रौतस्मार्तधर्म को देखो तो यही मालूम पड़ता है कि प्रत्येक मनुष्य का गार्हस्थ्यधर्म कर्मप्रधान या व्यापक अर्थ में यज्ञमय है। इसके अतिरिक्त वेदों का भी कथन है कि यज्ञार्थ किये गये कर्म बन्धक नहीं होते और यज्ञ से ही स्वर्गप्राप्ति होती है। स्वर्ग की चर्चा छोड़ दी जाय तो भी हम देखते हैं, कि ब्रह्मदेव ही ने यह नियम बना दिया है कि इन्द्र आदि देवताओं के सन्तुष्ट हुए बिना वर्षा नहीं होती और यज्ञ के बिना देवतागण भी सन्तुष्ट नहीं होते। ऐसी अवस्था में यज्ञ अर्थात् कर्म किये बिना मनुष्य की भलाई कैसी होगी? इस लोक के क्रम के विषय में मनुस्मृति महाभारत उपनिषद् तथा गीता में भी कहा है कि —

> अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
> आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

यज्ञ में हवन किये गये सब द्रव्य अग्नि द्वारा सूर्य को पहुँचते हैं, और सूर्य से पर्जन्य और पर्जन्य से अन्न तथा अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है (मनु. ३.७६; म. भा. शां. २६२. ११; मैत्र्यु. ६. ३७; गी. ३. १४)। और जब कि ये यज्ञ कर्म के द्वारा ही होते हैं तब कर्म को छोड़ देने से काम कैसे चलेगा? यज्ञमय कर्मों को छोड़ देने से संसार का चक्र बन्द हो जायगा और किसी को खाने को भी नहीं मिलेगा। इस पर भागवतधर्म तथा गीताशास्त्र का उत्तर यह है कि यज्ञयाग आदि वैदिक कर्मों को या अन्य किसी भी स्मार्त तथा व्यावहारिक यज्ञमय कर्म को छोड़ देने का उपदेश हम नहीं करते। हम तुम्हारे ही समान यह भी कहने को तयार हैं कि जो यज्ञचक्र पूर्वकाल से बराबर चलता आया है उसके बन्द हो जाने से संसार का नाश हो जायगा। इसलिये हमारा यही सिद्धान्त है कि इस यज्ञ को कभी नहीं छोड़ना चाहिये (म. भा. शां. ३४०; गी. ३. १६)। परन्तु ज्ञानकाण्ड में अर्थात् उपनिषदों ही में स्पष्टरूप से कहा गया है कि ज्ञान और वैराग्य से कर्मक्षय हुए बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिये इन दोनों सिद्धान्तों का मेल करके हमारा अन्तिम कथन यह है कि सब कर्मों को ज्ञान से अर्थात् फलाशा छोड़ कर निष्काम या विरक्तबुद्धि से करते रहना चाहिये (गी. ३. १७ ?)। यदि तुम स्वर्गफल की काम्यबुद्धि मन

से रख कर ज्योतिष्टोम आदि यज्ञयाग करोगे तो वेद में कहे अनुसार स्वर्गसुख तुम्हें निस्सन्देह मिलेगा। क्योंकि वेदाज्ञा कभी भी झूठ नहीं हो सकती। परन्तु स्वर्गसुख नित्य अर्थात् हमेशा टिकनेवाला नहीं है। इसलिये कहा गया है (बृ. ४. ४. ६; वे. सू. ३. १. ८; म. भा. वन. २६०. ३९) –

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे॥ *

इस लोक में जो यज्ञयाग आदि पुण्यकर्म किये जाते हैं उनका फल स्वर्गीय उपभोग से समाप्त हो जाता है और तब यज्ञ करनेवाले कर्मकाण्डी मनुष्य को स्वर्गलोक से इस कर्मलोक अर्थात् भूलोक में फिर भी आना पड़ता है। छान्दोग्योपनिषद् (५. १०. ३–६) में तो स्वर्ग से नीचे आने का मार्ग भी बतलाया गया है। भगवद्गीता में 'कामात्मानः स्वर्गपराः' तथा 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (गी. २. ४३, ४५) इस प्रकार कुछ गौणत्वसूचक जो वर्णन किया गया है वह इन्हीं कर्मकाण्डी लोगों को लक्ष्य करके कहा गया है। और नौवें अध्याय में फिर भी स्पष्टतया कहा गया है कि 'गतागतं कामकामा लभन्ते' (गी. ९. २१) – उन्हें स्वर्गलोक और इस लोक में बार बार आना-जाना पड़ता है। यह आवागमन ज्ञानप्राप्ति के बिना रुक नहीं सकता। जब तक यह रुक नहीं सकता तब तक आत्मा को सच्चा समाधान, पूर्णावस्था तथा मोक्ष भी नहीं मिल सकता। इस लिये गीता के समस्त उपदेश का सार यही है कि यज्ञयाग आदि की कौन कहे, चातुर्वर्ण्य के सब कर्मों को भी तुम ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से तथा साम्यबुद्धि से आसक्ति छोड़ कर करते रहो – बस इस प्रकार कर्मचक्र को जारी रख कर भी तुम मुक्त ही बने रहोगे (गी. १८. ५, ६)। किसी देवता के नाम से तिल, चावल या किसी पशु को 'इदं अमुकदेवतायै न मम' कह कर अग्नि में हवन कर देने से ही कुछ यज्ञ नहीं हो जाता। प्रत्यक्ष पशु को मारने की अपेक्षा प्रत्येक मनुष्य के शरीर में कामक्रोध आदि जो अनेक पशुवृत्तियाँ हैं उनका साम्यबुद्धिरूप संयमाग्नि में होम करना ही अधिक श्रेयस्कर यज्ञ है (गी. ४. ३३)। इसी अभिप्राय से गीता में तथा नारायणीय धर्म में भगवान् ने कहा है कि 'मैं यज्ञों में जपयज्ञ' अर्थात् श्रेष्ठ हूँ (गी. १०. २५; म. भा. शां. ३३७)। मनुस्मृति (२. ८७) में भी कहा गया है कि ब्राह्मण और कुछ करे या न करे, परन्तु वह केवल जप से ही सिद्धि पा सकता है। अग्नि में आहुति डालते समय 'न मम' (यह वस्तु मेरी नहीं है) कह कर उस वस्तु से अपनी ममत्वबुद्धि का त्याग दिखलाया जाता है – यही यज्ञ का मुख्य तत्त्व है; और दान आदिक कर्मों का भी यही बीज है।

---

* इस मन्त्र के दूसरे चरण को पढ़ते समय 'पुनरेति' और 'अस्मै' ऐसा पदच्छेद करके पढ़ना चाहिये। तब इस चरण में अक्षरों की कमी नहीं मालूम होगी। वैदिक ग्रन्थों को पढ़ते समय ऐसा बहुधा करना पड़ता है।

इसलिये इन कर्मों की योग्यता भी यज्ञ के बराबर है। अधिक क्या कहा जाय, जिनमें अपना तनिक भी स्वार्थ नहीं है, ऐसे कर्मों को शुद्धबुद्धि से करने पर वे यज्ञ ही कहे जा सकते हैं। यज्ञ की इस व्याख्या को स्वीकार करने पर जो कुछ कर्म निष्काम बुद्धि से किये जायँ, वे सब एक महायज्ञ ही होंगे; और द्रव्यमय यज्ञ को लागू होनेवाला मीमांसकों का यह न्याय, कि यज्ञार्थ किये गये कोई भी कर्म बन्धक नहीं होते, उन सब निष्काम कर्मों के लिये भी उपयोगी हो जाता है। इन कर्मों को करते समय फलाशा भी छूट जाती है, जिसके कारण स्वर्ग का आना-जाना भी छूट जाता है; और इन कर्मों को करने पर भी अन्त में मोक्षरूपी सद्गति मिल जाती है (गी. ३. ९)। सारांश यह है, कि संसार यज्ञमय या कर्ममय है सही; परन्तु कर्म करनेवालों के दो वर्ग होते हैं। पहले वे जो शास्त्रोक्त रीति से पर फलाशा रख कर कर्म किया करते हैं (कर्मकाण्डी लोग), और दूसरे वे जो निष्काम बुद्धि से – केवल कर्तव्य समझ कर – कर्म किया करते हैं (ज्ञानी लोग)। इस सम्बन्ध में गीता का यह सिद्धान्त है, कि कर्मकाण्डियों को स्वर्गप्राप्तिरूप अनित्य फल मिलता है, और ज्ञान से अर्थात् निष्कामबुद्धि से कर्म करनेवाले ज्ञानी पुरुषों को मोक्षरूपी नित्य फल मिलता है। मोक्ष के लिये कर्मों का छोड़ना गीता में कहीं भी नहीं बतलाया गया है। इसके विपरीत अठारहवें अध्याय के आरम्भ में स्पष्टतया बतला दिया है, कि 'त्याग = छोड़ना' शब्द से गीता में कर्मत्याग कभी भी नहीं समझना चाहिये; किन्तु उसका अर्थ 'फलत्याग' ही सर्वत्र विवक्षित है।

इस प्रकार कर्मकाण्डियों और कर्मयोगियों को भिन्न भिन्न फल मिलते हैं। इस कारण प्रत्येक को मृत्यु के बाद भिन्न भिन्न लोकों में भिन्न भिन्न मार्गों से जाना पड़ता है। इन्हीं मार्गों को क्रम से 'पितृयान' और 'देवयान' कहते हैं (छां. ५. १०. १६) और उपनिषदों के आधार से गीता के आठवें अध्याय में इन्हीं दोनों मार्गों का वर्णन किया गया है। वह मनुष्य, जिसको ज्ञान हो गया है – और यह ज्ञान कम-से-कम अन्तकाल में तो अवश्य ही हो गया हो (गी. २. ७२) – देहपात होने के अनन्तर और चिता में शरीर जल जाने पर उस अग्नि से ज्योति (ज्वाला), दिवस, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीने में प्रयाण करता हुआ ब्रह्मपद को जा पहुँचता है तथा वहाँ उसे मोक्ष प्राप्त होता है। इसके कारण वह पुनः जन्म ले कर मृत्युलोक में फिर नहीं लौटता। परन्तु जो केवल कर्मकाण्डी है अर्थात् जिसे ज्ञान नहीं है, वह उसी अग्नि से धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः महीने, इस क्रम से प्रयाण करता हुआ चन्द्रलोक को पहुँचता है; और अपने किये हुए सब पुण्यकर्मों को भोग कर फिर इस लोक में जन्म लेता है। इन दोनों मार्गों में यही भेद है (गी. ८. २३–२७)। 'ज्योति' (ज्वाला) शब्द के बदले उपनिषदों में 'अर्चि' (ज्वाला) शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे पहले मार्ग को 'अर्चिरादि' और दूसरे को 'धूम्रादि' मार्ग भी कहते

है। हमारा उत्तरायण उत्तर ध्रुवस्थल में रहनेवाले देवताओं का दिन है। और हमारा दक्षिणायन उनकी रात्रि है। इस परिभाषा पर ध्यान देने से मालूम हो जाता है कि इन दोनों मार्गों में से पहला अर्चिरादि (ज्योतिरादि) मार्ग आरम्भ से अन्त तक प्रकाशमय है; और दूसरा धूम्रादि मार्ग अन्धकारमय है। ज्ञान प्रकाशमय है और परब्रह्म "ज्योतिषां ज्योतिः" (गी. १३. १७) – तेजों का तेज है। इस कारण देहपात होने के अनन्तर, ज्ञानी पुरुषों के मार्ग का प्रकाशमय होना उचित ही है। और गीता में इन दोनों मार्गों को 'शुक्ल' और 'कृष्ण' इसीलिये कहा है कि उनका भी अर्थ प्रकाशमय और अन्धकारमय है। गीता में उत्तरायण के बाद के सोपानों का वर्णन नहीं है। परन्तु यास्क के निरुक्त में उत्तरायण के बाद देवलोक, सूर्य, वैद्युत और मानस पुरुष का वर्णन है (निरुक्त १४. ९)। और उपनिषदों में देवयान के विषय में जो वर्णन हैं उनकी एकवाक्यता करके वेदान्तसूत्र में यह क्रम दिया है कि उत्तरायण के बाद संवत्सर, वायुलोक, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और अन्त में ब्रह्मलोक है (बृ. ५. १०. १; ६. २. १५; छां. ५. १०; कौषी. १. ३; वे. सू. ४. ३. १–६)।

देवयान और पितृयान मार्गों के सोपानों या मुकामों का वर्णन हो चुका। परन्तु इनमें जो दिवस, शुक्लपक्ष, उत्तरायण इत्यादि के वर्णन हैं उनका सामान्य अर्थ कालवाचक होता है। इसलिये स्वभावतः ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या देवयान और पितृयान मार्गों का काल से कुछ सम्बन्ध है? अथवा पहले कभी था या नहीं? यद्यपि दिवस, रात्रि, शुक्लपक्ष इत्यादि शब्दों का अर्थ कालवाचक है तथापि अग्नि, ज्वाला, वायुलोक, विद्युत् आदि जो अन्य सोपान हैं उनका अर्थ कालवाचक नहीं हो सकता। और यदि कहा जाय कि ज्ञानी पुरुष को दिन अथवा रात के समय मरने पर भिन्न भिन्न गति मिलती है, तब तो ज्ञान का कुछ महत्त्व ही नहीं रह जाता। इसलिये अग्नि, दिवस, उत्तरायण इत्यादि सभी शब्दों को कालवाचक न मान कर वेदान्तसूत्र में यह सिद्धान्त किया गया है कि ये शब्द इनके अभिमानी देवताओं के लिये कल्पित किये गये हैं, जो ज्ञानी और कर्मयोगी पुरुषों के आत्मा को भिन्न भिन्न मार्गों से ब्रह्मलोक और चन्द्रलोक में ले जाते हैं (वे. सू. ४. ३. ४; ४. २. १९–२१ ?)। परन्तु इस में सन्देह है कि भगवद्गीता को यह मत मान्य है या नहीं। क्योंकि उत्तरायण के बाद के सोपानों का – कि जो कालवाचक नहीं हैं – गीता में वर्णन नहीं है। इतना ही नहीं; बल्कि इन मार्गों को बतलाने के पहले भगवान ने काल का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है कि "मैं तुझे वह काल बतलाता हूँ कि जिस काल में मरने पर कर्मयोगी लौट कर आता है या नहीं आता है" (गी. ८. २३)। और महाभारत में भी यह वर्णन पाया जाता है कि जब भीष्मपितामह शरशय्या में पड़े थे तब वे शरीरत्याग करने के लिये उत्तरायण की – अर्थात् सूर्य के उत्तर की ओर मुड़ने की – प्रतीक्षा

कर रहे थे (गी १२ अनु. २९७)। इससे विदित होता है कि जिस शुक्लपक्ष और उत्तरायणकाल ही मृत्यु होने के लिये कभी-न-कभी प्रशस्त माने जाते थे। ऋग्वे (१ ८८ १५ और १० २ १७) में भी देवयान और पितृयान मार्गों का जहाँ पर वर्णन है, वहाँ कालवाचक *अर्थ ही विवक्षित है।* इससे तथा अन्य अनेक प्रमाणों से हमने यह निश्चय किया है कि उत्तर गोलार्ध के जिस स्थान में सूर्य क्षितिज पर छः महीने तक हमेशा दीख पड़ता है उस स्थान में अर्थात् उत्तर ध्रुव के पास या मेरुस्थान में जब पहले वैदिक ऋषियों की बस्ती थी, तब ही से छः महीने का उत्तरायणरूपी प्रकाशकाल मृत्यु होने के लिये प्रशस्त माना गया होगा। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने अपने दूसरे ग्रन्थ में किया है। कारण चाहे कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि यह समझ बहुत प्राचीन काल से चली आती है और यही समझ देवयान तथा पितृयान मार्गों में प्रकट न हो तो पर्याय से ही – अन्तर्भूत हो गई है। अधिक क्या कहें हमें तो ऐसा मालूम होता है कि इन दोनों मार्गों का मूल इस प्राचीन समझ में ही है। यदि ऐसा न मानें तो गीता में देवयान और पितृयान को लक्ष्य करके जो एक बार 'काल' (गी ८ २३) और दूसरी बार 'गति' या 'सृति' अर्थात् मार्ग (गी ८ २६ २७) कहा है यानी इन दो भिन्न भिन्न अर्थों के शब्दों का जो उपयोग किया गया है उसकी कुछ उपपत्ति नहीं लगाई जा सकती। वेदान्तसूत्र के शाङ्करभाष्य में देवयान और पितृयान का कालवाचक अर्थ स्मार्त है जो कर्मयोग ही के लिये उपयुक्त होता है और यह भेद करके, कि सच्चा ब्रह्मज्ञानी उपनिषदों में वर्णित देवता मार्ग से अर्थात् देवताप्रमुख प्रकाशमय मार्ग से ब्रह्मलोक को जाता है 'कालवाचक' तथा 'देवतावाचक' अर्थों की व्यवस्था की गई है (वे सू शां भा ४ २ १८–२१)। परन्तु मूल सूत्रों को देखने से ज्ञात होता है कि काल की आवश्यकता न रख उत्तरायणादि शब्दों से देवताओं को कल्पित कर देवयान का जो देवतावाचक अर्थ बादरायणाचार्य ने निश्चित किया है वही उनके मतानुसार सर्वत्र अभिप्रेत होगा और यह मानना भी उचित नहीं है कि गीता में वर्णित मार्ग उपनिषदों की इस देवयान गति को छोड़ कर स्वतन्त्र हो सकता है। परन्तु यहाँ इतने गहरे पानी में पैठने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यद्यपि इस विषय में मतभेद हो कि देवयान और पितृयान के दिवस रात्रि, उत्तरायण आदि शब्द ऐतिहासिक दृष्टि से मूलारम्भ में कालवाचक थे या नहीं तथापि यह बात निर्विवाद है कि आगे यह कालवाचक अर्थ छोड़ दिया गया। अन्त में इन दोनों पदों का यही अर्थ निश्चित तथा रूढ हो गया है कि – काल की अपेक्षा *न रख चाहे कोई किसी समय मरे – यदि वह ज्ञानी हो तो अपने कर्मानुसार प्रकाश*मय मार्ग से और केवल कर्मकाण्डी हो तो अन्धकारमय मार्ग से परलोक को जाता है। चाहे फिर दिवस और उत्तरायण आदि शब्दों से बादरायणाचार्य के कथनानुसार देवता समझिये; या इनके लक्षण से प्रकाशमय मार्ग के क्रमशः बढ़ते हुए सोपान

समझिये परन्तु इससे इस सिद्धान्त में कुछ भेद नहीं होता, कि यहाँ देवयान और पितृयान शब्दों का सदार्थ मार्गवाचक है।

परन्तु क्या देवयान और पितृयान, दोनों मार्ग शास्त्रोक्त अर्थात् पुण्यकर्म करनेवाले को ही प्राप्त हुआ करते हैं क्योंकि पितृयान यद्यपि देवयान से नीचे की श्रेणी का मार्ग है तथापि वह भी चन्द्रलोक को अर्थात् एक प्रकार के स्वर्गलोक ही को पहुँचानेवाला मार्ग है। इसलिये प्रकट है कि वहाँ सुख भोगने की पात्रता होने के लिये इस लोक में कुछ न कुछ शास्त्रोक्त पुण्यकर्म अवश्य ही करना पड़ता है (गी ९ २१)। जो लोग थोड़ा भी शास्त्रोक्त पुण्यकर्म न करके संसार में अपना समस्त जीवन पापाचरण में बिता देते हैं वे इन दोनों में से किसी भी मार्ग से नहीं जा सकते। इनके विषय में उपनिषदों में कहा गया है कि ये लोग मरने पर एकदम पशु-पक्षी आदि तिर्यक्-योनि में जन्म लेते हैं और बारबार यमलोक अर्थात् नरक में जाते हैं। इसी को 'तीसरा' मार्ग कहते हैं (छां ५ १० ८ कठ २.६ ७); और भगवद्गीता में भी कहा गया है कि निपट पापी अर्थात् आसुरी पुरुषों को यही नित्य-गति प्राप्त होती है (गी १६ १९-२१ ९ १२ वे सू ३ १ १२, १३ निरुक्त १४)।

ऊपर इस बात का विवेचन किया गया है, कि मरने पर मनुष्य को उसके कर्मानुरूप वैदिक धर्म के प्राचीन परम्परानुसार तीन प्रकार की गति किस क्रम से प्राप्त होती है। उनमें से केवल देवयान मार्ग ही मोक्षदायक है; परन्तु यह मोक्ष क्रम-क्रम से अर्थात् अर्चिरादि (एक के बाद एक, ऐसे कई सोपानों) से जाते जाते अन्त में मिलता है। इसलिये इस मार्ग को 'क्रममुक्ति' कहते हैं। और देहपात होने के अनन्तर अर्थात् मृत्यु के अनन्तर ब्रह्मलोक में जाने से वहाँ अन्त में मुक्ति मिलती है इसीलिये इसे 'विदेह-मुक्ति' भी कहते हैं। परन्तु इन सब बातों के अतिरिक्त शुद्ध अध्यात्मशास्त्र का यह भी कथन है कि जिसके मन में ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का पूर्ण साक्षात्कार नित्य जागृत है उसे ब्रह्मप्राप्ति के लिये कहीं दूसरी जगह क्यों जाना पड़ेगा? अथवा उसे मृत्यु-काल की भी बाट क्यों जोहनी पड़ेगी? यह बात सच है कि उपासना से जो ब्रह्मज्ञान होता है वह पहले पहल कुछ अपूर्ण रहता है; क्योंकि इससे मन में सूर्यलोक या ब्रह्मलोक इत्यादि की कल्पनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और वे ही मरण-समय में भी मन में न्यूनाधिक परिणाम से बनी रहती हैं। अतएव इस अपूर्णता को दूर करके मोक्ष की प्राप्ति के लिये ऐसे लोगों को देवयान मार्ग से ही जाना पड़ता है (वे सू, ४ ३ १५)। क्योंकि अध्यात्मशास्त्र का यह अटल सिद्धान्त है कि मरण समय में जिसकी जैसी भावना या क्रतु हो उसे वैसी ही 'गति' मिलती है (छां ३ १४ १)। परन्तु सगुण उपासना या अन्य किसी कारण से जिसके मन में अपने आत्मा और ब्रह्म के बीच कुछ भी परदा या द्वैतभाव (तै २ ७) शेष नहीं रह जाता वह नित्य ब्रह्म-रूप ही है। अतएव प्रकट है कि ऐसे पुरुष को

ब्रह्मप्राप्ति के लिये किसी दूसरे स्थान में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी लिये बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा है कि जो पुरुष शुद्ध ब्रह्मज्ञान से पूर्ण निष्काम हो गया हो – "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" – उसके प्राण दूसरे किसी स्थान में नहीं जाते, किन्तु वह नित्य ब्रह्मभूत है और ब्रह्म में ही लय पाता है (बृ. ४.४.६); और बृहदारण्यक तथा कठ दोनों उपनिषदों में कहा गया है, कि ऐसा पुरुष "अत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ. ६.१४) – यहीं का यहीं ब्रह्म का अनुभव करता है। इन्हीं श्रुतियों के आधार पर शिवगीता में भी कहा गया है, कि मोक्ष के लिये स्थानान्तर करने की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जो अमुक स्थान में हो और अमुक स्थान में न हो (छां. ७.२५; मुं. २.२.११)। तो फिर पूर्ण ज्ञानी पुरुष को पूर्ण ब्रह्मप्राप्ति के लिये उत्तरायण, सूर्यलोक आदि मार्ग से जाने की आवश्यकता ही क्यों होनी चाहिये? "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुं. ३.२.९) – जिसने ब्रह्मस्वरूप को पहचान लिया, वह तो स्वयं यहीं का यहीं – इस लोक में ही – ब्रह्म हो गया। किसी एक को दूसरे के पास जाना तभी हो सकता है जब 'एक' और 'दूसरा' ऐसा स्थलकृत या कालकृत भेद शेष हो; और यह भेद तो अन्तिम स्थिति में अर्थात् अद्वैत तथा श्रेष्ठ ब्रह्मानुभव में रह ही नहीं सकता। इसलिये जिसके मन की ऐसी नित्य स्थिति हो चुकी है कि "यस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्" (बृ. २.४.१४), या "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां. ३.१४.१), अथवा मैं ही ब्रह्म हूँ – "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ. १.४.१०), उसे ब्रह्मप्राप्ति के लिये और किस जगह जाना पड़ेगा? वह तो नित्य ब्रह्मभूत ही रहता है। पिछले प्रकरण के अन्त में जैसा हमने कहा है वैसा ही गीता में परम ज्ञानी पुरुषों का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि "अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्" (गी. ५.२६) – जिसने द्वैतभाव को छोड़ कर आत्मस्वरूप का ज्ञान लिया है, उसे चाहे प्रारब्ध-कर्म-क्षय के लिये देहपात होने की राह देखनी पड़े, तो भी उसे मोक्षप्राप्ति के लिये कहीं भी नहीं जाना पड़ता; क्योंकि ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष तो उसके सामने हाथ जोड़े खड़ा रहता है। अथवा "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः" (गी. ५.१९) – जिसके मन में सर्वभूतान्तर्गत ब्रह्मात्मैक्यरूपी साम्य प्रतिबिम्बित हो गया है, वह (देवयान मार्ग की अपेक्षा न रख) यहीं का यहीं जन्म मरण को जीत लेता है। अथवा "भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति" – जिसकी ज्ञानदृष्टि में समस्त प्राणियों की भिन्नता का नाश हो चुका और जिसे वे सब एकस्थ अर्थात् परमेश्वर-स्वरूप दीखने लगते हैं, वह "ब्रह्म संपद्यते" – ब्रह्म में मिल जाता है (गी. १३.३०)। गीता का जो वचन ऊपर दिया गया है कि "देवयान और पितृयान मार्गों को तत्त्वतः जाननेवाला कर्मयोगी मोह को प्राप्त नहीं होता" (गी. ८.२७), उसमें भी "तत्त्वतः जाननेवाला" पद का अर्थ "परमावधि के ब्रह्मस्वरूप को पहचाननेवाला" ही विवक्षित है (देखो भागवत ७.१५.५६)। यही पूर्ण ब्रह्मभूत या परमावधि की ब्राह्मी स्थिति

है और श्रीमच्छंकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य (वे सू. ३ ४ १४) में प्रतिपादन किया है कि यही अध्यात्मज्ञान की अत्यन्त पूर्णावस्था या पराकाष्ठा है। यदि कहा जाय कि ऐसी स्थिति प्राप्त होने के लिये मनुष्य को एक प्रकार से परमेश्वर ही हो जाना पड़ता है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। फिर कहने की आवश्यकता नहीं, कि इस रीति से जो पुरुष ब्रह्मभूत हो जाते हैं वे कर्मसृष्टि के सब विधि-निषेधों की अवस्था से भी परे रहते हैं क्योंकि उनका ब्रह्मज्ञान सदैव जागृत रहता है। इसलिये जो कुछ वे किया करते हैं वह हमेशा शुद्ध और निष्काम बुद्धि से ही प्रेरित हो कर पाप पुण्य से अलिप्त रहता है। इस स्थिति की प्राप्ति हो जाने पर ब्रह्मप्राप्ति के लिये किसी अन्य स्थान में जाने की अथवा देहपात होने की अर्थात् मरने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती इसलिये ऐसे स्थितप्रज्ञ ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को 'जीवन्मुक्त' कहते हैं (यो १)। यद्यपि बौद्ध-धर्म के लोग ब्रह्म या आत्मा को नहीं मानते तथापि उन्हें यह बात पूर्णतया मान्य है कि मनुष्य का परम साध्य जीवन्मुक्त की यह निष्काम अवस्था ही है और इसी तत्त्व का संग्रह उन्होंने कुछ शब्दभेद से अपने धर्म में किया है (परिशिष्ट प्रकरण देखो। कुछ लोगों का कथन है कि पराकाष्ठा के निष्कामत्व की इस अवस्था में और सांसारिक कर्मों में स्वाभाविक परस्पर विरोध है इसलिये जिसे यह अवस्था प्राप्त होती है उसके सब कर्म आप ही आप छूट जाते हैं और वह संन्यासी हो जाता है। परन्तु गीता को यह मत मान्य नहीं है। उसका यही सिद्धान्त है कि स्वयं परमेश्वर जिस प्रकार कर्म करता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त के लिये भी – निष्काम बुद्धि से लोकसंग्रह के निमित्त – मृत्युपर्यन्त सब व्यवहारों को करते रहना ही अधिक श्रेयस्कर है; क्योंकि निष्कामत्व और कर्म में कोई विरोध नहीं है। यह बात अगले प्रकरण के निरूपण से स्पष्ट हो जावगी। गीता का यह तत्त्व योगवासिष्ठ (६ उ १ *) में भी स्वीकृत किया गया है।

होते हैं। और इन में से जो पक्ष श्रेष्ठ ठहरे उसी की ओर ध्यान दे कर पहले से (अर्थात् साधनावस्था से ही) बर्ताव करना सुविधाजनक होगा। इसलिये उक्त दोनों पक्षों के तारतम्य का विचार किये बिना कर्म और अकर्म का भी आध्यात्मिक विवेचन पूरा नहीं हो सकता। अर्जुन से सिर्फ़ यह कह देने से काम नहीं चल सकता था कि पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर कर्मों का करना और न करना एक सा है (गी. ३.१८) क्योंकि समस्त व्यवहारों में कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही की श्रेष्ठता होने के कारण ज्ञान से जिसकी बुद्धि समस्त भूतों में सम हो गई है उसे किसी भी कर्म के शुभाशुभत्व का लेप नहीं लगता (गी. ४. २०, २१)। भगवान् का तो उसे यही निश्चित उपदेश था कि – युद्ध ही कर – युध्यस्व। (गी. २. १८) और इस प्रकार तथा स्पष्ट उपदेश के समर्थन में लड़ाई करो तो अच्छा न करो तो अच्छा; ऐसे सन्दिग्ध उत्तर की अपेक्षा और दूसरे कुछ सबल कारणों का बतलाना आवश्यक था। और तो क्या गीताशास्त्र की प्रवृत्ति यह बतलाने के लिये ही हुई है कि किसी कर्म का भयंकर परिणाम दृष्टि के सामने दिखते रहने पर भी बुद्धिमान् पुरुष उसे ही क्यों करें। गीता की यही तो विशेषता है। यदि यह सत्य है, कि कर्म से जन्तु बँधता और ज्ञान से मुक्त होता है तो ज्ञानी पुरुष को कर्म करना ही क्यों चाहिये? कर्म-क्षय का अर्थ कर्मों का छोड़ना नहीं है केवल फलाशा छोड़ देने से ही कर्म का क्षय हो जाता है सब कर्मों को छोड़ देना शक्य नहीं है इत्यादि सिद्धान्त यद्यपि सत्य हों तथापि इससे भली भाँति यह सिद्ध नहीं होता कि कर्म पूर्ण रीति से छूटने भी न छोड़े जावें। और न्याय से देखने पर भी यही अर्थ निष्पन्न होता है क्योंकि गीता ही में कहा है कि चारों ओर पानी ही पानी हो जाने पर जिस प्रकार फिर उसके लिये कोई कुए की परवाह नहीं करता उसी प्रकार कर्मों से सिद्ध होनेवाली ब्रह्मप्राप्ति हो चुकने पर ज्ञानी पुरुष को कर्म की कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती (गी. २. ४६)। इसी लिये तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रथम यही पूछा है कि आपकी सम्मति में यदि कर्म की अपेक्षा निष्काम अथवा साम्यबुद्धि श्रेष्ठ हो तो स्थितप्रज्ञ के समान मैं भी अपनी बुद्धि को शुद्ध किये लेता हूँ – बस मेरा मतलब पूरा हो गया; अब फिर भी युद्ध के इस घोर कर्म में मुझे क्यों फँसाते हो? (गी. ३. १) इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कर्म किसी से भी छूट नहीं सकते इत्यादि कारण बतला कर चौथे अध्याय में कर्म का समर्थन किया है परन्तु सांख्य (संन्यास) और कर्मयोग दोनों ही मार्ग यदि शास्त्रों में बतलाये गये हैं तो यही कहना पड़ेगा कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर इनमें से जिसे जो मार्ग अच्छा लगे उसे वह स्वीकार कर ले। इसी दशा में पाँचवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने फिर प्रार्थना की कि दोनों मार्ग गोलमाल कर के मुझ न बतलाइये निश्चयपूर्वक मुझे एक ही मार्ग बतलाइये कि इन दोनों में से अधिक श्रेष्ठ कौन है (गी. ५. १)। यदि ज्ञानोत्तर कर्म करना और न करना

एक ही सा है तो फिर मैं अपनी मर्जी के अनुसार जी चाहेगा तो कर्म करूँगा नहीं तो न करूँगा। यदि कर्म करना ही उत्तम पक्ष हो तो मुझे उसका कारण समझाइये तभी मैं आपके कथनानुसार आचरण करूँगा। अर्जुन का यह प्रश्न कुछ अपूर्व नहीं है। योगवासिष्ठ (५.५६.६) में श्रीरामचन्द्र ने वसिष्ठ से और गणेशगीता (४.१) में वरेण्य राजा ने गणेशजी से यही प्रश्न किया है। केवल हमारे ही यहाँ नहीं, वरन् यूरोप में जहाँ तत्त्वज्ञान के विचार पहले पहल शुरू हुए थे, उस ग्रीस देश में भी प्राचीन काल में यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। यह बात अरिस्टॉटल के ग्रन्थ से प्रगट होती है। इस प्रसिद्ध यूनानी ज्ञानी पुरुष ने अपने नीतिशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ के अन्त (१०.७ और ८) में यही प्रश्न उपस्थित किया है और प्रथम अपनी यह सम्मति दी है कि संसार के या राजनैतिक मामलों में जिन्दगी बिताने की अपेक्षा ज्ञानी पुरुष को शान्ति से तत्त्व के विचार में जीवन बिताना ही सच्चा और पूर्ण आनन्ददायक है। तो भी उसके अनन्तर लिखे गये अपने राजधर्म सम्बन्धी ग्रन्थ (७ और ३) में अरिस्टॉटल ही लिखता है कि कुछ ज्ञानी पुरुष तत्त्व विचार में, तो कुछ राजनैतिक कार्यों में निमग्न दीख पड़ते हैं; और यदि पूछा जाय कि इन दोनों मार्गों में कौन-सा बहुत अच्छा है, तो यही कहना पड़ेगा कि प्रत्येक मार्ग अंशतः सच्चा है। तथापि कर्म की अपेक्षा अकर्म को अच्छा कहना भूल है।* क्योंकि यह कहने में कोई हानि नहीं कि आनन्द भी तो एक कर्म ही है; और सच्ची श्रेय प्राप्ति भी अनेक अंशों में ज्ञानयुक्त तथा नीतियुक्त कर्मों में ही है। दो स्थानों पर अरिस्टॉटल के भिन्न भिन्न मतों को देखकर गीता के इस स्पष्ट कथन का महत्त्व पाठकों के ध्यान में आ जायेगा कि कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः (गी. ३.८) – अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है। गत शताब्दी का प्रसिद्ध फ्रेंच पण्डित आगस्ट कोंट अपने आधिभौतिक तत्त्वज्ञान में कहता है कि "यह कहना भ्रान्तिमूलक है कि तत्त्वविचार ही में निमग्न रह कर जिन्दगी बिताना श्रेयस्कर है। जो तत्त्वज्ञ पुरुष इस ढंग के आयुष्यक्रम का अङ्गीकार करता है और अपने हाथ से होने योग्य प्राणी मात्र का कल्याण करना छोड़ देता है, उसके विषय में यही कहना चाहिये कि वह अपने प्राप्त साधनों का दुरुपयोग करता है।" विपक्ष में जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपेनहर ने कहा है कि संसार के समस्त व्यवहार – यहाँ तक कि जीवित रहना भी – दुःखमय है; इसलिये तत्त्वज्ञान प्राप्त कर इन सब कर्मों का जितनी जल्दी हो सके, नाश करना ही इस संसार में मनुष्य का सच्चा कर्तव्य है। कोंट सन् १८५७ में और शोपेनहर सन् १८६० में इस संसार से बिदा हुए। शोपेनहर का पन्थ जर्मनी में हार्टमेन ने

* "And it is equally a *mistake to place inactivity above action*, for happiness is activity, and the actions of the just and wise are the realization of much that is noble." (Aristotle's *Politics*, trans. by Jowett, Vol. I. p. 212. The Italics are ours.)

जारी रखा है। कहना नहीं होगा, कि स्पेन्सर और मिल प्रभृति अन्यान्य तत्त्वज्ञानियों के मत भी ऐसे ही हैं। परन्तु इन सब के आगे बढ़ कर हाल के ज़माने के आधिभौतिक जर्मन पण्डित नित्शे ने अपने ग्रन्थों में, कर्म छोड़नेवालों पर ऐसे तीव्र कटाक्ष किये हैं, कि वह कर्मसंन्यास-पक्षवालों के लिये 'मूर्ख-शिरोमणि' शब्द से अधिक सौम्य शब्द का उपयोग कर ही नहीं सकता है।*

यूरोप में अरिस्टाटल से लेकर अब तक जिस प्रकार इस सम्बन्ध में दो पक्ष हैं, उसी प्रकार भारतीय वैदिक धर्म में भी प्राचीन काल से लेकर अब तक इस सम्बन्ध के दो सम्प्रदाय एक से चले आ रहे हैं (म. भा. शां. ३४९. ७)। इनमें से एक को संन्यास-मार्ग, सांख्य-निष्ठा या केवल सांख्य (अथवा ज्ञान में ही नित्य निमग्न रहने के कारण ज्ञान-निष्ठा भी) कहते हैं; और दूसरे को कर्मयोग, अथवा संक्षेप में केवल योग या कर्म-निष्ठा कहते हैं। हम तीसरे प्रकरण में ही कह आये हैं, कि यहाँ 'सांख्य' और 'योग' शब्दों से तात्पर्य क्रमशः कापिल-सांख्य और पातञ्जल योग से नहीं है। परन्तु 'संन्यास' शब्द भी कुछ सन्दिग्ध है। इसलिये उसके अर्थ का कुछ अधिक विवरण करना यहाँ आवश्यक है। 'संन्यास' शब्द सिर्फ 'विवाह न करना', और यदि किया हो तो 'बाल-बच्चों को छोड़ भगवे कपड़े रँग लेना' अथवा 'केवल चौथे आश्रम का ग्रहण करना', इतना ही अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। क्योंकि विवाह न करने पर भी भीष्मपितामह मरते दम तक राज्यकार्यों के उद्योग में लगे रहे; और श्रीमत् शङ्कराचार्य ने ब्रह्मचर्य से एकदम चौथा आश्रम ग्रहण कर, या महाराष्ट्र देश में श्रीसमर्थ रामदास ने मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारी – गोस्वामी – रह कर, ज्ञान फैला करके संसार के उद्धारार्थ कर्म किये हैं। यहाँ पर मुख्य प्रश्न यही है कि ज्ञानोत्तर संसार के व्यवहार केवल कर्तव्य समझ कर लोक-कल्याण के लिये किये जावें अथवा मिथ्या समझ कर एकदम छोड़ दिये जावें? इन व्यवहारों या कर्मों का करनेवाला कर्मयोगी कहलाता है; फिर चाहे वह ब्याहा हो या क्वाँरा, भगवे कपड़े पहने या सफ़ेद। हाँ यह भी कहा जा सकता है, कि ऐसे काम करने के लिये विवाह न करना, भगवे कपड़े पहनना

---

* कर्मयोग और कर्मत्याग (सांख्य या संन्यास) इन्हीं दो मार्गों को सली ने अपने *Pessimism* नामक ग्रन्थ में क्रम से *Optimism* और *Pessimism* नाम दिये हैं। पर हमारी राय में ये नाम ठीक नहीं। *Pessimism* शब्द का अर्थ 'उदास, निराशावादी' या 'रोनी सूरत' होता है। परन्तु संसार को अनित्य समझ कर उसे छोड़ देनेवाले संन्यासी आनन्दी रहते हैं और वे लोग संसार का आनन्द से ही त्याग करते हैं, इसलिये हमारी राय में उनका *Pessimist* कहना ठीक नहीं। इसके बदले कर्मयोग को *Energism* और सांख्य या संन्यास मार्ग को Quietism कहना अधिक प्रशस्त होगा। वैदिक धर्म के अनुसार दोनों मार्गों में ब्रह्मज्ञान एक ही सा है इसलिये दोनों का आनन्द और शान्ति भी एक ही सी है। हम ऐसा भेद नहीं करते कि एक मार्ग आनन्दमय है और दूसरा दुःखमय है, अथवा एक आशावादी है और दूसरा निराशावादी।

चातुर्वर्ण्य के यज्ञयाग आदि कर्म अथवा श्रुतिस्मृतिवर्णित कर्म करने से ही मोक्ष मिलता है। परन्तु मीमांसकों का यह मत गीता को मान्य नहीं (गीता २.४५)। (२) दूसरा अर्थ यह है कि चित्तशुद्धि के लिये कर्म करने (कर्मयोग) की आवश्यकता है। इसलिये केवल चित्तशुद्धि के निमित्त ही कर्म करना चाहिये। इस मत के अनुसार कर्मयोग संन्यासमार्ग का पूर्वांग हो जाता है; परन्तु यह गीता में वर्णित कर्मयोग नहीं है। (३) जो जानता है कि मेरे आत्मा का कल्याण किस में है, वह ज्ञानी पुरुष स्वधर्मोक्त युद्धादि सांसारिक कर्म मृत्युपर्यन्त करे या न करे? यही गीता में मुख्य प्रश्न है। और उसका उत्तर यही है कि ज्ञानी पुरुष को चातुर्वर्ण्य के सब कर्म निष्कामबुद्धि से करना ही चाहिये (गी. ३. ८)। यही 'कर्मयोग' शब्द का तीसरा अर्थ है; और गीता में यही कर्मयोग प्रतिपादित किया गया है। यह कर्मयोग संन्यासमार्ग का पूर्वांग कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि इस मार्ग में कर्म कभी छूटते ही नहीं। अब प्रश्न है केवल मोक्षप्राप्ति के विषय में। इस पर गीता में स्पष्ट कहा है कि ज्ञानप्राप्ति हो जाने से निष्कामकर्म बन्धक नहीं हो सकते, प्रत्युत संन्यास से जो मोक्ष मिलता है, वही इस कर्मयोग से भी प्राप्त होता है (गी.)। इसलिये गीता का कर्मयोग संन्यासमार्ग का पूर्वांग नहीं है, किन्तु मोक्षदृष्टि से दोनों मार्ग मोक्ष दृष्टि से स्वतन्त्र अर्थात् तुल्यबल हैं (गी. २)। गीता के 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' (गी. ३. ३) का यही अर्थ करना चाहिये। और इसी हेतु भगवान ने अगले चरण में — 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' — इन दोनों मार्गों का पृथक् पृथक् स्पष्टीकरण किया है। आगे चल कर तेरहवें अध्याय में कहा है: 'अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे' (गी. १३. २४)। इस श्लोक के — 'अन्ये' (एक) और 'अपरे' (दूसरे) — ये पद उक्त दोनों मार्गों को स्वतन्त्र माने बिना अन्वर्थक नहीं हो सकते। इसके सिवा, जिस नारायणीय धर्म का प्रवृत्तिमार्ग (योग) गीता में प्रतिपादित है, उसका इतिहास महाभारत में देखने से यही सिद्धान्त दृढ़ होता है। सृष्टि के आरम्भ में भगवान ने हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा को सृष्टि रचने की आज्ञा दी। उनसे मरीचि आदि प्रमुख सात मानसपुत्र हुए। सृष्टिक्रम का अच्छे प्रकार आरम्भ करने के लिये उन्हों ने योग अर्थात् कर्ममय प्रवृत्तिमार्ग का अवलम्बन किया। ब्रह्मा के सनत्कुमार और कपिल प्रभृति दूसरे सात पुत्रों ने उत्पन्न होते ही निवृत्तिमार्ग अर्थात् सांख्य का अवलम्बन किया। इस प्रकार दोनों मार्गों की उत्पत्ति बतला कर आगे स्पष्ट कहा है कि ये दोनों मार्ग मोक्षदृष्टि से तुल्यबल अर्थात् वासुदेवस्वरूपी एक ही परमेश्वर की प्राप्ति करा देनेवाले, भिन्न भिन्न और स्वतन्त्र हैं (म. भा. शां. ३४८. ७४-; ६३-७३)। इसी प्रकार यह भी भेद किया गया है कि योग अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं और सांख्यमार्ग के मूलप्रवर्तक कपिल हैं। परन्तु यह कहीं नहीं कहा है कि आगे हिरण्यगर्भ ने कर्मों का त्याग कर दिया। इसके विपरीत ऐसा वर्णन है कि भगवान ने सृष्टि का व्यवहार अच्छी तरह से चलाना रखने के लिये

ब्रह्मदेव को उत्पन्न किया और हिरण्यगर्भ से तथा अन्य देवताओं से कहा, कि इसे निरन्तर जारी रखो (म. भा. शां. ३४०. ४४–७५ और ३४८. ६६ ६७ देखो)। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि सांख्य और योग दोनों मार्ग आरम्भ से ही स्वतन्त्र हैं। इससे यह भी दीख पड़ता है कि गीता के साम्प्रदायिक टीकाकारों ने कर्मयोग को जो गौणत्व देने का प्रयत्न किया है वह केवल साम्प्रदायिक आग्रह का परिणाम है। और इन टीकाओं में जो स्थान स्थान पर यह तुर्रा लगा रहता है, कि कर्मयोग ज्ञानप्राप्ति अथवा संन्यास का केवल साधनमात्र है वह इनकी मनगढ़न्त है। वास्तव में गीता का सच्चा भावार्थ वैसा नहीं है। गीता पर जो संन्यासमार्गीय टीकाएँ हैं उनमें हमारी समझ से यही मुख्य दोष है। और टीकाकारों के इस साम्प्रदायिक आग्रह से छूटे बिना कभी सम्भव नहीं कि गीता के वास्तविक रहस्य का बोध हो जावे।

यदि यह निश्चय करें कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों स्वतन्त्र रीति से मोक्षदायक हैं – एक दूसरे का पूर्वाङ्ग नहीं – तो भी पूरा निबाह नहीं होता। क्योंकि, यदि दोनों मार्ग एक ही से मोक्षदायक हैं तो कहना पड़ेगा कि जो मार्ग हमें पसन्द होगा उसे हम स्वीकार करेंगे। और फिर यह सिद्ध न हो कर – कि अर्जुन को युद्ध ही करना चाहिये – ये दोनों पक्ष सम्भव होते हैं कि भगवान के उपदेश से परमेश्वर का ज्ञान होने पर भी चाहे वह अपनी रुचि के अनुसार युद्ध करे अथवा लड़ना मरना छोड़ कर संन्यास ग्रहण कर ले। इसीलिये अर्जुन ने स्वाभाविक रीति से यह सरल प्रश्न किया है कि इन दोनों मार्गों में जो अधिक प्रशस्त हो वह एक ही निश्चय से मुझे बतलाओ (गी. ५. १) जिससे आचरण करने में कोई गड़बड़ न हो। गीता के पाँचवें अध्याय के आरम्भ में इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न कर चुकने पर अगले श्लोक में भगवान ने स्पष्ट उत्तर दिया है कि "संन्यास और कर्मयोग दोनों मार्ग निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षदायक हैं अथवा मोक्षदृष्टि से एक ही योग्यता के हैं। तो भी दोनों में कर्मयोग की श्रेष्ठता या योग्यता विशेष है (विशिष्यते)" (गी. ५. २) और यही श्लोक हमने इस प्रकरण के आरम्भ में लिखा है। कर्मयोग की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में यही एक वचन गीता में नहीं है; किन्तु अनेक वचन हैं। जैसे – "तस्माद्योगाय युज्यस्व" (गी. २. ५०) – इसलिये तू कर्मयोग ही स्वीकार कर; "मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि" (गी. २. ४७) – कर्म न करने का आग्रह मत कर।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

"कर्मों को छोड़ने के झगड़े में न पड़ कर 'इन्द्रियों को मन से रोक कर अनासक्त बुद्धि के द्वारा कर्मेन्द्रियों से कर्म करनेवाले की योग्यता 'विशिष्यते' अर्थात् विशेष है" (गी. ३. ७); क्योंकि, कभी क्यों न हो, कर्म 'ज्यायो ह्यकर्मणः' अकर्म की

अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है (गी ३ ८)। इसलिये तू कर्म ही कर (गी ४ १५) अथवा 'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ (गी ४ ४२) – कर्मयोग अङ्गीकार कर युद्ध के लिये खड़ा हो।' (योगी) ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' – ज्ञानमार्गवाले (संन्यासी) की अपेक्षा कर्मयोगी की योग्यता अधिक है। तस्माद्योगी भवार्जुन' (गी ६ ४६) – इसलिये हे अर्जुन! तू (कर्म –) योगी हो। अथवा मामनुस्मर युध्य च (गी ८.७) – मन में मेरा स्मरण रख कर युद्ध कर इत्यादि अनेक वचनों से गीता में अर्जुन को जो उपदेश स्थान स्थान पर दिया गया है उसमें भी संन्यास या अकर्म की अपेक्षा कर्मयोग की अधिक योग्यता दिखलाने के लिये 'ज्याय' अधिक और विशिष्यते इत्यादि पद स्पष्ट हैं। अठारहवें अध्याय के उपसंहार में भी भगवान् ने फिर कहा है कि नियत कर्मों का संन्यास करना उचित नहीं है। आसक्तिविरहित सब काम सदा करना चाहिये। यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है (गी १८ ६ ७)। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि गीता में संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग को ही श्रेष्ठता दी गई है।

परन्तु जिनका साम्प्रदायिक मत है कि संन्यास या भक्ति ही अन्तिम और श्रेष्ठ कर्तव्य है कर्म तो निरा चित्तशुद्धि का साधन है वह मुख्य साध्य या कर्तव्य नहीं हो सकता उन्हें गीता का यह सिद्धान्त कैसे पसन्द होगा? यह नहीं कहा जा सकता कि उनके ध्यान में यह बात आई ही न होगी कि गीता में संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग को स्पष्ट रीति से अधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु यदि यह बात मान ली जाती तो यह प्रकट ही है कि उनके सम्प्रदाय की योग्यता कम हो जाती। इसी से पाँचवे अध्याय के आरम्भ में – अर्जुन के प्रश्न और भगवान् के उत्तर सरल, सयुक्तिक और स्पष्टार्थक रहने पर भी साम्प्रदायिक टीकाकार इस चक्कर में पड़ गये हैं कि इनका कैसा क्या अर्थ किया जाय? पहली अड़चन यह थी कि संन्यास और कर्मयोग इन दोनों मार्गों में श्रेष्ठ कौन है? यह प्रश्न ही दोनों मार्गों को स्वतन्त्र माने बिना उपस्थित हो नहीं सकता। क्योंकि टीकाकारों के कथनानुसार कर्मयोग यदि ज्ञान का सिर्फ पूर्वाङ्ग हो तो यह बात स्वयंसिद्ध है कि पूर्वाङ्ग गौण है और ज्ञान अथवा संन्यास ही श्रेष्ठ है। फिर प्रश्न करने के लिये गुंजाइश ही कहाँ रही? अच्छा यदि प्रश्न को उचित मान लें ही तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि ये दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं। और तब तो यह स्वीकृति इस कथन का विरोध करेगी कि केवल हमारा सम्प्रदाय ही मोक्ष का मार्ग है। इस अड़चन को दूर करने के लिये इन टीकाकारों ने पहले तो यह तुर्रा दिया है कि अर्जुन का प्रश्न ठीक नहीं है; और फिर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि भगवान के उत्तर का तात्पर्य भी वैसा ही है। परन्तु इतना गोलमाल करने पर भी भगवान के इस स्पष्ट उत्तर – कर्मयोग की योग्यता अथवा श्रेष्ठता विशेष है (गी ५ २) – का अर्थ ठीक ठीक फिर भी लगा ही नहीं! तब अन्त में अपने मन का – पूर्वापार सन्दर्भ के विरुद्ध – दूसरा यह तुर्रा लगा कर इन टीकाकारों को

किसी प्रकार अपना समाधान कर लेना पड़ा, कि 'कर्मयोगो विशिष्यते' – कर्मयोग की योग्यता विशेष है – यह वचन कर्मयोग की पोली प्रशंसा करने के लिये यानी अर्थवादात्मक है। वास्तव में भगवान् के मत में भी संन्यासमार्ग ही श्रेष्ठ है (गी. शां. भा. ५. २; ६. १, २; १८. ११ देखो)। शाङ्करभाष्य में ही क्यों? रामानुजभाष्य में भी यह श्लोक कर्मयोग की केवल प्रशंसा करनेवाला – अर्थवादात्मक – ही माना गया है (गी. रा. भा. ५. १)। रामानुजाचार्य यद्यपि अद्वैती न थे, तो भी उनके मत में भक्ति ही मुख्य साध्यवस्तु है; इस लिये कर्मयोग ज्ञानयुक्त भक्ति का साधन ही हो जाता है (गी. रा. भा. ३. १ देखो)। मूलग्रन्थ से टीकाकारों का सम्प्रदाय भिन्न है। परन्तु टीकाकार इस दृढ़ समझ से उस ग्रन्थ की टीका करने लगे कि हमारा मार्ग या सम्प्रदाय ही मूलग्रन्थ में वर्णित है। पाठक देखें, कि इससे मूलग्रन्थ की कैसी खींचातानी हुई है। भगवान् श्रीकृष्ण या व्यास को संस्कृत भाषा में स्पष्ट शब्दों के द्वारा क्या यह कहना न आता था कि 'अर्जुन! तेरा प्रश्न ठीक नहीं है'? परन्तु ऐसा न करके जब अनेक स्थलों पर स्पष्ट रीति से यही कहा है कि 'कर्मयोग ही विशेष योग्यता का है', तब कहना पड़ता है कि साम्प्रदायिक टीकाकारों का उल्लिखित अर्थ सरल नहीं है; और पूर्वापार सन्दर्भ देखने से भी यही अनुमान दृढ़ होता है। क्योंकि गीता में ही अनेक स्थानों में ऐसा वर्णन है कि ज्ञानी पुरुष कर्म का संन्यास न कर ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर भी अनासक्तबुद्धि से अपने सब व्यवहार किया करता है (गी. २. ६४; ३. १९; ३. २५; १८. ९ देखो)। इस स्थान पर श्रीशङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में पहले यह प्रश्न किया है कि मोक्ष ज्ञान से मिलता है या ज्ञान और कर्म के समुच्चय से? और फिर यह गीतार्थ निश्चित किया है कि केवल ज्ञान से ही सब कर्म दग्ध हो कर मोक्षप्राप्ति होती है, मोक्षप्राप्ति के लिये कर्म की आवश्यकता नहीं। इससे आगे यह अनुमान निकाला है कि जब गीता की दृष्टि से भी मोक्ष के लिये कर्म की आवश्यकता नहीं है, तब चित्तशुद्धि हो जानेपर सब कर्म निरर्थक हैं ही; और वे स्वभाव से ही बन्धक अर्थात् ज्ञानविरुद्ध हैं। इसलिये ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ देना चाहिये – यही मत भगवान को भी गीता में मान्य है। ज्ञान के अनन्तर ज्ञानी पुरुष को भी कर्म करना चाहिये, इस मत को 'ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष' कहते हैं; और श्रीशङ्कराचार्य की उपर्युक्त दलील ही उस पक्ष के विरुद्ध मुख्य आक्षेप है। ऐसा ही युक्तिवाद मध्वाचार्य ने भी स्वीकृत किया है (गी. मा. भा. ३. ३१ देखो)। हमारी राय में यह युक्तिवाद समाधानकारक अथवा निरुत्तर नहीं है। क्योंकि (१) यद्यपि काम्यकर्म बन्धक हों और ज्ञान के विरुद्ध हैं, तथापि यह न्याय निष्काम कर्म को लागू नहीं। और (२) ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर मोक्ष के लिये कर्म अनावश्यक भले ही रहा करे; परन्तु उससे यह सिद्ध करने के लिये कुछ बाधा नहीं पहुँचती कि अन्य अनेक कारणों से ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के साथ ही कर्म करना आवश्यक है। मुमुक्षु का सिर्फ चित्त शुद्ध करने के लिये ही संसार में

कर्म का उपयोग नहीं है और न इसीलिये कर्म उत्पन्न ही हुए हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि मोक्ष के अतिरिक्त अन्य कारणों के लिये स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्मसृष्टि के समस्त व्यवहार निष्कामबुद्धि से करते ही रहने की ज्ञानी पुरुष को भी ज़रूरत है। इस प्रकरण में आगे विस्तारसहित विचार किया गया है कि ये अन्य कारण कौन-से हैं। यहाँ इतना ही कह देते हैं कि जो अर्जुन संन्यास लेने के लिये तैयार हो गया था उसको ये कारण बतलाने के निमित्त ही गीताशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। और ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता कि चित्त की शुद्धि के पश्चात् मोक्ष के लिये कर्मों की अनावश्यकता बतला कर गीता में संन्यासमार्ग ही का प्रतिपादन किया गया है। शांकरसम्प्रदाय का यह मत है सही कि ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर संन्यासाश्रम ले कर कर्मों को छोड़ ही देना चाहिये। परन्तु उससे यह नहीं सिद्ध होता कि गीता का तात्पर्य भी वही होना चाहिये। और न यही बात सिद्ध होती है कि शांकरसम्प्रदाय को या अन्य किसी सम्प्रदाय को 'धर्म' मान कर उसी के अनुकूल गीता का किसी प्रकार अर्थ लगा लेना चाहिये। गीता का तो यही स्थिर सिद्धान्त है, कि ज्ञान के पश्चात् भी संन्यासमार्ग ग्रहण करने की अपेक्षा कर्मयोग का स्वीकार करना ही उत्तम पक्ष है। फिर उसे चाहे निराला सम्प्रदाय कहो या और कुछ उसका नाम रखो। परन्तु इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि यद्यपि गीता को कर्मयोग ही श्रेष्ठ जान पड़ता है तथापि अन्य परमत-असहिष्णु सम्प्रदायों की भाँति उसका यह आग्रह नहीं कि संन्यासमार्ग को सर्वथा त्याज्य मानना चाहिये। गीता में संन्यासमार्ग के सम्बन्ध में कहीं भी अनादरभाव नहीं दिखलाया गया है। इसके विरुद्ध भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों मार्ग एक ही से निःश्रेयस्कर – मोक्षदायक – अथवा मोक्षदृष्टि से समान मूल्यवान् हैं। और आगे इस प्रकार की युक्तियों से इन दो भिन्न भिन्न मार्गों की एकरूपता भी कर दिखलाई है, कि "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" (गी. ५. ५) – जिसे यह मालूम हो गया कि ये दोनों मार्ग एक ही हैं – अर्थात् समान बलवाले हैं – उसे ही सच्चा तत्त्वज्ञान हुआ। या "कर्मयोग" हो तो उसमें भी फलाशा का संन्यास करना ही पड़ता है – "न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन" (गी. ६. २)। यद्यपि ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर (पहले ही नहीं) कर्म का संन्यास करना या कर्मयोग स्वीकार करना दोनों मार्ग मोक्षदृष्टि से एक-सी ही योग्यता के हैं, तथापि लोकव्यवहार की दृष्टि से विचारने पर यही मार्ग श्रेष्ठ है कि बुद्धि में संन्यास रख कर – अर्थात् निष्कामबुद्धि से देहेन्द्रियों के द्वारा जीवनपर्यन्त लोकसंग्रहकारक सब कर्म किये जावें। क्योंकि भगवान् का निश्चित उपदेश है कि इस उपाय से संन्यास और कर्म दोनों स्थिर रहते हैं। एवं तदनुसार ही फिर अर्जुन युद्ध के लिये प्रवृत्त हुआ है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही तो इतना भेद है। केवल शारीर अर्थात् देहेन्द्रियों के कर्म देखें, तो दोनों के एक से होंगे ही; परन्तु अज्ञानी मनुष्य उन्हें आसक्तबुद्धि से और ज्ञानी मनुष्य अनासक्तबुद्धि से किया

नहीं कह सकते। इसीसे कहना पड़ता है कि साम्प्रदायिक आग्रह की यह खींचातानी सर्वथा त्याज्य और अनुचित है तथा गीता में कर्मयुक्त कर्मयोग का ही उपदेश किया गया है।

अब तक यह बतलाया गया कि सिद्धावस्था के व्यवहार के विषय में भी कर्मत्याग (सांख्य) और कर्मयोग (योग) ये दोनों मार्ग न केवल हमारे ही देश में, वरन अन्य देशों में भी प्राचीन समय से प्रचलित पाये जाते हैं। अनन्तर, इस विषय में गीताशास्त्र के जो मुख्य सिद्धान्त बतलाये गये – (१) ये दोनों मार्ग स्वतन्त्र अर्थात मोक्ष की दृष्टि से परस्परनिरपेक्ष और तुल्यबल हैं एक दूसरे का अङ्ग नहीं और (२) उनमें कर्मयोग ही अधिक प्रशस्त है। और इन दोनों सिद्धान्तों के अत्यन्त स्पष्ट होते हुए भी टीकाकारों ने इनका विपर्यास किस प्रकार और क्यों किया? इसी बात को दिखलाने के लिये यह सारी प्रस्तावना लिखनी पड़ी। अब गीता में दिये हुए उन कारणों का निरूपण किया जायगा जो प्रस्तुत प्रकरण की इस मुख्य बात को सिद्ध करते हैं कि सिद्धावस्था में भी कर्मत्याग की अपेक्षा आमरण कर्म करते रहने का मार्ग अर्थात् कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है। इनमें से कुछ बातों का खुलासा तो सुखदुःखविवेक नामक प्रकरण में पहले ही हो चुका है। परन्तु वह विवेचन था सिर्फ सुखदुःख का। इसलिये वहाँ इस विषय की पूरी चर्चा नहीं की जा सकी। अतएव इस विषय की चर्चा के लिये ही यह स्वतन्त्र प्रकरण लिखा गया है। वैदिक धर्म के दो भाग हैं: कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। पिछले प्रकरण में उनके भेद बतला दिये गये हैं। कर्मकाण्ड में अर्थात् ब्राह्मण आदि श्रौत ग्रन्थों में और अंशतः उपनिषदों में भी ऐसे स्पष्ट वचन हैं कि प्रत्येक गृहस्थ – फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय – अग्निहोत्र करके यथाधिकार ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञयाग करे और विवाह करके वंश बढ़ावे। उदाहरणार्थ "एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्" – इस अग्निहोत्ररूप सत्र को मरणपर्यन्त जारी रखना चाहिये (श. ब्रा. १२. ४. १. १); "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" – वंश के धागे को टूटने न दो (तै. उ. १. ११); अथवा "ईशावास्यमिदं सर्वम्" – संसार में जो कुछ है, उसे परमेश्वर से अधिष्ठित करे – अर्थात ऐसा समझे, कि मेरा कुछ नहीं, उसी का है। और इस निष्कामबुद्धि से :–

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

कर्म करते रह कर ही सौ वर्ष अर्थात आयुष्य की मर्यादा के अन्त तक जीने की इच्छा रखे। एवं ऐसी ईशावास्य बुद्धि से कर्म करोगे तो उन कर्मों का तुझ (पुरुष को) लेप (बन्धन) नहीं लगेगा। इसके अतिरिक्त (लेप अथवा बन्धन से बचने के लिये) दूसरा मार्ग नहीं है (ईश. १ और २) इत्यादि वचनों को देखो। परन्तु जब हम

कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड में जाते हैं तब हमारे वैदिक ग्रन्थों में ही अनेक विरुद्धपक्षीय वचन भी मिलते हैं। जैसे "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै. २. १. १) – ब्रह्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे. ३. ८) – बिना ज्ञान के मोक्षप्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है। "पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते। किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ. ४. ४. २२ और ३. ५. १) – प्राचीन ज्ञानी पुरुषों को पुत्र आदि की इच्छा न थी, और यह समझ कर [कि जब समस्त लोक ही हमारा आत्मा हो गया है तब हमें (दूसरी) सन्तान किस लिये चाहिये?] वे लोग सन्तति, सम्पत्ति, और स्वर्ग आदि में से किसी की भी 'एषणा' अर्थात् चाह नहीं करते थे। किन्तु उससे निवृत्त हो कर वे ज्ञानी पुरुष भिक्षाटन करते हुए घूमा करते थे। अथवा इस रीति से जो लोग विरक्त हो जाते हैं उन्हीं को मोक्ष मिलता है (मुं. १. २. ११)। या अन्त में "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबा. ४) – जिस दिन बुद्धि विरक्त हो उसी दिन संन्यास ले ले। इस प्रकार वेद की आज्ञा द्विविध अर्थात् दो प्रकार की होने से (म. भा. शां. २४०. ६) प्रवृत्ति या कर्मयोग और सांख्य इनमें से जो श्रेष्ठ मार्ग हो उसका निर्णय करने के लिये यह देखना आवश्यक है कि कोई दूसरा उपाय है या नहीं? आचार अर्थात् शिष्ट लोगों के व्यवहार या रीति भाँति को देख कर इस प्रश्न का निर्णय हो सकता। परन्तु इस सम्बन्ध में शिष्टाचार भी उभयविध अर्थात् दो प्रकार का है। इतिहास से प्रगट होता है कि शुक और याज्ञवल्क्य प्रभृति ने तो संन्यासमार्ग का, एवं जनक, श्रीकृष्ण और जैगीषव्य प्रमुख ज्ञानी पुरुषों ने कर्मयोग का ही अवलम्बन किया था। इसी अभिप्राय से सिद्धान्त पक्ष की दलील में बादरायणाचार्य ने कहा है "तुल्यं तु दर्शनम्" (वे. सू. ३. ४. ९) – अर्थात् आचार की दृष्टि से ये दोनों पन्थ समान बलवान् हैं। स्मृतिवचन* भी ऐसा है –

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा॥

अर्थात् पूर्ण ब्रह्मज्ञानी पुरुष सब कर्म करके भी श्रीकृष्ण और जनक के समान अकर्ता, अलिप्त एवं सर्वदा मुक्त ही रहता है। ऐसे ही भगवद्गीता में भी कर्मयोग की परम्परा बतलाते हुए मनु, इक्ष्वाकु आदि के नाम बतला कर कहा है कि "एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः" (गी. ४. १५) – ऐसा जान कर प्राचीन जनक आदि ज्ञानी पुरुषों ने कर्म किया। योगवासिष्ठ और भागवत में जनक के सिवा इसी प्रकार के दूसरे बहुत से उदाहरण दिये गये हैं (यो. ५. ७५; भाग. ८. ४१–४८)।

* इस स्मृतिवचन को आनन्दगिरि ने कठोपनिषद् के शाङ्करभाष्य की टीका में उद्धृत किया है। नहीं मालूम यह कहाँ का वचन है।

यदि किसी का शंका हो कि जनक आदि पूर्ण ब्रह्मज्ञानी न थे तो योगवासिष्ठ में स्पष्ट लिखा है कि ये सब 'जीवन्मुक्त' थे। योगवासिष्ठ में ही क्यों? महाभारत में भी कथा है कि व्यासजी ने अपने पुत्र शुक को मोक्षधर्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने के लिये अन्त में जनक के यहाँ भेजा था (म भा शां ३२५) और यो २ १ देखो। इसी प्रकार उपनिषदों में भी कथा है कि अश्वपति कैकेय राजा ने उद्दालक ऋषि को (छां ५ ११–२४) और काशिराज अजातशत्रु ने गार्ग्य बालाकी को (बृ २ १) ब्रह्मज्ञान सिखाया था। परन्तु यह वर्णन कहीं नहीं मिलता कि अश्वपति या जनक ने राजपाट छोड़ कर कर्मत्यागरूप संन्यास ले लिया। इसके विपरीत जनकसुलभासंवाद में जनक ने स्वयं अपने विषय में कहा है कि हम मुक्तसङ्ग हो कर – आसक्ति छोड़ कर – राज्य करते हैं। यदि हमारे एक हाथ को चन्दन लगाओ और दूसरे को छील डालो तो भी उसका सुख और दुःख हमें एक-सा ही है। अपनी स्थिति का इस प्रकार वर्णन कर (म भा शां ३२ २६) जनक ने आगे सुलभा से कहा है :–

> मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टाऽन्यैर्मोक्षवित्तमैः।
> ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम्॥
>
> ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
> कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः॥
>
> प्रहायोभयमप्येवं ज्ञानं कर्म च केवलम्।
> तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना॥

अर्थात् मोक्षशास्त्र के ज्ञाता मोक्षप्राप्ति के लिये तीन प्रकार की निष्ठाएँ बतलाते हैं – ( ) ज्ञान प्राप्त कर सब कर्मों का त्याग कर देना – इसी को कुछ मोक्षशास्त्रज्ञ ज्ञाननिष्ठा कहते हैं। ( ) इसी प्रकार दूसरे सूक्ष्मदर्शी लोग कर्मनिष्ठा बतलाते हैं। परन्तु केवल ज्ञान और केवल कर्म – इन दोनों निष्ठाओं को छोड़ कर (१) यह तीसरी (अर्थात् ज्ञान से आसक्ति का क्षय कर कर्म करने की) निष्ठा (मुझे) उस महात्मा (पञ्चशिख) ने बतलाई है (म भा शां ३२ ३८–४)। निष्ठा शब्द का सामान्य अर्थ अन्तिम स्थिति आधार या अवस्था है। परन्तु इस स्थान पर और गीता में भी निष्ठा शब्द का अर्थ मनुष्य के जीवन का वह मार्ग, ढंग, रीति या उपाय है जिसके आश्रय चलने पर अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। गीता पर जो शांकरभाष्य है उसमें भी निष्ठा = अनुष्ठेयतात्पर्यम् – अर्थात् आयुष्य या जीवन में जो कुछ अनुष्ठेय (आचरण करने योग्य) हो उसमें तत्परता (निमग्न रहना) यही अर्थ किया है। आयुष्यक्रम या जीवनक्रम के इन मार्गों में से जैमिनि प्रभृति मीमांसकों ने ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया है किन्तु यह कहा है कि यज्ञयाग आदि कर्म करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है :–

इज्यानां बहुभिर्यज्ञैर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
शास्त्राणि चेत्प्रमाणं स्युः प्राप्तास्ते परमां गतिम् ॥

क्योंकि, ऐसा न मानने से शास्त्र की अर्थात् वेद की आज्ञा व्यर्थ हो जाती (जै. सू. ५. २. २३ पर शांकरभाष्य देखो) और उपनिषत्कार तथा बादरायणाचार्य ने यह निश्चय कर – कि यज्ञयाग आदि सभी कर्म गौण हैं – सिद्धान्त किया है, कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान के सिवा और किसी से भी मोक्ष का मिलना शक्य नहीं (वे. सू. ३. ४. १, २)। परन्तु जनक कहते हैं कि इन दोनों निष्ठाओं को छोड़ कर आसक्तिविरहित कर्म करने की एक तीसरी ही निष्ठा पञ्चशिख ने (स्वयं सांख्यमार्गी हो कर भी) हमें बतलाई है। 'दोनों निष्ठाओं को छोड़ कर' इन शब्दों से प्रकट होता है कि यह तीसरी निष्ठा पहली दो निष्ठाओं में से किसी भी निष्ठा का अङ्ग नहीं – प्रत्युत स्वतन्त्र रीति से वर्णित है। वेदान्तसूत्र (३. ४. ३२–३५) में भी जनक की इस तीसरी निष्ठा का उल्लेख किया गया है और भगवद्गीता में जनक की इसी तीसरी निष्ठा का – इसी में भक्ति का नया योग करके – वर्णन किया गया है। परन्तु गीता का तो यह सिद्धान्त है कि मीमांसकों का केवल कर्मयोग अर्थात् ज्ञानविरहित कर्ममार्ग मोक्षदायक नहीं है। वह केवल स्वर्गप्रद है। (गी. २. ४२–४४; ९. २१) इसलिये जो मार्ग मोक्षप्रद नहीं है उसे निष्ठा नाम ही नहीं दिया जा सकता। क्योंकि यह व्याख्या सभी को स्वीकृत है कि जिससे अन्त में मोक्ष मिले उसी मार्ग को निष्ठा कहना चाहिये। अतएव सब मतों का सामान्य विवेचन करते समय यद्यपि जनक ने तीन निष्ठाएँ बतलाई हैं, तथापि मीमांसकों का केवल (अर्थात् ज्ञानविरहित) कर्ममार्ग 'निष्ठा' में से पृथक् कर सिद्धान्तपक्ष में स्थिर होनेवाली दो निष्ठाएँ ही गीता के तीसरे अध्याय के आरम्भ में कही गई हैं (गी. ३. ३)। केवल ज्ञान (सांख्य) और ज्ञानयुक्त निष्कामकर्म (योग) यही दो निष्ठाएँ हैं। और सिद्धान्तपक्षीय इन दोनों निष्ठाओं में से दूसरी (अर्थात् जनक के कथनानुसार तीसरी) निष्ठा के समर्थनार्थ यह प्राचीन उदाहरण दिया गया है कि "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" – जनक प्रभृति ने इस प्रकार कर्म करके ही सिद्धि पाई है। जनक आदि क्षत्रियों की बात छोड़ दें, तो यह सर्वश्रुत है ही कि व्यास ने विचित्रवीर्य के वंश की रक्षा के लिये धृतराष्ट्र और पाण्डु दो क्षेत्रज पुत्र निर्माण किये थे। और तीन वर्ष तक निरन्तर परिश्रम करके संसार के उद्धार के निमित्त उन्होंने महाभारत भी लिखा है। एवं कलियुग में स्मार्त अर्थात् संन्यासमार्ग के प्रवर्तक श्रीशङ्कराचार्य ने भी अपने अलौकिक ज्ञान तथा उद्योग से धर्मसंस्थापना का कार्य किया था। कहाँ तक कहें ? जब स्वयं ब्रह्मदेव कर्म करने के लिये प्रवृत्त हुए तभी सृष्टि का आरम्भ हुआ है। ब्रह्मदेव से ही मरीचि प्रभृति सात मानसपुत्रों ने उत्पन्न हो कर संन्यास न ले, सृष्टिक्रम को जारी रखने के लिये मरणपर्यन्त प्रवृत्तिमार्ग का ही अङ्गीकार किया; और सनत्कुमार

प्रभृति दूसरे सात मानसपुत्र जन्म से ही विरक्त अर्थात् निवृत्तिपन्थी हुए – इस कथा का उल्लेख महाभारत में वर्णित नारायणीय धर्मनिरूपण में है (म. भा. शां. ३३९ और ३४०)। ब्रह्मज्ञानी पुरुषों ने और ब्रह्मदेव ने भी कर्म करते रहने के ही प्रवृत्तिमार्ग को क्यों अङ्गीकार किया? इसकी उपपत्ति वेदान्तसूत्र में इस प्रकार दी है – "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम्" (वे. सू. ३. ३. ३२) – जिसका जो ईश्वरनिर्मित अधिकार है, उसके पूरे न होने तक कार्यों से छुट्टी नहीं मिलती। इस उपपत्ति की जाँच आगे की जावेगी। उपपत्ति कुछ ही क्यों न हो? पर यह बात निर्विवाद है, कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों पन्थ ब्रह्मज्ञानी पुरुषों में संसार के आरम्भ से प्रचलित हैं। इससे यह भी प्रकट है, कि उनमें से किसी की श्रेष्ठता का निर्णय सिर्फ आचार की ओर ध्यान दे कर किया नहीं जा सकता।

इस प्रकार पूर्वाचार द्विविध होने के कारण केवल आचार से ही यद्यपि यह निर्णय नहीं हो सकता, कि निवृत्ति श्रेष्ठ है या प्रवृत्ति? तथापि संन्यासमार्ग के लोगों की यह दूसरी दलील है, कि – यदि यह निर्विवाद है, कि बिना कर्मक्षय के मोक्ष नहीं होता, तो ज्ञानप्राप्ति हो जाने पर तृष्णामूलक कर्मों का झगड़ा जितनी जल्दी हो सके, तोड़ने में ही श्रेय है। महाभारत के शुकानुशासन में – इसी को शुकानुप्रश्न भी कहते हैं – संन्यासमार्ग का ही प्रतिपादन है। वहाँ शुक ने व्यासजी से पूछा है :–

> यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
> कां दिशं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा॥

"वेद कर्म करने के लिये भी कहता है और छोड़ने के लिये भी। तो अब मुझे बतलाइये, कि विद्या से अर्थात् कर्मरहित ज्ञान से और केवल कर्म से कौन-सी गति मिलती है?" (शां. २४०. १) इसके उत्तर में व्यासजी ने कहा है :–

> कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।
> तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥

"कर्म से प्राणी बँध जाता है और विद्या से मुक्त हो जाता है। इसी से पारदर्शी यति अथवा संन्यासी कर्म नहीं करते" (शां. २४०. ७)। इस श्लोक के पहले चरण का विवेचन हम पिछले प्रकरण में कर आये हैं। "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते" इस सिद्धान्त पर कुछ वाद नहीं है। परन्तु स्मरण रहे, कि वहाँ यह दिखलाया है कि "कर्मणा बध्यते" का विचार करने से सिद्ध होता है, कि जड़ अथवा अचेतन कर्म किसी को न तो बाँध सकता है और न छोड़ सकता है; मनुष्य फलाशा से अथवा अपनी आसक्ति से कर्मों में बँध जाता है। इस आसक्ति से अलग हो कर वह यदि केवल बाह्य इन्द्रियों से कर्म करे, तब भी वह मुक्त ही है। रामचन्द्रजी इसी अर्थ को मन में ला कर अध्यात्म रामायण (२. ४. ४२) में लक्ष्मण से कहते हैं कि :–

प्रवाहपतितः कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव ॥

"कर्ममय संसार के प्रवाह में पड़ा हुआ मनुष्य बाहरी सब प्रकार के कर्तव्यकर्म करके भी अलिप्त रहता है।" अध्यात्मशास्त्र के इस सिद्धान्त पर ध्यान देने से शीघ्र पता लगता है कि कर्मों को दुःखमय मान कर उनके त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रहती। मन को शुद्ध और सम करके फलाशा छोड़ देने से ही सब काम हो जाता है। तात्पर्य यह कि यद्यपि ज्ञान और काम्यकर्म का विरोध हो तथापि निष्कामकर्म और ज्ञान के बीच कोई भी विरोध हो नहीं सकता। इसी से अनुगीता में 'तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति' — अतएव कर्म नहीं करते — इस वाक्य के बदले,

तस्मात्कर्मसु निःस्नेहा ये केचित्पारदर्शिनः।

"इससे पारदर्शी पुरुष कर्म में आसक्ति नहीं रखते" (अश्व. ५१. ३३) यह वाक्य आया है। इससे पहले कर्मयोग का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। जैसे —

कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥

अर्थात् "जो ज्ञानी पुरुष श्रद्धा से फलाशा न रख कर (कर्म) योगमार्ग का अवलम्ब करके कर्म करते हैं वे ही साधुदर्शी हैं" (अश्व. ५०. ६, ७)। इसी प्रकार —

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।

इस पूर्वार्ध से जुड़ा हुआ ही वनपर्व में युधिष्ठिर को शौनक का यह उपदेश है —

तस्माद्धर्मानिमान् सर्वान्नाभिमानात् समाचरेत्।

अर्थात् "वेद में कर्म करने और छोड़ने की भी आज्ञा है; इसलिये (कर्तृत्व का) अभिमान छोड़ कर हमें अपने सब कर्म करना चाहिये" (वन. २. ७३)। शुकानुप्रश्न में भी व्यासजी ने शुक से दो बार स्पष्ट कहा है कि —

एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥

"ब्राह्मण की पूर्व की पुरानी (पूर्वतर) वृत्ति यही है कि ज्ञानवान् हो कर सब काम करके सिद्धि प्राप्त करे" (म. भा. शां. २३७. १; २३४. २९)। यह भी प्रकट है कि यहाँ 'ज्ञानवानेव' पद से ज्ञानोत्तर और ज्ञानयुक्त कर्म ही विवक्षित है। अब यदि दोनों पक्षों के उक्त सब वचनों का निराग्रह बुद्धि से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इस दलील से सिर्फ कर्मसंन्यासविषयक यह एक ही अनुमान निष्पन्न नहीं होता कि 'तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति' (इससे काम नहीं करते) किन्तु उसी दलील से यह निष्काम कर्मयोगविषयक दूसरा अनुमान भी उतनी ही योग्यता का सिद्ध होता है कि 'तस्मात्कर्मसु निःस्नेहाः' — इससे कर्म में आसक्ति

नहीं सकते। सिर्फ हम ही इस प्रकार के ये अनुमान नहीं करते, बल्कि व्यासजी ने भी यही अर्थ शुकानुप्रश्न के निम्न श्लोक में स्पष्टतया बतलाया है –

> द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः।
> प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभाषितः ॥*

इन दोनों मार्गों को वेदों का (एक-सा) आधार है – एक मार्ग प्रवृत्तिविषयक धर्म का और दूसरा निवृत्ति अर्थात् संन्यास लेने का है (म. भा. शां. २४०. ६)। पहले लिख ही चुके हैं कि इसी प्रकार नारायणीय धर्म में भी इन दोनों पन्थों का पृथक् पृथक् स्वतन्त्र रीति से एवं सृष्टि के आरम्भ से प्रचलित होने का वर्णन किया गया है। परन्तु स्मरण रहे कि महाभारत में प्रसङ्गानुसार इन दोनों पन्थों का वर्णन पाया जाता है। इसलिये प्रवृत्तिमार्ग के साथ ही निवृत्तिमार्ग के समर्थक वचन भी उसी महाभारत में ही पाये जाते हैं। गीता की संन्यासमार्गीय टीकाओं में निवृत्तिमार्ग के इन वचनों को ही मुख्य समझ कर ऐसा प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है। मानो इसके सिवा और दूसरा पन्थ ही नहीं है। और यदि हो भी तो वह गौण है। अर्थात् संन्यासमार्ग का केवल अङ्ग है। परन्तु यह प्रतिपादन साम्प्रदायिक आग्रह का है और इसी से गीता का अर्थ सरल एवं स्पष्ट रहने पर भी आजकल बहुतों को दुर्बोध हो गया है। 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा' (गी. ३. ३) इस श्लोक की बराबरी का ही 'द्वाविमावथ पन्थानौ' यह श्लोक है। इससे प्रकट होता है, कि इस स्थान पर दो समान-बलवाले मार्ग बतलाने का हेतु है। परन्तु इस स्पष्ट अर्थ की ओर अथवा पूर्वापार सन्दर्भ की ओर ध्यान न देकर कुछ लोग इसी श्लोक में यह दिखलाने का यत्न किया करते हैं कि दोनों मार्गों के बदले एक ही मार्ग प्रतिपाद्य है।

इस प्रकार यह प्रकट हो गया कि कर्मसंन्यास (सांख्य) और निष्काम कर्म (योग) दोनों वैदिक धर्म के स्वतन्त्र मार्ग हैं और उनके विषय में गीता का यह निश्चित सिद्धान्त है कि वे वैकल्पिक नहीं हैं। किन्तु 'संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है।' अब कर्मयोग के सम्बन्ध में गीता में आगे कहा है कि जिस संसार में हम रहते हैं वह संसार और उसमें हमारा क्षणभर जीवित रहना भी कर्म ही है तब कर्म छोड़ कर जावें कहाँ? और यदि इस संसार में अर्थात् कर्मभूमि में ही रहना हो तो कर्म छूटेंगे ही कैसे? हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब तक देह है तब तक भूख और प्यास जैसे विकार नहीं छूटते हैं (गी. ५. ८, ९)। और उनके निवारणार्थ भिक्षा माँगना जैसा लज्जित कर्म करने के लिये भी संन्यासमार्ग के अनुसार यदि स्वतन्त्रता है तो अनासक्तबुद्धि से अन्य व्यावहारिक शास्त्रोक्त कर्म करने के

---

* इस अन्तिम चरण के 'निवृत्तिश्च सुभाषितः' और 'निवृत्तिश्च विभाषितः' ऐसे पाठभेद भी हैं। पाठभेद कुछ भी हो पर प्रथम 'द्वाविमौ' पद महत्त्व का है जिससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि दोनों पन्थ स्वतन्त्र हैं।

था विच्छेद करने का पाप भी न लगेगा तथा ब्रह्मसृष्टि एवं मायासृष्टि – परलोक और इहलोक – दोनों के कल्याणपालन का श्रेय भी मिल जायगा। ईशोपनिषद् में इसी तत्त्व का प्रतिपादन है (ईश. ११)। श्रुतिवचनों का आगे विस्तारसहित विचार किया जाएगा। यहाँ इतना ही कह देते हैं कि गीता में जो कहा है कि ब्रह्मात्मैक्य के अनुभवी ज्ञानी पुरुष मायासृष्टि के व्यवहार केवल शरीर अथवा केवल इन्द्रियों से ही करते हैं (गी. ४. २१; ५. १२) उसका तात्पर्य भी यही है; और इसी उद्देश से अठारहवें अध्याय में यह सिद्धान्त किया है कि निस्सङ्गबुद्धि से फलाशा छोड़ कर (केवल कर्तव्य समझ कर) कर्म करना ही सच्चा 'सात्त्विक' कर्मत्याग है – कर्म छोड़ना सच्चा कर्मत्याग नहीं है (गीता १८. ९)। कर्म मायासृष्टि के ही क्यों न हों; परन्तु किसी अगम्य उद्देश से परमेश्वर ने ही तो उन्हें बनाया है। उनको बन्द करना मनुष्य के अधिकार की बात नहीं। वह परमेश्वर के अधीन है। अतएव यह बात निर्विवाद है कि बुद्धि निःसङ्ग रख कर केवल शारीर कर्म करने से वे मोक्ष के बाधक नहीं होते। तब चित्त को विरक्त कर केवल इन्द्रियों से शास्त्रसिद्ध कर्म करने में हानि ही क्या है? गीता में कहा ही है कि – "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गी. ३. ५; १८. ११) – इस जगत में कोई एक क्षणभर भी बिना कर्म के रह नहीं सकता। और अनुगीता में कहा है: "नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते" (अश्व. २०. ७) – इस लोक में (किसी से भी) घड़ीभर के लिये भी कर्म नहीं छूटते। मनुष्यों की तो बिसात ही क्या! सूर्यचन्द्र प्रभृति भी निरन्तर कर्म ही करते रहते हैं। अधिक क्या कहें? यह निश्चित सिद्धान्त है कि कर्म ही सृष्टि और सृष्टि ही कर्म है। इसीलिये हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सृष्टि की घटनाओं को (अथवा कर्म को) क्षणभर के लिये भी विश्राम नहीं मिलता। देखिये, एक ओर भगवान् गीता में कहते हैं – "कर्म छोड़ने से खाने को भी न मिलेगा" (गी. ३. ८); दूसरी ओर वनपर्व में द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है – "अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन" (३२. ८) अर्थात् कर्म के बिना प्राणिमात्र का निर्वाह नहीं; और इसी प्रकार दासबोध में पहले ब्रह्मज्ञान बतला कर श्रीसमर्थ रामदासस्वामी भी कहते हैं "यदि प्रपञ्च छोड़ कर परमार्थ करोगे तो खाने के लिये अन्न भी न मिलेगा" (दा. १२. १. ३)। अच्छा, भगवान् का ही चरित्र देखो। मालूम होगा कि आप प्रत्येक युग में भिन्न भिन्न अवतार ले कर इस मायिक जगत् में साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाशरूप कर्म करते आ रहे हैं (गी. ४. ८ और म. भा. शां. ३३९. १०३ देखो)। उन्हों ने गीता में कहा है कि यदि मैं ये कर्म न करूँ तो संसार उजड़ कर नष्ट हो जावेगा (गी. ३. २४)। इससे सिद्ध होता है कि जब स्वयं भगवान् जगत् के धारणार्थ कर्म करते हैं तब इस कथन से क्या प्रयोजन है कि ज्ञानोत्तर कर्म निरर्थक है? अतएव "यः क्रियावान् स पण्डितः" (म. भा. वन. ३१३. १०८) – जो क्रियावान् है वही पण्डित है – इस न्याय के

अनुसार अर्जुन को निमित्त कर भगवान् सब को उपदेश करते हैं कि इस जगत् में कर्म किसी से छूट नहीं सकते। कर्मों की बाधा से बचने के लिये मनुष्य अपने धर्मानुसार प्राप्त कर्तव्य का फलाशा त्याग कर अर्थात् निष्कामबुद्धि से सदा करता रहे – यही एक मार्ग (योग) मनुष्य के अधिकार में है; और यही उत्तम भी है। प्रकृति तो अपने व्यवहार सदैव ही करती रहेगी। परन्तु उसमें कर्तृत्व के अभिमान की बुद्धि छोड़ देने से मनुष्य मुक्त ही है (गी. ३. २७; १३. २९; १४. १९; १८. १६)। मुक्ति के लिये कर्म छोड़ने की या सांख्यों के कथनानुसार कर्मसंन्यासरूप वैराग्य की ज़रूरत नहीं। क्योंकि इस कर्मभूमि में कर्म का पूर्णतया त्याग कर डालना शक्य ही नहीं है।

इस पर भी कुछ लोग कहते हैं – हाँ माना कि कर्मबन्ध तोड़ने के लिये कर्म छोड़ने की ज़रूरत है सिर्फ कर्मफलाशा छोड़ने से ही सब निर्वाह हो जाता है। परन्तु जब ज्ञानप्राप्ति से हमारी बुद्धि निष्काम हो जाती है तब सब वासनाओं का क्षय हो जाता है और कर्म करने की प्रवृत्ति होने के लिये कोई भी कारण नहीं रह जाता। तब ऐसी अवस्था में अर्थात् वासना के क्षय से – कायक्लेशभय से नहीं – सब कर्म आप ही आप छूट जाते हैं। इस संसार में मनुष्य का परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। जिसे ज्ञान से वह मोक्ष प्राप्त हो जाता है उसे प्रजा सम्पत्ति अथवा स्वर्गादि लोकों के सुख में से किसी की भी 'एषणा' (इच्छा) नहीं रहती (बृ. ३. ५. १ और ४. ४. २२)। इसलिये कर्मों को छोड़ने पर भी अन्त में उस ज्ञान का स्वाभाविक परिणाम यही हुआ करता है कि कर्म आप ही आप छूट जाते हैं। इसी

तस्यैव शमः कारणमुच्यते (गी ६ ३) – या योगारूढ हो गया उसे शम ही कारण है। इन वचनों के अतिरिक्त 'सर्वारम्भपरित्यागी' (गी १२ १६) अर्थात् समस्त उद्योग छोड़ बैठने और 'अनिकेत' (गी १ १) अर्थात् बिना घरद्वार का इत्यादि विशेषण भी ज्ञानी पुरुष के लिये गीता में प्रयुक्त हुए हैं। इन सब बातों से कुछ लोगों की यह राय है – भगवद्गीता का यह मान्य है कि ज्ञान के पश्चात् कर्म तो आप-ही-आप छूट जाते हैं। परन्तु हमारी समझ में गीता के वाक्यों के ये अर्थ और उपर्युक्त युक्तियाँ भी ठीक नहीं। इसी से इसके विरुद्ध हमें जो कुछ कहना है उसे अब संक्षेप में कहते हैं।

'सुखदुःखविवेक' प्रकरण में हमने दिखलाया है कि गीता इस बात को नहीं मानती कि ज्ञानी होने से मनुष्य की सब प्रकार की इच्छाएँ या वासनाएँ छूट ही जानी चाहिये। सिर्फ इच्छा या वासना रहने में कोई दुःख नहीं। दुःख की सच्ची जड़ है उसकी आसक्ति। इससे गीता का सिद्धान्त है कि सब प्रकार की वासनाओं को नष्ट करने के बदले ज्ञाता को उचित है कि केवल आसक्ति को छोड़ कर कर्म करे। यह नहीं कि इस आसक्ति के छूटने से उसके साथ ही कर्म भी छूट जावें। और तो क्या? वासना के छूट जाने पर भी सब कर्मों का छूटना शक्य नहीं। वासना हो या न हो हम देखते हैं कि श्वासोच्छ्वास प्रभृति कर्म नित्य एक से हुआ करते हैं। और आखिर क्षणभर जीवित रहना भी तो कर्म ही है एवं वह पूर्ण ज्ञान होने पर भी अपनी वासना से अथवा वासना के क्षय से छूट नहीं सकता। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि वासना के छूट जाने से कोई ज्ञानी पुरुष अपना प्राण नहीं खो बैठता और इसी से गीता में यह वचन कहा है – न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् (गी १) – कोई क्यों न हो? बिना कर्म किये रह नहीं सकता। गीताशास्त्र के कर्मयोग का पहला सिद्धान्त यह है कि इस कर्मभूमि में कर्म तो निसर्ग से ही प्राप्त, प्रवाहप्रतित और अपरिहार्य हैं। वे मनुष्य की वासना पर अवलम्बित नहीं हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने पर – कि कर्म और वासना का परस्पर नित्य सम्बन्ध नहीं है। वासना के क्षय के साथ ही कर्म का भी क्षय मानना निराधार हो जाता है – फिर यह प्रश्न सहज ही होता है कि वासना का क्षय हो जाने पर भी ज्ञानी पुरुष को प्राप्त कर्म किस रीति से करना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर गीता के तीसरे अध्याय में दिया गया है (गी १ १७–१ और उस पर हमारी टीका देखो)। गीता को यह मत मान्य है कि ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के पश्चात् स्वयं अपना कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। परन्तु इसके आगे बढ़ कर गीता का यह भी कथन है कि कोई भी क्यों न हो वह कर्म से छुट्टी नहीं पा सकता। कई लोगों को ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं कि ज्ञानी पुरुष को कर्तव्य नहीं रहता और कर्म नहीं छूट सकते। परन्तु गीता की बात ऐसी नहीं है। गीता ने उनका यों मेल मिलाया है – जब कि कर्म अपरिहार्य हैं तब ज्ञानप्राप्ति के बाद भी ज्ञानी पुरुष को कर्म करना ही

चाहिये। चूँकि उसका स्वयं अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। इसलिये अब उसे अपने सब कर्म निष्कामबुद्धि से करना ही उचित है। सारांश, तीसरे अध्याय के १७ वें श्लोक के 'तस्य कार्यं न विद्यते' वाक्य में 'कार्यं न विद्यते' इन शब्दों की अपेक्षा 'तस्य' (अर्थात् उस ज्ञानी पुरुष के लिये) शब्द अधिक महत्त्व का है। और उसका भावार्थ यह है कि 'स्वयं उसको अपने लिये कुछ प्राप्त नहीं करना होता।' इसीलिये अब (ज्ञान हो जाने पर) उसको अपना कर्तव्य निरपेक्षबुद्धि से करना चाहिये। आगे १९ वें श्लोक में कारणबोधक 'तस्मात्' पद का प्रयोग कर अर्जुन को इसी अर्थ का उपदेश किया है, 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' (गी. ३.१९) – इसी से तू शास्त्र से प्राप्त अपने कर्तव्य को आसक्ति न रख कर करता जा; कर्म का त्याग मत कर। तीसरे अध्याय के १७ से १९ तक तीन श्लोकों से जो कार्यकारणभाव व्यक्त होता है, उसपर और अध्याय के समूचे प्रकरण के सन्दर्भ पर ठीक ठीक ध्यान देने से दीख पड़ेगा कि संन्यासमार्गीयों के कथनानुसार 'तस्य कार्यं न विद्यते' इसे स्वतन्त्र सिद्धान्त मान लेना उचित नहीं। इसके लिये उत्तम प्रमाण आगे दिये हुए उदाहरण हैं। ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् कोई कर्तव्य न रहने पर भी शास्त्र से प्राप्त समस्त व्यवहार करने पड़ते हैं – इस सिद्धान्त की पुष्टि में भगवान कहते हैं –

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

हे पार्थ! 'मेरा इस त्रिभुवन में कुछ भी कर्तव्य (बाकी) नहीं है, अथवा कोई अप्राप्त वस्तु पाने की (वासना) रही नहीं है; तथापि मैं कर्म करता ही हूँ' (गी. ३.२२)। 'न मे कर्तव्यमस्ति' (मुझे कर्तव्य नहीं रहा है) ये शब्द पूर्वोक्त श्लोक के 'तस्य कार्यं न विद्यते' (उसको कुछ कर्तव्य नहीं रहता) इन्हीं शब्दों को लक्ष्य करके कहे गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन चार पाँच श्लोकों का भावार्थ यही है – 'ज्ञान से कर्तव्य के शेष न रहने पर भी (किंबहुना इसी कारण से) शास्त्रतः प्राप्त समस्त व्यवहार अनासक्तबुद्धि से करना ही चाहिये।' यदि ऐसा न हो तो 'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्यादि श्लोकों में बतलाये हुए सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिये भगवान ने जो अपना उदाहरण दिया है, वह (सब) असम्बद्ध-सा हो जायगा; और यह अनवस्था प्राप्त हो जायगी कि सिद्धान्त तो कुछ और है और उदाहरण ठीक उसके विरुद्ध कुछ और ही है। इस अनवस्था को टालने के लिये संन्यासमार्गीय टीकाकार 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' के 'तस्मात्' शब्द का अर्थ भी निराली रीति से किया करते हैं। उनका कथन है कि गीता का मुख्य सिद्धान्त तो यही है कि ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ दे; परन्तु अर्जुन ऐसा ज्ञानी था नहीं, इसलिये – 'तस्मात्' – भगवान ने उसे कर्म करने के लिये कहा है। हम ऊपर कह आये हैं कि गीता के उपदेश के पश्चात् भी अर्जुन

अज्ञानी ही था यह युक्ति ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि 'तस्मात् कार्यं' का अर्थ इस प्रकार खींचातानी कर लगा भी लिया, तो 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्' प्रभृति श्लोकों में भगवान् ने – अपने किसी कर्तव्य के न रहने पर भी मैं कर्म करता हूँ – यह जो अपना उदाहरण मुख्य सिद्धान्त के समर्थन में दिया है, उसका मेल भी इस पक्ष में अच्छा नहीं मिलता। इसलिये 'तस्य कार्यं न विद्यते' वाक्य में 'कार्यं न विद्यते' शब्दों को मुख्य न मान कर 'तस्य' शब्द को ही प्रधान मानना चाहिये। और ऐसा करने से 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' का अर्थ यही करना पड़ता है कि "तू ज्ञानी है, इसलिये यह सच है कि तुझे अपने स्वार्थ के लिये कर्म अनावश्यक है; परन्तु स्वयं तेरे लिये कर्म अनावश्यक है इसीलिये अब तू उन कर्मों को (जो शास्त्र से प्राप्त हुए हैं) 'मुझे आवश्यक नहीं' इस बुद्धि से अर्थात् निष्कामबुद्धि से कर।" थोड़े में यह अनुमान निकलता है कि कर्म छोड़ने का यह कारण नहीं हो सकता कि वह हमें अनावश्यक है। किन्तु कर्म अपरिहार्य हैं। इस कारण शास्त्र से प्राप्त अपरिहार्य कर्मों को स्वार्थत्यागबुद्धि से करते ही रहना चाहिये। यही गीता का कथन है। और यदि प्रकरण की समता की दृष्टि से देखें तो भी यही अर्थ लेना पड़ता है। कर्मसंन्यास और कर्मयोग इन दोनों में जो बड़ा अन्तर है वह यही है। संन्यासपक्षवाले कहते हैं कि "तुझे कुछ कर्तव्य शेष नहीं बचा है, इससे तू कुछ भी न कर।" और गीता (अर्थात् कर्मयोग) का कथन है कि "तुझे कुछ कर्तव्य शेष नहीं बचा है, इसलिये अब तुझे जो कुछ करना है, वह स्वार्थसम्बन्धी वासना छोड़ कर अनासक्तबुद्धि से कर।" अब प्रश्न यह है कि एक ही हेतुवाक्य से इस प्रकार भिन्न भिन्न दो अनुमान क्यों निकले? इसका उत्तर इतना ही है कि गीता कर्मों को अपरिहार्य मानती है। इसलिये गीता के तत्त्वविचार के अनुसार यह अनुमान निकल ही नहीं सकता कि "कर्म छोड़ो"। अतएव "तुझे अनावश्यक है" इस हेतुवाक्य से गीता में यह अनुमान किया गया है कि "स्वार्थबुद्धि छोड़ कर।" वसिष्ठजी ने योगवासिष्ठ में श्रीरामचन्द्र को सब ब्रह्मज्ञान बतला कर निष्कामकर्म की ओर प्रवृत्त करने के लिये जो युक्तियाँ बतलाई हैं, वह भी इसी प्रकार की हैं। योगवासिष्ठ के अन्त में भगवद्गीता का उपर्युक्त सिद्धान्त ही अक्षरशः हूबहू आ गया है (यो. ६. उ. १९९ और २१६. १४; तथा गी. ३. १९ के अनुवाद पर हमारी टिप्पणी देखो)। योगवासिष्ठ के समान ही बौद्धधर्म के महायान पन्थ के ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में गीता का अनुवाद किया गया है; परन्तु विषयान्तर होने के कारण उसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती। हमने इसका विचार आगे परिशिष्ट प्रकरण में कर दिया है।

आत्मज्ञान होने से 'मैं' और 'मेरा' यह अहंकार की भाषा ही नहीं रहती (गी. १८. १६ और ५६), एवं इसी से ज्ञानी पुरुष को 'निर्मम' कहते हैं। निर्मम का अर्थ 'मेरा मेरा (मम) न कहनेवाला' है; परन्तु भूलना न चाहिये

चाहिये, कि यद्यपि ब्रह्मज्ञान से 'मैं' और 'मेरा' यह अहङ्कारदर्शक भाव छूट जाता है, तथापि उन दो शब्दों के बदले 'जगत' और 'जगत् का' – अथवा भक्तिपक्ष में 'परमेश्वर' और 'परमेश्वर का' – ये शब्द आ जाते हैं। संसार का प्रत्येक सामान्य मनुष्य अपने समस्त व्यवहार 'मेरा' या 'मेरे लिये' ही समझ कर किया करता है। परन्तु ज्ञानी होने पर, ममत्व की वासना छूट जाने के कारण वह इस बुद्धि से (निर्ममबुद्धि से) उन व्यवहारों को करने लगता है कि ईश्वरनिर्मित संसार के समस्त व्यवहार परमेश्वर के हैं और उनको करने के लिये ही ईश्वर ने हमें उत्पन्न किया है। अज्ञानी और ज्ञानी में यही तो भेद है (गी. ३. २७, २८)। गीता के इस सिद्धान्त पर ध्यान देने से ज्ञात हो जाता है कि "योगारूढ पुरुष के लिये शम ही कारण होता है" (गी. ६. ३ और उस पर हमारी टिप्पणी देखो)। इस श्लोक का सरल अर्थ क्या होगा? गीता के टीकाकार कहते हैं – इस श्लोक में कहा गया है, कि योगारूढ पुरुष को आगे (ज्ञान हो जाने पर) शम अर्थात् शान्ति को स्वीकार करना; और कुछ न करना। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। शम मन की शान्ति है। उस अन्तिम 'कार्य' न कह कर इस श्लोक में यह कहा है कि शम अथवा शान्ति दूसरे किसी का कारण है – शमः कारणमुच्यते। अब शम को 'कारण' मान कर देखना चाहिये कि आगे उसका 'कार्य' क्या है? पूर्वापर सन्दर्भ पर विचार करने से यही निष्पन्न होता है कि वह कार्य 'कर्म' ही है। और तब इस श्लोक का अर्थ ऐसा है कि योगारूढ पुरुष अपने चित्त को शान्त करके, तथा उस शान्ति या शम से ही अपने सब अगले व्यवहार करे – टीकाकारों के कथनानुसार यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि "योगारूढ पुरुष कर्म छोड़ दे"। इसी प्रकार 'सर्वारम्भपरित्यागी' और 'अनिकेत' प्रभृति पदों का अर्थ भी कर्मत्यागविषयक नहीं, फलाशात्यागविषयक ही करना चाहिये। गीता के अनुवाद में (उन स्थलों पर जहाँ ये पद आये हैं) हमने टिप्पणी में यह बात खोल दी है। भगवान् ने यह सिद्ध करने के लिये – कि ज्ञानी पुरुष को भी फलाशा त्याग कर चातुर्वर्ण्य आदि सब कर्म यथाशास्त्र करते रहना चाहिये – अपने अतिरिक्त दूसरा उदाहरण जनक का दिया है। जनक एक बड़े कर्मयोगी थे। उनकी साम्यबुद्धि के बढ़ने का परिचय उन्हीं के मुख से यों है – "मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन" (शां. १७. १८ और २१९. ५०) – मेरी राजधानी मिथिला के जल जाने पर भी मेरी कुछ हानि नहीं! इस प्रकार अपना स्वार्थ अथवा लाभालाभ न रहने पर भी राज्य के समस्त व्यवहार करने का कारण बतलाते हुए जनक स्वयं कहते हैं –

> देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह।
> इत्यर्थं सर्व एवैते समारम्भा भवन्ति वै॥

"देव, पितर, सर्वभूत (प्राणी) और अतिथियों के लिये समस्त व्यवहार जारी हैं, मेरे लिये नहीं" (म. भा. अश्व. ३२. २४)। अपना कोई कर्तव्य न रहने पर

फलाशा से उसका चित्त घबरा जाता है, कि मेरा लड़का अच्छा हो जाय। इसी से उसे या तो दूसरा वैद्य बुलाना पड़ता है या दूसरे वैद्य की सलाह की आवश्यकता होती है। इस छोटे-से उदाहरण से ज्ञात होगा कि कर्मफल में ममतारूप आसक्ति किसे कहना चाहिये। और फलाशा न रहने पर भी निरी कर्तव्यबुद्धि से कोई भी काम किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रकार फलाशा को नष्ट करने के लिये यद्यपि ज्ञान की सहायता से मन में वैराग्य का भाव अटल होना चाहिये। परन्तु किसी कपड़े का रङ्ग (राग) दूर करने के लिये जिस प्रकार कोई कपड़े को फाड़ना उचित नहीं समझता, उसी प्रकार यह कहने से (कि किसी कर्म में आसक्ति, काम, सङ्ग, राग अथवा प्रीति न रखो) उस कर्म को ही छोड़ देना ठीक नहीं। वैराग्य से कर्म करना ही यदि अशक्य हो, तो निराली बात है। परन्तु हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वैराग्य से भी भली भाँति कर्म किये जा सकते हैं। इतना ही क्यों? यह भी प्रगट है कि कर्म किसी से छूटते ही नहीं। इसीलिये अज्ञानी लोग जिन कर्मों को फलाशा से किया करते हैं उन्हें ही ज्ञानी पुरुष ज्ञानप्राप्ति के बाद भी लाभ-अलाभ तथा सुखदुःख को एक सा मान कर (गी. २. ३८) धैर्य एवं उत्साह से – किन्तु शुद्धबुद्धि से – फल के विषय में विरक्त या उदासीन रह कर (गी. १८. २६) केवल कर्तव्य मान कर अपने अपने अधिकारानुसार शान्त चित्त से करते रहें (गी. ६. ३)। नीति और मोक्ष की दृष्टि से उत्तम जीवनक्रम का यही सच्चा तत्त्व है। अनेक स्थितप्रज्ञ, महाभगवद्भक्त और परम ज्ञानी पुरुषों ने – एवं स्वयं भगवान ने भी – इसी मार्ग को स्वीकार किया है। भगवद्गीता पुकार कर कहती है कि इस कर्मयोगमार्ग में ही पराकाष्ठा का पुरुषार्थ या परमार्थ है। इसी 'योग' से परमेश्वर का भजनपूजन होता है; और अन्त में सिद्धि भी मिलती है (गी. १८. ४६)। इतने पर भी यदि कोई स्वयं जानबूझ कर गैरसमझ कर ले, तो उसे दुर्दैवी कहना चाहिये। स्पेन्सरसाहेब को यद्यपि अध्यात्मदृष्टि सम्मत न थी, तथापि उन्होंने भी अपने 'समाजशास्त्र का अभ्यास' नामक ग्रन्थ के अन्त में गीता के समान ही यह सिद्धान्त किया है:— यह बात आधिभौतिक रीति से भी सिद्ध है कि इस जगत् में किसी भी काम का एकदम कर गुज़रना शक्य नहीं। उस के लिये कारणीभूत और आवश्यक दूसरी हज़ारों बातें पहले जिस प्रकार हुई होंगी, उसी प्रकार मनुष्य के प्रयत्न सफल, निष्फल या न्यूनाधिक सफल हुआ करते हैं। इस कारण यद्यपि साधारण मनुष्य किसी भी काम के करने में फलाशा से ही प्रवृत्त होते हैं, तथापि बुद्धिमान् पुरुष को शान्ति और उत्साह से फलसम्बन्धी आग्रह छोड़ कर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये।*

---

* Thus admitting that for the *fanatic* some *wild anticipation* is needful as a stimulus, and recognizing the usefulness of his delusion as adapted to his particular nature and his particular function, the *man of the higher type* must be content with greatly

यद्यपि यह सिद्ध हो गया कि ज्ञानी पुरुष इस संसार में अपने प्राप्त कर्मों को फलाशा छोड़ कर निष्कामबुद्धि से आमरण अवश्य करता रहे, तथापि यह बतलाये बिना कर्मयोग का विवेचन पूरा नहीं होता कि ये कर्म किससे और किस लिये प्राप्त होते हैं? अतएव भगवान् ने कर्मयोग के समर्थनार्थ अर्जुन को अन्तिम और महत्त्व का उपदेश किया है कि "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि" (गी. ३. २०) – लोकसंग्रह की ओर दृष्टि दे कर भी तुझे कर्म करना ही उचित है। लोकसंग्रह का यह अर्थ नहीं कि कोई ज्ञानी पुरुष मनुष्यों को केवल जमा करे; अथवा यह अर्थ नहीं कि स्वयं कर्मत्याग का अधिकारी होने पर भी इस लिये कर्म करने का ढोंग करे, कि अज्ञानी मनुष्य कहीं कर्म न छोड़ बैठें और उन्हें अपनी (ज्ञानी पुरुष की) कर्मतत्परता अच्छी लगे। क्योंकि, गीता का यह सिखलाने का हेतु नहीं कि लोग अज्ञानी या मूर्ख बने रहें अथवा उन्हें ऐसे ही बनाये रखने के लिये ज्ञानी पुरुष कर्म करने का ढोंग किया करे। ढोंग तो दूर ही रहा; परन्तु "लोक तेरी अपकीर्ति गावेंगे" (गी. २. ३४) इत्यादि सामान्य लोगों को जँचनेवाली युक्तियों से जब अर्जुन का समाधान न हुआ, तब भगवान् उन युक्तियों से भी अधिक जोरदार और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अधिक बलवान् कारण अब कह रहे हैं। इसलिये कोश में जो 'संग्रह' शब्द के जमा करना, इकट्ठा करना, रखना, पालना, नियमन करना प्रभृति अर्थ हैं, उन सब को यथासम्भव ग्रहण करना पड़ता है। और ऐसा करने से "लोगों का संग्रह करना" यानी यह अर्थ होता है कि "उन्हें एकत्र सम्बद्ध कर इस रीति से उनका पालन-पोषण और नियमन करे कि उनकी परस्पर अनुकूलता से उत्पन्न होनेवाला सामर्थ्य उनमें आ जावे, एवं उसके द्वारा उनकी सुस्थिति को स्थिर रख कर उन्हें श्रेयःप्राप्ति के मार्ग में लगा दे।" "राष्ट्र का संग्रह" शब्द इसी अर्थ में मनुस्मृति (७. ११४) में आया है; और शांकरभाष्य में इस शब्द की व्याख्या यों है – "लोकसंग्रह = लोकस्योन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणम्।" इससे दीख पड़ेगा कि संग्रह शब्द का जो हम ऐसा अर्थ करते हैं – अज्ञान से मनमाना बर्ताव करनेवाले लोगों को ज्ञानवान् बना कर सुस्थिति में एकत्र रखना और आत्मोन्नति के मार्ग में लगाना – वह अपूर्व या

---

moderated expectations, while he perseveres with undiminished efforts. He has to see how comparatively little can be done, and yet to find it worthwhile to do that little: so uniting philanthropic energy with philosophic calm." – Spencer's *Study of Sociology*, 8th Ed. p. 403. (The italics are ours.) इस वाक्य में fanatics के स्थान में 'प्रकृति के गुणों से विमूढ़' (गी. ३. २९) या 'अहंकारविमूढ़' (गी. ३. २७) अथवा 'मन्दमति' या 'अकर्मी' शब्द और man of higher type के स्थान में 'विद्वान्' (गी. ३. २५) एवं greatly moderated expectations के स्थान में 'फलोदासीन्य' अथवा 'फलाशात्याग' इन समानार्थी शब्दों की योजना करने से ऐसा दीख पड़ेगा कि स्पेन्सर साहब ने मानो गीता के ही सिद्धान्त का अनुवाद कर दिया है।

निराधार नहीं है। यह संग्रह शब्द का अर्थ हुआ, परन्तु यहाँ यह भी बतलाना चाहिये, कि 'लोकसंग्रह' में 'लोक' शब्द केवल मनुष्यवाची नहीं है। यद्यपि यह सच है, कि जगत् के अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ है और इसी से मानव जाति के ही कल्याण का प्रधानता से 'लोकसंग्रह' शब्द में समावेश होता है; तथापि भगवान् की ही ऐसी इच्छा है, कि भूलोक, सत्यलोक, पितृलोक और देवलोक प्रभृति जो अनेक लोक अर्थात् जगत् भगवान् ने बनाये हैं, उनका भी भली भाँति धारण पोषण हो और वे सभी अच्छी रीति से चलते रहें। इसलिये कहना पड़ता है, कि इतना सब व्यापक अर्थ 'लोकसंग्रह' पद से यहाँ विवक्षित है, कि मनुष्यलोक के साथ ही इन सब लोकों का व्यवहार भी सुस्थिति से चले (लोकानां संग्रहः)। जनक के किये हुए अपने कर्तव्य के वर्णन में – जो ऊपर लिखा जा चुका है – देव और पितरों का भी उल्लेख है। एवं भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में तथा महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में जिस यज्ञचक्र का वर्णन है, उसमें भी कहा है, कि देवलोक और मनुष्यलोक दोनों ही के धारण-पोषण के लिये ब्रह्मदेव ने यज्ञ उत्पन्न किया (गी. ३. १०–१२)। इससे स्पष्ट होता है, कि भगवद्गीता में 'लोकसंग्रह' पद से इतना अर्थ विवक्षित है, कि – अकेले मनुष्यलोक का ही नहीं, किन्तु देवलोक आदि सब लोकों का भी उचित धारण पोषण होवे और वे परस्पर एक दूसरे का श्रेय सम्पादन करें। सारी सृष्टि का पालन पोषण करके लोकसंग्रह करने का जो यह अधिकार भगवान् का है, वही ज्ञानी पुरुष को अपने ज्ञान के कारण प्राप्त हुआ करता है। ज्ञानी पुरुष को जो बात प्रामाणिक जँचती है, अन्य लोग भी उसे प्रमाण मान कर तदनुकूल व्यवहार किया करते हैं (गी. ३. २१)। क्योंकि साधारण लोगों की समझ है, कि शान्तचित्त और समबुद्धि से विचारने का काम ज्ञानी ही का है, कि संसार का धारण और पोषण कैसे होगा? एवं तदनुसार धर्मबन्धन की मर्यादा बना देना भी उसी का काम है। इस समझ में कुछ भूल भी नहीं है। और यह भी कह सकते हैं, कि सामान्य लोगों की समझ में ये बातें भली भाँति नहीं आ सकतीं। इसीलिये तो वे ज्ञानी पुरुषों के भरोसे रहते हैं। इसी अभिप्राय को मन में लाकर शान्तिपर्व में युधिष्ठिर से भीष्म ने कहा है –

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम्॥

अर्थात् "लोकसंग्रहकारक और सूक्ष्म प्रसंगों पर धर्माधर्म का निर्णय कर देनेवाले साधुपुरुषों का उत्तम चरित्र स्वयं ब्रह्मदेव ने ही बनाया है" (म. भा. शां. २५८.)। 'लोकसंग्रह' कुछ ठाले बैठे की बेगार, ढकोसला या लोगों को अज्ञान में डाले रखने की तरकीब नहीं है; किन्तु ज्ञानयुक्त कर्म के संसार में न रहने से जगत् के नष्ट हो जाने की सम्भावना है। इसलिये यही सिद्ध होता है, कि ब्रह्मदेवनिर्मित साधुपुरुषों के कर्तव्यों में से 'लोकसंग्रह' एक प्रधान कर्तव्य है। और इस भगवद्वचन का

भावार्थ भी यही है, कि 'मैं यह काम न करूँ तो ये समस्त लोक अर्थात् जगत् नष्ट हो जावेंगे' (गी. ३. २४)। ज्ञानी पुरुष सब लोगों के नेत्र हैं। यदि वे अपना काम छोड़ देंगे तो सारी दुनिया अन्धी हो जायगी और इस संसार का सर्वतोपरि नाश हुए बिना न रहेगा। ज्ञानी पुरुषों को ही उचित है कि लोगों को ज्ञानवान कर उन्नत बनावें। परन्तु यह काम सिर्फ जीभ हिला देने से अर्थात् कोरे उपदेश से ही कभी नहीं होता। क्योंकि, जिन्हें सदाचरण की आदत नहीं और जिनकी बुद्धि भी पूर्ण शुद्ध नहीं रहती, उन्हें यदि कोरा ब्रह्मज्ञान सुनाया जाय तो वे लोग उस ज्ञान का दुरुपयोग इस प्रकार करते देखे गये हैं – 'तेरा सो मेरा, और मेरा तो मेरा है ही।' इसके सिवा किसी के उपदेश की सत्यता की जाँच भी तो लोग उसके आचरण से ही किया करते हैं। इसलिये यदि ज्ञानी पुरुष स्वयं कर्म न करेगा, तो वह लोगों को आलसी बनने का एक बहुत बड़ा कारण हो जायगा। इसे ही 'बुद्धिभेद' कहते हैं; और यह बुद्धिभेद न होने पावे, तथा सब लोग सचमुच निष्काम हो कर अपना कर्तव्य करने के लिये जागृत हो जावें, इसलिये संसार में ही रह कर अपने कर्मों से सब लोगों को सदाचरण की – निष्कामबुद्धि से कर्मयोग करने की – प्रत्यक्ष शिक्षा देना ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य (ढोंग नहीं) हो जाता है। अतएव गीता का कथन है कि उसे (ज्ञानी पुरुष को) कर्म छोड़ने का अधिकार कभी प्राप्त नहीं होता। अपने लिये न सही, परन्तु लोकसंग्रहार्थ चातुर्वर्ण्य के सब कर्म अधिकारानुसार उसे करना ही चाहिये। किन्तु संन्यासमार्गवालों का मत है कि ज्ञानी पुरुष को चातुर्वर्ण्य के कर्म निष्काम बुद्धि से करने की भी कुछ जरूरत नहीं – यही क्यों? करना भी नहीं चाहिये। इसलिये इस सम्प्रदाय के टीकाकार गीता के 'ज्ञानी पुरुष को लोकसंग्रहार्थ कर्म करना चाहिये' इस सिद्धान्त का कुछ गड़बड़ अर्थ कर (प्रत्यक्ष नहीं तो पर्याय से) यह कहने के लिये तैयार – से हो गये हैं कि स्वयं भगवान् ढोंग का उपदेश करते हैं। पूर्वापर सन्दर्भ से प्रकट है कि गीता के लोकसंग्रह शब्द का यह लिबलिबा या पोला अर्थ सच्चा नहीं। गीता को यह मत ही मंजूर नहीं कि ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ने का अधिकार प्राप्त है। और इसके सबूत में गीता में जो कारण दिये गये हैं, उनमें लोकसंग्रह एक मुख्य कारण है। इसलिये यह मान कर (कि ज्ञानी पुरुष के कर्म छूट जाते हैं) लोकसंग्रह पद का ढोंगी अर्थ करना सर्वथा अन्याय है। इस जगत् में मनुष्य केवल अपने ही लिये नहीं उत्पन्न हुआ है। यह सच है कि सामान्य लोग नासमझी से स्वार्थ में ही फँसे रहते हैं। परन्तु 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' (गी. ६. २९) मैं सब भूतों में हूँ और सब भूत मुझ में हैं – इस रीति से जिसको समस्त संसार ही आत्मभूत हो गया है, उसका अपने मुख से यह कहना ज्ञान में बट्टा लगाना है कि 'मुझे तो मोक्ष मिल गया, अब यदि लोग दुःखी हों तो मुझे इसकी क्या परवाह?' ज्ञानी पुरुष का आत्मा क्या कोई स्वतन्त्र व्यक्ति है? उसके आत्मा पर जब तक अज्ञान का परदा पड़ा था तब तक 'अपना' और 'पराया' यह भेद कायम

था। परन्तु ज्ञानप्राप्ति के बाद सब लोगों का आत्मा ही उसका आत्मा है। इसी से योगवासिष्ठ में राम से वसिष्ठ ने कहा है —

> यावल्लोकपरामर्शो निरूढो नास्ति योगिनः।
> तावद्रूढसमाधित्वं न भवत्येव निर्मलम्॥

"जब तक लोगों के परामर्श लेने का (अर्थात् लोकसंग्रह का) काम थोड़ा भी बाकी है — समाप्त नहीं हुआ है — तब तक यह कभी नहीं कह सकते कि योगारूढ पुरुष की स्थिति निर्दोष है" (यो. ६. पू. १२८. ९७)। केवल अपने ही समाधिसुख में डूब जाना मानो एक प्रकार से अपना ही स्वार्थ साधना है। संन्यासमार्गवाले इस बात की ओर दुर्लक्ष करते हैं। यही उनकी युक्तिप्रयुक्तियों का मुख्य दोष है। भगवान् की अपेक्षा किसी का भी अधिक ज्ञानी, अधिक निष्काम या अधिक योगारूढ होना शक्य नहीं। परन्तु जब स्वयं भगवान् भी 'साधुओं का संरक्षण, दुष्टों का नाश और धर्मसंस्थापना' ऐसे लोकसंग्रह के काम करने के लिये ही समय पर अवतार लेते हैं (गी. ४. ८), तब लोकसंग्रह के कर्त्तव्य को छोड़ देनेवाले ज्ञानी पुरुष का यह कहना सर्वथा अनुचित है कि "जिस परमेश्वर ने इन सब लोगों को उत्पन्न किया है, वह उनका जैसा चाहेगा वैसा धारण-पोषण करेगा। उधर देखना मेरा काम नहीं है।" क्योंकि ज्ञानप्राप्ति के बाद 'परमेश्वर', 'मैं' और 'लोग' — यह भेद ही नहीं रहता। और यदि रहे, तो उसे ढोंगी कहना चाहिये, ज्ञानी नहीं। यदि ज्ञान से ज्ञानी पुरुष परमेश्वररूपी हो जाता है, तो परमेश्वर जो काम करता है वह परमेश्वर के समान अर्थात् निस्सङ्गबुद्धि से करने की आवश्यकता ज्ञानी पुरुष को कैसे छूटेगी (गी. ३. २२ और ४. १४ एवं १५)? इसके अतिरिक्त परमेश्वर को जो कुछ करना है, वह भी ज्ञानी पुरुष के रूप या द्वारा से ही करेगा। अतएव जिसे परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा अपरोक्ष ज्ञान हो गया है कि 'सब प्राणियों में एक आत्मा है', उसके मन में सर्वभूतानुकम्पा आदि उदात्त वृत्तियाँ पूर्णता से जागृत रह कर स्वभाव से ही उसके मन की प्रवृत्ति लोककल्याण की ओर हो जानी चाहिये। इसी अभिप्राय से तुकाराम महाराज साधु पुरुष के लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं — "जो दीन दुःखियों को अपनाता है, वही साधु है — ईश्वर भी उसी के पास है।" अथवा "जिसने परोपकार में अपनी शक्ति का व्यय किया है, उसीने आत्मस्थिति को जाना।"* और अन्त में सन्तजनों के (अर्थात् भक्ति से परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान

---

* इसी भाव का कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने यों व्यक्त किया है —

> बास उसी में है विभुवर का है बस सच्चा साधु वही —
> जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़ कर उनकी बाँह गही।
> आत्मस्थिति जानी उसने ही परहित जिसने व्यथा सही,
> परहितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे ही धन्य मही।

पानेवाले महात्माओं के) कार्य का वर्णन इस प्रकार किया है : सन्तों की विभूतियाँ जगत् के कल्याण ही के लिये हुआ करती हैं। ये लोग परोपकार के लिये अपने शरीर को कष्ट दिया करते हैं। भर्तृहरि ने वर्णन किया है कि परार्थ ही जिसका स्वार्थ हो गया है, वही पुरुष साधुओं में श्रेष्ठ है – 'स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एकः सतामग्रणीः'। क्या मनु आदि शास्त्रप्रणेता ज्ञानी न थे? परन्तु उन्होंने तृष्णा दुःख को बड़ा भारी हौवा मानकर तृष्णा के साथ-ही-साथ परोपकारबुद्धि आदि सभी उदात्त वृत्तियों को नष्ट नहीं कर दिया – उन्होंने लोकसंग्रहकारक चातुर्वर्ण्य प्रभृति शास्त्रीय मर्यादा बना देने का उपयोगी काम किया है। ब्राह्मण को ज्ञान, क्षत्रिय को युद्ध, वैश्य को खेती, गोरक्षा और व्यापार अथवा शूद्र को सेवा – ये जो गुणकर्म और स्वभाव के अनुरूप भिन्न भिन्न कर्म शास्त्रों में वर्णित हैं, वे केवल व्यक्ति के हित के ही लिये नहीं हैं; प्रत्युत मनुस्मृति (१. ८७) में कहा गया है कि चातुर्वर्ण्य के व्यापारों का विभाग लोकसंग्रह के लिये ही इस प्रकार प्रवृत्त हुआ है। सारे समाज के बचाव के लिये कुछ पुरुषों को प्रतिदिन युद्धकला का अभ्यास करके सदा तैयार रहना चाहिये और कुछ लोगों को खेती, व्यापार एवं ज्ञानार्जन प्रभृति उद्योगों से समाज की अन्यान्य आवश्यकताएँ पूर्ण करनी चाहिये। गीता (४. १३; १८. ४१) का अभिप्राय भी ऐसा ही है। यह पहले कहा ही जा चुका है कि इस चातुर्वर्ण्यधर्म में से यदि कोई एक भी धर्म डूब जाय, तो समाज उतना ही पंगु हो जायगा और अन्त में उसका नाश हो जाने की भी सम्भावना रहती है। स्मरण रहे, कि उद्योगों के विभाग की यह व्यवस्था एक ही प्रकार की नहीं रहती है। प्राचीन यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटो ने एतद्विषयक अपने ग्रन्थ में और अर्वाचीन फ्रेंच शास्त्रज्ञ कोंट ने अपने आधिभौतिक तत्त्वज्ञान में समाज की स्थिति के लिये जो व्यवस्था सूचित की है, वह यद्यपि चातुर्वर्ण्य के सदृश है, तथापि उन ग्रन्थों को पढ़ने से कोई भी जान सकेगा कि उस व्यवस्था में वैदिक धर्म की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से कुछ-न-कुछ भिन्नता है। इनमें से कौन-सी समाजव्यवस्था अच्छी है, अथवा यह अच्छापन सापेक्ष है और युगमान से इनमें कुछ फेरफार हो सकता है या नहीं? इत्यादि अनेक प्रश्न यहाँ उठते हैं; और आजकल तो पश्चिमी देशों में 'लोकसंग्रह' एक महत्त्व का शास्त्र बन गया है। परन्तु गीता का तात्पर्यनिर्णय ही हमारा प्रस्तुत विषय है। इसलिये कोई आवश्यकता नहीं कि यहाँ उन प्रश्नों पर भी विचार करें। यह बात निर्विवाद है कि गीता के समय में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था जारी थी और 'लोकसंग्रह' करने के हेतु से ही वह प्रवृत्त की गई थी। इसलिये गीता के 'लोकसंग्रह' पद का अर्थ यही होता है, कि लोगों को प्रत्यक्ष दिखला दिया जाय कि चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के अनुसार अपने अपने कर्म निष्कामबुद्धि से किस प्रकार करना चाहिये? यही बात मुख्यता से यहाँ बतलानी है। ज्ञानी पुरुष समाज के न सिर्फ नेत्र हैं, वरन् गुरु भी हैं। इससे आप ही आप सिद्ध हो जाता है कि उपर्युक्त प्रकार का लोकसंग्रह करने

के लिये उन्होंने अपने समय की समाजव्यवस्था में यदि कोई न्यूनता देखी, तो वे उसे श्वेतकेतु के समान मर्यादानुरूप परिमार्जित कर; और समाज की स्थिति तथा पाप्य शक्ति की रक्षा करते हुए उसको उन्नतावस्था में ले जाने का प्रयत्न करते रहे। इसी प्रकार का लोकसंग्रह करने के लिये राजा जनक संन्यास न ले कर जीवनपर्यन्त राज्य करते रहे; और मनु ने पहले राजा बनना स्वीकार किया। एवं इसी कारण से "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि" (गी. २. ३१) — स्वधर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त हैं उनसे डिगना तुझे उचित नहीं — अथवा "स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्" (गी. १८. ४७) — स्वभाव और गुणों के अनुरूप निश्चित चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के अनुसार नियमित कर्म करने में तुझे कोई पाप नहीं लगेगा — इत्यादि प्रकार से चातुर्वर्ण्यकर्म के अनुसार प्राप्त युद्ध को करने के लिये गीता में बारबार अर्जुन को उपदेश किया गया है। यह कोई भी नहीं कहता कि परमेश्वर का यथाशक्ति ज्ञान प्राप्त न करो। गीता का भी सिद्धान्त है कि इस ज्ञान को सम्पादन करना ही मनुष्य का इस जगत् में इतिकर्तव्य है। परन्तु इसके आगे बढ़ कर गीता का विशेष कथन यह है कि अपने आत्मा के कल्याण ही में समष्टिरूप आत्मा के कल्याणार्थ यथाशक्ति प्रयत्न करने का भी समावेश होता है। इसलिये लोकसंग्रह करना ही ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का सच्चा पर्यवसान है। इस पर भी यह नहीं कि कोई पुरुष ब्रह्मज्ञानी होने से ही सब प्रकार के व्यावहारिक व्यापार अपने ही हाथ से कर सकने योग्य हो जाता हो। भीष्म और व्यास दोनों महाज्ञानी और परम भगवद्भक्त थे। परन्तु यह कोई नहीं कहता कि भीष्म के समान व्यास ने भी लड़ाई का काम किया होता। देवताओं की ओर देखें तो वहाँ भी संसार के संहार करने का काम शङ्कर के बदले विष्णु को सौंपा हुआ नहीं दीख पड़ता। मन की निर्विषयता की सम और शुद्धबुद्धि की तथा आध्यात्मिक उन्नति की अन्तिम सीढ़ी जीवन्मुक्तावस्था है। वह कुछ आधिभौतिक उद्योगों की दक्षता की परीक्षा नहीं है। गीता के इसी प्रकरण में यह विशेष उपदेश दुबारा किया गया है कि स्वभाव और गुणों के अनुरूप प्रचलित चातुर्वर्ण्य आदि व्यवस्थाओं के अनुसार जिस कर्म को हम सदा से करते चले आ रहे हैं स्वभाव के अनुसार उसी कर्म अथवा व्यवसाय को ज्ञानोत्तर भी ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रह के निमित्त करता रहे। क्योंकि उसी में उसके निपुण होने की सम्भावना है। वह यदि कोई और व्यापार करने लगेगा तो इससे समाज की हानि होगी (गी. ३. ३५; १८. ४७)। प्रत्येक मनुष्य में ईश्वरनिर्मित प्रकृति, स्वभाव और गुणों के अनुरूप जो भिन्न भिन्न प्रकार की योग्यता होती है उसे ही अधिकार कहते हैं। और वेदान्तसूत्र में कहा है कि "इस अधिकार के अनुसार प्राप्त कर्मों को पुरुष ब्रह्मज्ञानी हो कर के भी लोकसंग्रहार्थ मरणपर्यन्त करता जावे, छोड़ न दे — "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम्" (वे. सू. ३. ३. ३२)। कुछ लोगों का कथन है कि वेदान्तसूत्रकर्ता का यह नियम केवल बड़े अधिकारी पुरुषों को ही उपयोगी है।

४५ १)। परन्तु य सब व्यास-प्रमुख महात्माओं के व्यवहार की जो उत्पत्ति बतलाते हैं उससे – और वसिष्ठ एवं पञ्चशिख प्रभृति ने राम तथा जनक आदि से अपने अपने अधिकार के अनुसार समाज के धारण-पोषण इत्यादि के काम ही मरण-पर्यन्त करने को जिस जो कहा है उससे – यही प्रकट होता है कि कर्म छोड़ देनेवाले संन्यासमार्गवालों का उपदेश एकपक्षीय है – (सर्वथा सिद्ध होनेवाला शास्त्रीय सत्य नहीं)। अतएव कहना चाहिये कि ऐसे एकपक्षीय उपदेश की ओर ध्यान देकर स्वयं भगवान के ही उदाहरण के अनुसार ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी अपने अधिकार को परख कर तदनुसार लोकसंग्रहकारक कर्म जीवनभर करते जाना ही शास्त्रोक्त और उत्तम मार्ग है। तथापि इस लोकसंग्रह को फलाशा रख कर न करे। क्योंकि, लोकसंग्रह की ही क्यों न हो पर फलाशा रखने से कर्म यदि निष्फल हो जाय तो दुःख हुए बिना रहेगा। इसी से "मैं लोकसंग्रह करूँगा" इस अभिमान या फलाशा की बुद्धि से मन न रखकर लोकसंग्रह भी केवल कर्तव्यबुद्धि से ही करना पड़ता है। इसलिये गीता में यह नहीं कहा कि 'लोकसंग्रहार्थ' अर्थात् लोकसंग्रहरूप फल पाने के लिये कर्म करना चाहिये। किन्तु यह कहा है कि लोकसंग्रह की ओर दृष्टि देकर (सम्पश्यन्) तुझे कर्म करना चाहिये – "लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्" (गी. ३. २०)। इस प्रकार गीता में जो ज़रा लम्बी-चौड़ी शब्दयोजना की गई है उसका रहस्य भी यही है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। लोकसंग्रह सचमुच महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है, पर यह न भूलना चाहिये कि इसके पहले श्लोक (गी. ३. १९) में अनासक्तबुद्धि से कर्म करने का भगवान ने अर्जुन को जो उपदेश दिया है वह लोकसंग्रह के लिये भी उपयुक्त है।

ज्ञान और कर्म का जो विरोध है वह ज्ञान और काम्यकर्मों का है। ज्ञान और निष्काम कर्म में आध्यात्मिक दृष्टि से भी कुछ विरोध नहीं है। कर्म अपरिहार्य हैं, और लोकसंग्रह की दृष्टि से उनकी आवश्यकता भी बहुत है। इसलिये ज्ञानी पुरुष को जीवनपर्यन्त निस्सङ्गबुद्धि से यथाधिकार चातुर्वर्ण्य के कर्म करते ही रहना चाहिये। यदि यही बात शास्त्रीय युक्तिप्रयुक्तियों से सिद्ध है और गीता का भी यही इत्यर्थ है तो मन में यह शङ्का सहज ही होती है कि वैदिक धर्म के स्मृतिग्रन्थों में वर्णित चार आश्रमों में संन्यास आश्रम की क्या दशा होगी? मनु आदि सब स्मृतियों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी – ये चार आश्रम बतला कर कहा है कि अध्ययन यज्ञयाग, दान या चातुर्वर्ण्यधर्म के अनुसार प्राप्त अन्य कर्मों के शास्त्रोक्त आचरण द्वारा पहले तीन आश्रमों में धीरे धीरे चित्त की शुद्धि हो जानी चाहिये और अन्त में समस्त कर्मों को स्वरूपतः छोड़ देना चाहिये तथा संन्यास ले कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये (मनु. ६. १ और ३३–३७ देखो)। इससे सब स्मृतिकारों का यह अभिप्राय प्रकट होता है कि यज्ञयाग और दान प्रभृति कर्म गृहस्थाश्रम में यद्यपि विहित हैं तथापि वे सब चित्त की शुद्धि के लिये हैं – अर्थात् उनका यही उद्देश है कि विषया-

शुद्धि या स्वार्थपरायण बुद्धि छूट कर परोपकारबुद्धि इतनी बढ़ जावे कि प्राणिमात्र में एक ही आत्मा को पहचानने की शक्ति प्राप्त हो जाय। और यह स्थिति प्राप्त होने पर मोक्ष की प्राप्ति के लिये अन्त में सब कर्मों का स्वरूपतः त्याग कर संन्यासाश्रम ही लेना चाहिये। श्रीशंकराचार्य ने कलियुग में जिस संन्यासधर्म की स्थापना की, वह मार्ग यही है; और स्मार्तमार्गवाले कालिदास ने भी रघुवंश के आरम्भ में –

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

"बचपन में अभ्यास (ब्रह्मचर्य) करनेवाले, तरुणावस्था में विषयोपभोगरूपी संसार (गृहस्थाश्रम) करनेवाले, उतरती अवस्था में मुनिवृत्ति से या वानप्रस्थ धर्म से रहनेवाले और अन्त में (पातञ्जल) योग से संन्यासधर्म के अनुसार ब्रह्माण्ड में आत्मा को ला कर प्राण छोड़नेवाले – ऐसा सूर्यवंश के पराक्रमी राजाओं का वर्णन किया है (रघु १ ८)। ऐसे ही महाभारत के शुकानुप्रश्न में यह कह कर कि–

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते॥

"चार आश्रमरूपी चार सीढ़ियों का यह जीना अन्त में ब्रह्मपद को जा पहुँचा है। इस जीने से – अर्थात् एक आश्रम से ऊपर के दूसरे आश्रम में – इस प्रकार चढ़ते जाने पर अन्त में मनुष्य ब्रह्मलोक में बड़प्पन पाता है (शां २४१ १५)। आगे इस क्रम का वर्णन किया है –

कषायं पाचयित्वाशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम्॥

"इस जीने की तीन सीढ़ियों में मनुष्य अपने किल्बिष (पाप) का अर्थात् स्वार्थपरायण आत्मबुद्धि का अथवा विषयासक्तिरूप दोष का शीघ्र ही क्षय करके फिर संन्यास ले। पारिव्राज्य अर्थात् संन्यास ही सब में श्रेष्ठ स्थान है" (शां २४४ ३)। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाने का यह सिलसिला मनुस्मृति में भी है (मनु ६ ३४)। परन्तु यह बात मनु के ध्यान में अच्छी तरह आ गई थी कि इनमें से अन्तिम (अर्थात् संन्यास आश्रम) की ओर लोगों की फिजूल प्रवृत्ति होने से संसार का कर्तृत्व नष्ट हो जायगा और समाज भी पंगु हो जायगा। इसी से मनु ने स्पष्ट मर्यादा बना दी है कि मनुष्य पूर्वाश्रम में गृहधर्म के अनुसार पराक्रम और लोकसंग्रह के सब कर्म अवश्य करे, इसके पश्चात् –

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥

"जब शरीर में झुर्रियाँ पड़ने लगें और नाती का मुँह दीख पड़े तब गृहस्थ वानप्रस्थ हो कर संन्यास ले ले" (मनु ६)। इस मर्यादा का पालन करना चाहिये। क्यों

मनुस्मृति में ही लिखा है, कि प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ ही अपनी पीठ पर ऋषियों, पितरों और देवताओं के (तीन) ऋण (कर्तव्य) ले कर उत्पन्न हुआ है। इसलिये वेदाध्ययन से ऋषियों का, पुत्रोत्पादन से पितरों का और यज्ञकर्मों से देवता आदिकों का – इस प्रकार – पहले इन तीनों ऋणों को चुकाये बिना मनुष्य संसार छोड़ कर संन्यास नहीं ले सकता। यदि वह ऐसा करेगा (अर्थात् संन्यास लेगा) तो जन्म से ही पाये हुए कर्ज को बेबाक न करने के कारण वह अधोगति को पहुँचेगा (मनु. ६. ३५–३७ और पिछले प्रकरण का तै. सं. मंत्र देखो)। प्राचीन हिंदुधर्मशास्त्र के अनुसार बाप का कर्ज मियाद गुज़र जाने का सबब न बतला कर बेटे या नाती को भी चुकाना पड़ता था और किसी का कर्ज चुकाने से पहले ही मर जाने में बड़ी दुर्गति मानी जाती थी। इस बात पर ध्यान देने से पाठक सहज ही जान जायँगे कि जन्म से ही प्राप्त और उल्लिखित महत्त्व के सामाजिक कर्तव्य को 'ऋण' कहने में हमारे शास्त्रकारों का क्या हेतु था। कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि स्मृतिकारों की बतलाई हुई इस मर्यादा के अनुसार सूर्यवंशी राजा लोग चलते थे और जब बेटा राज करने योग्य हो जाता, तब उसे गद्दीपर बिठला कर (पहले से ही नहीं) स्वयं गृहस्थाश्रम से निवृत्त होते थे (रघु. ७. ६८)। भागवत में लिखा है कि पहले दक्ष प्रजापति के हर्यश्वसंज्ञक पुत्रों को और फिर शबलाश्वसंज्ञक दूसरे पुत्रों को भी उनके विवाह से पहले ही नारद ने निवृत्तिमार्ग का उपदेश दे कर भिक्षु बना डाला। इससे इस अशास्त्र और अव्यवहार के कारण नारद की निर्भर्त्सना करके उस प्रजापति ने उन्हें शाप दिया (भाग. ६. ५. ३५–४२)। इससे ज्ञात होता है कि इस आश्रमव्यवस्था का मूलहेतु यह था कि अपना गार्हस्थ्यजीवन यथाशास्त्र पूरा कर गृहस्थी चलाने योग्य लड़कों के सयाने हो जानेपर बुढ़ापे की निरर्थक आशाओं से उनकी उमङ्ग के आड़े न आ कर, नित्य मोक्षपरायण हो मनुष्य स्वयं आनन्दपूर्वक संसार से निवृत्त हो जावे। इसी हेतु से विदुरनीति में धृतराष्ट्र से विदुर ने कहा है –

> उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित् ।
> स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥

गृहस्थाश्रम में पुत्र उत्पन्न कर (उन्हें कोई ऋण न छोड़ और उनकी जीविका के लिये कुछ थोड़ा-सा प्रबन्ध कर तथा सब लड़कियों के योग्य स्थानों में दे चुकने पर) वानप्रस्थ हो संन्यास लेने की इच्छा करे (म. भा. उ. ३६. ३९)। आजकल हमारे यहाँ साधारण लोगों की संसारसम्बन्धी समझ भी प्रायः विदुर के कथनानुसार ही है। तो कभी न कभी संसार को छोड़ देना ही मनुष्यमात्र का परमसाध्य मानने के कारण संसार के व्यवहारों की सिद्धि के लिये स्मृतिप्रणेताओं ने जो पहले तीन आश्रमों की श्रेयस्कर मर्यादा नियत कर दी थी, वह धीरे धीरे छूटने लगी। और यहाँ तक स्थिति आ पहुँची कि यदि किसी को पैदा होते ही अथवा अल्प अवस्था

साधनरूप समझ कर अनुचित नहीं कह सकते। आयुष्य बिताने के लिये इस प्रकार चढ़ती हुई सीढ़ियों की व्यवस्था से संसार के व्यवहार का लोप न हो कर यद्यपि वैदिक कर्म और औपनिषदिक ज्ञान का मेल हो जाता है, तथापि अन्य तीनों आश्रमों का आधार गृहस्थाश्रम ही होने के कारण मनुस्मृति और महाभारत में भी अन्त में उसका ही महत्त्व स्पष्टतया स्वीकृत हुआ है –

> यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
> एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः॥

माता के (पृथ्वी के) आश्रय से जिस प्रकार सब जन्तु जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम के आसरे अन्य आश्रम हैं (शां २६८ ६ और मनु ३ ७७ देखो)। मनु ने तो अन्यान्य आश्रमों को नदी और गृहस्थाश्रम को सागर कहा है (मनु ६ ९ म भा शां ८ १)। जब गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता इस प्रकार निर्विवाद है, तब उसे छोड़ कर 'कर्मसंन्यास' करने का उपदेश देने से लाभ ही क्या है? क्या ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी गृहस्थाश्रम के कर्म करना अनुचित है? नहीं तो फिर इसका क्या अर्थ है कि ज्ञानी पुरुष संसार से निवृत्त हो? थोड़ी-बहुत स्वार्थबुद्धि से बर्ताव करनेवाले साधारण लोगों की अपेक्षा पूर्ण निष्कामबुद्धि से व्यवहार करनेवाले ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रह करने में अधिक समर्थ और पात्र रहते हैं। अतः ज्ञान से जब उनका सामर्थ्य पूर्णावस्था को पहुँचता है, तभी समाज को छोड़ जाने की स्वतन्त्रता ज्ञानी पुरुष को रहने देने से सब समाज की ही अत्यन्त हानि हुआ करती है, जिसकी भलाई के लिये चातुर्वर्ण्यव्यवस्था की गई है। शरीरसामर्थ्य न रहने पर यदि कोई अशक्त मनुष्य समाज को छोड़ कर वन में चला जाय तो बात निराली है – उससे समाज की कोई विशेष हानि नहीं होगी। जान पड़ता है कि संन्यास-आश्रम को बुढ़ापे की मर्यादा से लपेटने में मनु का हेतु भी यही रहा होगा। परन्तु ऊपर कह चुके हैं कि यह श्रेयस्कर मर्यादा व्यवहार से जाती रही। इसलिये 'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' ऐसे द्विविध वेदवचनों का मेल करने के लिये ही यदि स्मृतिकर्ताओं ने आश्रमों की चढ़ती हुई श्रेणी बाँधी हो, तो भी इन भिन्न भिन्न वेदवाक्यों की एकवाक्यता करने का स्मृतिकारों की बराबरी का ही – और तो क्या उनसे भी अधिक – निर्विवाद अधिकार जिन भगवान् श्रीकृष्ण को है, उन्हीं ने जनक प्रभृति के प्राचीन ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक मार्ग का भागवतधर्म के नाम से पुनरुज्जीवन और पूर्ण समर्थन किया है। भागवतधर्म में केवल अध्यात्मविचारों पर ही निर्भर न रह कर वासुदेवभक्तिरूपी सुलभ साधन को भी उसमें मिला दिया है। इस विषय पर आगे तेरहवें प्रकरण में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा। भागवतधर्म भक्तिप्रधान भले ही हो, पर उसमें भी जनक के मार्ग का यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व विद्यमान है कि परमेश्वर का ज्ञान पा चुकने पर कर्मत्यागरूप संन्यास न ले। केवल फलाशा छोड़ कर ज्ञानी पुरुष को भी

कर इस मत का विशेष प्रचार किया कि संसार का त्याग कर संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिलता। इतिहास में प्रसिद्ध है कि बुद्ध ने स्वयं तरुण अवस्था में ही राजपाट, स्त्री और बाल-बच्चों को छोड़ कर संन्यास दीक्षा ले ली थी। यद्यपि श्रीशङ्कराचार्य ने जैन और बौद्धों का खण्डन किया है, तथापि जैन और बौद्धों ने जिस संन्यासधर्म का विशेष प्रचार किया था, उसे ही श्रौतस्मार्त संन्यास कह कर आचार्य ने कायम रखा; और उन्हों ने गीता का इत्यर्थ भी ऐसा निकाला कि वही संन्यासधर्म गीता का प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु वास्तव में गीता स्मार्तमार्ग का ग्रन्थ नहीं। यद्यपि सांख्य या संन्यासमार्ग से ही गीता का आरम्भ हुआ है, तो भी आगे सिद्धान्तपक्ष में प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म ही उसमें प्रतिपादित है। यह स्वयं महाभारतकार का वचन है, जो हम पहले ही प्रकरण में * आये हैं। इन दोनों पन्थों के वैदिक ही होने के कारण सब अंशों में न सही, तो अनेक अंशों में दोनों की एकवाक्यता करना शक्य है। परन्तु ऐसी एकवाक्यता करना एक बात है; और यह कहना दूसरी बात है, कि गीता में संन्यासमार्ग ही प्रतिपाद्य है; यदि कहीं कर्ममार्ग को मोक्षप्रद कहा हो, तो वह सिर्फ अर्थवाद या पोली स्तुति है। रुचिवैचित्र्य के कारण किसी को भागवतधर्म की अपेक्षा स्मार्तधर्म ही बहुत प्यारा जँचेगा। अथवा कर्मसंन्यास के लिये जो कारण सामान्यतः बतलाये जाते हैं, वे ही उसे अधिक बलवान् प्रतीत होंगे। नहीं कौन कहे? उदाहरणार्थ, इसमें किसी को शङ्का नहीं कि श्रीशङ्कराचार्य को स्मार्त या संन्यासधर्म ही मान्य था। अन्य सब मार्गों को वे अज्ञानमूलक मानते थे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि सिर्फ उसी कारण से गीता का भावार्थ भी वही होना चाहिये। यदि तुम्हें गीता का सिद्धान्त मान्य नहीं है, तो कोई चिन्ता नहीं; उसे न मानो। परन्तु यह उचित नहीं कि अपनी टेक रखने के लिये गीता के आरम्भ में जो यह कहा है कि "इस संसार में आयु बिताने के दो प्रकार के स्वतन्त्र मोक्षप्रद मार्ग अथवा निष्ठाएँ हैं", उसका ऐसा अर्थ किया जाय कि संन्यासनिष्ठा ही एक सच्ची और श्रेष्ठ मार्ग है। गीता में वर्णित ये दोनों मार्ग वैदिक धर्म में जनक और याज्ञवल्क्य के पहले से ही स्वतन्त्र रीति से चले आ रहे हैं। पता लगता है कि जनक के समान समाज के धारण और पोषण करने के अधिकार क्षात्रधर्म के अनुसार वंशपरम्परा से या अपने सामर्थ्य से जिनको प्राप्त हो जाते थे, वे ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी निष्कामबुद्धि से अपने काम जारी रख कर जगत् का कल्याण करने में ही अपनी सारी आयु लगा देते थे। समाज के इस अधिकार पर ध्यान दे कर ही महाभारत में अधिकारभेद से दुहरा वर्णन आया है कि "सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः" (शां. १०८. ?) – जङ्गलों में रहनेवाले मुनि आनन्द से भिक्षावृत्ति को स्वीकार

* [illegible] विधारणम् इत्यादि स्मृतिवचन हैं। अर्थ – अग्निहोत्र, गवालम्भ, संन्यास, श्राद्ध में मांसभक्षण और नियोग, कलियुग में ये पाँचों निषिद्ध हैं। इनमें संन्यास का निषेध शंकराचार्य के पीछे से निकल गया।

यह नहीं कि उसके पहले परमेश्वर का ज्ञान हुआ ही न था। हाँ, उपनिषत्काल में ही यह मत पहले पहल अमल में अवश्य आने लगा, कि मोक्ष पाने के लिये ज्ञान के पश्चात् वैराग्य से कर्मसंन्यास करना चाहिये। और इसके पश्चात् संहिता एवं ब्राह्मणों में वर्णित कर्मकाण्ड को गौणत्व आ गया। इसके पहले कर्म ही प्रधान माना जाता था। उपनिषत्काल में वैराग्ययुक्त ज्ञान अर्थात् संन्यास की इस प्रकार बढ़ती होने लगने पर यज्ञयाग प्रभृति कर्मों की ओर या चातुर्वर्ण्य धर्म की ओर भी ज्ञानी पुरुष यों ही दुर्लक्ष्य करने लगे और तभी से यह समझ मन्द होने लगी कि लोकसंग्रह करना हमारा कर्तव्य है। स्मृतिप्रणेताओं ने अपने ग्रन्थों में यह कह कर – कि गृहस्थाश्रम में यज्ञयाग आदि श्रौत या चातुर्वर्ण्य के स्मार्त कर्म करना ही चाहिये – गृहस्थाश्रम की बड़ाई गाई है सही, परन्तु स्मृतिकारों के मत में भी अन्त में वैराग्य या संन्यास आश्रम ही श्रेष्ठ माना गया है। इसलिये उपनिषदों के ज्ञानप्रवाह से कर्मकाण्ड को जो गौणता प्राप्त हो गई थी, उसको हटाने का सामर्थ्य स्मृतिकारों की आश्रमव्यवस्था में नहीं रह सकता था। ऐसी अवस्था में ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड में से किसी को गौण न कह कर, भक्ति के साथ इन दोनों का मेल कर देने के लिये गीता की प्रवृत्ति हुई है। उपनिषत्-प्रणेताओं के ये सिद्धान्त गीता को मान्य हैं कि ज्ञान के बिना मोक्षप्राप्ति नहीं होती और यज्ञयाग आदि कर्मों से यदि बहुत हुआ तो स्वर्गप्राप्ति हो जाती है (मुं. १. २. १०; गी. २. ४१–४५)। परन्तु गीता का यह भी सिद्धान्त है कि सृष्टिक्रम को जारी रखने के लिये यज्ञ अथवा कर्म के चक्र को भी कायम रखना चाहिये – कर्मों को छोड़ देना निरा पागलपन या मूर्खता है। इसलिये गीता का उपदेश है कि यज्ञयाग आदि श्रौतकर्म अथवा चातुर्वर्ण्य आदि व्यावहारिक कर्म अज्ञानपूर्वक श्रद्धा से न करके ज्ञानवैराग्ययुक्त बुद्धि से निरा कर्तव्य समझ कर करो। इससे यह चक्र भी नहीं बिगड़ने पावेगा और तुम्हारे किये हुए कर्म मोक्ष के आड़े भी नहीं आवेंगे। कहना नहीं होगा कि ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड (संन्यास और कर्म) का मेल मिलाने की गीता की यह शैली स्मृतिकर्ताओं की अपेक्षा अधिक सरस है। क्योंकि व्यष्टिरूप आत्मा का कल्याण यत्किञ्चित् भी न घटा कर उसके साथ सृष्टि के समष्टिरूप आत्मा का कल्याण भी गीतामार्ग से साधा जाता है। मीमांसक कहते हैं कि कर्म अनादि और वेदप्रतिपादित हैं। इसलिये तुम्हें ज्ञान न हो, तो भी उन्हें करना चाहिये। कितने ही (सब नहीं) उपनिषत्प्रणेता कर्मों को गौण मानते हैं। और यह कहते हैं – या यह मानने में कोई क्षति नहीं, कि उनका झुकाव ऐसा ही है – कि कर्मों को वैराग्य से छोड़ देना चाहिये। और स्मृतिकार आयु के भेद – अर्थात् आश्रमव्यवस्था से उक्त दोनों मतों की इस प्रकार एकवाक्यता करते हैं कि पूर्व आश्रमों में इन कर्मों को करते रहना चाहिये। और चित्तशुद्धि हो जाने पर बुढ़ापे में वैराग्य से सब कर्मों को छोड़ कर संन्यास ले लेना चाहिये। परन्तु गीता का मार्ग इन तीनों पन्थों से भिन्न है। ज्ञान और काम्यकर्म के

मोक्ष, इन में यदि विरोध हो तो भी ज्ञान और निष्कामकर्म में कोई विरोध नहीं। इसीलिये गीता का कथन है कि निष्कामबुद्धि से सब कर्म सर्वदा करते रहो। उन्हें कभी मत छोड़ो। अब इन चारों मतों की तुलना करने से दीख पड़ेगा कि ज्ञान होने के पहले कर्म की आवश्यकता सभी को मान्य है परन्तु उपनिषदों और गीता का कथन है कि ऐसी स्थिति में श्रद्धा से किये हुए कर्म का फल स्वर्ग के सिवा दूसरा कुछ नहीं होता। इसके आगे अर्थात् आत्मप्राप्ति हो चुकने पर – कर्म किये जायँ या नहीं इस विषय में – उपनिषत्कर्ताओं में भी मतभेद है। कई एक उपनिषत्कर्ताओं का मत है कि ज्ञान से समस्त काम्यबुद्धि का न्हास हो चुकने पर जो मनुष्य मोक्ष का अधिकारी हो गया है उसे केवल स्वर्ग की प्राप्ति करा देनेवाले काम्यकर्म करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। परन्तु ईशावास्य आदि दूसरे कई एक उपनिषदों में प्रतिपादन किया गया है कि मृत्युलोक के व्यवहारों को जारी रखने के लिये कर्म करना ही चाहिये। यह प्रकट है कि उपनिषदों में वर्णित इन दो मार्गों में से दूसरा मार्ग ही गीता में प्रतिपादित है (गी. ५. २)। परन्तु यद्यपि यह कहें कि मोक्ष के अधिकारी ज्ञानी पुरुष को निष्कामबुद्धि से लोकसंग्रहार्थ सब व्यवहार करना चाहिये, तथापि इस स्थान पर यह प्रश्न आप ही होता है कि जिन यज्ञयाग आदि कर्मों का फल स्वर्गप्राप्ति के सिवा दूसरा कुछ नहीं उन्हें वह करे ही क्यों? इसी से अठारहवें अध्याय के आरम्भ में इसी प्रश्न को उठा कर भगवान् ने स्पष्ट निर्णय कर दिया है कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्म सदैव चित्तशुद्धिकारक हैं – अर्थात् निष्कामबुद्धि उपजाने और बढ़ानेवाले हैं। इसलिये इन्हें भी (एतान्यपि) अन्य निष्कामकर्मों के समान लोकसंग्रहार्थ ज्ञानी पुरुष को फलाशा और सङ्ग छोड़ कर सदा करते रहना चाहिये (गी. १८. ६)। परमेश्वर को अर्पण कर इस प्रकार सब कर्म निष्कामबुद्धि से करते रहने से व्यापक अर्थ में यही एक बड़ा भारी यज्ञ हो जाता है। और फिर इस यज्ञ के लिये जो कर्म किया जाता है वह बन्धन नहीं होता (गी. ४. २३)। किन्तु सभी काम निष्कामबुद्धि से करने के कारण यज्ञ से जो स्वर्गप्राप्तिरूप बन्धक फल मिलनेवाला था वह भी नहीं मिलता और ये सब काम मोक्ष के आड़े आ नहीं सकते। सारांश, मीमांसकों का कर्मकाण्ड यदि गीता में कायम रखा गया है, तो वह इसी रीति से रखा गया है कि उससे स्वर्ग का आना-जाना छूट जाता है। और सभी कर्म निष्कामबुद्धि से करने के कारण अन्त में मोक्षप्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। ध्यान रखना चाहिये कि मीमांसकों के कर्ममार्ग और गीता के कर्मयोग में यही महत्त्व का भेद है – दोनों एक नहीं हैं।

यहाँ बतला दिया कि भगवद्गीता में प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म या कर्मयोग ही प्रतिपाद्य है और इस कर्मयोग में तथा मीमांसकों के कर्मकाण्ड में कौनसा भेद है। अब तात्त्विक दृष्टि से इस बात का थोड़ा-सा विचार करते हैं कि गीता के कर्मयोग में और ज्ञानकाण्ड को छोड़ कर स्मृतिकारों की बतलाई हुई आश्रमव्यवस्था में क्या

भेद है। यह भेद बहुत ही सूक्ष्म है। और सच पूछो तो इसके विषय में वाद करने का कारण भी नहीं है। दोनों पक्ष मानते हैं कि ज्ञानप्राप्ति होने तक चित्त की शुद्धि के लिये प्रथम दो आश्रमों (ब्रह्मचारी और गृहस्थ) के कृत्य सभी को करना चाहिये। मतभेद सिर्फ इतना ही है कि पूर्ण ज्ञान हो चुकने पर कर्म करे या संन्यास ले ले? सम्भव है कुछ लोग यह समझें कि सदा ऐसे ज्ञानी पुरुष किसी समाज में थोड़े ही रहेंगे। इसलिये इन थोड़े से ज्ञानी पुरुषों का कर्म करना या न करना एक ही सा है। इस विषय में विशेष चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह समझ ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञानी पुरुष के बर्ताव को और लोग प्रमाण मानते हैं। और अपने अन्तिम साध्य के अनुसार ही मनुष्य पहले से आचरण करता है। इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का हो जाता है कि ज्ञानी पुरुष को क्या करना चाहिये? स्मृतिग्रन्थों में कहा तो है कि ज्ञानी पुरुष अन्त में संन्यास ले ले। परन्तु ऊपर कह आये हैं कि स्मार्त के अनुसार ही इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरण लीजिये: बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने जनक को ब्रह्मज्ञान का बहुत उपदेश किया है। पर उन्होंने जनक से यह कहीं नहीं कहा कि अब तुम राजपाट छोड़ कर संन्यास ले लो। उलटा यह कहा है कि जो ज्ञानी पुरुष ज्ञान के पश्चात् संसार को छोड़ देते हैं वे इसलिये उसे छोड़ते हैं कि संसार हमें रुचता नहीं है — न कामयन्ते (बृ. ४. ४.) । इससे बृहदारण्यकोपनिषद् का यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि ज्ञान के पश्चात् संन्यास का लेना और न लेना अपनी अपनी खुशी अर्थात् वैकल्पिक बात है। ब्रह्मज्ञान और संन्यास का कुछ नित्य सम्बन्ध नहीं। और वेदान्तसूत्र में बृहदारण्यकोपनिषद् के इस वचन का अर्थ वैसा ही लगाया गया है (वे. सू. ३. ४.)। शङ्कराचार्य का निश्चित सिद्धान्त है कि ज्ञानोत्तर कर्मसंन्यास किये बिना मोक्ष मिल नहीं सकता। इसलिये अपने भाष्य में उन्होंने इस मत की पुष्टि में सब उपनिषदों की अनुकूलता दिखलाने का प्रयत्न किया है। तथापि शङ्कराचार्य ने भी स्वीकार किया है कि जनक आदि के समान ज्ञानोत्तर भी अधिकारानुसार जीवनभर कर्म करते रहने में कोई हानि नहीं है (वे. सू. शां. भा. ३. ३. ३ और गी. शां. भा. २. ११ एवं ३. २० देखो)। इससे स्पष्ट विदित होता है कि संन्यास या स्मार्तमार्गवालों को भी ज्ञान के पश्चात् कर्म बिलकुल ही त्याज्य नहीं जँचते। कुछ ज्ञानी पुरुषों को अपवाद मान अधिकार के अनुसार कर्म करने की स्वतन्त्रता इस मार्ग में भी दी गई है। इसी अपवाद को और व्यापक बना कर गीता कहती है कि चातुर्वर्ण्य के लिये विहित कर्म ज्ञानप्राप्ति हो चुकने पर भी लोकसंग्रह के निमित्त कर्तव्य समझ कर प्रत्येक ज्ञानी पुरुष को निष्काम-बुद्धि से करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि गीताधर्म व्यापक हो तो भी उसका तत्त्व संन्यासमार्गवालों की दृष्टि से भी निर्दोष है। और वेदान्तसूत्रों को स्वतन्त्र रीति से पढ़ने पर जान पड़ेगा कि उनमें भी ज्ञानयुक्त कर्मयोग संन्यास का

विकल्प समान कर मान्य माना गया है (वे सू. ३ ४ २६ ३ ४ ३२-३५)।*
अब यह कल्पना आवश्यक है कि निष्कामबुद्धि से ही कर्मों न हो, पर जब मरण पर्यन्त कर्म ही करना है तब स्मृतिग्रन्थों में वर्णित कर्मत्यागरूपी चतुर्थ आश्रम या संन्यास आश्रम की क्या दशा होगी? अर्जुन अपने मन में यही सोच रहा था कि भगवान् कभी-न-कभी कहेंगे ही कि कर्मत्यागरूपी संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिलता और तब भगवान् के मुख से ही युद्ध छोड़ने के लिये मुझे स्वतन्त्रता मिल जावेगी। परन्तु जब अर्जुन ने देखा कि सत्रहवें अध्याय के अन्त तक भगवान् ने कर्मत्यागरूप संन्यास आश्रम की बात भी नहीं की; बारम्बार केवल यही उपदेश किया कि फलाशा को छोड़ दे तब अठारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न किया है कि तो फिर मुझे बतलाओ संन्यास और त्याग में क्या भेद है? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं – 'अर्जुन! यदि तुमने समझा हो कि मैंने इतने समयतक जो कर्मयोगमार्ग बतलाया है उसमें संन्यास नहीं है तो वह समझ गलत है। कर्मयोगी पुरुष सब कर्मों के दो भेद करते हैं – एक को कहते हैं 'काम्य' अर्थात् आसक्तबुद्धि से किये गये कर्म और दूसरे को कहते हैं, निष्काम अर्थात् आसक्ति को छोड़ कर किये गये कर्म। (मनुस्मृति १२. ८९ में इन्हीं कर्मों के क्रम से 'प्रवृत्त और निवृत्त' नाम दिये हैं)। इनमें से 'काम्य' कर्मों में जितने कर्म हैं उन सब को कर्मयोगी एकाएक छोड़ देता है – अर्थात् वह उनका 'संन्यास' करता है। बाकी रह गये 'निष्काम' या निवृत्त कर्म। सो कर्मयोगी निष्काम कर्म करता तो है पर उन सब में फलाशा का 'त्याग' सर्वैव रहता है। सारांश कर्मयोगमार्ग में भी 'संन्यास' और 'त्याग' छूटा कहाँ है? स्मार्तमार्गवाले कर्म का स्वरूपतः संन्यास करते हैं तो उसके स्थान में कर्ममार्ग के योगी कर्मफलाशा का संन्यास करते हैं। संन्यास दोनों ओर कायम ही है (गी. १८. १-६ पर हमारी टीका देखो)। भागवतधर्म का यह मुख्य तत्त्व है कि जो पुरुष अपने सभी कर्म परमेश्वर को अर्पण कर निष्कामबुद्धि से करने लगे वह गृहस्थाश्रमी हो तो भी उसे 'नित्य संन्यासी' ही कहना चाहिये (गी. ५. ३)। और भागवतपुराण में भी पहले सब आश्रमधर्म बतला कर अन्त में नारद ने युधिष्ठिर को इसी तत्त्व का उपदेश किया है। वामन पण्डित ने जो गीता पर यथार्थदीपिका टीका लिखी है उसके (१८. २) कथनानुसार शिखा बोडुनि तोडिला दोरा मुंडमुंडाय भये संन्यास – या हाथ में दण्ड ले कर भिक्षा माँगी अथवा सब कर्म छोड़ कर जङ्गल में जा रहे तो इसी से संन्यास नहीं हो जाता। संन्यास और वैराग्य

---

* वेदान्तसूत्र के इस अधिकरण का अर्थ शाङ्करभाष्य में कुछ निराला है। परन्तु 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि' (३. ४. ३२) का अर्थ हमारे मत में देता है कि ज्ञानी पुरुष आश्रमकर्म भी करे तो ठीक है। क्या कि वह विहित है। सारांश हमारी समझ से वेदान्तसूत्र में दोनों पक्ष स्वीकृत हैं कि ज्ञानी पुरुष कर्म करे चाहे न करे।

बुद्धि के धर्म हैं; दण्ड धारी या जनऊ के नहीं। यदि कहा कि ये दण्ड आदि के ही धर्म हैं बुद्धि के अर्थात् ज्ञान के नहीं, तो राजछत्र अथवा छत्री की डॉड़ी पकड़नेवाले को भी वह मोक्ष मिलना चाहिये जो संन्यासी को प्राप्त होता है। जनकसुलभासंवाद में ऐसा ही कहा है –

> त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञान न कस्यचित्।
> छत्रादिषु कथं न स्यात्तुल्यहेतौ परिग्रहे॥

(शां. ३२० ४२)। क्योंकि हाथ में दण्ड धारण करने में यह मोक्ष का हेतु दोनों स्थानों में एक ही है। तात्पर्य – कायिक, वाचिक और मानसिक संयम ही सच्चा त्रिदण्ड है (मनु. १२) और सच्चा संन्यास काम्यबुद्धि का संन्यास है (गी. १८)। एवं वह जिस प्रकार भागवतधर्म में नहीं छूटता (गी. ६. २) उसी प्रकार बुद्धि को स्थिर रखने का कर्म या भोजन आदि कर्म भी सांख्यमार्ग में अन्त तक छूटता ही नहीं है। फिर ऐसी क्षुद्र शङ्काएँ करके मनोबे या सफेद कपड़ों के लिये झगड़ने से क्या लाभ होगा कि त्रिदण्डी या कर्मत्यागरूप संन्यास कर्मयोगमार्ग में नहीं है? इसलिये वह मार्ग स्मृतिविरुद्ध या त्याज्य है। भगवान ने तो निरभिमान पूर्वक बुद्धि से यही कहा है –

> एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।

अर्थात् जिसने यह जान लिया कि सांख्य और कर्मयोग मोक्षदृष्टि से दो नहीं – एक ही हैं – वही पण्डित है (गी. ५. ५)। और महाभारत में भी कहा है कि एकान्तिक अर्थात् भागवतधर्म सांख्यधर्म की बराबरी का है – "सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः" (शां. ३४८. ७४)। सारांश सब स्वार्थ का परार्थ में लय कर अपनी अपनी योग्यता के अनुसार व्यवहार में प्राप्त सभी कर्म सब प्राणियों के हितार्थ मरणपर्यन्त निष्कामबुद्धि से केवल कर्तव्य समझ कर करते जाना ही सच्चा वैराग्य या 'नित्यसंन्यास' है (गी. ५. ३)। इसी कारण कर्मयोगमार्ग में स्वरूप से कभी संन्यास कर भिक्षा कभी भी नहीं माँगते। परन्तु बाहरी आचरण से देखने से यदि इस प्रकार भेद दिखे, तो भी संन्यास और त्याग के सब तत्त्व कर्मयोगमार्ग में भी कायम ही रहते हैं। इसलिये गीता का अभिन्न सिद्धान्त है कि स्मृतिग्रन्थों की आश्रमव्यवस्था का और निष्कामकर्मयोग का विरोध नहीं।

सम्भव है इस विवेचन से कुछ लोगों की कदाचित् ऐसी समझ हो जाय कि संन्यासधर्म के साथ कर्मयोग का मेल करने का जो इतना बड़ा उद्योग गीता में किया गया है, उसका कारण यह है कि स्मार्त या संन्यासधर्म प्राचीन होगा और कर्मयोग उसके बाद का होगा। परन्तु इतिहास की दृष्टि से विचार करने पर कोई भी जान सकता कि सच्ची स्थिति ऐसी नहीं है। यह पहले ही कह आये हैं कि वैदिक धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप कर्मकाण्डात्मक ही था। आगे चल कर उपनिषदों के ज्ञान

से कर्मकाण्ड को गौणता प्राप्त होने लगी और कर्मसंन्यासरूपी संन्यास धीरे धीरे प्रचार में आने लगा। यह वैदिक धर्मवृक्ष की वृद्धि की दूसरी सीढ़ी है। परन्तु इस समय में भी (उपनिषदों के ज्ञान का कर्मकाण्ड से मेल मिला कर) जनक प्रभृति ज्ञाता पुरुष अपने कर्म निष्कामबुद्धि से जीवनभर किया करते थे – अर्थात कहना चाहिये कि वैदिक धर्मवृक्ष की यह दूसरी सीढ़ी दो प्रकार की थी – एक जनक आदि की और दूसरी याज्ञवल्क्य प्रभृति की। स्मार्त आश्रमव्यवस्था इसमें अगली अर्थात् तीसरी सीढ़ी है। दूसरी सीढ़ी के समान तीसरी के भी दो भेद हैं। स्मृतिग्रन्थों में कर्मत्यागरूप चौथे आश्रम की महत्ता गाई तो अवश्य गई है पर उसके साथ ही जनक आदि के ज्ञानयुक्त कर्मयोग का भी – उसको संन्यास आश्रम का विकल्प समझ कर – स्मृतिप्रणेताओं ने वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, सब स्मृति ग्रन्थों में मूलभूत मनुस्मृति को ही लीजिये। इस स्मृति के छठे अध्याय में कहा है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमों से चढ़ता कर्मत्यागरूप चौथा आश्रम ले; परन्तु संन्यास आश्रम अर्थात यतिधर्म का निरूपण समाप्त होने पर मनु ने पहले यह प्रस्तावना की कि "यह यतियों का अर्थात संन्यासियों का धर्म बतलाया। अब वेद संन्यासियों का कर्मयोग कहते हैं" और फिर यह बतला कर – कि अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ कैसे है – उन्हों ने संन्यास आश्रम-यतिधर्म को वैकल्पिक मान निष्काम गार्हस्थ्यवृत्ति के कर्मयोग का वर्णन किया है (मनु. ६. ८६–९६)। और आगे बारहवें अध्याय में इसे ही "वैदिक कर्मयोग" नाम दे कर कहा है कि यह मार्ग भी चतुर्थ आश्रम के समान ही निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षप्रद है (मनु. १२. ८६–९०)। मनु का यह सिद्धान्त याज्ञवल्क्यस्मृति में भी आया है। इस स्मृति के तीसरे अध्याय में यतिधर्म का निरूपण हो चुकनेपर 'अथवा' पद का प्रयोग करके लिखा है कि आगे ज्ञाननिष्ठ और सत्यवादी गृहस्थ भी (संन्यास न ले कर) मुक्ति पाता है (याज्ञ. ३. २०४ और २०५)। इसी प्रकार यास्क ने भी अपने निरुक्त में लिखा है कि कर्म छोड़नेवाले तपस्वियों और ज्ञानयुक्त कर्म करनेवाले कर्मयोगियों को एक ही देवयान गति प्राप्त होती है (नि. १४. ९)। इसके अतिरिक्त इस विषय में दूसरा प्रमाण धर्मसूत्रकारों का है। ये धर्मसूत्र गद्य में हैं और विद्वानों का मत है कि श्लोकों में रची गई स्मृतियों से ये पुराने होंगे। इस समय हमें यह नहीं देखना है कि यह मत सही है या गलत। चाहे वह सही हो या गलत। इस प्रसङ्ग पर मुख्य बात यह है कि ऊपर मनु और याज्ञवल्क्य-स्मृतियों के वचनों में गृहस्थाश्रम या कर्मयोग का जो महत्त्व दिखाया गया है उससे भी अधिक महत्त्व धर्मसूत्रों में वर्णित है। मनु और याज्ञवल्क्य ने कर्मयोग को चतुर्थ आश्रम का विकल्प कहा है। पर बौधायन और आपस्तम्ब ने ऐसा न कर स्पष्ट कह दिया है कि गृहस्थाश्रम ही मुख्य है और उसी से आगे अमृतत्व मिलता है। बौधायन धर्मसूत्र में "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते" – जन्म से ही प्रत्येक ब्राह्मण अपनी पीठ पर

तीन ऋण ले आता है – इत्यादि तैत्तिरीय संहिता के वचन पहले दे कर कहा है कि इन ऋणों को चुकाने के लिये यज्ञयाग आदिपूर्वक गृहस्थाश्रम का आश्रय करने वाला मनुष्य ब्रह्मलोक को पहुँचता है। और ब्रह्मचर्य या संन्यास की प्रशंसा करने वाले अन्य लोग धूल में मिल जाते हैं (बौ. २. ६. ११. ३३ और ३४)। एवं आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा ही कहा है (आप. २. ९. २४. ८)। यह नहीं कि, इन दोनों धर्मसूत्रों में संन्यास आश्रम का वर्णन ही नहीं है; किन्तु उसका भी वर्णन करके गृहस्थाश्रम का ही महत्त्व अधिक माना है। इससे और विशेषतः मनुस्मृति में कर्मयोग को 'वैदिक' विशेषण देने से स्पष्ट सिद्ध होता है, कि मनुस्मृति के समय में भी कर्मत्यागरूप संन्यास आश्रम की अपेक्षा निष्काम कर्मयोगरूपी गृहस्थाश्रम प्राचीन समझा जाता था; और मोक्ष की दृष्टि से उसकी योग्यता चतुर्थ आश्रम के बराबर ही गिनी जाती थी। गीता के टीकाकारों का जोर संन्यास या कर्मत्यागयुक्त भक्ति पर ही होने के कारण उपर्युक्त स्मृतिवचनों का उल्लेख उनकी टीका में नहीं पाया जाता। परन्तु उन्हों ने इस ओर दुर्लक्ष्य भले ही किया हो, किन्तु इससे कर्मयोग की प्राचीनता घटती नहीं है। यह कहने में कोई हानि नहीं, कि इस प्रकार प्राचीन होने के कारण – स्मृतिकारों को यतिधर्म का विकल्प – कर्मयोग मानना पड़ा। यह हुई वैदिक कर्मयोग की बात। श्रीकृष्ण के पहले जनक आदि इसी का आचरण करते थे। परन्तु आगे इसमें भगवान् ने भक्ति को भी मिला दिया और उसका बहुत प्रसार किया। इस कारण उसे ही 'भागवतधर्म' नाम प्राप्त हो गया है। यद्यपि भगवद्गीता ने इस प्रकार संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को ही अधिक श्रेष्ठता दी है, तथापि कर्मयोगमार्ग को आगे गौणता क्यों प्राप्त हुई? और संन्यासमार्ग का ही बोलबाला क्यों हो गया? इसका विचार ऐतिहासिक दृष्टि से आगे किया जावेगा। यहाँ इतना ही कहना है, कि कर्मयोग स्मार्तमार्ग के पश्चात् का नहीं है; वह प्राचीन वैदिक काल से चला आ रहा है।

भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में "इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" यह जो संकल्प है, उसका मर्म पाठकों के ध्यान में अब पूर्णतया आ जावेगा। यह संकल्प बतलाता है, कि भगवान् के गाये हुए उपनिषद् में अन्य उपनिषदों के समान ब्रह्मविद्या तो है ही, पर अकेली ब्रह्मविद्या ही नहीं; प्रत्युत ब्रह्मविद्या में 'सांख्य' और 'योग' (वेदान्ती संन्यासी और वेदान्ती कर्मयोगी) ये जो दो पन्थ उपजते हैं, उनमें से योग का अर्थात् कर्मयोग का प्रतिपादन ही भगवद्गीता का मुख्य विषय है। यह कहने में भी कोई हानि नहीं, कि भगवद्गीतोपनिषद् कर्मयोग का प्रधान ग्रन्थ है। क्योंकि यद्यपि वैदिक काल से ही कर्मयोग चला आ रहा है, तथापि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईश. २) या 'आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि' (श्वे. ६. ४) अथवा 'विद्या के साथ-ही-साथ स्वाध्याय आदि कर्म करना चाहिये' (तै. १. ९) इत्यादि कुछ थोड़े-से उल्लेखों के अतिरिक्त उपनिषदों में इस कर्मयोग का विस्तृत विवेचन कहीं भी नहीं किया गया है। इस विषय

पर भगवद्गीता ही मुख्य और प्रमाणभूत ग्रन्थ है। और काव्य की दृष्टि से ठीक जँचता है कि भारतभूमि के कर्ता पुरुषों के चरित्र जिस महाभारत में वर्णित हैं, उसी में अध्यात्मशास्त्र को लेकर कर्मयोग की भी उपपत्ति बतलाई जावे। इस बात का भी अब अच्छी तरह से पता लग जाता है कि प्रस्थानत्रयी में भगवद्गीता का समावेश क्यों किया गया है? यद्यपि उपनिषद् मूलभूत हैं तो भी उनके कहनेवाले ऋषि अनेक हैं। इस कारण उनके विचार संकीर्ण और कुछ स्थानों में परस्परविरोधी भी दीख पड़ते हैं। इसलिये उपनिषदों के साथ-ही-साथ उनकी एकवाक्यता करनेवाले वेदान्तसूत्रों की भी प्रस्थानत्रयी में गणना करना आवश्यक था। परन्तु उपनिषद् और वेदान्तसूत्र दोनों की अपेक्षा यदि गीता में कुछ अधिकता न होती तो प्रस्थानत्रयी में गीता के संग्रह करने का कोई भी कारण न था। किन्तु उपनिषदों का झुकाव प्रायः संन्यासमार्ग की ओर है। एवं विशेषतः उनमें ज्ञानमार्ग का ही प्रतिपादन है; और भगवद्गीता में इस ज्ञान को लेकर भक्तियुक्त कर्मयोग का समर्थन है – बस इतना कह देने से गीता ग्रन्थ की अपूर्वता सिद्ध हो जाती है; और साथ ही-साथ प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों की सार्थकता भी व्यक्त हो जाती है। क्योंकि वैदिक धर्म के प्रमाणभूत ग्रन्थ में यदि ज्ञान और कर्म (सांख्य और योग) दोनों वैदिक मार्गों का विचार न हुआ होता तो प्रस्थानत्रयी उतनी अपूर्ण ही रह जाती। कुछ लोगों की समझ है कि जब उपनिषद् सामान्यतः निवृत्तिविषयक हैं तब गीता का प्रवृत्तिविषयक अर्थ लगाने से प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों में विरोध हो जायगा। उनकी प्रामाणिकता में भी न्यूनता आ जावेगी। यदि सांख्य अर्थात् एक संन्यास ही सच्चा वैदिक मोक्षमार्ग हो तो यह शंका ठीक होगी। परन्तु ऊपर दिखाया जा चुका है कि कम-से-कम ईशावास्य आदि कुछ उपनिषदों में कर्मयोग का स्पष्ट उल्लेख है। इसलिये वैदिकधर्मपुरुष को केवल एकहत्थी अर्थात् संन्यासप्रधान न समझ कर यदि गीता के अनुसार ऐसा सिद्धान्त करें कि उस वैदिकधर्मपुरुष के ब्रह्मविद्यारूप एक ही मस्तक है और मोक्षदृष्टि से तुल्यबल सांख्य और कर्मयोग उसके दाहिने-बायें दो हाथ हैं तो गीता और उपनिषदों में कोई विरोध नहीं रह जाता। उपनिषदों में एक मार्ग का समर्थन है और गीता में दूसरे मार्ग का। इसलिये प्रस्थानत्रयी के ये दोनों भाग भी दो हाथों के समान परस्परविरुद्ध न हो सहाय्यकारी दीख पड़ेंगे। ऐसे ही – गीता में केवल उपनिषदों का ही प्रतिपादन मानने से – पिष्टपेषण का जो वैयर्थ्य गीता को प्राप्त हो जाता, वह भी नहीं होता। गीता के साम्प्रदायिक टीकाकारों ने इस विषय की उपेक्षा की है। इस कारण सांख्य और योग दोनों मार्गों के पुरस्कर्ता अपने अपने पन्थ के समर्थन में जिन मुख्य कारणों को बतलाया करते हैं उनकी समता और विषमता चटपट ध्यान में आ जाने के लिये नीचे लिखे गये नकशे के दो खानों में वे ही कारण परस्पर एक-दूसरे के सामने संक्षेप से दिये गये हैं। स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित स्मार्त आश्रमव्यवस्था और मूल भागवतधर्म के मुख्य मुख्य भेद इससे ज्ञात हो जावेंगे।

(६) यज्ञ के अर्थ किये गये कर्म बन्धक न होने के कारण गृहस्थाश्रम में उनके करने से हानि नहीं है।

(६) निष्कामबुद्धि से या ब्रह्मार्पण-विधि से किया गया समस्त कर्म एक भारी 'यज्ञ' ही है। इसलिये स्वधर्म-विहित समस्त कर्म को निष्कामबुद्धि से केवल कर्तव्य समझ कर सदैव करते रहना चाहिये।

(७) पेट के कर्म कभी छूटते नहीं इस कारण संन्यास लेने पर पेट के लिये भिक्षा माँगना बुरा नहीं।

(७) पेट के लिये भीख माँगना भी तो कर्म ही है और जब ऐसा 'निलज्जता' का कर्म करना ही है, तब अन्यान्य कर्म भी निष्कामबुद्धि से क्यों न किये जावें? गृहस्थाश्रमी के अतिरिक्त भिक्षा देगा ही कौन?

(८) ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर अपना निजी कर्तव्य कुछ शेष नहीं रहता और लोकसंग्रह करने की कुछ आवश्यकता नहीं।

(८) ज्ञानप्राप्ति करने के अनन्तर अपने लिये भले कुछ प्राप्त करने को न रहे; परन्तु कर्म नहीं छूटते। इसलिये जो कुछ शास्त्र से प्राप्त हो उसे 'मुझे नहीं चाहिये' ऐसी निर्ममबुद्धि से लोकसंग्रह की ओर दृष्टि रख कर करते जाओ। लोकसंग्रह किसी से भी नहीं छूटता। उदाहरणार्थ, भगवान का चरित्र देखो।

(९) परन्तु यदि अपवादस्वरूप कोई अधिकारी पुरुष ज्ञान के पश्चात् भी अपने व्यावहारिक अधिकार जनक आदि के समान जीवनपर्यन्त जारी रखे तो कोई हानि नहीं।

(९) गुणविभागरूप चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार छोटे-बड़े अधिकार सभी को जन्म से ही प्राप्त होते हैं। स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले इन अधिकारों को लोकसंग्रहार्थ निःसंगबुद्धि से सभी को निरपवादरूप से जारी रखना

चाहिये। क्योंकि यह चक्र जगत् को धारण करने के लिये परमेश्वर ने ही बनाया है।

(१०) इतना होने पर भी कर्मत्यागरूपी संन्यास ही श्रेष्ठ है। अन्य आश्रमों के कर्म चित्तशुद्धि के साधनमात्र हैं। ज्ञान और कर्म का तो स्वभाव से ही विरोध है। इसलिये पूर्व आश्रम में जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी चित्तशुद्धि करके अन्त में कर्मत्यागरूपी संन्यास लेना चाहिये। चित्तशुद्धि जन्मतः ही या पूर्व आयु में हो जावे तो गृहस्थाश्रम के कर्म करते रहने की भी आवश्यकता नहीं है। कर्म का स्वरूपतः त्याग करना ही सच्चा संन्यास आश्रम है।

(१०) यह सच है, कि शास्त्रोक्त रीति से सांसारिक कर्म करने पर चित्तशुद्धि होती है। परन्तु केवल चित्त की शुद्धि ही कर्म का उपयोग नहीं है। जगत् का व्यवहार चलता रखने के लिये भी कर्म की आवश्यकता है। इसी प्रकार काम्यकर्म और ज्ञान का विरोध भले ही हो, पर निष्काम कर्म और ज्ञान के बीच बिलकुल विरोध नहीं। इसलिये चित्त की शुद्धि के पश्चात् भी फलाशा का त्याग कर निष्कामबुद्धि से जगत् के संग्रहार्थ चातुर्वर्ण्य के सब कर्म आमरण जारी रखो। यही सच्चा संन्यास है। कर्म का स्वरूपतः त्याग करना कभी भी उचित नहीं और शक्य भी नहीं है।

(११) संन्यास ले चुकने पर भी शम-दम आदिक धर्म पालते जाना चाहिये।

(११) ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् फलाशा त्यागरूप संन्यास ले कर शम-दम आदिक धर्मों के सिवा आत्मौपम्यदृष्टि से प्राप्त होनेवाले सभी धर्मों का पालन किया करे। और इस शम यानी शान्त वृत्ति से ही शास्त्र से प्राप्त समस्त कर्म लोकसंग्रह के निमित्त मरणपर्यन्त करता जावे। निष्काम कर्म न छोड़े।

(१२) यह मार्ग अनादि और श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित है।	(१२) यह मार्ग अनादि और श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित है।
(१३) शुक-याज्ञवल्क्य आदि इस मार्ग से गये हैं।	(१३) व्यास-वसिष्ठ-जैगीषव्य आदि और जनक-श्रीकृष्ण प्रभृति इस मार्ग से गये हैं।

अन्त में मोक्ष

ये दोनों मार्ग अथवा निष्ठाएँ ब्रह्मविद्यामूलक हैं। दोनों ओर मन की निष्काम अवस्था और शान्ति एक ही प्रकार की है। इस कारण दोनों मार्गों से अन्त में एक ही मोक्ष प्राप्त हुआ करता है (गी. ५.५)। ज्ञान के पश्चात् कर्म को छोड़ बैठना और काम्य कर्म छोड़ कर नित्य निष्काम कर्म करते रहना, यही इन दोनों में मुख्य भेद है।

ऊपर बतलाये हुए कर्म छोड़ने और करने के दोनों मार्ग ज्ञानमूलक हैं। अर्थात् ज्ञान के पश्चात् ज्ञानी पुरुषों के द्वारा स्वीकृत और आचरित हैं। परन्तु कर्म छोड़ना और कर्म करना, दोनों बातें ज्ञान न होने पर भी हो सकती हैं। इसलिये अज्ञानमूलक कर्म की और कर्म के त्याग का भी यहाँ थोड़ा सा विवेचन करना आवश्यक है। गीता के अठारहवें अध्याय में त्याग के जो तीन भेद बतलाये गये हैं, उनका रहस्य यही है। ज्ञान न रहने पर भी कुछ लोग निरे कायक्लेश-भय से कर्म छोड़ दिया करते हैं। इसे गीता में राजस त्याग कहा है (गी. १८.८)। इसी प्रकार ज्ञान न रहने पर भी कुछ लोग कोरी श्रद्धा से ही यज्ञयाग प्रभृति कर्म किया करते हैं। परन्तु गीता का कथन है कि कर्म करने का यह मार्ग मोक्षप्रद नहीं – केवल स्वर्गप्रद है (गी. ९.२०)। कुछ लोगों की समझ है कि आजकल यज्ञयाग प्रभृति श्रौतधर्म का प्रचार न रहने के कारण मीमांसकों के इस निरे कर्ममार्ग के सम्बन्ध में गीता का सिद्धान्त इन दिनों में विशेष उपयोगी नहीं। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि श्रौत यज्ञयाग भले ही डूब गये हों, पर स्मार्तयज्ञ अर्थात् चातुर्वर्ण्य के कर्म अब भी जारी हैं। इसलिये अज्ञान से (परन्तु श्रद्धापूर्वक) यज्ञयाग आदि काम्य कर्म करनेवाले लोगों के विषय में गीता का जो सिद्धान्त है, वह ज्ञानविरहित किन्तु श्रद्धासहित चातुर्वर्ण्य आदि कर्म करनेवाले लोगों को भी वर्तमान स्थिति में पूर्णतया उपयुक्त है। जगत् के व्यवहार की ओर दृष्टि देने पर ज्ञात होगा कि समाज में इसी प्रकार के लोगों की अधिक भरती है, जो शास्त्रों पर श्रद्धा रख कर नीति से अपने अपने कर्म करनेवालों की ही विशेष अधिकता रहती है, पर उन्हें परमेश्वर का स्वरूप पूर्णतया ज्ञात नहीं रहता। इन्हें वेदान्तशास्त्र की पूरी [illegible] ही [illegible] की है। ऐ

हिसाब लगानेवाले लोगों के समान इन श्रद्धालु और कर्मठ मनुष्यों की अवस्था हुआ करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी कर्म शास्त्रोक्त विधि से और श्रद्धापूर्वक करने के कारण निर्भ्रान्त (शुद्ध) होते हैं एवं इसी से वे पुण्यप्रद अर्थात् स्वर्ग के देनेवाले हैं। परन्तु शास्त्र का ही सिद्धान्त है, कि बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता। इसलिये स्वर्गप्राप्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व का कोई भी फल इन कर्मठ लोगों को मिल नहीं सकता। अतएव जो अमृतत्व, स्वर्गसुख से भी परे है उसकी प्राप्ति जिसे कर लेनी हो – और यही एक परम पुरुषार्थ है – उसे उचित है कि वह पहले साधन समझ कर और आगे सिद्धावस्था में लोकसंग्रह के लिये अर्थात् जीवन पर्यन्त समस्त प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है इस ज्ञानयुक्त बुद्धि से निष्कामकर्म करने के मार्ग को ही स्वीकार करे। आयु बिताने के सब मार्गों में यही मार्ग उत्तम है। गीता का अनुसरण कर ऊपर दिये गये नकशे में इस मार्ग को कर्मयोग कहा है। और इसे ही कुछ लोग कर्ममार्ग या प्रवृत्तिमार्ग भी कहते हैं। परन्तु कर्ममार्ग या प्रवृत्तिमार्ग, दोनों शब्दों में एक दोष है। वह यह कि उनसे ज्ञानविरहित किन्तु श्रद्धासहित कर्म करने के स्वर्गप्रद मार्ग का भी सामान्य बोध हुआ करता है। इसलिये ज्ञानविरहित किन्तु श्रद्धायुक्त कर्म और ज्ञानयुक्त निष्कामकर्म इन दोनों का भेद दिखलाने के लिये दो भिन्न भिन्न शब्दों की योजना करने की आवश्यकता होती है। और इसी कारण से मनुस्मृति तथा भागवत में भी पहले प्रकार के कर्म अर्थात् ज्ञानविरहित कर्म को 'प्रवृत्त कर्म' और दूसरे प्रकार के अर्थात् ज्ञानयुक्त निष्कामकर्म को 'निवृत्तकर्म' कहा है (मनु. १२. ८९; भाग. ७. १५. ४७)। परन्तु हमारी राय में ये शब्द भी जितने होने चाहिये उतने निस्सन्दिग्ध नहीं हैं। क्योंकि 'निवृत्ति' शब्द का सामान्य अर्थ 'कर्म से परावृत्त होना' है। इस शंका को दूर करने के लिये 'निवृत्त' शब्द के आगे 'कर्म' विशेषण जोड़ते हैं। और ऐसा करने से 'निवृत्त' विशेषण का अर्थ 'कर्म से परावृत्त' नहीं होता और निवृत्त कर्म = निष्कामकर्म, यह अर्थ निष्पन्न हो जाता है। कुछ भी हो जब तक 'निवृत्त' शब्द इसमें है तब तक कर्मत्याग की कल्पना मन में आये बिना नहीं रहती। इसीलिये ज्ञानयुक्त निष्कामकर्म करने के मार्ग को 'निवृत्ति' या 'निवृत्त कर्म' न कह कर 'कर्मयोग' नाम देना हमारे मत में उत्तम है। क्योंकि कर्म के आगे योग शब्द जुड़ा रहने से स्वभावतः उसका अर्थ 'मोक्ष में बाधा न दे कर कर्म करने की युक्ति' होता है और अज्ञानयुक्त कर्म का तो आप ही से निरसन हो जाता है। फिर भी यह न भूल जाना चाहिये कि गीता का कर्मयोग ज्ञानमूलक है। और यदि इसे ही कर्ममार्ग या प्रवृत्तिमार्ग कहना किसी को अभीष्ट हो तो ऐसा करने में कोई हानि नहीं। स्थलविशेष में भाषावैचित्र्य के लिये गीता के कर्मयोग का लक्ष्य कर हमने भी इन शब्दों की योजना की है। अस्तु; इस प्रकार कर्म करने या कर्म छोड़ने के ज्ञानमूलक जो भेद हैं उनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में गीताशास्त्र का अभिप्राय इस प्रकार है –

वास्तव में यह प्रकरण यहीं समाप्त हो गया। परन्तु यह दिखलाने के लिये – कि गीता का सिद्धान्त श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित है – ऊपर भिन्न भिन्न स्थानों पर जो वचन उद्धृत किये हैं उनके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। क्योंकि उपनिषदों पर जो साम्प्रदायिक भाष्य हैं उनसे बहुतेरों की यह समझ हो गई है, कि समस्त उपनिषद् संन्यासप्रधान या निवृत्तिप्रधान हैं। हमारा यह कथन नहीं कि उपनिषदों में संन्यासमार्ग है ही नहीं। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है – यह अनुभव हो जाने पर – कि परब्रह्म के सिवा और कोई वस्तु सत्य नहीं है – 'कुछ ज्ञानी पुरुष पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा की परवाह न कर "हमें सन्तति से क्या काम? संसार ही हमारा आत्मा है" यह कह कर आनन्द से भिक्षा माँगते हुए घूमते हैं।' (४.४.२२)। परन्तु बृहदारण्यक में यह नियम कहीं नहीं लिखा, कि समस्त ब्रह्मज्ञानियों को यही पन्थ स्वीकार करना चाहिये। और क्या कहें। जिसे यह उपदेश किया गया उसका इसी उपनिषद् में वर्णन है कि वह जनक राजा ब्रह्मज्ञान के शिखर पर पहुँच कर अमृत हो गया था। परन्तु यह कहीं नहीं बतलाया है कि उसने याज्ञवल्क्य के समान जगत् को छोड़ कर संन्यास ले लिया। इससे स्पष्ट होता है कि जनक का निष्कामकर्मयोग और याज्ञवल्क्य का कर्मसंन्यास – दोनों – बृहदारण्यकोपनिषद् को विकल्परूप से सम्मत हैं और वेदान्तसूत्रकर्ता ने भी यही अनुमान किया है (वे. सू. ३.४.१५)। कठोपनिषद् इससे भी आगे बढ़ गया है। पाँचवें प्रकरण में हम यह दिखला आये हैं कि हमारे मत में कठोपनिषद् में निष्कामकर्मयोग ही प्रतिपाद्य है। छान्दोग्योपनिषद् (८.१५.१) में यही अर्थ प्रतिपाद्य है। और अन्त में स्पष्ट कह दिया है कि 'गुरु से अध्ययन कर, फिर कुटुम्ब में रह कर धर्म से बर्तनेवाला ज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोक को जाता है। वहाँ से फिर नहीं लौटता।' तैत्तिरीय तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों के इसी अर्थ के वाक्य ऊपर दिये गये हैं। (तै. १.९ और श्वे. ६.४)। इसके सिवा यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उपनिषदों में जिन जिन ने दूसरों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है उनमें या उनके ब्रह्मज्ञानी शिष्यों में याज्ञवल्क्य के समान एक आध दूसरे पुरुष के अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं मिलता जिसने कर्मत्यागरूप संन्यास लिया हो। इसके विपरीत उनके वर्णनों से दीख पड़ता है कि वे गृहस्थाश्रमी ही थे। अतएव कहना पड़ता है कि समस्त उपनिषद् संन्यासप्रधान नहीं हैं। इनमें से कुछ में तो संन्यास और कर्मयोग का विकल्प है और कुछ में सिर्फ ज्ञानकर्मसमुच्चय ही प्रतिपादित है। परन्तु उपनिषदों के साम्प्रदायिक भाष्यों में ये भेद नहीं दिखलाये गये हैं। किन्तु यही कहा गया है कि समस्त उपनिषद् केवल एक ही अर्थ – विशेषतः संन्यास – प्रतिपादन करते हैं। सारांश, साम्प्रदायिक टीकाकारों के हाथ से गीता की और उपनिषदों की भी एक ही दशा हो गई है। अर्थात् गीता के कुछ श्लोकों के समान उपनिषदों के कुछ मन्त्रों की भी इन भाष्यकारों को खींचातानी करनी पड़ी है।

उदाहरणार्थ, ईशावास्य उपनिषद् को लीजिये। यह उपनिषद् छोटा अर्थात् सिर्फ अठारह श्लोकों का है, तथापि इसकी योग्यता अन्य उपनिषदों की अपेक्षा अधिक समझी जाती है। क्योंकि यह उपनिषद् स्वयं वाजसनेयी संहिता में ही कहा गया है और अन्यान्य उपनिषद् आरण्यक ग्रन्थ में कहे गये हैं। यह बात सर्वमान्य है कि संहिता की अपेक्षा ब्राह्मण और ब्राह्मणों की अपेक्षा आरण्यक ग्रन्थ उत्तरोत्तर कमप्रमाण के हैं। यह समूचा ईशावास्योपनिषद् – आदि से ले कर इतिपर्यन्त – ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक है। इसके पहले मन्त्र (श्लोक) में यह कह कर, कि जगत् में जो कुछ है उसे ईशावास्य अर्थात् परमेश्वराधिष्ठित समझना चाहिये, दूसरे ही मन्त्र में स्पष्ट कह दिया है कि 'जीवनभर सौ वर्ष निष्काम कर्म करते रह कर ही जीते रहने की इच्छा रखो।' वेदान्तसूत्र में कर्मयोग के विवेचन करने का जब समय आया तब और अन्यान्य ग्रन्थों में भी ईशावास्य का यही कथन ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष का समर्थक समझ कर लिया हुआ मिलता है। परन्तु ईशावास्योपनिषद् इतने से ही पूरा नहीं हो जाता। दूसरे मन्त्र में कही गई बात का समर्थन करने के लिये आगे 'अविद्या' (कर्म) और 'विद्या' (ज्ञान) के विवेचन का आरम्भ कर नौवें मन्त्र में कहा है, कि 'निरी अविद्या (कर्म) का सेवन करनेवाले पुरुष अन्धकार में घुसते हैं; और कोरी विद्या (ब्रह्मज्ञान) में मग्न रहनेवाले पुरुष अधिक अँधेरे में जा पड़ते हैं।' केवल अविद्या (कर्म) और केवल विद्या (ज्ञान) की – अलग अलग प्रत्येक की – इस प्रकार लघुता दिखला कर ग्यारहवें मन्त्र में नीचे लिखे अनुसार 'विद्या और अविद्या' दोनों के समुच्चय की आवश्यकता इस उपनिषद् में वर्णन की गई है :–

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

अर्थात् 'जिसने विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) दोनों को एक दूसरी के साथ जान लिया, वह अविद्या (कर्मों) से मृत्यु को अर्थात् नाशवन्त मायासृष्टि के प्रपञ्च को (भली भाँति) पार कर, विद्या से (ब्रह्मज्ञान से) अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।' इस मन्त्र का यही स्पष्ट और सरल अर्थ है। और यही अर्थ विद्या को 'सम्भूति' (जगत् का आदि कारण) एवं उससे भिन्न अविद्या को 'असम्भूति' या 'विनाश' ये दूसरे नाम दे कर इसके आगे के तीन मंत्रों में फिर से दुहराया गया है (ईश. १२–१४)। इससे व्यक्त होता है कि समूचा ईशावास्योपनिषद् विद्या और अविद्या का एककालीन (उभयं सह) समुच्चय प्रतिपादन करता है। उल्लिखित मन्त्र में 'विद्या' और 'अविद्या' शब्दों के समान ही मृत्यु और अमृत शब्द परस्परप्रतियोगी हैं। इनमें अमृत शब्द से 'अविनाशी ब्रह्म' अर्थ प्रकट है; और इसके विपरीत मृत्यु शब्द से 'नाशवन्त मृत्युलोक या ऐहिक संसार' यह अर्थ निष्पन्न होता है। ये दोनों शब्द इसी अर्थ में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी आये हैं (ऋ. १०. १२९. २)। विद्या आदि शब्दों के ये सरल अर्थ ले कर (अर्थात्

विद्या = ज्ञान, अविद्या = कर्म, अमृत = ब्रह्म और मृत्यु = मृत्युलोक, ऐसा समझ कर) यदि ईशावास्य के उल्लिखित ग्यारहवें मन्त्र का अर्थ करें तो दीख पड़ेगा, कि मन्त्र के प्रथम चरण में विद्या और अविद्या का एककालीन समुच्चय वर्णित है; और इसी बात को दृढ़ करने के लिये दूसरे चरण में इन दोनों में से प्रत्येक का जुदा जुदा फल बतलाया है। ईशावास्योपनिषद् को ये दोनों फल इष्ट हैं और इसीलिये इस उपनिषद् में ज्ञान और कर्म दोनों का एककालीन समुच्चय प्रतिपादित हुआ है। मृत्युलोक के प्रपञ्च को अच्छी रीति से चलाने या उससे भली भाँति पार पड़ने को ही गीता में 'लोकसंग्रह' नाम दिया गया है। यह सच है कि मोक्ष प्राप्त करना मनुष्य का कर्तव्य है परन्तु उसके साथ उसे लोकसंग्रह करना भी आवश्यक है। इसी से गीता का सिद्धान्त है कि ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रहकारक न कर्म छोड़े और यही सिद्धान्त शब्दभेद से 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इस उल्लिखित मन्त्र में आ गया है। इससे प्रगट होगा, कि गीता उपनिषदों को पकड़े ही नहीं है प्रत्युत ईशावास्योपनिषद् में स्पष्टतया वर्णित अर्थ ही गीता में विस्तारसहित प्रतिपादित हुआ है। ईशावास्योपनिषद् जिस वाजसनेयी संहिता में है, उसी वाजसनेयी संहिता का भाग शतपथ ब्राह्मण है। इस शतपथ ब्राह्मण के आरण्यक में बृहदारण्यकोपनिषद् आया है। जिसमें ईशावास्य का यह नौवाँ मन्त्र अक्षरशः ले लिया है कि 'कोरी विद्या (ब्रह्मज्ञान) में मग्न रहनेवाले पुरुष अधिक अँधेरे में जा पड़ते हैं' (बृ. ४. ४. १०)। उस बृहदारण्यकोपनिषद् में ही जनक राजा की कथा है और उसी जनक का दृष्टान्त कर्मयोग के समर्थन के लिये भगवान् ने गीता में लिया है (गी. ३. २०)। इससे ईशावास्य का और भगवद्गीता के कर्मयोग का जो सम्बन्ध हमने ऊपर दिखलाया है वही अधिक दृढ़ और निःसंशय सिद्ध होता है।

परन्तु जिनका साम्प्रदायिक सिद्धान्त ऐसा है कि सभी उपनिषदों में मोक्षप्राप्ति का एक ही मार्ग प्रतिपाद्य है – और वह भी वैराग्य का या संन्यास का ही है। उपनिषदों में दो मार्गों का प्रतिपादित होना शक्य नहीं – उन्हें ईशावास्योपनिषद् के स्पष्टार्थक मन्त्रों की भी खींचातानी कर किसी प्रकार निराला अर्थ लगाना पड़ता है। ऐसा न करें तो ये मन्त्र उनके सम्प्रदाय के प्रतिकूल हैं और ऐसा होने देना उन्हें इष्ट नहीं। इसीलिये ग्यारहवें मन्त्र पर व्याख्यान करते समय शांकरभाष्य में 'विद्या' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' न कर 'उपासना' किया है। कुछ यह नहीं कि विद्या शब्द का अर्थ उपासना न होता हो। शाण्डिल्यविद्या प्रभृति स्थानों में उसका अर्थ उपासना ही होता है पर वह मुख्य अर्थ नहीं है। यह भी नहीं, कि शंकराचार्य के ध्यान में यह बात आई न होगी या आई न थी। और तो क्या ? उसका ध्यान में न आना शक्य ही न था। दूसरे उपनिषदों में भी ऐसे वचन हैं – 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (केन. २. १२) अथवा 'प्राणस्याध्यात्मं विज्ञायामृतमश्नुते' (प्रश्न. ३. १२)। मैत्र्युपनिषद् के सातवें प्रपाठक में 'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि ईशावास्य का

उल्लिखित ग्यारहवाँ मन्त्र ही अक्षरशः ले लिया है और उसके आगे पीछे ही उसके पूर्व में कठ. २.४ और आगे कठ. २.५ में मन्त्र दिये हैं। अर्थात् ये तीनों मन्त्र एक ही स्थान पर एक के पश्चात् एक दिये गये हैं और बिचला मन्त्र ईशावास्य का है। तीनों में 'विद्या' शब्द वर्तमान है। इसलिये कठोपनिषद् में विद्या शब्द का जो अर्थ है वही (ज्ञान) अर्थ ईशावास्य में भी लेना चाहिये – मैत्र्युपनिषद् का ऐसा ही अभिप्राय प्रकट होता है। परन्तु ईशावास्य के शांकरभाष्य में कहा है कि "यदि विद्या = आत्मज्ञान और अमृत = मोक्ष ऐसे अर्थ ही ईशावास्य के ग्यारहवें मन्त्र में ले लें तो कहना होगा कि ज्ञान (विद्या) और कर्म (अविद्या) का समुच्चय इस उपनिषद् में वर्णित है। परन्तु जब कि यह समुच्चय न्याय से युक्त नहीं है तब *विद्या = देवतोपासना और अमृत = देवलोक, यह गौण अर्थ ही इस स्थान पर लेना चाहिये।"* सारांश, प्रकट है कि 'ज्ञान होने पर संन्यास ले लेना चाहिये। कर्म नहीं करना चाहिये। क्योंकि ज्ञान और कर्म का समुच्चय कभी भी न्याय्य नहीं' शांकरसम्प्रदाय के इस मुख्य सिद्धान्त के विरुद्ध ईशावास्य का मन्त्र न होने पावे; इसलिये विद्या शब्द का गौण अर्थ स्वीकार कर समस्त श्रुतिवचनों की अपने सम्प्रदाय के अनुरूप एकवाक्यता करने के लिये शांकरभाष्य में ईशावास्य के ग्यारहवें मन्त्र का ऊपर लिखे अनुसार अर्थ किया गया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से देखें तो ये अर्थ महत्त्व के ही नहीं प्रत्युत आवश्यक भी हैं। परन्तु जिन्हें यह मूल सिद्धान्त ही मान्य नहीं कि समस्त उपनिषदों में एक ही अर्थ प्रतिपादित रहना चाहिये – दो मार्गों का श्रुतिप्रतिपादित होना शक्य नहीं – उन्हें उल्लिखित मन्त्र में विद्या और अमृत शब्द के अर्थ बदलने के लिये कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। यह तत्त्व मान लेने से भी – कि परब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयं' है – यह सिद्ध नहीं होता कि उसके ज्ञान का उपाय एक से अधिक न रहे। एक ही अटारी पर चढ़ने के लिये दो जीने या एक ही गाँव को जाने के लिये जिस प्रकार दो मार्ग हो सकते हैं उसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के उपायों की या निष्ठा की बात है। और इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में स्पष्ट कह दिया है – 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा'। दो निष्ठाओं का होना सम्भवनीय कहने पर कुछ उपनिषदों में केवल ज्ञाननिष्ठा का तो कुछ में ज्ञानकर्म-समुच्चय निष्ठा का वर्णन आना कुछ अशक्य नहीं है। अर्थात् ज्ञाननिष्ठा का विरोध होता है। इसी से ईशावास्योपनिषद् के शब्दों का सरल, स्वाभाविक और स्पष्ट अर्थ छोड़ने के लिये कोई कारण नहीं रह जाता। यह कहने के लिये – कि श्रीमच्छंकराचार्य का ध्यान सरल अर्थ की अपेक्षा संन्यासनिष्ठाप्रधान एकवाक्यता की ओर विशेष था – एक और दूसरा कारण भी है। तैत्तिरीय उपनिषद् के शांकरभाष्य (तै. २.११) में ईशावास्य मन्त्र का इतना ही भाग दिया है कि 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' और इसके साथ ही यह मनुवचन भी दे दिया है – 'तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते' (मनु. १२.१०४)। और इन दोनों

वचनों में 'विद्या' शब्द का एक ही मुख्यार्थ (अर्थात् ब्रह्मज्ञान) आचार्य ने स्वीकार किया है। परन्तु यहाँ आचार्य का कथन है कि 'तीर्त्वा = तैर कर या पार कर' इस पद से पहले मृत्युलोक को तर जाने की क्रिया पूरी हो लेने पर फिर (एक साथ ही नहीं) विद्या से अमृतत्व प्राप्त होने की क्रिया संघटित होती है। किन्तु कहना नहीं होगा कि यह अर्थ पूर्वार्ध के 'उभयं सह' शब्दों के विरुद्ध होता है। और प्रायः इसी कारण से ईशावास्य के शांकरभाष्य में यह अर्थ छोड़ भी दिया गया हो। कुछ भी हो, ईशावास्य के ग्यारहवें मंत्र का शांकरभाष्य में निराला व्याख्यान करने का जो कारण है, वह इससे व्यक्त हो जाता है। यह कारण साम्प्रदायिक है; और भाष्यकर्ता की साम्प्रदायिक दृष्टि स्वीकार न करनेवालों को प्रस्तुत भाष्य का यह व्याख्यान मान्य न होगा। यह बात हम भी मंजूर है कि श्रीमच्छङ्कराचार्य जैसे अलौकिक ज्ञानी पुरुष के प्रतिपादन किये हुए अर्थ को छोड़ देने का प्रसंग जहाँ तक टले वहाँ तक अच्छा है! परन्तु साम्प्रदायिक दृष्टि त्यागने से ये प्रसंग तो आवेंगे ही; और इसी कारण हमसे पहले भी ईशावास्यमंत्र का अर्थ शांकरभाष्य से विभिन्न (अर्थात् जैसा हम कहते हैं वैसा ही) अन्य भाष्यकारों ने लगाया है। उदाहरणार्थ वाजसनेयी संहिता पर अर्थात् ईशावास्योपनिषद् पर भी उवटाचार्य का जो भाष्य है उसमें 'विद्यां चाविद्यां च' इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए ऐसा अर्थ दिया है कि विद्या = आत्मज्ञान और अविद्या = कर्म, इन दोनों के एकीकरण से ही अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है। अनन्ताचार्य ने इस उपनिषद् पर अपने भाष्य में इसी ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक अर्थ को स्वीकार कर अन्त में साफ़ लिख दिया है कि "इस मन्त्र का सिद्धान्त और 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' (गी. ५) गीता के इस वचन का अर्थ एक ही है। एवं गीता के इस श्लोक में जो 'सांख्य' और 'योग' शब्द हैं वे क्रम से 'ज्ञान' और 'कर्म' के द्योतक हैं"। इसी प्रकार अपरार्कदेव ने भी याज्ञवल्क्यस्मृति (३ ५७ और) की अपनी टीका में ईशावास्य का ग्यारहवाँ मन्त्र देकर अनन्ताचार्य के समान ही उसका ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक अर्थ किया है। इससे पाठकों के ध्यान में आ जायेगा कि आज हम ही नये सिरे से ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र का शांकरभाष्य से भिन्न अर्थ करते हैं।

---

* पूने के आनन्दाश्रम में ईशावास्योपनिषद् की जो पोथी छपी है उसमें ये सभी भाष्य हैं और याज्ञवल्क्यस्मृति पर अपरार्क की टीका भी आनन्दाश्रम में ही पृथक् छपी है। प्रो. मैक्समूलर ने उपनिषदों का जो अनुवाद किया है उसमें ईशावास्य का भाषान्तर शांकरभाष्य के अनुसार नहीं है। उन्होंने उसके भाषान्तर के अन्त में इसके कारण बतलाये हैं (Sacred Books of the East Series, Vol. I pp. 314–320)। अनन्ताचार्य का भाष्य मैक्समूलर साहब को उपलब्ध न हुआ था और उनके ध्यान में यह बात आई हुई दीख नहीं पड़ती कि शांकरभाष्य में निराला अर्थ क्यों किया गया है।

यह तो हुआ स्वयं ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र के सम्बन्ध का विचार। अब शाङ्करभाष्य में जो 'तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते' यह मनु का वचन दिया है उसका भी थोड़ा-सा विचार करते हैं। मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में यह १०४ नम्बर का श्लोक है और मनु. १२.८६ से विदित होगा कि यह प्रकरण वैदिक कर्मयोग का है। कर्मयोग के इस विवेचन से –

> तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
> तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

पहले चरण में यह बतला कर – कि तप और (च) विद्या (अर्थात् दोनों) ब्राह्मण को उत्तम मोक्षदायक हैं – फिर प्रत्येक का उपयोग दिखलाने के लिये दूसरे चरण में कहा है कि तप से दोष नष्ट हो जाते हैं और विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है। इससे प्रकट होता है कि इस स्थान पर ज्ञानकर्मसमुच्चय ही मनु को अभिप्रेत है और ईशावास्य के ग्यारहवें मन्त्र का अर्थ ही मनु ने इस श्लोक में वर्णन कर दिया है। हारीतस्मृति के वचन से भी यही अर्थ अधिक दृढ़ होता है। यह हारीतस्मृति स्वतन्त्र तो उपलब्ध है ही उसके सिवा नृसिंहपुराण (अ. ५७–६१) में भी आई है। इस नृसिंहपुराण (६१. ९–११) में और हारीतस्मृति ७. ९–११) में ज्ञानकर्मसमुच्चय के सम्बन्ध में ये श्लोक हैं :–

> यथाश्वा रथहीनाश्च रथाश्चाश्वैर्विना यथा।
> एवं तपश्च विद्या च उभावपि तपस्विनः॥
> यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम्।
> एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्॥
> द्वाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः।
> तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्॥

अर्थात् जिस प्रकार रथ के बिना घोड़े और घोड़े के बिना रथ (नहीं चलते) उसी प्रकार तपस्वी के तप और विद्या की भी स्थिति है। जिस प्रकार अन्न शहद से संयुक्त हो और शहद अन्न से संयुक्त हो उसी प्रकार तप और विद्या के संयुक्त होने से एक महौषधि होती है। जैसे पक्षियों की गति दोनों पङ्खों के योग से ही होती है वैसे ही ज्ञान और कर्म (दोनों) से शाश्वत ब्रह्म प्राप्त होता है। हारीतस्मृति के ये वचन वृद्धात्रेयस्मृति के दूसरे अध्याय में भी पाये जाते हैं। इन वचनों से – और विशेष कर उनमें दिये गये दृष्टान्तों से – प्रकट हो जाता है कि मनुस्मृति के वचन का क्या अर्थ लगाना चाहिये? यह तो पहले ही कह चुके हैं कि मनु तप शब्द में ही चातुर्वर्ण्य के कर्मों का समावेश करते हैं (मनु. ११. २३६)। और अब दीख पड़ेगा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में तप और स्वाध्याय-प्रवचन इत्यादि का जो आचरण करने के लिये कहा गया है (तै. १. ९) वह भी ज्ञानकर्म-समुच्चय-पक्ष को

स्वीकार कर ही कहा गया है। समूचे योगवासिष्ठ ग्रन्थ का तात्पर्य भी यही है। क्योंकि इस ग्रन्थ के आरम्भ में सुतीक्ष्ण ने पूछा है कि मुझे बतलाइये कि मोक्ष कैसे मिलता है? केवल ज्ञान से, केवल कर्म से, या दोनों के समुच्चय से? और उसे उत्तर देते हुए हारीतस्मृति का (पक्षी के पङ्खोंवाला) दृष्टान्त ले कर पहले यह बतलाया है कि "जिस प्रकार आकाश में पक्षी की गति दोनों पङ्खों से ही होती है, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म इन्हीं दोनों से मोक्ष मिलता है। केवल एक से ही यह सिद्धि मिल नहीं जाती।" और आगे इसी अर्थ को विस्तारसहित दिखलाने के लिये समूचा योगवासिष्ठ ग्रन्थ कहा गया है (यो. १. १. ६–९)। इसी प्रकार वसिष्ठ ने राम को मुख्य कथा में स्थान स्थान पर बार-बार यही उपदेश किया है कि "जीवन्मुक्त के समान बुद्धि को शुद्ध रख कर तुम समस्त व्यवहार करो" (यो. ५. १८. १७–२६) या "कर्मों का छोड़ना मरणपर्यन्त उचित न होने के कारण (यो. ६. उ. २. ४२) स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए राज्य को पालने का काम करते रहो" (यो. ५. ५. ५४ और ६. उ. २११. ५)। इस ग्रन्थ का उपसंहार और श्रीरामचन्द्र के किये हुए काम भी इसी उपदेश के अनुसार हैं। परन्तु योगवासिष्ठ के टीकाकार थे संन्यासमार्गीय। इसलिये पक्षी के दो पङ्खोंवाली उपमा के स्पष्ट होने पर भी उन्हों ने अन्त में अपने पास से यह तुर्रा लगा ही दिया कि ज्ञान और कर्म दोनों युगपत् अर्थात् एक ही समय में विहित नहीं हैं। बिना टीका मूलग्रन्थ पढ़ने से किसी के भी ध्यान में सहज ही आ जावेगा कि टीकाकारों का यह अर्थ खींचातानी का है, एवं क्लिष्ट और साम्प्रदायिक है। मद्रास प्रान्त में योगवासिष्ठसरीखा ही 'गुरुज्ञान-वासिष्ठ-तत्त्वसारायण' नामक एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसके ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड – ये तीन भाग हैं। हम पहले कह चुके हैं कि यह ग्रन्थ जितना पुराना बतलाया जाता है, उतना दिखता नहीं है। यह प्राचीन भले ही न हो, पर जब कि ज्ञानकर्म-समुच्चय-पक्ष ही इसमें प्रतिपाद्य है, तब इस स्थान पर उसका उल्लेख करना आवश्यक है। इसमें अद्वैत वेदान्त है, और निष्काम-कर्म पर ही बहुत जोर दिया गया है। इसलिये यह कहने में कोई हानि नहीं कि इसका सम्प्रदाय शङ्कराचार्य के सम्प्रदाय से भिन्न और स्वतन्त्र है। है। मद्रास की ओर इस सम्प्रदाय का नाम 'अनुभवाद्वैत' है। और वास्तविक देखने से ज्ञात होगा कि गीता के कर्मयोग की यह एक नकल ही है। परन्तु केवल भगवद्गीता के ही आधार से इस सम्प्रदाय को सिद्ध न कर इस ग्रन्थ में कहा है कि कुल १०८ उपनिषदों से भी वही अर्थ सिद्ध होता है। इसमें रामगीता और सूर्यगीता ये दोनों नई गीताएँ भी दी हुई हैं। कुछ लोगों की जो यह समझ है कि अद्वैत मत को अङ्गीकार करना मानो कर्मसंन्यासपक्ष को स्वीकार करना ही है, वह इस ग्रन्थ से दूर हो जायगी। ऊपर दिये गये प्रमाणों से अब स्पष्ट हो जायगा कि संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मसूत्र, मनुयाज्ञवल्क्यस्मृति, महाभारत, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ और अन्त में तत्त्वसारायण प्रभृति ग्रन्थों में भी जो निष्काम-कर्मयोग प्रतिपादित है, उसको

श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित न मान केवल संन्यासमार्ग को ही श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित कहना सर्वथा निर्मूल है।

इस मृत्युलोक का व्यवहार चलने के लिये या लोकसंग्रहार्थ यथाधिकार निष्काम कर्म और मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान, इन दोनों का एककालीन समुच्चय ही, अथवा महाराष्ट्र कवि शिवदिन केसरी के वर्णनानुसार —

> प्रपञ्च साधुनि परमार्थाचा लाहो ज्यानें केला।
> तो नर भला भला रे भला भला॥*

यही अर्थ गीता में प्रतिपाद्य है। कर्मयोग का यह मार्ग प्राचीन काल से चला आ रहा है। जनक प्रभृति ने इसी का आचरण किया है और स्वयं भगवान के द्वारा इसका प्रसार और पुनरुज्जीवन होने के कारण इसे ही भागवतधर्म कहते हैं। ये सब बातें अच्छी तरह सिद्ध हो चुकीं। अब लोकसंग्रह की दृष्टि से यह देखना भी आवश्यक है कि इस मार्ग के ज्ञानी पुरुष परमार्थयुक्त अपना प्रपञ्च — जगत् का व्यवहार — किस रीति से चलाते हैं? परन्तु यह प्रकरण बहुत बढ़ गया है। इसलिये इस विषय का स्पष्टीकरण अगले प्रकरण में करेंगे।

---

* वही नर भला है कि जिसने प्रपञ्च साध कर (संसार के सब कर्तव्यों का यथोचित पालन कर) परमार्थ यानी मोक्ष की प्राप्ति भी कर ली हो।

बारहवाँ प्रकरण

सिद्धावस्था और व्यवहार

> सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
> कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥*
>
> महाभारत शांति. ६१

जिस मार्ग का यह मत है, कि ब्रह्मज्ञान हो जाने से जब बुद्धि अत्यन्त सम और निष्काम हो जाय, तब फिर मनुष्य का कुछ भी कर्तव्य आगे के लिये रह नहीं जाता। और इसीलिये विरक्तबुद्धि से ज्ञानी पुरुष को क्षणभंगुर संसार के दुःखमय और शुष्क व्यवहार एकदम छोड़ देना चाहिये। उस मार्ग के पण्डित इस गृहस्थाश्रम के व्यवहार को भी कोई एक विचार करने योग्य शास्त्र है। संन्यास लेने से पहले चित्त की शुद्धि हो कर ज्ञानप्राप्ति हो जानी चाहिये। इसी लिये उन्हें मंजूर है कि संसार – दुनियादारी – के काम उस धर्म से ही करना चाहिये, कि जिससे चित्तवृत्ति शुद्ध होवे अर्थात् वह सात्त्विक बने। इसीलिये वे समझते हैं कि संसार में ही सदैव बना रहना पागलपन है। जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी प्रत्येक मनुष्य संन्यास ले ले। इस जगत् में उसका यही परम कर्तव्य है। ऐसा मान लेने से कर्मयोग का स्वतन्त्र महत्त्व कुछ भी नहीं रह जाता। और इसीलिये संन्यासमार्ग के पण्डित सांसारिक कर्तव्यों के विषय में कुछ थोड़ा-सा प्रासंगिक विचार करके गार्हस्थ्य धर्म के कर्म अकर्म के विवेचन का इसकी अपेक्षा और अधिक विचार कभी नहीं करते कि मनु आदि शास्त्रकारों के बतलाये हुए चार आश्रम रूपी सीढ़ी से चढ़ कर संन्यास आश्रम की अन्तिम सीढ़ी पर जल्दी पहुँच जाओ। इसीलिये कलियुग में संन्यासमार्ग के पुरस्कर्ता श्रीशंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में गीता के कर्मप्रधान वचनों की उपेक्षा की है। अथवा उन्हें केवल प्रशंसात्मक (अर्थवादप्रधान) कल्पित किया है और अन्त में गीता का यह फलितार्थ निकाला है कि कर्मसंन्यास धर्म ही गीताभर में प्रतिपाद्य है। और यही कारण है कि दूसरे कितने ही टीकाकारों ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार गीता का यह रहस्य वर्णन किया है कि भगवान ने रणभूमि पर अर्जुन को निवृत्ति प्रधान अर्थात् निरी भक्ति, या पातंजलयोग अथवा मोक्षमार्ग का ही उपदेश किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संन्यासमार्ग का अध्यात्मज्ञान निर्दोष है। और इसके

* हे जाजले! ... कहना चाहिये कि ... उसी ने धर्म को जाना कि जो कर्म से, मन से और वाणी से सब का हित करने में लगा हुआ है और जो सब का नित्य स्नेही है।

द्वारा प्राप्त होनेवाली साम्यबुद्धि अथवा निष्काम अवस्था भी गीता को मान्य है। तथापि गीता को संन्यासमार्ग का यह कर्मसम्बन्धी मत ग्राह्य नहीं है कि मोक्षप्राप्ति के लिये अन्त में कर्मों को एकदम छोड़ ही बैठना चाहिये। पिछले प्रकरण में हमने विस्तारसहित गीता का यह विशेष सिद्धान्त दिखलाया है कि ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होनेवाले वैराग्य अथवा समता से ही ज्ञानी पुरुष को ज्ञानप्राप्ति हो चुकने पर भी सारे व्यवहार करते रहना चाहिये। जगत् से ज्ञानयुक्त कर्म को निकाल डालें, तो दुनिया अन्धी हुई जाती है; और इससे उसका नाश हो जाता है। जब कि भगवान् की ही इच्छा है कि इस रीति से उसका नाश न हो, वह भली भाँति चलती रहे; तब ज्ञानी पुरुष को भी जगत् के सभी कर्म निष्कामबुद्धि से करते हुए सामान्य लोगों को अच्छे बर्ताव का प्रत्यक्ष नमूना दिखला देना चाहिये। इसी मार्ग को अधिक श्रेयस्कर और ग्राह्य कहें, तो यह देखने की ज़रूरत पड़ती है कि इस प्रकार का ज्ञानी पुरुष जगत् के व्यवहार किस प्रकार करता है? क्योंकि ऐसे ज्ञानी पुरुष का व्यवहार ही लोगों के लिये आदर्श है। उसके कर्म करने की रीति को परख लेने से धर्म-अधर्म, कार्य अथवा अकार्य अथवा कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय कर देनेवाला साधन या युक्ति – जिसे हम खोज रहे थे – आप-ही-आप हमारे हाथ लग जाती है। संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मयोगमार्ग में यही तो विशेषता है। इन्द्रियों का निग्रह करने से जिस पुरुष की व्यवसायात्मक बुद्धि स्थिर हो कर 'सब भूतों में एक आत्मा' इस साम्य को परख लेने में समर्थ हो जाय उसकी वासना भी शुद्ध ही होती है। इस प्रकार वासनात्मक बुद्धि के शुद्ध, सम, निर्मम और पवित्र हो जाने से फिर वह कोई भी पाप या मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक कर्म कर ही नहीं सकता। क्योंकि पहले वासना है फिर तदनुकूल कर्म। जब कि कर्म ऐसा है तब शुद्ध वासना से होनेवाला कर्म शुद्ध ही होगा; और जो शुद्ध है वही मोक्ष के लिये अनुकूल है। अर्थात् हमारे आगे जो 'कर्म-अकर्म-विचिकित्सा' या 'कार्य-अकार्य-व्यवस्थिति' का विकट प्रश्न था – कि पारलौकिक कल्याण के मार्ग में बाधा न आ कर इस संसार में मनुष्यमात्र को कैसा बर्ताव करना चाहिये – उसका अपनी करनी से प्रत्यक्ष उत्तर देनेवाला गुरु अब हमें मिल गया (तै. १. ११. ४; गी. ३. २१)। अर्जुन के आगे ऐसा गुरु श्रीकृष्ण के रूप में प्रत्यक्ष खड़ा था। जब अर्जुन को यह शङ्का हुई कि क्या ज्ञानी पुरुष युद्ध आदि कर्मों को बन्धकारक समझ कर छोड़ दे? तब उसका इस गुरु ने दूर कर दिया। और अध्यात्मशास्त्र के सहारे अर्जुन को अच्छी भाँति समझा दिया कि जगत् के व्यवहार किस युक्ति से करते रहने पर पाप नहीं लगता? अतः वह युद्ध के लिये प्रवृत्त हो गया। किन्तु ऐसा योग्य ज्ञान सिखा देनेवाले गुरु प्रत्येक मनुष्य को जब चाहे तब नहीं मिल सकते। और तीसरे प्रकरण के अन्त में 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस वचन का विचार करते हुए हम बतला आये हैं कि ऐसे महापुरुषों के सिर्फ़ ऊपरी बर्ताव पर बिल्कुल अवलम्बित रह भी नहीं सकते। अतएव जगत् को अपने आचरण से शिक्षा देनेवाले

विचलित नहीं होते। इसलिये उन्हें तत्त्वज्ञ पुरुष के ही निर्णय को प्रमाण मान लेना चाहिये। अरिस्टॉटल नामक दूसरा ग्रीक तत्त्वज्ञ अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ (१ ४) में कहता है कि ज्ञानी पुरुषों का किया हुआ फ़ैसला सर्वथा इसलिये अचूक रहता है कि वे सच्चे तत्त्व को जानते रहते हैं; और ज्ञानी पुरुष का यह निर्णय या व्यवहार ही औरों को प्रमाणभूत है। एपिक्यूरस नामक एक और ग्रीक तत्त्वशास्त्रवेत्ता ने इस प्रकार के प्रामाणिक परमज्ञानी पुरुष के वर्णन में कहा है, कि वह शान्त, समबुद्धिवाला और परमेश्वर के ही समान सदा आनन्दमय रहता है तथा उससे लोगों से अथवा उसको लोगों का ज़रा-सा भी कष्ट नहीं होता।* पाठकों के ध्यान में आ ही जायगा कि भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत अथवा परमभक्त या ब्रह्मभूत पुरुष के वर्णन में इस वर्णन की कितनी समता है! "यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः" (गी १२ १५) – जिससे लोग उद्विग्न नहीं होते और जो लोगों से उद्विग्न नहीं होता, ऐसे ही जो हर्ष-खेद, भय-विषाद, सुख-दुःख आदि बन्धनों से मुक्त है, सदा अपने आप में ही सन्तुष्ट है ("आत्मन्येवात्मना तुष्टः" – गी २ ५५), त्रिगुणों से जिसका अन्तःकरण चञ्चल नहीं होता ("गुणैर्यो न विचाल्यते" – १४ २३) स्तुति या निन्दा और मान या अपमान जिसे एक से हैं, तथा प्राणिमात्र के अन्तर्गत आत्मा की एकता को परख कर (१८ ५४) साम्यबुद्धि से आसक्ति छोड़ कर, धैर्य और उत्साह से अपना कर्तव्यकर्म करनेवाला अथवा सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चन (१४ २४) – इत्यादि प्रकार से भगवद्गीता में भी स्थितप्रज्ञ के लक्षण तीन-चार बार विस्तारपूर्वक बतलाये गये हैं। इसी अवस्था को सिद्धावस्था या ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। और योगवासिष्ठ आदि के प्रणेता इसी स्थिति को जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं। इस स्थिति का प्राप्त हो जाना अत्यन्त दुर्घट है। अतएव कान्ट नामक जर्मन तत्त्ववेत्ता का कथन है कि ग्रीक पण्डितों ने इस स्थिति का जो वर्णन किया है वह किसी एक वास्तविक पुरुष का वर्णन नहीं है; बल्कि शुद्ध नीति के तत्त्वों को लोगों के मन में भर देने के लिये उन्होंने शुद्ध वासना को ही मनुष्य का चोला दे कर उन्होंने परले सिरे के ज्ञानी और नीतिमान् पुरुष का चित्र अपनी कल्पना से तैयार किया है। लेकिन हमारे शास्त्रकारों का मत है कि यह स्थिति ख़याली नहीं, बिलकुल सच्ची है और मन का निग्रह तथा प्रयत्न करने से इसी लोक में प्राप्त हो जाती है। इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव भी हमारे लोगों को प्राप्त है। तथापि यह बात साधारण नहीं है। गीता (७ ३) में ही स्पष्ट कहा

---

* Epicurus held the virtuous state to be ... tranquil, undisturbed, innocuous, non-competitive fruition which approached most nearly to the perfect happiness of the Gods, ... who neither suffered vexation in themselves, nor caused vexation to others. Spencer, *Data of Ethics*, p 278; Bain's *Mental and Moral Science*, Ed. 1875, p. 530. इसी को Ideal Wise Man कहते हैं।

है कि हजारों मनुष्यों में कोई एक-आध मनुष्य इसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, और इन हजारों प्रयत्न करनेवालों में किसी विरले को ही अनेक जन्मों के अनन्तर परमावधि की स्थिति अन्त में प्राप्त होती है।

स्थितप्रज्ञ-अवस्था या जीवन्मुक्त अवस्था कितनी ही दुष्प्राप्य क्यों न हो? पर जिस पुरुष को यह परमावधि की सिद्धि एक बार प्राप्त हो जाय, उसे कार्य अकार्य के अथवा नीतिशास्त्र के नियम बतलाने की कभी आवश्यकता नहीं रहती। ऊपर इसके जो लक्षण बतला आये हैं उन्हीं से यह बात आप ही निष्पन्न हो जाती है। क्योंकि परमावधि की शुद्ध, सम और पवित्र बुद्धि ही नीतिका सर्वस्व है। इस कारण ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषों के लिये नीति नियमों का उपयोग करना मानो स्वयंप्रकाश सूर्य के समीप अन्धकार होने की कल्पना करके उसे मशाल दिखलाने के समान असमंजस में पड़ना है। किसी एक-आध पुरुष के इस पूर्ण अवस्था में पहुँचने या न पहुँचने के सम्बन्ध में शङ्का हो सकेगी। परन्तु किसी भी रीति से जब एक बार निश्चय हो जाय कि कोई पुरुष इस पूर्ण अवस्था में पहुँच गया है, तब उसके पापपुण्य के के सम्बन्ध में अध्यात्मशास्त्र के उल्लिखित सिद्धान्त को छोड़ और कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। कुछ पश्चिमी राजधर्मशास्त्रियों के मतानुसार जिस प्रकार एक स्वतन्त्र पुरुष में या पुरुषसमूह में राजसत्ता अधिष्ठित रहती है और राजनियमों से प्रजा के बँधे रहने पर भी राजा नियमों से अछूता रहता है, ठीक इसी प्रकार नीति के राज्य में स्थितप्रज्ञ पुरुषों का अधिकार रहता है। उनके मन में कोई भी काम्यबुद्धि नहीं रहती। अतः केवल शास्त्र से प्राप्त हुए कर्तव्यों को छोड़ और किसी भी हेतु से कर्म करने के लिये प्रवृत्त नहीं हुआ करते। अतएव अत्यन्त निर्मल और शुद्ध वासना वाले इन पुरुषों के व्यवहार को पाप या पुण्य, नीति या अनीति शब्द कदापि लागू नहीं होते। वे तो पाप और पुण्य से बहुत दूर, आगे पहुँच जाते हैं। श्रीशङ्कराचार्य ने कहा है –

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

जो पुरुष त्रिगुणातीत हो गये, उनको विधिनिषेधरूपी नियम बाँध नहीं सकते।' और बौद्ध ग्रन्थकारों ने भी लिखा है कि 'जिस प्रकार उत्तम हीरे को घिसना नहीं पड़ता, उसी प्रकार जो निर्वाणपद का अधिकारी हो गया, उसके कर्म को विधिनियमों का अड़ंगा लगाना नहीं पड़ता' (मिलिन्दप्रश्न ४. . ७)। कौषीतकी उपनिषद् (३.) में इन्द्र ने प्रतर्दन से जो यह कहा है कि आत्मज्ञानी पुरुष को मातृहत्या, पितृहत्या अथवा भ्रूणहत्या आदि पाप भी नहीं लगते। अथवा गीता (१८. १७) में जो यह वचन है – कि अहंकारबुद्धि से सर्वथा विमुक्त पुरुष यदि लोगों को मार भी डाले, तो भी वह पापपुण्य से सदा अलग ही रहता है – उसका तात्पर्य भी यही है (देखो पञ्चदशी १४. १६ और १७)। 'धम्मपद' नामक बौद्ध ग्रन्थ में इसी

तत्त्व का अनुवाद किया गया है (देखो धम्मपद श्लोक २९४ और २९५)।* नई बाइबल में ईसा के शिष्य पाल ने जो यह कहा है कि "मुझे सभी बातें (एक ही सी) धर्म्य हैं" (१ कारि. ६. १२; रोम. ८. २) उसका आशय भी इसी वाक्य का आशय भी — कि जो भगवान् के पुत्र (पूर्णभक्त) हो गये उनके हाथ से पाप नहीं हो सकता (जा. १. ३. ९) — हमारे मत में ऐसा ही है। जो शुद्धबुद्धि को प्रधानता न दे कर केवल ऊपरी कर्मों से ही नीतिमत्ता का निर्णय करना सीखे हुए हैं, यह सिद्धान्त अद्भुत-सा मालूम होता है और "विधिनियम से परे का मनमाना भला-बुरा करनेवाला" — ऐसा अपने ही मन का कुतर्कपूर्ण अर्थ करके कुछ लोग उल्लिखित सिद्धान्त का इस प्रकार विपर्यास करते हैं कि "स्थितप्रज्ञ को सभी बुरे कर्म करने की स्वतन्त्रता है"। पर अन्धे को खम्भा न दीख पड़े तो जिस प्रकार खम्भा दोषी नहीं है, उसी प्रकार पक्षाभिमान के अन्धे इन आक्षेपकर्ताओं को उल्लिखित सिद्धान्त का ठीक ठीक अर्थ अवगत न हो, तो उसका दोष भी इस सिद्धान्त के मत्थे नहीं थोपा जा सकता। इसे गीता भी मानती है कि किसी की शुद्धबुद्धि की परीक्षा पहले पहल उसके ऊपरी आचरण से ही करनी पड़ती है। और जो इस कसौटी पर चौकस सिद्ध होने में अभी कुछ कम हैं, उन अपूर्ण अवस्था के लोगों को उक्त सिद्धान्त लागू करने की इच्छा अध्यात्मवादी भी नहीं करते। पर जब किसी की बुद्धि के पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ और निस्सीम निष्काम होने में तिलभर भी सन्देह न रहे, तब उस पूर्ण अवस्था में पहुँचे हुए सत्पुरुष की बात निराली हो जाती है। उसका कोई एक-आध काम यदि लौकिक दृष्टि से विपरीत दीख पड़े, तो तत्त्वतः यही कहना पड़ता है कि उसका बीज निर्दोष ही होगा। अथवा वह शास्त्र की दृष्टि से कुछ योग्य कारणों के होने से

---

* कौषीतकी उपनिषद् का वाक्य यह है — "यो मां विजानीयान्नास्य केनचित् कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया।" धम्मपद का श्लोक इस प्रकार है —

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥
मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥

प्रकट है कि धम्मपद में यह कल्पना कौषीतकी उपनिषद् से ली गई है। किन्तु बौद्ध ग्रन्थकार प्रत्यक्ष मातृवध या पितृवध अर्थ न करके "माता" का तृष्णा और "पिता" का अभिमान अर्थ करते हैं। लेकिन हमारे मत में इस श्लोक का नीतितत्त्व बौद्ध ग्रन्थकारों को सभी भाँति ज्ञात नहीं हो पाया, इसी से उन्होंने यह औपचारिक अर्थ लगाया है। कौषीतकी उपनिषद् में "मातृवधेन पितृवधेन" मन्त्र के पहले इन्द्र ने कहा है कि "यद्यपि मैंने वृत्र अर्थात् ब्राह्मण का वध किया है, तो भी मुझे पाप नहीं लगता।" इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ पर हत्या शब्द ही विवक्षित है। धम्मपद के अंग्रेजी अनुवाद में (S. B. E. Vol. X. pp. 70, 71) मेक्समूलर साहब ने इस श्लोक की जो टीका की है, हमारे मत में वह भी ठीक नहीं है।

ही हुआ होगा। या साधारण मनुष्यों के कर्मों के समान उसका क्षेममूलक या अनीति का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि उसकी बुद्धि की शुद्धता, शुद्धता और समता पहले से ही निश्चित रहती है। बाइबल में लिखा है कि अब्राहम अपने पुत्र का बलिदान देना चाहता था, तो भी उसे पुत्रहत्या कर डालने के प्रयत्न का पाप नहीं लगा। या बुद्ध के हाथ से उसका ससुर मर गया, तो भी उसे मनुष्यहत्या का पातक छू तक नहीं गया। अथवा माता को मार डालने पर भी परशुराम के हाथ से मातृहत्या नहीं हुई, उसका कारण भी वही तत्त्व है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। गीता में अर्जुन को जो यह उपदेश किया है कि तेरी बुद्धि यदि पवित्र और निर्मल हो, तो फलाशा छोड़ कर केवल क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध में भीष्म और द्रोण को मार डालने से भी न तो तुझे पितामह के वध का पातक लगेगा और न गुरुहत्या का दोष। क्योंकि ऐसे समय ईश्वरी संकेत की सिद्धि के लिये तू तो केवल निमित्त हो गया है (गी. ११. ३३)। इसमें भी यही तत्त्व भरा है। व्यवहार में भी हम यही देखते हैं कि यदि किसी लखपति ने किसी भिखमंगे के दो पैसे छीन लिये हों, तो उस लखपति को तो कोई चोर कहता नहीं। उलटा यही समझ लिया जाता है कि भिखारी ने ही कुछ अपराध किया होगा कि जिसका लखपति ने उसको दण्ड दिया है। यही न्याय इससे भी अधिक समर्पक रीति से या पूर्णता से स्थितप्रज्ञ, अर्हत और भगवद्भक्त के बर्ताव को उपयोगी होता है। क्योंकि लक्षाधीश की बुद्धि एक बार भले ही डिग जाय, परन्तु यह जानीबूझी बात है कि स्थितप्रज्ञ की बुद्धि को ये विकार कभी स्पर्श तक नहीं कर सकते। सृष्टिकर्ता परमेश्वर सब कर्म करने पर भी जिस प्रकार पापपुण्य से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार इन ब्रह्मभूत साधुपुरुषों की स्थिति सदैव पवित्र और निष्पाप रहती है। और तो क्या, समय समय पर ऐसे पुरुष स्वेच्छा अर्थात् अपनी मर्जी से जो व्यवहार करते हैं, उन्हीं से आगे चल कर विधिनियमों के निर्बन्ध बन जाते हैं। और इसी से कहते हैं कि ये सत्पुरुष इन विधिनियमों के जनक (उपजानेवाले) हैं — वे इनके गुलाम कभी नहीं हो सकते। न केवल वैदिक धर्म में, प्रत्युत बौद्ध और क्रिश्चियन धर्म में भी यही सिद्धान्त पाया जाता है; तथा प्राचीन ग्रीक तत्त्वज्ञानियों को भी यह तत्त्व मान्य हो गया था। और अर्वाचीन काल में कान्ट ने* अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ में उपपत्ति

---

* "A perfectly good will would therefore be equally subject to objective laws (viz. laws of good), but could not be conceived as *obliged* thereby to act lawfully, because of itself from its subjective constitution it can only be determined by the conception of good. Therefore no *imperatives* hold for the Divine will, or in general for a *holy* will; *ought* is here out of place, because the volition is already of itself necessarily in unison with the law." Kant's *Metaphysic of Morals*, p. 31 (Abbott's trans. in Kant's *Theory of Ethics*, 6th Ed.) निट्शे किसी भी आध्यात्मिक उपपत्ति का स्वीकार नहीं करता। तथापि उसने अपने ग्रन्थ में

त्याग कर कर्म करने से मिलनेवाली शान्ति का निदर्शन करने के लिये भाग व्याधस्थ के लक्षण बतलाये हैं। और ऐसे ही अठारहवें अध्याय में भी यह दिखलाने के लिये – कि आसक्तिविरहित कर्म करने में शान्ति कैसे मिलती है – ब्रह्मभूत का पुनः वर्णन आया है (गी. १८.)। अतएव यह मानना पड़ता है कि ये सब वर्णन संन्यासमार्गवालों के नहीं हैं, किन्तु कर्मयोगी पुरुषों के ही हैं। कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ और संन्यासी स्थितप्रज्ञ दोनों का ब्रह्मज्ञान, शान्ति, आत्मौपम्य और निष्कामबुद्धि अथवा नीतितत्त्व पृथक् पृथक् नहीं है। दोनों ही पूर्ण ब्रह्मज्ञानी रहते हैं। इस कारण दोनों की ही मानसिक स्थिति और शान्ति एक-सी होती है। इन दोनों में कर्मदृष्टि से महत्त्व का भेद यह है कि पहला निरी शान्ति में ही डूबा रहता है और किसी की भी चिन्ता नहीं करता, तथा दूसरा अपनी शान्ति एवं आत्मौपम्यबुद्धि का व्यवहार में यथासम्भव नित्य उपयोग किया करता है। अतः यह न्याय से सिद्ध है कि व्यावहारिक धर्म-अधर्म-विवेचन के काम में जिसके प्रत्यक्ष व्यवहार का प्रमाण मानना है, वह स्थितप्रज्ञ कर्म करनेवाला ही होना चाहिये। यहाँ कर्मत्यागी साधु अथवा भिक्षु का टिकना सम्भव नहीं है। गीता में अर्जुन को किये गये समग्र उपदेश का सार यह है कि कर्मों के छोड़ देने की न तो जरूरत है और न वे छूट सकते हैं। ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान प्राप्त कर कर्मयोगी के समान व्यवसायात्मक बुद्धि को साम्यावस्था में रखना चाहिये। ऐसा करने से उसके साथ-ही-साथ वासनात्मक बुद्धि भी सदैव शुद्ध, निर्मम और पवित्र रहेगी। एवं कर्म का बन्धन न होगा। यही कारण है कि इस प्रकरण के आरम्भ के श्लोक में यह धर्मतत्त्व बतलाया गया है कि "केवल वाणी और मन से ही नहीं, किन्तु जो प्रत्यक्ष कर्म से सब का स्नेही और हितकर्ता हो गया हो, उसे ही धर्मज्ञ कहना चाहिये।" जाजलि को धर्मतत्त्व बतलाते समय तुलाधार ने वाणी और मन के साथ ही – बल्कि इससे भी पहले – इसमें कर्म का भी प्रधानता से निर्देश किया है।

कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ की अथवा जीवन्मुक्त की बुद्धि के अनुसार सब प्राणियों में जिसकी साम्यबुद्धि हो गई और परार्थ में जिसके स्वार्थ का सर्वथा लय हो गया, उसको विस्तृत नीतिशास्त्र सुनाने की जरूरत नहीं। वह तो आप ही स्वयंप्रकाश अथवा 'बुद्ध' हो गया। अर्जुन का अधिकार इसी प्रकार का था। उसे इससे अधिक उपदेश करने की जरूरत ही न थी कि "तू अपनी बुद्धि को सम और स्थिर कर; तथा कर्म को त्याग देने के व्यर्थ भ्रम में न पड़ कर स्थितप्रज्ञ की-सी बुद्धि रख और स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए सभी सांसारिक कर्म किया कर।" तथापि यह साम्यबुद्धिरूप योग सभी को एक ही जन्म में प्राप्त नहीं हो सकता। इसी से साधारण लोगों के लिये स्थितप्रज्ञ के व्यवहार का और थोड़ा-सा विवेचन करना चाहिये। परन्तु विवेचन करते समय खूब स्मरण रहे कि हम जिस स्थितप्रज्ञ का विचार करेंगे, वह कृतयुग के पूर्ण अवस्था में पहुँचे हुए समाज में रहनेवाला नहीं है। किन्तु जिस समाज में अनेक

लोग स्वार्थ में ही डूबे रहते हैं, उसी कलियुगी समाज में यह बर्ताव करना है। क्योंकि मनुष्य का ज्ञान कितना ही पूर्ण क्यों न हो गया हो और उसकी बुद्धि साम्यावस्था में कितनी ही क्यों न पहुँच गई हो, तो भी उसे ऐसे ही लोगों के साथ बर्ताव करना है जो काम-क्रोध आदि के चक्कर में पड़े हुए हैं और जिनकी बुद्धि अशुद्ध है। अतएव इन लोगों के साथ व्यवहार करते समय यदि वह अहिंसा, दया, शान्ति और क्षमा आदि नित्य एवं परमावधि के सद्गुणों को ही सब प्रकार से सर्वथा स्वीकार करे, तो उसका निर्वाह न होगा।* अर्थात् जहाँ सभी स्थितप्रज्ञ हैं, उस समाज की बढ़ी-चढ़ी हुई नीति और धर्म-अधर्म में उस समाज के धर्म-अधर्म कुछ कुछ भिन्न रहेंगे ही — कि जिसमें लालची पुरुषों का भी जत्था होगा — वरना साधु पुरुष को यह बर्ताव छोड़ देना पड़ेगा और सर्वत्र दुष्टों का ही बोलबाला हो जावेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि साधु पुरुष को अपनी समताबुद्धि छोड़ देनी चाहिये। फिर भी समता-समता में भी भेद है! गीता में कहा है, कि "ब्राह्मणे गवि हस्तिनि" (गी. ५. १८) — ब्राह्मण, गाय और हाथी में पण्डितों की समबुद्धि होती है। इसलिये यदि कोई गाय के लिये लाया हुआ चारा ब्राह्मण को और ब्राह्मण के लिये बनाई गई रसोई गाय को खिलाने लगे, तो क्या उसे पण्डित कहेंगे? संन्यासमार्गवाले इस प्रश्न का महत्त्व भले न मानें पर कर्मयोगशास्त्र की बात ऐसी नहीं है। दूसरे प्रकरण के विवेचन से पाठक जान गये होंगे कि कलियुगी समाज के पूर्णावस्थावाले धर्म-अधर्म के स्वरूप पर ध्यान रख कर स्वार्थपरायण लोगों के समाज में स्थितप्रज्ञ यह निश्चय करके बर्तता है कि देशकाल के अनुसार उसमें कौन कौन फर्क कर देना चाहिये? और कर्मयोगशास्त्र का यही तो विकट प्रश्न है। साधु पुरुष स्वार्थपरायण लोगों पर नाराज नहीं होते अथवा उनकी असमबुद्धि देख करके वे अपने मन की समता डिगने नहीं देते। किन्तु इन्हीं लोगों के कल्याण के लिये अपने उद्योग केवल कर्तव्य समझ कर वैराग्य से जारी रखते हैं। इसी तत्त्व को मन में ला कर श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने दासबोध के पूर्वार्ध में पहले ब्रह्मज्ञान बतलाया है। और फिर (दास. ११. १०; १२. ८-१०; १५. २) इसका वर्णन आरम्भ किया है कि स्थितप्रज्ञ या उत्तम पुरुष सर्वसाधारण लोगों को चतुर बनाने

---

* "In the second place, ideal conduct such as ethical theory is concerned with, is not possible for the ideal man in the midst of men otherwise constituted. An absolutely just or perfectly sympathetic person could not live and act according to his nature in a tribe of cannibals. Among people who are treacherous and utterly without scruple, entire truthfulness and openness must bring ruin." Spencer's *Data of Ethics*, Chap. XV p. 280. स्पेन्सर ने इसे Relative Ethics कहा है और वह कहता है कि "On the evolution-hypothesis, the two (Absolute and Relative Ethics) presuppose one another; and only when they co-exist, can there exist that ideal conduct which Absolute Ethics has to formulate, and which Relative Ethics has to take as the standard by which to estimate divergencies from right, or degrees of wrong."

के लिये वैराग्य से अर्थात् निःस्पृहता से लोकसंग्रह के निमित्त व्यापार या उद्योग किस प्रकार किया करते हैं? और आगे अठारहवें श्लोक (शान्ति. १८ २) में कहा है, कि सभी का ज्ञानी पुरुष अर्थात् जानकार के ये गुण – कथा, बातचीत, युक्ति, दाव-पेंच, प्रलाप, प्रयत्न, तर्क, चतुराई, राजनीति, सहनशीलता, तीक्ष्णता, उदारता, अध्यात्म ज्ञान, भक्ति, अलिप्तता, वैराग्य, धैर्य, उत्साह, निग्रह, समता और विवेक आदि – सीखना चाहिये। परन्तु इस निःस्पृह साधु को सभी मनुष्यों में ही रहना है। इस कारण अन्त में (शान्ति. १ … १) भीष्म का यह उपदेश है कि शठ का सामना शठ ही से करा लेना चाहिये। उग्र के लिये उग्र चाहिये और नम्र के सामने नम्रता की ही आवश्यकता है। तात्पर्य यह निर्विवाद है कि पूर्णावस्था से व्यवहार में उतरने पर अत्युच्च श्रेणी के धर्म अधम में थोड़ाबहुत अन्तर कर लेना पड़ता है।

इस पर आधिभौतिकवादियों की शंका है कि पूर्णावस्था के समाज से नीचे उतरने पर अनेक बातों के सार असार का विचार करके परमावधि के नीतिधर्म में यदि थोड़ाबहुत फर्क करना ही पड़ता है तो नीतिधर्म की नित्यता कहाँ रह गई? और भारतसावित्री में व्यास ने जो यह 'धर्मो नित्यः' तत्त्व बतलाया है उसकी क्या दशा होगी? वे कहते हैं कि अध्यात्मदृष्टि से सिद्ध होनेवाला धर्म का नित्यत्व कल्पनाप्रसूत है। और प्रत्येक समाज की स्थिति के अनुसार उस उस समय में अधिकांश लोगों के अधिक सुख – वाले तत्त्व से जो नीतिधर्म प्राप्त होंगे, वे ही सच्चे नीतिनियम हैं। परन्तु यह दलील ठीक नहीं है। भूमितिशास्त्र के नियमानुसार यदि कोई बिना चौड़ाई की सरल रेखा अथवा सर्वांश में निर्दोष गोलाकार न खींच सके तो जिस प्रकार इतने ही से रेखा की अथवा शुद्ध गोलाकार की शास्त्रीय व्याख्या गलत या निरर्थक नहीं हो जाती उसी प्रकार सरल और शुद्ध नियमों की बात है। जब तक किसी बात के परमावधि के शुद्ध स्वरूप का निश्चय पहले न कर लिया जाय तब तक व्यवहार में दीख पड़नेवाली उस बात की अनेक सूरतों में सुधार करना अथवा सार असार का विचार करके अन्त में उसके तारतम्य की पहचान लेना भी सम्भव नहीं है। और यही कारण है जो सराफ़ पहले ही निर्णय करता है कि ? टंच का सोना कौन-सा है? दिशाप्रदर्शक ध्रुवमत्स्य यन्त्र अथवा ध्रुव नक्षत्र की ओर दुर्लक्ष कर अपार महासागर की लहरों और वायु के ही तारतम्य को देख कर जहाज के खलासी बराबर अपने जहाज की पतवार घुमाने लगें तो उनकी जो स्थिति होगी वही स्थिति नीतिनियमों के परमावधि के स्वरूप पर ध्यान न दे कर केवल देशकाल के अनुसार चलनेवाले मनुष्यों की होनी चाहिये। अतएव यदि निरी आधिभौतिक दृष्टि से ही विचार करें तो भी यह पहले अवश्य निश्चित कर लेना पड़ता है कि ध्रुव जैसा अचल और नित्य नीतितत्त्व कौन-सा है? और इस आवश्यकता को एक बार मान लेने से ही समूचा आधिभौतिक पक्ष लँगड़ा हो जाता है। क्योंकि सुखदुःख

आदि सब विषयोपभोग नामरूपात्मक हैं। अतएव ये अनित्य और विनाशवान माया की ही सीमा में रह जाते हैं। इसलिये केवल इन्हीं बाह्य प्रमाणों के आधार से सिद्ध होनेवाला कोई भी नीतिनियम नित्य नहीं हो सकता। आधिभौतिक सुखदुःख की कल्पना जैसी जैसी बदलती जावेगी वैसे ही वैसे उसकी बुनियाद पर रचे हुए नीतिधर्मों को भी बदलते रहना चाहिये। अतः नित्य बदलती रहनेवाली नीतिधर्म की इस स्थिति को टालने के लिये मायासृष्टि के विषयोपभोग छोड़ कर नीतिधर्म की इमारत इस सब भूतों में एक-सा रहनेवाले अध्यात्मज्ञान के मजबूत पाये पर ही खड़ी करनी पड़ती है। क्योंकि पीछे नौवें प्रकरण में कह आये हैं कि आत्मा को छोड़ जगत् में दूसरी कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। यही तात्पर्य व्यासजी के इस वचन का है कि "धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये" — नीति अथवा सदाचरण का धर्म नित्य है और सुखदुःख अनित्य हैं। यह सच है कि दुष्ट और लोभियों के समाज में अहिंसा एवं सत्य प्रभृति नित्य नीतिधर्म पूर्णता से पाले नहीं जा सकते; पर इसका दोष इन नित्य नीतिधर्मों को देना उचित नहीं है। सूर्य की किरणों से किसी पदार्थ की परछाईं चौरस मैदान पर सपाट और ऊँचे-नीचे स्थान पर ऊँची-नीची पड़ती देख जैसे यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि वह परछाईं मूल में ही ऊँची-नीची होगी, उसी प्रकार जब कि दुष्टों के समाज में नीति धर्म का पराकाष्ठा का शुद्ध स्वरूप नहीं पाया जाता, तब यह नहीं कह सकते कि अपूर्ण अवस्था के समाज में पाया जानेवाला नीतिधर्म का अपूर्ण स्वरूप ही मुख्य अथवा मूल का है। यह दोष समाज का है, नीति का नहीं। इसी से चतुर पुरुष शुद्ध और नित्य नीतिधर्मों से झगड़ा न मचा कर ऐसे प्रयत्न किया करते हैं कि जिनसे समाज ऊँचा उठता हुआ पूर्ण अवस्था में जा पहुँचे। लोभी मनुष्यों के समाज में इस प्रकार बर्ताव करते समय ही नित्य नीतिधर्मों के कुछ अपवाद यद्यपि अपरिहार्य मान कर हमारे शास्त्रों में बतलाये गये हैं, तथापि इनके लिये शास्त्रों में प्रायश्चित्त बतलाये गये हैं। परन्तु पश्चिमी आधिभौतिक नीतिशास्त्रज्ञ इन्हीं अपवादों को मुख्य मान कर प्रतिपादन करते हैं, एवं इन अपवादों का निश्चय करते समय वे उपयोग में आनेवाले बाह्य फलों के तारतम्य के तत्त्व को ही भ्रम से नीति का मूलतत्त्व मानते हैं। अब पाठक समझ जावेंगे, कि पिछले प्रकरणों में हमने ऐसा भेद क्यों दिखलाया है?

यह बतला दिया कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष की बुद्धि और उसका बर्ताव ही नीतिशास्त्र का आधार है। एवं यह भी बतला दिया कि उससे निकलनेवाले नीति के नियमों को — उनके नित्य होने पर भी — समाज की अपूर्ण अवस्था में थोड़ा-बहुत बदलना पड़ता है; तथा इस रीति से बदले जाने पर भी नीतिनियमों की नित्यता में उस परिवर्तन से कोई बाधा नहीं आती। अब हम पहले प्रश्न का विचार करते हैं कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष अपूर्ण अवस्था के समाज में जो बर्ताव करता है, उसका मूल अथवा बीजतत्त्व क्या है? चौथे प्रकरण में कह आये हैं कि यह विचार दो प्रकार से

नीति की दृष्टि से किसी कर्म की योग्यता अथवा अयोग्यता का विचार दो प्रकार से किया जाता है – (१) उस कर्म का केवल बाह्य फल देख कर अर्थात् यह देख करके कि उसका दृश्य परिणाम जगत् पर क्या हुआ है या होगा; (२) यह देख कर, कि उस कर्म के करनेवाले की बुद्धि अर्थात् वासना कैसी थी। पहले को आधिभौतिक मार्ग कहते हैं। दूसरे में फिर दो पक्ष होते हैं और इन दोनों के पृथक् पृथक् नाम हैं। ये सिद्धान्त पिछले प्रकरणों में बतलाये जा चुके हैं कि शुद्ध कर्म होने के लिये वासनात्मक बुद्धि शुद्ध रखनी पड़ती है। और वासनात्मक बुद्धि शुद्ध रखने के लिये व्यवसायात्मक अर्थात् कार्य-अकार्य का निर्णय करनेवाली बुद्धि भी स्थिर, सम और शुद्ध रहनी चाहिये। इन सिद्धान्तों के अनुसार किसी के भी कर्मों की शुद्धता जाँचने के लिये देखना पड़ता है कि उसकी वासनात्मक बुद्धि शुद्ध है या नहीं; और वासनात्मक बुद्धि की शुद्धता जाँचने लगें तो अन्त में देखना ही पड़ता है कि व्यवसायात्मक बुद्धि शुद्ध है या अशुद्ध। सारांश, कर्ता की बुद्धि अर्थात् वासना की शुद्धता का निर्णय अन्त में व्यवसायात्मक बुद्धि की शुद्धता से करना पड़ता है (गी. २.४१)। इसी व्यवसायात्मक बुद्धि को सदसद्विवेचनशक्ति के रूप में स्वतन्त्र देवता मान लेने से आधिदैविक मार्ग हो जाता है। परन्तु यह बुद्धि स्वतन्त्र देवता नहीं है, किन्तु आत्मा का अन्तरिन्द्रिय है। अतः बुद्धि को प्रधानता न दे कर आत्मा को प्रधान मान करके वासना की शुद्धता का विचार करने से यह नीति के निर्णय का आध्यात्मिक मार्ग हो जाता है। हमारे शास्त्रकारों का मत है कि इन सब मार्गों में आध्यात्मिक मार्ग श्रेष्ठ है। और प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट ने यद्यपि ब्रह्मात्मैक्य का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से नहीं दिया है, तथापि उसने अपने नीतिशास्त्र के विवेचन का आरम्भ शुद्धबुद्धि से अर्थात् एक प्रकार से अध्यात्म-दृष्टि से ही किया है। एवं उसने इसकी उपपत्ति भी दी है कि ऐसा क्यों करना चाहिये।* ग्रीन का अभिप्राय भी ऐसा ही है। परन्तु इस विषय की पूरी पूरी छानबीन इस छोटे-से ग्रन्थ में नहीं की जा सकती। हम चौथे प्रकरण में दो-एक उदाहरण दे कर स्पष्ट दिखला चुके हैं कि नीतिमत्ता का पूरा निर्णय करने के लिये कर्म के बाहरी फल की अपेक्षा कर्ता की शुद्धबुद्धि पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। और इस सम्बन्ध का अधिक विचार आगे – पन्द्रहवें प्रकरण में पाश्चात्य और पौरस्त्य नीतिमार्गों की तुलना करते समय – किया जायेगा। अभी इतना ही कहते हैं कि कोई भी कर्म तभी होता है जब कि पहले उस कर्म के करने की बुद्धि उत्पन्न हो। इसलिये कर्म की योग्यता अयोग्यता के विचार पर भी सभी अंशों में बुद्धि की शुद्धता अशुद्धता के विचार पर ही अवलम्बित रहता है। बुद्धि बुरी होगी, तो कर्म भी बुरा होगा। परन्तु केवल बाह्य कर्म के बुरे होने से ही यह अनुमान नहीं किया

---

* See Kant's *Theory of Ethics* trans. by Abbott, 6th *Ed.* especially *Metaphysics of Morals* therein.

जा सकता कि बुद्धि भी बुरी होनी ही चाहिये। क्योंकि भूल से कुछ-का-कुछ समझ लेने से अथवा अज्ञान से भी वैसा कर्म हो सकता है और फिर उसे नीतिशास्त्र की दृष्टि से बुरा नहीं कह सकते। 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' – वाला नीतितत्त्व केवल बाहरी परिणामों के लिये ही उपयोगी होता है। और जब कि इन सुखदुःखात्मक बाहरी परिणामों को निश्चित रीति से मापने का बाहरी साधन अब तक नहीं मिला है, तब नीतिमत्ता की इस कसौटी से सदैव यथार्थ निर्णय होने का भरोसा भी नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मनुष्य कितना ही सयाना क्यों न हो जाय, यदि उसकी बुद्धि शुद्ध न हो गई हो, यह नहीं कह सकते कि वह प्रत्येक अवसर पर धर्म से ही बर्तेगा। विशेषतः जहाँ उसका स्वार्थ आ डटा, वहाँ तो फिर कहना ही क्या है? 'स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जनाः' (म. भा. वि. ५१. ४)। सारांश, मनुष्य कितना ही बड़ा ज्ञानी धर्मवेत्ता और सयाना क्यों न हो, किन्तु यदि उसकी बुद्धि प्राणिमात्र में सम न हो, तो यह नहीं कह सकते कि उसका कर्म सदैव शुद्ध अथवा नीति की दृष्टि से निर्दोष ही रहेगा। अतएव हमारे शास्त्रकारों ने निश्चित कर दिया है कि नीति का विचार करने में कर्म के बाह्य फल की अपेक्षा कर्ता की बुद्धि का ही प्रधानता से विचार करना चाहिये। साम्यबुद्धि ही अच्छे बर्ताव का चोखा बीज है। यही भावार्थ भगवद्गीता के इस उपदेश में भी है –

> दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
> बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ *

कुछ लोग इस (गी. २. ४९) श्लोक में बुद्धि का अर्थ ज्ञान समझ कर कहते हैं कि कर्म और ज्ञान दोनों में से यहाँ ज्ञान को ही श्रेष्ठता दी है। पर हमारे मत में यह अर्थ भूल से खाली नहीं है। इस स्थल पर शांकरभाष्य में बुद्धियोग का अर्थ 'समत्व बुद्धियोग' दिया हुआ है। और यह श्लोक कर्मयोग के प्रकरण में आया है। अतएव वास्तव में इसका अर्थ कर्मप्रधान ही करना चाहिये और वही सरल रीति से लगता भी है। कर्म करनेवाले लोग दो प्रकार के होते हैं। एक फल पर – उदाहरणार्थ उससे कितने लोगों को कितना सुख होगा इस पर – दृष्टि जमा कर कर्म करते हैं और दूसरे बुद्धि को सम और निष्काम रख कर कर्म करते हैं। फिर कर्मधर्मसंयोग से उससे जो परिणाम होना हो, सो हुआ करे। इनमें से 'फलहेतवः' अर्थात् फल पर दृष्टि रख कर कर्म करनेवाले लोगों को नैतिक दृष्टि से कृपण अर्थात् कनिष्ठ श्रेणी के बतला कर समबुद्धि से कर्म करनेवालों को इस श्लोक में श्रेष्ठता दी है। इस श्लोक के पहले दो चरणों में जो यह कहा है कि "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय" – हे धनंजय!

---

* इस श्लोक का सरल अर्थ यह है – "हे धनंजय! (सम-) बुद्धि के योग की अपेक्षा (कोरा) कर्म बिलकुल ही निकृष्ट है। अतएव (सम-) बुद्धि का ही आश्रय कर। फल पर दृष्टि रख कर कर्म करनेवाले (पुरुष) कृपण अर्थात् ओछे दर्जे के हैं।"

समत्व बुद्धियोग की अपेक्षा (द्वारा) कर्म अत्यन्त निकृष्ट है — इसका तात्पर्य यही है। और जब अर्जुन ने यह प्रश्न किया कि भीष्म-द्रोण को कैसे मारूँ? तब उसका उत्तर भी यही दिया गया। इसका मतलब यह है कि मरने या मारने की निरी क्रिया की ही ओर ध्यान न देकर देखना चाहिये कि मनुष्य किस बुद्धि से उस कर्म को करता है? अतएव इस श्लोक के तीसरे चरण में उपदेश है कि तू बुद्धि अर्थात् समबुद्धि की शरण जा। और आगे उपसंहारात्मक अठारहवें अध्याय में भी भगवान ने फिर कहा है कि बुद्धियोग का आश्रय करके तू अपने कर्म कर। गीता के दूसरे अध्याय के एक और श्लोक से व्यक्त होता है कि गीता निरे कर्म के विचार को कनिष्ठ समझ कर उस कर्म की प्रेरक बुद्धि के ही विचार को श्रेष्ठ मानती है। अठारहवें अध्याय में कर्म के भले बुरे अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस भेद बतलाये गये हैं। यदि निरे कर्मफल की ओर ही गीता का लक्ष्य होता तो भगवान ने यह कहा होता कि जो कर्म बहुतेरों को सुखदायक हो वही सात्त्विक है। परन्तु ऐसा न बतला कर अठारहवें अध्याय में कहा है कि फलाशा छोड़ कर निस्सङ्गबुद्धि से किया हुआ कर्म सात्त्विक अथवा उत्तम है (गी. १८. ९)। अर्थात् इससे प्रकट होता है कि कर्म के बाह्य फल की अपेक्षा कर्ता की निष्काम, सम और निस्सङ्गबुद्धि को ही कर्माकर्म का विवेचन करने में गीता अधिक महत्त्व देती है कि स्थितप्रज्ञ जिस साम्यबुद्धि से अपनी बराबरीवालों, छोटों और सर्वसाधारण के साथ बर्तता है वही साम्यबुद्धि उसके आचरण का मुख्य तत्त्व है। और इस आचरण से जो प्राणिमात्र का मङ्गल होता है वह इस साम्यबुद्धि का निरा ऊपरी और आनुषङ्गिक परिणाम है। ऐसे ही जिसकी बुद्धि पूर्ण अवस्था में पहुँच गई हो वह लोगों को केवल आधिभौतिक सुख प्राप्त करा देने के लिये ही अपने सब व्यवहार न करेगा। यह ठीक है कि वह दूसरों का नुकसान न करेगा। पर यह उसका मुख्य ध्येय नहीं है। स्थितप्रज्ञ ऐसे प्रयत्न किया करता है जिनसे समाज के लोगों की बुद्धि अधिक अधिक शुद्ध होती जावे और वे लोग अपने समान ही अन्त में आध्यात्मिक पूर्ण अवस्था में जा पहुँचें। मनुष्य के कर्तव्य में यही श्रेष्ठ और सात्त्विक कर्तव्य है। केवल आधिभौतिक सुखवृद्धि के प्रयत्नों को हम गौण अथवा राजस समझते हैं।

गीता का सिद्धान्त है कि कर्म अकर्म के निर्णयार्थ कर्म के बाह्य फल पर ध्यान न दे कर कर्ता की शुद्धबुद्धि को ही प्रधानता देनी चाहिये। इस पर कुछ लोगों का यह तर्कपूर्ण मिथ्या आक्षेप है कि यदि कर्मफल को न देख कर केवल शुद्धबुद्धि का ही इस प्रकार विचार करें, तो मानना होगा कि शुद्धबुद्धिवाला मनुष्य कोई भी बुरा काम कर सकता है! और तब तो वह सभी बुरे कर्म करने के लिये स्वतन्त्र हो जायगा। इस आक्षेप को हमने अपनी ही कल्पना के बल से नहीं घर घसीटा है। किन्तु गीताधर्म पर कुछ पादरी बहादुरों के किये हुए इस ढँग के आक्षेप हमारे देखने

में भी आये हैं।* किन्तु हमें यह कहने में कोई भी दिक्कत नहीं जान पड़ती कि ये आरोप या आक्षेप बिलकुल मूर्खता के अथवा दुराग्रह के हैं। और यह कहने में भी कोई हानि नहीं है कि आफ्रीका का घोर काला-कलूटा जंगली मनुष्य सुधरे हुये राष्ट्र के नीतितत्त्वों का आकलन करने में जिस प्रकार अपात्र और असमर्थ होता है, उसी प्रकार इन पाश्चात्य पण्डितों की बुद्धि वैदिक धर्म के स्थितप्रज्ञ की आध्यात्मिक पूर्णावस्था का निरा आकलन करने में भी स्वधर्म के व्यर्थ दुराग्रह अथवा और कुछ ओछे एवं दुष्ट मनोविकारों से असमर्थ हो गई है। उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी कान्ट ने अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर लिखा है कि कर्म के बाहरी फल को न देख कर नीति के निर्णयार्थ कर्ता की बुद्धि का ही विचार करना उचित है।§ किन्तु हमने नहीं देखा कि कान्ट पर किसी ने ऐसा आक्षेप किया हो। फिर वह गीतावाले नीतितत्त्व को ही उपयुक्त कैसे होगा? प्राणिमात्र में समबुद्धि होते ही परोपकार करना तो देह का स्वभाव ही बन जाता है। और ऐसा हो जाने पर परमज्ञानी एवं परम शुद्धबुद्धिवाले मनुष्य के हाथ से कुकर्म होना उतना ही सम्भव है जितना कि अमृत से मृत्यु हो जाना। कर्म के बाह्य फल का विचार न करने के लिये जब गीता कहती है, तब उसका यह अर्थ नहीं है कि जो जी में आ जाय सो किया करो। प्रत्युत गीता कहती है कि बाहरी परोपकार करने का ढोंग पाखण्ड से या लोभ से कोई भी कर सकता है – किन्तु प्राणिमात्र में एक आत्मा को पहचानने से बुद्धि में जो स्थिरता और समता आ जाती है उसका स्वाँग कोई नहीं बना सकता – तब किसी भी कर्म की योग्यता – अयोग्यता का विचार करने में कर्म के बाह्य परिणाम की अपेक्षा कर्ता की बुद्धि पर ही योग्य दृष्टि रखनी चाहिये। गीता का संक्षेप में यह सिद्धान्त कहा जा सकता है कि कोरे जड़ कर्म में ही नीतिमत्ता नहीं किन्तु

---

* कलकत्ते के एक पादरी की ऐसी करतूत का उत्तर मिस्टर ब्रुक्स ने दिया है, जो कि उनके *Kurukshetra* (कुरुक्षेत्र) नामक छपे हुए निबंध के अन्त में है; उसे देखिये (*Kurukshetra*, Vyasashrama, Adyar, Madras, pp. 48–52)

§ "The second proposition is: That an action done from duty derives its moral worth *not from the purpose* which is to be attained by it, but from the maxim by which it is determined." ... The moral worth of an action "cannot lie anywhere but in the *principle of the Will* without regard to the ends which can be attained by action." Kant's *Metaphysics of Morals* (trans. by Abbott in Kant's *Theory of Ethics*, p. 16. The italics are author's and not our own). And again, "When the question is of moral worth, it is not with the action which we see that we are concerned, but with those inward principles of them which we do not see." p. 24 *Ibid.*

कर्ता की बुद्धि पर वह सर्वथा अवलम्बित रहती है। आगे गीता (१८. २५) में ही कहा है कि इस आध्यात्मिक तत्त्व के ठीक सिद्धान्त को न समझ कर यदि कोई मनमानी करने लगे तो उस पुरुष को राक्षस या तामसी बुद्धिवाला कहना चाहिये। एक बार समबुद्धि हो जाने से फिर उस पुरुष को कर्तव्य अकर्तव्य का और अधिक उपदेश नहीं करना पड़ता। इसी तत्त्व पर ध्यान दे कर साधु तुकाराम ने शिवाजी महाराज को जो यह उपदेश किया कि "इसका एक ही कल्याणकारक अर्थ यह है कि प्राणिमात्र में एक आत्मा को देखो"। इसमें भी भगवद्गीता के अनुसार कर्मयोग का एक ही तत्त्व बतलाया गया है। यहाँ फिर भी कह देना उचित है कि यद्यपि साम्यबुद्धि ही सदाचार का बीज हो, तथापि इससे यह भी अनुमान न करना चाहिये कि जब तक इस प्रकार की पूर्ण शुद्धबुद्धि न हो जावे, तब तक कर्म करनेवाला चुप चाप हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे। स्थितप्रज्ञ के समान बुद्धि कर लेना तो परम ध्येय है। परन्तु गीता के आरम्भ (२. ४०) में ही यह उपदेश किया गया है कि इस परम ध्येय के पूर्णतया सिद्ध होने तक प्रतीक्षा न करके – जितना हो सके उतना ही – निष्कामबुद्धि से प्रत्येक मनुष्य अपना कर्म करता रहे। इसी से बुद्धि अधिक शुद्ध होती चली जावगी और अन्त में पूर्ण सिद्धि हो जावगी। ऐसा आग्रह करके समय को मुफ्त न गँवा दे कि जब तक पूर्ण सिद्धि पा न जाऊँगा तब तक कर्म करूँगा ही नहीं।

'सर्वभूतहित' अथवा 'अधिकांश लोगों के अधिक कल्याण' – वाला नीतितत्त्व केवल बाह्यकर्म को उपयुक्त होने के कारण शास्त्रग्राही और कृपण है। परन्तु यह 'प्राणिमात्र में एक आत्मा' वाली स्थितप्रज्ञ की 'साम्यबुद्धि' मूलग्राही है; और इसी को नीतिनिर्णय के काम में श्रेष्ठ मानना चाहिये। यद्यपि इस प्रकार यह बात सिद्ध हो चुकी, तथापि इस पर कई एकों के आक्षेप हैं कि इस सिद्धान्त से व्यावहारिक बर्ताव की उपपत्ति ठीक ठीक नहीं लगती। ये आक्षेप प्रायः संन्यासमार्गी स्थितप्रज्ञ के संसारी व्यवहार को देख कर ही इन लोगों को सूझे हैं। किन्तु थोड़ासा विचार करने से किसी को भी सहज ही दीख पड़ेगा कि ये आक्षेप स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी के बर्ताव को उपयुक्त नहीं होते। और तो क्या? यह भी कह सकते हैं कि प्राणिमात्र में एक आत्मा अथवा आत्मौपम्यबुद्धि के तत्त्व से व्यावहारिक नीतिधर्म की जैसी अच्छी उपपत्ति लगती है, वैसी और किसी भी तत्त्व से नहीं लगती। उदाहरण के लिये उस परोपकारधर्म को ही लीजिये कि जो सब देशों में और सब नीतिशास्त्रों में प्रधान माना गया है। "दूसरे का आत्मा ही मेरा आत्मा है" इस अध्यात्मतत्त्व से परोपकारधर्म की जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी किसी भी दूसरे आधिभौतिक वाद से नहीं लगती। बहुत हुआ, तो आधिभौतिकशास्त्र इतना ही कह सकते हैं कि परोपकारबुद्धि एक नैसर्गिक गुण है और वह उत्क्रान्तिवाद के अनुसार बढ़ रहा है। किन्तु इतने से ही परोपकार की नित्यता सिद्ध नहीं

हो जाती। यही नहीं, बल्कि स्वार्थ और परार्थ के झगड़े में इन दोनों घोड़ों पर सवार होने के समझनी चतुर स्वार्थियों का भी अपना मतलब गाँठने में इसके कारण अक्सर मिल जाता है। यह बात हम चौथे प्रकरण में बतला चुके हैं। इस पर भी कुछ लोग कहते हैं कि परोपकारबुद्धि की नित्यता सिद्ध करने में लाभ ही क्या है? प्राणिमात्र में एक ही आत्मा मान कर यदि प्रत्येक पुरुष सदासर्वदा प्राणिमात्र का ही हित करने लग जाय तो उसकी गुजर कैसे होगी? और जब वह इस प्रकार अपना ही योगक्षेम नहीं चला सका, तब वह और लोगों का कल्याण कर ही कैसे सकेगा? लेकिन ये शंकाएँ न तो नई ही हैं; और न ऐसी हैं कि जो टाली न जा सकें। भगवान ने गीता में ही इस प्रश्न का यों उत्तर दिया है — तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् (गीता ९. २२) और अध्यात्मशास्त्र की युक्तियों से भी यही अर्थ निष्पन्न होता है। जिसे लोककल्याण करने की बुद्धि हो गई, उसे कुछ खाना-पीना नहीं छोड़ना पड़ता। परन्तु उसकी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये कि मैं लोकोपकार के लिये ही देह धारण भी करता हूँ। जनक ने कहा है (म. भा. अश्व. ३२) कि जब ऐसी बुद्धि रहेगी तभी इन्द्रियाँ काबू में रहेंगी; और लोक कल्याण होगा। और मीमांसकों के इस सिद्धान्त का तत्त्व भी यही है कि यज्ञ करने से बचा हुआ अन्न ग्रहण करनेवाले को 'अमृताशी' कहना चाहिये (गीता ४. ३१)। क्योंकि उनकी दृष्टि से जगत् का धारण-पोषण करनेवाला कर्म ही यज्ञ है। अतएव लोककल्याणकारक कर्म करते समय उसी से अपना निर्वाह होता है और करना भी चाहिये। उनका निश्चय है कि अपने स्वार्थ के लिये यज्ञचक्र को डुबा देना अच्छा नहीं है। दासबोध (१९. ४. १०) में श्रीसमर्थ ने भी वर्णन किया है कि 'वह परोपकार ही करता रहता है, उसकी सब को जरूरत बनी रहती है, ऐसी दशा में उसे भूमण्डल में किस बात की कमी रह सकती है?' व्यवहार की दृष्टि से देखें तो भी काम करनेवाले को जान पड़ेगा कि यह उपदेश बिलकुल यथार्थ है। तात्पर्य, जगत् में देखा जाता है कि लोककल्याण में जुटे रहनेवाले पुरुष का योगक्षेम कभी अटकता नहीं है। केवल परोपकार करने के लिये उसे निष्काम बुद्धि से तैयार रहना चाहिये। एक बार इस भावना के दृढ़ हो जाने पर — कि मैं लोगों में हूँ और मैं सब लोगों में हूँ — फिर यह प्रश्न ही नहीं हो सकता कि परार्थ से स्वार्थ भिन्न है। 'मैं' पृथक् और 'लोग' पृथक्, इस आधिभौतिक द्वैतबुद्धि से 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' करने के लिये जो प्रवृत्त होता है, उसके मन में ऊपर लिखी हुई भ्रामक शंका उत्पन्न हुआ करती है। परन्तु जो [illegible] सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि से परोपकार करने में प्रवृत्त हो [illegible] कि यह शंका ही नहीं रहती। सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि से निष्पन्न होनेवाले [illegible] इस अध्यात्मज्ञान में [illegible] और स्वार्थ एवं परार्थ [illegible] ([illegible]) तत्त्वज्ञान से निष्पन्न होनेवाले लोककल्याण के

आधिभौतिक तत्त्व में इतना ही भेद है, जो ध्यान देने योग्य है। साधुपुरुष मन में लोककल्याण करने का हेतु रख कर लोककल्याण नहीं किया करते। जिस प्रकार प्रकाश फैलाना सूर्य का स्वभाव है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से मन में सर्वभूतात्मैक्य का पूर्ण परिचय हो जाने पर लोककल्याण करना तो इन साधुपुरुषों का सहजस्वभाव हो जाता है। और ऐसा स्वभाव बन जाने पर – सूर्य जैसे दूसरों को प्रकाश देता हुआ अपने आप को भी प्रकाशित कर लेता है – वैसे ही साधुपुरुष के परार्थ उद्योग से ही उसका योगक्षेम भी आप-ही-आप सिद्ध होता जाता है। परोपकार करने के इस देहस्वभाव और अनासक्तबुद्धि के एकत्र हो जाने पर ब्रह्मात्मैक्यबुद्धिवाले साधुपुरुष अपना कार्य सदा जारी रखते हैं। कितने ही संकट क्यों न चले आवें, वे उनकी बिलकुल परवाह नहीं करते। और न यही सोचते हैं कि संकटों का सहना भला है या जिस लोककल्याण की बदौलत ये संकट आते हैं, उसको छोड़ देना भला है! तथा यदि प्रसङ्ग आ जाय तो आत्मबलि देने के लिये भी तैयार रहते हैं। उन्हें उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं होती। किन्तु जो लोग स्वार्थ और परार्थ को दो भिन्न वस्तुएँ समझ (उन्हें तराजू के दो पलड़ों में डाल) काँटे का झुकाव देख कर धर्म-अधर्म का निर्णय करना सीखे हुए हैं, उनकी लोककल्याण करने की इच्छा का इतना तीव्र हो जाना कदापि सम्भव नहीं है। अतएव प्राणिमात्र के हित का तत्त्व यद्यपि भगवद्गीता को सम्मत है, तथापि उसकी उपपत्ति अधिकांश लोगों के अधिक बाहरी सुखों के तारतम्य से नहीं लगाई है। किन्तु लोगों की संख्या अथवा उनके सुखों की न्यूनाधिकता के विचारों को आगन्तुक अतएव कृपण कहा है, तथा शुद्ध व्यवहार की मूलभूत साम्यबुद्धि की उपपत्ति अध्यात्मशास्त्र के नित्य ब्रह्मज्ञान के आधार पर बतलाई है।

इससे दीख पड़ेगा कि प्राणिमात्र के हितार्थ उद्योग करने या लोककल्याण अथवा परोपकार करने की युक्तिसङ्गत उपपत्ति अध्यात्मदृष्टि से क्योंकर लगती है। *अब समाज में एक दूसरे के साथ बर्तने के सम्बन्ध में साम्यदृष्टि की दृष्टि से हमारे* शास्त्रों में जो मूल नियम बतलाये गये हैं, उनका विचार करते हैं। 'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृह. २. ४. १४) – जिसे सर्व आत्ममय हो गया, वह साम्यबुद्धि से ही सब के साथ बर्तता है – यह तत्त्व बृहदारण्यक के सिवा ईशावास्य (६) और कैवल्य (१. १) उपनिषदों में तथा मनुस्मृति (१२. ९१ और १२५) में भी है। एवं इसी तत्त्व का गीता के छठे अध्याय (६. २) में 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' के रूप में अक्षरशः उल्लेख है। सर्वभूतात्मैक्य अथवा साम्यबुद्धि के इसी तत्त्व का रूपान्तर आत्मौपम्यदृष्टि है। क्योंकि इससे सहज ही यह अनुमान निकलता है कि जब मैं प्राणिमात्र में हूँ और मुझमें सभी प्राणी हैं, तब मैं अपने साथ जैसा बर्तता हूँ वैसा ही अन्य प्राणियों के साथ भी मुझे बर्ताव करना चाहिये। अतएव भगवान् ने कहा है कि इस आत्मौपम्यदृष्टि अर्थात् समता से जो सब के साथ बर्तता है, वही उत्तम कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ है;

और फिर अर्जुन को इसी प्रकार का बर्ताव करने का उपदेश दिया है (गीता ६. ९ –१२)। अर्जुन अधिकारी था। इस कारण इस तत्त्व को खोलकर समझाने की गीता में कोई जरूरत न थी। किन्तु साधारण जन की नीति का और धर्म का बोध कराने के लिये रचे हुए महाभारत में अनेक स्थानों पर यह तत्त्व बतला कर (म. भा. शां. २३८. २१; २६१. ३३) व्यासदेव ने इसका गम्भीर और व्यापक अर्थ स्पष्ट कर दिखलाया है। उदाहरण लीजिये; गीता और उपनिषदों में संक्षेप से बतलाये हुए आत्मौपम्य के इसी तत्त्व को पहले इस प्रकार समझाया है –

> आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुषः।
> न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ॥

जो पुरुष अपने ही समान दूसरे को मानता है, और जिसने क्रोध को जीत लिया है, वह परलोक में सुख पाता है (म. भा. अनु. ११३. ६)। परस्पर एक दूसरे के साथ बर्ताव करने के वर्णन को यहीं समाप्त न करके आगे कहा है –

> *न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।*
> एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥

ऐसा बर्ताव औरों के साथ न करे, कि जो स्वयं अपने को प्रतिकूल अर्थात् दुःख-कारक जँचे। यही सब धर्म और नीतियों का सार है, और बाकी सभी व्यवहार लोभमूलक हैं (म. भा. अनु. ११३. ८)। और अन्त में बृहस्पति ने युधिष्ठिर से कहा है –

> प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
> आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥
>
> यथापरः प्रक्रमते परेषु तथा परे प्रक्रमन्तेऽपरस्मिन्।
> तथैव तेषूपमा जीवलोके यथा धर्मो निपुणेनोपदिष्टः ॥

सुख या दुःख, प्रिय या अप्रिय, दान अथवा निषेध – इन सब बातों का अनुमान दूसरों के विषय में वैसा ही करे, जैसा कि अपने विषय में जान पड़े। दूसरों के साथ मनुष्य जैसा बर्ताव करता है, दूसरे भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं। अतएव यही उपमा ले कर इस जगत् में आत्मौपम्य की दृष्टि से बर्ताव करने को सयाने लोगों ने धर्म कहा है (अनु. ११३. ९. १०)। यह "न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः" श्लोक विदुरनीति (उद्यो. ३८. ७२) में भी है; और आगे शान्तिपर्व (१६७. ९) में विदुर ने फिर यही तत्त्व युधिष्ठिर को बतलाया है। परन्तु आत्मौपम्यनियम का यह एक भाग हुआ कि दूसरों को दुःख न दो। क्योंकि जो बात अपने को दुःखदायी है, वही और लोगों को भी दुःखदायी होता है। अब इस पर कदाचित् किसी को यह दीर्घशङ्का हो, कि इससे यह निश्चयात्मक अनुमान कहाँ

निकलता है कि तुम्हें जो सुखदायक जँचे वही औरों को भी सुखदायक है। और इसलिये ऐसे ढँग का बर्ताव करो जो औरों को भी सुखदायक हो। इस शङ्का के निरसनार्थ भीष्म ने युधिष्ठिर को धर्म के लक्षण बतलाते समय इससे भी अधिक खुलासा करके इस नियम के दोनों भागों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है –

> यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
> न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥
> जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
> यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥

अर्थात् हम दूसरों से अपने साथ जैसे बर्ताव का किया जाना पसन्द नहीं करते – यानी अपनी पसन्दगी को समझकर – वैसा बर्ताव हमें भी दूसरों के साथ न करना चाहिये। जो स्वयं जीवित रहने की इच्छा करता है वह दूसरों को कैसे मारेगा? ऐसी इच्छा रखें कि जो हम चाहते हैं, वही और लोग भी चाहते हैं। (शां. २५८. १९, २१)। और दूसरे स्थान पर इसी नियम को बतलाने में इन 'अनुकूल' अथवा 'प्रतिकूल' विशेषणों का प्रयोग न करके किसी प्रकार के आचरण के विषय में सामान्यतः विदुर ने कहा है –

> तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
> तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि॥

इन्द्रियनिग्रह करके धर्म से बर्तना चाहिये और अपने समान ही सब प्राणियों से बर्ताव करे (शां. १६७. ९)। क्योंकि शुकानुप्रश्न में व्यास कहते हैं –

> यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
> य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

जो सदैव यह जानता है कि हमारे शरीर में जितना आत्मा है उतना ही दूसरे के शरीर में भी है। वही अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है (म. भा. शां. २३८. २२)। बुद्ध को आत्मा का अस्तित्व मान्य न था। कम-से-कम उसने यह तो स्पष्ट ही कह दिया है कि आत्मविचार की व्यर्थ उलझन में न पड़ना चाहिये। तथापि उसने – यह बतलाने में कि बौद्ध भिक्षु लोग औरों के साथ कैसा बर्ताव करें' – आत्मौपम्यदृष्टि का यह उपदेश किया है :–

> यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं।
> अत्तानं (आत्मानं) उपमं कत्वा (कृत्वा) न हनेय्य न घातये॥

जैसा मैं वैसे वे, जैसे वे वैसा मैं (इस प्रकार) अपनी उपमा समझ कर न तो (किसी को भी) मारे और न मरवावे (देखो सुत्तनिपात, नालकसुत्त ७)। धम्मपद नाम के दूसरे पाली बौद्धग्रन्थ (धम्मपद १२९ और १३०) में भी इसी

श्लोक का दूसरा चरण दो बार ज्यों-का-त्यों आया है; और तुरन्त ही मनुस्मृति (५.४५) एवं महाभारत (अनु. ११३. ५) इन दोनों ग्रन्थों में पाये जानेवाले श्लोकों का पाली भाषा में इस प्रकार अनुवाद किया गया है –

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो (इच्छन्) पेच्च सो न लभते सुखम्॥

"(अपने समान) सुख की इच्छा करनेवाले दूसरे प्राणियों की जो अपने (अपना) सुख के लिये दण्ड से हिंसा करता है, उसे मरने पर (पेच्च = प्रेत्य) सुख नहीं मिलता" (धम्मपद १३१)। आत्मा के अस्तित्व को न मानने पर भी आत्मौपम्य की यह भाषा जब कि बौद्ध ग्रन्थों में पाई जाती है, तब यह प्रकट ही है कि बौद्ध ग्रन्थकारों ने ये विचार वैदिक धर्मग्रन्थों से लिये हैं। अस्तु; इसका अधिक विचार आगे चल कर करेंगे। ऊपर के विवेचन से दीख पड़ेगा कि जिसकी 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' ऐसी स्थिति हो गई, वह औरों से बर्तने में आत्मौपम्यबुद्धि से ही सदैव काम लिया करता है; और हम प्राचीन काल से समझते चले आ रहे हैं कि ऐसे बर्ताव का यही एक मुख्य नीतितत्त्व है। इसे कोई भी स्वीकार कर लेगा कि समाज में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का निर्णय करने के लिये आत्मौपम्यबुद्धि का यह सूत्र 'अधिकांश लोगों के अधिक हित' वाले आधिभौतिक तत्त्व की अपेक्षा अधिक निर्दोष, निस्सन्दिग्ध, व्यापक, स्वल्प और बिलकुल अपढ़ों की भी समझ में जल्दी आ जाने योग्य है।* धर्म-अधर्मशास्त्र के इस रहस्य ('एष संक्षेपतो धर्मः') अथवा मूलतत्त्व की अध्यात्म दृष्टया जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी कर्म के बाहरी परिणाम पर नजर देनेवाले आधिभौतिकवाद से नहीं लगती। और इसी से धर्म-अधर्मशास्त्र के इस प्रधान नियम को उन पश्चिमी पण्डितों के ग्रन्थों में प्रायः प्रमुख स्थान नहीं दिया जाता कि जो आधिभौतिक दृष्टि से कर्मयोग का विचार करते हैं; और तो क्या, आत्मौपम्यदृष्टि के सूत्र को ताक में रख कर वे समाजबन्धन की उपपत्ति 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' प्रभृति केवल दृश्यतत्त्व से ही लगाने का प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु उपनिषदों में, मनुस्मृति में, गीता में, महाभारत के अन्यान्य प्रकरणों में और केवल बौद्ध धर्म में ही नहीं, प्रत्युत अन्यान्य देशों एवं धर्मों में भी आत्मौपम्य के इस परम नीतितत्त्व का ही सर्वत्र अग्रस्थान दिया हुआ पाया जाता है। यहूदी और क्रिश्चियन धर्मपुस्तकों में जो यह आज्ञा है कि "तू अपने पड़ोसियों

* सूत्र शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जाती है – "अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥" गान के सुभीते के लिये किसी भी मन्त्र में जिन अनर्थक अक्षरों का प्रयोग कर दिया जाता है, उन्हें स्तोभ कहते हैं। सूत्र में ऐसे अनर्थक अक्षर नहीं होते, इसी से इस लक्षण में यह 'अस्तोभ' पद आया है।

पर अपने ही समान प्रीति कर (लेवि १९ १८; मध्यू २२ ३९) यह इसी नियम का रूपान्तर है। ईसा लोग इस सीने का अर्थात् सोनेसरीखा मूल्यवान् नियम कहते हैं। परन्तु आत्मैक्य की उपपत्ति उनके धर्म में नहीं है। ईसा का यह उपदेश भी आत्मौपम्यसूत्र का एक भाग है कि लोगों से तुम अपने साथ जैसा बर्ताव करना पसन्द करते हो उनके साथ तुम्हें स्वयं भी वैसा ही बर्ताव करना चाहिये (मा ७ १२ ल्यू ६ ३१)। और यूनानी तत्त्ववेत्ता अरिस्टॉटल के ग्रन्थ में मनुष्यों के परस्पर बर्ताव करने का यही तत्त्व अक्षरशः बतलाया गया है। अरिस्टॉटल ईसा से कोई तीन सौ वर्ष पहले हो गया। परन्तु इससे भी लगभग दो सौ वर्ष पहले चीनी तत्त्ववेत्ता खंग्-फू-त्से (अंग्रेज़ी अपभ्रंश कान्फ्यूशियस) उत्पन्न हुआ था। इसने आत्मौपम्य का उल्लिखित नियम चीनी भाषा की प्रणाली के अनुसार एक ही शब्द में बतलाया है। परन्तु यह तत्त्व हमारे यहाँ कान्फ्यूशियस से भी बहुत पहले से उपनिषदों (ईश ६ केन १३) में और फिर महाभारत में गीता में एवं पराये को भी आत्मवत् मानना चाहिये (दास १२ १ २२.) इस रीति से साधुसन्तों के ग्रन्थों में विद्यमान है इस लोकोक्ति का भी प्रचार है कि आप बीती सो जग बीती।' यही नहीं; बल्कि इसकी आध्यात्मिक उपपत्ति भी हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने दी है। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि यद्यपि नीतिधर्म का यह सर्वमान्य सूत्र वैदिक धर्म से भिन्न इतर धर्मों में दिया गया हो तो भी इसकी उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। और जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि इस सूत्र की उपपत्ति ब्रह्मात्मैक्यरूप अध्यात्मज्ञान को छोड़ और दूसरे किसी से भी ठीक ठीक नहीं लगती तब गीता के आध्यात्मिक नीतिशास्त्र का अथवा कर्मयोग का महत्त्व पूरा पूरा व्यक्त हो जाता है।

समाज में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार के विषय में 'आत्मौपम्य-बुद्धि' का नियम इतना सुलभ, व्यापक, सुबोध और विश्वतोमुख है कि जब एक बार यह बतला दिया कि प्राणिमात्र में रहनेवाले आत्मा की एकता को पहचान कर आत्मवत् समबुद्धि से दूसरों के साथ बर्तते जाओ तब फिर ऐसे पृथक् पृथक् उपदेश करने की ज़रूरत ही नहीं रह जाती कि लोगों पर दया करो उनकी यथाशक्ति मदद करो; उनका कल्याण करो उन्हें अभ्युदय के मार्ग में लगाओ उन पर प्रीति रखो उनसे ममता न छोड़ो उनके साथ न्याय और समता का बर्ताव करो किसी से धोखा मत दो किसी का द्रव्यहरण अथवा हिंसा न करो किसी से झूठ न बोलो अधिकांश लोगों के अधिक कल्याण करने की बुद्धि मन में रखो अथवा यह समझ कर भाई चारे से बर्ताव करो कि हम सब एक ही पिता की सन्तान हैं। प्रत्येक मनुष्य को स्वभाव से यह सहज ही मालूम रहता है कि मेरा सुखदुःख और कल्याण किस में है? और सांसारिक व्यवहार करने में गृहस्थी की व्यवस्था से इस बात का अनुभव भी उसको होता रहता है कि आत्मा वै पुत्रनामासि। अथवा अर्धं भार्या

शरीरस्य' का भाव समझ कर अपने ही समान स्त्री-पुत्रों पर भी हमें प्रेम करना चाहिये। किन्तु घरवालों पर प्रेम करना आत्मौपम्यबुद्धि सीखने का पहला ही पाठ है। सदा इसी में न लिपटे रह कर घरवालों के बाद इष्टमित्रों, फिर आप्तों, गोत्रजों, ग्रामवासियों, जातिभाइयों, धर्मबन्धुओं और अन्त में सब मनुष्यों अथवा प्राणिमात्र के विषय में आत्मौपम्यबुद्धि का उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपनी आत्मौपम्यबुद्धि अधिक अधिक व्यापक बना कर पहचानना चाहिये, कि जो आत्मा हममें है वही सब प्राणियों में है। और अन्त में इसी के अनुसार बर्ताव भी करना चाहिये – यही ज्ञान की तथा आश्रमव्यवस्था की परमावधि अथवा मनुष्यमात्र के साध्य की सीमा है। आत्मौपम्यबुद्धिरूप सूत्र का अन्तिम और व्यापक अर्थ यही है। फिर आप ही सिद्ध हो जाता है कि इस परमावधि की स्थिति को प्राप्त कर लेने की योग्यता भिन्न भिन्न यज्ञयाग आदि कर्मों से बढ़ती जाती है, ये सभी कर्म चित्तशुद्धिकारक, धर्म्य और अतएव गृहस्थाश्रम में कर्तव्य हैं। यह पहले ही कह आये हैं कि चित्तशुद्धि का ठीक अर्थ स्वार्थबुद्धि का छूट जाना और ब्रह्मात्मैक्य को पहचानना है। एवं इसीलिये स्मृतिकारों ने गृहस्थाश्रम के कर्म विहित माने हैं। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" आदि उपदेश किया है उसका मर्म भी यही है। अध्यात्मज्ञान की नींव पर रचा हुआ कर्मयोगशास्त्र सब से कहता है कि "आत्मा वै पुत्रनामासि" में ही आत्मा की व्यापकता को संकुचित न करके उसकी इस स्वाभाविक व्याप्ति को पहचानो कि "लोको वै अयमात्मा" और इस समझ से बर्ताव किया करो कि "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" – यह सारी पृथ्वी ही बड़े लोगों की घरगृहस्थी है; प्राणिमात्र ही उनका परिवार है। हमारा विश्वास है कि इस विषय में हमारा कर्मयोगशास्त्र अन्यान्य देशों के पुराने अथवा नये किसी कर्मशास्त्र से हारनेवाला नहीं है। यही नहीं, उन सब को अपने पेट में रख कर परमेश्वर के समान "दश अंगुल" बचा रहेगा।

इस पर भी कुछ लोग कहते हैं कि आत्मौपम्यभाव से "वसुधैव कुटुम्बकम्" रूप इतनी बड़ी और व्यापक दृष्टि हो जाने पर हम सिर्फ उन सद्गुणों को ही न खो बैठेंगे कि जिन देशाभिमान, कुलाभिमान और धर्माभिमान आदि सद्गुणों से कुछ वंश अथवा राष्ट्र आजकल उन्नत अवस्था में हैं। प्रत्युत यदि कोई हमें मारने या कष्ट देने आवेगा तो "निर्वैरः सर्वभूतेषु" (गीता ११. [illegible]) गीता के इस वाक्यानुसार उसको दुष्टबुद्धि से उलट कर न मारना हमारा धर्म हो जावेगा (देखो धम्मपद ३३८)। इस से दुष्टों का प्रतिकार न होगा और इस कारण अच्छे बुरे कर्मों में साधु पुरुषों की जान जोखम में पड़ जावेगी। इस प्रकार दुष्टों का दबदबा हो जाने से पूरे समाज अथवा समूचे राष्ट्र का इस से नाश भी हो सकेगा। महाभारत में स्पष्ट ही कहा है कि "न पापे प्रतिपापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत्" (वन. [illegible] ४४) – दुष्ट के साथ दुष्ट न हो जावे, साधुता से बर्ते; परन्तु [illegible] अथवा [illegible] मानने

से वैर कभी नष्ट नहीं होता – न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति। इसके विप रीत जिसका हम पराजय करते हैं वह स्वभाव से ही दुष्ट होने के कारण पराजित होने पर और भी अधिक उपद्रव मचाता रहता है तथा वह फिर बदला लेने का मौका खोजता रहता है – जयो वैरं प्रसृजति। अतएव शान्ति से दुष्ट का निवारण कर देना चाहिये (म भा उद्यो ७१ ५९ और ६१)। भारत का यही श्लोक बौद्ध ग्रन्थों में हैं (देखो धम्मपद ५ और २ १ महावग्ग १ २ एवं ३) और ऐसे ही ईसा ने भी इसी तत्त्व का अनुकरण इस प्रकार किया है 'तू अपने शत्रुओं पर प्रीति कर (मेथ्यू ५ ४४) और कोई एक कनपटी में मारे, तो तू दूसरी भी आगे कर दे (मेथ्यू ५.३९ ल्यू ६ २९)। ईसामसीह से पहले के चीनी तत्त्वज्ञ ला-ओ-त्से का भी ऐसा ही कथन है और भारत की सन्त मण्डली में तो ऐसे साधुओं के इस प्रकार आचरण करने की बहुतेरी कथाएँ भी हैं क्षमा अथवा शान्ति की पराकाष्ठा का उत्कर्ष दिखलानेवाले इन उदाहरणों की पुनीत योग्यता को घटाने का हमारा बिलकुल इरादा नहीं है। इस में कोई सन्देह नहीं कि सत्यसमान ही यह क्षमाधर्म भी अन्त में – अर्थात् समाज की पूर्ण अवस्था में – अपवादरहित और नित्यरूप से बना रहेगा। और बहुत क्या कहें समाज की वर्तमान अपूर्ण अवस्था म भी अनेक अवसरों पर देखा जाता है कि जो काम शान्ति से हो जाता है वह क्रोध से नहीं होता। जब अर्जुन देखने लगा कि दुष्ट दुर्योधन की सहायता करने के लिये कौन कौन आये हैं तब उनमें पितामह और गुरु जैसे पूज्य मनुष्यों पर दृष्टि पड़ते ही उसके ध्यान म यह बात आ गई कि दुर्योधन की दुष्टता का प्रतिकार करने के लिये उन गुरुजनों को शास्त्रों से मारने का दुष्कर कर्म भी मुझे करना पड़ेगा कि जो केवल कर्म में ही नहीं प्रत्युत अर्थ में भी आसक्त हो गये हैं (गीता २ ५)। और इसी से वह कहने लगा कि यद्यपि दुर्योधन दुष्ट हो गया है तथापि न पापे प्रतिपापः स्यात् वाले न्याय से मुझे भी उसके साथ दुष्ट न हो जाना चाहिये। यदि वे मेरी जान भी ले लें, तो भी (गीता १ ४६) मेरा 'निर्वैर अन्तःकरण से चुपचाप बैठे रहना ही उचित है। अर्जुन की इसी शङ्का को दूर करने के लिये गीताशास्त्र की प्रवृत्ति हुई। और यही कारण है कि गीता में इस विषय का जैसा खुलासा किया गया है वैसा और किसी भी धर्मग्रन्थ में नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ बौद्ध और क्रिश्चियन धर्म निर्वैरत्व के तत्त्व को वैदिकधर्म के समान ही स्वीकार तो करते हैं परन्तु उनके धर्मग्रन्थों में स्पष्टतया यह बात कहीं भी नहीं बतलाई है कि (लोकसंग्रह की अथवा आत्मसंरक्षा की भी परवाह न करने वाले) कर्मयोगी संन्यासी पुरुष का व्यवहार – और (बुद्धि के अनासक्त एवं निर्वैर हो जाने पर भी उसी अनासक्त और निर्वैरबुद्धि से सारे बर्ताव करनेवाले) कर्मयोगी का व्यवहार – ये दोनों सर्वांश म एक नहीं हो सकते। इसके विपरीत पश्चिमी नीति शास्त्रवेत्ताओं के आगे यह बन्द पहेली लगी है कि ईसा ने जो निर्वैरत्व का उपदेश

किया है, उसका जगत् की नीति से समुचित मेल कैसे मिलेगा?* और नित्शे नामक आधुनिक जर्मन पण्डित ने अपने ग्रन्थों में यह मत डौंडी के साथ लिखा है कि निर्वैरत्व का यह धर्मतत्त्व गुलामगिरी का और घातक है, एवं इसी को श्रेष्ठ माननेवाले ईसाई धर्म ने यूरोपखण्ड को नामर्द कर डाला है। परन्तु हमारे धर्मग्रन्थों को देखने से ज्ञात होगा कि न केवल गीता को, प्रत्युत मनु को भी यह बात पूर्णतया अवगत और सम्मत थी कि संन्यास और कर्मयोग दोनों धर्ममार्गों में इस विषय में भेद करना चाहिये। क्योंकि मनु ने यह नियम ['क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत्' – क्रोधित होनेवाले पर फिर क्रोध न करो (मनु. ६. ४८)] न गृहस्थधर्म में बतलाया है और न राजधर्म में। बतलाया है केवल यतिधर्म में ही। परन्तु आजकल के टीकाकार इस बात पर ध्यान नहीं देते कि इनमें कौन वचन किस मार्ग का है? अथवा उसका कहाँ उपयोग करना चाहिये? उन लोगों ने संन्यास और कर्ममार्ग दोनों के परस्परविरोधी सिद्धान्तों को गड़बड़ कर डालने की जो प्रणाली डाल दी है, उस प्रणाली से प्रायः कर्मयोग के सच्चे सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कैसा भ्रम पड़ जाता है, इसका वर्णन हम पाँचवें प्रकरण में कर आये हैं। गीता के टीकाकारों की इस भ्रामक पद्धति को छोड़ देने से सहज ही ज्ञात हो जाता है कि भागवतधर्मी कर्मयोगी 'निर्वैर' शब्द का क्या अर्थ करते हैं? क्योंकि ऐसे अवसर पर दुष्ट के साथ कर्मयोगी गृहस्थ को कैसा बर्ताव करना चाहिये, उसके विषय में परम भगवद्भक्त प्रह्लाद ने ही कहा है कि 'तस्मान्नित्यं क्षमा तात। पण्डितैरपवादिता' (म. भा. वन. २८. ८) – हे तात! इसी हेतु चतुर पुरुषों ने क्षमा के लिये सदा अपवाद बतलाये हैं। जो कर्म हमें दुःखदायी हो, वही कर्म करके दूसरों को दुःख न देने का आत्मौपम्यदृष्टि का सामान्य धर्म है तो ठीक; परन्तु महाभारत में निर्णय किया है कि जिस समाज में आत्मौपम्यदृष्टिवाले सामान्य धर्म की जोड़ के इस दूसरे धर्म के – कि हमें भी दूसरे लोग दुःख न दें – पालनेवाले न हों, उस समाज में केवल एक पुरुष ही यदि इस धर्म को पालेगा, तो कोई लाभ न होगा। यह समता शब्द ही दो व्यक्तियों से सम्बद्ध अर्थात् सापेक्ष है। अतएव आततायी पुरुष को मार डालने से जैसे अहिंसा धर्म में बट्टा नहीं लगता, वैसे ही दुष्टों का उचित शासन कर देने से साधुओं की आत्मौपम्यबुद्धि या निर्वैरता में भी कुछ न्यूनता नहीं होती; बल्कि दुष्टों के अन्याय का प्रतिकार कर दूसरों को बचा लेने का श्रेय अवश्य मिल जाता है। जिस परमेश्वर की अपेक्षा किसी की भी बुद्धि अधिक सम नहीं है, जब वह परमेश्वर भी साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने के लिये समय समय पर अवतार ले कर लोकसंग्रह किया करता है (गीता ४. ७ और ८), तब और पुरुषों की बात ही क्या है? यह कहना भ्रमपूर्ण है कि वसुधैव

* See Paulsen's *System of Ethics*, Book III, chap. X (Eng. Trans.) and Nietzche's *Anti-Christ*.

कुछ कम-ज्यादा बुद्धि हो जाने से अथवा फलाशा छोड़ देने से पात्रता-अपात्रता का अथवा योग्यता-अयोग्यता का भेद भी मिट जाना चाहिये। गीता का सिद्धान्त यह है कि कर्म की आशा में ममत्वबुद्धि प्रधान होती है और उसे छोड़े बिना पापपुण्य से छुटकारा नहीं मिलता। किन्तु यदि किसी सिद्ध पुरुष को अपना स्वार्थ साधने की आवश्यकता न हो, तथापि यदि वह किसी अयोग्य आदमी को कोई ऐसी वस्तु ले लेने दे कि जो उसके योग्य नहीं, तो उस सिद्ध पुरुष को अयोग्य आदमियों की सहायता करने का तथा योग्य साधुओं एवं समाज की भी हानि करने का पाप लगे बिना न रहेगा। कुबेर से टक्कर लेनेवाला करोड़पति साहूकार यदि बाजार में तरकारी लेने जाय, तो जिस प्रकार वह हरी धनियाँ की गड्डी की कीमत लाख रुपये नहीं दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्था में पहुँचा हुआ पुरुष किसी भी कार्य का योग्य तारतम्य भूल नहीं जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है; पर समता का यह अर्थ नहीं है कि गाय का चारा मनुष्य को और मनुष्य का भोजन गाय को खिला दे। तथा भगवान ने गीता (१७. २०) में भी कहा है कि जो 'दातव्य' समझ कर सात्त्विक दान करना हो, वह भी 'देशे काले च पात्रे च' अर्थात् देश, काल और पात्रता का विचार कर देना चाहिये। साधु पुरुषों की साम्यबुद्धि के वर्णन में ज्ञानेश्वर महाराज ने उन्हें पृथ्वी की उपमा दी है। इसी पृथ्वी का दूसरा नाम 'सर्वसहा' है; किन्तु यह 'सर्वसहा' भी यदि इसे कोई लात मारे, तो मारनेवाले के पैर के तलवे में उतने ही जोर का धक्का दे कर अपनी समता बुद्धि व्यक्त कर देती है। इससे भली भाँति समझा जा सकता है कि मन में वैर न रहने पर भी (अर्थात् निर्वैर) प्रतिकार कैसे किया जाता है? कर्मविपाक प्रक्रिया में कह आये हैं कि इसी कारण से भगवान भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गी. ४. ११) — जो मुझे जैसे भजते हैं, उन्हें मैं वैसे ही फल देता हूँ — इस प्रकार व्यवहार तो करते हैं, परन्तु फिर भी वैषम्य-नैर्घृण्य दोषों से अलिप्त रहते हैं। इसी प्रकार व्यवहार अथवा कानून-कायदे में भी खूनी आदमी को फाँसी की सजा देनेवाले न्यायाधीश को कोई उसका दुश्मन नहीं कहता। अध्यात्म-शास्त्र का सिद्धान्त है कि जब बुद्धि निष्काम हो कर साम्यावस्था में पहुँच जावे, तब वह मनुष्य अपनी इच्छा से किसी का भी नुकसान नहीं करता। उससे यदि किसी का नुकसान हो ही जाय, तो समझना चाहिये कि वह उसी के कर्म का फल है। इसमें स्थितप्रज्ञ का कोई दोष नहीं; अथवा निष्कामबुद्धिवाला स्थितप्रज्ञ ऐसे समय पर जो काम करता है — फिर देखने में वह मातृवध या गुरुवध सरीखा कितना ही भयङ्कर क्यों न हो — उसके शुभ अशुभ फल का बन्धन अथवा लेप उसको नहीं लगता (देखो गीता ४. १४; ९. २८ और १८. १७)। फौजदारी कानून में आत्मसंरक्षा के जो नियम हैं, वे इसी तत्त्व पर रचे गये हैं। कहते हैं कि जब लोगों ने मनु से राजा होने की प्रार्थना की, तब उन्होंने पहले यह उत्तर दिया कि 'अनाचार से

उसके पूर्व ही इस दूसरे महत्त्व के विशेषण का भी प्रयोग करके – कि 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् मेरे यानी परमेश्वर के प्रीत्यर्थ परमेश्वरार्पणबुद्धि से सारे कर्म करनेवाला – भगवान् ने गीता में निर्वैरत्व और कर्म का भक्ति की दृष्टि से मेल मिला दिया है। इसी से शांकरभाष्य तथा अन्य टीकाओं में भी कहा है कि इस श्लोक में पूरे गीताशास्त्र का निचोड़ आ गया है। गीता में यह कहीं भी नहीं बतलाया कि बुद्धि को निर्वैर करने के लिये या उसके निर्वैर हो चुकने पर भी सभी प्रकार के कर्म छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार प्रतिकार का कर्म निर्वैरत्व और परमेश्वरार्पणबुद्धि से करने पर कर्ता को उसका कोई भी पाप या दोष तो लगता ही नहीं; उलटा प्रतिकार का काम हो चुकने पर जिन दुष्टों का प्रतिकार किया गया है उन्हीं का आत्मौपम्यदृष्टि से कल्याण मानने की बुद्धि भी नष्ट नहीं होती। एक उदाहरण लीजिये; दुष्ट कर्म के कारण रावण को निर्वैर और निष्पाप रामचन्द्र ने मार तो डाला; पर उसकी उत्तर क्रिया करने में भी विभीषण हिचकने लगा तब रामचन्द्र ने उसको समझाया कि –

> मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
> क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

(रावण के मन का) वैर मौत के साथ ही गया। हमारा (दुष्टों का नाश करने का) काम हो चुका। अब यह जैसा तेरा (भाई) है वैसा ही मेरा भी है। इसलिये इसका अग्निसंस्कार कर (वाल्मीकि रा. ६. ११२. २५)। रामायण का यह तत्त्व भागवत (८. १९. १३) में भी एक स्थान पर बतलाया गया है; और अन्यान्य पुराणों में जो ये कथाएँ हैं – कि भगवान् ने जिन दुष्टों का संहार किया, उन्हीं को फिर दयालु हो कर सद्गति दे डाली – उनका रहस्य भी यही है। इन्हीं सब विचारों को मन में ला कर श्रीसमर्थ ने कहा है कि 'उद्धत के लिये उद्धत होना चाहिये।' और महाभारत में भीष्म ने परशुराम से कहा है –

> यो यथा वर्तते यस्मिन् तस्मिन्नेवं प्रवर्तयन्।
> नाधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति॥

"अपने साथ जो जैसा बर्ताव करता है उसके साथ वैसे ही बर्तने से न तो अधर्म (अनीति) होता है और न अकल्याण (म. भा. उद्यो. १७९. ३०)। फिर आगे चल कर शान्तिपर्व के सत्यानृत अध्याय में यही उपदेश युधिष्ठिर को किया है –

> यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
> मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

"अपने साथ जो जैसा बर्ताव करता है उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना धर्मनीति है; मायावी पुरुष के साथ मायावीपन और साधु पुरुष के साथ साधुता का व्यवहार करना चाहिये" (म. भा. शां. १०९. २९ और उद्यो. ३६. ७)। ऐसे ही

(दास १ ९. १२-३१)। क्योंकि, प्रत्येक समय आत्मसंयम के लिये दुष्टों का निग्रह करना भगवान के समान धर्म की दृष्टि से साधुपुरुषों का भी पहला कर्तव्य है। 'साधुता से दुष्टता को जीत ' इस वाक्य में ही पहले यही बात मानी गई है, कि दुष्टता का जीत लेना अथवा उसका निवारण करना साधुपुरुष का पहला कर्तव्य है। फिर उसकी सिद्धि के लिये बतलाया है कि पहले किस उपाय की योजना करें। यदि साधुता से उसका निवारण न हो सकता हो – सीधी अँगुली से घी न निकले – तो जैसे को तैसे बन कर दुष्टता का निवारण करने से हमें हमारे धर्मग्रन्थकार कभी भी नहीं रोकते। वे यह कहीं भी प्रतिपादन नहीं करते कि दुष्टता के आगे साधुपुरुष अपना बलिदान खुशी से किया करें। यह ध्यान रहे कि जो पुरुष अपने बुरे कर्मों से पराए गर्दनें काटने पर उतारू हो गया उसे यह कहने का कोई भी नैतिक हक नहीं रह जाता कि और लोग मेरे साथ साधुता का बर्ताव करें। धर्मशास्त्र में स्पष्ट आज्ञा है (मनु. ८ १९ और १७१) कि इस प्रकार जब साधु पुरुष को कोई असाधु काम लाचारी से करना पड़े तो उसकी जिम्मेदारी शुद्धबुद्धि वाले साधुपुरुषों पर नहीं रहती। किन्तु इसका जिम्मेदार वही दुष्ट पुरुष हो जाता है कि जिसके दुष्ट कर्मों का यह नतीजा है। स्वयं बुद्ध ने देवदत्त का जो शासन किया, उसकी उपपत्ति बौद्ध ग्रन्थकारों ने भी इसी तत्त्व पर लगाई है (देखो मिलिन्द प्र. ४ १ ३०–३४) जड़सृष्टि के व्यवहार में ये आघात-प्रत्याघातरूपी कर्म नित्य और बिलकुल ठीक होते हैं। परन्तु मनुष्य के व्यवहार उसके इच्छाधीन हैं। और ऊपर जिस त्रैलोक्य चिन्तामणि की मात्रा का उल्लेख किया है उसके दुष्टों पर प्रयोग करने का निश्चित विचार जिस धर्मज्ञान से होता है वह धर्मज्ञान भी अत्यन्त सूक्ष्म है। इस कारण विशेष अवसर पर बड़े बड़े लोग भी सचमुच इस दुविधा में पड़ जाते हैं कि जो हम किया चाहते हैं वह योग्य है या अयोग्य? अथवा धर्म्य है या अधर्म्य कि कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः (गीता ४ १६)। ऐसे अवसर पर कोरे विद्वानों की अथवा सदैव थोड़ेबहुत स्वार्थ के पंजे में फँसे हुए पुरुषों की पण्डिताई पर या केवल अपने सार असार-विचार के भरोसे पर कोई काम न कर बैठे बल्कि पूर्ण अवस्था में पहुँचे हुए परमावधि के साधुपुरुष की शुद्धबुद्धि के ही शरण में जा कर उसी गुरु के निर्णय को प्रमाण माने। क्योंकि निरा तार्किक पाण्डित्य जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक निकम्मी। इसी कारण बिना शुद्धबुद्धि के कोरे पाण्डित्य से ऐसे विकट प्रश्नों का भी सच्चा और समाधानकारक निर्णय नहीं होने पाता। अतएव उसको शुद्ध और निष्कामबुद्धिवाला गुरु ही करना चाहिये। जो शास्त्रकार अत्यन्त सर्वमान्य हो चुके हैं उनकी बुद्धि इस प्रकार की शुद्ध रहती है। और यही कारण है जो भगवान् ने अर्जुन से कहा है – तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ (गीता १६ २४) – कार्य अकार्य का निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिये। तथापि यह न भूल जाना चाहिये कि कालमान के

अनुसार श्रेष्ठ [illegible] भाग के साधुपुरुषों को इन धर्मों में भी फ़र्क करने का अधिकार प्राप्त होता रहता है।

निर्वैर और शान्त साधुपुरुषों के आचरण के सम्बन्ध में लोगों की आजकल जो गैरसमझ देखी जाती है, उसका कारण यह है कि कर्मयोगमार्ग प्रायः लुप्त हो गया है और सारे संसार ही को त्याज्य माननेवाले संन्यासमार्ग का चारों ओर दौरदौरा हो गया है। गीता का यह उपदेश अथवा उद्देश भी नहीं है कि निर्वैर होने से निष्प्रतिकार भी होना चाहिये। जिसे लोकसंग्रह की परवाह ही नहीं है, उसे जगत् में दुष्टों की उपेक्षा करे तो – और न करे तो – करना ही क्या है? उसकी जान रहे, चाहे चली जाय; सब एक ही सा है। किन्तु पूर्णावस्था में पहुँचे हुए कर्मयोगी प्राणिमात्र में आत्मा की एकता को पहचान कर यद्यपि सभी के साथ निर्वैरता का व्यवहार किया करें, तथापि अनासक्तबुद्धि से पात्रता अपात्रता का सार असार विचार करके स्वधर्मानुसार प्राप्त हुए कर्म करने में वे कभी नहीं चूकते। और कर्मयोग कहता है कि इस रीति से किये हुए कर्म कर्ता की साम्यबुद्धि में कुछ न्यूनता नहीं आने देते। गीताधर्मप्रतिपादित कर्मयोग के इस तत्त्व को मान लेने पर कुलाभिमान और देशाभिमान आदि कर्तव्यधर्मों की भी कर्मयोगशास्त्र के अनुसार योग्य उपपत्ति लगाई जा सकती है। यद्यपि यह अन्तिम सिद्धान्त है कि समस्त मानवजाति का – प्राणिमात्र का – जिससे हित होता हो वही धर्म है; तथापि परमावधि की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये कुलाभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदि चढ़ती हुई सीढ़ियों की आवश्यकता तो कभी भी नष्ट होने की नहीं। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिये जिस प्रकार सगुणोपासना आवश्यक है, उसी प्रकार – 'वसुधैव कुटुम्बकम्' – की ऊँची बुद्धि पाने के लिये कुलाभिमान, जात्यभिमान और देशाभिमान आदि की आवश्यकता है। एवं समाज की प्रत्येक पीढ़ी इसी जीने से ऊपर चढ़ती है। इस कारण इसी जीने को सदा ही स्थिर रखना पड़ता है। ऐसे ही जब अपने आसपास के लोग अथवा अन्य राष्ट्र नीचे की सीढ़ी पर हों, तब यदि कोई एक आध मनुष्य अथवा कोई राष्ट्र चाहे कि मैं अकेला ही ऊपर की सीढ़ी पर ठहरा रहूँ, तो यह कदापि हो नहीं सकता। क्योंकि ऊपर कहा ही जा चुका है कि परस्पर व्यवहार में 'जैसे को तैसा' न्याय से ऊपर ऊपर की श्रेणीवालों को नीचे नीचे की श्रेणीवाले लोगों के अन्याय का प्रतिकार करना विशेष प्रसङ्ग पर आवश्यक रहता है। इसमें कोई शङ्का नहीं कि सुधरते सुधरते जगत् के सभी मनुष्यों की स्थिति एक दिन ऐसी ज़रूर हो जावेगी कि वे प्राणिमात्र में आत्मा की एकता को पहचानने लगें; अन्त में मनुष्यमात्र की ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेने की आशा रखना कुछ अनुचित भी नहीं है। परन्तु आत्मोन्नति की परमावधि की यह स्थिति जब तक सब को प्राप्त हो नहीं गई है, तब तक अन्यान्य राष्ट्रों अथवा समाजों की स्थिति पर ध्यान दे कर साधुपुरुष देशाभिमान आदि धर्मों का ही ऐसा उपदेश देते रहें कि जो अपने [illegible]

अपने समाजों का उन उन समयों में भयङ्कर हो। इसके अतिरिक्त इस दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि मञ्जिल पर मञ्जिल तयारी करके इमारत बन जाने पर जिस प्रकार नीचे के हिस्से निकाल डाले नहीं जा सकते अथवा जिस प्रकार तलवार हाथ में आ जाने से कुल्हाड़ी की या सूर्य होने से अग्नि की आवश्यकता बनी ही रहती है उसी प्रकार सर्वभूतहित की अन्तिम सीमा पर पहुँच जाने पर भी न केवल देशाभिमान की वरन कुलाभिमान की भी आवश्यकता बनी ही रहती है। क्योंकि समाजसुधार की दृष्टि से देखें तो कुलाभिमान जो विशेष काम करता है वह निरे देशाभिमान से नहीं होता और देशाभिमान का कार्य निरी सर्वभूतात्मैक्यदृष्टि से सिद्ध नहीं होता। अर्थात् समाज की पूर्ण अवस्था में भी साम्यबुद्धि के ही समान देशाभिमान और कुलाभिमान आदि धर्मों की भी सदैव जरूरत रहती ही है। किन्तु केवल अपने ही देश के अभिमान को परमसाध्य मान लेने से जैसे एक राष्ट्र अपने लाभ के लिये दूसरे राष्ट्र का मनमाना नुकसान करने के लिये तैयार रहता है वैसी बात सर्वभूतहित को परमसाध्य मानने से नहीं होती। कुलाभिमान देशाभिमान और अन्त में पूरी मनुष्यजाति के हित में यदि विरोध आने लगे तो साम्यबुद्धि से परिपूर्ण नीतिधर्म का यह महत्त्वपूर्ण और विशेष कथन है कि उच्च श्रेणी के धर्मों की सिद्धि के लिये निम्न श्रेणी के धर्मों को छोड़ दे। विदुर ने धृतराष्ट्र को उपदेश करते हुए कहा है कि युद्ध में कुल का क्षय हो जावेगा। अतः दुर्योधन की टेक रखने के लिये पाण्डवों को राज्य का भाग न देने की अपेक्षा यदि दुर्योधन न सुने तो उसे (मरता मरे ही हो) – अकेले को छोड़ देना ही उचित है; और इसके समर्थन में यह श्लोक कहा है –

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

कुल के (बचाव के) लिये एक व्यक्ति को, गाँव के लिये कुल को और पूरे लोकसमूह के लिये गाँव को, एवं आत्मा के लिये पृथ्वी को छोड़ दे (म. भा. आदि ११५. ३८; सभा ६१. ११)। इस श्लोक के पहले और तीसरे चरण का तात्पर्य वही है कि जिसका उल्लेख किया गया है; और चौथे चरण में आत्मरक्षा का तत्त्व बतलाया गया है। 'आत्म' शब्द सामान्य सर्वनाम है। इससे यह आत्मरक्षा का तत्त्व जैसे एक व्यक्ति को उपयुक्त होता है वैसे ही एकत्रित लोकसमूह को, जाति को अथवा राष्ट्र को भी उपयुक्त होता है। और कुल के लिये एक पुरुष का, ग्राम के लिये कुल को एवं देश के लिये ग्राम को छोड़ देने की क्रमशः चढ़ती हुई इस प्राचीन प्रणाली पर जब हम ध्यान देते हैं तब स्पष्ट दीख पड़ता है कि 'आत्म' शब्द का अर्थ इन सब की अपेक्षा इस स्थल पर अधिक महत्त्व का है। फिर भी कुछ मतलबी या शास्त्र न जाननेवाले लोग इस चरण का कभी कभी विपरीत अर्थात् निरा स्वार्थप्रधान अर्थ किया करते हैं अतएव यहाँ कह देना चाहिये कि आत्मरक्षा का यह तत्त्व आत्मसमर्पण का

नहीं है। क्योंकि जिन शास्त्रकारों ने निरे स्वार्थसाधु चार्वाकपन्थ को राक्षसी बतलाया है (गी. अ. १६) सम्भव नहीं है कि वे ही स्वार्थ के लिये किसी से भी जगत् को डुबाने के लिये कहें। ऊपर के श्लोक में 'अर्थ' शब्द का अर्थ सिर्फ स्वार्थप्रधान नहीं है। किन्तु 'संकट आने पर उसके निवारणार्थ' ऐसा करना चाहिये। और कोशकारों ने भी यह अर्थ किया है। आपमतलबीपन और आत्मरक्षा में बड़ा भारी अन्तर है। कामोपभोग की इच्छा अथवा लोभ से अपना स्वार्थ साधने के लिए दुनिया का नुकसान करना आपमतलबीपन है। यह अमानुषी और निन्द्य है। उक्त श्लोक के प्रथम तीन चरणों में कहा है कि एक के हित की अपेक्षा अनेकों के हित पर सदैव ध्यान देना चाहिये। तथापि प्राणिमात्र में एक ही आत्मा रहने के कारण प्रत्येक मनुष्य को इस जगत् में सुख से रहने का एक ही सा नैसर्गिक अधिकार है। और इस सर्वमान्य महत्त्व के नैसर्गिक स्वत्व की ओर दुर्लक्ष्य कर जगत् के किसी भी एक व्यक्ति की या समाज की हानि करने का अधिकार दूसरे किसी व्यक्ति या समाज को नीति की दृष्टि से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता – फिर चाहे वह समाज बल और संख्या में कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो? अथवा उसके पास छीना झपटी करने के साधन दूसरों से अधिक क्यों न हों? यदि कोई इस युक्ति का अवलम्बन करे, कि एक की अपेक्षा अथवा थोड़ों की अपेक्षा बहुतों का हित अधिक योग्यता का है। और इस युक्ति से संख्या में अधिक बढ़े हुए समाज के स्वार्थी बर्ताव का समर्थन करे तो यह युक्तिवाद केवल राक्षसी समझा जावेगा। इस प्रकार दूसरे लोग यदि अन्याय से बर्तने लगें तो बहुतेरों के या क्या सारी पृथ्वी के हित की अपेक्षा भी आत्मरक्षा अर्थात् अपने बचाव का नैतिक हक और भी अधिक सबल हो जाता है। यही उक्त चौथे चरण का भावार्थ है। और पहले तीन चरणों में जिस अर्थ का वर्णन है उसी के लिये महत्त्वपूर्ण अपवाद के नाते इसे साथ ही कह दिया है। इसके सिवा यह भी देखना चाहिये कि यदि हम स्वयं जीवित रहेंगे तो लोककल्याण भी कर सकेंगे। अतएव लोकहित की दृष्टि से विचार करें तो भी विश्वामित्र के समान यही कहना पड़ता है कि 'जीवन् भद्रशतानि पश्यति' – जियेगा तो भला भी करेगा। अथवा कालिदास के अनुसार यही कहना पड़ता है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' (कुमा. ५. ३३) – शरीर ही सब धर्मों का मूलसाधन है; या मनु के कथनानुसार कहना पड़ता है कि 'आत्मानं सततं रक्षेत्' – स्वयं अपनी रक्षा सदा करनी चाहिये। यद्यपि आत्मरक्षा का हक सारे जगत् के हित की अपेक्षा इस प्रकार श्रेष्ठ है, तथापि दूसरे प्रकरण में कह आये हैं कि कुछ अवसरों पर कुल के लिये, ग्राम के लिये, देश के लिये अथवा परोपकार के लिये स्वयं अपनी ही इच्छा से सत्पुरुष अपनी जान दे देते हैं। उक्त श्लोक के पहले तीन चरणों में यही तत्त्व वर्णित है। ऐसे प्रसंग पर मनुष्य आत्मरक्षा के अपने श्रेष्ठ स्वत्व को भी स्वयं राजी से छोड़ दिया करता है। और ऐसे काम की नैतिक योग्यता भी सब में

श्रेष्ठ समझी जाती है। तथापि अचूक यह निश्चय कर देने के लिये – कि ऐसे अवसर कब उत्पन्न होते हैं – निरा पाण्डित्य या तर्कशक्ति पूर्ण समर्थ नहीं है। इसलिये धृतराष्ट्र के उल्लिखित कथानक से यह बात प्रकट होती है कि विचार करनेवाले मनुष्य का अन्तःकरण पहले से ही शुद्ध और सम रहना चाहिये। महाभारत में ही कहा है, कि धृतराष्ट्र की बुद्धि इतनी मन्द न थी कि वे विदुर के उपदेश को समझ न सकें। परन्तु पुत्रप्रेम उनकी बुद्धि को सम होने क्यों देता था? कुबेर को जिस प्रकार लाख रुपये की कभी कमी नहीं पड़ती उसी प्रकार जिसकी बुद्धि एक बार सम हो चुकी उसे कुटुम्बात्मैक्य देशात्मैक्य या धर्मात्मैक्य आदि निम्न श्रेणी की एकताओं का कभी टोटा पड़ता ही नहीं है। ब्रह्मात्मैक्य में इन सब का अन्तर्भाव हो जाता है। फिर देशधर्म आदि संकुचित धर्मों का अथवा सर्वभूतहित के व्यापक धर्म का – अर्थात् इनमें से जिस जिसकी स्थिति के अनुसार अथवा आत्मरक्षा के निमित्त जिस समय में जिसे जो धर्म श्रेयस्कर हो उसको उसी धर्म का – उपदेश करके जगत् के धारण-पोषण का काम साधु लोग करते रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मानवजाति की वर्तमान में देशाभिमान ही मुख्य सद्गुण हो रहा है और सुधरे हुए राष्ट्र भी इन विचारों और तैयारियों में अपने ज्ञान का, कुशलता का और द्रव्य का उपयोग किया करते हैं कि पास-पड़ोस के शत्रुदेशीय बहुत-से लोगों को प्रसङ्ग पड़ने पर थोड़े ही समय में हम क्या कर जानसे मार सकेंगे। किन्तु स्पेन्सर और कॉन्ट प्रभृति पण्डितों ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट रीति से कह दिया है कि केवल इसी एक कारण से देशाभिमान को ही नीतिदृष्ट्या मानवजाति का परमसाध्य मान नहीं सकते। और यदि आक्षेप इन लोगों के प्रतिपादित तत्त्व पर हो नहीं सकता, वही आक्षेप हम नहीं समझते कि अध्यात्मदृष्ट्या प्राप्त होनेवाले सर्वभूतात्मैक्यरूप तत्त्व पर ही कैसे हो सकता है। जैसे बच्चे के कपड़े उसके शरीर के ही अनुसार – बहुत हुआ तो जरा कुशादह अधिक बाढ़ के लिये गुंजाइश रख कर – वैसे ब्योंतवाना पड़ते हैं, वैसे ही सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि की भी बात है। समाज हो या व्यक्ति, सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि से उसके आगे जो साध्य रखना है वह उसके अधिकार के अनुरूप अथवा उसकी अपेक्षा जरा-सा और आगे का होगा, तभी वह उसका श्रेयस्कर हो सकता है। उसके सामर्थ्य की अपेक्षा बहुत अच्छी बात उससे एकदम करने के लिये कहा जाय तो इससे उसका कल्याण कभी न हो सकेगा। परब्रह्म की कोई सीमा न होने पर भी उपनिषदों में उसकी उपासना की क्रम क्रम से चढ़ती हुई सीढ़ियाँ लगाने का यही कारण है और जिस समाज में सभी स्थितप्रज्ञ हों वहाँ क्षात्रधर्म की जरूरत न हो, तो भी जगत् के अन्यान्य समाजों की तत्कालीन स्थिति पर ध्यान दे करके आत्मसंरक्षण में समर्थ रहने के हेतु ही हमारे धर्मशास्त्र की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में क्षात्रधर्म का संग्रह किया गया है। यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने अपने ग्रन्थ में जिस समाजव्यवस्था को अत्यन्त उत्तम बतलाया है, उसमें भी निरन्तर के अभ्यास से युद्धकला में प्रवीण

कर्मों का समावेशक के नाते प्रमुखता दी है। इससे स्पष्ट ही दीख पड़ेगा कि तत्त्वज्ञानी लोग परमावधि के शुद्ध और उच्च स्थिति के विचारों में ही डूबे क्यों न रहा करें परन्तु वे तत्कालीन अपूर्ण समाजव्यवस्था का विचार करने से भी कभी नहीं चूकते।

ऊपर की सब बातों का इस प्रकार विचार करने से ज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में यह सिद्ध होता है कि वह परमार्थैक्यज्ञान से अपनी बुद्धि को निर्विषय शान्त और प्राणिमात्र में निर्वैर तथा सम रखे। इस स्थिति को पा जाने से सामान्य अज्ञानी लोगों के विषय में उकताये नहीं। स्वयं सारे संसारी कर्मों का त्याग कर, यानी कर्म-संन्यास आश्रम को स्वीकार करके इन लोगों की बुद्धि को न बिगाड़े। देश-काल और परिस्थिति के अनुसार जिन्हें जो योग्य हो, उसी का उन्हें उपदेश देवें अपने निष्काम कर्तव्य-आचरण से सद्व्यवहार का अधिकारानुसार प्रत्यक्ष आदर्श दिखला कर, सब को धीरे धीरे यथासम्भव शान्ति से किन्तु उत्साहपूर्वक उन्नति के मार्ग में लगावें। बस; यही ज्ञानी पुरुष का सच्चा धर्म है। समय-समय पर अवतार ले कर भगवान् भी यही काम किया करते हैं और ज्ञानी पुरुष को भी यही आदर्श मान, फल पर ध्यान न देते हुए जगत् का अपना कर्तव्य शुद्ध अर्थात् निष्कामबुद्धि से सदैव यथाशक्ति करते रहना चाहिये। गीताशास्त्र का सारांश यही है कि इस प्रकार के कर्तव्यपालन में यदि मृत्यु भी आ जाय तो बड़े आनन्द से उसे स्वीकार कर लेना चाहिये (गी. ३. ३५) – अपने कर्तव्य अर्थात् धर्म को न छोड़ना चाहिये। इस ही स्वधर्माचरण अथवा कर्मयोग कहते हैं। न केवल वेदान्त ही, वरन उसके आधार पर साथ-ही साथ कर्म अकर्म का ऊपर लिखा हुआ ज्ञान भी जब गीता में बतलाया गया तभी तो पहले युद्ध छोड़ कर भीख माँगने की तैयारी करनेवाला अर्जुन आगे चल कर स्वधर्म अनुसार युद्ध करने के लिये – सिर्फ इसीलिये नहीं कि भगवान् कहते हैं वरन अपनी राजी से – प्रवृत्त हो गया। स्थितप्रज्ञ की साम्यबुद्धि का यही तत्त्व कि जिसका अर्जुन को उपदेश हुआ है कर्मयोगशास्त्र का मूल आधार है। अतः इसी को प्रमाण मान इसके आधार से हमने बतलाया है कि पराकाष्ठा की नीतिमत्ता की उत्पत्ति क्योंकर होती है। हमने इस प्रकरण में कर्मयोगशास्त्र की इन मोटी मोटी बातों का संक्षिप्त निरूपण किया है कि आत्मौपम्यदृष्टि से समाज में परस्पर एक-दूसरे के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये जैसे का तैसा वाले न्याय से अथवा पात्रता-अपात्रता के कारण सब से एक-एक रूप नीतिधर्म में कौन-से भेद होते हैं; अथवा अपूर्ण अवस्था के समाज में बर्तनेवाले साधुपुरुष को भी अपवादात्मक नीतिधर्म क्यों स्वीकार करने पड़ते हैं। इन्हीं युक्तियों का न्याय परोपकार, दान, दया, अहिंसा, सत्य और अस्तेय आदि नित्य धर्मों के विषय में उपयोग किया जा सकता है। आजकल की अपूर्ण समाजव्यवस्था में यह दिखलाने के लिये – कि प्रसङ्ग के अनुसार इन नीतिधर्मों में कहाँ और कौन-सा फ़र्क करना ठीक होगा – यदि इन बातों में से प्रत्येक पर एक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जाय तो भी यह विषय समाप्त

न होगा और यह भगवद्गीता का मुख्य उपदेश भी नहीं है। इस ग्रन्थ के दूसरे ही प्रकरण में इसका दिग्दर्शन करा आये हैं कि अहिंसा और सत्य, सत्य और आत्मरक्षा, आत्मरक्षा और शान्ति आदि में परस्पर विरोध हो कर विशेष प्रसङ्ग पर कर्तव्य-अकर्तव्य का सन्देह उत्पन्न हो जाता है। यह निर्विवाद है कि ऐसे अवसर पर साधुपुरुष नीतिधर्म, लोकयात्रा-व्यवहार, स्वार्थ और सर्वभूतहित आदि बातों का तारतम्य-विचार करके फिर कार्य-अकार्य का निर्णय किया करते हैं; और महाभारत में श्येन ने शिबि राजा को यह बात स्पष्ट ही बतला दी है। सिज्विक नामक अंग्रेज ग्रन्थकार ने अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ में इसी अर्थ का विस्तार-सहित वर्णन अनेक उदाहरण ले कर किया है। किन्तु कुछ पश्चिमी पण्डित इतने ही से यह अनुमान करते हैं कि स्वार्थ और परार्थ के सार असार का विचार करना ही नीति-निर्णय का तत्त्व है। परन्तु इस तत्त्व को हमारे शास्त्रकारों ने कभी मान्य नहीं किया है। क्योंकि हमारे शास्त्रकारों का कथन है कि यह सार असार का विचार अनेक बार इतना सूक्ष्म और अनैकान्तिक, अर्थात् अनेक अनुमान निष्पन्न कर देनेवाला होता है कि यदि यह साम्यबुद्धि 'जैसा मैं वैसा दूसरा' – पहले से ही मन में सोलहो आने जमी हुई न हो, तो कोरे तार्किक सार-असार के विचार से कर्तव्य-अकर्तव्य का सदैव अचूक निर्णय होना सम्भव नहीं है। और फिर ऐसी घटना हो जाने की भी सम्भावना रहती है कि 'मोर नाचता है इसलिये मोरनी भी नाचने लगती है।' अर्थात् 'देखादेखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग' इस लोकोक्ति के अनुसार ढोंग फैल सकेगा और समाज की हानि होगी। मिल प्रभृति उपयुक्ततावादी पश्चिमी नीतिशास्त्रज्ञों के उपपादन में यही तो मुख्य अपूर्णता है। गरुड़ झपट कर पञ्जे से मेमने को आकाश में उठा ले जाता है इसलिये देखा देखी यदि कौवा भी ऐसा ही करने लगे तो धोखा खाये बिना न रहेगा। इसी लिये गीता कहती है कि साधुपुरुषों की निरी ऊपरी युक्तियों पर ही अवलम्बित मत रहो। अन्तःकरण में सदैव जाग्रत रहनेवाली साम्यबुद्धि की ही अन्त में शरण लेनी चाहिये। क्योंकि कर्मयोगशास्त्र की सच्ची जड़ साम्यबुद्धि ही है। अर्वाचीन आधिभौतिक पण्डितों में से कोई स्वार्थ को तो कोई परार्थ अर्थात् 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' को नीति का मूलतत्त्व बतलाते हैं। परन्तु हम चौथे प्रकरण में यह दिखला आये हैं कि कर्म के केवल बाहरी परिणामों को उपयोगी होनेवाले इन तत्त्वों से सर्वत्र निर्वाह नहीं होता। इसका विचार भी अवश्य ही करना पड़ता है कि कर्ता की बुद्धि कहाँ तक शुद्ध है। कर्म के बाह्य परिणामों के सार असार का विचार करना चतुराई का और दूरदर्शिता का लक्षण है सही, परन्तु दूरदर्शिता और नीति दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। इसी से हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि निरे बाह्यकर्म के सार-असार-विचार की इस कोरी व्यापारी क्रिया में सद्वर्तन का सच्चा बीज नहीं है; किन्तु साम्यबुद्धिरूप परमार्थ ही नीति का

मूल आधार है। मनुष्य की अर्थात् जीवात्मा की पूर्ण अवस्था का योग्य विचार करें, तो भी उक्त सिद्धान्त ही करना पड़ता है। लोभ से किसी को लूटने में बहुतेरे आदमी होशियार होते हैं। परन्तु इस बात के जानने योग्य कोरे ज्ञान को ही – कि यह होशियारी अथवा अधिकांश लोगों का अधिक सुख काहे में है – इस जगत् में प्रत्येक मनुष्य का परम साध्य कोई भी नहीं कहता। जिसका मन या अन्तःकरण शुद्ध है वही पुरुष उत्तम कहलाने योग्य है। और तो क्या यह भी कह सकते हैं कि जिसका अन्तःकरण निर्मल निर्वैर और शुद्ध नहीं है वह यदि बाह्यकर्मों के दिखाऊ बर्ताव में पड़ कर तदनुसार करे तो उस पुरुष के ढोंगी बन जाने की भी सम्भावना है (देखो गीता ३. ६)। परन्तु कर्मयोगशास्त्र में साम्यबुद्धि को प्रमाण मान लेने से यह दोष नहीं रहता। साम्यबुद्धि को प्रमाण मान लेने से कहना पड़ता है कि कठिन आने पर धर्माधर्म का निर्णय कराने के लिये ज्ञानी साधुपुरुषों की ही शरण में जाना चाहिये। कोई भयङ्कर रोग होने पर जिस प्रकार बिना वैद्य की सहायता के उसके निदान और उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती उसी प्रकार धर्म अधर्म-निर्णय के विकट प्रसङ्ग पर यदि कोई सत्पुरुषों की मदद न ले और यह अभिमान रखे कि मैं 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' वाले एक ही साधन से धर्म-अधर्म का अचूक निर्णय आप ही कर लूँगा तो उसका यह प्रयत्न व्यर्थ होगा। साम्यबुद्धि को बढ़ाते रहने का अभ्यास प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये। और इस क्रम से संसार भर के मनुष्यों की बुद्धि जब पूर्ण साम्य अवस्था में पहुँच जावेगी तभी सत्ययुग की प्राप्ति होगी तथा मनुष्यजाति का परम साध्य प्राप्त होगा अथवा पूर्ण अवस्था सब को प्राप्त हो जावेगी। कार्य अकार्य शास्त्र की प्रवृत्ति भी इसी लिये हुई है और इसी कारण उसकी इमारत को भी साम्यबुद्धि की ही नींव पर खड़ा करना चाहिये। परन्तु इतनी दूर न जा कर यदि नीतिमत्ता की केवल लौकिक कसौटी की दृष्टि से ही विचार करें तो भी गीता का साम्यबुद्धिवाला पक्ष ही पाश्चात्य आधिभौतिक या आधिदैविक पन्थ की अपेक्षा अधिक योग्यता का और मार्मिक सिद्ध होता है। यह बात आगे पन्द्रहवें प्रकरण में की गयी तुलनात्मक परीक्षा से स्पष्ट मालूम हो जायगी परन्तु गीता के तात्पर्य के निरूपण का जो एक महत्त्वपूर्ण भाग अभी शेष है उसे ही पहले पूरा कर लेना चाहिये।

तेरहवाँ प्रकरण

भक्तिमार्ग

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥*
>
> —गीता १८.६६

अब तक अध्यात्मदृष्टि से इन बातों का विचार किया गया है, कि सर्वभूतात्मैक्यरूपी निष्काम-बुद्धि ही कर्मयोग की और मोक्ष की भी जड़ है; यह शुद्ध बुद्धि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से प्राप्त होती है; और इसी शुद्ध बुद्धि से प्रत्येक मनुष्य को अपने जन्मभर स्वधर्मानुसार प्राप्त हुए कर्तव्य-कर्मों का पालन करना चाहिये। परन्तु इतने ही से भगवद्गीता में प्रतिपाद्य विषय का विवेचन पूरा नहीं होता। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ही केवल सत्य और अन्तिम साध्य है, तथा 'उसके समान इस संसार में दूसरी कोई भी वस्तु पवित्र नहीं है' (गीता ४.३८), तथापि अब तक उसके विषय में जो विचार किया गया, और उसकी सहायता से साम्यबुद्धि प्राप्त करने का जो मार्ग बतलाया गया है, वह सब बुद्धिगम्य है। इसलिये सामान्य जनों को शंका है कि उस विषय को पूरी तरह से समझने के लिये प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि इतनी तीव्र कैसे हो सकती है? और यदि किसी मनुष्य की बुद्धि तीव्र न हो, तो क्या उसको ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से हाथ धो बैठना चाहिये? सच कहा जाय, तो यह शंका भी कुछ अनुचित नहीं दीख पड़ती। यदि कोई कहे – "जब कि बड़े बड़े ज्ञानी पुरुष भी विनाशी नामरूपात्मक माया से आच्छादित तुम्हारे अमृतस्वरूपी परब्रह्म का वर्णन करते समय 'नेति नेति' कह कर चुप हो जाते हैं, तब हमारे समान साधारण जनों की समझ में वह कैसे आवे? इसलिये हमें कोई ऐसा सरल उपाय या मार्ग बतलाओ, जिससे तुम्हारा यह गहन ब्रह्मज्ञान हमारी अल्प ग्रहणशक्ति से समझ में आ जावे" – तो इसमें उसका क्या दोष है? गीता और कठोपनिषद् (गीता २.२९; क. २.७) में कहा है कि आश्चर्यचकित हो कर आत्मा (ब्रह्म) का वर्णन करनेवाले तथा सुननेवाले बहुत हैं, तो भी किसी को उसका ज्ञान नहीं होता। श्रुति ग्रन्थों में इस विषय पर एक बोधदायक कथा भी है। उसमें यह वर्णन है कि जब बाष्कलि ने बाह्व से कहा "हे महाराज! मुझे कृपा कर बतलाइये कि ब्रह्म किसे कहते हैं,

---

* सब प्रकार के धर्मों को यानी परमेश्वरप्राप्ति के साधनों को छोड़ मेरी ही शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत। इस श्लोक के अर्थ का विवेचन इस प्रकरण के अन्त में किया है, सो देखिये।

तब बाह्व कुछ भी नहीं बोले। बाष्कलि ने फिर वही प्रश्न किया, तो भी बाह्व चुप ही रहे। जब ऐसा ही चार-पाँच बार हुआ, तब बाह्व ने बाष्कलि से फिर कहा, अरे! मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर तभी से दे रहा हूँ, परन्तु तेरी समझ में नहीं आता – मैं क्या करूँ? ब्रह्मस्वरूप किसी प्रकार बतलाया नहीं जा सकता। इसलिये शान्त होना अर्थात् चुप रहना ही सच्चा ब्रह्मलक्षण है। समझा? (वे. सू. शां. भा. ३. २. १७)। सारांश, जिस दृश्यसृष्टिविलक्षण, अनिर्वाच्य और अचिन्त्य परब्रह्म का यह वर्णन है – कि वह मुँह बन्द कर बतलाया जा सकता है, आँखों से दिखाई न देने पर उसे देख सकते हैं और समझ में न आने पर वह मालूम होने लगता है (केन. २. ११) – उसको साधारण बुद्धि के मनुष्य कैसे पहचान सकेंगे और उसके द्वारा साम्यावस्था प्राप्त हो कर उनको सद्गति कैसे मिलेगी? जब परमेश्वरस्वरूप का अनुभवात्मक और यथार्थ ज्ञान ऐसा होवे, कि सब चराचरसृष्टि में एक आत्मा प्रतीत होने लगे, तभी मनुष्य की पूरी उन्नति होगी; और ऐसी उन्नति कर लेने के लिये तीव्र बुद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही न हो, तो संसार के लाखों-करोड़ों मनुष्यों को ब्रह्मप्राप्ति की आशा छोड़ चुपचाप बैठे रहना होगा! क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्यों की संख्या हमेशा कम रहती है। यदि यह कहें कि बुद्धिमान् लोगों के कथन पर विश्वास रखने से हमारा काम चल जायगा, तो उनमें भी कई मतभेद दिखाई देते हैं; और यदि यह कहें, कि विश्वास रखने से काम चल जाता है, तो यह बात आप-ही-आप सिद्ध हो जाती है कि इस गहन ज्ञान की प्राप्ति के लिये 'विश्वास अथवा श्रद्धा रखना' भी बुद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग है। सच पूछो तो यही दीख पड़ेगा, कि ज्ञान की पूर्ति अथवा फलद्रूपता श्रद्धा के बिना नहीं होती। यह कहना – कि सब ज्ञान केवल बुद्धि ही से प्राप्त होता है, उसके लिये किसी अन्य मनोवृत्ति की सहायता आवश्यक नहीं – उन पण्डितों का वृथाभिमान है, जिनकी बुद्धि केवल तर्कप्रधान शास्त्रों का जन्म भर अध्ययन करने से कर्कश हो गई है। उदाहरण के लिये यह सिद्धान्त लीजिये, कि कल सबेरे फिर सूर्योदय होगा। हम लोग इस सिद्धान्त के ज्ञान को अत्यन्त निश्चित मानते हैं। क्यों? उत्तर यही है, कि हमने और हमारे पूर्वजों ने इस क्रम को हमेशा अखण्डित देखा है। परन्तु कुछ अधिक विचार करने से मालूम होगा, कि 'हमने अथवा हमारे पूर्वजों ने अब तक प्रतिदिन सबेरे सूर्य को निकलते देखा है' यह बात कल सबेरे सूर्योदय होने का कारण नहीं हो सकती; अथवा प्रतिदिन हमारे देखने के लिये या हमारे देखने से ही कुछ सूर्योदय नहीं होता। यथार्थ में सूर्योदय होने के कुछ और ही कारण हैं। अच्छा, अब यदि 'हमारा सूर्य का प्रतिदिन देखना' कल सूर्योदय होने का कारण नहीं है, तो इसके लिये क्या प्रमाण है कि कल सूर्योदय होगा? दीर्घ काल तक किसी वस्तु का क्रम एक-सा अबाधित दीख पड़ने पर यह मान लेना भी एक प्रकार विश्वास या श्रद्धा ही तो है न, कि वह क्रम आगे भी वैसा ही नित्य चलता रहेगा। यद्यपि हम उसको एक बहुत बड़ा प्रतिष्ठित नाम

उपदेश किया, कि 'भद्रम्' अर्थात् इस कल्पना को केवल बुद्धि में रख। मुँह से ही 'हाँ' मत कहो; किन्तु उसके आगे भी चलो। यानी इस तत्त्व को अपने हृदय में अच्छी तरह जमने दो और आचरण या कृति में दिखाई देने दो। सारांश यदि यह निश्चयात्मक ज्ञान होने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है कि सूर्य का उदय कल सबेरे होगा तो यह भी निर्विवाद सिद्ध है कि इस बात को पूर्णतया जान लेने के लिये — कि सारी सृष्टि का मूलतत्त्व अनादि अनन्त सर्वकर्तृ सर्वज्ञ स्वतन्त्र और चैतन्यरूप है — पहले हम लोगों को जहाँ तक जा सके, बुद्धिरूपी बटोही का अवलम्बन करना चाहिये परन्तु आगे उसके अनुरोध से कुछ दूर तो अवश्य ही श्रद्धा तथा प्रेम की पगडण्डी से ही जाना चाहिये। देखिये, मैं जिसे माँ कह कर ईश्वर के समान वन्द्य और पूज्य मानता हूँ, उसे ही अन्य लोग एक सामान्य स्त्री समझते हैं या नैयायिकों के शास्त्रीय शब्दाडम्बर के अनुसार 'गर्भधारणप्रसवादिस्त्रीत्वसामान्यावच्छेदकावच्छिन्न व्यक्तिविशेष' समझते हैं। इस एक छोटे से व्यावहारिक उदाहरण से यह बात किसी के भी ध्यान में सहज आ सकती है कि जब केवल तर्कशास्त्र के सहारे प्राप्त किया गया ज्ञान श्रद्धा और प्रेम के साँचे में ढाला जाता है तब उसमें कैसा अन्तर हो जाता है। इसी कारण से गीता (६. ४७) में कहा है कि कर्मयोगियों में भी श्रद्धावान् श्रेष्ठ है और ऐसा ही सिद्धान्त — जैसे पहले कह आये हैं कि — अध्यात्मशास्त्र में किया गया है कि इन्द्रियातीत होने के कारण जिन पदार्थों का चिंतन करते नहीं बनता उनके स्वरूप का निर्णय केवल तर्क से नहीं करना चाहिये — 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण चिन्तयेत्।'

यदि यही एक अड़चन हो कि साधारण मनुष्यों के लिये निर्गुण परब्रह्म का ज्ञान होना कठिन है तो बुद्धिमान् पुरुषों में मतभेद होने पर भी श्रद्धा या विश्वास से उसका निवारण किया जा सकता है। कारण यह है कि इन पुरुषों में जो अधिक विश्वसनीय होंगे, उन्हीं के वचनों पर विश्वास रखने से हमारा काम बन जावेगा (गीता १३. २५)। तर्कशास्त्र में इस उपाय को आप्तवचनप्रमाण कहते हैं। आप्त का अर्थ विश्वसनीय पुरुष है। जगत् के व्यवहार पर दृष्टि डालने से यही दिखाई देगा कि हजारों लोग आप्त-वाक्य पर विश्वास रख कर ही अपना व्यवहार चलाते हैं। दो पंचे दस के बदले नौ क्यों नहीं होते? अथवा एक पर एक लिखने से दो नहीं होते ग्यारह क्यों होते हैं? इस विषय की उपपत्ति या कारण बतलानेवाले पुरुष बहुत ही कम मिलते हैं। तो भी इन सिद्धान्तों को सत्य मान कर ही जगत् का व्यवहार चल रहा है। ऐसे लोग बहुत कम मिलेंगे जिन्हें इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान है कि हिमालय की ऊँचाई पाँच मील है या दस मील। परन्तु जब कोई यह प्रश्न पूछता है कि हिमालय की ऊँचाई कितनी है तब भूगोल की पुस्तक में पढ़ी हुई 'तेईस हजार फीट' संख्या हम तुरन्त ही बतला देते हैं। यदि इसी प्रकार कोई पूछे कि 'ब्रह्म कैसा है' तो यह उत्तर देने में क्या हानि है कि वह 'निर्गुण' है। वह सचमुच

ही निर्गुण है या नहीं, इस बात की पूरी जाँच कर उसके साधकबाधक प्रमाणों की मीमांसा करने के लिये सामान्य लोगों में बुद्धि की तीव्रता भले ही न हो; परन्तु श्रद्धा या विश्वास कुछ ऐसा मनोधर्म नहीं है, जो महाबुद्धिमान् पुरुषों में ही पाया जाय। अज्ञजनों में भी श्रद्धा की कुछ न्यूनता नहीं होती। और जब कि श्रद्धा से ही ये लोग अपने सैकड़ों सांसारिक व्यवहार किया करते हैं, तो उसी श्रद्धा से यदि वे ब्रह्म को *निर्गुण मान लेवें तो कोई प्रत्यवाय नहीं दीख पड़ता।* मोक्षधर्म का इतिहास पढ़ने से मालूम होगा, कि जब ज्ञाता पुरुषों ने ब्रह्मस्वरूप की मीमांसा कर उसे निर्गुण बतलाया उसके पहले ही मनुष्य ने केवल अपनी श्रद्धा से यह जान लिया था, कि सृष्टि की जड़ में सृष्टि के नाशवान् और अनित्य पदार्थों से भिन्न या विलक्षण कोई एक तत्त्व है, जो अनाद्यन्त, अमृत, स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है और मनुष्य उसी समय से उस तत्त्व की उपासना किसी-न-किसी रूप में करता चला आया है। यह सच है, कि उस समय इस ज्ञान की उपपत्ति बतला नहीं सकता था; परन्तु आधिभौतिकशास्त्र में भी यही क्रम दीख पड़ता है, कि पहले अनुभव होता है और पश्चात् उसकी उपपत्ति बतलाई जाती है। उदाहरणार्थ, भास्कराचार्य को पृथ्वी के (अथवा अन्त में न्यूटन को सारे विश्व के) गुरुत्वाकर्षण की कल्पना सूझने के पहले ही यह बात अनादि काल से सब लोगों को मालूम थी, कि पेड़ से गिरा हुआ फल नीचे पृथ्वी पर गिर पड़ता है। अध्यात्मशास्त्र को भी यही नियम उपयुक्त है। श्रद्धा से प्राप्त हुए ज्ञान की जाँच करना और उसकी उपपत्ति की खोज करना बुद्धि का काम है सही; परन्तु इस प्रकार योग्य उपपत्ति के न मिलने से ही यह नहीं कहा जा सकता, कि श्रद्धा से प्राप्त होनेवाला ज्ञान केवल भ्रम है।

यदि सिर्फ इतना ही जान लेने से हमारा काम चल जाय, कि ब्रह्म निर्गुण है, तो इसमें सन्देह नहीं, कि यह काम उपर्युक्त कथन के अनुसार श्रद्धा से चल सकता है (गीता १३. २५)। परन्तु नौवें प्रकरण के अन्त में कह चुके हैं, कि ब्राह्मी स्थिति या सिद्धावस्था की प्राप्ति कर लेना ही इस संसार में मनुष्य का परमसाध्य या अन्तिम ध्येय है; और उसके लिये केवल यह कोरा ज्ञान (कि ब्रह्म निर्गुण है) किसी काम का नहीं। दीर्घ समय के अभ्यास और नित्य की आदत से इस ज्ञान का प्रवेश हृदय में तथा देहेन्द्रियों में अच्छी तरह हो जाना चाहिये; और आचरण के द्वारा ब्रह्मात्मैक्यबुद्धि ही हमारा देहस्वभाव हो जाना चाहिये। ऐसा होने के लिये परमेश्वर के स्वरूप का प्रेमपूर्वक चिन्तन करके मन को तदाकार करना ही एक सुगम उपाय है। यह मार्ग अथवा साधन हमारे देश में बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है और इसी को उपासना या भक्ति कहते हैं। भक्ति का लक्षण शाण्डिल्यसूत्र (२) में इस प्रकार है, कि "सा (भक्तिः) परानुरक्तिरीश्वरे" – ईश्वर के प्रति 'पर' अर्थात् निरतिशय जो प्रेम है उसे भक्ति कहते हैं। 'पर' शब्द का अर्थ केवल निरतिशय ही नहीं है; किन्तु भागवतपुराण में कहा है

लिये जिस ब्रह्मस्वरूप का स्वीकार करना होता है, वह दूसरी श्रेणी का – अर्थात् उपास्य और उपासक के भेद से – मन को गोचर होनेवाला यानी सगुण ही होता है। और इसी लिये उपनिषदों में जहाँ जहाँ ब्रह्म की उपासना कही गई है, वहाँ वहाँ उपास्य ब्रह्म के अव्यक्त होने पर भी सगुणरूप से ही उसका वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, शाण्डिल्यविद्या में जिस ब्रह्म की उपासना कही गई है, वह यद्यपि अव्यक्त अर्थात् निराकार है, तथापि छान्दोग्योपनिषद् (३. १४) में कहा है कि वह प्राणशरीर, सत्यसङ्कल्प, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वकर्मा अर्थात् मन से गोचर होनेवाले सब गुणों से युक्त हो। स्मरण रहे कि यहाँ उपास्य ब्रह्म यद्यपि सगुण है, तथापि वह अव्यक्त अर्थात् निराकार है। परन्तु मनुष्य के मन की स्वाभाविक रचना ऐसी है कि सगुण वस्तुओं में से भी जो वस्तु अव्यक्त होती है, अर्थात् जिसका कोई विशेष रूप, रङ्ग आदि नहीं; और इसलिये जो नेत्रादि इन्द्रियों को अगोचर है, उस पर प्रेम रखना या हमेशा उसका चिन्तन कर मन को उसी में स्थिर करके वृत्ति को तदाकार करना मनुष्य के लिये बहुत कठिन और दुःसाध्य भी है। क्योंकि, मन स्वभाव ही से चञ्चल है। इसलिये जब तक मन के सामने आधार के लिये कोई इन्द्रियगोचर स्थिर वस्तु न हो, तब तक यह मन बारबार भूल जाया करता है, स्थिर नहीं होता है। चित्त की स्थिरता का यह मानसिक कार्य बड़े बड़े ज्ञानी पुरुषों को भी दुष्कर प्रतीत होता है, तो फिर साधारण मनुष्यों के लिये कहना ही क्या? अतएव रेखागणित के सिद्धान्तों की शिक्षा देते समय जिस प्रकार ऐसी रेखा की कल्पना करने के लिये – कि जो अनादि, अनन्त और बिना चौड़ाई की (अव्यक्त) है; किन्तु जिसमें लम्बाई का गुण होने से सगुण है – उस रेखा का एक छोटा-सा नमूना स्लेट या तख्ते पर व्यक्त करके दिखलाना पड़ता है। उसी प्रकार ऐसे परमेश्वर पर प्रेम करने और उसमें अपनी वृत्ति को लीन करने के लिये – कि जो सर्वकर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ (अतएव सगुण) है; परन्तु निराकार अर्थात् अव्यक्त है – मन के सामने 'प्रत्यक्ष' नामरूपात्मक किसी वस्तु के रहे बिना साधारण मनुष्यों का काम नहीं चल सकता।* यही क्यों; पहले किसी व्यक्त पदार्थ के देखे बिना मनुष्य के मन में अव्यक्त की कल्पना ही जागृत हो नहीं सकती। उदाहरणार्थ, जब हम लाल, हरा इत्यादि अनेक व्यक्त रंगों के पदार्थ पहले आँखों से

* इस विषय पर एक श्लोक है जो योगवासिष्ठ का कहा जाता है –

अक्षरावगमलब्धये यथा स्थूलवर्तुलदृषत्परिग्रहः।
शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृण्मयशिलामयार्चनम्॥

"अक्षरों का परिचय कराने के लिये लड़कों के सामने जिस प्रकार छोटे छोटे कंकड़ रख कर अक्षरों का आकार दिखलाना पड़ता है, उसी प्रकार (नित्य) शुद्धबुद्ध परमात्मा का ज्ञान होने के लिये लकड़ी, मिट्टी या पत्थर की मूर्ति का स्वीकार किया जाता है।" परन्तु यह श्लोक हमें योगवासिष्ठ में नहीं मिला।

देखते हैं, तभी 'रङ्ग' की सामान्य और अव्यक्त कल्पना जागृत होती है। यदि ऐसा
न हो, तो 'रङ्ग' की यह अव्यक्त कल्पना हो ही नहीं सकती। अब चाहे इसे कोई
मनुष्य के मन का स्वभाव कहे या दोष, कुछ भी कहा जाय। जब तक देहधारी मनुष्य
अपने मन के इस स्वभाव को अलग नहीं कर सकता, तब तक उपासना के लिये यानी
भक्ति के लिये निर्गुण से सगुण में — और उसमें भी अव्यक्त सगुण की अपेक्षा व्यक्त
सगुण ही में — आना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। यही कारण
है कि व्यक्त उपासना का मार्ग अनादि काल से प्रचलित है; रामतापनीय आदि उप-
निषदों में मनुष्यदेहधारी व्यक्त ब्रह्मस्वरूप की उपासना का वर्णन है; और भगवद्गीता
में भी यह कहा गया है कि —

> क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।
> अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

अर्थात् अव्यक्त में चित्त की (मन की) एकाग्रता करनेवाले को बहुत कष्ट होते हैं;
क्योंकि इस अव्यक्त गति को पाना देहेन्द्रियधारी मनुष्य के लिये स्वभावतः कष्टदायक
है — (गीता १२. ५)। इस 'प्रत्यक्ष' मार्ग ही को 'भक्तिमार्ग' कहते हैं। इसमें कुछ
सन्देह नहीं कि कोई बुद्धिमान पुरुष अपनी बुद्धि से परब्रह्म के स्वरूप का निश्चय कर
उसके अव्यक्त स्वरूप में केवल अपने विचारों के बल से अपने मन को स्थिर कर सकता
है। परन्तु इस रीति से अव्यक्त में 'मन' को आसक्त करने का काम भी तो अन्त में
श्रद्धा और प्रेम से ही सिद्ध करना होता है। इसलिये इस मार्ग में भी श्रद्धा और प्रेम
की आवश्यकता छूट नहीं सकती। सच पूछो तो तात्त्विक दृष्टि से सच्चिदानन्द ब्रह्मो-
पासना का समावेश भी प्रेममूलक भक्तिमार्ग में ही किया जाना चाहिये। परन्तु इस
मार्ग में ध्यान करने के लिये जिस ब्रह्मस्वरूप का स्वीकार किया जाता है, वह केवल
अव्यक्त और बुद्धिगम्य अर्थात् ज्ञानगम्य होता है, और उसी को प्रधानता दी जाती है।
इस लिये इस क्रिया को भक्तिमार्ग न कहकर अध्यात्मविचार, अव्यक्तोपासना या केवल
उपासना, अथवा ज्ञानमार्ग कहते हैं; और उपास्य ब्रह्म के सगुण रहने पर भी जब
उसका अव्यक्त के बदले व्यक्त — और विशेषतः मनुष्यदेहधारी — रूप स्वीकृत किया जाता
है, तब वही भक्तिमार्ग कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि मार्ग दो हैं, तथापि उन दोनों
में एक ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है; और अन्त में एक ही सी साम्यबुद्धि मन में
उत्पन्न होती है; इसलिये स्पष्ट दीख पड़ेगा कि जिस प्रकार किसी छत पर जाने के
लिये दो जीने होते हैं, उसी प्रकार भिन्न भिन्न मनुष्यों की योग्यता के अनुसार ये दो
(ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग) अनादिसिद्ध भिन्न भिन्न मार्ग हैं — इन मार्गों की भिन्नता
से अन्तिम साध्य अथवा ध्येय में कुछ भिन्नता नहीं होती। इनमें से एक जीने की
पहली सीढ़ी बुद्धि है, तो दूसरे जीने की पहली सीढ़ी श्रद्धा और प्रेम है; और किसी
भी मार्ग से जाओ, अन्त में एक ही परमेश्वर का एक ही प्रकार का ज्ञान होता है।
एवं एक ही सी मुक्ति भी प्राप्त होती है। इस लिये दोनों मार्गों में यही सिद्धान्त

एक ही सा स्थिर रहता है कि अनुभवात्मक ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मिलता। फिर यह व्यर्थ बखेड़ा करने से क्या लाभ है कि ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है या भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है? यद्यपि ये दोनों साधन प्रथमावस्था में अधिकार या योग्यता के अनुसार भिन्न हों, तथापि अन्त में अर्थात् परिणामरूप में दोनों की योग्यता समान है और गीता में इन दोनों को एक ही 'अध्यात्म' नाम दिया गया है (११. १)। अब यद्यपि साधन की दृष्टि से ज्ञान और भक्ति की योग्यता एक ही समान है, तथापि इन दोनों में यह महत्त्व का भेद है कि भक्ति कदापि निष्ठा नहीं हो सकती, किन्तु ज्ञान को निष्ठा (यानी सिद्धावस्था की अन्तिम स्थिति) कह सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अध्यात्मविचार से या अव्यक्तोपासना से परमेश्वर का जो ज्ञान होता है, वही भक्ति से भी हो सकता है (गीता १८. ५५); परन्तु इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर आगे यदि कोई मनुष्य सांसारिक कार्यों को छोड़ दे और ज्ञान ही में सदा निमग्न रहने लगे, तो गीता के अनुसार वह 'ज्ञाननिष्ठ' कहलावेगा, 'भक्तिनिष्ठ' नहीं। इसका कारण यह है कि जब तक भक्ति की क्रिया जारी रहती है, तब तक उपास्य और उपासकरूपी द्वैतभाव भी बना रहता है; और अन्तिम ब्रह्मात्मैक्य स्थिति में तो भक्ति की कौन कहे, अन्य किसी भी प्रकार की उपासना शेष नहीं रह सकती। भक्ति का पर्यवसान या फल ज्ञान है; भक्ति ज्ञान का साधन है – वह कुछ अन्तिम साध्य वस्तु नहीं। सारांश, अव्यक्तोपासना की दृष्टि से ज्ञान एक बार साधन हो सकता है; और दूसरी बार ब्रह्मात्मैक्य के अपरोक्षानुभव की दृष्टि से उसी ज्ञान को निष्ठा यानी सिद्धावस्था की अन्तिम स्थिति कह सकते हैं। जब इस भेद को प्रकट रूप से दिखलाने की आवश्यकता होती है, तब 'ज्ञानमार्ग' और 'ज्ञाननिष्ठा' दोनों शब्दों का उपयोग समान अर्थ में नहीं किया जाता; किन्तु अव्यक्तोपासना की साधनावस्थावाली स्थिति दिखलाने के लिये 'ज्ञानमार्ग' का उपयोग किया जाता है और ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर सब कर्मों को छोड़ ज्ञान ही में निमग्न हो जाने की जो सिद्धावस्था की स्थिति है, उसके लिये 'ज्ञाननिष्ठा' शब्द का उपयोग किया जाता है। अर्थात् अव्यक्तोपासना या अध्यात्मविचार के अर्थ में ज्ञान को एक बार साधन (ज्ञानमार्ग) कह सकते हैं और दूसरी बार अपरोक्षानुभव के अर्थ में उसी ज्ञान को निष्ठा यानी कर्मत्यागरूपी अन्तिम अवस्था कह सकते हैं। यही बात कर्म के विषय में भी कही जा सकती है। शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार जो कर्म पहले चित्त की शुद्धि के लिये किया जाता है, वह साधन कहलाता है। इस कर्म से चित्त की शुद्धि होती है और अन्त में ज्ञान तथा शान्ति की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि कोई मनुष्य इस ज्ञान में ही निमग्न न रह कर शान्तिपूर्वक मृत्युपर्यन्त निष्कामकर्म करता चला जावे, तो ज्ञानयुक्त निष्कामकर्म की दृष्टि से उसके इस कर्म को निष्ठा कह सकते हैं (गीता ३. ३)। यह बात भक्ति के विषय में नहीं कह सकते; क्योंकि भक्ति सिर्फ एक मार्ग या उपाय अर्थात् ज्ञानप्राप्ति का साधन ही है – वह निष्ठा नहीं है। इसलिये गीता के आरम्भ में

तथा आँख से दिखने स्वरूप का आकलन मैं कर सकूँगा – ऐसे सत्यसंकल्प, सकलैश्वर्यसंपन्न, दयासागर, भक्तवत्सल, परमपवित्र, परमउदार, परमकारुणिक, परमपूज्य, सर्वसुन्दर, सकलगुणनिधान अथवा संक्षेप में कहें तो ऐसे सगुण, प्रेमगम्य और व्यक्त यानी प्रत्यक्ष-रूपधारी सुलभ परमेश्वर ही के स्वरूप का सहारा मनुष्य भक्ति के लिये स्वभावतः लिया करता है। जो परब्रह्म मूल में अचिन्त्य और 'एकमेवाद्वितीयम्' है उसके उक्त प्रकार के अन्तिम दो स्वरूपों को (अर्थात् प्रेम, श्रद्धा आदि मनोमय नेत्रों से मनुष्य को गोचर होनेवाले स्वरूपों को) ही वेदान्तशास्त्र की परिभाषा में 'ईश्वर' कहते हैं। परमेश्वर सर्वव्यापी हो कर भी मर्यादित क्यों हो गया? इसका उत्तर प्रसिद्ध महाराष्ट्र साधु तुकाराम ने एक पद्य में दिया है, जिसका आशय यह है –

> रहता है सर्वत्र ही व्यापक एक समान।
> पर निज भक्तों के लिये छोटा है भगवान॥

यही सिद्धान्त वेदान्तसूत्र में भी दिया गया है (१. २. ७)। उपनिषदों में भी जहाँ जहाँ ब्रह्म की उपासना का वर्णन है, वहाँ वहाँ प्राण, मन इत्यादि सगुण और केवल अव्यक्त वस्तुओं ही का निर्देश न कर उनके साथ साथ सूर्य (आदित्य), अन्न इत्यादि सगुण और व्यक्त पदार्थों की उपासना भी कही गई है (तै. ३. २–६; छां. ७)। श्वेताश्वतरोपनिषद् में तो 'ईश्वर' का लक्षण इस प्रकार बतला कर, कि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्' (४. १०) – अर्थात् प्रकृति ही को माया और इस माया के अधिपति को महेश्वर जानो; आगे गीता ही के समान (गीता १०. ९) सगुण ईश्वर की महिमा का इस प्रकार वर्णन किया है, कि 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' – अर्थात् इस देव को जान लेने से मनुष्य सब पाशों से मुक्त हो जाता है (४. १६)। यह जो नामरूपात्मक वस्तु उपास्य परब्रह्म के चिह्न, पहचान, अवतार, अंश या प्रतिनिधि के तौर पर उपासना के लिये आवश्यक है, उसी को वेदान्तशास्त्र में 'प्रतीक' कहते हैं। प्रतीक (प्रति + इक) शब्द का धात्वर्थ यह है – प्रति = अपनी ओर, इक = झुका हुआ। जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं। इस नियम के अनुसार सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिये उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिह्न, अंशरूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है। उदाहरणार्थ, महाभारत में ब्राह्मण और व्याध का जो संवाद है, उसमें व्याध ने ब्राह्मण को पहले बहुत सा अध्यात्मज्ञान बतलाया। फिर 'हे द्विजवर! मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है उसे अब देखो – प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम' (वन. २१३. ३) ऐसा कह कर उस ब्राह्मण को वह व्याध अपने वृद्ध मातापिता के समीप ले गया, और कहने लगा – यही मेरे 'प्रत्यक्ष' देवता हैं और मनोभाव से ईश्वर के

प्राणविद्या, हार्दविद्या इत्यादि। वेदान्तसूत्र के तीसरे अध्याय के तीसरे पाद में उपनिषदों में वर्णित ऐसी अनेक प्रकार की विद्याओं का अर्थात् साधनों का विचार किया गया है। उपनिषदों से यह भी विदित होता है कि प्राचीन समय में ये सब विद्याएँ गुप्त रखी जाती थीं और केवल शिष्यों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी उनका उपदेश नहीं किया जाता था। अतएव कोई भी विद्या हो, वह गुह्य अवश्य ही होगी। परन्तु ब्रह्मप्राप्ति के लिये साधनीभूत होनेवाली जो ये गुह्य विद्याएँ या मार्ग हैं, वे यद्यपि अनेक हों, तथापि उन सब में गीताप्रतिपादित भक्तिमार्गरूपी विद्या अर्थात् साधन श्रेष्ठ (गुह्यानां विद्यानां च राजा) है। क्योंकि हमारे मतानुसार उस श्लोक का भावार्थ यह है कि वह (भक्तिमार्गरूपी साधन) ज्ञानमार्ग की विद्या के समान 'अव्यक्त' नहीं है किन्तु वह 'प्रत्यक्ष' आँखों से दिखाई देनेवाला है; और इसी लिये उसका आचरण भी सुख से किया जाता है। यदि गीता में केवल बुद्धिगम्य ज्ञानमार्ग ही प्रतिपादित किया गया होता, तो वैदिकधर्म के सब सम्प्रदायों में आज सैकड़ों वर्षों से इस ग्रन्थ की जैसी चाह होती चली आ रही है वैसी हुई होती या नहीं, इसमें सन्देह है। गीता में जो मधुरता, प्रेम या रस भरा है वह उसमें प्रतिपादित भक्तिमार्ग ही का परिणाम है। पहले तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने – जो परमेश्वर के प्रत्यक्ष अवतार हैं – यह गीता कही है; और उसमें भी दूसरी बात यह है कि भगवान ने अज्ञेय परब्रह्म का कोरा ज्ञान ही नहीं कहा है, किन्तु स्थान स्थान में प्रथम पुरुष का प्रयोग करके अपने सगुण और व्यक्त स्वरूप को लक्ष्य कर कहा है कि 'मुझमें यह सब गुँथा हुआ है' (७.७), 'यह सब मेरी ही माया है' (७.१४), 'मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है' (७.७), 'मुझे शत्रु और मित्र दोनों बराबर हैं' (९.२९), 'मैंने इस जगत् को उत्पन्न किया है' (९.४), 'मैं ही ब्रह्म का और मोक्ष का मूल हूँ' (१४.२७) अथवा 'मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं' (१५.१८); और अन्त में अर्जुन को यह उपदेश किया है कि 'सब धर्मों को छोड़ तू अकेले मेरी शरण आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत' (१८.६६)। इससे श्रोता को यह भावना हो जाती है कि मानो मैं साक्षात् प्रेम पुरुषोत्तम के सामने खड़ा हूँ, कि जो समदृष्टि परमपूज्य और अत्यन्त दयालु है; और तब आत्मज्ञान के विषय में उसकी निष्ठा भी बहुत दृढ़ हो जाती है। इतना ही नहीं, किन्तु गीता के अध्यायों का इस प्रकार पृथक् पृथक् विभाग न कर – कि एक बार ज्ञान का तो दूसरी बार भक्ति का प्रतिपादन हो – ज्ञान ही में भक्ति और भक्ति ही में ज्ञान को गूँथ दिया है; जिसका परिणाम यह होता है कि ज्ञान और भक्ति में अथवा बुद्धि और प्रेम में परस्पर विरोध न होकर परमेश्वर के ज्ञान ही के साथ साथ प्रेमरस का भी अनुभव होता है, और सब प्राणियों के विषय में आत्मौपम्य बुद्धि की जागृति होकर अन्त में चित्त को विलक्षण शान्ति, समाधान और सुख प्राप्त होता है। इसी में कर्मयोग भी आ मिला है, मानो दूध में शक्कर मिल गई हो! फिर इसमें कोई आश्चर्य नहीं, जो हमारे पण्डितजनों ने यह

सिद्धान्त किया कि गीता-प्रतिपादित ज्ञान ईशावास्योपनिषद् के कथनानुसार मृत्यु और अमृत अर्थात् इहलोक और परलोक दोनों जगह श्रेयस्कर है।

ऊपर किये गये विवेचन से पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी कि भक्तिमार्ग किसे कहते हैं, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में समानता तथा विषमता क्या है, भक्तिमार्ग को राजमार्ग (राजविद्या) या सहज उपाय क्यों कहते हैं; और गीता में भक्ति को स्वतन्त्र निष्ठा क्यों नहीं माना है। परन्तु ज्ञानप्राप्ति के इस सुलभ, अनादि और प्रत्यक्ष मार्ग में भी धोखा खा जाने की एक जगह है। उसका भी कुछ विचार किया जाना चाहिये। नहीं तो सम्भव है कि इस मार्ग से चलनेवाला पथिक असावधानता से गड्ढे में गिर पड़े। भगवद्गीता में इस गड्ढे का स्पष्ट वर्णन किया गया है, और वैदिक भक्तिमार्ग में अन्य भक्तिमार्गों की अपेक्षा जो कुछ विशेषता है वह यही है। यद्यपि इस बात को सब लोग मानते हैं कि परब्रह्म के चित्तशुद्धिद्वारा साम्यबुद्धि की प्राप्ति के लिये साधारणतया मनुष्यों के सामने परब्रह्म के 'प्रतीक' के नाते से कुछ न-कुछ सगुण और व्यक्त वस्तु अवश्य होनी चाहिये – नहीं तो चित्त की स्थिरता हो नहीं सकती; तथापि इतिहास से दीख पड़ता है कि 'प्रतीक' के स्वरूप के विषय में अनेक बार झगड़े और बखेड़े हो जाया करते हैं। अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं कि जहाँ परमेश्वर न हो। भगवद्गीता में भी जब अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा "तुम्हारी किन किन विभूतियों के रूप से चिन्तन (भजन) किया जावे सो मुझे बतलाइये" (गीता १०. १८), तब दसवें अध्याय में भगवान् ने इस स्थावर और जंगम सृष्टि में व्याप्त अपनी अनेक विभूतियों का वर्णन करके कहा है कि मैं इन्द्रियों में मन, स्थावरों में हिमालय, यज्ञों में जपयज्ञ, सर्पों में वासुकि, दैत्यों में प्रह्लाद, पितरों में अर्यमा, गन्धर्वों में चित्ररथ, वृक्षों में अश्वत्थ, पक्षियों में गरुड़, महर्षियों में भृगु, अक्षरों में अकार और आदित्यों में विष्णु हूँ; और अन्त में यह कहा –

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

"हे अर्जुन! यह जानो कि जो कुछ वैभव, लक्ष्मी और प्रभाव से युक्त हो वह मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ है (१०. ४१); और अधिक क्या कहा जाय, मैं अपने एक अंशमात्र से इस सारे जगत् में व्याप्त हूँ!" इतना कह कर अगले अध्याय में विश्वरूपदर्शन से अर्जुन को इसी सिद्धान्त की प्रत्यक्ष प्रतीति भी करा दी है। यदि इस संसार में दिखलाई देनेवाले सब पदार्थ या गुण परमेश्वर ही के रूप यानी प्रतीक हैं, तो यह कौन और कैसे कह सकता है कि उनमें से किसी एक ही में परमेश्वर है और दूसरे में नहीं? न्यायतः यही कहना पड़ता है कि वह दूर है और समीप भी है, सत् और असत् होने पर भी वह उन दोनों से परे है; अथवा

गरुड़ और सर्प, मृत्यु और मारनेवाला, विघ्नकर्ता और विघ्नहर्ता, भयकृत् और भयनाशक, घोर और अघोर, शिव और अशिव, वृष्टि करनेवाला और उसको रोकनेवाला भी (गीता ९. १९ और १०. ३२) वही है। अतएव भगवद्भक्त तुकाराम महाराज ने भी इसी भाव से कहा है –

> छोटा बड़ा कहें जो कुछ हम।
> फबता है सब तुझे महत्तम॥

इस प्रकार विचार करने पर मालूम होता है कि प्रत्येक वस्तु अंशतः परमेश्वर ही का स्वरूप है। तो फिर जिन लोगों के ध्यान में परमेश्वर का यह सर्वव्यापी स्वरूप एकाएक नहीं आ सकता, वे यदि इस अव्यक्त और शुद्ध रूप को पहचानने के लिये इन अनेक वस्तुओं में से किसी एक को साधन या प्रतीक समझ कर उसकी उपासना करें तो क्या हानि है? कोई मन की उपासना करेंगे, तो कोई ब्रह्मयज्ञ या जपयज्ञ करेंगे। कोई गरुड़ की भक्ति करेंगे, तो कोई ॐ मंत्राक्षर ही का जप करेगा। कोई विष्णु का, कोई शिव का, कोई गणपति का और कोई भवानी का भजन करेंगे। कोई अपने माता-पिता के चरणों में ईश्वरभाव रख कर उनकी सेवा करेंगे; और कोई इससे भी अधिक व्यापक सर्वभूतात्मक विराट् पुरुष की उपासना पसन्द करेंगे। कोई कहेंगे, सूर्य को भजो और कोई कहेंगे कि राम या कृष्ण सूर्य से भी श्रेष्ठ हैं। परन्तु अज्ञान से या मोह से जब यह दृष्टि छूट जाती है कि 'सब विभूतियों का मूलस्थान एक ही परब्रह्म है' अथवा जब किसी धर्म के मूल सिद्धान्तों में ही यह व्यापक दृष्टि नहीं होती, तब अनेक प्रकार के उपास्यों के विषय में वृथाभिमान और दुराग्रह उत्पन्न हो जाता है; और कभी कभी तो लड़ाइयों हो जाने तक नौबत आ पहुँचती है। वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई या मुहम्मदी धर्मों के परस्परविरोध की बात छोड़ दे और केवल ईसाई धर्म का ही देखें, तो यूरोप के इतिहास से यही दीख पड़ता है कि एक ही सगुण और व्यक्त ईसा मसीह के उपासकों में भी विधिभेदों के कारण एक दूसरे की जान लेने तक की नौबत आ चुकी थी। इस देश के सगुण उपासकों में भी अब तक यह झगड़ा दीख पड़ता है कि हमारा देव निराकार होने के कारण अन्य लोगों के साकार देव से श्रेष्ठ है। भक्तिमार्ग में उत्पन्न होनेवाले इन झगड़ों का निर्णय करने के लिये कोई उपाय है या नहीं? यदि है तो वह कौन-सा उपाय है? जब तक इसका ठीक ठीक विचार नहीं हो जायगा, तब तक भक्तिमार्ग निष्कण्टक या बेखटके का नहीं कहा जा सकता। इस लिये अब यही विचार किया जायगा कि गीता में इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया गया है। कहना नहीं होगा कि हिन्दुस्थान की वर्तमान दशा में इस विषय का यथोचित विचार करना विशेष महत्त्व की बात है।

साम्यबुद्धि की प्राप्ति के लिये मन को स्थिर करके परमेश्वर की अनेक सगुण विभूतियों में से किसी एक विभूति के स्वरूप का प्रथमतः चिन्तन करना अथवा

इसको प्रतीक समझकर प्रत्यक्ष नेत्रों के सामने रखना इत्यादि साधनों का वर्णन प्राचीन उपनिषदों में भी पाया जाता है; और रामतापनी सरीखे उत्तरकालीन उपनिषद् में या गीता में भी मानवरूपधारी सगुण परमेश्वर की निस्सीम और एकान्तिक भक्ति को ही परमेश्वरप्राप्ति का मुख्य साधन माना है। परन्तु साधन की दृष्टि से यद्यपि वासुदेवभक्ति को गीता में प्रधानता दी गई है, तथापि अध्यात्मदृष्टि से विचार करने पर वेदान्तसूत्र की नाई (वे. सू. ४. १. ४) गीता में भी यही स्पष्ट रीति से कहा है कि 'प्रतीक' एक प्रकार का साधन है – वह सत्य, सर्वव्यापी और नित्य परमेश्वर हो नहीं सकता। अधिक क्या कहें, नामरूपात्मक और व्यक्त अर्थात् सगुण वस्तुओं में से किसी को भी लीजिये, वह माया ही है। जो सत्य परमेश्वर को देखना चाहता है उसे इस सगुण रूप के भी परे अपनी दृष्टि को ले जाना चाहिये। भगवान की जो अनेक विभूतियाँ हैं उनमें अर्जुन को दिखलाये गये विश्वरूप से अधिक व्यापक और कोई भी विभूति हो नहीं सकती। परन्तु जब यही विश्वरूप भगवान ने नारद को दिखलाया तब उन्होंने कहा है, तू मेरे जिस रूप को देख रहा है वह सत्य नहीं है, यह माया है; मेरे सत्य स्वरूप को देखने के लिये इसके भी आगे तुझे जाना चाहिये (शां. ३३९. ४४); और गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट रीति से यही कहा है –

> अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
> परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ, तथापि मूर्ख लोग मुझे व्यक्त (गीता ७. २४) अर्थात् मनुष्यदेहधारी मानते हैं (गीता ९. ११); परन्तु यह बात सच नहीं है। मेरा अव्यक्त स्वरूप ही सत्य है। इसी तरह उपनिषदों में भी यद्यपि उपासना के लिये मन, वाचा, सूर्य, आकाश इत्यादि अनेक व्यक्त और अव्यक्त ब्रह्मप्रतीकों का वर्णन किया गया है, तथापि अन्त में यह कहा है कि जो वाचा, नेत्र या कान को गोचर हो वह ब्रह्म नहीं; जैसे –

> यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।
> तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता, किन्तु मन ही जिसकी मननशक्ति में आ जाता है, उसे तू ब्रह्म समझ। जिसकी उपासना की (प्रतीक के तौर पर) जाती है वह (सत्य) ब्रह्म नहीं है (केन. १. ५–८)। नेति नेति सूत्र का भी यही अर्थ है। मन और आकाश को लीजिये अथवा व्यक्त उपासनामार्ग के अनुसार शालग्राम, शिवलिंग इत्यादि को लीजिये या श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की अथवा साधुपुरुषों की व्यक्त मूर्ति का चिन्तन कीजिये; मन्दिरों में शिलामय अथवा धातुमय देव की मूर्ति को देखिये अथवा बिना मूर्ति का मन्दिर या मसजिद लीजिये

– ये सब छोटे बच्चे की तीन-पहिया गाड़ी के समान मन को स्थिर करने के लिये अर्थात् चित्त की वृत्ति को परमेश्वर की ओर झुकाने के साधन हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार उपासना के लिये किसी प्रतीक को स्वीकार कर लेता है। यह प्रतीक चाहे कितना ही प्यारा हो, परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि सत्य परमेश्वर इस प्रतीक में नहीं है – 'न प्रतीके न हि सः' (वे. सू. ४. १. ४) – उसके परे है। इसी हेतु से भगवद्गीता में भी सिद्धान्त किया गया है कि "जिन्हें मेरी माया मालूम नहीं होती वे मूढ़जन मुझे नहीं जानते" (गीता ७. १३–१५)। भक्तिमार्ग में मनुष्य का उद्धार करने की जो शक्ति है वह कुछ सजीव अथवा निर्जीव मूर्ति में या पत्थरों की इमारतों में नहीं है, किन्तु उस प्रतीक में उपासक अपने सुभीते के लिये जो ईश्वरभावना रखता है, वही यथार्थ में तारक होती है। चाहे प्रतीक पत्थर का हो, मिट्टी का हो, धातु का हो या अन्य किसी पदार्थ का हो, उसकी योग्यता प्रतीक से अधिक कभी नहीं हो सकती। इस प्रतीक में जैसा हमारा भाव होगा, ठीक उसी के अनुसार हमारी भक्ति का फल परमेश्वर – प्रतीक नहीं – हमें दिया करता है। फिर ऐसा बखेड़ा मचाने से क्या लाभ, कि हमारा प्रतीक श्रेष्ठ है और तुम्हारा निकृष्ट? यदि भाव शुद्ध न हो, तो केवल प्रतीक की उत्तमता से ही क्या लाभ होगा? दिन भर लोगों को धोखा देने और फँसाने का धन्धा करके सुबह-शाम या किसी त्यौहार के दिन देवालय में देवदर्शन के लिये अथवा किसी निराकार देव के मन्दिर में उपासना के लिये जाने से परमेश्वर की प्राप्ति असम्भव है। कथा सुनने के लिये देवालय में जानेवाले कुछ मनुष्यों का वर्णन रामदासस्वामी ने इस प्रकार किया है – "कोई कोई विषयी लोग कथा सुनते समय स्त्रियों ही की ओर घूरा करते हैं; चोर लोग पादत्राण (जूते) चुरा ले जाते हैं" (दास. १८. १०. २६)। यदि केवल देवालय में या देवता की मूर्ति ही में तारक शक्ति हो, तो ऐसे लोगों को भी मुक्ति मिल जानी चाहिये। कुछ लोगों की समझ है कि परमेश्वर की भक्ति केवल मोक्ष ही के लिये की जाती है; परन्तु जिन्हें किसी व्यावहारिक या स्वार्थ की वस्तु चाहिये, वे भिन्न भिन्न देवताओं की आराधना करें। गीता में भी इस बात का उल्लेख किया गया है कि ऐसी स्वार्थबुद्धि से कुछ लोग भिन्न भिन्न देवताओं की पूजा किया करते हैं (गीता ७. २०)। परन्तु इसके आगे गीता ही का कथन है कि यह समझ तात्त्विक दृष्टि से सच नहीं मानी जा सकती कि इन देवताओं की आराधना करने से वे स्वयं कुछ फल देते हैं (गीता ७. २१)। अध्यात्मशास्त्र का यह चिरस्थायी सिद्धान्त है (वे. सू. ३. २. ३८–४१) और यही सिद्धान्त गीता को भी मान्य है (गीता ७. २२) कि मन में किसी भी वासना या कामना को रखकर किसी भी देवता की आराधना की जाय; उसका फल सर्वव्यापी परमेश्वर ही दिया करता है, न कि देवता। यद्यपि फलदाता परमेश्वर इस प्रकार एक ही है, तथापि वह प्रत्येक के भले-बुरे भावों के अनुसार भिन्न भिन्न फल दिया करता है

(... १. १८. २०)। इसलिये यह मानना पड़ता है, कि भिन्न भिन्न देवताओं की या प्रतीकों की उपासना के फल भी भिन्न भिन्न होते हैं। इसी अभिप्राय को मन में रख कर भगवान ने कहा है –

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

मनुष्य श्रद्धामय है। प्रतीक कुछ भी हो परन्तु जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह हो जाता है (गीता १७. ३; मैत्र्यु. ४. ६)। अथवा –

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

'देवताओं की भक्ति करनेवाले देवलोक में, पितरों की भक्ति करनेवाले पितृलोक में, भूतों की भक्ति करनेवाले भूतों में जाते हैं और मेरी भक्ति करनेवाले मेरे पास आते हैं' (गी. ९. २५)। या –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'जो जिस प्रकार मुझे भजते हैं उसी प्रकार मैं उन्हें भजता हूँ' (गी. ४. ११)। सब लोग जानते हैं कि शालग्राम सिर्फ एक पत्थर है। उसमें यदि विष्णु का भाव रखा जाय तो विष्णुलोक मिलेगा, और यदि उसी प्रतीक में यक्ष राक्षस आदि भूतों की भावना की जाय तो यक्ष राक्षस आदि भूतों के ही लोक प्राप्त होंगे। यह सिद्धान्त हमारे सब शास्त्रकारों को मान्य है कि फल हमारे भाव में है, प्रतीक में नहीं। लौकिक व्यवहार में किसी मूर्ति की पूजा करने के पहले उसकी प्राणप्रतिष्ठा करने की जो रीति है उसका भी रहस्य यही है। जिस देवता की भावना से उस मूर्ति की पूजा करनी हो उस देवता की प्राणप्रतिष्ठा उस मूर्ति में; परमेश्वर की भावना न रख कर, यह समझ कर उसकी पूजा या आराधना नहीं करते कि यह मूर्ति किसी विशिष्ट आकार की सिर्फ मिट्टी, पत्थर या धातु है; और यदि कोई ऐसा करे भी, तो गीता के इस सिद्धान्त के अनुसार उसको मिट्टी, पत्थर या धातु ही की गति निःसन्देह प्राप्त होगी। जब प्रतीक में अर्पित या आरोपित किये गये हमारे आन्तरिक भाव में इस प्रकार भेद कर दिया जाता है, तब केवल प्रतीक के विषय में झगड़ा करते रहने का कोई कारण नहीं रह जाता; क्योंकि अब तो यह भाव ही नहीं रहता कि प्रतीक ही देवता है। सब कर्मों के फलदाता और सर्वसाक्षी परमेश्वर की दृष्टि अपने भक्तों के भाव की ओर ही रहा करती है। इसी से साधु तुकाराम [illegible] कहते हैं [illegible] – प्रतीक का नहीं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

हो जाती है, कि किसी का प्रतीक कुछ भी हो; परन्तु जो लोग उसके द्वारा परमेश्वर का भजन-पूजन किया करते हैं वे सब एक परमेश्वर में जा मिलते हैं।' और तब उसे भगवान् के इस कथन की प्रतीति होने लगती है, कि –

येऽप्यन्यदेवताभक्ताः यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

अर्थात् चाहे विधि अर्थात् बाह्योपचार या साधन शास्त्र के अनुसार न हो; तथापि अन्य देवताओं का श्रद्धापूर्वक (यानी उन में शुद्ध परमेश्वर का भाव रख कर) यजन करनेवाले लोग (पर्याय से) मेरा ही यजन करते हैं (गीता ९. २३)। भागवत में भी इसी अर्थ का वर्णन कुछ शब्दभेद के साथ किया गया है (भाग. १०. पू. ४०. ८-१०) शिवगीता में तो उपर्युक्त श्लोक ज्यों-का-त्यों पाया जाता है (शिव. १२. ४) और 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ. १. १६४. ४६) इस वेदवचन का तात्पर्य भी यही है। इससे सिद्ध होता है कि यह तत्त्व वैदिकधर्म में बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा है। और यह इसी तत्त्व का फल है कि आधुनिक काल में श्रीशिवाजी महाराज के समान वैदिकधर्मीय वीरपुरुष के स्वभाव में उनके परम उत्कर्ष के समय में भी परधर्म-असहिष्णुता-रूपी दोष दीख नहीं पड़ता था। यह मनुष्यों की अत्यन्त शोचनीय मूर्खता का लक्षण है कि वे इस सत्य तत्त्व को तो नहीं पहचानते कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और उसके भी परे – अर्थात् अचिन्त्य है; किन्तु वे ऐसे नामरूपात्मक व्यर्थ अभिमान के अधीन हो जाते हैं कि ईश्वर ने अमुक समय अमुक देश में अमुक माता के गर्भ से अमुक वर्ण का अमुक नाम का या आकृति का जो व्यक्त स्वरूप धारण किया वही केवल सत्य है; और इस अभिमान में फँसकर एक-दूसरे की जान लेने तक को उतारू हो जाते हैं। गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग को 'राजविद्या' कहा है सही; परन्तु यदि इस बात की खोज की जाय कि जिस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ने 'मेरा दृश्य स्वरूप भी केवल माया ही है; मेरे यथार्थ स्वरूप को जानने के लिये इस माया से भी परे जाओ' कह कर यथार्थ उपदेश किया है उस प्रकार का उपदेश और किसने किया है? एवं 'अविभक्तं विभक्तेषु' इस सात्त्विक ज्ञानदृष्टि से सब धर्मों की एकता को पहचान कर, भक्तिमार्ग के थोथे झगड़ों की जड़ ही को काट डालनेवाले धर्मगुरु पहले पहल कहाँ अवतीर्ण हुए? अथवा उनके मतानुयायी अधिक कहाँ हैं? तो कहना पड़ेगा कि इस विषय में हमारी पवित्र भारतभूमि को ही अग्रस्थान दिया जाना चाहिये। हमारे देशवासियों को राजविद्या का और राजगुह्य का यह साक्षात् पारस अनायास ही प्राप्त हो गया है। परन्तु जब हम देखते हैं कि हममें से ही कुछ लोग अपनी आँखों पर अज्ञानरूपी चश्मा लगाकर उस पारस को चकमक पत्थर कहने के लिए तैयार हैं तब हम अपने दुर्भाग्य के सिवा और क्या कहें?

प्रतीक कुछ भी हो, भक्तिमार्ग का फल प्रतीक में नहीं है। किन्तु उस प्रतीक में जो हमारा आन्तरिक भाव होता है, उस भाव में है। इसलिये यह सच है, कि प्रतीक के बारे में झगड़ा मचाने से कुछ लाभ नहीं। परन्तु अब यह शङ्का है कि वेदान्त की दृष्टि से जिस शुद्ध परमेश्वरस्वरूप की भावना प्रतीक में आरोपित करनी पड़ती है, उस शुद्ध परमेश्वरस्वरूप की कल्पना बहुतेरे लोग अपने प्रकृतिस्वभाव या अज्ञान के कारण ठीक ठीक कर नहीं सकते; ऐसी अवस्था में इन लोगों के लिये प्रतीक में शुद्ध भाव रख कर परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने का कौन सा उपाय है? यह कह देने से काम नहीं चल सकता, कि भक्तिमार्ग में ज्ञान का काम श्रद्धा से हो जाता है। इसलिये विश्वास से या श्रद्धा से परमेश्वर के शुद्धस्वरूप को जान कर प्रतीक में भी वही भाव रखो। बस तुम्हारा भाव सफल हो जायगा। कारण यह है कि भाव रखना मन का अर्थात् श्रद्धा का धर्म है सही; परन्तु उसे बुद्धि की थोड़ीबहुत सहायता बिना मिले कभी काम नहीं चल सकता। अन्य सब मनोधर्मों के अनुसार केवल श्रद्धा या प्रेम भी एक प्रकार से अन्धे ही हैं। यह बात केवल श्रद्धा या प्रेम को कभी मालूम हो नहीं सकती, कि किस पर श्रद्धा रखनी चाहिये और किस पर नहीं। अथवा किस से प्रेम करना चाहिये और किस से नहीं। यह काम प्रत्येक मनुष्य को अपनी बुद्धि से ही करना पड़ता है; क्योंकि निर्णय करने के लिये बुद्धि के सिवा कोई दूसरी इन्द्रिय नहीं है। सारांश यह है कि चाहे किसी मनुष्य की बुद्धि अत्यन्त तीव्र न भी हो, तथापि उसमें यह जानने का सामर्थ्य तो अवश्य ही होना चाहिये कि श्रद्धा, प्रेम या विश्वास कहाँ रखा जाय। नहीं तो अन्धश्रद्धा और उसी के साथ अन्धप्रेम भी धोखा खा जायगा और दोनों गड्ढे में जा गिरेंगे। विपरीत पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि श्रद्धारहित केवल बुद्धि ही यदि कुछ काम करने लगे, तो युक्तिवाद और तर्कज्ञान में फँस कर, न जाने वह कहाँ कहाँ भटकती रहेगी; वह जितनी ही अधिक तीव्र होगी, उतनी ही अधिक भटकेगी। इसके अतिरिक्त इस प्रकरण के आरम्भ ही में कहा जा चुका है कि श्रद्धा आदि मनोधर्मों की सहायता के बिना केवल बुद्धिगम्य ज्ञान में कर्तृत्वशक्ति भी उत्पन्न नहीं होती। अतएव श्रद्धा और ज्ञान अथवा मन और बुद्धि का हमेशा साथ रहना आवश्यक है। परन्तु मन और बुद्धि दोनों त्रिगुणात्मक प्रकृति ही के विकार हैं। इसलिये उनमें से प्रत्येक के जन्मतः तीन भेद – सात्त्विक, राजस और तामस हो सकते हैं। और यद्यपि उनका साथ हमेशा बना रहे, तो भी भिन्न भिन्न मनुष्यों में उनकी जितनी शुद्धता या अशुद्धता होगी, उसी हिसाब से मनुष्य के स्वभाव, समझ और व्यवहार भी भिन्न भिन्न हो जायँगे। यदि बुद्धि केवल जन्मतः अशुद्ध, राजस या तामस हो, तो उसका किया हुआ भले-बुरे का निर्णय गलत होगा; जिसका परिणाम यह होगा कि अन्धश्रद्धा के सात्त्विक अर्थात् शुद्ध होने पर भी वह धोखा खा जायगी। अच्छा; यदि श्रद्धा ही जन्मतः अशुद्ध हो, तो बुद्धि के सात्त्विक होने से भी कुछ लाभ नहीं।

मनुष्य को चाहिये, कि अपने प्रयत्न की मात्रा को कभी कम न करे। सारांश यह है, कि जिस प्रकार किसी मनुष्य के मन में कर्मयोग की जिज्ञासा उत्पन्न होते ही धीरे धीरे पूर्ण सिद्धि की ओर आप-ही-आप आकर्षित हो जाता है (गीता ६. ४४) उसी प्रकार गीताधर्म का यह सिद्धान्त है कि जब भक्तिमार्ग में कोई भक्त एक बार अपने तई ईश्वर को सौंप देता है तो स्वयं भगवान् ही उसकी निष्ठा को बढ़ाते चले जाते हैं; और अन्त में यथार्थस्वरूप का ज्ञान भी करा देते हैं (गीता ७. २१; १०. १०)। इसी ज्ञान से — न कि केवल कोरी और अन्ध श्रद्धा से — भगवद्भक्त को अन्त में पूर्ण सिद्धि मिल जाती है। भक्तिमार्ग से इस प्रकार ऊपर चढ़ते चढ़ते अन्त में जो स्थिति प्राप्त होती है वह और ज्ञानमार्ग से प्राप्त होनेवाली अन्तिम स्थिति दोनों एक ही समान हैं। इसलिये गीता को पढ़ने वालों के ध्यान में यह बात सहज ही आ जायगी कि बारहवें अध्याय में भक्तिमान् पुरुष की अन्तिम स्थिति का जो वर्णन किया गया है वह दूसरे अध्याय में किये गये स्थितप्रज्ञ के वर्णन ही के समान है। इससे यह बात प्रकट होती है कि यद्यपि आरम्भ में ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग से भिन्न हों तथापि जब कोई अपने अधिकारभेद के कारण ज्ञानमार्ग से या भक्तिमार्ग से चलने लगता है तब अन्त में ये दोनों मार्ग एकत्र मिल जाते हैं। और जो गति ज्ञानी को प्राप्त होती है वही गति भक्त को भी मिला करती है। इन दोनों मार्गों में भेद सिर्फ इतना ही है कि ज्ञानमार्ग में आरम्भ ही से बुद्धि के द्वारा परमेश्वरस्वरूप का आकलन करना पड़ता है भक्तिमार्ग में यही स्वरूप श्रद्धा की सहायता से ग्रहण कर लिया जाता है। परन्तु यह प्राथमिक भेद आगे नष्ट हो जाता है और भगवान स्वयं कहते हैं कि —

> श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
> ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात् जब श्रद्धावान मनुष्य इन्द्रियनिग्रहद्वारा ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है; तब उसे ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान का अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शान्ति मिलती है (गी. ४. ३९)। अथवा —

> भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ *

अर्थात् मेरे स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान भक्ति से होता है; और जब यह ज्ञान हो जाता है तब (पहले नहीं) वह भक्त मुझमें आ मिलता है (गीता १८. ५५ और

---

* इस श्लोक के 'भक्त्या' का अर्थ ... शाण्डिल्यसूत्र (सू. १५) में यह सिद्धान्त का प्रयत्न किया गया है कि भक्ति ज्ञान का साधन नहीं है, किन्तु वह स्वतन्त्र साधन या निष्ठा है। परन्तु यह अर्थ अन्य साम्प्रदायिक अर्थों के समान आग्रह का है — सरल नहीं है।

११ ५४ भी देखिये) परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होने के लिये इन दो मार्गों के सिवा कोई तीसरा मार्ग नहीं है। इसलिये गीता में यह बात स्पष्ट रीति से कह दी गई है कि जिसे न तो स्वयं अपनी बुद्धि है और न श्रद्धा उसका सर्वथा नाश ही समझिये –
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति (गीता ४ ४)।

ऊपर कहा गया है, कि श्रद्धा और भक्ति से अन्त में पूर्ण ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त होता है। इस पर कुछ तार्किकों की यह दलील है कि यदि भक्तिमार्ग का प्रारम्भ इस द्वैतभाव से ही किया जाता है कि उपास्य भिन्न है और उपासक भी भिन्न है तो अन्त में ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान कैसे होगा? परन्तु यह दलील केवल भ्रान्तिमूलक है। यदि ऐसे तार्किकों के कथन का सिर्फ इतना अर्थ हो कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के होने पर भक्ति का प्रवाह रुक जाता है तो उसमें कुछ आपत्ति दीख नहीं पड़ती। क्योंकि अध्यात्मशास्त्र का भी यही सिद्धान्त है कि जब उपास्य उपासक और उपासनारूपी त्रिपुटी का लय हो जाता है तब वह व्यापार बन्द हो जाता है जिसे व्यवहार में भक्ति कहते हैं। परन्तु यदि उक्त दलील का यह अर्थ हो कि द्वैतमूलक भक्तिमार्ग से अन्त में अद्वैतज्ञान हो ही नहीं सकता तो यह दलील न केवल तर्कशास्त्र की दृष्टि से किन्तु बड़े बड़े भगवद्भक्तों के अनुभव के आधार से भी मिथ्या सिद्ध हो सकती है। तर्कशास्त्र की दृष्टि से इस बात में कुछ रुकावट नहीं दीख पड़ती कि परमेश्वरस्वरूप में किसी भक्त का चित्त ज्यों ज्यों अधिकाधिक स्थिर होता जावे त्यों त्यों उसके मन से भेदभाव भी छूटता चला जावे। ब्रह्मसृष्टि में भी हम यही देखते हैं कि यद्यपि आरम्भ में पारे की बूँदें भिन्न भिन्न होती हैं तथापि वे आपस में मिल कर एकत्र हो जाती हैं। इसी प्रकार अन्य पदार्थों में भी एकीकरण की क्रिया का आरम्भ प्रायशः भिन्नता ही से हुआ करता है; और भृङ्गी-कीट का दृष्टान्त तो सब लोगों को विदित ही है। इस विषय में तर्कशास्त्र की अपेक्षा साधुपुरुषों के प्रत्यक्ष अनुभव को ही अधिक प्रामाणिक समझना चाहिये। भगवद्भक्त-शिरोमणि तुकाराम महाराज का अनुभव हमारे लिये विशेष महत्त्व का है। सब लोग मानते हैं कि तुकाराम महाराज को कुछ उपनिषदादि ग्रन्थों के अध्ययन से अध्यात्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था; तथापि उनकी गाथा में लगभग चार सौ 'अभङ्ग' अद्वैतस्थिति के वर्णन में कहे गये हैं इन सब अभङ्गों में 'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७ १)का भाव प्रतिपादित किया गया है। अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् में जैसा याज्ञवल्क्य ने 'सर्वमात्मैवाभूत्' कहा है वैसे ही अर्थ का प्रतिपादन स्वानुभव से किया गया है। उदाहरण के लिये उनके एक ही अभङ्ग का कुछ आशय देखिये –

गुड़ सा मीठा है भगवान् बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक ? जलतरङ्ग से हैं हम एक॥

इसके आरम्भ का प्रसङ्ग हमने अध्यात्मप्रकरण में दिया है और वहाँ यह दिखलाया है कि उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से उनके अर्थ की किसी तरह पूरी

क्योंकि ऐसी अवस्था में बुद्धि की आज्ञा का मानने के लिये श्रद्धा तैयार ही नहीं रहती। परन्तु साधारण अनुभव यह है कि बुद्धि और मन दोनों अलग अलग अमन्द नहीं रहते। जिसकी बुद्धि जन्मतः अशुद्ध होती है उसका मन अर्थात् श्रद्धा भी प्रायः न्यूनाधिक अवस्था ही में रहती है और फिर यह अशुद्ध बुद्धि स्वभावतः अशुद्ध अवस्था में रहनेवाली श्रद्धा को अधिकाधिक भ्रम में डाल दिया करती है। ऐसी अवस्था में रहनेवाले किसी मनुष्य को परमेश्वर के शुद्धस्वरूप का चाहे जैसा उपदेश किया जाय परन्तु वह उसके मन में जँचता ही नहीं। अथवा यह भी देखा गया है कि कभी कभी – विशेषतः श्रद्धा और बुद्धि दोनों ही जन्मतः अपक्क और और कमजोर हों तब – वह मनुष्य उसी उपदेश का विपरीत अर्थ किया करता है। इसका एक उदाहरण लीजिये। जब ईसाई धर्म के उपदेशक आफ्रिकानिवासी नीग्रो जाति के बहशी लोगों को अपने धर्म का उपदेश करने लगते हैं तब उन्हें आकाश में रहनेवाले पिता की अथवा ईसा मसीह की भी यथार्थ कुछ भी कल्पना हो नहीं सकती। उन्हें जो कुछ बतलाया जाता है उसे वे अपनी अपक्वबुद्धि के अनुसार अयथार्थभाव से ग्रहण किया करते हैं। इसीलिये एक अंग्रेज ग्रन्थकार ने लिखा है कि उन लोगों में सुधरे हुए धर्म को समझने की पात्रता लाने के लिये सब से पहले उन्हें अर्वाचीन मनुष्यों की योग्यता को पहुँचा देना चाहिये।* भवभूति के इस दृष्टान्त में भी वही अर्थ है – एक ही गुरु के पास पढ़े हुए शिष्यों में भिन्नता दीख पड़ती है। यद्यपि सूर्य एक ही है तथापि उसके प्रकाश से काँच के मणि से आग निकलती है और मिट्टी के ढेले पर कुछ परिणाम नहीं होता (उ. राम. ४)। प्रतीत होता है, कि प्रायः इसी कारण से प्राचीन समय में शूद्र आदि अज्ञजन वेदश्रवण के लिये अनधिकारी माने जाते होंगे।† गीता में भी इस विषय की चर्चा की गई है। जिस प्रकार बुद्धि के स्वभावतः सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं (१८. ३०–३२) उसी प्रकार श्रद्धा के स्वभावतः तीन होते हैं (१७. २)। प्रत्येक व्यक्ति के देहस्वभाव के अनुसार उसकी श्रद्धा भी स्वभावतः भिन्न हुआ करती है (१७. ३)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि जिन लोगों की श्रद्धा सात्त्विक है वे देवताओं में जिनकी श्रद्धा राजस है, वे यक्ष राक्षस आदि में और जिनकी श्रद्धा तामस है वे भूत-पिशाच आदि में विश्वास करते हैं (गीता १७. ४–६)। यदि मनुष्य की श्रद्धा का अच्छापन या बुरापन इस

---

* And the only way, I suppose, in which beings of so low an order of development (e.g. an Australian savage or a Bushman) could be raised to a civilized level of feeling and thought would be by cultivation continued through several generations; they would have to undergo a gradual process of humanization before they could attain to the capacity of civilization. Dr. Maudsley, *Body and Mind*, Ed. 1873, p. 57.

† See Max Müller, *Three Lectures on the Vedanta Philosophy*, pp. 72, 73.

नैसर्गिक स्वभाव पर अवलम्बित है तो अब यह प्रश्न होता है कि यथाशक्ति भक्ति भाव से इस श्रद्धा में कुछ सुधार हो सकता है या नहीं? और वह किसी समय शुद्ध अर्थात् सात्त्विक अवस्था को पहुँच सकती है या नहीं? भक्तिमार्ग के इस प्रश्न का स्वरूप कर्मविपाकप्रक्रिया के ठीक इस प्रश्न के समान है कि ज्ञान की प्राप्ति कर लेने के लिये मनुष्य स्वतन्त्र है, या नहीं? कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही है। भगवान् ने अर्जुन को पहले यही उपदेश किया कि 'मय्येव मन आधत्स्व' (गीता १२. ८) अर्थात् मेरे शुद्धस्वरूप में तू अपने मन को स्थिर कर और इसके बाद परमेश्वरस्वरूप को मन में स्थिर करने के लिये भिन्न भिन्न उपायों का इस प्रकार वर्णन किया है – 'यदि तू मेरे स्वरूप में अपने चित्त को स्थिर न कर सकता हो तो तू अभ्यास अर्थात् बारबार प्रयत्न कर। यदि तुझ से अभ्यास भी न हो सके, तो मेरे लिये चित्तशुद्धिकारक कर्म कर। यदि यह भी न हो सके, तो कर्मफल का त्याग कर और उससे मेरी प्राप्ति कर ले' (गीता १ –११; भाग ११ १ १–)। यदि मूल देहस्वभाव अथवा प्रकृति तामस हो तो परमेश्वर के शुद्धस्वरूप में चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न एकदम या एक ही जन्म में सफल नहीं होगा। परन्तु कर्मयोग के समान भक्तिमार्ग में भी कोई बात निष्फल नहीं होती। स्वयं भगवान् सब लोगों को इस प्रकार भरोसा देते हैं –

> बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
> वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

जब कोई मनुष्य एक बार भक्तिमार्ग से चलने लगता है तब इस जन्म नहीं तो अगले जन्म में, अगले जन्म में नहीं तो उसके आगे के जन्म में, कभी-न-कभी, उसको परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि 'यह सब वासुदेवात्मक ही है' और इस ज्ञान से अन्त में उसे मुक्ति भी मिल जाती है (गीता ७ १)। छठे अध्याय में भी इसी प्रकार कर्मयोग का अभ्यास करनेवाले के विषय में कहा गया है कि 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (६ ४५) और भक्तिमार्ग के लिये भी यही नियम उपयुक्त होता है। भक्त को चाहिये कि वह जिस देवता का भाव प्रतीक में रखना चाहे उसके स्वरूप को अपने देहस्वभाव के अनुसार पहले ही से यथाशक्ति शुद्ध मान ले। कुछ समय तक इसी भावना का फल परमेश्वर (प्रतीक नहीं) दिया करता है (७)। परन्तु इसके आगे चित्तशुद्धि के लिये किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती। यदि परमेश्वर की वही भक्ति यथामति हमेशा जारी रहे तो भी भक्त के अन्तःकरण की भावना आप ही आप उन्नत हो जाती है; परमेश्वरसंबंधी ज्ञान की वृद्धि भी होने लगती है; मन की ऐसी अवस्था हो जाती है कि 'वासुदेवः सर्वम्' – उपास्य और उपासक का भेदभाव शेष नहीं रह जाता; और अन्त में शुद्ध ब्रह्मानन्द में आत्मा का लय हो जाता है।

क्योंकि ऐसी अवस्था में बुद्धि को ग्राह्य का मानने के लिये श्रद्धा तैयार ही नहीं रहती। परन्तु साधारण अनुभव यह है कि बुद्धि और मन दोनों अलग अलग अशुद्ध नहीं रहते। जिसकी बुद्धि स्वभावतः अशुद्ध होती है उसका मन अर्थात् श्रद्धा भी प्रायः न्यूनाधिक अवस्था ही में रहती है; और फिर यह अशुद्ध बुद्धि स्वभावतः अशुद्ध अवस्था में रहनेवाली श्रद्धा को अधिकाधिक भ्रम में डाल दिया करती है। ऐसी अवस्था में रहनेवाले किसी मनुष्य को परमेश्वर के शुद्धस्वरूप का चाहे जैसा उपदेश किया जाय, परन्तु वह उसके मन में जँचता ही नहीं। अथवा यह भी देखा गया है कि कभी कभी – विशेषतः श्रद्धा और बुद्धि दोनों ही जन्मतः अपक्व और और कमजोर हों तब – वह मनुष्य उसी उपदेश का विपरीत अर्थ किया करता है। इसका एक उदाहरण लीजिये। जब इसाई धर्म के उपदेशक आफ्रिकानिवासी नीग्रो जाति के जङ्गली लोगों को अपने धर्म का उपदेश करने लगते हैं तब उन्हें आकाश में रहनेवाले पिता की अथवा ईसा मसीह की भी यथार्थ कुछ भी कल्पना हो नहीं सकती। उन्हें जो कुछ बतलाया जाता है उसे वे अपनी अपक्वबुद्धि के अनुसार अयथार्थभाव से ग्रहण किया करते हैं। इसीलिये एक अंग्रेज ग्रन्थकार ने लिखा है कि उन लोगों में सुधरे हुए धर्म को समझने की पात्रता लाने के लिये सब से पहले उन्हें अर्वाचीन मनुष्यों की योग्यता को पहुँचा देना चाहिये।* भवभूति के इस दृष्टान्त में भी यही अर्थ है – एक ही गुरु के पास पढ़े हुए शिष्यों में भिन्नता दीख पड़ती है। यद्यपि सूर्य एक ही है तथापि उसके प्रकाश से काँच के मणि से आग निकलती है और मिट्टी के ढेले पर कुछ परिणाम नहीं होता (उ. राम. २. ४)। प्रतीत होता है कि प्रायः इसी कारण से प्राचीन समय में शूद्र आदि अज्ञजन वेदश्रवण के लिये अनधिकारी माने जाते होंगे।† गीता में भी इस विषय की चर्चा की गई है। जिस प्रकार बुद्धि के स्वभावतः सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं (१८. ३०–३२) उसी प्रकार श्रद्धा के भी स्वभावतः तीन भेद होते हैं (१७. २)। प्रत्येक व्यक्ति के देहस्वभाव के अनुसार उसकी श्रद्धा भी स्वभावतः भिन्न हुआ करती है (१७. ३)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि जिन लोगों की श्रद्धा सात्त्विक है वे देवताओं में, जिनकी श्रद्धा राजस है वे यक्ष राक्षस आदि में और जिनकी श्रद्धा तामस है वे भूत पिशाच आदि में विश्वास करते हैं (गीता १७. ४–६)। यदि मनुष्य की श्रद्धा का अच्छापन या बुरापन इस

---

* "And the only way, I suppose, in which beings of so low an order of development (e.g. an Australian savage or a Bushman) could be raised to a civilized level of feeling and thought would be by cultivation continued through several generations; they would have to undergo a gradual process of humanization before they could attain to the capacity of civilization." Dr. Maudsley, *Body and Mind*, Ed. 1873, p. 57.

† See Max Müller's *Three Lectures on the Vedanta Philosophy*, pp. 72, 73.

मनुष्य को चाहिये कि अपने प्रयत्न की मात्रा को कभी कम न करे। तात्पर्य यह है, कि जिस प्रकार किसी मनुष्य के मन में कर्मयोग की जिज्ञासा उत्पन्न होते ही धीरे धीरे पूर्ण सिद्धि की ओर आप-ही-आप आकर्षित हो जाता है (गीता ६. ४४) उसी प्रकार गीताधर्म का यह सिद्धान्त है कि जब भक्तिमार्ग में कोई भक्त एक बार अपने तई ईश्वर को सौंप देता है, तो स्वयं भगवान् ही उसकी निष्ठा को बढ़ाते चले जाते हैं और अन्त में यथार्थस्वरूप का ज्ञान भी करा देते हैं (गीता ७. २१; १०. १०)। इसी ज्ञान से – न कि केवल कोरी और अन्ध श्रद्धा से – भगवद्भक्त को अन्त में पूर्ण सिद्धि मिल जाती है। भक्तिमार्ग से इस प्रकार ऊपर चढ़ते चढ़ते अन्त में जो स्थिति प्राप्त होती है वह और ज्ञानमार्ग से प्राप्त होनेवाली अन्तिम स्थिति दोनों एक ही समान हैं। इसलिये गीता को पढ़नेवालों के ध्यान में यह बात सहज ही आ जावेगी कि बारहवें अध्याय में भक्तिमान् पुरुष की अन्तिम स्थिति का जो वर्णन किया गया है वह दूसरे अध्याय में किये गये स्थितप्रज्ञ के वर्णन ही के समान है। इससे यह बात प्रकट होती है कि यद्यपि आरम्भ में ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग भिन्न हों तथापि जब कोई अपने अधिकारभेद के कारण ज्ञानमार्ग से या भक्तिमार्ग से चलने लगता है तब अन्त में ये दोनों मार्ग एकत्र मिल जाते हैं। और जो गति ज्ञानी को प्राप्त होती है वही गति भक्त को भी मिला करती है। इन दोनों मार्गों में भेद सिर्फ इतना ही है कि ज्ञानमार्ग में आरम्भ ही से बुद्धि के द्वारा परमेश्वरस्वरूप का आकलन करना पड़ता है, भक्तिमार्ग में यही स्वरूप श्रद्धा की सहायता से ग्रहण कर लिया जाता है। परन्तु यह प्राथमिक भेद आगे नष्ट हो जाता है और भगवान् स्वयं कहते हैं कि –

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात् जब श्रद्धावान् मनुष्य इन्द्रियनिग्रहद्वारा ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है तब उसे ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान का अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शान्ति मिलती है (गी. ४. ३९)। अथवा –

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥*

अर्थात् मेरे स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान भक्ति से होता है; और जब यह ज्ञान हो जाता है तब (पहले नहीं) वह भक्त मुझमें आ मिलता है (गीता १८. ५५ और

* इस श्लोक के 'अभि' उपसर्ग पर जोर देकर शाण्डिल्यसूत्र (सू. १५) में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि भक्ति ज्ञान का साधन नहीं है, किन्तु वह स्वतन्त्र साध्य या निष्ठा है। परन्तु यह अर्थ अन्य साम्प्रदायिक अर्थों के समान आग्रह का है – सरल नहीं है।

११. ५४ भी देखिये) परमेश्वर का पूरा ज्ञान होने के लिये इन दो मार्गों के सिवा कोई तीसरा मार्ग नहीं है। इसलिये गीता में यह बात स्पष्ट रीति से कह दी गई है, कि जिसे न तो स्वयं अपनी बुद्धि है और न श्रद्धा, उसका सर्वथा नाश ही समझिये — 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' (गीता ४. ४०)।

ऊपर कहा गया है कि श्रद्धा और भक्ति से अन्त में पूर्ण ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त होता है। इस पर कुछ तार्किकों की यह दलील है कि यदि भक्तिमार्ग का आरम्भ इस द्वैतभाव से ही किया जाता है कि उपास्य भिन्न है और उपासक भी भिन्न है तो अन्त में ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान कैसे होगा? परन्तु यह दलील केवल भ्रान्तिमूलक है। यदि ऐसे तार्किकों के कथन का सिर्फ इतना अर्थ हो कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के होने पर भक्ति का प्रवाह रुक जाता है तो उसमें कुछ आपत्ति दीख नहीं पड़ती। क्योंकि अध्यात्मशास्त्र का भी यही सिद्धान्त है कि जब उपास्य, उपासक और उपासनारूपी त्रिपुटी का लय हो जाता है तब वह व्यापार बन्द हो जाता है जिसे व्यवहार में भक्ति कहते हैं। परन्तु यदि उक्त दलील का यह अर्थ हो कि द्वैतमूलक भक्तिमार्ग से अन्त में अद्वैतज्ञान हो ही नहीं सकता तो यह दलील न केवल तत्त्वज्ञान की दृष्टि से किन्तु बड़े बड़े भगवद्भक्तों के अनुभव के आधार से भी मिथ्या सिद्ध हो सकती है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इस बात में कुछ रुकावट नहीं दीख पड़ती कि परमेश्वरस्वरूप में किसी भक्त का चित्त ज्यों ज्यों अधिकाधिक स्थिर होता जाय त्यों त्यों उसके मन से भेदभाव भी छूटता चला जावे। ब्रह्मसृष्टि में भी हम यही देखते हैं कि यद्यपि आरम्भ में पारे की बूँदें भिन्न भिन्न होती हैं तथापि वे आपस में मिल कर एकत्र हो जाती हैं। इसी प्रकार अन्य पदार्थों में भी एकीकरण की क्रिया का आरम्भ प्राथमिक भिन्नता ही से हुआ करता है; और भृङ्गि-कीट का दृष्टान्त तो सब लोगों को विदित ही है। इस विषय में तत्त्वज्ञान की अपेक्षा साधुपुरुषों के प्रत्यक्ष अनुभव को ही अधिक प्रामाणिक समझना चाहिये। भगवद्भक्त-शिरोमणि तुकाराम महाराज का अनुभव हमारे लिये विशेष महत्त्व का है। सब लोग मानते हैं कि तुकाराम महाराज को कुछ उपनिषदादि ग्रन्थों के अध्ययन से अध्यात्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था तथापि उनकी गाथा में लगभग चार सौ अभङ्ग अद्वैतस्थिति के वर्णन में कहे गये हैं। इन सब अभङ्गों में 'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७. १९) का भाव प्रतिपादित किया गया है अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् में जैसा याज्ञवल्क्य ने 'सर्वमात्मैवाभूत्' कहा है वैसे ही अर्थ का प्रतिपादन स्वानुभव से किया गया है। उदाहरण के लिये उनके एक अभंग का कुछ आशय देखिये :—

गुड़ सा मीठा है भगवान् बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक? जलतरङ्गवत् हैं हम एक ॥

इसके आरम्भ का उल्लेख हमने अध्यात्मप्रकरण में किया है; और वहाँ यह दिखलाया है कि उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से उनके अर्थ की किसी तरह पूरी

पूरी समता है। जब कि स्वयं तुकाराम महाराज अपने अनुभव से भक्त की परमावस्था का वर्णन इस प्रकार कर रहे हैं; तब यदि कोई तार्किक यह कहने का साहस करे – कि भक्तिमार्ग से अद्वैतज्ञान हो नहीं सकता, अथवा देवताओं पर केवल अन्धविश्वास करने से ही मोक्ष मिल जाता है, इसके लिये ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं – तो इसे आश्चर्य ही समझना चाहिये।

भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग का अन्तिम साध्य एक ही है; और परमेश्वर के अनुभवात्मक ज्ञान से ही अन्त में मोक्ष मिलता है – यह सिद्धान्त दोनों मार्गों में एक ही सा बना रहता है। यही क्यों? बल्कि अध्यात्मप्रकरण में और कर्मविपाक प्रकरण में पहले जो और सिद्धान्त बतलाये गये हैं, वे भी सब गीता के भक्तिमार्ग में कायम रहते हैं। उदाहरणार्थ, भागवतधर्म में कुछ लोग इस प्रकार चतुर्व्यूहरूपी सृष्टि की उत्पत्ति बतलाया करते हैं कि वासुदेवरूपी परमेश्वर से संकर्षणरूपी जीव उत्पन्न हुआ और फिर संकर्षण से प्रद्युम्न अर्थात् मन तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार हुआ। कुछ लोग तो इन व्यूहों में से तीन, दो या एक ही को मानते हैं। परन्तु जीव की उत्पत्ति के विषय में ये मत सच नहीं हैं। उपनिषदों के आधार पर वेदान्तसूत्र (२. ३. १७ और २. ३. ४२–४५ देखो) में निश्चय किया गया है कि अध्यात्मदृष्टि से जीव सनातन परमेश्वर ही का सनातन अंश है। इसलिये भगवद्गीता में केवल भक्तिमार्ग की उक्त चतुर्व्यूहसम्बन्धी कल्पना छोड़ दी गई है; और जीव के विषय में वेदान्तसूत्रकारों का ही उपर्युक्त सिद्धान्त दिया गया है (गीता २. २४; ८. २०; १३. २२ और १५. ७ देखो)। इससे यही सिद्ध होता है कि वासुदेवभक्ति और कर्मयोग ये दोनों तत्त्व गीता में यद्यपि भागवतधर्म से ही लिये गये हैं; तथापि क्षेत्रज्ञरूपी जीव और परमेश्वर के स्वरूप के विषय में अध्यात्मज्ञान से भिन्न किसी अन्य और ऊटपटाँग कल्पनाओं को गीता में स्थान नहीं दिया गया है। अब यद्यपि गीता में भक्ति और अध्यात्म अथवा श्रद्धा और ज्ञान का पूरा पूरा मेल रखने का प्रयत्न किया गया है; तथापि यह स्मरण रहे कि जब अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्त भक्तिमार्ग में लिये जाते हैं, तब उनमें कुछ न कुछ शब्दभेद अवश्य करना पड़ता है – और गीता में ऐसा भेद किया भी गया है। ज्ञानमार्ग के और भक्तिमार्ग के इस शब्दभेद के कारण कुछ लोगों ने भूल से समझ लिया है कि गीता में जो सिद्धान्त कभी भक्ति की दृष्टि से और कभी ज्ञान की दृष्टि से कहे गये हैं, उनमें परस्पर विरोध है; अतएव उतने भर के लिये गीता असम्बद्ध है। परन्तु हमारे मत से यह विरोध वस्तुतः सच नहीं है; और हमारे शास्त्रकारों ने अध्यात्म तथा भक्ति में जो मेल कर दिया है, उसकी ओर ध्यान न देने से ही ऐसे विरोध दिखाई दिया करते हैं। इसलिये यहाँ इस विषय का कुछ अधिक खुलासा कर देना चाहिये। अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा नामरूप से आच्छादित है। इसलिये अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से हम लोग कहा करते हैं कि जो आत्मा मुझमें है, वही सब प्राणियों में भी है –

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' (गीता ६. २९) अथवा 'यह सब आत्मा ही है — इदं सर्वमात्मैव'। परन्तु भक्तिमार्ग में अव्यक्त परमेश्वर ही का व्यक्त परमेश्वर का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। अतएव अब उक्त सिद्धान्त के बदले गीता में यह वचन पाया जाता है कि 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' — मैं (भगवान्) सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं (६. ३०), अथवा 'वासुदेवः सर्वमिति' — जो कुछ है वह सब वासुदेवमय है (७. १९), अथवा 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' — ज्ञान हो जाने पर तू सब प्राणियों को मुझमें और स्वयं अपने में भी देखेगा (४. ३५)। इसी कारण से भागवतपुराण में भी भगवद्भक्त का लक्षण इस प्रकार कहा गया है —

> सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
> भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

जो अपने मन में यह भेदभाव नहीं रखता कि मैं अलग हूँ, भगवान् अलग हैं और सब लोग भिन्न हैं, किन्तु जो सब प्राणियों के विषय में यह भाव रखता है कि भगवान् और मैं दोनों एक हैं और जो यह समझता है कि सब प्राणी भगवान् में और मुझमें भी हैं, वही सब भागवतों में श्रेष्ठ है (भाग. ११. २. ४५ और ११. २९. १६)। इससे दीख पड़ेगा कि अध्यात्मशास्त्र के 'अव्यक्त परमात्मा' शब्दों के बदले 'व्यक्त परमेश्वर' शब्द का प्रयोग किया गया है — बस यही भेद है। अध्यात्मशास्त्र में यह बात युक्तिवाद से सिद्ध हो चुकी है कि परमात्मा के अव्यक्त होने के कारण सारा जगत् आत्ममय है। परन्तु भक्तिमार्ग प्रत्यक्ष अवगम्य है; इसलिये परमेश्वर की अनेक व्यक्त विभूतियों का वर्णन करके और अर्जुन को दिव्यदृष्टि देकर प्रत्यक्ष विश्वरूपदर्शन से इस बात की साक्षात्प्रतीति करा दी है कि सारा जगत् परमेश्वर (आत्म)मय है (गी. अ. १० और ११)। अध्यात्मशास्त्र में कहा गया है कि कर्म का लय ज्ञान से होता है। परन्तु भक्तिमार्ग का यह तत्त्व है कि सगुण परमेश्वर के सिवा इस जगत् में और कुछ नहीं है — वही ज्ञान है, वही कर्म है, वही ज्ञाता है, वही करनेवाला और फल देनेवाला भी है। अतएव सञ्चित, प्रारब्ध, क्रियमाण इत्यादि कर्मभेदों के झंझट में न पड़ भक्तिमार्ग के अनुसार यह प्रतिपादन किया जाता है कि कर्म करने की बुद्धि देनेवाला, कर्म का फल देनेवाला और कर्म का क्षय करनेवाला एक परमेश्वर ही है। उदाहरणार्थ, तुकाराम महाराज एकान्त में ईश्वर की प्रार्थना करके स्पष्टता से और प्रेमपूर्वक कहते हैं —

> एक बात एकान्त में सुन ले जगदाधार।
> सारे मेरे कर्म का प्रभु का कर्ता उपकार॥

यही भाव अन्य शब्दों में दूसरे स्थान पर इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि "प्रारब्ध, क्रियमाण और सञ्चित का झगड़ा भक्तों के लिये नहीं है। देखो, सब कुछ

ईश्वर ही है जो भीतर-बाहर सर्व व्याप्त है। भगवद्गीता में भगवान ने यही कहा है कि 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (१८. ६१) – ईश्वर ही सब लोगों के हृदय में निवास करके उनसे यन्त्र के समान सब कर्म करवाता है। कर्म-विपाक-प्रक्रिया में सिद्ध किया गया है कि ज्ञान की प्राप्ति कर लेने के लिये आत्मा को पूरी स्वतन्त्रता है। परन्तु उसके बदले भक्तिमार्ग में यह कहा जाता है कि उस बुद्धि का देनेवाला परमेश्वर ही है – 'तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्' (गी. ७. २१) अथवा 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (गी. १०. १०)। इसी प्रकार संसार में सब कर्म परमेश्वर की ही सत्ता से हुआ करते हैं। इसलिये भक्तिमार्ग में यह वर्णन पाया जाता है कि वायु भी उसी के भय से चलती है और सूर्य तथा चन्द्र भी उसी की शक्ति से चलते हैं (कठ. ६. ३; बृ. ३. ८. ९)। अधिक क्या कहा जाय; उसकी इच्छा के बिना पेड़ का एक पत्ता तक नहीं हिलता। यही कारण है कि भक्तिमार्ग में यह कहते हैं कि मनुष्य केवल निमित्तमात्र ही के लिये सामने रहता है (गीता ११. ३३) और उसके सब व्यवहार परमेश्वर ही उसके हृदय में निवास कर उससे कराया करता है। साधु तुकाराम कहते हैं कि 'यह प्राणी केवल निमित्त ही के लिये स्वतन्त्र है। 'मेरा मेरा' कह कर व्यर्थ ही यह अपना नाश कर लेता है।' इस जगत् के व्यवहार और सुस्थिति को स्थिर रखने के लिये सभी लोगों को कर्म करना चाहिये। परन्तु ईशावास्योपनिषद् का जो यह तत्त्व है – कि जिस प्रकार अज्ञानी लोग किसी कर्म को 'मेरा' कह कर किया करते हैं वैसा न कर ज्ञानी पुरुष को ब्रह्मार्पणबुद्धि से सब कर्म मृत्युपर्यन्त करते रहना चाहिये – उसीका तात्पर्य उक्त उपदेश में है। यही उपदेश भगवान् ने अर्जुन को इस श्लोक में किया है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

अर्थात् 'जो कुछ तू करेगा, खायेगा, हवन करेगा, देगा या तप करेगा, वह सब मुझे अर्पण कर' (गीता ९. २७); इससे तुझे कर्म की बाधा नहीं होगी। भगवद्गीता का यही श्लोक शिवगीता (१ ४) में पाया जाता है और भागवत के इस श्लोक में भी उसी अर्थ का वर्णन है :–

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

'काया, वाचा, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या आत्मा की प्रवृत्ति से अथवा स्वभाव के अनुसार जो कुछ हम किया करते हैं वह सब परात्पर नारायण को समर्पण कर दिया जावे' (भाग. ११. २. ३६)। तात्पर्य यह है कि अध्यात्मशास्त्र में जिसे ज्ञान-कर्म-समुच्चय पक्ष, फलाशात्याग अथवा ब्रह्मार्पणपूर्वक कर्म कहते हैं (गीता

परन्तु जहाँ धर्मभेद से अर्थ के अनर्थ हो जाने का भय रहता है, वहाँ इस प्रकार से धर्मभेद भी नहीं किया जाता; क्योंकि अर्थ ही प्रधान बात है। उदाहरणार्थ, कर्म-विपाक-प्रक्रिया का सिद्धान्त है कि ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रत्येक मनुष्य सर्वदा प्रयत्न करे और अपना उद्धार आप ही कर ले। यदि इसमें धर्मों का कुछ भेद करके यह कहा जाय कि यह काम भी परमेश्वर ही करता है, तो मूढ़ जन आलसी हो जावेंगे। इसलिये 'आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः' – आप ही अपना शत्रु और आप ही अपना मित्र है (गीता ६.५) – यह तत्त्व भक्तिमार्ग में भी प्रायः ज्यों-का-त्यों अर्थात् धर्मभेद न करके बतलाया जाता है। साधु तुकाराम के इस भाव का उल्लेख पहले हो चुका है कि 'इससे किसीका क्या नुकसान हुआ? अपनी बुराई अपने हाथों कर ली।' इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा है, कि 'ईश्वर के पास कुछ मोक्ष की गठड़ी नहीं धरी है कि वह किसी के हाथ में दे दे। यहाँ तो इन्द्रियों को जीतना और मन का निर्विषय करना ही मुख्य उपाय है।' क्या यह उपनिषदों के इस मन्त्र – 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' – के समान नहीं है? यह सच है कि परमेश्वर ही इस जगत की सब घटनाओं का करने वाला है। परन्तु उस पर निर्दयता का और पक्षपात करने का दोष न लगाया जावे इस लिये कर्म विपाक प्रक्रिया में यह सिद्धान्त कहा गया है कि परमेश्वर प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार फल दिया करता है। इसी कारण से यह सिद्धान्त भी – बिना किसी प्रकार का धर्मभेद किये ही – भक्तिमार्ग में ले लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि उपासना के लिये ईश्वर को व्यक्त मानना पड़ता है, तथापि अध्यात्मशास्त्र का यह सिद्धान्त भी हमारे यहाँ के भक्तिमार्ग में कभी छूट नहीं जाता कि जो कुछ व्यक्त है वह सब माया है और सत्य परमेश्वर उसके परे है। ऊपर कह चुके हैं कि इसी कारण से गीता में वेदान्तसूत्रप्रतिपादित जीव का स्वरूप ही स्थिर रखा गया है। मनुष्य के मन में प्रत्यक्ष की ओर अथवा व्यक्त की ओर झुकने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है, उसमें और तत्त्वज्ञान के गहन सिद्धान्तों में [illegible] की अधिक [illegible] रीति किसी भी अन्य देश के भक्ति-मार्ग में दिख नहीं पड़ती। [illegible] जिज्ञासा का यह हाल दिख पड़ता है कि [illegible] की किसी गहन विभूति का स्वीकार कर व्यक्त का [illegible] [illegible] उसके लिये [illegible] और [illegible] [illegible] के विषय में [illegible]

[illegible] मिथ्या [illegible] का मन करने [illegible]

[illegible]

इसी मार्ग का स्वीकार क्यों न करे, अन्त में उसे एक ही सी शान्ति प्राप्त होती है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, कि अव्यक्त ज्ञान और व्यक्त भक्ति के मेल का यह महत्त्व केवल व्यक्त क्राइस्ट में ही लिपटे रहनेवाले धर्म के पण्डितों के ध्यान में नहीं आ सका; और इसलिये उनकी एकदेशीय तथा तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कच्ची नजर से गीताधर्म में उन्हें विरोध दीख पड़ने लगा। परन्तु आश्चर्य की बात तो यही है कि वैदिक धर्म के इस गुण की प्रशंसा न कर हमारे देश के कुछ अनुकरणप्रेमी जन आजकल इसी गुण की निन्दा करते देखे जाते हैं। माघ काव्य का (१९. ४२) यह वचन इसी बात का एक अच्छा उदाहरण है कि "अथवाऽभिनिविष्टबुद्धिषु। व्रजति व्यर्थकतां सुभाषितम्।" – मोटी समझ से जब एक बार मन ग्रस्त हो जाता है, तब मनुष्य को अच्छी बातें भी ठीक नहीं जँचतीं।

स्मार्तमार्ग में चतुर्थाश्रम का जो महत्त्व है, वह भक्तिमार्ग में अथवा भागवतधर्म में नहीं है। वर्णाश्रमधर्म का वर्णन भागवतधर्म में भी किया जाता है; परन्तु उस धर्म का सारा दारमदार भक्ति पर ही होता है। इसलिये जिसकी भक्ति उत्कट हो वही सब में श्रेष्ठ माना जाता है – फिर चाहे वह गृहस्थ हो, वानप्रस्थ या वैरागी हो; इसके विषय में भागवतधर्म में कुछ विधिनिषेध नहीं है (भा. ११. १८. १३, १४ देखो)। संन्यास आश्रम स्मार्तधर्म का एक आवश्यक भाग है; भागवतधर्म का नहीं। परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं, कि भागवतधर्म के अनुयायी कभी विरक्त न हो; गीता में ही कहा है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों मोक्ष की दृष्टि से समान योग्यता के हैं। इसलिये यद्यपि चतुर्थाश्रम का स्वीकार न किया जाय, तथापि सांसारिक कर्मों को छोड़ वैरागी हो जानेवाले पुरुष भक्तिमार्ग में भी पाये जा सकते हैं। यह बात पूर्व समय से ही कुछ कुछ चली आ रही है। परन्तु उस समय इन लोगों की प्रभुता न थी; और ग्यारहवें प्रकरण में यह बात स्पष्ट रीति से बतला दी गई है कि भगवद्गीता में कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग ही को अधिक महत्त्व दिया गया है। कालान्तर से कर्मयोग का यह महत्त्व लुप्त हो गया; और वर्तमान समय में भागवतधर्मीय लोगों की भी यही समझ हो गई है, कि भगवद्भक्त वही है कि जो सांसारिक कर्मों को छोड़ विरक्त हो, केवल भक्ति में ही निमग्न हो जाय। इसलिये यहाँ भक्ति की दृष्टि से फिर भी कुछ थोड़ा-सा विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है, कि इस विषय में गीता का मुख्य सिद्धान्त और सच्चा उपदेश क्या है। भक्तिमार्ग का अथवा भागवतधर्म का ब्रह्म स्वयं सगुण भगवान् ही है। यदि यही भगवान् स्वयं सारे संसार के कर्ता-धर्ता हैं और साधुओं की रक्षा करने तथा दुष्टों का दण्ड देने के लिये समय समय पर अवतार लेकर इस जगत् का धारण पोषण किया करते हैं, तो यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि भगवद्भक्तों को भी लोकसंग्रह के लिये उन्हीं भगवान् का अनुकरण करना चाहिये। हनुमानजी रामचन्द्र के बड़े भारी भक्त थे; परन्तु उन्होंने रावण आदि दुष्टों के निर्दलन करने का काम कुछ

छोड़ नहीं दिया था। भीष्मपितामह की गणना भी परम भगवद्भक्तों में की जाती है; परन्तु यद्यपि वे स्वयं मृत्युपर्यंत ब्रह्मचारी रहे तथापि उन्होंने स्वधर्मानुसार स्वकीयों की और राज्य की रक्षा करने का काम अपने जीवन भर जारी रक्खा था। यह बात सच है, कि जब भक्ति के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब भक्त को स्वयं अपने हित के लिये कुछ प्राप्त कर लेना शेष नहीं रह जाता। परन्तु प्रेमपूर्वक भक्तिमार्ग से दया, करुणा, कर्तव्यप्रीति इत्यादि श्रेष्ठ मनोवृत्तियों का नाश नहीं हो सकता; बल्कि वे और भी अधिक शुद्ध हो जाती हैं। ऐसी दशा में यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता, कि कर्म करें या न करें? वरन् भगवद्भक्त तो वही है, कि जिसके मन में ऐसा अभेदभाव उत्पन्न हो जाय –

> जिसका कोई न हो हृदय से उसे लगावे।
> प्राणिमात्र के लिये प्रेम की ज्योति जगावे।
> सब में विभु को व्याप्त जान सब को अपनावे।
> है बस ऐसा वही भक्त की पदवी पावे॥

ऐसी अवस्था में स्वभावतः उन लोगों की वृत्ति लोकसंग्रह ही के अनुकूल हो जाती है, जैसा कि ग्यारहवें प्रकरण में कहा आये हैं – "सन्तों की विभूतियाँ जगत् के कल्याण ही के लिये हुआ करती हैं। वे लोग परोपकार के लिये अपने शरीर को कष्ट दिया करते हैं।" जब यह मान लिया कि परमेश्वर ही इस सृष्टि को उत्पन्न करता है और उसके सब व्यवहारों को भी किया करता है, तब यह अवश्य ही मानना पड़ेगा, कि उसी सृष्टि के व्यवहारों को सरलता से चलाने के लिये चातुर्वर्ण्य आदि जो व्यवस्थायें हैं वे उसी की इच्छा से निर्मित हुई हैं। गीता में भी भगवान ने स्पष्ट रीति से यही कहा है कि "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" (गीता ४. १३)। अर्थात् यह परमेश्वर ही की इच्छा है कि प्रत्येक मनुष्य अपने अपने अधिकार के अनुसार समाज के इन कामों को लोकसंग्रह के लिये करता रहे। इसीसे आगे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के जो व्यवहार परमेश्वर की इच्छा से चल रहे हैं उनका एक-आध विशेष भाग किसी मनुष्य के द्वारा पूरा कराने के लिये ही परमेश्वर उसको उत्पन्न किया करता है; और यदि परमेश्वर-द्वारा नियत किया गया उसका यह काम मनुष्य न करे तो परमेश्वर ही की अवज्ञा करने का पाप उसे लगेगा। यदि तुम्हारे मन में यह अहङ्कार-बुद्धि जागृत होगी कि ये काम मेरे हैं अथवा मैं इन्हें अपने स्वार्थ के लिये करता हूँ तो उन कर्मों के भले-बुरे फल तुम्हें अवश्य भोगने पड़ेंगे। परन्तु तुम इन्हीं कर्मों को केवल स्वधर्म जान कर परमेश्वरार्पणपूर्वक इस भाव से करोगे कि "परमेश्वर के मन में जो कुछ करना है उसके लिये मुझे करके वह मुझसे काम कराता है" (गीता ११. ३३) तो इसमें कुछ अनुचित या अयोग्य नहीं। बल्कि गीता का यह कथन है कि इस स्वधर्माचरण से ही

सर्वभूतान्तर्गत परमेश्वर की सात्त्विक भक्ति हो जाती है। भगवान ने अपने सब उपदेशों का तात्पर्य गीता के अन्तिम अध्याय में उपसंहाररूप से अर्जुन को इस प्रकार बतलाया है – सब प्राणियों के हृदय में निवास करके परमेश्वर ही उन्हें यन्त्र के समान नचाता है इसलिये ये दोनों भावनाएँ मिथ्या हैं कि मैं अमुक कर्म को छोड़ता हूँ या अमुक कर्म को करता हूँ। फलाशा को छोड़ सब कर्म कृष्णार्पणबुद्धि से करते रहो। यदि तू ऐसा निग्रह करेगा कि मैं इन कर्मों को नहीं करता तो भी प्रकृतिधर्म के अनुसार तुझे कर्मों का करना ही होगा। अतएव परमेश्वर में अपने सब स्वार्थों का लय करके स्वधर्मानुसार प्राप्त व्यवहार को परमार्थबुद्धि से और वैराग्य से लोकसंग्रह के लिये तुझे अवश्य करना ही चाहिये मैं भी यही करता हूँ मेरे उदाहरण को देख और उसके अनुसार बर्ताव कर। जैसे ज्ञान का और निष्कामकर्म का विरोध नहीं वैसा ही भक्ति में और कृष्णार्पणबुद्धि से किये गये कर्मों में भी विरोध उत्पन्न नहीं होता। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम भी भक्ति के द्वारा परमेश्वर के अणोरणीयान् महतो महीयान् (कठ. २. २० गीता ८) – परमाणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा ऐसे स्वरूप के साथ अपने तादात्म्य का वर्णन करके कहते हैं कि अब मैं केवल परोपकार ही के लिये बचा हूँ। उन्होंने संन्यासमार्ग के अनुयायियों के समान यह नहीं कहा कि अब मेरा कुछ भी काम शेष नहीं है। बल्कि वे कहते हैं कि भिक्षापात्र का अवलम्बन करना लज्जास्पद जीवन है – वह नष्ट हो जावे। नारायण ऐसे मनुष्य की सर्वथा उपेक्षा ही करता है। अथवा सत्यवादी मनुष्य संसार के सब काम करता है; और उनसे – जल में कमलपत्र के समान – अलिप्त रहता है। जो उपकार करता है और प्राणियोंपर दया करता है उसी में आत्मस्थिति का निवास जानो। इन वचनों से साधु तुकाराम का इस विषय में स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त हो जाता है। यद्यपि तुकाराम महाराज संसारी थे, तथापि उनके मन का झुकाव कुछ कर्मत्याग ही की ओर था। परन्तु प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म का लक्षण अथवा गीता का सिद्धान्त यह है कि उत्कट भक्ति के साथ साथ मृत्युपर्यंत ईश्वरार्पणपूर्वक निष्कामकर्म करते ही रहना चाहिये। और यदि कोई इस सिद्धान्त का पूरा पूरा स्पष्टीकरण देखना चाहे तो उसे श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के दासबोध ग्रन्थ को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये (स्मरण रहे कि साधु तुकाराम ने ही शिवाजी महाराज को जिन सद्गुरु की शरण में जाने को कहा था उन्हींका यह प्रामाणिक ग्रन्थ है)। रामदासस्वामी ने अनेक बार कहा है कि भक्ति के द्वारा अथवा ज्ञान के द्वारा परमेश्वर के शुद्धस्वरूप को पहचान कर जो सिद्धपुरुष कृतकृत्य हो चुके हैं वे सब लोगों को सिखाने लिये (दास. [illegible] १४) निःस्पृहता से अपना काम यथाधिकार जिस प्रकार किया करते हैं उसे देखकर सर्वसाधारण लोग अपना अपना व्यवहार करना सीखें क्योंकि किया किये कुछ भी नहीं होता (दास. [illegible])

और अन्तिम अभंग (२. ४२९) में उन्होंने कर्म के सामर्थ्य का भक्ति की युक्ति के साथ पूरा पूरा मेल इस प्रकार कर दिया है :–

हलचल में सामर्थ्य है। जो करेगा वही पावेगा।
परंतु उसमें भगवान् का। अधिष्ठान चाहिये॥

गीता के आठवें अध्याय में अर्जुन को जो उपदेश किया गया है कि 'मामनुस्मर युध्य च' (गीता ८. ७) – नित्य मेरा स्मरण कर और युद्ध कर – उसका तात्पर्य, और छठवें अध्याय के अन्त में जो कहा है कि कर्मयोगियों में भक्तिमान् श्रेष्ठ है (गीता ६. ४७) उसका भी तात्पर्य वही है जो रामदासस्वामी के उक्त वचन में है। गीता के अठारहवें अध्याय में भी भगवान् ने यही कहा है –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

"जिसने इस सारे जगत् को उत्पन्न किया है उसकी अपने स्वधर्मानुरूप निष्काम कर्माचरण से (न कि केवल वाचा से अथवा पुष्पों से) पूजा करके मनुष्य सिद्धि पाता है" (गीता १८. ४६)। अधिक क्या कहें, इस श्लोक का और समस्त गीता का भी भावार्थ यही है कि स्वधर्मानुरूप निष्कामकर्म करने से सर्वभूतान्तर्गत विराट्रूपी परमेश्वर की एक प्रकार की भक्ति, पूजा या उपासना ही हो जाती है। ऐसा कहने से कि 'अपने धर्मानुरूप कर्मों से परमेश्वर की पूजा करो', यह नहीं समझना चाहिये कि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' इत्यादि नवविधा भक्ति गीता को मान्य नहीं। परन्तु गीता का कथन है कि कर्मों को गौण समझकर उन्हें छोड़ देना और इस नवविधा भक्ति में ही बिलकुल निमग्न हो जाना उचित नहीं है। शास्त्रतः प्राप्त अपने सब कर्मों को यथोचित रीति से अवश्य करना ही चाहिये। उन्हें 'स्वयं अपने लिये' समझकर नहीं, किन्तु परमेश्वर का स्मरण कर इस निर्ममबुद्धि से करना चाहिये कि 'ईश्वरनिर्मित सृष्टि के संग्रहार्थ उसी के ये सब कर्म हैं।' ऐसा करने से कर्म का लोप नहीं होगा; उलटा इन कर्मों से ही परमेश्वर की सेवा, भक्ति या उपासना हो जावेगी। इन कर्मों के पाप पुण्य के भागी हम न होंगे और अन्त में सद्गति भी मिल जावेगी। गीता के इस सिद्धान्त की ओर दुर्लक्ष करके गीता के भक्तिप्रधान टीकाकार अपने ग्रन्थों में यह भावार्थ बतलाया करते हैं कि गीता में भक्ति ही को प्रधान माना है और कर्म को गौण; परन्तु संन्यासमार्गीय टीकाकारों के समान भक्तिप्रधान टीकाकारों का यह तात्पर्य भी एकदेशीय है। गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग कर्मप्रधान है और उसका मुख्य तत्त्व यह है कि परमेश्वर की पूजा न केवल पुष्पों से या वाचा से ही होती है किन्तु वह स्वधर्मोक्त निष्कामकर्मों से भी होती है और ऐसी पूजा प्रत्येक मनुष्य को अवश्य करनी चाहिये। जब कि कर्ममय भक्ति का यह तत्त्व गीता के अनुसार अन्य किसी भी स्थान में प्रतिपादित नहीं हुआ है, तब इसी तत्त्व को गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग का विशेष लक्षण कहना चाहिये।

इस प्रकार कर्मयोग की दृष्टि से ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का पूरा पूरा मेल यद्यपि हो गया, तथापि ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग में जो एक महत्त्व की विशेषता है उसका भी अब अन्त में स्पष्ट रीति से वर्णन हो जाना चाहिये। यह तो पहले ही कह चुके हैं कि ज्ञानमार्ग केवल बुद्धिगम्य होने के कारण अल्पबुद्धिवाले सामान्य जनों के लिये क्लेशमय है और भक्तिमार्ग के श्रद्धामूलक, प्रेमगम्य तथा प्रत्यक्ष होने के कारण उसका आचरण करना सब लोगों के लिये सुगम है। परन्तु क्लेश के सिवा ज्ञानमार्ग में एक और भी अड़चन है। जैमिनि की मीमांसा या उपनिषद् या वेदान्त सूत्र को देखें तो मालूम होगा कि उनमें श्रौत-यज्ञयाग आदि की अथवा कर्मसंन्यास पूर्वक 'नेति'-स्वरूपी परब्रह्म की ही चर्चा भरी पड़ी है। और अन्त में यही निर्णय किया है कि स्वर्गप्राप्ति के लिये साधनीभूत होनेवाले श्रौत-यज्ञ यागादिक कर्म करने का अथवा मोक्षप्राप्ति के लिये आवश्यक उपनिषदादि वेदाध्ययन करने का अधिकार भी पहले तीन ही वर्णों के पुरुषों को है (वे. सू. १. ३. ३४–३८)। इसमें इस बात का विचार नहीं किया गया है कि उक्त तीन वर्णों की स्त्रियों का अथवा चातुर्वर्ण्य के अनुसार सारे समाज के हित के लिये खेती या अन्य व्यवसाय करनेवाले साधारण स्त्री पुरुषों का मोक्ष कैसे मिले। अच्छा; स्त्री-शूद्रादिकों के साथ वेदों की ऐसी अनबन होने से यदि यह कहा जाय कि उन्हें मुक्ति कभी मिल ही नहीं सकती, तो उपनिषदों और पुराणों में ही ऐसे वर्णन पाये जाते हैं कि गार्गी प्रभृति स्त्रियों को और विदुर प्रभृति शूद्रों को ज्ञान की प्राप्ति होकर सिद्धि मिल गई थी (वे. सू. ३. ४. ३६–३९)। ऐसी दशा में यह सिद्धान्त नहीं किया जा सकता, कि सिर्फ पहले तीन वर्णों के पुरुषों ही को मुक्ति मिलती है। और यदि यह मान लिया जावे कि स्त्री-शूद्र आदि सभी लोगों को मुक्ति मिल सकती है, तो अब बतलाना चाहिये कि उन्हें किस साधन से ज्ञान की प्राप्ति होगी। बादरायणाचार्य कहते हैं कि 'विशेषानुग्रहश्च' (वे. सू. ३. ४. ३८) अर्थात् परमेश्वर का विशेष अनुग्रह ही उनके लिये एक साधन है; और भागवत (१. ४. २५) में कहा है कि कर्मप्रधान-भक्तिमार्ग के रूप में इसी विशेषानुग्रहात्मक साधन का महाभारत में और अतएव गीता में भी निरूपण किया गया है। क्योंकि स्त्रियों, शूद्रों या (कलियुग के) नामधारी ब्राह्मणों के कानों तक श्रुति की आवाज नहीं पहुँचती है। इस मार्ग से प्राप्त होनेवाला ज्ञान और उपनिषदों का ब्रह्मज्ञान – दोनों यद्यपि एक ही से हों, तथापि अब स्त्री पुरुषसम्बन्धी या ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रसम्बन्धी कोई भेद शेष नहीं रहता; और इस मार्ग के विशेष गुण के बारे में गीता कहती है कि –

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

"हे पार्थ! स्त्री, वैश्य और शूद्र या अन्त्यज आदि जो नीच वंश में उत्पन्न हुए हैं वे भी सब उत्तम गति पा जाते हैं" (गीता ९. ३२)। यही श्लोक महाभारत के

अनुशासनपर्व में भी आया है (म. भा. अनु. १९.६१) और ऐसी कथाएँ भी हैं कि वनपर्वान्तर्गत ब्राह्मण-व्याध-संवाद में मांस बेचनेवाले व्याध ने किसी ब्राह्मण को, तथा शान्तिपर्व में तुलाधार अर्थात् बनिये ने जाजलि नामक तपस्वी ब्राह्मण को यह निरूपण सुनाया है कि स्वधर्म के अनुसार निष्कामबुद्धि से आचरण करने से ही मोक्ष कैसे मिल जाता है (म. भा. वन. २०६–२१४; शां. २६०–२६३)। इससे प्रकट होता है कि जिसकी बुद्धि सम हो जावे वही श्रेष्ठ है। फिर चाहे वह सुनार हो, बढ़ई हो, बनिया हो, या कसाई; किसी मनुष्य की योग्यता उसके धन्धे पर, व्यवसाय पर, या जाति पर अवलम्बित नहीं; किन्तु सर्वथा उसके अन्तःकरण की शुद्धता पर अवलम्बित होती है और यही भगवान् का अभिप्राय भी है। इस प्रकार किसी समाज के सब लोगों के लिये मोक्ष के दरवाजे खोल देने से उस समाज में जो एक प्रकार की विलक्षण जागृति उत्पन्न होती है, उसका स्वरूप महाराष्ट्र में भागवतधर्म के इतिहास से भली भाँति दीख पड़ता है। परमेश्वर को क्या स्त्री, क्या चाण्डाल, क्या ब्राह्मण—सभी समान हैं; 'देव भाव का भूखा है'—न प्रतीक का, न काले-गोरे वर्ण का, और न स्त्री-पुरुष आदि या ब्राह्मण-चाण्डाल आदि भेदों का ही। साधु तुकाराम का इस विषय का अभिप्राय इस हिन्दी पद से प्रकट हो जायगा :—

क्या द्विजाति क्या शूद्र ईश को वेश्या भी भज सकती है,
श्वपचों को भी भक्तिभाव में शुचिता कब तज सकती है।
अनुभव से कहता हूँ मैंने उसे कर लिया है वश में
जो चाहे सो पिये प्रेम से अमृत भरा है इस रस में॥

अधिक क्या कहें! गीताशास्त्र का भी यह सिद्धान्त है कि मनुष्य कैसा ही दुराचारी क्यों न हो, परन्तु यदि अन्तकाल में भी वह भी अनन्य भाव से भगवान् की शरण में जावे, तो परमेश्वर उसे *नहीं भूलता* (*गीता ९.३० और ८.५–८ देखो*)। उक्त पद में 'वेश्या' शब्द (जो साधु तुकाराम के मूलवचन के आधार से रखा गया है) को देखकर पवित्रता का ढोंग करनेवाले बहुतेरे विद्वानों को कदाचित् बुरा लगे। परन्तु सच बात तो यह है कि ऐसे लोगों को सच्चा धर्मतत्त्व मालूम ही नहीं। न केवल हिन्दूधर्म में किन्तु बुद्धधर्म में भी यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है (मिलिन्दप्रश्न ३.७.२)। उनके धर्मग्रन्थों में ऐसी कथाएँ हैं कि बुद्ध ने आम्रपाली नामक किसी वेश्या को और अंगुलिमाल नाम के चोर को दीक्षा दी थी। ईसाइयों के धर्मग्रन्थ में भी यह वर्णन है कि क्राइस्ट के साथ जो दो चोर सूली पर चढ़ाये गये थे, उनमें से एक चोर मृत्यु के समय क्राइस्ट की शरण में गया; और क्राइस्ट ने उसे सद्गति दी (ल्यूक २३.४२ और ४३)। स्वयं क्राइस्ट ने भी एक स्थान में कहा है कि हमारे धर्म में श्रद्धा रखनेवाली वेश्याएँ भी मुक्त हो जाती हैं (मैथ्यू २१.३१; ल्यूक ७.५०)। यह बात पिछले प्रकरण में हम बतला चुके हैं कि अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से

भी यही सिद्धान्त निष्पन्न होता है। परन्तु यह 'मरणकाल' शास्त्रतः यद्यपि निर्विवाद है, तथापि जिसका सारा जन्म दुराचरण में ही व्यतीत हुआ है, उसका अन्तःकरण केवल मृत्यु के समय ही अनन्य भाव से भगवान का स्मरण करने की बुद्धि कैसे जागृत रह सकती है? ऐसी अवस्था में अन्तकाल की वेदनाओं को सहते हुए केवल यन्त्र के समान एक बार 'रा' कहकर और कुछ देर से 'म' कहकर मुँह खोलने और बन्द करने के परिश्रम के सिवा कुछ अधिक लाभ नहीं होता। इसलिये भगवान ने सब लोगों को निश्चित रीति से यही कहा है कि 'न केवल मृत्यु के समय ही, किन्तु सारे जीवन भर सदैव मेरा स्मरण मन में रहने दो और स्वधर्म के अनुसार अपने सब व्यवहारों को परमेश्वरार्पणबुद्धि से करते रहो। फिर चाहे तुम किसी भी जाति के रहो, तो भी तुम कर्मों को करते हुए ही मुक्त हो जाओगे' (गीता ९. २६–२८ और ३०–३४ देखो)।

इस प्रकार उपनिषदों का ब्रह्मात्मैक्यज्ञान आबालवृद्ध सभी लोगों के लिये सुलभ तो कर दिया गया है; परन्तु ऐसा करने में न तो व्यवहार का लोप होने दिया है और न वर्ण, आश्रम, जाति-पाँति अथवा स्त्री-पुरुष आदि का कोई भेद रखा गया है। जब हम गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग की इस शक्ति अथवा समता की ओर ध्यान देते हैं, तब गीता के अन्तिम अध्याय में भगवान् ने प्रतिज्ञापूर्वक गीताशास्त्र का जो उपसंहार किया है, उसका मर्म प्रकट हो जाता है। वह ऐसा है – 'सब धर्म छोड़कर मेरी अकेले की शरण में आ जा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, घबराना नहीं।' यहाँ पर धर्म शब्द का उपयोग इसी व्यापक अर्थ में किया गया है कि सब व्यवहारों को करते हुए भी पापपुण्य से अलिप्त रहकर परमेश्वररूपी आत्मश्रेय जिस मार्ग के द्वारा सम्पादन किया जा सकता है, वही धर्म है। अनुगीता के गुरुशिष्यसंवाद में ऋषियों ने ब्रह्मा से यह प्रश्न किया (अश्व. ४९) कि अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, व्रत तथा उपवास, ज्ञान, यज्ञयाग, दान, कर्म, संन्यास आदि जो अनेक प्रकार के मुक्ति के साधन अनेक लोग बतलाते हैं, उनमें से सच्चा साधन कौन है? और शान्तिपर्व के (३५४) उञ्छवृत्ति उपाख्यान में भी यह प्रश्न है कि गार्हस्थ्यधर्म, वानप्रस्थधर्म, राजधर्म, मातृ पितृ-सेवाधर्म, क्षत्रियों का रणाङ्गण में मरण, ब्राह्मणों का स्वाध्याय इत्यादि जो अनेक धर्म या स्वर्गप्राप्ति के साधन शास्त्रों ने बतलाये हैं, उनमें से ग्राह्य धर्म कौन है?' ये भिन्न भिन्न धर्ममार्ग या धर्म दिखने में तो परस्पर विरुद्ध मालूम होते हैं; परन्तु शास्त्रकार इन सब प्रत्यक्ष मार्गों की योग्यता को एक ही समझते हैं। क्योंकि समस्त प्राणियों में साम्यबुद्धि रखने का जो अन्तिम साध्य है, वह इनमें से किसी भी धर्म पर प्रीति और श्रद्धा के साथ मन को एकाग्र किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि इन अनेक मार्गों की अथवा प्रतीक उपासना की झंझट में फँसने से मन घबरा जा सकता है। इसलिये अकेले अर्जुन को ही नहीं किन्तु उसे निमित्त करके सब लोगों को भगवान् इस प्रकार निश्चित आश्वासन देते हैं

कि इन अनेक धर्ममार्गों को छोड़ कर 'तू अकेले मेरी शरण में आ, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा; डर मत।' साधु तुकाराम भी सब धर्मों का निरसन करके अन्त में भगवान से यही माँगते हैं कि —

चतुराई चेतना सभी चूल्हे में जावे
बस मेरा मन एक ईश-चरणाश्रय पावे।
आग लगे आचार विचारों के उपचय में
उस विभु का विश्वास सदा दृढ़ रहे हृदय में॥

निर्भयपूर्वक उपदेश की या यह प्रार्थना की यह अन्तिम सीमा हो चुकी।

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी सोने की थाली का यह भक्तिरूपी अन्तिम कौर है, यही प्रेमग्रास है। इसे पा चुके, अब आगे चलिये।

चौदहवाँ प्रकरण

गीताध्याय-संगति

प्रवृत्तिलक्षण धर्म ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् । *

— महाभारत शांति २१७.२

अब तक किये गये विवेचन से दीख पड़ेगा, कि भगवद्गीता में – भगवान् के गाये गये उपनिषद् में – यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मों को करते हुए ही अध्यात्मविचार से या भक्ति से सर्वात्मैक्यरूप साम्यबुद्धि को पूर्णतया प्राप्त कर लेना, और उसे प्राप्त कर लेने पर भी संन्यास लेने की झंझट में न पड़ संसार में शास्त्रतः प्राप्त सब कर्मों को केवल अपना कर्तव्य समझ कर करते रहना ही इस संसार में मनुष्य का परमपुरुषार्थ अथवा जीवन व्यतीत करने का उत्तम मार्ग है। परन्तु जिस क्रम से हमने इस ग्रन्थ में उक्त अर्थ का वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा गीताग्रन्थ का क्रम भिन्न है। इसलिये अब यह भी देखना चाहिये, कि भगवद्गीता में इस विषय का वर्णन किस प्रकार किया गया है। किसी भी विषय का निरूपण दो रीतियों से किया जाता है; एक शास्त्रीय और दूसरी पौराणिक। शास्त्रीय पद्धति वह है कि जिसके द्वारा तर्कशास्त्रानुसार साधकबाधक प्रमाणों को क्रमसहित उपस्थित करके यह दिखला दिया जाता है, कि सब लोगों की समझ में सहज ही आ सकनेवाली बातों से किसी प्रतिपाद्य विषय के मूलतत्त्व किस प्रकार निष्पन्न होते हैं। भूमितिशास्त्र इस पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है; और न्यायसूत्र या वेदान्तसूत्र का उपपादन भी इसी वर्ग का है। इसी लिये भगवद्गीता में – जहाँ ब्रह्मसूत्र यानी वेदान्तसूत्र का उल्लेख किया है, वहाँ – यह भी वर्णन है, कि उसका विषय हेतुयुक्त और निश्चयात्मक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है – 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' (गीता १३.४)। परन्तु भगवद्गीता का निरूपण सशास्त्र भले हो, तथापि वह इस शास्त्रीय पद्धति से नहीं किया गया है। भगवद्गीता में जो विषय है, उसका वर्णन – अर्जुन और श्रीकृष्ण के संवादरूप में – अत्यन्त मनोरंजक और सुलभ रीति से किया गया है। इसी लिये प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' कहकर गीतानिरूपण के स्वरूप के द्योतक 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे' इन शब्दों का उपयोग

* [illegible]

किया गया है। इस निरूपण में और 'शास्त्रीय' निरूपण में जो भेद है उसको स्पष्टता से समझने के लिये हमने संवादात्मक निरूपण को ही 'पौराणिक' नाम दिया है। सात सौ श्लोकों के इस संवादात्मक अथवा पौराणिक निरूपण में 'धर्म' जैसे व्यापक शब्द में शामिल होनेवाले सभी विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन कभी हो ही नहीं सकता। परन्तु आश्चर्य की बात है कि गीता में जो अनेक विषय उपलब्ध होते हैं, उनका ही संग्रह (संक्षेप में ही क्यों न हो) अविरोध से कैसे किया जा सका! इस बात से गीताकार की अलौकिक शक्ति व्यक्त होती है और अनुगीता के आरम्भ में जो यह कहा गया है कि गीता का उपदेश अत्यन्त योगयुक्त चित्त से बतलाया गया है इसकी सत्यता की प्रतीति भी हो जाती है। अर्जुन को जो जो विषय पहले से ही मालूम थे उन्हें फिर से विस्तारपूर्वक कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उसका मुख्य प्रश्न तो यही था कि मैं लड़ाई का घोर कृत्य करूँ या न करूँ और करूँ भी तो किस प्रकार करूँ! जब श्रीकृष्ण अपने उत्तर में एकाध युक्ति बतलाते थे तब अर्जुन उसपर कुछ-न-कुछ आक्षेप किया करता था। इस प्रकार के प्रश्नोत्तररूपी संवाद में गीता का विवेचन स्वभाव ही से कहीं संक्षिप्त और कहीं द्विरुक्त हो गया है। उदाहरणार्थ त्रिगुणात्मक प्रकृति के फैलाव का वर्णन कुछ थोड़े भेद से दो जगह है (गीता अ. ७ और १४); और स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, त्रिगुणातीत तथा ब्रह्मभूत इत्यादि की स्थिति का वर्णन एक-सा होने पर भी भिन्न भिन्न दृष्टियों से प्रत्येक प्रसङ्ग पर बार बार किया गया है। इसके विपरीत यदि अर्थ और काम धर्म से विभक्त न हों तो वे ग्राह्य हैं — इस तत्त्व का दिग्दर्शन गीता में केवल 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि' (७.११) इसी एक वाक्य में कर दिया गया है। इसका परिणाम यह होता है कि यद्यपि गीता में सब विषयों का समावेश किया गया है तथापि गीता पढ़ते समय उन लोगों के मन कुछ गड़बड़-सी होती जाती है, जो श्रौतधर्म, स्मार्तधर्म, भागवतधर्म, सांख्यशास्त्र, पूर्वमीमांसा, वेदान्त, कर्मविपाक इत्यादि के उन प्राचीन सिद्धान्तों की परम्परा से परिचित नहीं हैं कि जिनके आधार पर गीता के ज्ञान का निरूपण किया गया है। और जब गीता के प्रतिपादन की पद्धति ठीक ठीक ध्यान में नहीं आती तब वे लोग कहने लगते हैं, कि गीता मानों बाजीगर की झोली है अथवा शास्त्रीय पद्धति के प्रचार के पूर्व गीता की रचना हुई होगी इसलिये उसमें ठौर ठौर पर अधूरापन और विरोध दीख पड़ता है अथवा गीता का ज्ञान ही हमारी बुद्धि के लिये अगम्य है! संशय को हटाने के लिये यदि टीकाओं का अवलोकन किया जाय तो उनसे भी कुछ लाभ नहीं होता। क्योंकि वे बहुधा भिन्न भिन्न सम्प्रदायानुसार बनी हैं! इसलिये टीकाकारों के मतों के परस्परविरोधों की एकवाक्यता करना असम्भव-सा हो जाता है और पढ़नेवाले का मन अधिकाधिक घबराने लगता है। इस प्रकार के भ्रम में पड़े हुए कई मुमुक्षु पाठकों को हमने देखा है। इस उलझन को हटाने के लिये हमने अपनी बुद्धि के अनुसार गीता के प्रतिपाद्य विषयों

का शास्त्रीय क्रम बाँध कर अब तक विवेचन किया है। अब यहाँ इतना और बतला देना चाहिये, कि ये ही विषय श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्भाषण में अर्जुन के प्रश्नों या शंकाओं के अनुरोध से कुछ न्यूनाधिक होकर कैसे उपस्थित हुए हैं। इससे यह विवेचन पूरा हो जायगा और अगले प्रकरण में सुगमता से सब विषयों का उपसंहार कर दिया जायगा।

पाठकों को प्रथम इस ओर ध्यान देना चाहिये कि जब हमारा देश हिन्दुस्थान ज्ञान, वैभव, यश और पूर्ण स्वराज्य के सुख का अनुभव ले रहा था उस समय एक सर्वज्ञ, महापराक्रमी, यशस्वी और परमपूज्य क्षत्रिय ने दूसरे क्षत्रिय को – जो महान् धनुर्धारी था – क्षात्रधर्म के स्वकार्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया है। जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तक महावीर और गौतमबुद्ध भी क्षत्रिय ही थे। परन्तु इन दोनों ने वैदिक धर्म के केवल संन्यासमार्ग को अंगीकार कर क्षत्रिय आदि सब वर्णों के लिये संन्यासधर्म का दरवाजा खोल दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसा नहीं किया। क्योंकि भागवतधर्म का यह उपदेश है, कि न केवल क्षत्रियों को परन्तु ब्राह्मणों को भी निवृत्तिमार्ग की शान्ति के साथ निष्कामबुद्धि से सब कर्म आमरणान्त करते रहने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी भी उपदेश को लीजिये आप देखेंगे, कि उसका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य रहता ही है और उपदेश की सफलता के लिये शिष्य के मन में उस उपदेश का ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा भी प्रथम ही से जागृत रहनी चाहिये। अतएव इन दोनों बातों का खुलासा करने के लिये ही व्यासजी ने गीता के पहले अध्याय में इस बात का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश क्यों दिया है। कौरव-पाण्डवों की सेनाएँ युद्ध के लिये तैयार होकर कुरुक्षेत्र पर खड़ी हैं अब थोड़ी ही देर में लड़ाई का आरम्भ होगा; इतने में अर्जुन के कहने से श्रीकृष्ण ने उसका रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया और अर्जुन से कहा कि "तुम्हें जिनसे युद्ध करना है उन भीष्म द्रोण आदि को देखो।" तब अर्जुन ने दोनों सेनाओं की ओर दृष्टि पहुँचाई और देखा कि अपने ही बापदादे, काका, आजा, मामा, बन्धु, पुत्र, नाती, स्नेही, आप्त, गुरु, गुरुबन्धु आदि दोनों सेनाओं में खड़े हैं और इस युद्ध में सब लोगों का नाश होनेवाला है। एकाएक उर्मी यह नहीं हुई थी। लड़ाई करने का निश्चय पहले ही हो चुका था और बहुत दिनों से दोनों ओर की सेनाओं का प्रबन्ध हो रहा था। परन्तु इस आपस की लड़ाई से होनेवाले कुलक्षय का प्रत्यक्ष स्वरूप जब पहले पहल अर्जुन की नजर में आया तब उसके समान महायोद्धा के भी मन में विषाद उत्पन्न हुआ और उसके मुख से ये शब्द निकल पड़े "ओह! आज हम लोग अपने ही कुल का भयङ्कर क्षय इसी लिये करनेवाले हैं न, कि राज्य हमीं को मिले? इसकी अपेक्षा भिक्षा माँगना क्या बुरा है?" और इसके बाद उसने श्रीकृष्ण से कहा, "शत्रु ही चाहे मुझे जान से मार डालें, इसकी मुझे परवाह नहीं, परन्तु त्रैलोक्य के राज्य

नुसार आत्मा अविनाशी और अमर है। इसलिये तेरी यह समझ गलत है कि 'मैं भीष्म द्रोण आदि को मारूँगा।' क्योंकि न तो आत्मा मरता है; और न मारता ही है। जिस प्रकार मनुष्य अपने वस्त्र बदलता है उसी प्रकार आत्मा एक देह छोड़ कर दूसरी देह में चला जाता है। परन्तु इसलिये उसे मृत मानकर शोक करना उचित नहीं। अच्छा मान लिया कि 'मैं मारूँगा' यह भ्रम है तब तू कहेगा कि युद्ध ही क्या करना चाहिये? तो उसका उत्तर यह है कि शास्त्रतः प्राप्त हुए युद्ध से परावृत्त न होना ही क्षत्रियों का धर्म है। और जब कि इस सांख्यमार्ग में प्रथमतः वर्णाश्रमविहित कर्म करना ही श्रेयस्कर माना जाता है; तब यदि तू वैसा न करेगा तो लोग तेरी निन्दा करेंगे – अधिक क्या कहें युद्ध में मरना ही क्षत्रियों का धर्म है। फिर व्यर्थ शोक क्या करता है? 'मैं मारूँगा और वह मरेगा' यह केवल कर्मदृष्टि है – इसे छोड़ दे। तू अपना प्रवाहपतित काम ऐसी बुद्धि से करता जा कि मैं केवल स्वधर्म कर रहा हूँ। इससे तुझे कुछ भी पाप नहीं लगेगा। यह उपदेश सांख्य मार्गानुसार हुआ। परन्तु चित्त की शुद्धता के लिये प्रथमतः कर्म करके चित्तशुद्धि हो जाने पर अन्त में सब कर्मों को छोड़ संन्यास लेना ही यदि इस मार्ग के अनुसार श्रेष्ठ माना जाता है तो यह शङ्का रह ही जाती है कि उपरति होते ही युद्ध को छोड़ (यदि हो सके तो) संन्यास ले लेना क्या अच्छा नहीं है? केवल इतना कहने से काम नहीं चलता कि मनु आदि स्मृतिकारों की आज्ञा है कि गृहस्थाश्रम के बाद फिर कहीं बुढ़ापे में संन्यास लेना चाहिये। युवावस्था में तो गृहस्थाश्रमी ही होना चाहिये। क्योंकि किसी भी समय यदि संन्यास लेना ही श्रेष्ठ है तो ज्यों ही संसार से जी हटा त्यों ही तनिक भी देर न कर संन्यास लेना उचित है। और इसी हेतु से उपनिषदों में भी ऐसे वचन पाये जाते हैं, कि "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा" (जा. ४)। संन्यास लेने से जो गति प्राप्त होगी वही युद्धक्षेत्र में मरने से क्षत्रिय को प्राप्त होगी है। महाभारत में कहा है –

> द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
> परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

अर्थात् – "हे पुरुषव्याघ्र! सूर्यमण्डल को पार कर ब्रह्मलोक को जानेवाले केवल दो ही पुरुष हैं। एक तो योगयुक्त संन्यासी और दूसरा युद्ध में लड़ कर मर जानेवाला वीर" (उद्यो. ३२. ६५)। इसी अर्थ का एक श्लोक कौटिल्य के यानी चाणक्य के अर्थशास्त्र में भी है –

> यान् यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयैश्च यान्ति।
> क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः॥

"स्वर्ग की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण अनेक यज्ञों से, यज्ञपात्रों से और तपों से जिस लोक में जाते हैं, उस लोक के भी आगे के लोक में युद्ध में प्राण अर्पण करनेवाले शूर पुरुष

स्वर्ग में जा पहुँचते हैं – अर्थात् न केवल तपस्वियों को या संन्यासियों को वरन् यज्ञयाग आदि करनेवाले दीक्षितों को भी जो गति प्राप्त होती है वही युद्ध में मरने वाले क्षत्रिय को भी मिलती है (कौषी. १. १. १८ – २ और म. भा. शां. ९८–१० देखो)। क्षत्रिय को स्वर्ग में जाने के लिये युद्ध के समान दूसरा दरवाजा क्वचित् ही खुला मिलता है। युद्ध में मरने से स्वर्ग, और जय प्राप्त करने से पृथ्वी का राज्य मिलेगा (२. ३२, ३७) – भी प्रतिपादित किया जा सकता है। किंबहुना संन्यास लेना और क्या युद्ध करना दोनों से एक ही फल की प्राप्ति होती है। इस मार्ग के युक्तिवाद से यह निश्चितार्थ पूर्ण रीति से सिद्ध नहीं होता कि, कुछ भी हो; युद्ध करना ही चाहिये। सांख्यमार्ग में जो यह न्यूनता या दोष है, उसे ध्यान में रख आगे भगवान् ने कर्मयोगमार्ग का प्रतिपादन आरम्भ किया है; और गीता के अन्तिम अध्याय के अन्त तक इसी कर्मयोग का – अर्थात् कर्मों को करना ही चाहिये और मोक्ष में उनसे कोई बाधा नहीं होती किन्तु उन्हें करते रहने से ही मोक्ष प्राप्त होता है इसका – भिन्न भिन्न प्रमाण दे कर शंका निवृत्तिपूर्वक समर्थन किया है। इस कर्म योग का मुख्य तत्त्व यह है, कि किसी भी कर्म को भला या बुरा कहने के लिये उस कर्म के बाह्य-परिणामों की अपेक्षा पहले यह देख लेना चाहिये कि कर्ता की वासनात्मक बुद्धि शुद्ध है अथवा अशुद्ध (गीता २. ४९)। परन्तु वासना की शुद्धता या अशुद्धता का निर्णय भी तो आखिर व्यवसायात्मक बुद्धि ही करती है। इसलिये जब तक निर्णय करनेवाली बुद्धीन्द्रिय स्थिर और शान्त न होगी तब तक वासना भी शुद्ध या सम नहीं हो सकती। इसी लिये उसके साथ यह भी कहा है कि वासनात्मक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये प्रथम समाधि के योग से व्यवसायात्मक बुद्धीन्द्रिय को भी स्थिर कर लेना चाहिये (गीता २. ४१)। संसार के सामान्य व्यवहारों की ओर देखने से प्रतीत होता है कि बहुतेरे मनुष्य स्वर्गादि भिन्न भिन्न काम्य सुखों की प्राप्ति के लिये ही यज्ञयागादिक वैदिक काम्यकर्मों की झंझट में पड़े रहते हैं। इससे उनकी बुद्धि कभी एक फल की प्राप्ति में, कभी दूसरे ही फल की प्राप्ति में, अर्थात् स्वार्थ ही में निमग्न रहती है और सदा बदलनेवाली यानी चंचल हो जाती है। ऐसे मनुष्यों को स्वर्गसुखादिक अनित्यफल की अपेक्षा अधिक महत्त्व का अर्थात् मोक्षरूपी नित्य सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। इसी लिये अर्जुन को कर्मयोग का रहस्य इस प्रकार बतलाया गया है कि वैदिक कर्मों के काम्य झगड़ों को छोड़ दे और निष्कामबुद्धि से कर्म करना सीख। तेरा अधिकार केवल कर्म करने भर का ही है – कर्म के फल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति तेरे अधिकार की बात नहीं है (२. ४७)। ईश्वर को ही फलदाता मान कर जब इस समबुद्धि से – कि कर्म का फल मिले अथवा न मिले दोनों समान हैं – केवल स्वकर्तव्य समझ कर ही कुछ काम किया जाता है, तब उस कर्म के पापपुण्य का लेप कर्ता को नहीं होता। इसलिये तू इस समबुद्धि का आश्रय कर। इस समबुद्धि को ही योग – अर्थात् पाप के भागी न होते हुए कर्म करने की

के लिये भी मैं पितृहत्या, गुरुहत्या, बन्धुहत्या या कुलक्षय के समान घोर पातक करना नहीं चाहता।' उसकी सारी देह थर-थर काँपने लगी, हाथपैर शिथिल हो गये, मुँह सूख गया और खिन्नवदन हो अपने हाथ का धनुष्यबाण फेंककर वह बेचारा रथ में चुपचाप बैठ गया। इतनी कथा पहले अध्याय में है। इस अध्याय को 'अर्जुनविषादयोग' कहते हैं। क्योंकि यद्यपि पूरी गीता में ब्रह्मविद्यान्तर्गत (कर्म) योगशास्त्र नामक एक ही विषय प्रतिपादित हुआ है; तो भी प्रत्येक अध्याय में जिस विषय का वर्णन प्रधानता से किया जाता है, उस विषय को इस कर्मयोगशास्त्र का ही एक भाग समझना चाहिये। और ऐसा समझकर ही प्रत्येक अध्याय को उसके विषयानुसार अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिये गये हैं। इन सब 'योगों' को एकत्र करने से 'ब्रह्मविद्या का कर्मयोगशास्त्र' हो जाता है। पहले अध्याय की कथा का महत्त्व हम इस ग्रन्थ के आरम्भ में कह चुके हैं। इसका कारण यह है, कि जब तक हम उपस्थित प्रश्न के स्वरूप को ठीक तौर से जान न लें, तब तक उस प्रश्न का उत्तर भी भली भाँति हमारे ध्यान में नहीं आता। यदि कहा जाय कि गीता का यही तात्पर्य है कि 'सांसारिक कर्मों से निवृत्त होकर भगवद्भजन करो या संन्यास ले लो'; तो फिर अर्जुन को उपदेश करने की कुछ आवश्यकता ही न थी। क्योंकि वही तो लड़ाई का घोर कर्म छोड़ कर भिक्षा माँगने के लिये आप-ही-आप तैयार हो गया था। पहले ही अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण के मुख से ऐसे अर्थ का एक-आध श्लोक कहलाकर गीता की समाप्ति कर देनी चाहिये थी, कि 'वाह! क्या ही अच्छा कहा! तेरी इस उपरति को देख मुझे आनन्द मालूम होता है! चलो, हम दोनों इस कर्ममय संसार को छोड़ संन्यासाश्रम के द्वारा या भक्ति के द्वारा अपने आत्मा का कल्याण कर लें!' फिर, इधर लड़ाई हो जाने पर व्यासजी उसका वर्णन करने में तीन वर्ष तक (म. भा. आ. ६२. ५२) अपनी वाणी का भले ही दुरुपयोग करते रहते; परन्तु उसका दोष बेचारे अर्जुन और श्रीकृष्ण पर तो आरोपित न हुआ होता। हाँ; यह सच है कि कुरुक्षेत्र में जो सैकड़ों महारथी एकत्र हुए थे, वे अवश्य ही अर्जुन और श्रीकृष्ण का उपहास करते। परन्तु जिस मनुष्य को अपने आत्मा का कल्याण कर लेना है, वह ऐसे उपहास की परवाह ही क्यों करता? संसार कुछ भी कहे; उपनिषदों में तो यही कहा है कि 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' (जा. ४) अर्थात् जिस क्षण उपरति हो उसी क्षण संन्यास धारण करो, विलम्ब न करो। यदि यह कहा जाय कि अर्जुन की उपरति ज्ञानपूर्वक न थी, वह केवल मोह की थी; तो भी वह थी तो उपरति ही। बस, उपरति होने से आधा काम हो चुका। अब मोह को हटा कर उसी उपरति को पूर्णज्ञानमूलक कर देना भगवान् के लिये कुछ असम्भव बात न थी। भक्तिमार्ग में या संन्यासमार्ग में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जब कोई किसी कारण से संसार से उकता गये, तो वे दुःखित हो इस संसार को छोड़ जङ्गल में चले गये और उन लोगों ने पूरी सिद्धि भी प्राप्त कर ली है। इसी प्रकार

नुसार आत्मा अविनाशी और अमर है। इसलिये तेरी यह समझ गलत है कि 'मैं भीष्म द्रोण आदि को मारूँगा।' क्योंकि न तो आत्मा मरता है और न मारता ही है। जिस प्रकार मनुष्य अपने वस्त्र बदलता है, उसी प्रकार आत्मा एक देह छोड़ कर दूसरी देह में चला जाता है। परन्तु इसलिये उसे मृत मानकर शोक करना उचित नहीं। अच्छा मान लिया कि 'मैं मारूँगा' यह भ्रम है, तब तू कहेगा कि युद्ध ही क्यों करना चाहिये? तो उसका उत्तर यह है, कि शास्त्रतः प्राप्त हुए युद्ध से पराङ्मुख न होना ही क्षत्रियों का धर्म है। और जब कि इस सांख्यमार्ग में प्रथमतः वर्णाश्रमविहित कर्म करना ही श्रेयस्कर माना जाता है, तब यदि तू वैसा न करेगा तो लोग तेरी निन्दा करेंगे — अधिक क्या कहें, युद्ध में मरना ही क्षत्रियों का धर्म है। फिर व्यर्थ शोक क्यों करता है? 'मैं मारूँगा और वह मरेगा' यह केवल कर्मदृष्टि है — इसे छोड़ दे। तू अपना प्रवाहपतित कार्य ऐसी बुद्धि से करता चला जा कि मैं केवल स्वधर्म कर रहा हूँ। इससे तुझे कुछ भी पाप नहीं लगेगा। यह उपदेश सांख्य मार्गानुसार हुआ। परन्तु चित्त की शुद्धता के लिये प्रथमतः कर्म करके चित्तशुद्धि हो जाने पर अन्त में सब कर्मों को छोड़ संन्यास लेना ही यदि इस मार्ग के अनुसार श्रेष्ठ माना जाता है, तो यह शङ्का रह ही जाती है कि उपरति होते ही युद्ध को छोड़ (यदि हो सके तो) संन्यास ले लेना क्या अच्छा नहीं है? केवल इतना कह देने से काम नहीं चलता कि मनु आदि स्मृतिकारों की आज्ञा है कि गृहस्थाश्रम के बाद फिर कहीं बुढ़ापे में संन्यास लेना चाहिये। युवावस्था में तो गृहस्थाश्रमी ही होना चाहिये। क्योंकि किसी भी समय यदि संन्यास लेना ही श्रेष्ठ है, तो ज्यों ही संसार से जी हटा त्यों ही तनिक भी देर न कर संन्यास लेना उचित है। और इसी हेतु से उपनिषदों में भी ऐसे वचन पाये जाते हैं कि "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा" (जा. ४)। संन्यास लेने से जो गति प्राप्त होगी, वही युद्धक्षेत्र में मरने से क्षत्रिय को प्राप्त होती है। महाभारत में कहा है :—

> द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
> परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

अर्थात् — हे पुरुषव्याघ्र! सूर्यमण्डल को पार कर ब्रह्मलोक को जानेवाले केवल दो ही पुरुष हैं। एक तो योगयुक्त संन्यासी और दूसरा युद्ध में लड़ कर मर जानेवाला वीर (उद्यो. ३२. ६५)। इसी अर्थ का एक श्लोक कौटिल्य के, यानी चाणक्य के, अर्थशास्त्र में भी है —

> यान् यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयैश्च यान्ति।
> क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः॥

स्वर्ग की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण अनेक यज्ञों से, यज्ञपात्रों से और तपों से जिस लोक में जाते हैं, उस लोक के भी आगे के क्षण में युद्ध में प्राण अर्पण करनेवाले शूर पुरुष

मुक्ति — कहते हैं। यदि तुझे यह योग सिद्ध हो जाय तो कर्म करने पर भी तुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जावगी। मोक्ष के लिये कुछ कर्मसंन्यास की आवश्यकता नहीं है (२. ४७–५१)। जब भगवान ने अर्जुन से कहा कि जिस मनुष्य की बुद्धि इस प्रकार सम हो गई हो उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं (२. ५३) तब अर्जुन ने पूछा कि "महाराज! कृपा कर बतलाये कि स्थितप्रज्ञ का बर्ताव कैसा होता है?" इस लिये दूसरे अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया गया है; और अन्त में कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ की स्थिति को ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। सारांश यह है कि अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये गीता में जो उपदेश दिया गया है उसका प्रारम्भ उन दो निष्ठाओं से ही किया गया है कि जिन्हें इस संसार के ज्ञानी मनुष्यों ने ग्राह्य माना है; और जिन्हें 'कर्म छोड़ना' (सांख्य) और 'कर्म करना' (योग) कहते हैं; तथा युद्ध करने की आवश्यकता की उपपत्ति पहले सांख्यनिष्ठा के अनुसार बतलाई गई है। परन्तु जब यह देखा गया कि इस उपपत्ति से काम नहीं चलता — यह अधूरी है — तब फिर तुरन्त ही योग या कर्मयोग मार्ग के अनुसार ज्ञान बतलाना आरम्भ किया है; और यह बतलाने के पश्चात् — कि इस कर्मयोग का अल्प आचरण भी कितना श्रेयस्कर है — दूसरे अध्याय में भगवान् ने अपने उपदेश को इस स्थान तक पहुँचा दिया है कि कर्मयोग मार्ग में कर्म की अपेक्षा वह बुद्धि ही श्रेष्ठ मानी जाती है कि जिससे कर्म करने की प्रेरणा हुआ करती है; तो अब स्थितप्रज्ञ की नाई तू अपनी बुद्धि को सम करके अपना कर्म कर, जिससे तू कदापि पाप का भागी न होगा। अब देखना है कि आगे और कौन कौन-से प्रश्न उपस्थित होते हैं। गीता के सारे उपपादन की जड़ दूसरे अध्याय में ही है। इसलिये इसके विषय का विवेचन यहाँ कुछ विस्तार से किया गया है।

तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि "यदि कर्मयोग-मार्ग में भी कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ मानी जाती है, तो मैं अभी स्थितप्रज्ञ की नाई अपनी बुद्धि को सम किये लेता हूँ। फिर आप मुझसे इस युद्ध के समान घोर कर्म करने के लिये क्यों कहते हैं?" इसका कारण यह है कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि को श्रेष्ठ कह देने से ही इस प्रश्न का निर्णय नहीं हो जाता कि "युद्ध क्यों करें? बुद्धि को सम रख कर उदासीन क्यों न बैठे रहें?" बुद्धि को सम रखने पर भी कर्मसंन्यास किया जा सकता है। फिर जिस मनुष्य की बुद्धि सम हो गई है उसे सांख्यमार्ग के अनुसार कर्मों का त्याग करने में क्या हर्ज है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान इस प्रकार देते हैं कि पहले तुझे सांख्य और योग नामक दो निष्ठाएँ बतलाई हैं सही, परन्तु यह भी स्मरण रहे कि किसी मनुष्य के कर्मों का सर्वथा छूट जाना असम्भव है। जब तक वह देहधारी है तब तक प्रकृति स्वभावतः उससे कर्म करावेगी ही। और जब कि प्रकृति के ये कर्म छूटते ही नहीं हैं, तब तो इन्द्रियनिग्रह के द्वारा बुद्धि को स्थिर और सम करके केवल कर्मेन्द्रियों से ही अपने सब कर्तव्य

कर्मों को करते रहना अधिक श्रेयस्कर है। इसलिये तू कर्म कर। यदि कर्म नहीं करेगा तो तुझे खाने तक न मिलेगा (३. ८)। ईश्वर ने ही कर्म को उत्पन्न किया है मनुष्य ने नहीं। जिस समय ब्रह्मदेव ने सृष्टि और प्रजा को उत्पन्न किया उसी समय उसने 'यज्ञ' को भी उत्पन्न किया था। और उसने प्रजा से यह कह दिया था कि यज्ञ के द्वारा तुम अपनी समृद्धि कर लो। जब कि यह यज्ञ बिना कर्म सिद्ध नहीं होता तो अब यज्ञ का कर्म ही करना चाहिये। इसलिये यह सिद्ध होता है, कि मनुष्य और कर्म साथ ही साथ उत्पन्न हुए हैं। परन्तु ये कर्म केवल यज्ञ के लिये ही हैं और यज्ञ करना मनुष्य का कर्तव्य है। इस लिये इन कर्मों के फल मनुष्य को बन्धन में डालनेवाले नहीं होते। अब यह सच है कि जो मनुष्य पूर्ण ज्ञानी हो गया स्वयं उसके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता और न लोगों से ही उसको कुछ अपेक्षा रहती है। परन्तु इतने ही से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि कर्म मत करो। क्योंकि कर्म करने से किसीको भी छुटकारा न मिलने के कारण यही अनुमान करना पड़ता है कि यदि स्वार्थ के लिये न हो; तो भी अब उसी कर्म को निष्कामबुद्धि से लोकसंग्रह के लिये अवश्य करना चाहिये (३. १७-१९)। इन्हीं बातों पर ध्यान देकर प्राचीन काल में जनक आदि ज्ञानी पुरुषों ने कर्म किये हैं और मैं भी कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रहे कि ज्ञानी पुरुषों के कर्तव्यों में लोकसंग्रह करना एक मुख्य कर्तव्य है अर्थात् अपने बर्ताव से लोगों को सन्मार्ग की शिक्षा देना और उन्हें उन्नति के मार्ग में लगा देना ज्ञानी पुरुष ही का कर्तव्य है। मनुष्य कितना ही ज्ञानवान् क्यों न हो जाय परन्तु प्रकृति के व्यवहारों से उसको छुटकारा नहीं है। इसलिये कर्मों छोड़ना तो दूर ही रहा; परन्तु कर्तव्य समझ कर स्वधर्मानुसार कर्म करते रहना और – आवश्यकता होने पर – उसीमें मर जाना भी श्रेयस्कर है (३. ३०-३५) – इस प्रकार तीसरे अध्याय में भगवान ने उपदेश दिया है। भगवान् ने इस प्रकार प्रकृति को सब कर्मों का कर्तृत्व दे दिया। यह देख अर्जुन ने प्रश्न किया कि मनुष्य – इच्छा न रहने पर भी – पाप क्यों करता है? तब भगवान् ने यह उत्तर देकर अध्याय समाप्त कर दिया है कि काम-क्रोध आदि विकार बलात्कार से मन को भ्रष्ट कर देते हैं। अतएव अपनी इन्द्रियों का निग्रह करके प्रत्येक मनुष्य को अपना मन अपने अधीन रखना चाहिये। सारांश स्थितप्रज्ञ की नाईं बुद्धि की समता हो जाने पर भी कर्म से किसी का छुटकारा नहीं। अतएव यदि स्वार्थ के लिये न हो तो भी लोकसंग्रह के लिये निष्कामबुद्धि से कर्म करते ही रहना चाहिये – इस प्रकार कर्मयोग की आवश्यकता सिद्ध की गई है और भक्तिमार्ग के परमेश्वरार्पणपूर्वक कर्म करने के इस तत्त्व का भी – कि मुझे सब कर्म अर्पण कर (३. ३०) – इसी अध्याय में प्रथम उल्लेख हो गया है।

परन्तु यह विवेचन तीसरे अध्याय में पूरा नहीं हुआ इसलिये चौथा अध्याय भी इसी विवेचन के लिये आरम्भ किया गया है। किसी के मन में यह

शङ्का न आने पावे, कि अब तक किया गया प्रतिपादन केवल अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये ही नूतन रचा गया होगा। इसलिये अध्याय के आरम्भ में इस कर्मयोग की अर्थात् भागवत या नारायणीय धर्म की त्रेतायुगवाली परम्परा बतलाई गई है। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि आगे वाली युग के आरम्भ में मैंने ही यह कर्मयोगमार्ग विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनुने इक्ष्वाकु को बतलाया था; परन्तु इस बीच में यह नष्ट हो गया था, इसलिये मैंने यही योग (कर्मयोगमार्ग) तुझे फिर से बतलाया है। तब अर्जुन ने पूछा कि आप विवस्वान् के पहले कैसे होंगे? इसका उत्तर देते हुए भगवान ने बतलाया है कि साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना करना ही मेरे अवतारों का प्रयोजन है। एवं इस प्रकार लोकसंग्रहकारक कर्मों को करते हुए भी उनमें मेरी कुछ आसक्ति नहीं है। इसलिये मैं उनके पापपुण्यादि फलों का भागी नहीं होता। इस प्रकार कर्मयोग का समर्थन करके और यह उदाहरण देकर कि प्राचीन समय जनक आदि ने भी इसी तत्त्व को ध्यान में ला कर कर्मों का आचरण किया है। भगवान् ने अर्जुन को फिर यही उपदेश दिया है कि तू भी वैसे ही कर्म कर। तीसरे अध्याय में मीमांसकों का जो सिद्धान्त बतलाया गया था कि यज्ञ के लिये किये गये कर्म बन्धक नहीं होते उसीको अब फिर से बतलाकर 'यज्ञ' की विस्तृत और व्यापक व्याख्या इस प्रकार की है – केवल तिल और चावल को जलाना अथवा पशुओं को मारना एक प्रकार का यज्ञ है सही; परन्तु यह द्रव्यमय यज्ञ हलके दर्जे का है। और संयमाग्नि में कामक्रोधादि इन्द्रियवृत्तियों को जलाना अथवा न मम कहकर सब कर्मों को ब्रह्म में स्वाहा कर देना ऊँचे दर्जे का यज्ञ है। इसलिये अर्जुन को ऐसा उपदेश किया है, कि तू इस ऊँचे दर्जे के यज्ञ के लिये फलाशा का त्याग करके कर्म कर। मीमांसकों के न्याय के अनुसार यज्ञार्थ किये गये कर्म यदि स्वतन्त्र रीति से बन्धक न हों तो भी यज्ञ का कुछ-न-कुछ फल बिना प्राप्त हुए नहीं रहता। इसलिये यज्ञ भी यदि निष्काम-बुद्धि से ही किया जावे तो उसके लिये किया गया कर्म और स्वयं यज्ञ दोनों बन्धक न होंगे। अन्त में कहा है कि साम्यबुद्धि उसे कहते हैं जिससे यह ज्ञान हो जावे, कि सब प्राणी अपने में या भगवान में हैं। जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी सब कर्म भस्म हो जाते हैं; और कर्ता को उनकी कुछ बाधा नहीं होती। सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते – सब कर्मों का लय ज्ञान में हो जाता है। कर्म स्वयं बन्धक नहीं होते। बन्ध केवल अज्ञान से उत्पन्न होता है। इसलिये अर्जुन को यह उपदेश किया गया है कि अज्ञान को छोड़ कर्मयोग का आश्रय कर; और लड़ाई के लिये खड़ा हो जा। सारांश, इस अध्याय में ज्ञान की इस प्रकार प्रस्तावना की गई है कि कर्मयोगमार्ग की सिद्धि के लिये भी साम्यबुद्धिरूप ज्ञान की आवश्यकता है।

कर्मयोग की आवश्यकता क्या है या कर्म क्यों किये जावें – इसके कारणों का विचार तीसरे और चौथे अध्याय में किया गया है सही, परन्तु दूसरे अध्याय में

सांख्यमार्ग का वर्णन करके कर्मयोग के विवेचन में भी बारबार कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ बतलाई गयी है। इसलिये यह बतलाना अब अत्यन्त आवश्यक है कि इन दो मार्गों में कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है। क्योंकि यदि दोनों मार्ग एक-सी योग्यता के कहे जायँ तो परिणाम यह होगा, कि जिसे जो मार्ग अच्छा लगेगा वह उसी को अंगीकार कर लेगा – केवल कर्मयोग को ही स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। *अर्जुन के मन में यही शङ्का उत्पन्न हुई।* इसलिये उसने *पाँचवें अध्याय के आरम्भ* में भगवान् से पूछा है कि 'सांख्य और योग दोनों निष्ठाओं को एकत्र करके मुझे उपदेश न कीजिये। मुझे केवल इतना ही निश्चयात्मक बतला दीजिये कि इन दोनों में श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा है जिससे कि मैं सहज ही उसके अनुसार बर्ताव कर सकूँ।' इस पर भगवान् ने स्पष्ट रीति से यह कह कर अर्जुन का सन्देह दूर कर दिया है, कि यद्यपि दोनों मार्ग निःश्रेयस्कर हैं – अर्थात् एक-से ही मोक्षप्रद हैं – तथापि उनमें कर्मयोग की योग्यता अधिक है,– 'कर्मयोगो विशिष्यते' (५. २)। इसी सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिये भगवान् और भी कहते हैं, कि संन्यास या सांख्यनिष्ठा से जो मोक्ष मिलता है वही कर्मयोग से भी मिलता है। इतना ही नहीं परन्तु कर्मयोग में जो निष्कामबुद्धि बतलाई गई है, उसे बिना प्राप्त किये संन्यास सिद्ध नहीं होता। और जब वह प्राप्त हो जाती है तब योगमार्ग से कर्म करते रहने पर भी ब्रह्मप्राप्ति अवश्य हो जाती है। फिर यह झगड़ा करने से क्या लाभ है, कि सांख्य और योग भिन्न भिन्न हैं? यदि हम चलना, बोलना, देखना, सुनना, बास लेना इत्यादि सैकड़ों कर्मों को छोड़ना चाहें तो भी वे नहीं छूटते। इस दशा में कर्मों को छोड़ने का हठ न कर उन्हें ब्रह्मार्पणबुद्धि से करते रहना ही बुद्धिमत्ता का मार्ग है। इसलिये तत्त्वज्ञानी पुरुष निष्कामबुद्धि से कर्म करते रहते हैं; और अन्त में उन्हीं के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर लिया करते हैं। ईश्वर तुमसे न यह कहता है *कि कर्म करो; और न यह कहता है कि उनका त्याग कर दो! यह तो सब प्रकृति* की क्रीडा है और बन्धन मन का धर्म है। इसलिये जो मनुष्य समबुद्धि से अथवा 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होकर कर्म किया करता है उसे उस कर्म की बाधा नहीं होती। अधिक क्या कहें; इस अध्याय के अन्त में यह भी कहा है कि जिसकी बुद्धि कुत्ता, चाण्डाल, ब्राह्मण, गौ, हाथी इत्यादि के प्रति सम हो जाती है; और जो सर्व भूतान्तर्गत आत्मा की एकता को पहचान कर अपने व्यवहार करने लगता है उसे बैठे-बिठाये ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है – मोक्षप्राप्ति के लिये उसे कहीं भटकना नहीं पड़ता, वह सदा मुक्त ही है।

छठे अध्याय में वही विषय आगे चल रहा है और उसमें कर्मयोग की सिद्धि के लिये आवश्यक समबुद्धि की प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। पहले ही श्लोक में भगवान् ने अपना मत स्पष्ट बतला दिया है कि जो मनुष्य कर्मफल की आशा न रख केवल कर्तव्य समझकर संसार के प्राप्त कर्म करता रहता है, वही सच्चा योगी

और सच्चा संन्यासी है। जो मनुष्य अग्निहोत्र आदि कर्मों का त्याग कर चुपचाप बैठ रहे वह सच्चा संन्यासी नहीं है। इसके बाद भगवान ने आत्मस्वतन्त्रता का इस प्रकार वर्णन किया है कि कर्मयोगमार्ग में बुद्धि को स्थिर करने लिये इन्द्रियनिग्रहरूपी जो कर्म करना पड़ता है उसे स्वयं आप ही करे। यदि कोई ऐसा न करे, तो वह किसी दूसरे पर उसका दोषारोपण नहीं किया जा सकता। इसके आगे इस अध्याय में इन्द्रियनिग्रहरूपी योग की साधना का पातञ्जलयोग की दृष्टि से, मुख्यतः वर्णन किया गया है। परन्तु यम-नियम-आसन प्राणायाम आदि साधनों के द्वारा यद्यपि इन्द्रियों का निग्रह किया जावे तो भी उतने से ही काम नहीं चलता। इस लिये आत्मैक्यज्ञान की भी आवश्यकता के विषय में इसी अध्याय में कहा गया है कि आगे उस पुरुष की वृत्ति 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' अथवा 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' (६. २९, ३०) इस प्रकार सब प्राणियों में सम हो जानी चाहिये। इतने में अर्जुन ने यह शङ्का उपस्थित की कि यदि यह साम्यबुद्धिरूपी योग एक जन्म में सिद्ध न हो तो फिर दूसरे जन्म में भी आरम्भ ही से उसका अभ्यास करना होगा – और फिर भी वही दशा होगी – और इस प्रकार यदि यह चक्र हमेशा चलता ही रहे तो मनुष्य को इस मार्ग के द्वारा सद्गति प्राप्त होना असम्भव है। इस शङ्का का निवारण करने के लिये भगवान ने पहले यह कहा है कि योगमार्ग में कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता। पहले जन्म के संस्कार शेष रह जाते हैं और उनकी सहायता से दूसरे जन्म में अधिक अभ्यास होता है तथा क्रम क्रम से अन्त में सिद्धि मिल जाती है। इतना कहकर भगवान ने इस अध्याय के अन्त में अर्जुन को पुनः यह निश्चित और स्पष्ट उपदेश किया है कि कर्मयोगमार्ग ही श्रेष्ठ और क्रमशः सुसाध्य है। इस लिये केवल (अर्थात् फलाशा को न छोड़ते हुए) कर्म करना, तपश्चर्या करना, ज्ञान के द्वारा कर्मसंन्यास करना इत्यादि सब मार्गों को छोड़ दे; और तू योगी हो जा – अर्थात् निष्काम-कर्मयोगमार्ग का आचरण करने लग।

कुछ लोगों का मत है कि यहाँ अर्थात् पहले छः अध्यायों में कर्मयोग का विवेचन पूरा हो गया। इसके आगे ज्ञान और भक्ति को 'स्वतन्त्र' निष्ठा मान कर भगवान ने उनका वर्णन किया है – अर्थात् ये दोनों निष्ठाएँ परस्पर निरपेक्ष या कर्मयोग की ही बराबरी की, परन्तु उससे पृथक् और उसके बदले विकल्प के नाते से आचरणीय हैं। सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक भक्ति का और आगे फिर छः अध्यायों में ज्ञान का वर्णन किया गया है। और इस प्रकार अठारह अध्यायों के विभाग करने से कर्म, भक्ति और ज्ञान में से प्रत्येक के हिस्से में छः छः अध्याय आते हैं तथा गीता के समान भाग हो जाते हैं। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। पाँचवें अध्याय के श्लोकों से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि जब अर्जुन की मुख्य शङ्का यही थी कि मैं सांख्यनिष्ठा के अनुसार युद्ध करना छोड़ दूँ, या युद्ध के भयंकर परिणाम को प्रत्यक्ष दृष्टि के सामने देख कर भी युद्ध ही करूँ? और जब युद्ध ही

करना पड़े, तो उसके पाप से कैसे बचूँ! – तब उसका समाधान ऐसे अधूरे और अनिश्चित उत्तर से कभी हो ही सकता था कि 'ज्ञान से मोक्ष मिलता है और वह कर्म से भी प्राप्त हो जाता है। और यदि इसी चाहो तो भक्ति नाम की एक और तीसरी निष्ठा भी है।' इसके अतिरिक्त यह मानना भी ठीक न होगा कि जब अर्जुन किसी एक ही निश्चयात्मक मार्ग को जानना चाहता है, तब सर्वज्ञ और चतुर श्रीकृष्ण उसके प्रश्न के मूल स्वरूप को छोड़कर उसे तीन स्वतन्त्र और विकल्पात्मक मार्ग बतला दें। सच बात तो यह है कि गीता में 'कर्मयोग' और 'संन्यास' इन्हीं दो निष्ठाओं का विचार है (गीता ५. १) और यह भी साफ़ साफ़ बतला दिया है कि इन में से 'कर्मयोग' ही अधिक श्रेयस्कर है। (५. २) भक्ति की तीसरी निष्ठा तो कहीं बतलाई भी नहीं गई है। अर्थात् यह कल्पना साम्प्रदायिक टीकाकारों की मनगढन्त है कि ज्ञान, कर्म और भक्ति तीन स्वतन्त्र निष्ठाएँ हैं; और उनकी यह समझ होने के कारण – कि गीता में केवल मोक्ष के उपायों का ही वर्णन किया गया है – उन्हें ये तीन निष्ठाएँ कदाचित् भागवत से सूझी हों (भाग. ११. २०. ६)। परन्तु टीकाकारों के ध्यान में यह बात नहीं आई कि भागवतपुराण और भगवद्गीता का तात्पर्य एक नहीं है। यह सिद्धान्त भागवतकार को भी मान्य है कि केवल कर्मों से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष के लिये ज्ञान की आवश्यकता रहती है। परन्तु इसके अतिरिक्त, भागवतपुराण का यह भी कथन है कि यद्यपि ज्ञान और नैष्कर्म्य मोक्षदायक हों, तथापि ये दोनों (अर्थात् गीताप्रतिपादित निष्काम कर्मयोग) भक्ति के बिना शोभा नहीं देते – नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् (भाग. १२. १२. ५२ और १. ५. १२)। इस प्रकार देखा जाय तो स्पष्ट प्रकट होता है कि भागवतकार केवल भक्ति को ही सच्ची निष्ठा अर्थात् अन्तिम मोक्षप्रद स्थिति मानते हैं। भागवत का न तो यह कहना है कि भगवद्भक्तों को ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करना ही नहीं चाहिये, और न यह कहना है कि करना ही चाहिये। भागवतपुराण का सिर्फ़ यह कहना है कि निष्काम कर्म करो अथवा न करो – ये सब भक्तियोग के ही भिन्न भिन्न प्रकार हैं (भाग. ३. २९. ७–१९)। भक्ति के अभाव से सब कर्मयोग पुनः संसार में अर्थात् जन्ममृत्यु के चक्कर में डालनेवाले हो जाते हैं (भाग. १. ५. ३४, ३५)। सारांश यह है कि भागवतकार का सारा दारमदार भक्ति पर ही होने के कारण उन्होंने निष्काम कर्मयोग को भी भक्तियोग में ही ढकेल दिया है और यह प्रतिपादन किया है कि अकेली भक्ति ही सच्ची निष्ठा है। परन्तु भक्ति ही कुछ गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इसलिये भागवत के उपर्युक्त सिद्धान्त या परिभाषा को गीता में घुसेड़ देना वैसा ही अयोग्य है जैसा कि आम में नारियल की कलम लगाना। गीता इस बात को पूरी तरह मानती है कि परमेश्वर के ज्ञान के सिवा और किसी भी अन्य उपाय से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती; और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये भक्ति एक सुगम मार्ग है। परन्तु इसी मार्ग

के विषय में आग्रह न कर गीता यह भी कहती है – कि मोक्षप्राप्ति के लिये जिस ज्ञान की आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति – जिसे जो मार्ग सुगम हो – वह उसी मार्ग से कर ले। गीता का तो मुख्य विषय यही है कि अन्त में अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर मनुष्य कर्म करे अथवा न करे। इसलिये संसार में जीवन्मुक्त पुरुषों के जीवन व्यतीत करने के जो दो मार्ग दीख पड़ते हैं – अर्थात् कर्म करना और कर्म छोड़ना यहीं से गीता के उपदेश का आरम्भ किया गया है। इनमें से पहले मार्ग का गीता ने भागवतधर्म की नाई 'भक्तियोग' यह नया नाम नहीं दिया है किन्तु नारायणीय धर्म में प्रचलित प्राचीन नाम ही – अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करने को 'कर्मयोग' या 'कर्मनिष्ठा' और ज्ञानोत्तर कर्मों का त्याग करने को 'सांख्य' या 'ज्ञाननिष्ठा' यही नाम – गीता में स्थिर रखे गये हैं। गीता की इस परिभाषा को स्वीकार कर यदि विचार किया जाय तो दीख पड़ेगा कि ज्ञान और कर्म की बराबरी की भक्ति नामक कोई तीसरी स्वतन्त्र निष्ठा कदापि नहीं हो सकती। इसका कारण यह है, कि 'कर्म करना' और 'न करना' अर्थात् (योग और सांख्य) ऐसे अस्तिनास्तिरूप दो पक्षों के अतिरिक्त कर्म के विषय में तीसरा पक्ष ही अब बाकी नहीं रहता। इसलिये यदि गीता के अनुसार किसी भक्तिमान् पुरुष की निष्ठा के विषय में निश्चय करना हो तो यह निर्णय केवल इसी बात से नहीं किया जा सकता कि वह भक्तिमार्ग में लगा हुआ है। परन्तु इस बात का विचार किया जाना चाहिये कि वह कर्म करता है या नहीं। भक्ति परमेश्वरप्राप्ति का एक सुगम साधन है; और साधन के नाते से यदि भक्ति ही को 'योग' कहें (गीता १४.२६), तो वह अन्तिम 'निष्ठा' नहीं हो सकती। भक्ति द्वारा परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर जो मनुष्य कर्म करेगा उसे 'कर्मनिष्ठ' और जो न करेगा उसे 'सांख्यनिष्ठ' कहना चाहिये। पाँचवें अध्याय में भगवान् ने अपना यह अभिप्राय स्पष्ट बतला दिया है कि उक्त दोनों निष्ठाओं में कर्म करने की निष्ठा अधिक श्रेयस्कर है। परन्तु कर्म पर संन्यासमार्गवालों का यह महत्त्वपूर्ण आक्षेप है कि परमेश्वर का ज्ञान होने में कर्म से प्रतिबन्ध होता है; और परमेश्वर के ज्ञान बिना तो मोक्ष की प्राप्ति ही नहीं हो सकती। इसलिये कर्मों का त्याग ही करना चाहिये। पाँचवें अध्याय में सामान्यतः यह बतलाया गया है, कि उपर्युक्त आक्षेप असत्य है; और संन्यासमार्ग से जो मोक्ष मिलता है वही कर्मयोगमार्ग से भी मिलता है (गीता ५.५) परन्तु वहाँ इस सामान्य सिद्धान्त का कुछ भी खुलासा नहीं किया गया था। इसलिये अब भगवान् इस बचे हुए तथा महत्त्वपूर्ण विषय का विस्तृत निरूपण कर रहे हैं कि कर्म करते रहने ही से परमेश्वर के ज्ञान की प्राप्ति हो कर मोक्ष किस प्रकार मिलता है। इसी हेतु से सातवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन से – यह न कहकर कि मैं तुझे भक्ति नामक एक स्वतन्त्र तीसरी निष्ठा बतलाता हूँ – भगवान् यह कहते हैं कि –

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

'हे पार्थ! मुझमें चित्त को स्थिर करके और मेरा आश्रय लेकर योग यानी कर्मयोग का आचरण करते समय 'यथा' अर्थात् जिस रीति से मुझे सन्देहरहित पूर्णतया जान सकेगा वह (रीति तुझे बतलाता हूँ) सुन' (गीता ७. १); और इसी को आगे के श्लोक में 'ज्ञानविज्ञान' कहा है (गीता ७. २)। इनमें से पहले अर्थात् ऊपर दिये गये 'मय्यासक्तमना' श्लोक में 'योगं युञ्जन्'—अर्थात् 'कर्मयोग का आचरण करते हुए'—ये पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु किसी भी टीकाकार ने इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। 'योग' अर्थात् वही कर्मयोग है कि जिसका वर्णन पहले छः अध्यायों में किया जा चुका है। और इस कर्मयोग का आचरण करते हुए जिस प्रकार विधि या रीति से भगवान् का पूरा ज्ञान हो जावेगा उस रीति या विधि का वर्णन अब यानी सातवें अध्याय से आरम्भ करता हूँ—यही इस श्लोक का अर्थ है। अर्थात् पहले छः अध्यायों का अगले अध्यायों से सम्बन्ध बतलाने के लिये यह श्लोक जानबूझकर सातवें अध्याय के आरम्भ में रखा गया है। इसलिये इस श्लोक के अर्थ की ओर ध्यान न देकर यह कहना बिलकुल अनुचित है कि 'पहले छः अध्यायों के बाद भक्तिनिष्ठा का स्वतन्त्र रीति से वर्णन किया गया है'। केवल इतना ही नहीं वरन् यह भी कहा जा सकता है कि इस श्लोक में 'योगं युञ्जन्' पद जानबूझकर इसी लिये रखे गये हैं कि जिसमें कोई ऐसा विपरीत अर्थ न करने पावे। गीता के पहले पाँच अध्यायों में कर्म की आवश्यकता बतलाकर सांख्यमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ कहा गया है और इसके बाद छठे अध्याय में पातञ्जलयोग के साधनों का वर्णन किया गया है—जो इन्द्रियनिग्रह कर्मयोग के लिये आवश्यक है। परन्तु इतने ही से कर्मयोग का वर्णन पूरा नहीं हो जाता। इन्द्रियनिग्रह मानो कर्मेन्द्रियों से एक प्रकार की कसरत करना है। यह सच है कि अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को हम अपने अधीन रख सकते हैं। परन्तु यदि मनुष्य की वासना ही बुरी होगी तो इन्द्रियों को काबू में रखने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। क्योंकि देखा जाता है कि बुरी वासनाओं के कारण कुछ लोग इसी इन्द्रियनिग्रहरूप सिद्धि का जारण मारण आदि दुष्कर्मों में उपयोग किया करते हैं। इसलिये छठे अध्याय ही में कहा है कि इन्द्रियनिग्रह के साथ ही वासना भी 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' की नाईं शुद्ध हो जानी चाहिये (गीता ६. २९); और ब्रह्मात्मैक्यरूप परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप की पहचान हुए बिना वासना की इस प्रकार शुद्धता होना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रियनिग्रह कर्मयोग के लिये आवश्यक है वह भले ही प्राप्त हो जाय; परन्तु 'रस' अर्थात् विषयों की चाह मन में ज्यों-की-त्यों बनी ही रहती है। इस रस अथवा विषयवासना का नाश करने के लिये परमेश्वरसम्बन्धी पूर्ण ज्ञान की ही आवश्यकता है। यह बात

गीता के दूसरे अध्याय में कही गई है (गीता २. ५९)। इसलिये कर्मयोग का आचरण करते हुए ही जिस रीति अथवा विधि से परमेश्वर का यह ज्ञान प्राप्त होता है, उसी विधि का अब भगवान् सातवें अध्याय से वर्णन करते हैं। 'कर्मयोग का आचरण करते हुए' – इस पद से यह भी सिद्ध होता है कि कर्मयोग के जारी रहते ही इस ज्ञान की प्राप्ति कर लेनी है। इसके लिये कर्मों को छोड़ नहीं बैठना है; और इसीसे यह कहना भी निर्मूल हो जाता है कि भक्ति और ज्ञान को कर्मयोग के बदले विकल्प मानकर इन्हीं दो स्वतन्त्र मार्गों का वर्णन सातवें अध्याय से आगे किया गया है। गीता का कर्मयोग भागवतधर्म से ही लिया गया है। इसलिये कर्मयोग में ज्ञानप्राप्ति की विधि का जो वर्णन है, वह भागवतधर्म अथवा नारायणीय धर्म में कही गई विधि का ही वर्णन है। और इसी अभिप्राय से शान्तिपर्व के अन्त में वैशंपायन ने जनमेजय से कहा है कि "भगवद्गीता में प्रवृत्तिप्रधान नारायणीय धर्म और उसकी विधियों का वर्णन किया गया है।" वैशंपायन के कथनानुसार इसीमें संन्यासमार्ग की विधियों का भी अन्तर्भाव होता है। क्योंकि यद्यपि इन दोनों मार्गों में 'कर्म करना अथवा कर्मों को छोड़ना' यही भेद है, तथापि दोनों को एक ही ज्ञानविज्ञान की आवश्यकता है। इसलिये दोनों मार्गों में ज्ञानप्राप्ति की विधियाँ एक ही सी होती हैं। परन्तु जब कि उपर्युक्त श्लोक में 'कर्मयोग का आचरण करते हुए' – ऐसे प्रत्यक्ष पद रखे गये हैं, तब स्पष्ट रीति से यही सिद्ध होता है कि गीता के सातवें और उसके अगले अध्यायों में ज्ञानविज्ञान का निरूपण मुख्यतः कर्मयोग ही की पूर्ति के लिये किया है। उसकी व्यापकता के कारण उसमें संन्यासमार्ग की भी विधियों का समावेश हो जाता है। कर्मयोग को छोड़कर केवल सांख्यनिष्ठा के समर्थन के लिये यह ज्ञानविज्ञान नहीं बतलाया गया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि सांख्यमार्गवाले यद्यपि ज्ञान का महत्त्व दिया करते हैं, तथापि वे कर्म का या भक्ति का कुछ भी महत्त्व नहीं देते; और गीता में तो भक्ति सगुण तथा प्रधान मानी गई है – इतना ही क्यों, वरन् अध्यात्मज्ञान और भक्ति का वर्णन करते समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जगह जगह पर यही उपदेश दिया है कि "तू कर्म अर्थात् युद्ध कर" (गीता ८. ७; ११. ३३; १६. २४; १८. ६)। इसलिये यही सिद्धान्त करना पड़ता है कि गीता के सातवें और अगले अध्यायों में ज्ञानविज्ञान का जो निरूपण है, वह पिछले छः अध्यायों में कहे गये कर्मयोग की पूर्ति और समर्थन के लिये ही बतलाया गया है। यहाँ केवल सांख्यनिष्ठा का या भक्ति का स्वतन्त्र समर्थन विवक्षित नहीं है। ऐसा सिद्धान्त करने पर कर्म, भक्ति और ज्ञान गीता के तीन परस्पर-स्वतन्त्र विभाग नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, परन्तु अब यह विदित हो जायगा कि यह मत भी (जिसे कुछ लोग प्रकट किया करते हैं) केवल काल्पनिक अतएव मिथ्या है। वे कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में तीन ही पद हैं; और गीता के अध्याय भी अठारह हैं। इसलिये छः भिन्न अठारह के हिसाब से गीता

के छः छः अध्यायों के तीन समान विभाग करके पहले छः अध्यायों में 'त्वम्' पद का, दूसरे छः अध्यायों में 'तत्' पद का और तीसरे छः अध्यायों में 'असि' पद का विवेचन किया गया है। इस मत को काल्पनिक या मिथ्या कहने का कारण यही है, कि अब तो एकदेशीय पक्ष ही बिलकुल नहीं रहने पाता जो यह कहे कि सारी गीता में केवल ब्रह्मज्ञान का ही प्रतिपादन किया गया है, तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्य के विवरण के सिवा गीता में और कुछ अधिक नहीं है।

इस प्रकार जब मालूम हो गया कि भगवद्गीता में भक्ति और ज्ञान का विवेचन क्यों किया गया है, तब सातवें से सत्रहवें अध्याय के अन्त तक ग्यारहों अध्यायों की संगति सहज ही ध्यान में आ जाती है। पीछे छठे प्रकरण में बतला दिया गया है कि जिस परमेश्वरस्वरूप के ज्ञान से बुद्धि स्थिर और सम होती है उस परमेश्वरस्वरूप का विचार एक बार क्षराक्षरदृष्टि से और फिर क्षेत्रक्षेत्रज्ञदृष्टि से करना पड़ता है। और उससे अन्त में यह सिद्धान्त किया जाता है कि जो तत्त्व पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। इन्हीं विषयों का अब गीता में वर्णन है। परन्तु जब इस प्रकार परमेश्वर के स्वरूप का विचार करने लगते हैं तब दीख पड़ता है कि परमेश्वर का स्वरूप कभी तो व्यक्त (इन्द्रियगोचर) होता है और कभी अव्यक्त। फिर ऐसे प्रश्नों का भी विचार इस निरूपण में करना पड़ता है कि इन दोनों स्वरूपों में श्रेष्ठ कौन-सा है; और इस श्रेष्ठ स्वरूप से कनिष्ठ स्वरूप कैसे उत्पन्न होता है? इसी प्रकार अब इस बात का भी निर्णय करना पड़ता है कि परमेश्वर के पूर्ण ज्ञान से बुद्धि को स्थिर, सम और आत्मनिष्ठ करने के लिये परमेश्वर की जो उपासना करनी पड़ती है वह कैसी हो — अव्यक्त की उपासना करना अच्छा है अथवा व्यक्त की? और इसीके साथ साथ इस विषय की उपपत्ति बतलानी पड़ती है कि परमेश्वर यदि एक है तो व्यक्तसृष्टि में यह अनेकता क्यों दीख पड़ती है? इन सब विषयों का व्यवस्थित रीति से वर्णन के लिये यदि ग्यारह अध्याय लग गये तो कुछ आश्चर्य नहीं। हम यह नहीं कहते कि गीता में भक्ति और ज्ञान का बिलकुल विवेचन ही नहीं है। हमारा केवल इतना ही कहना है कि कर्म, भक्ति और ज्ञान को तीन विषय या निष्ठाएँ स्वतन्त्र अर्थात् तुल्यबल की समझ कर इन तीनों में गीता के अठारह अध्यायों के जो अलग अलग और बराबर बराबर हिस्से कर दिये जाते हैं वैसा करना उचित नहीं है; किन्तु गीता में एक ही निष्ठा का अर्थात् ज्ञानमूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है; और सांख्यनिष्ठा, ज्ञानविज्ञान या भक्ति का जो निरूपण भगवद्गीता में पाया जाता है वह सिर्फ कर्मयोगनिष्ठा की पूर्ति और समर्थन के लिये आनुषङ्गिक है — किसी स्वतन्त्र विषय का प्रतिपादन करने के लिये नहीं। अब यह देखना है कि हमारे इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मयोग की पूर्ति और समर्थन के लिये बतलाये गये ज्ञानविज्ञान का विभाग गीता के अध्यायों के क्रमानुसार किस प्रकार किया गया है।

सातवें अध्याय में क्षराक्षरसृष्टि के अर्थात् ब्रह्माण्ड के विचार को आरम्भ करके भगवान् ने अव्यक्त और अक्षर परब्रह्म के ज्ञान के विषय में यह कहा है कि जो इस सारी सृष्टि को — पुरुष और प्रकृति को — मेरे ही पर और अपर स्वरूप जानते हैं और जो इस माया के परे के अव्यक्त रूप को पहचान कर मुझे भजते हैं उनकी बुद्धि सम हो जाती है; तथा उन्हें मैं सद्गति देता हूँ। और उन्होंने अपने स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है कि सब देवता, सब प्राणी, सब यज्ञ, सब कर्म और सब अध्यात्म मैं ही हूँ मेरे सिवा इस संसार में अन्य कुछ भी नहीं है। इसके बाद आठवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैव और अधिभूत शब्दों का अर्थ पूछा है। इन शब्दों का अर्थ बतला कर भगवान ने कहा है कि इस प्रकार जिसने मेरा स्वरूप पहचान लिया उसे मैं कभी नहीं भूलता। इसके बाद इन विषयों का संक्षेप में विवेचन है कि सारे जगत् में अविनाशी या अक्षर तत्त्व कौन-सा है सब संसार का संहार कैसे और कब होता है जिस मनुष्य को परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसको कौन-सी गति प्राप्त होती है; और ज्ञान के बिना केवल काम्यकर्म करनेवाले को कौन-सी गति मिलती है। नौवें अध्याय में भी यही विषय है। इसमें भगवान ने उपदेश किया है, कि जो अव्यक्त परमेश्वर इस प्रकार चारों ओर व्याप्त है, उसके व्यक्त स्वरूप की भक्ति के द्वारा पहचान करके अनन्य भाव से उसकी शरण में जाना ही ब्रह्मप्राप्ति का प्रत्यक्षावगम्य और सुगम मार्ग अथवा राजमार्ग है और इसी को राजविद्या या राजगुह्य कहते हैं। तथापि इन तीनों अध्यायों में बीच बीच में भगवान् कर्मयोग का यह प्रधान तत्त्व बतलाना नहीं भूले हैं कि ज्ञानवान् या भक्तिमान् पुरुषों को कर्म करते ही रहना चाहिये। उदाहरणार्थ आठवें अध्याय में कहा है — "तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च" — इसलिये सदा अपने मन में मेरा स्मरण रख और युद्ध कर (८.७); और नौवें अध्याय में कहा है कि सब कर्मों को मुझे अर्पण कर देने से उनके शुभाशुभ फलों से तू मुक्त हो जायगा (९.२७ २८)। ऊपर भगवान् ने जो यह कहा है कि संसार मुझसे उत्पन्न हुआ है और वह मेरा ही रूप है वही बात दसवें अध्याय में ऐसे अनेक उदाहरण देकर अर्जुन को भली भाँति समझा दी है कि संसार की प्रत्येक वस्तु मेरी ही विभूति है। अर्जुन के प्रार्थना करने पर ग्यारहवें अध्याय में भगवान ने अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाया है और उसकी दृष्टि के सन्मुख इस बात की सत्यता का अनुभव करा दिया है मैं (परमेश्वर) ही सारे संसार में चारों ओर व्याप्त हूँ। परन्तु इस प्रकार विश्वरूप दिखला कर और अर्जुन के मन में यह विश्वास करा के, कि सब कर्मों का करानेवाला मैं ही हूँ भगवान् ने तुरन्त ही कहा है कि "सच्चा कर्ता तो मैं ही हूँ तू निमित्तमात्र है; इसलिये निःशङ्क होकर युद्ध कर" (गीता ११.३३)। यद्यपि इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि संसार में एक ही परमेश्वर है तो भी अनेक स्थानों में परमेश्वर के अव्यक्त स्वरूप

का ही प्रधान मान कर वर्णन किया गया है, कि 'मैं अव्यक्त हूँ। परन्तु मुझे मूर्ख लोग व्यक्त समझते हैं' (७ २४) 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' (८ ११) – जिसे वेदवेत्तागण अक्षर कहते हैं अव्यक्त को ही कहते हैं (८ २१) 'मेरे यथार्थ स्वरूप को न पहचान कर मूर्ख लोग मुझे देहधारी मानते हैं (९ ११) विद्याओं में अध्यात्मविद्या श्रेष्ठ (१० ३२) और अर्जुन के कथनानुसार त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् (११ ३७)। इसीलिये बारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने पूछा है कि किस परमेश्वर की – व्यक्त की या अव्यक्त की – उपासना करना चाहिये? तब भगवान ने अपना यह मत प्रदर्शित किया है, कि जिस व्यक्त स्वरूप की उपासना का वर्णन नौवें अध्याय में ही चुका है वही सुगम है। और दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ का जैसा वर्णन है वैसा ही परम भगवद्भक्त की स्थिति का वर्णन करके यह अध्याय पूरा कर दिया है।

कुछ लोगों की राय है कि यद्यपि गीता के कर्म भक्ति और ज्ञान ये तीन स्वतन्त्र भाग न भी किये जा सकें, तथापि सातवें अध्याय से ज्ञानविज्ञान का जो विषय आरम्भ हुआ है उसके भक्ति और ज्ञान ये दो पृथक् भाग सहज ही हो जाते हैं। और वे लोग कहते हैं कि द्वितीय षडध्यायी भक्तिप्रधान है। परन्तु कुछ विचार करने के उपरान्त किसीको भी ज्ञात हो जावेगा कि यह मत भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि सातवें अध्याय का आरम्भ क्षराक्षरसृष्टि के ज्ञानविज्ञान से किया गया है, न कि भक्ति से। और यदि कहा जाय कि बारहवें अध्याय में भक्ति का वर्णन पूरा हो गया है तो हम देखते हैं कि अगले अध्यायों में ठौर ठौर पर भक्ति के विषय में बारबार यह उपदेश किया गया है कि जो बुद्धि के द्वारा मेरे स्वरूप को नहीं जान सकता वह श्रद्धापूर्वक दूसरों के वचनों पर विश्वास रख कर मेरा ध्यान करे (गीता १३ २५) जो मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति करता है वही ब्रह्मभूत होता है (१४ २६) जो मुझे ही पुरुषोत्तम जानता है वह मेरी ही भक्ति करता है (गीता १५ १९) और अन्त में अठारहवें अध्याय में पुनः भक्ति का ही इस प्रकार उपदेश किया है कि सब धर्मों को छोड़ कर तू मुझको भज (१८ ६६) इस लिये यह नहीं कह सकते कि केवल दूसरी षडध्यायी ही में भक्ति का उपदेश है। इसी प्रकार यदि भगवान का यह अभिप्राय होता कि ज्ञान से भक्ति भिन्न है तो चौथे अध्याय में ज्ञान की प्रस्तावना करके (४ ३४–३७) सातवें अध्याय के आरम्भ उपर्युक्त आक्षेपकों के मतानुसार भक्तिप्रधान षडध्यायी के आरम्भ में भगवान ने यह न कहा होता कि अब मैं तुझे वही ज्ञान और विज्ञान बतलाता हूँ (७ २)। यह सच है कि इसके आगे के नौवें अध्याय में राजविद्या और राजगुह्य अर्थात् प्रत्यक्ष अवगम्य भक्तिमार्ग बतलाया है परन्तु अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया है कि मैं तुझे विज्ञानसहित ज्ञान बतलाता हूँ (९ १)। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि गीता में भक्ति का समावेश ज्ञान ही में किया गया है। दसवें अध्याय में भगवान् ने अपनी

विभूतियों का वर्णन किया है; परन्तु ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने उसे ही 'अध्यात्म' कहा है (११. १)। और ऊपर यह बतला ही दिया गया है, कि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय बीच बीच में व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप की श्रेष्ठता की भी बातें आ गई हैं। इन्हीं सब बातों से बारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने यह प्रश्न किया है, कि उपासना व्यक्त परमेश्वर की की जावे या अव्यक्त की? तब यह उत्तर देकर – कि अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना अर्थात् भक्ति सुगम है – भगवान् ने तेरहवें अध्याय में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का 'ज्ञान' बतलाना आरम्भ कर दिया, और सातवें अध्याय के आरम्भ के समान चौदहवें अध्याय के आरम्भ में भी कहा है, कि "परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्" – फिर से मैं तुझे वही 'ज्ञानविज्ञान' पूरी तरह से बतलाता हूँ (१४. १)। इस ज्ञान का वर्णन करते समय भक्ति का सूत्र या सम्बन्ध भी टूटने नहीं पाया है। इससे यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है, कि भगवान् का उद्देश भक्ति और ज्ञान दोनों को पृथक् रीति से बतलाने का नहीं था; किन्तु सातवें अध्याय जिस ज्ञानविज्ञान का आरम्भ किया गया है, उसीमें दोनों एकत्र गूँथ दिये गये हैं। भक्ति भिन्न है – यह कहना उस सम्प्रदाय के अभिमानियों की नासमझी है। वास्तव में गीता का अभिप्राय ऐसा नहीं है। अव्यक्तोपासना में (ज्ञानमार्ग में) अध्यात्मविचार से परमेश्वर के स्वरूप का जो ज्ञान प्राप्त कर लेना पड़ता है, वही भक्तिमार्ग में भी आवश्यक है। परन्तु व्यक्तोपासना में (भक्तिमार्ग में) आरम्भ में वह ज्ञान दूसरों से श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है (१३. २५); इसलिये भक्तिमार्ग प्रत्यक्षावगम्य और सामान्यतः सभी लोगों के लिये सुखकारक है (९. २) और ज्ञानमार्ग (या अव्यक्तोपासना) क्लेशमय (१२. ५) है – बस इसके अतिरिक्त इन दो साधनों में गीता की दृष्टि से और कुछ भी भेद नहीं है। परमेश्वर-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर के बुद्धि को सम करने का जो कर्मयोग का उद्देश या साध्य है, वह इन दोनों साधनों के द्वारा एक-सा ही प्राप्त होता है। इसलिये चाहे व्यक्तोपासना कीजिये या अव्यक्तोपासना; भगवान् को दोनों एक ही समान ग्राह्य हैं। तथापि ज्ञानी पुरुष को भी उपासना की थोड़ी बहुत आवश्यकता होती ही है; इसलिये चतुर्विध भक्तों में भक्तिमान् ज्ञानी को श्रेष्ठ कहकर (७. १७) भगवान् ने ज्ञान और भक्ति के विरोध को हटा दिया है। कुछ भी हो; परन्तु जब कि ज्ञानविज्ञान का वर्णन किया जा रहा है, तब प्रसङ्गानुसार एक-आध अध्याय में व्यक्तोपासना का और किसी दूसरे अध्याय में अव्यक्तोपासना का निर्णय हो जाना अपरिहार्य है। परन्तु इतने ही से यह सन्देह न हो जावे, कि ये दोनों पृथक् पृथक् हैं; इसलिये परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त की श्रेष्ठता और अव्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय भक्ति की आवश्यकता बतला देना भी भगवान् नहीं भूले हैं। अब विश्वरूप के, और विभूतियों के वर्णन में ही तीन-चार अध्याय लग गये हैं। इसलिये यदि इन तीन-चार अध्यायों को

(पक्षपाती को नहीं) स्पष्टमान से 'भक्तिमार्ग' नाम देना ही किसी को पसन्द हो तो ऐसा करने में कोई हर्ज नहीं। परन्तु कुछ भी कहिये, यह तो निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि गीता में भक्ति और ज्ञान को न तो पृथक् किया है और न इन दोनों मार्गों को स्वतन्त्र कहा है। संक्षेप में उक्त निरूपण का यही भावार्थ ध्यान में रहे कि कर्मयोग में जिस साम्यबुद्धि को प्रधानता दी जाती है उसकी प्राप्ति के लिये परमेश्वर के सर्वव्यापी स्वरूप का ज्ञान होना चाहिये। फिर यह ज्ञान चाहे व्यक्त की उपासना से हो और चाहे अव्यक्त की — सुगमता के अतिरिक्त इनमें अन्य कोई भेद नहीं है। और गीता में सातवें से लेकर सत्रहवें अध्याय तक सब विषयों को 'ज्ञानविज्ञान' या 'अध्यात्म' यही नाम दिया गया है।

जब भगवान् ने अर्जुन के 'चर्मचक्षुओं' को विश्वरूपदर्शन के द्वारा यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया कि परमेश्वर ही सारे ब्रह्माण्ड में या चराचरसृष्टि में समाया हुआ है, तब तेरहवें अध्याय में ऐसा क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार बतलाया है कि यही परमेश्वर पिंड में अर्थात् मनुष्य के शरीर में या क्षेत्र में आत्मा के रूप से निवास करता है और इस आत्मा का अर्थात् क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही परमेश्वर का (परमात्मा का) भी ज्ञान है। प्रथम परमात्मा का अर्थात् परब्रह्म का 'अनादि मत्परं ब्रह्म' इत्यादि प्रकार से — उपनिषदों के आधार से — वर्णन करके आगे बतलाया गया है कि यही क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार 'प्रकृति' और 'पुरुष' नामक सांख्यविवेचन में अन्तर्भूत हो गया है। और अन्त में यह वर्णन किया गया है कि जो 'प्रकृति' और 'पुरुष' के भेद को पहचान कर अपने 'ज्ञानचक्षुओं' के द्वारा सर्वगत निर्गुण परमात्मा को जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है। परन्तु उसमें भी कर्मयोग का यह सूत्र स्थिर रखा गया है कि 'सब काम प्रकृति करती है, आत्मा करता नहीं है' — यह जानने से कर्म बन्धक नहीं होते (१३. २९); और भक्ति का 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' (१३. २४) यह सूत्र भी कायम है। चौदहवें अध्याय में इसी ज्ञान का वर्णन करते हुए सांख्यशास्त्र के अनुसार बतलाया गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा या परमेश्वर के होने पर भी प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुणों के भेदों के कारण संसार में वैचित्र्य उत्पन्न होता है। आगे कहा गया है कि जो मनुष्य प्रकृति के इस खेल को जानकर और अपने को कर्ता न समझ भक्तियोग से परमेश्वर की सेवा करता है, वही सच्चा त्रिगुणातीत या मुक्त है। अन्त में अर्जुन के प्रश्न करने पर स्थितप्रज्ञ और भक्तिमान् पुरुष की स्थिति के समान ही त्रिगुणातीत की स्थिति का वर्णन किया गया है। श्रुतिग्रन्थों में परमेश्वर का कहीं कहीं वृक्षरूप से जो वर्णन पाया जाता है उसीका पन्द्रहवें अध्याय के आरम्भ में वर्णन करके भगवान् ने बतलाया है कि जिसे सांख्यवादी 'सृष्टि का पसारा' कहते हैं, वही यह अश्वत्थ वृक्ष है। और अन्त में भगवान् ने अर्जुन को यह उपदेश दिया है कि क्षर और अक्षर दोनों के परे जो पुरुषोत्तम है उसे पहचान कर उसकी भक्ति करने से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है — तू भी ऐसा ही कर।

ही कर। सोलहवें अध्याय में कहा गया है कि प्रकृतिभेद के कारण संसार में जैसा वैचित्र्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार मनुष्यों में भी दो भेद अर्थात् दैवी सम्पत्तिवाले और आसुरी सम्पत्तिवाले होते हैं। इसके बाद उनके कर्मों का वर्णन किया गया है और यह बतलाया गया है कि उन्हें कौन-सी गति प्राप्त होती है। अर्जुन के पूछने पर सत्रहवें अध्याय में इस बात का विवेचन किया गया है, कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों की विषमता के कारण उत्पन्न होनेवाला वैचित्र्य श्रद्धा, दान, यज्ञ, तप इत्यादि में भी दीख पड़ता है। इसके बाद यह बतलाया गया है, कि 'ॐ तत्सत्' इस ब्रह्मनिर्देश के 'तत्' पद का अर्थ निष्कामबुद्धि से किया गया कर्म और 'सत्' पद का अर्थ अच्छा परन्तु काम्यबुद्धि से किया गया कर्म' होता है, और इस अर्थ के अनुसार वह सामान्य ब्रह्मनिर्देश भी कर्मयोगमार्ग के ही अनुकूल है। सारांशरूप से सातवें अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय तक ग्यारह अध्यायों का तात्पर्य यही है, कि संसार में चारों ओर एक ही परमेश्वर व्याप्त है – फिर तुम चाहे उसे विश्वरूप-दर्शन के द्वारा पहचानो चाहे ज्ञानचक्षु के द्वारा। शरीर में क्षेत्रज्ञ भी वही है, और क्षरसृष्टि में अक्षर भी वही है। वही दृश्यसृष्टि में व्याप्त है और उसके बाहर अथवा परे भी है। यद्यपि वह एक है तो भी प्रकृति के गुणभेद के कारण व्यक्तसृष्टि में नानात्व या वैचित्र्य दीख पड़ता है और इस माया से अथवा प्रकृति के गुणभेद के कारण ही दान, श्रद्धा, तप, यज्ञ, धृति, ज्ञान इत्यादि तथा मनुष्यों में भी अनेक भेद हो जाते हैं। परन्तु इन सब भेदों में जो एकता है उसे पहचान कर उस एक और नित्यतत्त्व की उपासना के द्वारा – फिर वह उपासना चाहे व्यक्त की हो अथवा अव्यक्त की – प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि को स्थिर और सम करे तथा उस निष्काम, सात्त्विक अथवा साम्यबुद्धि से ही संसार में स्वधर्मानुसार प्राप्त सब व्यवहार केवल कर्तव्य समझ किया करे। इस ज्ञानविज्ञान का प्रतिपादन इस ग्रन्थ के अर्थात् गीता-रहस्य के पिछले प्रकरणों में विस्तृत रीति से किया गया है। इसलिये हमने सातवें अध्याय से ग्यारहवें सत्रहवें अध्याय तक का सारांश ही इस प्रकरण में लिखा है – अधिक विस्तार नहीं किया। हमारा प्रस्तुत उद्देश केवल गीता के अध्यायों की संगति देखना ही है। अतएव उस काम के लिये जितना भाग आवश्यक है उतने का ही हमने यहाँ उल्लेख किया है।

कर्मयोगमार्ग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है। इसलिये इस बुद्धि को शुद्ध और सम करने के लिये परमेश्वर की सर्वव्यापकता अर्थात् सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्य का जो 'ज्ञानविज्ञान' आवश्यक होता है उसका वर्णन आरम्भ करके अब तक इस बात का निरूपण किया गया कि भिन्न भिन्न अधिकार के अनुसार व्यक्त या अव्यक्त की उपासना के द्वारा जब यह ज्ञान हृदय में भिद जाता है तब बुद्धि को स्थिरता और समता प्राप्त हो जाती है और कर्मों का त्याग न करने पर भी अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसीके साथ क्षराक्षर का और क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का

का भी विचार किया गया है। परन्तु भगवान् ने निश्चित रूप से कह दिया है कि इस प्रकार बुद्धि के सम हो जाने पर भी कर्मों का त्याग करने की अपेक्षा फलाशा को छोड़ देना और लोकसंग्रह के लिये आमरण कर्म ही करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गीता ५.२)। अतएव स्मृतिग्रन्थों में वर्णित 'संन्यासाश्रम' इस कर्मयोग में नहीं होता और इससे मन्वादि स्मृतिग्रन्थों का तथा इस कर्मयोग का विरोध हो जाना सम्भव है। इसी शङ्का को मन में लाकर अठारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने 'संन्यास' और 'त्याग' का रहस्य पूछा है। भगवान् इस विषय में यह उत्तर देते हैं कि 'संन्यास' का मूल अर्थ 'छोड़ना' है, इसलिये – और कर्मयोगमार्ग में यद्यपि कर्मों को नहीं छोड़ते तथापि फलाशा को छोड़ते हैं, इसलिये – कर्मयोग तत्त्वतः संन्यास ही होता है। क्योंकि यद्यपि संन्यासी का वेष धारण करके भिक्षा न माँगी जावे तथापि वैराग्य का और संन्यास का जो तत्त्व स्मृतियों में कहा गया है – अर्थात् बुद्धि का निष्काम होना – वह कर्मयोग में भी रहता है। परन्तु फलाशा के छूटने से स्वर्गप्राप्ति की भी आशा नहीं रहती। इसलिये यहाँ एक और शङ्का उपस्थित होती है कि ऐसी दशा में यज्ञयागादिक श्रौतकर्म करने की क्या आवश्यकता है? इस पर भगवान् ने अपना यह निश्चित मत बतलाया है कि उपर्युक्त कर्म चित्तशुद्धिकारक हुआ करते हैं इसलिये उन्हें भी अन्य कर्मों के साथ ही निष्कामबुद्धि से करते रहना चाहिये। और इस प्रकार लोकसंग्रह के लिये यज्ञचक्र को हमेशा जारी रखना चाहिये। अर्जुन के प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर देने पर प्रकृतिस्वभावानुरूप ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और सुख के जो सात्त्विक, तामस और राजस भेद हुआ करते हैं उनका निरूपण करके गुणवैचित्र्य का विषय पूरा किया है। इसके बाद निश्चय किया गया है कि निष्कामकर्म, निष्कामकर्ता, आसक्तिरहित बुद्धि, अनासक्ति से होनेवाला सुख और 'अविभक्तं विभक्तेषु' इस नियम के अनुसार होनेवाला आत्मैक्यज्ञान ही सात्त्विक या श्रेष्ठ है। इसी तत्त्व के अनुसार चातुर्वर्ण्य की भी उपपत्ति बतलाई गई है; और कहा गया है कि चातुर्वर्ण्यधर्म से प्राप्त हुए कर्मों को सात्त्विक अर्थात् निष्कामबुद्धि से केवल कर्तव्य मानकर करते रहने से ही मनुष्य इस संसार में कृतकृत्य हो जाता है और अन्त में उसे शान्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अन्त में भगवान् ने अर्जुन को भक्तिमार्ग का यह निश्चित उपदेश किया है कि कर्म तो प्रकृति का धर्म है। इसलिये यदि तू उसे छोड़ना चाहे तो भी वह न छूटेगा। अतएव यह समझ कर कि सब करानेवाला और करनेवाला परमेश्वर ही है, तू उसकी शरण में जा और सब काम निष्कामबुद्धि से करता जा। मैं ही वह परमेश्वर हूँ, मुझपर विश्वास रख, मुझे भज, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा। ऐसा उपदेश करके भगवान् ने गीता के प्रवृत्तिप्रधान धर्म का निरूपण पूरा किया है। सारांश यह है कि इस लोक और परलोक दोनों का विचार करके ज्ञानवान् एवं शिष्ट जनों ने 'सांख्य' और 'कर्मयोग' नामक जिन दो निष्ठाओं को प्रचलित किया है, उन्हीं से गीता के उपदेश का आरम्भ हुआ है।

इन दोनों में से पाँचवें अध्याय के निर्णयानुसार जिस कर्मयोग की योग्यता अधिक है जिस कर्मयोग की सिद्धि के लिये छठे अध्याय में पातञ्जलयोग का वर्णन किया है जिस कर्मयोग के आचरण की विधि का वर्णन अगले ग्यारह अध्यायों में (७ से १७ तक) पिण्डब्रह्माण्डज्ञानपूर्वक विस्तार से किया गया है; और यह कहा गया है, कि उस विधि से आचरण करने पर परमेश्वर का पूरा ज्ञान हो जाता है एवं अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है उसी कर्मयोग का समर्थन अठारहवें अध्याय में अर्थात् अन्त में भी है। और मोक्षरूपी आत्मकल्याण के आड़े न आकर परमेश्वरार्पणपूर्वक केवल कर्तव्य बुद्धि से स्वधर्मानुसार लोकसंग्रह के लिये सब कर्मों को करते रहने का जो यह योग या युक्ति है उसकी श्रेष्ठता का यह भगवत्प्रणीत उपपादन जब अर्जुन ने सुना तभी उसने संन्यास लेकर भिक्षा माँगने का अपना पहला विचार छोड़ दिया। और अब – केवल भगवान् के कहने ही से नहीं; किन्तु कर्माकर्मशास्त्र का पूर्ण ज्ञान हो जाने के कारण – वह स्वयं अपनी इच्छा से युद्ध करने के लिये प्रवृत्त हो गया। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये ही गीता का आरम्भ हुआ है और उसका अन्त भी वैसा ही हुआ है (गीता १८. ७३)।

गीता के अठारह अध्यायों की जो सङ्गति ऊपर बतलाई गई है उससे यह प्रकट हो जायगा कि गीता कुछ कर्म भक्ति और ज्ञान इन तीन स्वतन्त्र निष्ठाओं की खिचड़ी नहीं है। अथवा वह सूत रेशम और जरी के चिथड़ों की सिली हुई गुदड़ी नहीं है; वरन दीख पड़ेगा कि सूत रेशम और जरी के तानेबाने को यथास्थान में योग्य रीति से एकत्र करके कर्मयोग नामक मूल्यवान् और मनोहर गीतारूपी वस्त्र आदि से अन्त तक अत्यन्त योगयुक्त चित्त से एकसा बुना गया है। यह सच है कि निरूपण की पद्धति संवादात्मक होने के कारण शास्त्रीय पद्धति की अपेक्षा वह जरा ढीली है। परन्तु यदि इस बातपर ध्यान दिया जाय कि संवादात्मक निरूपण से शास्त्रीय पद्धति की रूक्षता हट गई है और उसके बदले गीता में सुलभता और प्रेमरस भर गया है तो शास्त्रीय पद्धति के हेतु-अनुमानों की केवल बुद्धिग्राह्य तथा नीरस कटकट छूट जाने का किसी को भी तिलमात्र बुरा न लगेगा। इसी प्रकार यद्यपि गीतानिरूपण की पद्धति पौराणिक या संवादात्मक है तो भी ग्रन्थपरीक्षण की मीमांसकों की सब कसौटियों के अनुसार गीता का तात्पर्य निश्चित करने में कुछ भी बाधा नहीं होती। यह बात इस ग्रन्थ के कुल विवेचन से मालूम हो जायगी। गीता का आरम्भ देखा जाय तो मालूम होगा कि अर्जुन क्षात्रधर्म के अनुसार लड़ाई करने के लिये चला था। जब धर्माधर्म की विचिकित्सा के चक्कर में पड़ गया तब उसे वेदान्तशास्त्र के आधार पर प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोगधर्म का उपदेश करने के लिये गीता प्रवृत्त हुई है और हमने पहले ही प्रकरण में यह बतला दिया है कि गीता के उपसंहार और फल दोनों इसी प्रकार के अर्थात् प्रवृत्तिप्रधान ही हैं। इसके बाद हमने बतलाया है कि गीता में अर्जुन को जो उपदेश किया है उसमें तू युद्ध अर्थात् कर्म ही कर ऐसा दसबारह बार स्पष्ट रीति से और पर्याय से तो अनेक बार (अभ्यास)

बतलाया है और हमने यह भी बतलाया है कि संस्कृत-साहित्य में कर्मयोग की उपपत्ति बतलानेवाला गीता के सिवा दूसरा ग्रन्थ नहीं है। इसलिये अभ्यास और अपूर्वता इन दो प्रमाणों से गीता में कर्मयोग की प्रधानता ही अधिक व्यक्त होती है। मीमांसकों ने ग्रन्थतात्पर्य का निर्णय करने के लिये जो कसौटियाँ बतलाई हैं, उन में से अर्थवाद और उपपत्ति ये दोनों शेष रह गये थी। इनके विषय में पहले पृथक् पृथक् प्रकरणों में और अब गीता के अध्यायों के क्रमानुसार इस प्रकरण में जो विवेचन किया गया है उससे यही निष्पन्न हुआ है कि गीता में अकेला 'कर्मयोग' ही प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार ग्रन्थतात्पर्य निर्णय के मीमांसकों के सब नियमों का उपयोग करनेपर यही बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि गीताग्रन्थ में ज्ञानमूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग ही का प्रतिपादन किया गया है। अब इसमें सन्देह नहीं कि इसके अतिरिक्त शेष सब गीता-तात्पर्य केवल साम्प्रदायिक है। यद्यपि ये सब तात्पर्य साम्प्रदायिक हो तथापि यह प्रश्न किया जा सकता है कि कुछ लोगों को गीता में साम्प्रदायिक अर्थ — विशेषतः संन्यासप्रधान अर्थ — ढूँढ़ने का मौका कैसे मिल गया? जब तक इस प्रश्न का भी विचार न हो जायगा तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि साम्प्रदायिक अर्थों की चर्चा पूरी हो चुकी। इसलिये अब संक्षेप में इसी बात का विचार किया जायगा, कि ये साम्प्रदायिक टीकाकार गीता का संन्यासप्रधान अर्थ कैसे कर सके, और फिर यह प्रकरण पूरा किया जायगा।

हमारे शास्त्रकारों का यह सिद्धान्त है, कि चूँकि मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है इस लिये पिण्ड-ब्रह्माण्ड के तत्त्व को पहचानना ही उसका मुख्य काम या पुरुषार्थ है; और इसीको धर्मशास्त्र में 'मोक्ष' कहते हैं। परन्तु दृश्यसृष्टि के व्यवहारों की ओर ध्यान देकर शास्त्रों में ही यह प्रतिपादन किया गया है कि पुरुषार्थ चार प्रकार के हैं — जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह पहले ही बतला दिया गया है कि इस स्थान पर 'धर्म' शब्द का अर्थ व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक धर्म समझना चाहिये। अब पुरुषार्थ को इस प्रकार चतुर्विध मानने पर यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हो जाता है कि पुरुषार्थ के चारों अङ्ग या भाग परस्पर पोषक हैं या नहीं? इसलिये स्मरण रहे कि पिण्ड में और ब्रह्माण्ड में जो तत्त्व है उसका ज्ञान हुए बिना मोक्ष नहीं मिलता। फिर वह ज्ञान किसी भी मार्ग से प्राप्त हो। इस सिद्धान्त के विषय में धार्मिक मतभेद भले ही हो परन्तु तत्त्वतः कुछ मतभेद नहीं है। निदान गीताशास्त्र को तो यह सिद्धान्त सर्वथैव मान्य है। इसी प्रकार गीता को यह तत्त्व भी पूर्णतया मान्य है कि यदि अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों को प्राप्त करना हो, तो वे भी नीतिधर्म से ही प्राप्त किये जावें। अब केवल धर्म (अर्थात् व्यावहारिक चातुर्वर्ण्यधर्म) और मोक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्णय करना शेष रह गया। इनमें से धर्म के विषय में तो यह सिद्धान्त सभी पक्षों को मान्य है कि धर्म के द्वारा चित्त को शुद्ध किये बिना मोक्ष की बात ही करना व्यर्थ है। परन्तु इस प्रकार

चित्त को शुद्ध करने के लिये बहुत समय लगता है; इसलिये मोक्ष की दृष्टि से विचार करने पर भी यही सिद्ध होता है कि तत्पूर्वकाल में पहले पहले संसार के सब कर्तव्यों को क्रम से पूरा कर लेना चाहिये (मनु ६.१-३७)। संन्यास का अर्थ है 'छोड़ना'; और जिसने धर्म के द्वारा इस संसार में कुछ प्राप्त या सिद्ध नहीं किया है वह त्याग ही क्या करेगा? अथवा जो 'प्रपञ्च' (सांसारिक कर्म) ही ठीक ठीक साध नहीं सकता उस अभागी से परमार्थ भी कैसे ठीक सधेगा (दास. १२. १.१-१० और १२.८.२१-३१)? किसी का अन्तिम उद्देश या साध्य चाहे सांसारिक हो अथवा पारमार्थिक, परन्तु यह बात प्रकट है कि उसकी सिद्धि के लिये दीर्घ प्रयत्न, मनोनिग्रह और सामर्थ्य इत्यादि गुणों की एक सी आवश्यकता होती है; और जिसमें ये गुण विद्यमान नहीं होते उसे किसी भी उद्देश या साध्य की प्राप्ति नहीं होती। इस बात को मान लेने पर भी कुछ लोग इससे आगे बढ़ कर कहते हैं कि जब दीर्घ प्रयत्न और मनोनिग्रह के द्वारा आत्मज्ञान हो जाता है, तब अन्त में संसार के विषयोपभोगरूपी सब व्यवहार निस्सार प्रतीत होने लगते हैं; और जिस प्रकार साँप अपनी निरुपयोगी केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी सब सांसारिक विषयों को छोड़ केवल परमेश्वरस्वरूप में ही लीन हो जाया करते हैं (बृ. ४.४.७)। जीवनक्रमण करने के इस मार्ग में चूँकि सब व्यवहारों का त्याग कर अन्त में केवल ज्ञान को ही प्रधानता दी जाती है, अतएव इसे ज्ञाननिष्ठा, सांख्यनिष्ठा अथवा सब व्यवहारों का त्याग करने से संन्यास भी कहते हैं। परन्तु इसके विपरीत गीताशास्त्र में कहा है कि आरम्भ में चित्त की शुद्धता के लिये 'कर्म' की आवश्यकता तो है ही, परन्तु आगे चित्त की शुद्धि होने पर भी — स्वयं अपने लिये विषयोपभोगरूपी व्यवहार चाहे तुच्छ हो जावें तो भी — उन्हीं व्यवहारों को केवल स्वधर्म और कर्तव्य समझ कर, लोकसंग्रह के लिये निष्कामबुद्धि से करते रहना आवश्यक है। यदि ज्ञानी मनुष्य ऐसा न करेंगे तो लोगों को आदर्श बतलानेवाला कोई भी न रहेगा और फिर इस संसार का नाश हो जावेगा। कर्मभूमि में किसी से भी कर्म छूट नहीं सकते। और यदि बुद्धि निष्काम हो जावे तो कोई भी कर्म मोक्ष के आड़े आ नहीं सकते। इसलिये संसार के कर्मों का त्याग न कर सब व्यवहारों को विरक्तबुद्धि से अन्य जनों की नाईं मृत्युपर्यन्त करते रहना ही ज्ञानी पुरुष का भी कर्तव्य हो जाता है। गीताप्रतिपादित जीवन व्यतीत करने के इस मार्ग को ही कर्मनिष्ठा या कर्मयोग कहते हैं। परन्तु यद्यपि कर्मयोग इस प्रकार श्रेष्ठ निश्चित किया गया है, तथापि उसके लिये गीता में संन्यासमार्ग की कहीं भी निन्दा नहीं की गई। उलटा यह कहा गया है कि वह भी मोक्ष का देनेवाला है। स्पष्ट ही है कि सृष्टि के आरम्भ में सनत्कुमार प्रभृति ने और आगे चल कर शुक-याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने जिस मार्ग का स्वीकार किया है, उसे भगवान भी किस प्रकार सर्वथैव त्याज्य कहेंगे! संसार के व्यवहार किसी मनुष्य

को अंशतः उसके प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त हुए जन्मस्वभाव से नीरस या मधुर मालूम होते हैं। और, पहले कह चुके हैं कि ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्धकर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं। इसलिये इस प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त हुए जन्मस्वभाव के कारण यदि किसी ज्ञानी पुरुष का जी सांसारिक व्यवहारों से ऊब जावे और यदि वह संन्यासी हो जावे तो उसकी निन्दा करने से कोई लाभ नहीं। आत्मज्ञान के द्वारा जिस सिद्ध पुरुष की बुद्धि निःसङ्ग और पवित्र हो गई है वह इस संसार में चाहे और कुछ करे, परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि वह मानवी बुद्धि की शुद्धता की परम सीमा और विषयों में स्वभावतः लुब्ध होनेवाली हठीली मनोवृत्तियों को ताबे में रखने के सामर्थ्य की पराकाष्ठा सब लोगों को प्रत्यक्ष रीति से दिखला देता है। उसका यह काम लोकसंग्रह की दृष्टि से भी कुछ छोटा नहीं है। लोगों के मन में संन्यासधर्म के विषय में जो आदरबुद्धि विद्यमान है उसका सच्चा कारण यही है; और मोक्ष की दृष्टि से यही गीता को भी सम्मत है। परन्तु केवल जन्मस्वभाव की ओर अर्थात् प्रारब्धकर्म की ही ओर ध्यान न दे कर यदि शास्त्र की रीति के अनुसार इस बात का विचार किया जावे कि जिसने पूरी आत्मस्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है उस ज्ञानी पुरुष को इस कर्मभूमि में किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये; तो गीता के अनुसार यह सिद्धान्त करना पड़ता है कि कर्मत्याग-पक्ष गौण है और सृष्टि के आरम्भ में मरीचि प्रभृति ने तथा आगे चल कर जनक आदिकों ने जिस कर्मयोग का आचरण किया है उसी को ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रह के लिये स्वीकार करें। क्योंकि अब न्यायतः यही कहना पड़ता है कि परमेश्वर की निर्माण की हुई सृष्टि को चलाने का काम भी ज्ञानी मनुष्यों को ही करना चाहिये। और, इस मार्ग में ज्ञान-सामर्थ्य के साथ ही कर्म-सामर्थ्य का भी विरोधरहित मेल होने के कारण यह कर्मयोग केवल सांख्यमार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक योग्यता का निश्चित होता है।

सांख्य और कर्मयोग दोनों निष्ठाओं में जो मुख्य भेद है उसका इस रीति से विचार करने पर सांख्य + निष्कामकर्म = कर्मयोग यह समीकरण निष्पन्न होता है; और वैशंपायन के कथनानुसार गीताप्रतिपाद्य प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोग के प्रतिपादन में ही सांख्यनिष्ठा के निरूपण का भी सरलता से समावेश हो जाता है (म. भा. शां. ३४८. ५३)। और, इसी कारण से गीता के संन्यासमार्गीय टीकाकारों को यह कहने के लिये अच्छा अवसर मिल गया है कि गीता में उनका सांख्य या संन्यासमार्ग ही प्रतिपादित है। गीता के जिन श्लोकों में कर्म को श्रेयस्कर निश्चित कर कर्म करने को कहा है उन श्लोकों की ओर दुर्लक्ष करने से अथवा कर्म को यह मनगढ़न्त कह देने से कि वे सब श्लोक अर्थवादात्मक अर्थात् आनुषङ्गिक एवं प्रशंसात्मक हैं या किसी अन्य युक्ति से उपर्युक्त समीकरण के 'निष्कामकर्म' को उड़ा देने से उसी समीकरण का 'सांख्य = कर्मयोग' यह रूपान्तर हो जाता है; और फिर यह कहने के लिये स्थान मिल जाता है कि गीता में सांख्यमार्ग का ही प्रतिपादन

किया है। परन्तु इस रीति से गीता का जो अर्थ किया गया है वह गीता के उपक्रमोपसंहार के अत्यन्त विरुद्ध है। और, इस ग्रन्थ में हमने स्थान स्थान पर स्पष्ट रीति से दिखला दिया है कि गीता में कर्मयोग को गौण तथा संन्यास को प्रधान मानना वैसा ही अनुचित है जैसे घर के मालिक को कोई तो उसीके घर में पाहुना कहे और पाहुने को घर मालिक ठहरा दे। जिन लोगों का मत है कि गीता में केवल वेदान्त, केवल भक्ति या सिर्फ पातञ्जलयोग ही का प्रतिपादन किया गया है उन के इन मतों का खण्डन हम कर ही चुके हैं। गीता में कौन-सी बात नहीं? वैदिक धर्म में मोक्षप्राप्ति के जितने साधन या मार्ग हैं उनमें से प्रत्येक मार्ग का कुछ-न-कुछ भाग गीता में है और इतना होनेपर भी 'भूतभृन्न च भूतस्थो' (गीता ९.५) के न्याय से गीता का सच्चा रहस्य इन मार्गों की अपेक्षा भिन्न ही है संन्यासमार्ग अर्थात् उपनिषदों का यह तत्त्व गीता को ग्राह्य है कि ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं; परन्तु उसे निष्काम-कर्म के साथ जोड़ देने के कारण गीताप्रतिपादित भागवतधर्म में ही यतिधर्म का भी सहज ही समावेश हो गया है। तथापि गीता में संन्यास और वैराग्य का अर्थ यह नहीं किया है कि कर्मों को छोड़ देना चाहिये; किन्तु यह कहा है कि केवल फलाशा का ही त्याग करने में सच्चा वैराग्य या संन्यास है। और अन्त में सिद्धान्त किया है कि उपनिषत्कारों के कर्म-संन्यास की अपेक्षा निष्कामकर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मकाण्डी मीमांसकों का यह मत भी गीता को मान्य है कि यदि यज्ञ के लिये ही वेदविहित यज्ञयागादि कर्मों का आचरण किया जावे तो वे बन्धक नहीं होते। परन्तु 'यज्ञ' शब्द का अर्थ विस्तृत करके गीता ने उक्त मत में यही सिद्धान्त और जोड़ दिया है कि यदि फलाशा त्याग सब कर्म किये जावें तो यही एक बड़ा भारी यज्ञ हो जाता है। इस लिये मनुष्य का यही कर्तव्य है कि वह वर्णाश्रमविहित सब कर्मों को केवल निष्काम-बुद्धि से सदैव करता रहे। सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम के विषय में उपनिषत्कारों के मत की अपेक्षा सांख्यों का मत गीता में प्रधान माना गया है तो भी प्रकृति और पुरुष तक ही न ठहर कर, सृष्टि के उत्पत्तिक्रम की परम्परा उपनिषदों में वर्णित नित्य परमात्मपर्यन्त ले जाकर भिड़ा दी गई है। केवल बुद्धि के द्वारा अध्यात्मज्ञान को प्राप्त कर लेना क्लेशदायक है। इसलिये भागवत या नारायणीय धर्म में यह कहा है कि उसे भक्ति और श्रद्धा के द्वारा प्राप्त कर लेना चाहिये। इस वासुदेवभक्ति की विधि का वर्णन गीता में भी किया गया है। परन्तु इस विषय में भी भागवतधर्म की सब बातों में कुछ नकल नहीं की गई है; वरन् भागवतधर्म में भी वर्णित जीव के उत्पत्तिविषयक इस मत को वेदान्तसूत्र की नाईं गीता ने भी त्याज्य माना है कि वासुदेव से संकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ है और भागवतधर्म में वर्णित भक्ति का तथा उपनिषदों के क्षेत्रक्षेत्रज्ञसम्बन्धी सिद्धान्त का पूरा पूरा मेल कर दिया है। इसके सिवा मोक्षप्राप्ति का दूसरा साधन पातञ्जलयोग है। यद्यपि गीता का कहना यह नहीं

कि पातञ्जलयोग ही जीवन का मुख्य कर्तव्य है; तथापि गीता यह कहती है कि बुद्धि को सम करने के लिये इन्द्रियनिग्रह करने की आवश्यकता है। इसलिये उतने भर के लिये पातञ्जलयोग के यम नियम-आसन आदि साधनों का उपयोग कर लेना चाहिये। सारांश, वैदिकधर्म में मोक्षप्राप्ति के जो जो साधन बतलाये गये हैं उन सभी का कुछ-न-कुछ वर्णन, कर्मयोग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करने के समय गीता में प्रसङ्गानुसार करना पड़ा है। यदि इन सब वर्णनों को स्वतन्त्र कहा जाय, तो विसङ्गति उत्पन्न होकर ऐसा भास होता है कि गीता के सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं; और वह भास भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक टीकाओं से तो और भी अधिक दृढ़ हो जाता है। परन्तु जैसा हमने ऊपर कहा है उसके अनुसार यदि यह सिद्धान्त किया जाय कि ब्रह्मज्ञान और भक्ति का मेल करके अन्त में उसके द्वारा कर्मयोग का समर्थन करना ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, तो ये सब विरोध लुप्त हो जाते हैं। और गीता में जिस अलौकिक चातुर्य से पूर्ण व्यापक दृष्टि को स्वीकार कर तत्त्वज्ञान के साथ भक्ति तथा कर्मयोग का यथोचित मेल कर दिया गया है उसको देख दाँतों तले अंगुली दबाकर रह जाना पड़ता है। गङ्गा में कितनी ही नदियाँ क्यों न आ मिलें परन्तु इससे उसका मूल स्वरूप नहीं बदलता; बस ठीक यही हाल गीता का भी है। उसमें सब कुछ भले ही हो, परन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय तो कर्मयोग ही है। यद्यपि इस प्रकार कर्मयोग ही मुख्य विषय है तथापि कर्म के साथ ही मोक्षधर्म के मर्म का भी इसमें भली भाँति निरूपण किया गया है। इसलिये कार्य-अकार्य का निर्णय करने के हेतु बतलाया गया यह गीताधर्म ही – "स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने" (म. भा. अश्व. १६. १२) – ब्रह्म की प्राप्ति करा देने के लिये भी पूर्ण समर्थ है। और भगवान ने अर्जुन से अनुगीता के आरम्भ में स्पष्ट रीति से कह दिया है कि इस मार्ग से चलनेवाले को मोक्षप्राप्ति के लिये किसी भी अन्य अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। हम जानते हैं कि संन्यासमार्ग के उन लोगों को हमारा कथन रोचक प्रतीत न होगा, जो यह प्रतिपादन किया करते हैं कि बिना सब व्यावहारिक कर्मों का त्याग किये मोक्ष की प्राप्ति हो नहीं। परन्तु इसके लिये कोई इलाज नहीं है। गीताग्रन्थ न तो संन्यासमार्ग का है और न निवृत्तिप्रधान किसी दूसरे ही पन्थ का। गीताशास्त्र की प्रवृत्ति तो ... विषय है कि वह ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से ठीक ठीक युक्तिसहित इस प्रश्न का उत्तर दे कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्मों का संन्यास करना अनुचित क्यों है? इसलिये संन्यासमार्ग के अनुयायियों को चाहिये कि वे गीता को भी 'संन्यास देने' की झंझट में न पड़ें, 'संन्यासमार्गप्रतिपादक' जो अन्य वैदिक ग्रन्थ हैं उन्हीं से सन्तुष्ट रहें। अथवा गीता में संन्यासमार्ग को भी भगवान ने जिस निरभिमानबुद्धि से निःश्रेयस्कर कहा है उसी समबुद्धि से सांख्य मार्गवालों को भी यह कहना चाहिये कि परमेश्वर का हेतु यह है कि संसार चलता रहे। और जब कि इसीलिये वह बार बार अवतार धारण करता है तब

ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर निष्कामबुद्धि से व्यावहारिक कर्मों करते रहने के लिए मार्ग का उपदेश भगवान् ने गीता में किया है वही मार्ग कलियुग में उपयुक्त है। – और ऐसा कहना ही उनके लिए सर्वोत्तम पथ है।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

उपसंहार

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।*

– गीता ८. ७

चाहे आप गीता के अध्यायों की संगति या मेल देखिये, या उन अध्यायों के विषयों का मीमांसकों की पद्धति से पृथक् पृथक् विवेचन कीजिये; किसी भी दृष्टि से विचार कीजिये, अन्त में गीता का सच्चा तात्पर्य यही मालूम होगा कि ज्ञानभक्तियुक्त कर्मयोग ही गीता का सार है। अर्थात् साम्प्रदायिक टीकाकारों ने कर्मयोग को गौण ठहरा कर गीता के जो अनेक प्रकार के तात्पर्य बतलाये हैं, वे यथार्थ नहीं हैं। किन्तु उपनिषदों में वर्णित अद्वैत वेदान्त का भक्ति के साथ मेल कर, उसके द्वारा बड़े बड़े कर्मवीरों के चरित्रों का रहस्य – या उनके जीवनक्रम की उपपत्ति – बतलाना ही गीता का सच्चा तात्पर्य है। मीमांसकों के कथनानुसार केवल श्रौतस्मार्त कर्मों को सदैव करते रहना भले ही शास्त्रोक्त हो, तो भी ज्ञानरहित केवल तान्त्रिक क्रिया से बुद्धिमान् मनुष्य का समाधान नहीं होता। और, यदि उपनिषदों में वर्णित धर्म को देखें, तो वह केवल ज्ञानमय न होने के कारण अल्पबुद्धिवाले मनुष्यों के लिये अत्यन्त कष्टसाध्य है। इसके सिवा एक और बात है, उपनिषदों का संन्यासमार्ग लोकसंग्रह का बाधक भी है। इसलिये भगवान् ने ऐसे ज्ञानमूलक, भक्तिप्रधान और निष्काम कर्मविषयक धर्म का उपदेश गीता में किया है, कि जिसका पालन आमरणान्त किया जावे, जिससे बुद्धि (ज्ञान), प्रेम (भक्ति) और कर्तव्य का ठीक ठीक मेल हो जावे, मोक्ष की प्राप्ति में कुछ अन्तर न पड़ने पावे और लोकव्यवहार भी सरलता से होता रहे। इसीमें कर्म-अकर्म के शास्त्र का सब सार भरा हुआ है। अधिक क्या कहें, गीता के उपक्रम-उपसंहार से यह बात स्पष्टतया विदित हो जाती है, कि अर्जुन को इस धर्म का उपदेश करने में कर्म अकर्म का विवेचन ही मूलकारण है। इस बात का विचार दो तरह से किया जाता है कि किस कर्म को धर्म्य, पुण्यप्रद, न्याय्य या श्रेयस्कर कहना चाहिये और किस कर्म को इसके विरुद्ध अर्थात् अधर्म्य, पापप्रद, अन्याय्य या गर्ह्य कहना चाहिये। पहली रीति यह है, कि उपपत्ति, कारण या मर्म न बतलाकर केवल यह कह दे – किसी काम को अमुक रीति से करो – तो वह शुद्ध होगा और अन्य रीति से

---

* इसलिये सदैव मेरा स्मरण कर और लड़ाई कर। 'लड़ाई कर' – शब्द की योजना यहाँ पर प्रसंगानुसार की गई है, परन्तु उसका अर्थ केवल 'लड़ाई कर' ही नहीं है – यह अर्थ भी समझा जाना चाहिये कि 'यथाधिकार कर्म कर'।

करो तो अशुभ हो जायगा। उदाहरणार्थ – हिंसा करो, चोरी मत करो, सच बोलो, धर्माचरण करो इत्यादि बातें इसी प्रकार की हैं। मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थों में तथा उपनिषदों में विधियाँ, आज्ञाएँ अथवा आचार स्पष्ट रीति से बतलाये गये हैं। परन्तु मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है, इसलिये उसका समाधान केवल ऐसी विधियों या आज्ञाओं से नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्य की यही स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह उन नियमों के बनाये जाने का कारण भी जान ले। और इसलिये वह विचार करके इन नियमों के नित्य तथा मूलतत्त्व की खोज करता है – बस; यही दूसरी रीति है कि जिससे कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि का विचार किया जाता है। व्यावहारिक धर्म के ग्रन्थ को इस रीति से देख कर इसके मूलतत्त्वों को ढूँढ निकालना शास्त्र का काम है, तथा उस विषय के केवल नियमों को एकत्र करके बतलाना आचारसंग्रह कहलाता है। कर्ममार्ग का आचारसंग्रह स्मृतिग्रन्थों में है; और उसके आचार के मूलतत्त्वों का शास्त्रीय अर्थात् तात्त्विक विवेचन भगवद्गीता में संवादपद्धति से या पौराणिक रीति से किया गया है। अतएव भगवद्गीता के प्रतिपाद्य विषय को केवल कर्मयोग न कहकर कर्मयोगशास्त्र कहना ही अधिक उचित तथा प्रशस्त होगा। और यही योगशास्त्र शब्द भगवद्गीता के अध्याय-समाप्ति सूचक संकल्प में आया है। जिन पश्चिमी पण्डितों ने पारलौकिक दृष्टि को त्याग दिया है, या जो लोग उसे गौण मानते हैं, वे गीता में प्रतिपादित कर्मयोगशास्त्र को ही भिन्न भिन्न लौकिक नाम दिया करते हैं – जैसे सद्व्यवहारशास्त्र, सदाचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, नीतिमीमांसा, नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व, कर्तव्यशास्त्र, कार्य-अकार्य व्यवस्थिति, समाजधारणशास्त्र इत्यादि। इन लोगों की नीतिमीमांसा की पद्धति भी लौकिक ही रहती है। इसी कारण से ऐसे पाश्चात्य पण्डितों के ग्रन्थों का जिन्होंने अवलोकन किया है, उनमें से बहुतों की यह समझ हो जाती है कि संस्कृत साहित्य में सदाचरण या नीति के मूलतत्त्वों की चर्चा किसीने नहीं की है। वे कहने लगते हैं कि "हमारे यहाँ जो कुछ गहन तत्त्वज्ञान है, वह सिर्फ हमारा वेदान्त ही है। अच्छा, वर्तमान वेदान्त ग्रन्थों को देखो, तो मालूम होगा कि वे सांसारिक कर्मों के विषय में प्रायः उदासीन हैं। ऐसी अवस्था में कर्मयोगशास्त्र का अथवा नीति का विचार कहाँ मिलेगा? यह विचार व्याकरण अथवा न्याय के ग्रन्थों में तो मिलनेवाला है ही नहीं; और स्मृतिग्रन्थों में धर्मशास्त्र के संग्रह के सिवा और कुछ भी नहीं। इसलिये हमारे प्राचीन शास्त्रकार मोक्ष ही के गूढ़ विचारों में निमग्न हो जाने के कारण सदाचरण के या नीतिधर्म के मूलतत्त्वों का विवेचन करना भूल गये!" परन्तु महाभारत और गीता को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह भ्रमपूर्ण समझ दूर हो जा सकती है। इतने पर कुछ लोग कहते हैं कि महाभारत एक अत्यन्त विस्तीर्ण ग्रन्थ है, इसलिये उसको पढ़ कर पूर्णतया मनन करना बहुत ही कठिन है। और गीता यद्यपि एक छोटा-सा ग्रन्थ है, तो भी उससे साम्प्रदायिक टीकाकारों के मतानुसार केवल मोक्षप्राप्ति ही का ज्ञान बतलाया गया है। परन्तु किसीने इस बात को

नीतिशास्त्र की अथवा कर्मयोग की तुलना का ही विषय बाकी रह जाता है, जिसके बारे में कुछ लोगों की समझ है कि इसकी उपपत्ति हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने नहीं बतलाई है। परन्तु एक इसी विषय का विचार भी इतना विस्तृत है कि उसका पूर्णतया प्रतिपादन करने के लिये एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखना पड़ेगा। तथापि इस विषय पर इस ग्रन्थ में थोड़ा भी विचार न करना उचित न होगा, इसलिये केवल दिग्दर्शन करने के लिये इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का विवेचन इस उपसंहार में किया जायगा।

थोड़ा भी विचार करने पर यह सहज ही ध्यान में आ सकता है कि सदाचार और दुराचार तथा धर्म और अधर्म शब्दों का उपयोग यथार्थ में ज्ञानवान् मनुष्य के कर्म के ही लिये होता है। और यही कारण है कि नीतिमत्ता केवल जड़ कर्मों में नहीं किन्तु बुद्धि में रहती है। 'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः' – धर्म-अधर्म का ज्ञान मनुष्य का अर्थात् बुद्धिमान् प्राणियों का ही विशिष्ट गुण है – इस वचन का तात्पर्य और भावार्थ भी यही है। किसी गधे या बैल के कर्मों को देख कर हम उसे उपद्रवी तो बेशक कहा करते हैं; परन्तु जब वह धक्का देता है तब उस पर कोई नालिश करने नहीं जाता। इसी तरह किसी नदी को – उसके परिणाम की ओर ध्यान देकर – हम भयङ्कर अवश्य कहते हैं; परन्तु जब उसमें बाढ़ आ जाने से फसल बह जाती है, तो 'अधिकांश लोगों की अधिक हानि' होने के कारण कोई उसे दुराचारिणी, दुष्टा या अनीतिमान् नहीं कहता। इस पर कोई प्रश्न कर सकते हैं कि यदि धर्म-अधर्म के नियम मनुष्य के व्यवहारों ही के लिये उपयुक्त हुआ करते हैं, तो मनुष्य के कर्मों के भले-बुरेपन का विचार भी केवल उसके कर्म से ही करने में क्या हानि है? इस प्रश्न का उत्तर देना कुछ कठिन नहीं। अचेतन वस्तुओं और पशुपक्षी आदि मूढ योनि के प्राणियों का दृष्टान्त छोड़ दें, और यदि मनुष्य के ही कृत्यों का विचार करें, तो भी दीख पड़ेगा कि जब कोई आदमी अपने पागलपन से अथवा अनजाने में कोई अपराध कर डालता है, तब वह संसार में और कानूनद्वारा क्षम्य माना जाता है। इससे यही बात सिद्ध होती है कि मनुष्य के भी कर्म-अकर्म की भलाई-बुराई ठहराने के लिये सब से पहले उसकी बुद्धि का ही विचार करना पड़ता है – अर्थात् यह विचार करना पड़ता है कि उसने उस कर्म को किस उद्देश, भाव या हेतु से किया; और उसको उस कर्म के परिणाम का ज्ञान था या नहीं। किसी धनवान मनुष्य के लिये यह कोई कठिन काम नहीं कि वह अपनी इच्छा के अनुसार मनमाना दान दे दे। यह दानविषयक काम 'अच्छा' भले ही हो; परन्तु उसकी सच्ची नैतिक योग्यता उस दान की स्वाभाविक क्रिया से

and Philosophy of the Upanishads नामक डायसन साहब का ग्रन्थ भी इस विषय पर पढ़ने लायक है

नहीं ठहराई जा सकती। इसके लिये यह भी देखना पड़ेगा कि उस धनवान् मनुष्य की बुद्धि सचमुच श्रद्धायुक्त है या नहीं। और इसका निर्णय करने के लिये यदि स्वाभाविक रीति से किये गये इस दान के सिवा और कुछ सबूत न हो, तो इस दान की योग्यता किसी श्रद्धापूर्वक किये गये दान की योग्यता के बराबर नहीं समझी जाती – और कुछ नहीं, तो सन्देह करने के लिये उचित कारण अवश्य रह जाता है। सब धर्म-अधर्म का विवेचन हो जाने पर महाभारत में यही एक बात आख्यान के स्वरूप में उत्तम रीति से समझाई गई है। जब युधिष्ठिर राजगद्दी पा चुके, तब उन्होंने एक बृहत् अश्वमेधयज्ञ किया। उसमें अन्न और द्रव्य आदि के अपूर्व दान करने से और लाखों मनुष्यों के सन्तुष्ट होने से उनकी बहुत प्रशंसा होने लगी। उस समय वहाँ एक दिव्य नकुल (नेवला) आया और युधिष्ठिर से कहने लगा – 'तुम्हारी व्यर्थ ही प्रशंसा की जाती है। पूर्वकाल में इसी कुरुक्षेत्र में एक दरिद्री ब्राह्मण रहता था, जो उञ्छवृत्ति से, अर्थात् खेतों में गिरे हुए अनाज के दानों को चुनकर, अपना जीवन निर्वाह किया करता था। एक दिन भोजन करने के समय उसके यहाँ एक अपरिचित आदमी क्षुधा से पीड़ित अतिथि बन कर आ गया। वह दरिद्री ब्राह्मण और उसके कुटुम्बी जन भी कई दिनों के भूखे थे; तो भी उसने अपनी, अपनी स्त्री के और अपने लड़कों के सामने परोसा हुआ सब सत्तू उस अतिथि को समर्पण कर दिया। इस प्रकार उसने जो अतिथियज्ञ किया था, उसके महत्त्व की बराबरी तुम्हारा यज्ञ – यह कितना ही बड़ा क्यों न हो – कभी नहीं कर सकता' (म. भा. अश्व. ९०)। उस नेवले का मुँह और आधा शरीर सोने का था। उसने जो यह कहा कि युधिष्ठिर के अश्वमेधयज्ञ की योग्यता उस गरीब ब्राह्मणद्वारा अतिथि को दिये गये सेर भर सत्तू के बराबर भी नहीं है, उसका कारण उसने यह बतलाया है कि – "उस ब्राह्मण के घर में अतिथि की जूठन पर लोटने से मेरा मुँह और आधा शरीर सोने का हो गया; परन्तु युधिष्ठिर के यज्ञमण्डप की जूठन पर लोटने से मेरा बचा हुआ आधा शरीर सोने का नहीं हो सका!" यहाँ पर कर्म के बाह्य परिणाम को ही देख कर यदि इसी बात का विचार करें – कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है – तो यही निर्णय करना पड़ेगा कि एक अतिथि को तृप्त करने की अपेक्षा लाखों आदमियों को तृप्त करने की योग्यता लाखगुनी अधिक है। परन्तु प्रश्न यह है कि केवल धनदृष्टि से ही नहीं, किन्तु नीतिदृष्टि से भी क्या यह निर्णय ठीक होगा? किसी को अधिक धनसम्पत्ति मिल जाना या लोकोपयोगी अनेक अच्छे काम करने का मौका मिल जाना केवल उसके सदाचार पर ही अवलम्बित नहीं रहता है। यदि वह गरीब ब्राह्मण द्रव्य के अभाव से बड़ा भारी यज्ञ नहीं कर सकता था, और इसलिये यदि उसने अपनी शक्ति के अनुसार कुछ अल्प और तुच्छ काम ही किया, तो क्या उसकी नैतिक या धार्मिक योग्यता कम समझी जायगी? कभी नहीं। यदि कम समझी जाय तो यही कहना पड़ेगा कि गरीबों को धनवानों के सदृश नीतिमान् और धार्मिक होने की कभी

दम्भ और आशा नहीं रखनी चाहिये। आत्मस्वातन्त्र्य के अनुसार अपनी बुद्धि को शुद्ध रखना उस ब्राह्मण के अधिकार में था; और यदि उसके सदाचरण से इस बात में कुछ सन्देह नहीं रह जाता कि उसकी परोपकारबुद्धि युधिष्ठिर के ही समान शुद्ध थी, तो इस ब्राह्मण की और उसके स्वल्पकृत्य की नैतिक योग्यता युधिष्ठिर के और उसके बहुव्ययसाध्य यज्ञ के बराबर की ही मानी जानी चाहिये। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि, कई दिनों तक क्षुधा से पीड़ित होनेपर भी उस गरीब ब्राह्मण ने अन्नदान करके अतिथि के प्राण बचाने में जो स्वार्थत्याग किया, उससे उसकी शुद्ध बुद्धि और भी अधिक व्यक्त होती है। यह तो सभी जानते हैं कि धैर्य आदि गुणों के समान शुद्ध बुद्धि की सच्ची परीक्षा सङ्कटकाल में ही हुआ करती है; और कान्ट ने भी अपने नीतिग्रन्थ के आरम्भ में यही प्रतिपादन किया है कि सङ्कट के समय भी जिसकी शुद्ध बुद्धि (नैतिक तत्त्व) भ्रष्ट नहीं होती, वही सच्चा नीतिमान है। उक्त नेवले का अभिप्राय भी यही था। परन्तु युधिष्ठिर की शुद्ध बुद्धि की परीक्षा कुछ राज्यारूढ़ होने पर सम्पत्तिकाल में किये गये एक अश्वमेधयज्ञ से ही होने को न थी; उसके पहले ही अर्थात् आपत्तिकाल की अनेक अड़चनों के मौके पर उसकी पूरी परीक्षा हो चुकी थी। इसीलिये महाभारतकार का यह सिद्धान्त है कि धर्म-अधर्म के निर्णय के सूक्ष्म न्याय से भी युधिष्ठिर को धार्मिक ही कहना चाहिये। कहना नहीं होगा कि वह नेवला निन्दक ठहराया गया है। यहाँ एक और बात ध्यान में लेने योग्य है कि महाभारत में यह वर्णन है कि अश्वमेध करनेवाले को जो गति मिलती है वही उस ब्राह्मण को भी मिली। इससे यही सिद्ध होता है कि उस ब्राह्मण के कर्म की योग्यता युधिष्ठिर के यज्ञ की अपेक्षा अधिक भले ही न हो, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतकार उन दोनों की नैतिक और धार्मिक योग्यता एक बराबर मानते हैं। व्यावहारिक कार्यों में भी देखने से मालूम हो सकता है कि जब किसी धर्मकृत्य के लिये या लोकोपयोगी कार्य के लिये कोई लखपति मनुष्य हजार रुपये चन्दा देता है और कोई गरीब मनुष्य एक रुपया चन्दा देता है, तब हम लोग उन दोनों की नैतिक योग्यता एक समान ही समझते हैं। 'चन्दा' शब्द को देख कर यह दृष्टान्त कुछ लोगों को कदाचित् नया मालूम हो; परन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। क्योंकि उक्त नेवले की कथा का निरूपण करते समय ही धर्म-अधर्म के विवेचन में कहा गया है कि —

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च।
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः॥

अर्थात् "हजारवाले ने सौ, सौवाले ने दस, और किसी ने यथाशक्ति थोड़ा-सा पानी ही दिया, तो भी ये सब तुल्यफल हैं अर्थात् इन सब की योग्यता एक बराबर है" (म. भा. अश्व. ९०. ९७); और "पत्रं पुष्पं फलं" (गीता ९. २६) — इस

जन्मसिद्ध हक है उसका हिस्सा तुमने माँगा और युद्ध टालने के लिये यथाशक्ति मेल मिलाप कर बीच-बचाव करने का भी तुमने बहुत-कुछ प्रयत्न किया। परन्तु जब इस मेल के प्रयत्न से और साधुपन के मार्ग से निर्वाह नहीं हो सका तब लाचारी से तुमने युद्ध करने का निश्चय किया है। इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। क्योंकि दुष्ट मनुष्य से किसी ब्राह्मण की नाईं अपने धर्मानुसार प्राप्त हक की भिक्षा न माँगते हुए, मौका आ पड़ने पर क्षत्रियधर्म के अनुसार लोकसंग्रहार्थ उसकी प्राप्ति के लिये युद्ध करना ही तुम्हारा कर्तव्य है (म. भा. उ. २८ और ७२ वनपर्व ११ ४८ और [illegible] देखो)। भगवान् के उक्त युक्तिवाद को व्यासजी ने भी स्वीकार किया है और, उन्हों ने इसी के द्वारा आगे चलकर शान्तिपर्व में युधिष्ठिर का समाधान किया है (शां. अ. १२ और ११)। परन्तु कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये बुद्धि को इस तरह से श्रेष्ठ मान लें तो अब यह भी अवश्य जान लेना चाहिये कि शुद्ध बुद्धि किसे कहते हैं। क्योंकि, मन और बुद्धि दोनों प्रकृति के विकार हैं इसलिये वे स्वभावतः तीन प्रकार के अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस हो सकते हैं। इसलिये गीता में कहा है कि शुद्ध या सात्त्विक बुद्धि वह है कि जो बुद्धि से भी परे रहनेवाले नित्य आत्मा के स्वरूप को पहचाने और यह पहचान कर – कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है – उसी के अनुसार कार्य अकार्य का निर्णय करे। इस सात्त्विक बुद्धि का दूसरा नाम साम्यबुद्धि है और इसमें 'साम्य' शब्द का अर्थ 'सर्वभूतान्तर्गत आत्मा की एकता या समानता को पहचाननेवाली' है। जो बुद्धि इस समानता को नहीं जानती, वह न तो शुद्ध है और न सात्त्विक। इस प्रकार जब यह मान लिया गया कि नीति का निर्णय करने में साम्यबुद्धि ही श्रेष्ठ है तब यह प्रश्न उठता है कि बुद्धि की इस समता अथवा साम्य को कैसे पहचानना चाहिये? क्योंकि बुद्धि तो अन्तरिन्द्रिय है इसलिये उसका भला-बुरापन हमारी आँखों से दीख नहीं पड़ता। अतएव बुद्धि की समता तथा शुद्धता की परीक्षा करने के लिये पहले मनुष्य के बाह्य आचरण को देखना चाहिये। नहीं तो कोई भी मनुष्य ऐसा कह कर – कि मेरी बुद्धि शुद्ध है – मनमाना बर्ताव करने लगेगा। इसी से शास्त्रों का सिद्धान्त है कि सच्चे ब्रह्मज्ञानी पुरुष की पहचान उसके स्वभाव से ही हुआ करती है। जो केवल मुँह से कोरी बातें करता है, वह सच्चा साधु नहीं। भगवद्गीता में भी स्थितप्रज्ञ तथा भगवद्भक्तों का लक्षण बतलाते समय खास करके इसी बात का वर्णन किया गया है कि वे संसार के अन्य लोगों के साथ कैसा बर्ताव करते हैं। और तेरहवें अध्याय में ज्ञान की व्याख्या भी इसी प्रकार – अर्थात् यह बतला कर कि स्वभाव पर ज्ञान का क्या परिणाम होता है – की गई है। इससे यह साफ मालूम होता है कि गीता यह कभी नहीं कहती कि बाह्यकर्मों की ओर कुछ भी ध्यान न दो। परन्तु इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि किसी मनुष्य की – विशेष करके अनजान मनुष्य की – बुद्धि की समता की परीक्षा करने के लिये यद्यपि केवल उसका बाह्यकर्म या आचरण – और, उसमें भी संकटसमय का आचरण –

ही प्रधान साधन है, तथापि केवल इस बाह्य आचरणद्वारा ही नीतिमत्ता की अचूक परीक्षा हमेशा नहीं हो सकती। क्योंकि उक्त नकुलोपाख्यान से यह सिद्ध हो चुका है कि यदि बाह्यकर्म छोटा भी हो, तथापि विशेष अवसर पर उसकी नैतिक योग्यता बड़े कर्मों के ही बराबर हो जाती है। इसी लिये हमारे शास्त्रकारों ने यह सिद्धान्त किया है, कि बाह्यकर्म चाहे छोटा हो या बड़ा, और वह एक ही को सुख देनेवाला हो या अधिकांश लोगों को, उसको केवल बुद्धि की शुद्धता का एक प्रमाण मानना चाहिये। इससे अधिक महत्त्व उसे नहीं देना चाहिये। किन्तु उस बाह्यकर्म के आधार पर पहले यह देख लेना चाहिये कि कर्म करनेवाले की बुद्धि कितनी शुद्ध है; और अन्त में इस रीति से व्यक्त होनेवाली शुद्ध बुद्धि के आधार पर ही उक्त कर्म की नीतिमत्ता का निर्णय करना चाहिये। यह निर्णय केवल बाह्यकर्मों को देखने से ठीक ठीक नहीं हो सकता। यही कारण है कि "कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है" (गीता २.४९) ऐसा कहकर गीता के कर्मयोग में सम और शुद्ध बुद्धि को अर्थात् वासना को ही प्रधानता दी गई है। नारदपञ्चरात्र नामक भागवतधर्म का गीता से अर्वाचीन एक ग्रन्थ है। उसमें मार्कण्डेय नारद से कहते हैं —

मानसं प्राणिनामेव सर्वकर्मैककारणम्।
मनोनुरूपं वाक्यं च वाक्येन प्रस्फुटं मनः॥

अर्थात् "मन ही लोगों के सब कर्मों का एक (मूल) कारण है। जैसा मन रहता है वैसी ही बात निकलती है, और बातचीत से मन प्रकट होता है" (ना. पं. १.७.१८)। सारांश यह है कि मन (अर्थात् मन का निश्चय) सब से प्रथम है, उसके अनन्तर सब कर्म हुआ करते हैं। इसीलिये कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये गीता के शुद्धबुद्धि के सिद्धान्त को ही बौद्ध ग्रन्थकारों ने स्वीकृत किया है। उदाहरणार्थ, 'धम्मपद' नामक बौद्धधर्मीय प्रसिद्ध नीतिग्रन्थ के आरम्भ में ही कहा है कि —

मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा (श्रेष्ठा) मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं॥

अर्थात् "मन यानी मन का व्यापार प्रथम है। उसके अनन्तर धर्म-अधर्म का आचरण होता है। ऐसा क्रम होने के कारण इस काम में मन ही मुख्य और श्रेष्ठ है। इसलिये इन सब कर्मों को मनोमय ही समझना चाहिये। अर्थात् कर्ता का मन जिस प्रकार शुद्ध या दुष्ट रहता है, उसी प्रकार उसके भाषण और कर्म भी भलेबुरे हुआ करते हैं, तथा उसी प्रकार आगे उसे सुखदुःख मिलता है।" * इसी तरह उपनिषदों और गीता का

---

* पाली भाषा के इस श्लोक का भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं। परन्तु जहाँ तक हम समझते हैं, इस श्लोक की रचना इसी तत्त्व पर की गई है कि कर्म-अकर्म का निर्णय

यह अनुमान भी (कौपी १ १ और गीता १८ १७) बौद्ध धर्म में मान्य हो गया है, कि जिसका मन एक बार शुद्ध और निष्काम हो जाता है उस स्थितप्रज्ञ पुरुष से फिर कभी पाप होना सम्भव नहीं अर्थात् वह कुछ करके भी वह पापपुण्य से अलिप्त रहता है। इसलिये बौद्ध धर्मग्रन्थों में अनेक स्थानों पर वर्णन किया गया है कि अर्हत् अर्थात् पूर्णावस्था में पहुँचा हुआ मनुष्य हमेशा ही शुद्ध और निष्पाप रहता है (धम्मपद २९४ और २९ मिलिन्द प्र. ४ ५. ७)।

पश्चिमी शैलों में नीति का निर्णय करने के लिये दो पन्थ हैं : पहला आधिदैवत पन्थ जिसमें सदसद्विवेकदेवता की शरण में जाना पड़ता है और दूसरा आधिभौतिक पन्थ है कि जो इस बाह्य कसौटी के द्वारा नीति का निर्णय करने के लिये कहता है कि अधिकांश लोगों का अधिक हित किसमें है। परन्तु ऊपर किये गये विवेचन से यह स्पष्ट मालूम हो सकता है कि ये दोनों पन्थ शास्त्रदृष्टि से अपूर्ण तथा एकपक्षीय हैं। कारण यह है कि सदसद्विवेकशक्ति कोई स्वतन्त्र वस्तु या देवता नहीं; किन्तु वह व्यवसायात्मक बुद्धि में ही शामिल है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति और स्वभाव के अनुसार उसकी सदसद्विवेकबुद्धि भी सात्त्विक राजस या तामस हुआ करती है। ऐसी अवस्था में उसका कार्य-अकार्य निर्णय दोषरहित नहीं हो सकता। और यदि केवल अधिकांश लोगों का अधिक सुख किस में है इस बाह्य आधिभौतिक कसौटी पर ही ध्यान देकर नीतिमत्ता का निर्णय करें, तो कर्म करनेवाले पुरुष की बुद्धि का कुछ भी विचार नहीं हो सकेगा। तब यदि कोई मनुष्य चोरी या व्यभिचार करे और उसके बाह्य अनिष्टकारक परिणामों को कम करने के लिये या छिपाने के लिये पहले ही से सावधान होकर कुछ कुयुक्ति प्रबन्ध कर ले तो यही कहना पड़ेगा कि उसका दुष्कृत्य आधिभौतिक नीतिदृष्टि से उतना निन्दनीय नहीं है। अतएव यह बात नहीं कि केवल वैदिक धर्म में ही कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धता की आवश्यकता का वर्णन किया गया हो (मनु १२ ३-८ ९ ८) किन्तु बाइबल में भी व्यभिचार का केवल कायिक पाप न मानकर परस्त्री की ओर दूसर पुरुषों का देखना या परपुरुष की ओर दूसरी स्त्रियों का देखना भी व्यभिचार माना गया है (मेथ्यू ५ ८) और बौद्धधर्म में कायिक अर्थात् बाह्यशुद्धता के साथ साथ वाचिक और मानसिक शुद्धता की भी आवश्यकता बतलाई गई है (धम्मपद ९ और ९ ९)। इसके सिवा ग्रीन साहब का यह भी कहना है कि बाह्यसुख को ही परम साध्य मानने से मनुष्य-मनुष्य में और राष्ट्र-राष्ट्र में उसे पाने के लिये प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो जाती है; और कलह का होना भी सम्भव है। क्योंकि बाह्यसुख की प्राप्ति के लिये जो साधनसाधन आवश्यक है वे प्रायः दूसरों के

कारण के ([illegible] मानसिक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पड़ता है [illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] S. B. E. Vol. X pp. 3-4

सुख का कम किये बिना अपने को नहीं मिल सकता। परन्तु साम्यबुद्धि के विषय में ऐसा नहीं कह सकते। यह आन्तरिक सुख आत्मवश है। अर्थात् यह किसी दूसरे मनुष्य के सुख में बाधा न डालकर प्रत्येक को मिल सकता है। इतना ही नहीं किन्तु जो आत्मैक्य को पहचान कर सब प्राणियों से समता का व्यवहार करता है वह गुप्त या प्रकट किसी रीति से भी परद्रोह कर ही नहीं सकता। और फिर उसे यह बतलाने की आवश्यकता भी नहीं रहती कि 'हमेशा यह देखते रहो कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है'। कारण यह है, कि कोई भी मनुष्य हो वह सार असार-विचार के बाद ही किसी कृत्य को किया करता है। यह बात नहीं कि केवल नैतिक कर्मों का निर्णय करने के लिये ही सार असार-विचार की आवश्यकता होती है। सार असार-विचार करते समय यही महत्त्व का प्रश्न होता है, कि अन्तःकरण कैसा होना चाहिये? क्योंकि सब लोगों का अन्तःकरण एकसमान नहीं होता। अतएव जब, कि यह कह दिया कि अन्तःकरण में सदा साम्यबुद्धि जागृत रहनी चाहिये तब फिर यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं कि अधिकांश लोगों या सब प्राणियों के हित का सार असार-विचार करो। पश्चिमी पण्डित भी अब यह कहने लगे हैं कि मानवजाति के प्राणियों के सम्बन्ध में जो कुछ कर्तव्य हैं वे तो हैं ही परन्तु मूक जानवरों के सम्बन्ध में भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य हैं जिनका समावेश कार्य-अकार्यशास्त्र में किया जाना चाहिये। यदि इसी व्यापक दृष्टि से देखें तो मालूम होगा कि 'अधिकांश लोगों का अधिक हित' की अपेक्षा 'सर्वभूतहित' शब्द ही अधिक व्यापक और उपयुक्त है तथा 'साम्यबुद्धि' में इन सभी का समावेश हो जाता है। इसके विपरीत यदि ऐसा मान लें कि किसी एक मनुष्य की बुद्धि शुद्ध और सम नहीं है तो वह इस बात का ठीक ठीक हिसाब भले ही कर ले कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है परन्तु नीतिधर्म में उसकी प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है। क्योंकि, किसी सत्कार्य की ओर प्रवृत्ति होना शुद्ध मन का गुण या धर्म है – यह काम कुछ हिसाबी मन का नहीं है। यदि कोई कहे कि हिसाब करनेवाले मनुष्य के स्वभाव या मन को देखने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हें केवल यही देखना चाहिये कि उसका किया हुआ हिसाब सही है या नहीं। अर्थात् उस हिसाब से सिर्फ यह देख लेना चाहिये कि कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय हो कर तुम्हारा काम चल जाता है या नहीं – तो यह भी ठीक नहीं हो सकता। कारण यह है कि सामान्यतः यह तो सभी जानते हैं कि सुखदुःख भिन्न होते हैं। तो भी सब प्रकार सुखदुःखों के तारतम्य का हिसाब करते समय पहले यह निश्चय कर लेना पड़ता है कि किस प्रकार के सुखदुःखों का कितना महत्त्व देना चाहिये। परन्तु सुखदुःख की इस प्रकार माप करने के लिये – उष्णतामापक यन्त्र के समान – कोई निश्चित बाह्यसाधन न तो वर्तमान समय में है और न भविष्य में ही उसके मिल सकने की कुछ सम्भावना है। इसलिये सुखदुःखों की ठीक ठीक कीमत ठहराने

का काम – यानी उनके महत्त्व या योग्यता का निर्णय करने का काम – प्रत्येक मनुष्य को अपने मन से ही करना पड़ेगा। परन्तु जिसके मन में ऐसी आत्मौपम्यबुद्धि पूर्ण रीति से जागृत नहीं हुई है कि 'जैसा मैं हूँ, वैसा ही दूसरा भी है' उसे दूसरों के सुखदुःख की तीव्रता का स्पष्ट ज्ञान कभी नहीं हो सकता। इसलिये वह इन सुख-दुःखों की सच्ची योग्यता कभी जान ही नहीं सकेगा। और, फिर तारतम्य निश्चित करने के लिये उसने सुखदुःखों की कुछ कीमत पहले ठहरा ली होगी उसमें भूल हो जायगी और अन्त में उसका किया सब हिसाब भी गलत हो जावेगा। इसीलिये कहना पड़ता है कि 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख को देखना' इस वाक्य में 'देखना' सिर्फ हिसाब करने की बाह्यक्रिया है जिसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। किन्तु जिस आत्मौपम्य और निर्लोभ बुद्धि से (अनेक) दूसरों के सुखदुःखों की यथार्थ कीमत पहले ठहराई जाती है वही सब प्राणियों के विषय में साम्यावस्था को पहुँची हुई शुद्धबुद्धि ही नीतिमत्ता की सच्ची जड़ है। स्मरण रहे कि नीतिमत्ता निर्मम, शुद्ध प्रेमी सम या (संक्षेप में कहें तो) सत्त्वशील अन्तःकरण का धर्म है, वह कुछ केवल सार-असार विचार का फल नहीं है। यह सिद्धान्त इस कथा से और भी स्पष्ट हो जायगा। भारतीय युद्ध के बाद युधिष्ठिर के राज्यासीन होने पर जब कुन्ती अपने पुत्रों के पराक्रम से कृतार्थ हो चुकी तब वह धृतराष्ट्र के साथ वानप्रस्थाश्रम का आचरण करने के लिये वन को जाने लगी। उस समय उसने युधिष्ठिर को कुछ उपदेश किया है और, 'तू अधिकांश लोगों का कल्याण किया कर' इत्यादि बात का बखेड़ा न कर, उसने युधिष्ठिर से सिर्फ यही कहा है कि 'मनस्ते महदस्तु च' (म. भा. अश्व. १७. २१) अर्थात् 'तू अपने मन को हमेशा विशाल बनाये रख।' जिन पश्चिमी पण्डितों ने यह प्रतिपादन किया है कि केवल 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' किसमें है यही देखना नीतिमत्ता की सच्ची शास्त्रीय और सीधी कसौटी है वे कदाचित् पहले ही से यह मान लेते हैं कि उनके समान ही अन्य सब लोग शुद्ध मन के हैं और ऐसा समझ कर वे अन्य सब लोगों को यह बतलाते हैं कि नीति का निर्णय किस रीति से किया जाय। परन्तु ये पण्डित जिस बात को पहले ही से मान लेते हैं वह सच नहीं हो सकती। इसलिये नीतिनिर्णय का उनका नियम अपूर्ण और एकपक्षीय सिद्ध होता है। इतना ही नहीं; बल्कि उनके लेखों से यह भ्रमकारक विचार भी उत्पन्न हो जाता है कि मन, स्वभाव या शील को यथार्थ में अधिकाधिक शुद्ध और पापभीरु बनाने का प्रयत्न करने के बदले यदि कोई नीतिमान बनने के लिये अपने कर्मों के बाह्यपरिणामों का हिसाब करना सीख ले, तो बस होगा। और फिर जिनकी स्वार्थबुद्धि नहीं छूटी रहती है वे लोग घूर्त, मिथ्याचारी या दाम्भिक (गीता ३. ६) बनकर सारे समाज की हानि का कारण हो जाते हैं। इसलिये केवल नीतिमत्ता की कसौटी की दृष्टि से देखें तो भी कर्मों के केवल बाह्यपरिणामों पर विचार करनेवाला मार्ग कृपण तथा अपूर्ण प्रतीत होता है। अतएव हमारे निश्चय के अनुसार गीता का

यही सिद्धान्त पश्चिमी आधिदैविक और आधिभौतिक पक्षों के मतों की अपेक्षा अधिक मार्मिक, व्यापक, युक्तिसङ्गत और निर्दोष है, कि बाह्यकर्मों से व्यक्त होनेवाली साम्य बुद्धि का ही सहारा इस काम में अर्थात् कर्मयोग में लेना चाहिये; तथा ज्ञानयुक्त निस्सीम शुद्धबुद्धि या शील ही सदाचरण की सच्ची कसौटी है।

नीतिशास्त्रसम्बन्धी आधिभौतिक और आधिदैविक ग्रन्थों को छोड़कर नीति का विचार आध्यात्मिक दृष्टि से करनेवाले पश्चिमी पण्डितों के ग्रन्थों को यदि देखें तो मालूम होगा कि उनमें भी नीतिमत्ता का निर्णय करने के विषय में गीता के ही सदृश कर्म की अपेक्षा शुद्धबुद्धि को ही विशेष प्रधानता दी गई है। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट के 'नीति के आध्यात्मिक मूलतत्त्व' तथा नीतिशास्त्रसम्बन्धी दूसरे ग्रन्थों को लीजिये। यद्यपि कान्ट ने* सर्वभूतात्मैक्य का सिद्धान्त अपने ग्रन्थों में नहीं दिया है तथापि व्यवसायात्मक और वासनात्मक बुद्धि का ही सूक्ष्म विचार करके उसने यह निश्चित किया है – कि (१) किसी कर्म की नैतिक योग्यता इस बाह्यफल पर से नहीं ठहराई जानी चाहिये कि उस कर्मद्वारा कितने मनुष्यों का सुख होगा; बल्कि उसकी योग्यता का निर्णय यही देख कर करना चाहिये, कि कर्म करनेवाले मनुष्य की 'वासना' कहाँ तक शुद्ध है। (२) मनुष्य की इस वासना (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) को तभी शुद्ध, पवित्र और स्वतन्त्र समझना चाहिये जब कि वह इन्द्रियसुखों में लिप्त न रह कर सदैव शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि की आज्ञा के (अर्थात् इस बुद्धिद्वारा निश्चित कर्तव्य-अकर्तव्य के नियमों के) अनुसार चलने लगे। (३) इस प्रकार इन्द्रियनिग्रह हो जाने पर जिसकी वासना शुद्ध हो गई हो, उस पुरुष के लिये किसी नीतिनियमादि के बन्धन की आवश्यकता नहीं रह जाती – ये नियम तो सामान्य मनुष्यों के ही लिये हैं। (४) इस प्रकार से वासना के शुद्ध हो जाने पर जो कुछ कर्म करने को वह शुद्धवासना या बुद्धि कहा करती है वह इसी विचार से कहा जाता है कि 'हमारे समान यदि दूसरे भी करने लगें, तो परिणाम क्या होगा'; और (५) वासना की इस स्वतन्त्रता और शुद्धता की उपपत्ति का पता कर्मसृष्टि को छोड़ कर ब्रह्मसृष्टि में प्रवेश किये बिना नहीं लग सकता। परन्तु आत्मा और ब्रह्मसृष्टि सम्बन्धी कान्ट के विचार कुछ अपूर्ण हैं; और ग्रीन यद्यपि कान्ट का ही अनुयायी है तथापि उसने अपने 'नीतिशास्त्र के उपोद्घात' में पहले यह सिद्ध किया है कि बाह्यसृष्टि का अर्थात् ब्रह्माण्ड का जो अगम्य तत्त्व है वही आत्मस्वरूप से पिण्ड में अर्थात् मनुष्य देह में अंशतः प्रादुर्भूत हुआ है। इसके अनन्तर उसने यह प्रतिपादन

* Kant's *Theory of Ethics* trans. by Abbott 6th Ed. इस पुस्तक [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

किया है,* कि मनुष्य-शरीर में एक नित्य और स्वतन्त्र तत्त्व है (अर्थात् जिसे आत्मा कहते हैं) जिसमें यह उत्कट इच्छा होती है कि सर्व-भूतान्तर्गत अपने सामाजिक पूर्णस्वरूप का अवश्य पहुँच जाना चाहिये और यही इच्छा मनुष्य को सदाचार की ओर प्रवृत्त किया करती है। इसी में मनुष्य का नित्य और चिरकालिक कल्याण है तथा विषयसुख अनित्य है। सारांश यही दीख पड़ता है, यद्यपि कान्ट और ग्रीन दोनों ही की दृष्टि आध्यात्मिक है तथापि ग्रीन व्यवसायात्मक बुद्धि के व्यापारों में ही लिप्त नहीं रहा किन्तु उसने कर्म-अकर्म-विवेचन की तथा वासना-स्वातंत्र्य की उपपत्ति को पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में एकता से व्यक्त होनेवाले शुद्ध आत्मस्वरूप तक पहुँचा दिया है। कान्ट और ग्रीन जैसे अध्यात्मिक पाश्चात्य नीतिशास्त्रज्ञों के उक्त सिद्धान्तों की ओर नीचे लिखे गये गीताप्रतिपादित कुछ सिद्धान्तों की तुलना करने से दीख पड़ेगा कि यद्यपि ये दोनों अक्षरशः एक बराबर नहीं हैं तथापि उनमें कुछ अद्भुत समता अवश्य है। देखिये गीता के सिद्धान्त ये हैं :– (१) बाह्यकर्म की अपेक्षा कर्ता की (वासनात्मक) बुद्धि ही श्रेष्ठ है। (२) व्यवसायात्मक बुद्धि आत्मनिष्ठ हो कर जब सन्देहरहित तथा सम हो जाती है तब फिर वासनात्मक बुद्धि आप ही आप शुद्ध और पवित्र हो जाती है। (३) इस रीति से जिसकी बुद्धि सम और स्थिर हो जाती है वह स्थितप्रज्ञ पुरुष हमेशा विधि और नियमों से परे रहा करता है। (४) और उसके आचरण तथा उसकी आत्मैक्यबुद्धि से सिद्ध होनेवाले नीतिनियम सामान्य पुरुषों के लिये आदर्श के समान पूजनीय तथा प्रमाणभूत हो जाते हैं और (५) पिण्ड अर्थात् देह में तथा ब्रह्माण्ड अर्थात् सृष्टि में एक ही आत्मस्वरूपी तत्त्व है देहान्तर्गत आत्मा अपने शुद्ध और पूर्णस्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त कर लेने के लिये सदा उत्सुक रहता है तथा इस शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर सब प्राणियों के विषय में आत्मौपम्यदृष्टि हो जाती है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्म आत्मा माया आत्मस्वातन्त्र्य ब्रह्मात्मैक्य कर्मविपाक इत्यादि विषयों पर हमारे वेदान्तशास्त्र के जो सिद्धान्त हैं वे कान्ट और ग्रीन के सिद्धान्तों से भी बहुत आगे बढ़े हुए तथा अधिक निश्चित हैं। इसलिये उपनिषदान्तर्गत वेदान्त के आधार पर किया हुआ गीता का कर्मयोग विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से असन्दिग्ध पूर्ण तथा दोषरहित हुआ है; और आजकल के वेदान्ती जर्मन पण्डित प्रोफेसर डायसन ने नीतिविवेचन की इसी पद्धति को अपने अध्यात्मशास्त्र के मूलतत्त्व नामक ग्रन्थ में स्वीकार किया है। डायसन शोपेनहर का अनुयायी है; उसे शोपेनहर का यह सिद्धान्त पूर्णतया मान्य है कि संसार का मूलकारण वासना ही है। इसलिये उसका क्षय किये बिना दुःख की निवृत्ति का होना असम्भव है अतएव वासना का क्षय करना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। और इसी आध्यात्मिक सिद्धान्तद्वारा

* Greens *Prolegomena to Ethics* §§ 99 174–179 and 223–232

की जड़ पर ही कुल्हाड़ी मारता है।* अब इस बात का अच्छा करके समझाने की ओर आवश्यकता नहीं कि यद्यपि गीता का अभिप्राय विषय कर्मयोग ही है तो भी उसमें शुद्ध वेदान्त क्यों और कैसे आ गया। कान्ट ने इस विषय पर 'शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि की मीमांसा' और 'व्यावहारिक (वासनात्मक) बुद्धि की मीमांसा' नामक दो अलग अलग ग्रन्थ लिखे हैं। परन्तु हमारे औपनिषदिक तत्त्वज्ञान के अनुसार भगवद्गीता ही में इन दोनों विषयों का समावेश किया गया है बल्कि श्रद्धामूलक भक्तिमार्ग का भी विवेचन उसी में होने के कारण गीता सब से अधिक ग्राह्य और प्रमाणभूत हो गई है।

मोक्षधर्म को क्षणभर के लिये एक ओर रख कर केवल कर्म अकर्म की परीक्षा के नैतिक तत्त्व की दृष्टि से भी जब 'साम्यबुद्धि' ही श्रेष्ठ सिद्ध होती है तब यहाँ पर इस बात का भी थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिये कि गीता के आध्यात्मिक पक्ष को छोड़ कर नीतिशास्त्रों में अन्य दूसरे पन्थ कैसे और क्यों निर्माण हुए? डाक्टर पाल कारस† नामक एक प्रसिद्ध अमेरिकन ग्रन्थकार अपने नीतिशास्त्र-विषयक ग्रन्थ में इस प्रश्न का यह उत्तर देता है, कि पिण्ड-ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में मनुष्य की जैसी समझ (राय) होती है उसी तरह नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व के सम्बन्ध में उसके विचारों का रङ्ग बदलता रहता है। सच पूछो तो पिण्ड ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ निश्चित मत हुए बिना नैतिक प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता। पिण्ड-ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में कुछ पक्का मत न रहने पर भी हम लोगों से कुछ नैतिक आचरण कदाचित् हो सकता है। परन्तु यह आचरण स्वप्नावस्था के व्यापार के समान होगा इसलिये इसे नैतिक कहने के बदले देहधर्मानुसार होनेवाली केवल एक कायिक क्रिया ही कहना चाहिये। उदाहरणार्थ बाघिन अपने बच्चों की रक्षा के लिये प्राण देने को तैयार हो जाती है

---

* Empiricism, on the contrary cuts up at the roots the morality of intentions (in which, and not in actions only consists the high worth that men can and ought to give themselves) Empiricism, moreover being on this account allied with all the inclinations which (no matter what fashion they put on) degrade humanity when they are raised to the dignity of a supreme practical principle ... is for that reason much more dangerous. Kant's *Theory of Ethics* pp 163 and 236–238 See also Kant's *Critique of Pure Reason* (trans. by Max Muller) 2nd Ed. pp 640–657

† See *The Ethical Problem* by Dr Carus, 2nd Ed p. 111 Our proposition is that the leading principle in ethics must be derived from the Philosophical view back of it. The world-conception a man has, can alone give character to the principle in his ethics. Without any world-conception we can have no ethics (*i. e. ethics in the highest sense of the word*). We may act morally like dreamers or somnambulists but our ethics would in that case be a mere moral instinct without any rational insight into its *raison d'etre*

परन्तु इसे हम उसका नैतिक आचरण न कह कर उसका जन्मसिद्ध स्वभाव ही कहते हैं। इस उत्तर से इस बात का अच्छी तरह स्पष्टीकरण हो जाता है कि नीतिशास्त्र के उपपादन में अनेक पन्थ क्यों हो गये हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं, कि 'मैं कौन हूँ, यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ, मेरा इस संसार में क्या उपयोग हो सकता है?' इत्यादि गूढ़ प्रश्नों का निर्णय जिस तत्त्व से हो सकेगा, उसी तत्त्व के अनुसार प्रत्येक विचारवान् पुरुष इस बात का भी निर्णय अवश्य करेगा, कि मुझे अपने जीवनकाल में अन्य लोगों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये। परन्तु इन गूढ़ प्रश्नों का उत्तर भिन्न भिन्न काल में तथा भिन्न भिन्न देशों में एक ही प्रकार का नहीं हो सकता। यूरोप खण्ड में ईसाई धर्म प्रचलित है; इसमें यह वर्णन पाया जाता है कि मनुष्य और सृष्टि का कर्ता बाइबल में वर्णित सगुण परमेश्वर है, और उसी ने पहले पहल संसार को उत्पन्न करके सदाचरण के नियमादि बनाकर मनुष्यों को शिक्षा दी है; तथा आरम्भ में ईसाई पण्डितों का भी यही अभिप्राय था कि बाइबल में वर्णित पिण्ड-ब्रह्माण्ड की इस कल्पना के अनुसार बाइबल में कहे गये नीतिनियम ही नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व हैं। फिर जब यह मालूम होने लगा, कि ये नियम व्यावहारिक दृष्टि से अपूर्ण हैं; तब इनकी पूर्ति करने के लिये अथवा स्पष्टीकरणार्थ यह प्रतिपादन किया जाने लगा, कि परमेश्वर ही ने मनुष्य को सदसद्विवेक-शक्ति दी है। परन्तु अनुभव से फिर यह अड़चन दीख पड़ने लगी कि चोर और साह दोनों की सदसद्विवेकशक्ति एक समान नहीं रहती; तब इस मत का प्रचार होने लगा कि परमेश्वर की इच्छा नीतिशास्त्र की नींव भले ही हो, परन्तु उस ईश्वरी इच्छा के स्वरूप को जानने के लिये केवल इसी एक बात का विचार करना चाहिये कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है – इसके सिवा परमेश्वर की इच्छा को जानने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में ईसाई लोगों की जो यह समझ है – कि बाइबल में वर्णित सगुण परमेश्वर ही संसार का कर्ता है और यह उसकी ही इच्छा या आज्ञा है कि मनुष्य नीति के नियमानुसार बर्ताव करे – उसी आधार पर उक्त सब मत प्रचलित हुए हैं। परन्तु आधिभौतिक शास्त्रों की उन्नति तथा वृद्धि होने पर जब मालूम होने लगा कि ईसाई धर्मपुस्तकों में पिण्ड-ब्रह्माण्ड की रचना के विषय में कहे गये सिद्धान्त ठीक नहीं हैं; तब यह विचार छोड़ दिया गया कि परमेश्वर के समान कोई सृष्टि का कर्ता है या नहीं; और यही विचार किया जाने लगा कि नीतिशास्त्र की इमारत प्रत्यक्ष दिखनेवाली बातों की नींव पर क्योंकर खड़ी की जा सकती है। तब से फिर यह माना जाने लगा कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख या कल्याण अथवा मनुष्यत्व की वृद्धि ये ही दृश्यतत्त्व नीतिशास्त्र के मूलकारण हैं। इस प्रतिपादन में इस बात की किसी उपपत्ति या कारण का कोई उल्लेख नहीं किया गया है कि कोई मनुष्य अधिकांश लोगों का अधिक हित क्यों करे? सिर्फ इतना ही कह दिया

जाता है कि यह मनुष्य की नित्य बढ़नेवाली एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परन्तु मनुष्यस्वभाव में स्वार्थ सरीखी और भी दूसरी वृत्तियाँ दीख पड़ती हैं। इसलिये इस पन्थ में भी फिर भेद होने लगे। नीतिमत्ता की ये सब उपपत्तियाँ कुछ सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। क्योंकि, उक्त पन्थों के सभी पण्डितों में 'सृष्टि के दृश्यपदार्थों से परे सृष्टि की जड़ में कुछ न-कुछ अव्यक्त तत्त्व अवश्य है', इस सिद्धान्त पर एक ही सा अविश्वास और अश्रद्धा है। इस कारण उनके विषयप्रतिपादन में चाहे कुछ भी अड़चन क्यों न हो वे लोग केवल बाह्य और दृश्यतत्त्वों से ही किसी तरह निर्वाह कर लेने का हमेशा प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु नीति तो सभी को चाहिये; क्योंकि यह सब के लिये आवश्यक है। परन्तु उक्त कथन से मालूम हो जायगा कि पिण्ड ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत होने के कारण उन लोगों की नीतिशास्त्रविषयक उपपत्तियों में हमेशा कैसे भेद हो जाया करते हैं। इसी कारण से पिण्ड ब्रह्माण्ड की रचना के विषय में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक मतों के अनुसार हमने नीतिशास्त्र के प्रतिपादन के (तीसरे प्रकरण में) तीन भेद किये हैं; और आगे फिर प्रत्येक पन्थ के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का भिन्न भिन्न विचार किया है। जिनका यह मत है कि सगुण परमेश्वर ने सब दृश्यसृष्टि को बनाया है वे नीतिशास्त्र का केवल यहीं तक विचार करते हैं कि अपने धर्मग्रन्थों में परमेश्वर की जो आज्ञा है वह तथा परमेश्वर की सत्ता से निर्मित सदसद्विवेचनशक्तिरूप देवता ही सब कुछ है – इसके बाद और कुछ नहीं है। इसको हमने 'आधिदैविक' पन्थ कहा है। क्योंकि सगुण परमेश्वर भी तो एक देवता ही है न। अब जिनका यह मत है कि दृश्यसृष्टि का आदिकारण कोई भी अदृश्य मूलतत्त्व नहीं है और यदि हो भी तो वह मनुष्य की बुद्धि के लिये अगम्य है। वे लोग 'अधिकांश लोगों का अधिक कल्याण' या 'मनुष्यत्व का परम उत्कर्ष' जैसे केवल दृश्यतत्त्व द्वारा ही नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया करते हैं और यह मानते हैं कि इस बाह्य और दृश्यतत्त्व के परे विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पन्थ का हमने 'आधिभौतिक' नाम दिया है। जिनका यह सिद्धान्त है कि नामरूपात्मक दृश्यसृष्टि की जड़ में आत्मा सरीखा कुछ-न-कुछ नित्य और अव्यक्त तत्त्व अवश्य है वे लोग अपने नीतिशास्त्र की उपपत्ति को आधिभौतिक उपपत्ति से भी परे ले जाते हैं और आत्मज्ञान तथा नीति या धर्म का मेल करके इस बात का निर्णय करते हैं कि संसार में मनुष्य का सच्चा कर्तव्य क्या है; इस पन्थ को हमने 'आध्यात्मिक' कहा है। इन तीनों पन्थों में आचार नीति एक ही है परन्तु पिण्ड की रचना के सम्बन्ध में प्रत्येक पन्थ का मत भिन्न भिन्न है। उससे नीतिशास्त्र के मूलतत्त्वों का स्वरूप हर एक पन्थ में थोड़ा थोड़ा बदला गया है। यह बात प्रकट है कि व्याकरणशास्त्र कोई नई भाषा नहीं बनाता किन्तु जो भाषा व्यवहार में प्रचलित रहती है उसी के नियमों की वह खोज करता है और भाषा की उन्नति में सहायक होता है। ठीक

यही हाल नीतिशास्त्र का भी है। मनुष्य इस संसार में जब से पैदा हुआ है, उसी दिन से वह स्वयं अपनी ही बुद्धि से अपने आचरण को देशकालानुसार शुद्ध रखने का प्रयत्न भी करता चला आया है; और समय समय पर जो प्रसिद्ध पुरुष या महात्मा हो गये हैं, उन्हों ने अपनी अपनी समझ के अनुसार आचारशुद्धि के लिये 'चोदना' या प्रेरणारूपी अनेक नियम भी बना दिये हैं। नीतिशास्त्र की उत्पत्ति कुछ इस लिये नहीं हुई है कि वह इन नियमों को तोड़ कर नये नियम बनाने लगे। हिंसा मत कर, सच बोल, परोपकार कर, इत्यादि नीति के नियम प्राचीन काल से ही चलते आये हैं। अब नीतिशास्त्र का सिर्फ़ यही देखने का काम है कि नीति की यथोचित वृद्धि होने के लिये सब नीतिनियमों में मूलतत्त्व क्या है। यही कारण है कि जब हम नीतिशास्त्र के किसी भी पन्थ को देखते हैं, तब हम वर्तमान प्रचलित नीति के प्रायः सब नियमों को सभी पन्थों में एक-से पाते हैं; उनमें जो कुछ भेद दिखलाई पड़ता है, वह उपपत्ति के स्वरूपभेद के कारण है; और इसलिये डा॰ पाल्स का यह कथन सच मालूम होता है कि इस भेद होने के मुख्य कारण यही है कि हरएक पन्थ में पिण्ड-ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत हैं।

अब यह बात सिद्ध हो गई कि मिल, स्पेन्सर, कान्ट आदि आधिभौतिक पन्थ के आधुनिक पाश्चात्य नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थकारों ने आत्मौपम्यदृष्टि के सुलभ तथा व्यापक तत्त्व को छोड़ कर 'सर्वभूतहित' या 'अधिकांश लोगों का अधिक हित' जैसे आधिभौतिक और बाह्य तत्त्व पर ही नीतिमत्ता को स्थापित करने का जो प्रयत्न किया है, वह इसी लिये किया है कि पिण्ड-ब्रह्माण्डसम्बन्धी उनके मत प्राचीन मतों से भिन्न हैं। परन्तु जो लोग उक्त नूतन मतों को नहीं मानते, और जो इन प्रश्नों का स्पष्ट तथा गम्भीर विचार कर लेना चाहते हैं कि, 'मैं कौन हूँ? सृष्टि क्या है? मुझे इस सृष्टि का ज्ञान कैसे होता है? जो सृष्टि मुझसे बाहर है वह स्वतन्त्र है या नहीं? यदि है, तो उसका मूलतत्त्व क्या है? इस तत्त्व से मेरा क्या सम्बन्ध है? एक मनुष्य दूसरे के सुख के लिये अपनी जान क्यों देवे? 'जो जन्म लेते हैं वे मरते भी हैं' इस नियम के अनुसार यदि यह बात निश्चित है कि जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं उसका और उसके साथ समस्त प्राणियों का तथा हमारा भी किसी दिन अवश्य नाश हो जायगा, तो नाशवान भविष्य पीढ़ियों के लिये हम अपने सुख का नाश क्यों करें?' — अथवा जिन लोगों का केवल इस उत्तर से पूरा समाधान नहीं होता कि 'परोपकार आदि मनोवृत्तियाँ इस समय क्रमशः अनित्य और दृश्यसृष्टि की नैसर्गिक प्रवृत्ति ही है,' और जो यह जानना चाहते हैं कि इस नैसर्गिक प्रवृत्ति का मूलकारण क्या है — उनके लिये अध्यात्मशास्त्र के नित्य तत्त्वज्ञान का सहारा लेने के सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। और इसी कारण से ग्रीन ने अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ का आरम्भ इसी तत्त्व के प्रतिपादन से किया है कि जिस आत्मा को ब्रह्मसृष्टि का ज्ञान होता है, वह

सद्गुणों का परम उत्कर्ष, और (आधिभौतिकवाद के अनुसार) क्या परोपकारबुद्धि की तथा मनुष्यत्व की वृद्धि, दोनों का अर्थ एक ही है। महाभारत और गीता में इन सब आधिभौतिक तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख तो है ही बल्कि महाभारत में यह भी साफ़ साफ़ कहा गया है कि धर्म-अधर्म के नियमों के लौकिक या बाह्य उपयोग का विचार करने पर यही जान पड़ता है कि ये नीतिधर्म सर्वभूतहितार्थ अर्थात् लोककल्याणार्थ ही हैं। परन्तु पश्चिमी आधिभौतिक पण्डितों का किसी अव्यक्त तत्त्व पर विश्वास नहीं है। इसलिये यद्यपि वे जानते हैं कि सात्त्विक दृष्टि से कार्य-अकार्य का निर्णय करने के लिये आधिभौतिक तत्त्व पूरा काम नहीं देते तो भी वे निरर्थक शब्दों का आडम्बर बढ़ाकर व्यक्त तत्त्व से ही अपना निर्वाह किसी तरह कर लिया करते हैं। गीता में ऐसा नहीं किया गया है। किन्तु इन तत्त्वों की परम्परा को पिण्ड ब्रह्माण्ड के मूल अव्यक्त तथा नित्यतत्त्व का ले जाकर मोक्ष, नीतिधर्म और व्यवहार (इन तीनों) की भी पूरी एकवाक्यता तत्त्वज्ञान के आधार से गीता में भगवान् ने सिद्ध कर दिखाई है। और इसीलिये अनुगीता के आरम्भ में स्पष्ट कहा गया है कि कार्य अकार्य निर्णयार्थ जो धर्म बतलाया गया है वही मोक्षप्राप्ति करा देने के लिये भी समर्थ है (म. भा. अश्व. १६. १२)। जिनका यह मत होगा कि मोक्षधर्म और नीतिशास्त्र को अथवा अध्यात्मशास्त्र और नीति को एक में मिला देने की आवश्यकता नहीं है उन्हें उक्त उपपादन का महत्त्व ही मालूम नहीं हो सकता। परन्तु जो लोग इसके सम्बन्ध में उदासीन नहीं हैं उन्हें निस्सन्देह यह मालूम हो जायगा कि गीता में किया गया कर्मयोग का प्रतिपादन आधिभौतिक विवेचन की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा ग्राह्य है। अध्यात्मज्ञान की वृद्धि प्राचीन काल में हिंदुस्थान में जैसी हो चुकी है वैसी और कहीं भी नहीं हुई। इसलिये पहले पहल किसी अन्य देश में कर्मयोग के ऐसे आध्यात्मिक उपपादन का पाया जाना बिलकुल सम्भव नहीं – और यह विदित ही है कि ऐसा उपपादन कहीं पाया भी नहीं जाता।

यह स्वीकार होने पर भी – कि इस संसार के अशाश्वत होने के कारण इस में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है (गीता ९. ३३) – गीता में जो यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः – अर्थात् सांसारिक कर्मों का कभी न कभी संन्यास करने की अपेक्षा उन्हीं कर्मों को निष्कामबुद्धि से लोककल्याण के लिये करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गीता ३. ८; ५. २) – उसके साधक तथा बाधक कारणों का विचार ग्यारहवें प्रकरण में किया जा चुका है। परन्तु गीता में कहे गये इस कर्मयोग की पश्चिमी कर्ममार्ग से अथवा पूर्वी संन्यासमार्ग की पश्चिमी कर्मत्याग-पक्ष से तुलना करते समय उक्त सिद्धान्त का कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना आवश्यक मालूम होता है। यह मत वैदिक धर्म में पहले पहल उपनिषत्कारों तथा सांख्यवादियों द्वारा प्रचलित किया गया है कि दुःखमय तथा निस्सार संसार से बिना निवृत्त हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके पूर्व का वैदिकधर्म का कोई अन्य

आत्मा बाह्यसृष्टि से अवश्य ही भिन्न होगा; और कान्ट ने पहले व्यवसायात्मक बुद्धि का विवेचन करके फिर वासनात्मक बुद्धि की तथा नीतिशास्त्र की मीमांसा की है।

मनुष्य अपने सुख के लिये या अधिकांश लोगों को सुख देने के लिये पैदा हुआ है — यह कथन ऊपर से चाहे कितना ही मोहक तथा उत्तम दिखे, परन्तु वस्तुतः यह सच नहीं है। यदि हम क्षणभर इस बात का विचार करें, कि जो महात्मा केवल सत्य के लिये प्राणदान करने को तैयार रहते हैं, उनके मन में क्या यही हेतु रहता है कि भविष्य पीढ़ी के लोगों को अधिकाधिक विषयसुख होवे; तो यही कहना पड़ता है कि अपने तथा अन्य लोगों के अनित्य आधिभौतिक सुखों की अपेक्षा इस संसार में मनुष्य का और भी कुछ दूसरा अधिक महत्त्व का परम-साध्य या उद्देश अवश्य है। यह उद्देश क्या है? जिन्होंने पिण्ड-ब्रह्माण्ड के नामरूपात्मक, (अतएव) नाशवान् (परन्तु) दृश्यस्वरूप से आच्छादित आत्मस्वरूपी नित्यतत्त्व को अपनी आत्मप्रतीति के द्वारा जान लिया है, वे लोग उक्त प्रश्न का यह उत्तर देते हैं कि अपने आत्मा के अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध, नित्य तथा सर्वव्यापी स्वरूप की पहचान करके उसी में रत रहना ज्ञानवान् मनुष्य का इस नाशवान् संसार में पहला कर्तव्य है। जिसे सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्य की इस तरह से पहचान हो जाती है, तथा यह ज्ञान जिसकी देह तथा इन्द्रियों में समा जाता है, वह पुरुष इस बात के सोच में पड़ा नहीं रहता कि यह संसार झूठ है या सच। किन्तु वह सर्वभूतहित के लिये उद्योग करने में आप-ही-आप प्रवृत्त हो जाता है और सत्य मार्ग का अग्रेसर बन जाता है। क्योंकि उसे यह पूरी तौर से मालूम रहता है कि अविनाशी तथा त्रिकाल-अबाधित सत्य कौन-सा है। मनुष्य की यही आध्यात्मिक पूर्णावस्था सब नीति नियमों का मूल उद्गमस्थान है और इसे ही वेदान्त में 'मोक्ष' कहते हैं। किसी भी नीति को लीजिये, वह इस अन्तिम साध्य से अलग नहीं हो सकती। इसलिये नीतिशास्त्र का या कर्मयोगशास्त्र का विवेचन करते समय आखिर इसी तत्त्व की शरण में जाना पड़ता है। सर्वात्मैक्यरूप अव्यक्त मूलतत्त्व का ही एक व्यक्तस्वरूप सर्वभूतहितेच्छा है; और सगुण परमेश्वर तथा दृश्यसृष्टि दोनों उस आत्मा के ही व्यक्त स्वरूप हैं जो सर्वभूतान्तर्गत, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। इस व्यक्त स्वरूप के आगे गये बिना अर्थात् अव्यक्त आत्मा का ज्ञान प्राप्त किये बिना ज्ञान की पूर्ति तो होती ही नहीं; किन्तु इस संसार में हर एक मनुष्य का जो यह परम कर्तव्य है कि शरीरस्थ आत्मा को पूर्णावस्था में पहुँचा दे, वह भी इस ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। चाहे नीति को लीजिये, व्यवहार को लीजिये, धर्म को लीजिये अथवा किसी भी दूसरे शास्त्र को लीजिये, अध्यात्मज्ञान ही सब की अन्तिम गति है — जैसे कहा है: सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। हमारा भक्तिमार्ग भी इसी तत्त्वज्ञान का अनुसरण करता है। इसलिये उसमें भी यही सिद्धान्त स्थिर रहता है कि ज्ञानदृष्टि से निष्पन्न होनेवाला साम्यबुद्धिरूपी तत्त्व ही मोक्ष का तथा सदाचरण का

सद्गुणों का परम उत्कर्ष और (आधिभौतिकवाद के अनुसार) क्या परोपकारबुद्धि की तथा मनुष्यत्व की वृद्धि दोनों का अर्थ एक ही है। महाभारत और गीता में इन सब आधिभौतिक तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख तो है ही बल्कि महाभारत में यह भी साफ़ साफ़ कहा गया है कि धर्म-अधर्म के नियमों के लौकिक या बाह्य उपयोग का विचार करने पर यही जान पड़ता है कि ये नीतिधर्म सर्वभूतहितार्थ अर्थात् लोककल्याणार्थ ही हैं। परन्तु पश्चिमी आधिभौतिक पण्डितों का किसी अव्यक्त तत्त्व पर विश्वास नहीं है। इसलिये यद्यपि वे जानते हैं कि तात्त्विक दृष्टि से कार्य-अकार्य का निर्णय करने के लिये आधिभौतिक तत्त्व पूरा काम नहीं देते तो भी वे निरर्थक शब्दों का आडम्बर बढ़ाकर व्यक्त तत्त्व से ही अपना निर्वाह किसी तरह कर लिया करते हैं। गीता में ऐसा नहीं किया गया है। किन्तु इन तत्त्वों की परम्परा को पिण्ड-ब्रह्माण्ड के मूल अव्यक्त तथा नित्यतत्त्व को ले जाकर मोक्ष नीतिधर्म और व्यवहार (इन तीनों) की भी पूरी एकवाक्यता तत्त्वज्ञान के आधार से गीता में भगवान् ने सिद्ध कर दिखाई है। और इसीलिये अनुगीता के आरम्भ में स्पष्ट कहा गया है कि कार्य अकार्य-निर्णयार्थ जो धर्म बतलाया गया है वही मोक्षप्राप्ति करा देने के लिये भी समर्थ है (म भा अश्व १६ १२)। जिनका यह मत होगा कि मोक्षधर्म और नीतिशास्त्र को अथवा अध्यात्मशास्त्र और नीति को एक में मिला देने की आवश्यकता नहीं है उन्हें उक्त उपपादन का महत्त्व ही मालूम नहीं हो सकता। परन्तु जो लोग इसके सम्बन्ध में उदासीन नहीं हैं उन्हें निस्सन्देह यह मालूम हो जायगा कि गीता में किया गया कर्मयोग का प्रतिपादन आधिभौतिक विवेचन की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा ग्राह्य है। अध्यात्मज्ञान की वृद्धि प्राचीन काल में हिंदुस्थान में जैसी हो चुकी है वैसी और कहीं भी नहीं हुई। इसलिये पहले पहल किसी अन्य देश में कर्मयोग के ऐसे आध्यात्मिक उपपादन का पाया जाना बिलकुल सम्भव नहीं – और, यह विदित ही है कि ऐसा उपपादन कहीं पाया भी नहीं जाता।

यह स्वीकार होने पर भी – कि इस संसार के अशाश्वत होने के कारण इस में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है (गीता ९.३३) – गीता में जो यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" – अर्थात्, सांसारिक कर्मों का कभी न कभी संन्यास करने की अपेक्षा उन्हीं कर्मों को निष्कामबुद्धि से लोककल्याण के लिये करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गीता ३ ८, ५ २) – उसके साधक तथा बाधक कारणों का विचार ग्यारहवें प्रकरण में किया जा चुका है। परन्तु गीता में कहे गये इस कर्मयोग की पश्चिमी कर्ममार्ग से अथवा पूर्वी संन्यासमार्ग की पश्चिमी कर्म-त्याग-पक्ष से तुलना करते समय उक्त सिद्धान्त का कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना आवश्यक मालूम होता है। यह मत वैदिक धर्म में पहले पहल उपनिषत्कारों तथा सांख्यवादियों द्वारा प्रचलित किया गया है कि दुःखमय तथा निस्सार संसार से बिना निवृत्त हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके पूर्व का वैदिकधर्म को छोड़ अन्य

धर्मों का विचार किया जाय तो यह मालूम होगा, कि उनमें से बहुतों ने आरम्भ से ही संन्यासमार्ग को स्वीकार कर लिया था। उदाहरणार्थ जैन और बौद्ध धर्म पहले ही से निवृत्तिप्रधान हैं और ईसा मसीह का भी वैसा ही उपदेश है। बुद्ध ने अपने शिष्यों को यही अन्तिम उपदेश दिया है कि संसार का त्याग करके यतिधर्म से रहना चाहिये। स्त्रियों की ओर देखना नहीं चाहिये और उनसे बातचीत भी नहीं करना चाहिये (महापरिनिब्बाण सुत्त ५. २३); ठीक इसी तरह मूल ईसाई धर्म का भी कथन है। ईसा ने यह कहा है सही कि तू अपने पड़ोसी पर अपने ही समान प्यार कर (मेथ्यू १९. १९) और पाल का भी कथन है कि तू जो कुछ खाता, पीता या करता है वह सब ईश्वर के लिये कर (१ कारिं. १०. ३१); और ये दोनों उपदेश ठीक उसी तरह के हैं जैसा कि गीता में आत्मौपम्यबुद्धि से ईश्वरार्पणपूर्वक कर्म करने को कहा गया है (गीता ६. २९ और ९. २७)। परन्तु केवल इतने ही से यह सिद्ध नहीं होता कि ईसाई धर्म गीताधर्म के समान प्रवृत्ति-प्रधान है। क्योंकि ईसाई धर्म में भी अन्तिम साध्य यही है कि मनुष्य को अमृतत्व मिले तथा वह मुक्त हो जावे। और उसमें यह भी प्रतिपादन किया गया है कि यह स्थिति घरद्वार त्यागे बिना प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव ईसा मसीह के मूलधर्म को संन्यासप्रधान ही कहना चाहिये। स्वयं ईसा मसीह अन्त तक अविवाहित रहे। एक समय एक आदमी ने उनसे प्रश्न किया कि माँ-बाप तथा पड़ोसियों पर प्यार करने के धर्म का मैं अब तक पालन करता चला आया हूँ। अब मुझे यह बतलाओ कि अमृतत्व में क्या कसर है? तब तो ईसा ने साफ़ उत्तर दिया है कि तू अपने घरद्वार को बेच दे या किसी गरीब को दे डाल और मेरा भक्त बन (मेथ्यू १९. १६-३० और मार्क १०. २१-३१) और वे तुरन्त अपने शिष्यों की ओर देख उनसे कहने लगे कि सुई के छेद में से ऊँट भले ही जाय परन्तु ईश्वर के राज्य में किसी धनवान का प्रवेश होना कठिन है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं देख पड़ती कि यह उपदेश याज्ञवल्क्य के इस उपदेश की नकल है कि जो उन्होंने मैत्रेयी को किया था। वह उपदेश यह है – 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' (बृ. २. ४. २) अर्थात् द्रव्य से अमृतत्व प्राप्त करने के लिये सांसारिक कर्मों का छोड़ना ही आवश्यकता नहीं है बल्कि उन्हें निष्कामबुद्धि से करते ही रहना चाहिये; परन्तु ऐसा उपदेश ईसा ने कहीं भी नहीं किया है। इसके विपरीत उन्होंने यही कहा है कि सांसारिक सम्पत्ति और परमेश्वर के बीच चिरस्थायी विरोध है (मेथ्यू ६. २४) इस लिये माँ-बाप, घर-द्वार, स्त्री-बच्चे और भाई-बहिन एवं स्वयं अपने जीवन का भी द्वेष कर के जो मनुष्य मेरे साथ नहीं रहता वह मेरा भक्त कभी हो नहीं सकता (ल्यूक. १४. २६-३३)। ईसा के शिष्य पाल का भी स्पष्ट उपदेश है कि स्त्रियों का स्पर्श तक भी न करना सर्वोत्तम पक्ष है (१ कारिं. ७. १) उसी प्रकार हम

इसीलिये महाभारत में ये स्पष्ट रीति से कहा गया है कि चातुर्वर्ण्य के बाहर जिन अनार्य लोगों में ये धर्म प्रचलित हैं उन लोगों की भी रक्षा राजा को इन सामान्य धर्मों के अनुसार ही करनी चाहिये (शां. ६५. १२–२२)। अर्थात् गीता में कही गई नीति की उपपत्ति चातुर्वर्ण्यसरीखी किसी एक विशिष्ट समाजव्यवस्था पर अवलम्बित नहीं है; किन्तु सर्वसाधारण आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर ही उसका प्रतिपादन किया गया है। गीता के नीतिधर्म का मुख्य तात्पर्य यही है कि जो कुछ कर्तव्यकर्म शास्त्रतः प्राप्त हो उसे निष्काम और आत्मौपम्यबुद्धि से करना चाहिये; और, सब देशों के लोगों के लिये यह एक ही समान उपयोगी है। परन्तु यद्यपि आत्मौपम्यदृष्टि का और निष्कामकर्माचरण का यह सामान्य नीतितत्त्व जिन कर्मों को उपयोगी होता है वे कर्म इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति को कैसे प्राप्त होते हैं। इसे बतलाने के लिये ही उस समय में उपयुक्त होनेवाले सहज उदाहरण के नाते से गीता में चातुर्वर्ण्य का उल्लेख किया गया है और साथ साथ गुणकर्मविभाग के अनुसार समाजव्यवस्था की संक्षेप में उपपत्ति भी बतलाई है। परन्तु इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि यह चातुर्वर्ण्यव्यवस्था ही कुछ गीता का मुख्य भाग नहीं है। गीताशास्त्र का व्यापक सिद्धान्त यही है कि यदि कहीं चातुर्वर्ण्यव्यवस्था प्रचलित न हो अथवा वह किसी गिरी दशा में हो तो वहाँ भी तत्कालीन प्रचलित समाजव्यवस्था के अनुसार समाज के धारणपोषण के जो काम अपने हिस्से में आ पड़ें, उन्हें लोकसंग्रह के लिये धैर्य और उत्साह से तथा निष्कामबुद्धि से कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिये। क्योंकि मनुष्य का जन्म उसी काम के लिये हुआ है, न कि केवल सुखोपभोग के लिये। कुछ लोग गीता के नीतिधर्म को केवल चातुर्वर्ण्यमूलक समझते हैं; लेकिन उनकी यह समझ ठीक नहीं है। चाहे समाज हिन्दुओं का हो या म्लेच्छों का, चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, चाहे वह पूर्वी हो या पश्चिमी। इसमें सन्देह नहीं, कि यदि उस समाज में चातुर्वर्ण्यव्यवस्था प्रचलित हो तो उस व्यवस्था के अनुसार, या दूसरी समाजव्यवस्था जारी हो तो उस व्यवस्था के अनुसार जो काम अपने हिस्से में आ पड़े अथवा जिसे हम अपनी रुचि के अनुसार कर्तव्य समझकर एक बार स्वीकार कर लें वही अपना स्वधर्म हो जाता है। और गीता कहती है कि किसी भी कारण से इस धर्म को ऐन मौके पर छोड़ देना और दूसरे कामों में लग जाना धर्म की तथा सर्वभूतात्मैक्य की दृष्टि से निन्दनीय है। यही तात्पर्य "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" (गीता ३. ३५) इस गीतावचन का है — अर्थात् स्वधर्मपालन में [illegible] भी श्रेयस्कर है, परन्तु दूसरों का धर्म भयावह होता है। [illegible] न्याय के अनुसार [illegible] (जिन्होंने ब्राह्मण होकर भी [illegible]) रामशास्त्री ने यह उपदेश किया था [illegible] के अनुसार [illegible] करने में [illegible] समय [illegible] से ही तुम्हारा उभय लोक में

पहले ही कह आये हैं कि ईसा के मुँह से निकले हुए – 'हमारी जन्मदात्री* माता, हमारी कौन होती है? हमारे आसपास के ईश्वरभक्त ही हमारे माँ-बाप और बन्धु हैं' (मेथ्यू १२.४६–५०) – इस वाक्य में और 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' इस बृहदारण्यकोपनिषद् के संन्यासविषयक वचन में (बृ. ४.४.२२) बहुत कुछ समानता है। स्वयं बाइबल के ही इन वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि जैन और बौद्ध धर्मों के सदृश ईसाई धर्म भी आरम्भ में संन्यासप्रधान अर्थात् संसार का त्याग कर देने का उपदेश देनेवाला है, और ईसाई धर्म के इतिहास को देखने से भी यही मालूम होता है† कि ईसा के इस उपदेशानुसार ही पहले ईसाई धर्मोपदेशक वैराग्य से रहा करते थे – 'ईसा के भक्तों को द्रव्यसंचय न करके रहना चाहिये' (मेथ्यू १०.९–१५)। ईसाई धर्मोपदेशकों में तथा ईसा के भक्तों में गृहस्थधर्म से संसार में रहने की जो रीति पाई जाती है, वह बहुत दिनों के बाद होनेवाले सुधारों का फल है – वह मूल ईसाई धर्म का स्वरूप नहीं है। वर्तमान समय में भी शोपेनहर सरीखे विद्वान् यही प्रतिपादित करते हैं कि संसार दुःखमय होने के कारण त्याज्य है और पहले यह बतलाया जा चुका है कि ग्रीस देश में प्राचीन काल में यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि तत्त्वविचार में ही अपने जीवन को व्यतीत कर देना श्रेष्ठ है या लोकहित के लिये राजकीय मामलों में प्रयत्न करते रहना श्रेष्ठ है। सारांश यह है कि पश्चिमी लोगों का यह कर्मत्याग-पक्ष और हम लोगों का संन्यासमार्ग कई अंशों में एक ही है और इन मार्गों का समर्थन करने की पूर्वी और पश्चिमी पद्धति भी एक ही सी है। परन्तु आधुनिक पश्चिमी पण्डित कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता के जो कारण बतलाते हैं वे गीता में दिये गये प्रवृत्तिमार्ग के प्रतिपादन से भिन्न हैं। इस लिये अब उन दोनों के भेद को भी यहाँ पर अवश्य बतलाना चाहिये। पश्चिमी आधिभौतिक कर्मयोगियों का कहना है कि

* यह वाक्य संन्यासमार्गियों का हमेशा ही का उपदेश है। शंकराचार्य का 'का ते कान्ता कस्ते पुत्रः' यह श्लोक प्रसिद्ध ही है, और अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (६.४५) में यह वचन पाया जाता है कि बुद्ध के मुख से 'क्वाहं मातुः क्व सा मम' ऐसा उद्गार निकला था।

† See Paulsen's *System of Ethics* (Eng. trans.) Book I, Chap. 2 and 3, esp. pp. 89-97. "The new (Christian) converts seemed to renounce their family and country ... the gloomy and austere aspect, their abhorrence of the common business and pleasures of life, and their frequent predictions of impending calamities inspired the pagans with the apprehension of some danger which would arise from the new sect." *Historians' History of the World*, Vol. VI, p. 318. इसी तरह जर्मन कवि गटे ने अपने Faust (फौस्ट) नामक काव्य में कहा है:— "Thou shalt renounce! That is the eternal song which rings in every one's ears; which, our whole life-long every hour is hoarsely singing to us." (Faust, Part I, ll. 1195-1198). मूल ईसाई धर्म के संन्यासप्रधान होने के विषय में [illegible] विचार किया जा सकता है।

संसार के मनुष्यों का अथवा अधिकांश लोगों का अधिक सुख – अर्थात् ऐहिक सुख – ही इस जगत् में परमसाध्य है। अतएव सब लोगों के सुख के लिये प्रयत्न करते हुए उसी सुख में स्वयं मग्न हो जाना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। और इसकी पुष्टि के लिये उनमें से अधिकांश पण्डित यह प्रतिपादन भी करते हैं, कि संसार में दुःख की अपेक्षा सुख ही अधिक है। इस दृष्टि से देखने पर यही कहना पड़ता है कि पश्चिमी कर्ममार्गीय लोग 'सुखप्राप्ति की आशा से सांसारिक कर्म करने वाले' होते हैं और पश्चिमी कर्मत्यागमार्गीय लोग संसार से ऊबे हुए होते हैं तथा कदाचित् इसी कारण से उनको क्रमानुसार 'आशावादी' और 'निराशावादी' कहते हैं।* परन्तु भगवद्गीता में जिन निष्ठाओं का वर्णन है वे इनसे भिन्न हैं। चाहे स्वयं अपने लिये हो या परोपकार के लिये हो, कुछ भी हो; परन्तु जो मनुष्य ऐहिक विषयसुख पाने की लालसा से संसार के कर्मों में प्रवृत्त होता है उसकी साम्यबुद्धिरूप सात्त्विक वृत्ति में कुछ-न-कुछ बट्टा अवश्य लग जाता है। इसलिये गीता का यह उपदेश है कि संसार दुःखमय हो या सुखमय, सांसारिक कर्म जब छूटते ही नहीं तब उनके सुखदुःख का विचार करते रहने से कुछ लाभ नहीं होगा। चाहे सुख हो या दुःख। परन्तु मनुष्य का यही कर्तव्य है कि वह इस बात में अपना महद्भाग्य समझे, कि उसे नरदेह प्राप्त हुई है; और कर्मसृष्टि के इस अपरिहार्य व्यवहार में जो कुछ प्रसंगानुसार प्राप्त हो उसे अपने अन्तःकरण को निराश न करके इस न्याय अर्थात् साम्यबुद्धि से सहता रहे कि 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' (गीता २. ५६); एवं अपने अधिकारानुसार जो कुछ कर्म शास्त्रतः अपने हिस्से में आ पड़े उसे जीवनपर्यन्त (किसी के लिये नहीं, किन्तु संसार के धारणपोषण के लिये) निष्कामबुद्धि से करता रहे। गीताकाल में चातुर्वर्ण्यव्यवस्था जारी थी। इसीलिये बतलाया गया है कि ये सामाजिक कर्म चातुर्वर्ण्य के विभाग के अनुसार हरएक के हिस्से में आ पड़ते हैं; और अठारहवें अध्याय में यह भी बतलाया गया है कि ये भेद गुणकर्मविभाग से निष्पन्न होते हैं (गीता १८. ४१–४४)। परन्तु इससे किसी को यह न समझ लेना चाहिये कि गीता के नीतितत्त्व चातुर्वर्ण्यरूपी समाजव्यवस्था पर ही अवलम्बित हैं। यह बात महाभारतकार के भी ध्यान में पूर्णतया आ चुकी थी कि अहिंसादि नीतिधर्मों की व्याप्ति केवल चातुर्वर्ण्य के लिये ही नहीं है, किन्तु ये धर्म मनुष्यमात्र के लिये एक समान हैं।

---

* जेम्स सली (James Sully) ने अपने Pessimism नामक ग्रन्थ में Optimist और Pessimist [illegible] Optimist का अर्थ [illegible] Pessimist का अर्थ [illegible] Meliorism [illegible]

इसीलिये महाभारत में यह स्पष्ट रीति से कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्य के बाहर जिन अनार्य लोगों में ये धर्म प्रचलित हैं उन लोगों की भी रक्षा राजा को इन सामान्य धर्मों के अनुसार ही करनी चाहिये (शां. ६५. १३–२१)। अर्थात् गीता में कही गई नीति की उपपत्ति चातुर्वर्ण्यसरीखी किसी एक विशिष्ट समाजव्यवस्था पर अवलम्बित नहीं है किन्तु सर्वसामान्य आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर ही उसका प्रतिपादन किया गया है। गीता के नीतिधर्म का मुख्य तात्पर्य यही है कि जो कुछ कर्तव्यकर्म शास्त्रतः प्राप्त हो उसे निष्काम और आत्मौपम्यबुद्धि से करना चाहिये; और, सब देशों के लोगों के लिये यह एक ही समान उपयोगी है। परन्तु यद्यपि आत्मौपम्यदृष्टि का और निष्कामकर्माचरण का यह सामान्य नीतितत्त्व सिद्ध है, जिन कर्मों को उपयोगी होता है वे कर्म इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति को कैसे प्राप्त होते हैं। इसे बतलाने के लिये ही, उस समय में उपयुक्त होनेवाले सहज उदाहरण के नाते से गीता में चातुर्वर्ण्य का उल्लेख किया गया है; और साथ साथ गुणकर्मविभाग के अनुसार समाजव्यवस्था की संक्षेप में उपपत्ति भी बतलाई है। परन्तु इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि यह चातुर्वर्ण्यव्यवस्था ही कुछ गीता का मुख्य भाग नहीं है। गीताशास्त्र का व्यापक सिद्धान्त यही है कि यदि कहीं चातुर्वर्ण्यव्यवस्था प्रचलित न हो अथवा वह किसी गिरी दशा में हो तो वहाँ भी तत्कालीन प्रचलित समाजव्यवस्था के अनुसार समाज के धारणपोषण के जो काम अपने हिस्से में आ पड़ें उन्हें लोकसंग्रह के लिये धैर्य और उत्साह से तथा निष्कामबुद्धि से कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिये। क्योंकि मनुष्य का जन्म उसी काम के लिये हुआ है न कि केवल सुखोपभोग के लिये। कुछ लोग गीता के नीतिधर्म को केवल चातुर्वर्ण्यमूलक समझते हैं लेकिन उनकी यह समझ ठीक नहीं है। चाहे समाज हिन्दुओं का हो या म्लेच्छों का; चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन; चाहे वह पूर्वी हो या पश्चिमी। इसमें सन्देह नहीं, कि यदि उस समाज में चातुर्वर्ण्यव्यवस्था प्रचलित हो तो उस व्यवस्था के अनुसार या दूसरी समाजव्यवस्था जारी हो तो उस व्यवस्था के अनुसार जो काम अपने हिस्से में आ पड़े अथवा जिसे हम अपनी रुचि के अनुसार कर्तव्य समझकर एक बार स्वीकृत कर लें वही अपना स्वधर्म हो जाता है। और गीता कहती है कि किसी भी कारण से इस धर्म को ऐन मौके पर छोड़ देना और दूसरे कामों में लग जाना धर्म की तथा सर्वभूतहित की दृष्टि से निन्दनीय है। यही तात्पर्य "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" (गीता ३. ३५) इस गीतावचन का है—अर्थात् स्वधर्मपालन में यदि मृत्यु हो जाय तो वह भी श्रेयस्कर है परन्तु दूसरों का धर्म भयावह होता है। इसी न्याय के अनुसार माधवराव पेशवा को (जिन्होंने ब्राह्मण होकर भी तत्कालीन देशकालानुरूप क्षात्रधर्म का स्वीकार किया था) रामशास्त्री ने यह उपदेश किया था कि "स्नानसन्ध्या और पूजापाठ में सारा समय व्यतीत न कर क्षात्रधर्म के अनुसार प्रजा की रक्षा करने में अपना सब समय लगा देने से ही तुम्हारा उभय लोक में

कल्याण होगा!' यह बात महाभारत इतिहास में प्रसिद्ध है। गीता का मुख्य उपदेश यह बतलाने का नहीं है कि समाजधारणा के लिये कैसी व्यवस्था होनी चाहिये। गीताशास्त्र का तात्पर्य यही है कि समाजव्यवस्था चाहे कैसी भी हो उसमें जो यथाधिकार कर्म तुम्हारे हिस्से में पड़ जायँ उन्हें उत्साहपूर्वक करके सर्वभूतहितरूपी आत्मश्रेय की सिद्धि करो। इस तरह से कर्तव्य मानकर गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ पुरुष जो कर्म किया करते हैं वे स्वभाव से ही लोककल्याणकारक हुआ करते हैं। गीताप्रतिपादित इस कर्मयोग में और पाश्चात्य आधिभौतिक कर्ममार्ग में यह एक बड़ा भारी भेद है कि गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञों के मन में यह अभिमानबुद्धि रहती ही नहीं कि मैं लोककल्याण अपने कर्मों के द्वारा करता हूँ; बल्कि उनके देहस्वभाव ही में साम्यबुद्धि आ जाती है और इसी से वे लोग अपने समय की समाजव्यवस्था के अनुसार केवल कर्तव्य समझ कर जो जो कर्म किया करते हैं वे सब स्वभावतः लोककल्याणकारक हुआ करते हैं; और, आधुनिक पाश्चात्य नीतिशास्त्रकार संसार को सुखमय मानकर कहा करते हैं कि इस संसार में सुख की प्राप्ति के लिये सब लोगों को लोककल्याण का काम करना चाहिये।

कुछ सभी पाश्चात्य आधुनिक कर्मयोगी संसार को सुखमय नहीं मानते। शोपेनहर के समान संसार को दुःखप्रधान माननेवाले पण्डित भी वहाँ हैं; वे यह प्रतिपादन करते हैं कि यथाशक्ति लोगों के दुःख का निवारण करना ज्ञानी पुरुषों का कर्तव्य है। इसलिये संसार को न छोड़ते हुए उनको ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिये जिससे लोगों का दुःख कम होता जावे। अब तो पश्चिमी देशों में दुःखनिवारणेच्छु कर्मयोगियों का एक अलग पन्थ ही हो गया है। इस पन्थ का गीता के कर्ममार्ग से बहुतकुछ साम्य है। जिस स्थान पर महाभारत में कहा गया है कि *'सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः'* — अर्थात् संसार में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है; वहीं पर मनु ने बृहस्पति से तथा नारद ने शुक से कहा है —

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोच्यन्प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम्॥

'जो दुःख सार्वजनिक है उसके लिये शोक करते रहना उचित नहीं। उसका रोना न रोकर उसके प्रतिकारार्थ (ज्ञानी पुरुषों को) कुछ उपाय करना चाहिये' (शां. २०५. ६ और ३३०)। इससे प्रकट होता है कि यह तत्त्व महाभारतकार को भी मान्य है कि संसार के दुःखमय होने पर भी उसमें सब लोगों को होनेवाले दुःख को कम करने का उद्योग चतुर करते हैं। परन्तु यह कुछ हमारा सिद्धान्त-पक्ष नहीं है। सांसारिक सुखों की अपेक्षा आत्मबुद्धिप्रसाद से होनेवाले सुख को अधिक महत्त्व देकर, इस आत्मबुद्धिप्रसादरूपी सुख का पूरा अनुभव करते हुए केवल कर्तव्य समझकर ही (अर्थात् ऐसी राजस अभिमानबुद्धि मन में न रखकर, कि मैं लोगों का दुःख कम करूँगा) सब व्यावहारिक कर्मों को करने का उपदेश देनेवाले गीता के कर्मयोग की

में संन्यास लेने की बुद्धि मन में जागृत हुआ करती थी — फिर चाहे वे लोग सचमुच संन्यास लें या न लें। इस लिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि संन्यासमार्ग नया है। परन्तु स्वभाववैचित्र्यादि कारणों से ये दोनों मार्ग यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही प्रचलित हैं, तथापि इस बात की सत्यता में कोई बाधा नहीं, कि वैदिक काल में मीमांसकों के कर्ममार्ग की ही लोगों में विशेष प्रबलता थी, और कौरव-पाण्डवों के समय में तो कर्मयोग ने संन्यासमार्ग को पीछे हटा दिया था। कारण यह है, कि हमारे धर्मशास्त्रकारों ने साफ़ कह दिया है, कि कौरव-पाण्डवों के काल के अनन्तर अर्थात् कलियुग में संन्यासधर्म निषिद्ध है। और जब कि धर्मशास्त्र "आचारप्रभवो धर्मः" (म. भा. अनु. १४९. १३७; मनु. १. १०८) इस वचन के अनुसार प्रायः आचार ही का अनुवाद हुआ करता है, तब सहज ही सिद्ध होता है कि धर्मशास्त्रकारों के उक्त निषेध करने के पहले ही लोकाचार में संन्यासमार्ग गौण *हो गया होगा।* परन्तु इस प्रकार यदि कर्मयोग की पहले प्रबलता थी और आखिर* कलियुग में संन्यासधर्म को निषिद्ध मानने तक नौबत पहुँच चुकी थी, तो अब यहाँ यही स्वाभाविक शङ्का होती है, कि इस तेजी से बढ़ते हुए ज्ञानयुक्त कर्मयोग के ह्रास का तथा वर्तमान समय के भक्तिमार्ग में भी संन्यासपक्ष को ही श्रेष्ठ माने जाने का कारण क्या है? कुछ लोग कहते हैं कि यह परिवर्तन श्रीमच्छङ्कराचार्य के द्वारा हुआ। परन्तु इतिहास को देखने से इस उपपत्ति में सत्यता नहीं दीख पड़ती। पहले प्रकरण में हम कह आये हैं कि श्रीशङ्कराचार्य के सम्प्रदाय के दो विभाग हैं — (१) मायावादात्मक अद्वैत ज्ञान, और (२) कर्मसंन्यासधर्म। अब यद्यपि अद्वैत-ब्रह्मज्ञान के साथ साथ संन्यासधर्म का भी प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है, तो भी इन दोनों का कोई नित्यसम्बन्ध नहीं है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता, कि अद्वैत वेदान्तमत को स्वीकार करने पर संन्यासमार्ग को भी अवश्य स्वीकार करना ही चाहिये। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य प्रभृति से अद्वैतवेदान्त की पूरी शिक्षा पाये हुए जनक आदिक स्वयं कर्मयोगी थे। यही क्यों, बल्कि उपनिषदों का अद्वैत-ब्रह्मज्ञान ही गीता का प्रतिपाद्य विषय होने पर भी, गीता में इसी ज्ञान के आधार से संन्यास के बदले कर्मयोग का ही समर्थन किया गया है। इसलिये पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिये, कि शाङ्करसम्प्रदाय पर संन्यासधर्म को उत्तेजन देने का जो आक्षेप किया जाता है, वह इस सम्प्रदाय के अद्वैत ज्ञान को उपयुक्त न हो कर उसके *अन्तर्गत केवल संन्यासधर्म को ही उपयोगी हो सकता है। तथापि श्रीशङ्कराचार्य ने* इस संन्यासमार्ग को नये सिरे से नहीं चलाया है; तथापि कलियुग में निषिद्ध या वर्जित माने जाने के कारण उसमें जो गौणता आ गई थी, उसे उन्होंने अवश्य दूर किया है। परन्तु यदि इसके भी पहले अन्य कारणों से लोगों में संन्यासमार्ग की चाह

---

* पृष्ठ ३४८–४९ की टिप्पणी में दिये गये वचनों को देखो।

हुए न होती तो इसमें सन्देह है कि आचार का संन्यासप्रधान मत इतना अधिक फैलने पाता या नहीं। ईसा ने कहा है सही कि यदि कोई एक गाल में थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो (मथ्यू. ५. ३९)। परन्तु यदि विचार किया जाय कि इस मत के अनुयायी यूरोप के ईसाई राष्ट्रों में कितने हैं तो यही दीख पड़ेगा कि किसी बात के प्रचलित होने के लिये केवल इतना ही बस नहीं है कि कोई धर्मोपदेशक उसे अच्छी कह दे; बल्कि ऐसा होने के लिये – अर्थात् लोगों के मन का झुकाव उधर होने लिये – उस उपदेश के पहले ही कुछ सबल कारण उपस्थित हो जाया करते हैं और तब फिर लोकाचार में धीरे धीरे परिवर्तन होकर उसी के अनुसार धर्मनियमों में भी परिवर्तन होने लगता है। 'आचार धर्म का मूल है' – इस स्मृतिवचन का तात्पर्य भी यही है। गत शताब्दी में शोपेनहर ने जर्मनी में संन्यासमार्ग का समर्थन किया था। परन्तु उसका बोया हुआ बीज वहाँ अब तक अच्छी तरह से जमने नहीं पाया और इस समय तो निट्शे के ही मतों की वहाँ धूम मची हुई है। हमारे यहाँ भी देखने से यही मालूम होगा कि संन्यासमार्ग *श्रीशङ्कराचार्य के पहले अर्थात् वैदिककाल में ही यद्यपि जारी हो गया था* तो भी वह उस समय कर्मयोग से आगे अपना कदम नहीं बढ़ा सका था। स्मृतिग्रन्थों में अन्त में संन्यास लेना को कहा गया है सही; परन्तु उसमें भी पूर्वाश्रमों के कर्तव्य पालन का उपदेश किया ही गया है। श्रीशङ्कराचार्य के ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय कर्मसंन्यास-पक्ष भले ही हो परन्तु स्वयं उनके जीवनचरित से ही यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञानी पुरुषों का तथा संन्यासियों को धर्मसंस्थापना के समान लोकसंग्रह के काम यथाधिकार करने के लिये उनकी ओर से कुछ मनाही नहीं थी (वे. सू. शां. भा. ३. ३. ३२)। संन्यासमार्ग की प्रबलता का कारण यदि शङ्कराचार्य का स्मार्त सम्प्रदाय ही होता तो आधुनिक भागवतसम्प्रदाय के रामानुजाचार्य अपने गीताभाष्य में शङ्कराचार्य की ही नाई कर्मयोग को गौण नहीं मानते। परन्तु जो कर्मयोग एक बार तेजी से जारी था वह जब कि भागवतसम्प्रदाय में भी निवृत्तिप्रधान भक्ति से पीछे हटा दिया गया है तब तो यही कहना पड़ता है, कि उसके पिछड़ जाने के लिये कुछ ऐसे कारण अवश्य उपस्थित हुए होंगे जो सभी सम्प्रदायों को अथवा सारे देश को एक ही समान लागू हो सकें। हमारे मतानुसार इनमें से पहला और प्रधान कारण जैन एवं बौद्ध धर्मों का उदय तथा प्रचार है। क्योंकि इन्हीं दोनों धर्मों ने चारों वर्णों के लिये संन्यासमार्ग का दरवाजा खोल दिया था और इसीलिये क्षत्रियवर्ण में भी संन्यास धर्म का विशेष उत्कर्ष होने लगा था। परन्तु, यद्यपि आरम्भ में बुद्ध ने कर्मरहित संन्यासमार्ग का ही उपदेश किया था तथापि गीता के कर्मयोगानुसार बौद्धधर्म में शीघ्र ही यह सुधार किया गया कि बौद्ध यतियों को अकेले जङ्गल में जा कर एक कोने में नहीं पड़े रहना चाहिये बल्कि उनको धर्मप्रचार तथा परोपकार के अन्य काम करने के लिये सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये (देखो परिशिष्ट प्रकरण)। इतिहास-ग्रन्थों

से यह बात प्रकट है कि इसी सुधार के कारण उद्योगी बौद्धधर्मीय यति लोगों के संघ उत्तर में तिब्बत, पूर्व में ब्रह्मदेश, चीन और जापान, दक्षिण में लंका और पश्चिम में तुर्किस्थान तथा उससे लगे हुए ग्रीस इत्यादि यूरोप के प्रान्तों तक जा पहुँचे थे। शालिवाहन शक के लगभग छः-सात सौ वर्ष पहले जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तकों का जन्म हुआ था और श्रीशंकराचार्य का जन्म शालिवाहन शक के छः सौ वर्ष अनन्तर हुआ। इस बीच में बौद्ध यतियों के संघों का अपूर्व वैभव सब लोग अपनी आँखों के सामने देख रहे थे। इसी लिये यतिधर्म के विषय में उन लोगों में एक प्रकार की चाह तथा आदरबुद्धि शंकराचार्य के पहले के पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी। शंकराचार्य ने यद्यपि जैन और बौद्ध धर्मों का खण्डन किया है, तथापि यतिधर्म के बारे में लोगों में जो आदरबुद्धि उत्पन्न हो चुकी थी उसका उन्होंने नाश नहीं किया। किन्तु उसी को वैदिक रूप दे दिया और बौद्ध धर्म के बदले वैदिकधर्म की संस्थापना करने के लिये उन्होंने बहुत से प्रयत्नशील वैदिक संन्यासी तैयार किये। ये संन्यासी ब्रह्मचर्यव्रत से रहते थे और संन्यास का दण्ड तथा गेरुआ वस्त्र भी धारण करते थे; परन्तु अपने गुरु के समान इन लोगों ने भी वैदिकधर्म की स्थापना का काम आगे जारी रखा था। यति-संघ की इस नई जोड़ी (वैदिक संन्यासियों के संघ) को देख, उस समय अनेक लोगों के मन में शंका होने लगी थी कि शांकरमत में और बौद्धमत में यदि कुछ अन्तर है तो क्या है। और प्रतीत होता है कि प्रायः इसी शंका को दूर करने के लिये छान्दोग्योपनिषद् के भाष्य में आचार्य ने लिखा है कि बौद्ध यतिधर्म और सांख्य यतिधर्म दोनों वेदबाह्य तथा त्याज्य हैं। एवं हमारा संन्यासधर्म वेद के आधार से प्रवृत्त किया गया है, इसलिये यही ग्राह्य है (छां. शां. भा. २. २३. १)। जो हो; यह निर्विवाद सिद्ध है कि कलियुग में पहले पहल जैन और बौद्ध लोगों ने ही यतिधर्म का प्रचार किया था। परन्तु बौद्ध यतियों ने भी धर्मप्रसार तथा लोकसंग्रह के लिये आगे चलकर उद्योग करना शुरू कर दिया था। और इतिहास से मालूम होता है कि इनको हराने के लिये श्रीशंकराचार्य ने जो वैदिक यतिसंघ तैयार किये थे, उन्होंने भी कर्म को बिलकुल न त्याग कर अपने उद्योग से ही वैदिक धर्म की फिर से स्थापना की। अनन्तर शीघ्र ही इस देश पर मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होने लगीं; और जब इस परचक्र से पराक्रमपूर्वक रक्षा करनेवाले तथा देश के धारण-पोषण करनेवाले क्षत्रिय राजाओं की कर्तृत्वशक्ति का मुसलमानों के जमाने में ह्रास होने लगा, तब संन्यास और कर्मयोग में से संन्यास-मार्ग ही सांसारिक लोगों को अधिकाधिक ग्राह्य होने लगा होगा। क्योंकि 'राम राम' कहते हुए चुप बैठे रहने का एकदेशीय मार्ग प्राचीन समय में ही कुछ लोगों की दृष्टि में श्रेष्ठ समझा जाता था, और अब तो तत्कालीन बाह्य परिस्थिति के लिये भी वही मार्ग विशेष सुभीते का हो गया था। इसके पहले यह स्थिति नहीं थी। क्योंकि शूद्रकमलाकर में कहे हुए विष्णुपुराण के निम्न श्लोक से भी यही मालूम होता है —

अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणः पापा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥ *

अर्थात् अपने (स्वधर्मोक्त) कर्मों को छोड़ (केवल) कृष्ण कृष्ण कहते रहनेवाले लोग हरि के द्वेषी और पापी हैं। क्योंकि स्वयं हरि का जन्म भी तो धर्म की रक्षा करने के लिये ही होता है। सच पूछो तो ये लोग न तो संन्यासनिष्ठ हैं और न कर्मयोगी। क्योंकि ये लोग संन्यासियों के समान ज्ञान अथवा तीव्र वैराग्य से सब सांसारिक कर्मों को नहीं छोड़ते हैं और संसार में रह कर भी कर्मयोग के अनुसार अपने हिस्से के शास्त्रोक्त कर्तव्य का पालन निष्कामबुद्धि से नहीं करते। इसलिये इन वाचिक संन्यासियों की गणना एक निराली ही तृतीय निष्ठा में होनी चाहिये जिसका वर्णन गीता में नहीं किया गया है। चाहे किसी भी कारण से हो जब लोग इस तरह से तृतीय प्रकृति के बन जाते हैं, तब आखिर धर्म का भी नाश हुए बिना नहीं रह सकता। ईरान देश से पारसी धर्म के हटाये जाने के लिये भी ऐसी ही स्थिति कारण हुई थी और इसी से हिन्दुस्थान में भी वैदिक धर्म के समूल विनाश्यति होने का समय आ गया था। परन्तु बौद्धधर्म के ह्रास के बाद वेदान्त के साथ ही गीता के भागवतधर्म का जो पुनरुज्जीवन होने लगा था उसके कारण हमारे यहाँ यह दुष्परिणाम नहीं हो सका। जब कि दौलताबाद का हिन्दू राज्य मुसल्मानों से नष्ट भ्रष्ट नहीं किया गया था उसके कुछ वर्ष पूर्व ही श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने हमारे सौभाग्य से भगवद्गीता को मराठी भाषा में अलंकृत कर ब्रह्मविद्या को महाराष्ट्र प्रान्त में अति सुगम कर दिया था और हिन्दुस्थान के अन्य प्रान्तों में भी इसी समय अनेक साधुसन्तों ने गीता के भक्तिमार्ग का उपदेश जारी कर रखा था। यवन ब्राह्मण-चाण्डाल इत्यादिकों को एक समान और ज्ञानमूलक गीता धर्म का जाज्वल्य उपदेश – चाहे वह वैराग्ययुक्त भक्ति के रूप में ही क्यों न हो – एक ही समय चारों ओर लगातार जारी था इसलिये हिन्दुधर्म का पूरा ह्रास होने का कोई भय नहीं रहा। इतना ही नहीं बल्कि उसका कुछ कुछ प्रभाव मुसल्मानी धर्म पर भी जमने लगा। कबीर जैसे भक्त इस देश की सन्तमण्डली में मान्य हो गये और औरङ्गजेब के बड़े भाई शाहजादा दारा ने इसी समय अपनी देखरेख में उपनिषदों का फारसी में भाषान्तर कराया। यदि वैदिक भक्तिधर्म अध्यात्मज्ञान को छोड़ केवल तान्त्रिक श्रद्धा के ही आधार पर स्थापित हुआ होता तो इस बात का सन्देह है कि उसमें यह विलक्षण सामर्थ्य रह सकता या नहीं। परन्तु भागवतधर्म का यह आधुनिक पुनरुज्जीवन मुसल्मानों के ही जमाने में हुआ है। अतएव यह भी अनेकांशों में केवल भक्तिविषयक अर्थात् एकपक्षीय हो गया है; और मूल भागवतधर्म

---

* यह श्लोक के अर्थ हुए विष्णुपुराण में यह श्लोक हमें नहीं मिला। परन्तु उसका उपयोग कमलाकर भट्ट सरीखे प्रामाणिक ग्रन्थकार ने किया है, इससे यह निराधार भी नहीं कहा जा सकता।

के कर्मयोग का जो स्वतन्त्र महत्त्व एक बार घट गया था, वह उसे फिर प्राप्त नहीं हुआ। फलतः इस समय के भागवतधर्मीय सन्तजन पण्डित और आचार्य लोग भी यह कहने लगे कि कर्मयोग भक्तिमार्ग का अङ्ग या साधन है। उस समय में प्रचलित इस सर्वसाधारण मत या समझ के विरुद्ध केवल श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने अपने 'दासबोध' ग्रन्थ में विवेचन किया है। कर्मयोग के सच्चे और वास्तविक महत्त्व का वर्णन शुद्ध तथा प्रासादिक मराठी भाषा में जिसे देखना हो, उसे समर्थकृत इस ग्रन्थ को – अवश्य पढ़ लेना चाहिये।* शिवाजी महाराज को श्रीसमर्थ रामदासस्वामी का ही उपदेश मिला था और मराठों के जमाने में जब कर्मयोग के तत्त्वों का समझने तथा उनके प्रचार करने की आवश्यकता मालूम होने लगी तब शाण्डिल्यसूत्रों तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य के बदले महाभारत का गद्यात्मक भाषान्तर होने लगा, एवं 'बखर' नामक ऐतिहासिक लेखों के रूप में उसका अध्ययन शुरू हो गया। ये भाषान्तर तंजोर के पुस्तकालय में आज तक रखे हुए हैं। यदि यही कार्यक्रम बहुत समय तक अबाधित रीति से चलता रहता तो गीता की सब एकपक्षीय और संकुचित टीकाओं का महत्त्व घट जाता और धर्मज्ञान के अनुसार एक बार फिर भी यह बात सब लोगों के ध्यान में आ जाती कि महाभारत की सारी नीति का सार गीताप्रतिपादित कर्मयोग में कह दिया गया है। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से कर्मयोग का यह पुनरुज्जीवन बहुत दिनों तक नहीं ठहर सका।

हिन्दुस्थान के धार्मिक इतिहास का विवेचन करने का यह स्थान नहीं है। ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से पाठकों को मालूम हो गया होगा, कि गीताधर्म में जो एक प्रकार की सजीवता, तेज या सामर्थ्य है वह संन्यासधर्म के उस प्रभाव से भी बिलकुल नष्ट नहीं होने पाया कि जो मध्यकाल में दैववशात् हो गया है। तीसरे प्रकरण में यह बतला चुके हैं कि धर्म शब्द का धात्वर्थ 'धारणाद्धर्म' है और सामान्यतः उसके ये दो भेद होते हैं – एक 'पारलौकिक' और दूसरा 'व्यावहारिक' अथवा 'मोक्षधर्म' और 'नीतिधर्म'। चाहे वैदिक धर्म को लीजिये, बौद्धधर्म को लीजिये अथवा ईसाई धर्म को लीजिये, सब का मुख्य हेतु यही है कि जगत् का धारण-पोषण हो; और मनुष्य को अन्त में सद्गति मिले। इसीलिये प्रत्येक धर्म में मोक्षधर्म के साथ ही साथ व्यावहारिक धर्म-अधर्म का भी विवेचन थोड़ा-बहुत किया गया है। यही नहीं बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में यह भेद ही नहीं किया जाता था कि मोक्षधर्म और व्यावहारिक धर्म भिन्न भिन्न हैं। क्योंकि उस समय सब लोगों की यही धारणा थी कि परलोक में सद्गति मिलने के

* हिन्दी [illegible] पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि [illegible] श्रीसमर्थरामदासस्वामीकृत इस 'दासबोध' नामक मराठी ग्रन्थ के [illegible] में [illegible] क्योंकि इसका [illegible] तथा [illegible] अनुवाद हिन्दी में भी हो चुका है [illegible] हिन्दी [illegible] से मिल सकता है।

लिये इस लोक में भी हमारा आचरण शुद्ध ही होना चाहिये। ये लोग गीता के कथनानुसार यही मानते थे कि पारलौकिक तथा सांसारिक कल्याण की जड़ भी एक ही है। परन्तु आधिभौतिक ज्ञान का प्रसार होने पर आजकल पश्चिमी देशों में यह धारणा स्थिर न रह सकी और इस बात का विचार होने लगा कि मोक्षधर्मरहित नीति की – अर्थात् जिन नियमों से जगत् का धारणपोषण हुआ करता है उन नियमों की – उपपत्ति बतलाई जा सकती है या नहीं; और फलतः केवल आधिभौतिक अर्थात् दृश्य या व्यक्त आधार पर ही समाजधारणाशास्त्र की रचना होने लगी है। इस पर प्रश्न होता है कि केवल व्यक्त से ही मनुष्य का निर्वाह कैसे हो सकेगा? पेड़, मनुष्य इत्यादि जातिवाचक शब्दों से भी तो अव्यक्त अर्थ ही प्रकट होता है न। आम का पेड़ या गुलाब का पेड़ एक विशिष्ट दृश्यवस्तु है सही; परन्तु पेड़ सामान्य शब्द किसी भी दृश्य अथवा व्यक्त वस्तु को नहीं दिखला सकता। इसी तरह हमारा सब व्यवहार हो रहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि मन में अव्यक्तसम्बन्धी कल्पना की जागृति के लिये पहले कुछ-न-कुछ व्यक्त वस्तु आँखों के सामने अवश्य होनी चाहिये। परन्तु इसे भी *निश्चय ही जानना चाहिये* कि व्यक्त ही कुछ अन्तिम अवस्था नहीं है और बिना अव्यक्त का आश्रय लिये न तो हम एक कदम आगे बढ़ सकते हैं और न एक वाक्य ही पूरा कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में अध्यात्मदृष्टि से सर्वभूतात्मैक्यरूप परब्रह्म की अव्यक्त कल्पना को नीतिशास्त्र का आधार यदि न मानें तो भी उसके स्थान में 'सब मानवजाति' को – अर्थात् आँखों से न दिखनेवाली अतएव अव्यक्त वस्तु को – ही अन्त में देवता के समान पूजनीय मानना पड़ता है। आधिभौतिक पण्डितों का कथन है कि सर्व मानवजाति में पूर्व की तथा भविष्यत् की पीढ़ियों का समावेश कर देने से अमृतत्वविषयक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट हो जाना चाहिये। और अब तो प्रायः वे सभी सच्चे हृदय से यही उपदेश करने लग गये हैं कि इस (मानवजातिरूपी) बड़े देवता की प्रेमपूर्वक अनन्यभाव से उपासना करना, उसकी सेवा में अपनी समस्त आयु को बिता देना तथा उसके लिये अपने सब स्वार्थों को तिलाञ्जली दे देना ही प्रत्येक मनुष्य का इस संसार में परम कर्तव्य है। फ्रेन्च पण्डित कोन्ट द्वारा प्रतिपादित धर्म का सार यही है और इसी धर्म को अपने ग्रन्थ में उसने 'सकल मानवजातिधर्म' या संक्षेप में 'मानवधर्म' कहा है।* आधुनिक जर्मन पण्डित निट्शे का भी यही हाल है। उसने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि उन्नीसवीं सदी

---

* कोन्ट ने अपने धर्म का Religion of Humanity नाम रखा है। उसका विस्तृत विवेचन कोन्ट के A System of Positive Polity (Eng. trans. in four Vols.) नामक ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में इस बात की उत्तम चर्चा की गई है कि केवल आधिभौतिक दृष्टि से भी समाजधारणा किस तरह की जा सकती है।

में 'परमेश्वर मर गया है' और अध्यात्मशास्त्र थोथा झगड़ा है। इतना होने पर भी उसने अपने सभी ग्रन्थों में आधिभौतिक दृष्टि से कर्मविपाक तथा पुनर्जन्म को मंजूर करके प्रतिपादन किया है कि हम ऐसा करना चाहिये जो जन्मजन्मान्तरों में भी किया जा सके। और समाज की इस प्रकार व्यवस्था होनी चाहिये कि जिससे भविष्यत् में ऐसे मनुष्यप्राणी पैदा हों कि जिनकी सब मनोवृत्तियाँ अत्यन्त विकसित होकर पूर्णावस्था में पहुँच जावें — क्योंकि इस संसार में मनुष्यमात्र का परमकर्तव्य और परमसाध्य यही है। इससे स्पष्ट है कि जो लोग अध्यात्मशास्त्र को नहीं मानते उन्हें भी कर्म-अकर्म का विवेचन करने के लिये कुछ-न-कुछ परमसाध्य अवश्य मानना पड़ता है। और यह साध्य एक प्रकार से अव्यक्त ही होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि आधिभौतिक नीतिशास्त्रों के ये दोनों ध्येय हैं — (१) सब मानव जातिरूप महादेव की उपासना करके सब मनुष्यों का हित करना चाहिये और ( ) ऐसा कर्म करना चाहिये कि जिससे भविष्यत् में अत्यन्त पूर्णावस्था में पहुँचा हुआ मनुष्यप्राणी उत्पन्न हो सके तथापि जिन लोगों को इन दोनों ध्येयों का उपदेश किया जाता है उनकी दृष्टि से वे अगोचर या अव्यक्त ही बने रहते हैं। कान्ट अथवा निट्शे का यह उपदेश ईसाई धर्म सरीखे तत्त्वज्ञानरहित केवल आधिदैवत भक्तिमार्ग का विरोधी भले ही हो परन्तु जिस धर्म-अधर्म-शास्त्र का अथवा नीतिशास्त्र का परमध्येय अध्यात्मदृष्टि से सर्वभूतात्मैक्यज्ञानरूप साम्य की या कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ की पूर्णावस्था की नींव पर स्थापित हुआ है उसके पेट में सब आधिभौतिक साध्यों का विरोधरहित समावेश सहज ही में हो जाता है। इससे कभी इस बात की आशङ्का नहीं हो सकती कि अध्यात्मज्ञान से पवित्र किया गया वैदिक धर्म उक्त उपदेश से क्षीण हो जावेगा। अब प्रश्न यह है कि यदि अव्यक्त उपदेश को ही परमसाध्य मानना पड़ता है तो वह सिर्फ मानवजाति के लिये ही क्यों माना जाय? अर्थात् वह मर्यादित या संकुचित क्यों कर दिया जाय? पूर्णावस्था को ही जब परमसाध्य मानना है तो उसमें ऐसे आधिभौतिक साध्य की अपेक्षा — जानवर और मनुष्य दोनों के लिये समान हो — अधिकता ही क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर देते समय अध्यात्मदृष्टि में निष्पन्न होनेवाले समस्त चराचर सृष्टि के एक अनिर्वाच्य परमतत्त्व की ही शरण में आखिर जाना पड़ता है। अर्वाचीन काल में आधिभौतिक शास्त्रों की अभूतपूर्व उन्नति हुई है जिससे मनुष्य का दृश्यसृष्टिविषयक ज्ञान पूर्वकाल की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक बढ़ गया है। और यह बात भी निर्विवाद सिद्ध है कि 'जैसे को तैसा' इस नियम के अनुसार जो प्राचीन राष्ट्र इस आधिभौतिक ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर लेगा उसका सुधरे हुए नये पाश्चात्य राष्ट्रों के सामने टिकना असम्भव है। परन्तु आधिभौतिक शास्त्रों की चाहे जितनी वृद्धि क्यों न हो जाय यह अवश्य ही कहना होगा कि जगत् के मूलतत्त्व को समझ लेने की मनुष्य मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति केवल आधिभौतिक वाद से कभी पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो सकती। केवल व्यक्तसृष्टि

के ज्ञान से सब बातों का निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिये स्पेन्सर सरीखे उत्क्रान्ति वादी भी स्पष्टतया स्वीकार करते हैं, कि नामरूपात्मक दृश्यसृष्टि की जड़ में कुछ अव्यक्त तत्त्व अवश्य ही होगा। परन्तु उनका यह कहना है कि इस नित्यतत्त्व के स्वरूप को समझ लेना सम्भव नहीं है। इसलिये इसके आधार से किसी भी शास्त्र की उपपत्ति नहीं बतलाई जा सकती। जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट भी अव्यक्तसृष्टितत्त्व की अज्ञेयता को स्वीकार करता है; तथापि उसका यह मत है, कि नीतिशास्त्र की उपपत्ति इसी अगम्य तत्त्व के आधार पर बतलाई जानी चाहिये। शोपेनहर इससे भी आगे बढ़कर प्रतिपादन करता है कि यह अगम्य तत्त्व वासनास्वरूपी है। और नीतिशास्त्र-सम्बन्धी अन्ग्रेज ग्रन्थकार ग्रीन का मत है कि यही सृष्टितत्त्व आत्मा के रूप में अंशतः मनुष्य के शरीर में प्रादुर्भूत हुआ है। गीता तो स्पष्ट रीति से कहती है कि "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"। हमारे उपनिषत्कारों का यही सिद्धान्त है कि जगत् का आधारभूत यह अव्यक्ततत्त्व नित्य है, एक है, स्वतन्त्र है, आत्मरूपी है – बस; इससे अधिक इसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता। और इस बात में सन्देह है कि उक्त सिद्धान्त से भी आगे मानवी ज्ञान की गति कभी बढ़ेगी या नहीं। क्योंकि जगत् का आधारभूत अव्यक्ततत्त्व इन्द्रियों से अगोचर अर्थात् निर्गुण है। इसलिये उसका वर्णन गुण, वस्तु, या क्रिया दिखानेवाले किसी भी शब्द से नहीं हो सकता और इसीलिये उसे 'अज्ञेय' कहते हैं। परन्तु अव्यक्त-सृष्टितत्त्व का जो ज्ञान हमें हुआ करता है, वह यद्यपि शब्दों से अधिक न भी बतलाया जा सके, और इसलिये देखने में यद्यपि वह अल्पसा दीख पड़े, तथापि वही मानवी ज्ञान का सर्वस्व है; और इसीलिये लौकिक नीतिमत्ता की उपपत्ति भी उसी के आधार से बतलाई जानी चाहिये। एवं गीता में किये गये विवेचन से साफ़ मालूम हो जाता है, कि ऐसी उपपत्ति उचित रीति से बतलाने के लिये कुछ भी अड़चन नहीं हो सकती। दृश्यसृष्टि के हजारों व्यवहार किस पद्धति से चलाये जावें – उदाहरणार्थ व्यापार कैसे करना चाहिये, लड़ाई कैसे जीतना चाहिये, रोगी को कौन-सी औषधि किस समय दी जावे, सूर्यचन्द्रादिकों की दूरी को कैसे जानना चाहिये – इसे भली भाँति समझने के लिये हमेशा नामरूपात्मक दृश्यसृष्टि के ज्ञान की ही आवश्यकता हुआ करेगी। इसमें कुछ सन्देह भी नहीं, कि इन सब लौकिक व्यवहारों को अधिकाधिक कुशलता से करने के लिये नामरूपात्मक आधिभौतिक शास्त्रों का अधिकाधिक अध्ययन अवश्य करना चाहिये। परन्तु यह कुछ गीता का विषय नहीं है। गीता का मुख्य विषय तो यही है कि अध्यात्मदृष्टि से मनुष्य की परम श्रेष्ठ अवस्था को बतला कर उसके आधार से यह निर्णय कर दिया जावे कि कर्म अकर्मरूप नीतिधर्म का मूलतत्त्व क्या है। इनमें से पहले यानी आध्यात्मिक परमसाध्य (मोक्ष) के बारे में आधिभौतिक पन्थ उदासीन भले ही रहे; परन्तु दूसरे विषय का – अर्थात् केवल नीतिधर्म के मूलतत्त्वों का – निर्णय करने के लिये भी आधिभौतिक पक्ष असमर्थ है। और पिछले प्रकरणों में हम

अवश्य सूझ है कि प्रकृति की स्वतन्त्रता, नीतिधर्म की नित्यता तथा अमृतत्व प्राप्त कर लेने की मनुष्य के मन की स्वाभाविक इच्छा, इत्यादि गहन विषयों का निर्णय आधिभौतिक पन्थ से नहीं हो सकता — इसके लिये आखिर हमें आत्मानात्मविचार में प्रवेश करना ही पड़ता है। परन्तु अध्यात्मशास्त्र का काम कुछ इतने ही से पूरा नहीं हो जाता। जगत् के आधारभूत अमृततत्त्व की नित्य उपासना करने से और अपरोक्षानुभव से मनुष्य के आत्मा को एक प्रकार की विशिष्ट शान्ति मिलने पर उसके शील-स्वभाव में जो परिवर्तन हो जाता है वही सदाचरण का मूल है। इसलिये इस बात पर ध्यान रखना भी उचित है कि मानवजाति की पूर्णावस्था के विषय में भी अध्यात्मशास्त्र की सहायता से जैसा उत्तम निर्णय हो जाता है वैसा केवल आधिभौतिक सुखवाद से नहीं होता। क्योंकि यह बात पहले भी विस्तारपूर्वक बतलाई जा चुकी है कि केवल विषयसुख तो पशुओं का उद्देश या साध्य है उससे ज्ञानवान् मनुष्य की बुद्धि का भी पूरा समाधान हो नहीं सकता। सुखदुःख अनित्य हैं तथा धर्म ही नित्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर सहज ही ज्ञात हो जायगा कि गीता के पारलौकिक धर्म तथा नीतिधर्म दोनों का प्रतिपादन जगत् के आधारभूत नित्य तथा अमृतत्त्व के आधार से ही किया गया है। इस लिये यह परमावधि का गीताधर्म, उस आधिभौतिक शास्त्र से कभी हार नहीं खा सकता जो मनुष्य के सब कर्मों का विचार सिर्फ इस दृष्टि से किया करता है कि मनुष्य केवल एक उच्च श्रेणी का जानवर है। यही कारण है कि हमारा गीताधर्म नित्य तथा अभय हो गया है और भगवान् ने ही उसमें ऐसा सुप्रबन्ध कर रखा है कि हिन्दुओं को इस विषय में किसी भी दूसरे धर्म, ग्रन्थ या मत की ओर मुँह ताकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब सब ब्रह्मज्ञान का निरूपण हो गया तब याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से कहा है कि "अभयं वै प्राप्तोऽसि" — अब तू अभय हो गया (बृ. ४. २. ४)। यही बात गीताधर्म के ज्ञान के लिये अनेक अर्थों में अक्षरशः कही जा सकती है।

गीताधर्म कैसा है? वह सर्वतोपरि निर्भय और व्यापक है। वह सम है। अर्थात् वर्ण, जाति, देश या किसी अन्य भेदों के झगड़े में नहीं पड़ता, किन्तु सब लोगों को एक ही मापतौल से सद्गति देता है। वह अन्य सब धर्मों के विषय में यथोचित सहिष्णुता दिखलाता है। वह ज्ञान, भक्ति और कर्मयुक्त है। और अधिक क्या कहें, वह सनातन वैदिक धर्मवृक्ष का अत्यन्त मधुर तथा अमृत फल है। वैदिक धर्म में पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञों का अर्थात् केवल कर्मकाण्ड का ही अधिक माहात्म्य था। परन्तु फिर उपनिषदों के ज्ञान से यह केवल कर्मकाण्डप्रधान श्रौतधर्म गौण माना जाने लगा, और उसी समय सांख्यशास्त्र का भी प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु यह ज्ञान सामान्य जनों को अगम्य था, और इसका झुकाव भी कर्मसंन्यास की ओर ही विशेष रहा करता था। इसलिये केवल औपनिषदिक धर्म से अथवा दोनों की स्मार्त एकवाक्यता से भी सर्वसाधारण लोगों का पूरा समाधान होना सम्भव नहीं था। अतएव

उपनिषदों के केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञान के साथ प्रेमगम्य व्यक्त उपासना के राजगुह्य का संयोग करके कर्मकाण्ड की प्राचीन परम्परा के अनुसार ही अर्जुन को निमित्त करके गीताधर्म सब लोगों को मुक्तकण्ठ से यही कहता है कि 'तुम अपनी अपनी योग्यता के अनुसार अपने अपने सांसारिक कर्मों का पालन लोकसंग्रह के लिये निष्कामबुद्धि से आत्मौपम्यदृष्टि से तथा उत्साह से यावज्जीवन करते रहो और उनके द्वारा ऐसे नित्य परमात्मदेवता का सदा यजन करो जो पिण्ड-ब्रह्माण्ड में तथा समस्त प्राणियों में एकत्व से व्याप्त है — इसी में तुम्हारा सांसारिक तथा पारलौकिक कल्याण है।' इससे कर्म बुद्धि (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) के बीच का विरोध नष्ट हो जाता है और सब आयु या जीवन ही को यज्ञमय करने के लिये उपदेश देनेवाले अकेले गीताधर्म में सकल वैदिकधर्म का सारांश आ जाता है। इस नित्यधर्म को पहचान कर केवल कर्तव्य समझ करके, सर्वभूतहित के लिये प्रयत्न करनेवाले सैकड़ों महात्मा और कर्ता या वीर पुरुष जब इस पवित्र भरतभूमि को अलंकृत किया करते थे तब यह देश परमेश्वर की कृपा का पात्र बनकर न केवल ज्ञान के वरन् ऐश्वर्य के भी शिखर पर पहुँच गया था। और कहना नहीं होगा कि जब से दोनों लोकों का साधन यह श्रेयस्कर धर्म छूट गया है तभी से इस देश की निकृष्टावस्था का आरम्भ हुआ है। इसलिये ईश्वर से आशापूर्वक अन्तिम प्रार्थना यही है कि भक्ति का ब्रह्मज्ञान का और कर्तृत्वशक्ति का यथोचित मेल कर देनेवाले इस तेजस्वी तथा सम गीताधर्म के अनुसार परमेश्वरका यजन-पूजन करनेवाले सत्पुरुष इस देश में फिर भी उत्पन्न हों। और, अन्त में उदार पाठकों से निम्न मन्त्रद्वारा (ऋ. १०. १९१. ४) यह विनति करके गीता का रहस्यविवेचन यहाँ समाप्त किया जाता है कि इस ग्रन्थ में कहीं भ्रम से कुछ न्यूनाधिकता हुई हो तो उसे समदृष्टि से सुधार लीजिये —

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
यथा वः सुसहासति ॥*

* यह मन्त्र ऋग्वेद संहिता के अन्त में आया है। यज्ञमण्डप में एकत्रित लोगों को लक्ष्य करके यह कहा गया है। अर्थ — 'तुम्हारा अभिप्राय एक समान हो, तुम्हारे अन्तःकरण एक समान हों; और तुम्हारा मन एक समान हो, जिससे तुम्हारा सुसाह्य होगा; अर्थात् संघशक्ति की दृढ़ता होगी।' 'असति' = अस्ति का यह वैदिक रूप है। 'यथा वः सुसहासति' इसकी द्विरुक्ति ग्रन्थ की समाप्ति दिखलाने के लिये की गई है।

ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ।

परिशिष्ट प्रकरण

गीता की बहिरङ्गपरीक्षा

> अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
> योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥*
>
> – स्मृति

पिछले प्रकरणों में इस बात का विस्तृत वर्णन किया गया है कि जब भारतीय युद्ध में होनेवाले कुलक्षय और ज्ञातिक्षय का प्रत्यक्ष दृश्य पहले पहल आँखों के सामने उपस्थित हुआ तब अर्जुन अपने क्षात्रधर्म का त्याग करके संन्यास का स्वीकार करने के लिये तैयार हो गया था; और उस समय उसको ठीक मार्ग पर लाने के लिये श्रीकृष्ण ने वेदान्तशास्त्र के आधार पर यह प्रतिपादन किया कि कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है; कर्मयोग में बुद्धि ही की प्रधानता है। इसलिये ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से अथवा परमेश्वरभक्ति से अपनी बुद्धि को साम्यावस्था में रख कर उस बुद्धि के द्वारा स्वधर्मानुसार सब कर्म करते रहने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष पाने के लिये इसके सिवा अन्य किसी बात की आवश्यकता नहीं है; और, इस प्रकार उपदेश करके, भगवान् ने अर्जुन को युद्ध करने में प्रवृत्त कर दिया। गीता का यही यथार्थ तात्पर्य है। अब "गीता को भारत में सम्मिलित करने का कोई प्रयोजन नहीं" इत्यादि जो शङ्काएँ इस भ्रम से उत्पन्न हुई हैं – कि गीताग्रन्थ केवल वेदान्त-विषयक और निवृत्तिप्रधान है – उनका निवारण भी आप ही आप हो जाता है। क्योंकि, कर्णपर्व में सत्यानृत का विवेचन करके जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युधिष्ठिर के वध से परावृत्त किया है उसी प्रकार युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश भी आवश्यक था। और यदि काव्य की दृष्टि से देखा जाय तो भी यही सिद्ध होता है कि महाभारत में अनेक स्थानों पर ऐसे ही जो अन्यान्य प्रसङ्ग दीख पड़ते हैं, उन सब का मूलतत्त्व कहीं-न-कहीं बतलाना आवश्यक था। इसलिये उसे भगवद्गीता में बतलाकर व्यावहारिक धर्म-अधर्म के अथवा कार्य-अकार्य व्यवस्थिति

---

* किसी मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग को न जान कर जो (उक्त मन्त्र को) सिखाता है अथवा जप करता है, वह पापी होता है – यह किसी न किसी स्मृतिग्रन्थ का वचन है; परन्तु मालूम नहीं कि किस ग्रन्थ का है। हाँ, इसका मूल आर्षेय ब्राह्मण (आर्षेय. १) श्रुतिग्रन्थ में पाया जाता है; वह यह है – "यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते।" अर्थात् ऋषि, छन्द आदि किसी भी मन्त्र के जो बहिरङ्ग हैं, उनके बिना मन्त्र नहीं कहना चाहिये। यही न्याय गीता सरीखे ग्रन्थ के लिए भी लगाया जा सकता है।

के निरूपण की पूर्ति गीता ही में की है। वनपर्व के ब्राह्मण-व्याध-संवाद में व्याध ने वेदान्त के आधार पर इस बात का विवेचन किया है, कि 'मैं मांस बेचने का रोजगार क्यों करता हूँ'। और शान्तिपर्व के तुलाधार-जाजलि-संवाद में भी उसी तरह तुलाधार ने अपने वाणिज्य व्यवसाय का समर्थन किया है (वन २०६-२१५ और शां. २६०-२६३)। परन्तु यह उपपत्ति उन अनिद्य व्यवसायों ही की है। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य आदि विषयों का विवेचन यद्यपि महाभारत में कई स्थानों पर मिलता है तथापि वह भी एकदेशीय अर्थात् उन विशिष्ट विषयों के लिये ही है। इसलिये वह महाभारत का प्रधान भाग नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के एकदेशीय विवेचन से यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता, कि जिन भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डवों के उज्ज्वल कार्यों का वर्णन करने के लिये व्यासजी ने महाभारत की रचना की है, उन महानुभावों के चरित्रों को आदर्श मान कर मनुष्य उस प्रकार आचरण करे या नहीं। यदि यही मान लिया जाय, कि संसार निःसार है और कभी-न-कभी संन्यास लेना ही हितकारक है; तो स्वभावतः ये प्रश्न उपस्थित होते हैं, कि श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों को इतनी झंझट में पड़ने का कारण ही क्या था? और, यदि उनके प्रयत्नों का कुछ हेतु मान लिया जाय, तो लोकसंग्रहार्थ उनका गौरव करके व्यासजी को तीन वर्षपर्यन्त लगातार परिश्रम करके (म. भा. आ. ६२-५२) एक लाख श्लोकों के बृहत् ग्रन्थ को लिखने का प्रयोजन ही क्या था? केवल इतना ही कह देने से ये प्रश्न यथेष्ट हल नहीं हो सकते, कि वर्णाश्रमकर्म चित्तशुद्धि के लिये किये जाते हैं; क्योंकि चाहे जो कहा जाय; स्वधर्माचरण अथवा जगत् के अन्य सब व्यवहार तो संन्यासदृष्टि से गौण ही माने जाते हैं। इसलिये, महाभारत में जिन महान् पुरुषों के चरित्रों का वर्णन किया गया है, उन महात्माओं के आचरण पर 'मूलं कुठारः' न्याय से होनेवाले आक्षेप को हटा कर उक्त ग्रन्थ में कहीं-न-कहीं विस्तारपूर्वक यह बतलाना आवश्यक था, कि संसार के सब काम करना चाहिये; या प्रत्येक मनुष्य को अपना अपना कर्म संसार में किस प्रकार करना चाहिये, जिससे वह कर्म उसकी मोक्षप्राप्ति के मार्ग में बाधा न डाल सके। नलोपाख्यान, रामोपाख्यान आदि महाभारत के उपाख्यानों में उक्त बातों का विवेचन करना उपयुक्त न हुआ होता; क्योंकि ऐसा करने से उन उपाख्यानों के सदृश यह विवेचन भी गौण ही माना गया होता। इसी प्रकार वनपर्व अथवा शान्तिपर्व के अनेक विषयों की खिचड़ी में यदि गीता को भी सम्मिलित कर दिया जाता, तो उसका महत्त्व अवश्य घट गया होता। अतएव उद्योगपर्व समाप्त होने पर, महाभारत का प्रधान काम – भारतीय युद्ध – आरम्भ होने के ठीक मौके पर ही, उस पर ऐसे आक्षेप किये गये हैं जो नीतिधर्म की दृष्टि से अपरिहार्य दीख पड़ते हैं; और वहीं यह कर्म-अकर्म-विवेचन का स्वतन्त्र शास्त्र उपपत्तिसहित बतलाया गया है। सारांश, पढ़नेवाले कुछ देर के लिये यदि यह परम्परागत कथा भूल जावें, कि श्रीकृष्णजी ने युद्ध के आरम्भ में ही

अर्जुन को गीता सुनाई है, और यदि इसी युक्ति से विचार करें कि महाभारत में धर्म-अधर्म का निरूपण करने के लिये रचा गया यह एक आर्ष-महाकाव्य है तो भी यही दीख पड़ेगा, कि गीता के लिये महाभारत में जो स्थान नियुक्त किया गया है वही गीता का महत्त्व प्रकट करने के लिये काव्य-दृष्टि से भी अत्यन्त उचित है। जब इन बातों की ठीक ठीक उपपत्ति मालूम हो गई कि गीता का प्रतिपाद्य विषय क्या है और महाभारत में किस स्थान पर गीता बतलाई गई है तब ऐसे प्रश्नों का कुछ भी महत्त्व दीख नहीं पड़ता कि रणभूमि पर गीता का ज्ञान बतलाने की क्या आवश्यकता थी? कदाचित् किसी ने इस ग्रन्थ को महाभारत में पीछे से घुसेड़ दिया होगा! अथवा, भगवद्गीता में दस ही श्लोक मुख्य हैं या सौ! क्योंकि अन्य प्रकरणों से भी यही दीख पड़ता है, कि जब एक बार यह निश्चय हो गया कि धर्मनिरूपणार्थ 'भारत' का 'महाभारत' करने के लिये अमुक विषय महाभारत में अमुक कारण से अमुक स्थान पर रखा जाना चाहिये तब महाभारतकार इस बात की परवाह नहीं करते कि उस विषय के निरूपण में कितना स्थान लग जायगा। तथापि गीता की बहिरंगपरीक्षा के सम्बन्ध में जो और दलीलें पेश की जाती हैं उन पर भी अब प्रसंगानुसार विचार करके उनके सत्यांश की जाँच करना आवश्यक है। इसलिये उनमें से (१) गीता और महाभारत (२) गीता और उपनिषद् (३) गीता और ब्रह्मसूत्र, (४) भागवतधर्म का उदय और गीता (५) वर्तमान गीता का काल, (६) गीता और बौद्धग्रन्थ (७) गीता और ईसाइयों की बाइबल – इन सात विषयों का विवेचन इस प्रकरण के सात भागों में क्रमानुसार किया गया है। स्मरण रहे कि उक्त बातों का विचार करते समय केवल काव्य की दृष्टि से अर्थात् व्यावहारिक और ऐतिहासिक दृष्टि से ही महाभारत, गीता, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का विवेचन बहिरंगपरीक्षक किया करते हैं इसलिये अब उक्त प्रश्नों का विचार हम भी उसी दृष्टि से करेंगे।

भाग १ – गीता और महाभारत

ऊपर यह अनुमान किया है कि श्रीकृष्णजी सरीखे महात्माओं के चरित्रों का नैतिक समर्थन करने के लिये महाभारत में कर्मयोगप्रधान गीता उचित कारणों से उचित स्थान में रखी गई है; और गीता महाभारत का ही एक भाग होना चाहिये। यही अनुमान इन दोनों ग्रन्थों की रचना की तुलना करने से अधिक दृढ़ हो जाता है। परन्तु तुलना करने के पहले इन दोनों ग्रन्थों के वर्तमान स्वरूप का कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। अपने गीताभाष्य के आरम्भ में श्रीमच्छंकराचार्यजी ने स्पष्ट रीति से कह दिया है कि गीता ग्रन्थ में सात सौ श्लोक हैं। और वर्तमान समय की सब पोथियों में भी उतने ही श्लोक पाये जाते हैं। इन सात सौ श्लोकों में से १ श्लोक धृतराष्ट्र का है, ४[illegible] संजय के ८४ अर्जुन के और ५७[illegible] भगवान् के

हैं। बम्बई में गणपत कृष्णाजी के छापखाने में मुद्रित महाभारत की पोथी में भीष्मपर्व में वर्णित गीता के अठारह अध्यायों के बाद जो अध्याय आरम्भ होता है, उसके (अर्थात् भीष्मपर्व के तेंतालीसवें अध्याय के) आरम्भ में साढ़े पाँच श्लोकों में गीता-माहात्म्य का वर्णन किया गया है और उसमें कहा है –

> षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
> अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः ।
> धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ॥

अर्थात् गीता में केशव के ६२०, अर्जुन के ५७, संजय के ६७ और धृतराष्ट्र का १, इस प्रकार कुल मिलकर ७४५ श्लोक हैं। मद्रास इलाखे में जो पाठ प्रचलित है उसके अनुसार कृष्णाचार्यद्वारा प्रकाशित महाभारत की पोथी में ये श्लोक पाये जाते हैं। परन्तु कलकत्ते में मुद्रित महाभारत में ये नहीं मिलते; और भारत-टीकाकार नीलकण्ठ ने तो इनके विषय में यह लिखा है कि इन ५½ श्लोकों को 'गौडाः न पठन्ति'। अतएव प्रतीत होता है कि ये प्रक्षिप्त हैं। परन्तु यद्यपि इन्हें प्रक्षिप्त मान लें तथापि यह नहीं बतलाया जा सकता कि गीता में ७४५ श्लोक (अर्थात् वर्तमान पोथियों में जो ७०० श्लोक हैं उनसे ४५ श्लोक अधिक) किसने और कब लिखे। महाभारत बड़ा भारी ग्रन्थ है। इसलिये सम्भव है कि इसमें समय समय पर अन्य श्लोक जोड़ दिये गये हों तथा कुछ निकाल डाले गये हों। परन्तु यह बात गीता के विषय में नहीं कही जा सकती। गीताग्रन्थ सदैव पठनीय होने के कारण वेदों के सदृश पूरी गीता को कण्ठाग्र करनेवाले लोग भी पहले बहुत थे और अब तक भी कुछ हैं। यही कारण है कि वर्तमान गीता के बहुत-से पाठान्तर नहीं हैं; और जो कुछ भिन्न पाठ हैं वे सब टीकाकारों को मालूम हैं। इसके सिवा यह भी कहा जा सकता है कि इसी हेतु से गीताग्रन्थ में बराबर ७०० श्लोक रखे गये हैं कि इसमें कोई फेरफार न कर सके। अब प्रश्न यह है कि बम्बई तथा मद्रास में मुद्रित महाभारत की प्रतियों ही में ४५ श्लोक – और वे भी सब भगवान ही के – अधिक कहाँ से आ गये? संजय और अर्जुन के श्लोकों का जोड़ वर्तमान प्रतियों में और इस गणना में समान अर्थात् १२४ है; और ग्यारहवें अध्याय के 'पश्यामि देवान्' (११. १५-३१) आदि १७ श्लोकों के साथ मतभेद के कारण सम्भव है, कि अन्य दस श्लोक भी संजय के मान जावें। इसलिये कहा जा सकता है कि यद्यपि संजय और अर्जुन के श्लोकों का जोड़ समान ही है तथापि प्रत्येक श्लोक को पृथक् पृथक् गिनने में कुछ फर्क हो गया होगा। परन्तु इस बात का कुछ पता नहीं लगता कि वर्तमान प्रतियों में भगवान के जो ५७५ श्लोक हैं उनके बदले ६२० (अर्थात् ४५ अधिक) कहाँ से आ गये। यदि यह कहें कि गीता का 'स्तोत्र' या 'ध्यान' या इसी प्रकार के किसी अन्य प्रकरण का इसमें समावेश किया गया होगा; तो देखते हैं कि बम्बई में मुद्रित महाभारत की पोथी में यह प्रकरण नहीं है। इतना ही नहीं

किन्तु इस पोथीवाली गीता में भी सात सौ श्लोक हैं। अतएव, वर्तमान सात सौ श्लोक की गीता ही को प्रमाण मानने के सिवा अन्य मार्ग नहीं है। यह हुई गीता की बात। परन्तु, जब महाभारत की ओर देखते हैं तो कहना पड़ता है कि यह विरोध कुछ भी नहीं है। स्वयं भारत ही में यह कहा है कि महाभारतसंहिता की संख्या एक लाख है। परन्तु रावबहादुर चिंतामणराव वैद्य ने महाभारत के अपने टीका-ग्रन्थ में स्पष्ट करके बतलाया है कि वर्तमान प्रकाशित पोथियों में उतने श्लोक नहीं मिलते और भिन्न भिन्न पर्वों के अध्यायों की संख्या भी भारत के आरम्भ में दी गई अनुक्रमणिका के अनुसार नहीं है। ऐसी अवस्था में गीता और महाभारत की तुलना करने के लिये इन ग्रन्थों की किसी-न किसी विशेष पोथी का आधार लिये बिना काम नहीं चल सकता। अतएव श्रीमच्छंकराचार्य ने जिस सात सौ श्लोकोंवाली गीता को प्रमाण माना है उसी गीता को और कलकत्ते के बाबू प्रतापचन्द्रराय द्वारा प्रकाशित महाभारत की पोथी को प्रमाण मान कर हमने इन दोनों ग्रन्थों की तुलना की है; और हमारे इस ग्रन्थ में उद्धृत महाभारत के श्लोकों का स्थाननिर्देश भी कलकत्ते में मुद्रित उक्त महाभारत के अनुसार ही किया गया है। इन श्लोकों को बम्बई की पोथी में अथवा मद्रास के पाठक्रम के अनुसार प्रकाशित कृष्णाचार्य की प्रति में देखना हो और यदि वे हमारे निर्दिष्ट किये हुए स्थानों पर न मिलें तो कुछ आगे पीछे ढूँढ़ने से वे मिल जायँगे।

सात सौ श्लोकों की गीता और कलकत्ते के बाबू प्रतापचन्द्रराय-द्वारा प्रकाशित महाभारत की तुलना करने से प्रथम यही दीख पड़ता है कि भगवद्गीता महाभारत ही का एक भाग है और इस बात का उल्लेख स्वयं महाभारत में ही कई स्थानों में पाया जाता है। पहला उल्लेख आदिपर्व के आरम्भ में दूसरे अध्याय में दी गई अनुक्रमणिका में किया गया है। पर्ववर्णन में पहले यह कहा है – "पूर्वोक्तं भगवद्गीता पर्व भीष्मवधस्ततः" (म. भा. आ. २. ६९) और फिर अठारह पर्वों के अध्यायों और श्लोकों की संख्या बतलाते समय भीष्मपर्व के वर्णन में पुनश्च भगवद्गीता का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया गया है –

> कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः।
> मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ॥
>
> – म. भा. २. २४७

अर्थात् "जिसमें मोक्षगर्भ कारण बतलाकर वासुदेव ने अर्जुन के मन का मोहज कश्मल दूर कर दिया।" इसी प्रकार आदिपर्व (१. १७९) के पहले अध्याय में प्रत्येक श्लोक के आरम्भ में "यदाश्रौषं" कहकर, जब धृतराष्ट्र ने बतलाया है कि दुर्योधन प्रभृति की जयप्राप्ति के विषय में किस किस प्रकार मेरी निराशा होती गई, तब यह वर्णन है कि "जब मैंने सुना कि अर्जुन के मन में मोह उत्पन्न होने पर श्रीकृष्ण ने उस

विश्वरूप दिखलाया त्योंही युद्ध के विषय में मेरी पूरी निराशा हो गई। भीष्मपर्व के इन तीनों उल्लेखों के बाद शान्तिपर्व के अन्त में नारायणीय, धर्म का वर्णन करते हुए गीता का फिर भी उल्लेख करना पड़ा है। नारायणीय सात्वत, ऐकान्तिक और भागवत – ये चारों नाम समानार्थक हैं। नारायणीयोपाख्यान (शां. ३३४–३५१) में उस भक्तिप्रधान प्रवृत्तिमार्ग के उपदेश का वर्णन किया गया है कि जिसका उपदेश नारायण ऋषि अथवा भगवान् ने श्वेतद्वीप में नारदजी को किया था। पिछले प्रकरणों में भागवतधर्म के इस तत्त्व का वर्णन किया जा चुका है कि वासुदेव की एकान्तभाव से भक्ति करके इस जगत् के सब व्यवहार स्वधर्मानुसार करते रहने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है और यह भी बतला दिया गया है कि इसी प्रकार भगवद्गीता में भी संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठतर माना गया है। इस नारायणीय धर्म की परम्परा का वर्णन करते समय वैशम्पायन जनमेजय से कहते हैं, कि यह धर्म साक्षात् नारायण से नारद को प्राप्त हुआ है; और यही धर्म 'कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः' (म. भा. शां. ३४६. १०) – हरिगीता अथवा भगवद्गीता में बतलाया गया है। इसी प्रकार आगे चल कर ३४८ वें अध्याय के ८ वें श्लोक में यह बतलाया गया है कि –

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥

कौरव और पाण्डवों के युद्ध के समय विमनस्क अर्जुन को भगवान् ने ऐकान्तिक अथवा नारायणधर्म की इन विधियों का उपदेश किया था और सब युगों में स्थित नारायणधर्म की परम्परा बतला कर पुनः कहा है कि इस धर्म का और यतियों के धर्म अर्थात् संन्यासधर्म का वर्णन 'हरिगीता' में किया गया है (म. भा. शां. ३४८. ५३)। भीष्मपर्व और शान्तिपर्व में किये गये इन छः उल्लेखों के अतिरिक्त अश्वमेधपर्व के अनुगीतापर्व में भी और एक बार भगवद्गीता का उल्लेख किया गया है। जब भारतीय युद्ध पूरा हो गया, युधिष्ठिर का राज्याभिषेक भी हो गया; और एक दिन श्रीकृष्ण तथा अर्जुन एकत्र बैठे हुए थे – तब श्रीकृष्ण ने कहा: "यहाँ अब मेरे रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। द्वारका को जाने की इच्छा है।" इस पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की, कि पहले युद्ध के आरम्भ में आपने मुझे जो उपदेश किया था वह मैं भूल गया, इसलिये वह मुझे फिर से बतलाइये (अश्व. १६)। तब इस विनती के अनुसार – द्वारका को जाने के पहले – श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अनुगीता सुनाई। इस अनुगीता के आरम्भ ही में भगवान् ने कहा है – "दुर्भाग्य-वश तू उस उपदेश को भूल गया, जिसे मैंने तुझे युद्ध के आरम्भ में बतलाया था। उस उपदेश को फिर से वैसा ही बतलाना अब मेरे लिये भी असम्भव है। इसलिये उसके बदले तुझे कुछ अन्य बातें बतलाता हूँ" (म. भा. अश्व. अनुगीता १६. ९–१३)। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनुगीता में वर्णित

कुछ प्रकरण गीता के प्रकरणों के समान ही हैं। अनुगीता के निर्देश को मिलाकर महाभारत में भगवद्गीता का सात बार स्पष्ट उल्लेख हो गया है। अर्थात् अन्तर्गत प्रमाणों से स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि भगवद्गीता वर्तमान महाभारत का ही एक भाग है।

परन्तु सन्देह की गति निरंकुश रहती है; इसलिये उपर्युक्त सात निर्देशों से भी कई लोगों का समाधान नहीं होता। वे कहते हैं कि यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि यह उल्लेख भी भारत में पीछे से नहीं जोड़ दिये गये होंगे? इस प्रकार उनके मन में यह शङ्का ज्यों-की-त्यों रह जाती है, कि गीता महाभारत का भाग है अथवा नहीं। पहले तो यह शङ्का केवल इसी समझ से उपस्थित हुई है कि गीता ग्रन्थ ब्रह्मज्ञान प्रधान है। परन्तु हमने पहले ही विस्तारपूर्वक बतला दिया है कि यह समझ ठीक नहीं। अतएव यथार्थ में देखा जाय तो अब इस शङ्का के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। तथापि इन प्रमाणों पर ही अवलम्बित न रहते हुए हम बतलाना चाहते हैं, कि अन्य प्रमाणों से भी उक्त शङ्का की अयथार्थता सिद्ध हो सकती है। जब दो ग्रन्थों के विषय में यह शङ्का की जाती है कि वे दोनों एक ही ग्रन्थकार के हैं या नहीं, तब काव्यमीमांसकगण पहले इन दोनों बातों – शब्दसादृश्य और अर्थसादृश्य – का विचार किया करते हैं। शब्दसादृश्य में केवल शब्दों ही का समावेश नहीं होता, किन्तु उसमें भाषारचना का भी समावेश किया जाता है। इस दृष्टि से विचार करते समय देखना चाहिये कि गीता की भाषा और महाभारत की भाषा में कितनी समता है। परन्तु महाभारत ग्रन्थ बहुत बड़ा और विस्तीर्ण है; इसलिये उसमें मौके मौके पर भाषा की रचना भी भिन्न भिन्न रीति से की गई है। उदाहरणार्थ, कर्णपर्व में कर्ण और अर्जुन के युद्ध का वर्णन पढ़ने से दीख पड़ता है कि उसकी भाषारचना अन्य प्रकरणों की भाषा से भिन्न है। अतएव यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि गीता और महाभारत की भाषा में समता है या नहीं। तथापि सामान्यतः विचार करने पर हमें परलोकवासी काशीनाथपन्त तैलंग* के मत से सहमत होकर कहना पड़ता है कि गीता की भाषा तथा छन्दरचना आर्ष अथवा प्राचीन है। उदाहरणार्थ, काशीनाथपन्त ने यह बतलाया है कि अन्त (गीता २.१६) भाषा (गीता २.५४) ब्रह्म (= प्रकृति, गीता १४.३) योग (= कर्मयोग) पादपूरक अव्यय ह (गीता २.९) आदि शब्दों का प्रयोग गीता में जिस अर्थ में किया गया है उस अर्थ में वे शब्द कालिदास प्रभृति के काव्यों में

---

* स्वर्गीय काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग-द्वारा रचित भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद प्रोफेसर मैक्समूलर साहब द्वारा सम्पादित प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला (Sacred Books of the East Series, Vol. VIII) में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में [illegible] प्रस्तावना के मेल पर जोड़ दिया गया है। स्वर्गीय तैलंग के मतानुसार इस प्रकरण में जो [illegible] उस प्रस्तावना का [illegible]

नहीं पाये जाते। और पाणिनि से ही क्यों न हो? परन्तु गीता के ११. ३५ श्लोक में 'नमस्कृत्वा' यह अपाणिनीय शब्द रखा गया है; तथा गीता ११. ४८ में 'शक्य अहं' इस प्रकार अपाणिनीय सन्धि भी की गई है। इसी तरह 'सेनानीनामहं स्कन्दः' (गीता १०. २४) में जो 'सेनानीनां' षष्ठी कारक है, वह भी पाणिनी के अनुसार शुद्ध नहीं है। आर्ष वृत्तरचना के उदाहरणों को स्वर्गीय तैलंग ने स्पष्ट करके नहीं बतलाया है। परन्तु हमें यह प्रतीत होता है, कि ग्यारहवें अध्यायवाले विश्वरूपवर्णन के (गीता ११. १५–५०) छत्तीस श्लोकों को लक्ष्य करके ही उन्होंने गीता की छन्दोरचना को आर्ष कहा है। इन श्लोकों के प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर हैं, परन्तु गणों का कोई नियम नहीं है। एक इन्द्रवज्रा है तो दूसरा उपेन्द्रवज्रा, तीसरा है शालिनी तो चौथा किसी अन्य प्रकार का। इस तरह उक्त छत्तीस श्लोकों में – अर्थात् १४४ चरणों में – भिन्न भिन्न जाति के कुल ग्यारह चरण दीख पड़ते हैं। तथापि वहाँ यह नियम भी दीख पड़ता है, कि प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर हैं और उनमें से पहला, चौथा, आठवाँ और अन्तिम दो अक्षर गुरु हैं; तथा छठवाँ अक्षर प्रायः लघु ही है। इससे यह अनुमान किया जाता है, कि ऋग्वेद तथा उपनिषदों के त्रिष्टुप् के ढंग पर ही ये श्लोक रचे गये हैं। ऐसे ग्यारह अक्षरों के विषम वृत्त कालिदास के काव्यों में नहीं मिलते। हाँ, शाकुन्तल नाटक का 'अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः' यह श्लोक इसी छन्द में है; परन्तु कालिदास ही ने उसे 'ऋक्छन्द' अर्थात् ऋग्वेद का छन्द कहा है। इससे यह बात प्रकट हो जाती है, कि आर्ष वृत्तों के प्रचार के समय ही में गीताग्रन्थ की रचना हुई है। महाभारत के अन्य स्थलों में उक्त प्रकार के आर्ष शब्द और वैदिक वृत्त दीख पड़ते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त इन दोनों ग्रन्थों के भाषासादृश्य का दूसरा दृढ़ प्रमाण यह है, कि महाभारत और गीता में एक ही से अनेक श्लोक पाये जाते हैं। महाभारत के सब श्लोकों की छानबीन कर यह निश्चित करना कठिन है, कि उनमें से गीता में कितने श्लोक उपलब्ध हैं। परन्तु महाभारत पढ़ते समय उसमें जो श्लोक न्यूनाधिक पाठभेद से गीता के श्लोकों के सदृश हमें जान पड़े, उनकी संख्या भी कुछ कम नहीं है; और उनके आधार पर भाषासादृश्य के प्रश्न का निर्णय भी सहज ही हो सकता है। नीचे दिये गये श्लोक और श्लोकार्ध गीता और महाभारत (कलकत्ते की प्रति) में शब्दशः अथवा एक आध शब्द की भिन्नता होकर ज्यों के त्यों मिलते हैं :–

गीता	महाभारत
१. ९ नानाशस्त्रप्रहरणाः ...।	भीष्मपर्व (५१. ४); गीता के सदृश ही दुर्योधन द्रोणाचार्य से अपनी सेना का वर्णन कर रहा है।
१. १० अपर्याप्तं ...	भीष्म. ५१. ६

४ ३१ नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य श्लोकार्ध।	शान्ति २६७ ४ ; गोकापिलीयाख्यान में पाया जाता है और सब प्रकरण यज्ञविषयक ही है।
४ ४ नायं लोकोऽस्ति न परो श्लोकार्ध।	वन १९९ ११ ; मार्कण्डेय समस्यापर्व में अक्षरशः मिलता है।
५ ५ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं श्लोक।	शान्ति. ३ ५ १९ और ३१६ ४ इन दोनों स्थानों में कुछ पाठभेद से वसिष्ठ-कराल और याज्ञवल्क्य-जनक के संवाद में पाया जाता है।
५ १८ विद्याविनयसंपन्ने श्लोक।	शान्ति २३८ १९; शुकानुप्रश्न में अक्षरशः मिलता है।
६ ५ आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः श्लोकार्ध। और आगामी श्लोक का अर्थ।	उद्योग. ३३ ६३ ६४ विदुरनीति में ठीक ठीक मिलता है।
६ २ सर्वभूतस्थमात्मानं श्लोकार्ध।	शान्ति २३८ २१, शुकानुप्रश्न, मनुस्मृति (१२ ९१) ईशावास्योपनिषद् (६) और कैवल्योपनिषद् (१ १०) में ज्यों का त्यों मिलता है।
६ ४४ जिज्ञासुरपि योगस्य श्लोकार्ध।	शान्ति. ३५ ७ शुकानुप्रश्न में कुछ पाठ-भेद करके रखा गया है।
८ १७ सहस्रयुगपर्यन्तं यह श्लोक पहले युग का अर्थ न बतला कर गीता में दिया गया है।	शान्ति २३१ ३१ शुकानुप्रश्न में अक्षरशः मिलता है; और युग का अर्थ बतलानेवाला श्लोक भी पहले दिया गया है। मनुस्मृति में भी कुछ पाठान्तर से मिलता है (मनु १ ७३)।
८ २ यः स सर्वेषु भूतेषु श्लोकार्ध।	शान्ति ३३९ २३ नारायणीय धर्म में कुछ पाठान्तर होकर दो बार आया है।
९ ३२ स्त्रियो वैश्यास्तथा यह पूरा श्लोक और आगामी श्लोक का पूर्वार्ध।	अश्व १९ ६१ और ६२; अनुगीता में कुछ पाठान्तर के साथ ये श्लोक हैं।

प्रकरण और गीता ये दोनों एक ही लेखनी के फल हैं। यदि प्रत्येक प्रकरण पर विचार किया जाय, तो यह प्रतीत हो जायगा, कि उपर्युक्त २१ श्लोकार्धों में से १ मार्कण्डेयप्रश्न में, १½ मार्कण्डेय-समस्या में, १ ब्राह्मण-व्याधसंवाद में, २ विदुरनीति में, १ सनत्सुजातीय में, १ मनु-बृहस्पति-संवाद में, १½ शुकानुप्रश्न में, १ तुलाधार-जाजलि-संवाद में, १ वसिष्ठ-कराल और याज्ञवल्क्य जनकसंवाद में, १½ नारायणीय धर्म में, २½ अनुगीता में और शेष भीष्म, द्रोण तथा स्त्रीपर्व में उपलब्ध हैं। इन में से प्रायः सब जगह ये श्लोक पूर्वापर सन्दर्भ के ठीक उचित स्थानों पर ही मिलते हैं – प्रक्षिप्त नहीं हैं और यह भी प्रतीत होता है, कि इनमें से कुछ श्लोक गीता ही में समारोप दृष्टि से लिये गये हैं। उदाहरणार्थ 'सहस्रयुगपर्यन्तम्' (गीता ८. १७) इस श्लोक के स्पष्टीकरणार्थ पहले वर्ष और युग की व्याख्या बतलाना आवश्यक था; और महाभारत (शां. २३१) तथा मनुस्मृति में इस श्लोक के पहले उनके लक्षण भी कहे गये हैं। परन्तु गीता में यह श्लोक ('युग' आदि की व्याख्या न बतला कर) एकदम कहा गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह नहीं कहा जा सकता, कि महाभारत के अन्य प्रकरणों में ये श्लोक गीता ही से उद्धृत किये गये हैं; और इनके भिन्न भिन्न प्रकरणों में से गीता में इन श्लोकों का लिया जाना भी सम्भव नहीं है। अतएव यही कहना पड़ता है, कि गीता और महाभारत के इन प्रकरणों का लिखनेवाला कोई एक ही पुरुष होना चाहिये। यहाँ यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि जिस प्रकार मनुस्मृति के कई श्लोक महाभारत में मिलते हैं*, उसी प्रकार गीता का यह पूरा श्लोक 'सहस्रयुगपर्यन्तम्' (८. १७) कुछ हेरफेर के साथ और यह श्लोकार्ध 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' (गीता ३. ३५ और गी. १८. ४७) – अर्थात् 'श्रेयान्' के बदले 'वरं' पाठान्तर होकर-मनुस्मृति में पाया जाता है; तथा 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' यह श्लोकार्ध भी (गीता ६. २९) 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' इस रूप से मनुस्मृति में पाया जाता है (मनु. १. ७३; १०. ९७; १२. ९१)। महाभारत के अनुशासनपर्व में तो 'मनुनाभिहितं शास्त्रम्' (अनु. ४७. ३५) कह कर मनुस्मृति का स्पष्ट रीति से उल्लेख किया गया है।

शब्दसादृश्य के बदले यदि अर्थसादृश्य देखा जाय, तो भी उक्त अनुमान दृढ़ हो जाता है। पिछले प्रकरणों में गीता के कर्मयोगमार्ग और प्रवृत्तिप्रधान भागवत धर्म में व्यक्तसृष्टि की उपपत्ति की जो यह परम्परा बतलाई गई है, कि वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध और अनिरुद्ध से ब्रह्मदेव हुए, वह गीता में नहीं ली गई। इसके अतिरिक्त यह भी सच है, कि गीताधर्म और

---

*प्राच्यधर्मपुस्तकमाला में मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें बूल्हर साहब ने एक फ़ेहरिस्त जोड़ दी है, और उसमें यह भी बतलाया है, कि मनुस्मृति के कौन कौन-से श्लोक महाभारत में मिलते हैं (S. B. E. Vol. XXV. p. 533 देखो)।

नारायणीय धर्म में अनेक भेद हैं। परन्तु चतुर्व्यूह परमेश्वर की कल्पना गीता को मान्य भले न हो, तथापि गीता के इन सिद्धान्तों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि गीताधर्म और भागवतधर्म एक ही से हैं। वे सिद्धान्त ये हैं – एकव्यूह वासुदेव की भक्ति ही राजमार्ग है; किसी भी अन्य देवता की भक्ति की जाय, वह वासुदेव ही को अर्पण हो जाती है; भक्त चार प्रकार के होते हैं; स्वधर्म के अनुसार सब कर्म करके यज्ञचक्र जारी रखना ही चाहिये और संन्यास लेना उचित नहीं है। पहले यह भी बतलाया जा चुका है कि विवस्वान्–मनु–इक्ष्वाकु आदि साम्प्रदायिक परम्परा भी दोनों ओर एक ही है। इसी प्रकार सनत्सुजातीय, शुकानुप्रश्न, याज्ञवल्क्य-जनकसंवाद, अनुगीता इत्यादि प्रकरणों को पढ़ने से यह बात ध्यान में आ जायगी कि गीता में वर्णित वेदान्त या अध्यात्मज्ञान भी उक्त प्रकरणों में प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान से मिलता-जुलता है। कापिलसांख्यशास्त्र के पच्चीस तत्त्वों और गुणोत्कर्ष के सिद्धान्त से सहमत होकर भी भगवद्गीता ने जिस प्रकार यह माना है कि प्रकृति और पुरुष के भी परे कोई नित्य तत्त्व है, उसी प्रकार शान्तिपर्व के वसिष्ठ-कराल-जनक संवाद में और याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में विस्तारपूर्वक यह प्रतिपादन किया गया है कि सांख्यों के पच्चीस तत्त्वों के परे एक छब्बीसवाँ तत्त्व और है, जिसके ज्ञान के बिना कैवल्य प्राप्त नहीं होता। यह विचारसादृश्य केवल कर्मयोग या अध्यात्म इन्हीं दो विषयों के सम्बन्ध में ही नहीं दीख पड़ता; किन्तु इन दो मुख्य विषयों के अतिरिक्त गीता में जो अन्यान्य विषय हैं, उनकी बराबरी के प्रकरण भी महाभारत में कई जगह पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, गीता के पहले अध्याय के आरम्भ में ही द्रोणाचार्य से दोनों सेनाओं का जैसा वर्णन दुर्योधन ने किया है, ठीक वैसा ही – आगे भीष्मपर्व के ५१ वें अध्याय में – उसने फिर से द्रोणाचार्य ही के निकट किया है। पहले अध्याय के उत्तरार्ध में अर्जुन को जैसा विषाद हुआ, वैसा ही युधिष्ठिर को शान्तिपर्व के आरम्भ में हुआ है; और जब भीष्म तथा द्रोण का 'सांख्ययोग' से वध करने का समय समीप आया तब अर्जुन ने अपने मुख से फिर भी वैसे ही खेदयुक्त वचन कहे हैं (भीष्म. ९७. ४–७; और १०८. ८८–९४)। गीता (१. ३२–३३) के आरम्भ में अर्जुन ने कहा है कि जिनके लिये उपभोग प्राप्त करना है, उन्हीं का वध करके क्या प्राप्त करें? तो उनका उपयोग ही क्या होगा? और जब युद्ध में सब कौरवों का वध हो गया तब यही बात दुर्योधन के मुख से भी निकली है (शल्य. ३१. ४२–५१)। दूसरे अध्याय के आरम्भ में जैसे सांख्य और कर्मयोग ये दोनों निष्ठाएँ बतलाई गई हैं, वैसे ही नारायणीय धर्म में और शान्तिपर्व के जापकोपाख्यान तथा जनक-सुलभा-संवाद में भी इन निष्ठाओं का वर्णन पाया जाता है (शां. १९६ और ३२०)। तीसरे अध्याय में कहा है – अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है; कर्म न किया जाय तो उपजीविका भी न हो सकेगी, इत्यादि। यही बात वनपर्व के आरम्भ में द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कही है (वन. ३२) और

उन्हीं तत्त्वों का उल्लेख अनुगीता में फिर से किया गया है। श्रौतधर्म या स्मार्तधर्म यज्ञमय है, यज्ञ और प्रजा को ब्रह्मदेव ने एक ही साथ निर्माण किया है इत्यादि गीता का प्रवचन नारायणीय धर्म के अतिरिक्त शान्तिपर्व के अन्य स्थानों में (शां. २६७) और मनुस्मृति (३) में भी मिलता है। तुलाधार-जाजली-संवाद में तथा ब्राह्मण-व्याध-संवाद में भी यही विचार मिलते हैं कि स्वधर्म के अनुसार कर्म करने में कोई पाप नहीं है (शां. २६०–२६३ और वन. २०६–२१५)। इसके सिवा सृष्टि की उत्पत्ति का थोड़ा वर्णन गीता के सातवें और आठवें अध्यायों में है; उसी प्रकार का वर्णन शान्तिपर्व के शुकानुप्रश्न में भी पाया जाता है (शां. २३१)। और छठवें अध्याय में पातञ्जलयोग के आसनों का जो वर्णन है, उसी का फिर से शुकानुप्रश्न (शां. २३९) में और आगे चलकर शान्तिपर्व के अध्याय ३०० में तथा अनुगीता में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है (अश्व. १९)। अनुगीता के गुरुशिष्यसंवाद में किये गये मध्यमोत्तम वस्तुओं के वर्णन (अश्व. ४३ और ४४) और गीता के दसवें अध्याय के विभूतिवर्णन के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि इन दोनों का प्रायः एक ही अर्थ है। महाभारत में कहा है कि गीता में भगवान् ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखलाया था, वही सन्धि-प्रस्ताव के समय दुर्योधन आदि कौरवों को और युद्ध के बाद द्वारका को लौटते समय मार्ग में उत्तङ्क को भगवान् ने दिखलाया और नारायण ने नारद तथा दाशरथि राम ने परशुराम को दिखलाया (उ. १३०; अश्व. ५५; शां. ३३९; वन. ९९)। इसमें सन्देह नहीं कि गीता का विश्वरूपवर्णन इन चारों स्थानों के वर्णनों से कहीं अधिक सुरस और विस्तृत है; परन्तु सब वर्णनों को पढ़ने से यह सहज ही मालूम हो जाता है कि अर्थसादृश्य की दृष्टि से उनमें कोई नवीनता नहीं है। गीता के चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायों में इन बातों का निरूपण किया गया है कि सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के कारण सृष्टि में भिन्नता कैसे होती है; इन गुणों के लक्षण क्या हैं और सब कर्तृत्व गुणों ही का है, आत्मा का नहीं; ठीक इसी प्रकार इन तीनों का वर्णन अनुगीता (अश्व. ३६–३९) और शान्तिपर्व में भी अनेक स्थानों में पाया जाता है (शां. २८५ और ३००–३११)। सारांश, गीता में जिस प्रसङ्ग का वर्णन किया गया है; उसके अनुसार गीता में कुछ विषयों का विवेचन अधिक विस्तृत हो गया है और गीता के सब विचारों से समानता रखनेवाले विचार महाभारत में भी पृथक् पृथक् कहीं-न-कहीं न्यूनाधिक पाये ही जाते हैं और यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि विचारसादृश्य के साथ ही साथ थोड़ी-बहुत समता शब्दों में भी आप-ही आप आ जाती है। मार्गशीर्ष महीने के सम्बन्ध की सादृश्यता तो बहुत ही विलक्षण है। गीता में 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' (गीता १०. ३५) कह कर इस मास को जिस प्रकार पहला स्थान दिया है उसी प्रकार अनुशासनपर्व के दानधर्म प्रकरण में जहाँ उपवास के लिये महीनों के नाम बतलाने का मौका दो बार आया है वहाँ प्रत्येक बार मार्गशीर्ष से ही

महीनों गिनती आरम्भ की गई है (अनु १६ और १९)। गीता में वर्णित आत्मौपम्य की या सर्व-भूत-हित की दृष्टि, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद तथा देवयान और पितृयान-गति का उल्लेख महाभारत के अनेक स्थानों में पाया जाता है। पिछले प्रकरणों में इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है अतएव यहाँ पर पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं।

भाषासादृश्य की ओर देखिये या अर्थसादृश्य पर ध्यान दीजिये, अथवा गीता के विषयक जो महाभारत में छः-सात उल्लेख मिलते हैं उन पर विचार कीजिये अनुमान यही करना पड़ता है कि गीता वर्तमान महाभारत का ही एक भाग है और जिस पुरुष ने वर्तमान महाभारत की रचना की है उसी ने वर्तमान गीता का भी वर्णन किया है। हमने देखा है कि इन सब प्रमाणों की ओर दुर्लक्ष्य करके अथवा किसी तरह उनका अटकल-पच्चू अर्थ लगा कर कुछ लोगों ने गीता को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का यत्न किया है। परन्तु जो लोग बाह्य प्रमाणों को नहीं मानते और अपने ही संशयरूपी पिशाच को अग्रस्थान दिया करते हैं उनकी विचारपद्धति सर्वथा अशास्त्रीय अतएव अग्राह्य है। हाँ, यदि इस बात की उपपत्ति ही मालूम न होती कि गीता को महाभारत में क्यों स्थान दिया गया है तो बात कुछ और थी परन्तु (जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में बतला दिया गया है) गीता केवल वेदान्तप्रधान अथवा भक्तिप्रधान नहीं है। किन्तु महाभारत में जिन प्रमाणभूत श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्रों का वर्णन किया गया है उनके चरित्रों का नीतितत्त्व या मर्म बतलाने के लिये महाभारत में कर्मयोगप्रधान गीता का निरूपण अत्यन्त आवश्यक था; और, वर्तमान समय में महाभारत के जिस स्थान पर वह पाई जाती है उससे बढ़कर, (काव्यदृष्टि से भी) कोई अधिक योग्य स्थान उसके लिये दीख नहीं पड़ता। इतना सिद्ध होने पर अन्तिम सिद्धान्त यही निश्चित होता है कि गीता महाभारत में उचित कारण से और उचित स्थान पर ही कही गई है – वह प्रक्षिप्त नहीं है। महाभारत के समान रामायण भी सर्वमान्य और उत्कृष्ट आर्ष महाकाव्य है और उस में भी कथा प्रसङ्गानुसार सत्य, पुत्रधर्म, मातृधर्म आदि का मार्मिक विवेचन है। परन्तु यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि वाल्मीकि ऋषि का मूलहेतु अपने काव्य को महाभारत के समान अनेकसमयान्वित सूक्ष्म धर्म अधर्म न्यायों से ओतप्रोत और सब लोगों को शील तथा सच्चरित्र की शिक्षा देने में सब प्रकार से समर्थ बनाने का नहीं था। इसलिये धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य या नीति की दृष्टि से महाभारत की योग्यता रामायण से कहीं बढ़कर है। महाभारत केवल आर्ष काव्य या केवल इतिहास नहीं है किन्तु वह एक संहिता है जिसमें धर्म-अधर्म के सूक्ष्म प्रसङ्गों का निरूपण किया गया है। और यदि इस धर्मसंहिता में कर्मयोग का शास्त्रीय तथा तात्त्विक विवेचन न किया जाय तो फिर वह कहाँ किया जा सकता है? केवल वेदान्त ग्रन्थों में यह विवेचन नहीं किया जा सकता। उसके लिये योग्य स्थान धर्मसंहिता

उन्हीं तत्त्वों का उल्लेख अनुगीता में फिर से किया गया है। भागवतधर्म या स्मार्तधर्म यज्ञमय है; यज्ञ और प्रजा को ब्रह्मदेव ने एक ही साथ निर्माण किया है इत्यादि गीता का प्रवचन नारायणीय धर्म के अतिरिक्त शान्तिपर्व के अन्य स्थानों में (शां. २६७) और मनुस्मृति (३) में भी मिलता है। तुलाधार-जाजली-संवाद में तथा ब्राह्मण-व्याध-संवाद में भी यही विचार मिलते हैं कि स्वधर्म के अनुसार कर्म करने में कोई पाप नहीं है (शां २६१–२६३ और वन. २०६–२१५)। इसके सिवा सृष्टि की उत्पत्ति का थोड़ा वर्णन गीता के सातवें और आठवें अध्यायों में है, उसी प्रकार का वर्णन शान्तिपर्व के शुकानुप्रश्न में भी पाया जाता है (शां २३१)। और छठे अध्याय में पातञ्जलयोग के आसनों का जो वर्णन है उसी का फिर से शुकानुप्रश्न (शां २३९) में और आगे चलकर शान्तिपर्व के अध्याय ३०० में तथा अनुगीता में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है (अश्व १९)। अनुगीता के गुरुशिष्यसंवाद में किये गये मध्यमोत्तम वस्तुओं के वर्णन (अश्व ४३ और ४४) और गीता के दसवें अध्याय के विभूतिवर्णन के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि इन दोनों का प्रायः एक ही अर्थ है। महाभारत में कहा है कि गीता में भगवान् ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखलाया था वही सन्धि-प्रस्ताव के समय दुर्योधन आदि कौरवों को और युद्ध के बाद द्वारका को लौटते समय मार्ग में उत्तङ्क को भगवान् ने दिखलाया; और नारायण ने नारद तथा दाशरथि राम ने परशुराम को दिखलाया (उ. १३० अश्व ५५ शां ३३९ वन ९९)। इसमें सन्देह नहीं कि गीता का विश्वरूपवर्णन इन चारों स्थानों के वर्णनों से कहीं अधिक सुरस और विस्तृत है परन्तु सब वर्णनों को पढ़ने से यह सहज ही मालूम हो जाता है कि अर्थसादृश्य की दृष्टि से उनमें कोई नवीनता नहीं है। गीता के चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायों में इन बातों का निरूपण किया गया है कि सत्त्व रज और तम इन तीनों गुणों के कारण सृष्टि में भिन्नता कैसे होती है; इन गुणों के लक्षण क्या हैं और सब कर्तृत्व गुणों ही का है आत्मा का नहीं। ठीक इसी प्रकार इन तीनों का वर्णन अनुगीता (अश्व ३६–३९) और शान्तिपर्व में भी अनेक स्थानों में पाया जाता है (शां २८५ और ३००–३११)। सारांश गीता में जिस प्रसङ्ग का वर्णन किया गया है उसके अनुसार गीता में कुछ विषयों का विवेचन अधिक विस्तृत हो गया है; और गीता के सब विचारों से समानता रखनेवाले विचार महाभारत में भी पृथक् पृथक् कहीं-न-कहीं न्यूनाधिक पाये ही जाते हैं। और यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि विचारसादृश्य के साथ-ही-साथ थोड़ीबहुत समता शब्दों में भी आप-ही-आप आ जाती है। मार्गशीर्ष महीने के सम्बन्ध की सादृश्यता तो बहुत ही विलक्षण है। गीता में "मासानां मार्गशीर्षोऽहम्" (गीता १० ३५) कह कर इस मास को जिस प्रकार पहला स्थान दिया है उसी प्रकार अनुशासनपर्व के दानधर्म-प्रकरण में जहाँ उपवास के लिये महीनों के नाम बतलाने का मौका दो बार आया है वहाँ प्रत्येक बार मार्गशीर्ष से ही

मीनो मिलती आरम्भ की गई है (अनु. १४९ और १०९)। गीता में वर्णित आत्मौपम्य की या सर्व-भूत-हित की दृष्टि, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद तथा देवयान और पितृयान-गति का उल्लेख महाभारत के अनेक स्थानों में पाया जाता है। पिछले प्रकरणों में इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है, अतएव यहाँ पर पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं।

भाषासादृश्य की ओर ध्यान दीजिये या अर्थसादृश्य पर ध्यान दीजिये अथवा गीता के विषय में जो महाभारत में छः-सात उल्लेख मिलते हैं उन पर विचार कीजिये; अनुमान यही करना पड़ता है कि गीता वर्तमान महाभारत का ही एक भाग है और जिस पुरुष ने वर्तमान महाभारत की रचना की है उसी ने वर्तमान गीता का भी वर्णन किया है। हमने देखा है, कि इन सब प्रमाणों की ओर दुर्लक्ष करके अथवा किसी तरह उनका अटकल-पच्चू अर्थ लगा कर कुछ लोगों ने गीता को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का यत्न किया है। परन्तु जो लोग बाह्य प्रमाणों को नहीं मानते और अपने ही संशयरूपी पिशाच को अग्रस्थान दिया करते हैं, उनकी विचारपद्धति सर्वथा अशास्त्रीय अतएव अग्राह्य है। हाँ, यदि इस बात की उपपत्ति ही मालूम न होती कि गीता को महाभारत में क्यों स्थान दिया गया है, तो बात कुछ और थी; परन्तु (जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में बतला दिया गया है) गीता केवल वेदान्तप्रधान अथवा भक्तिप्रधान नहीं है। किन्तु महाभारत में जिन प्रमाणभूत श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्रों का वर्णन किया गया है, उनके चरित्रों का नीतितत्त्व या मर्म बतलाने के लिये महाभारत में कर्मयोगप्रधान गीता का निरूपण अत्यन्त आवश्यक था; और, वर्तमान समय में महाभारत के जिस स्थान पर वह पाई जाती है उससे बढ़कर, (काव्यदृष्टि से भी) कोई अधिक योग्य स्थान उसके लिये दीख नहीं पड़ता। इतना सिद्ध होने पर अन्तिम सिद्धान्त यही निश्चित होता है, कि गीता महाभारत में उचित कारण से और उचित स्थान पर ही कही गई है – वह प्रक्षिप्त नहीं है। महाभारत के समान रामायण भी सर्वमान्य और उत्कृष्ट आर्ष महाकाव्य है और उस में भी कथा-प्रसंगानुसार सत्य, पुत्रधर्म, मातृधर्म आदि का मार्मिक विवेचन है। परन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि वाल्मीकि ऋषि का मूलोद्देश अपने काव्य को महाभारत के समान 'अनेकसमयान्वित, सूक्ष्म धर्म अधर्म न्यायों से ओतप्रोत और सब लोगों को शील तथा सच्चरित्र की शिक्षा देने में सब प्रकार से समर्थ' बनाने का नहीं था। इसलिये धर्म-अधर्म, कर्म-अकार्य या नीति की दृष्टि से महाभारत की योग्यता रामायण से कहीं बढ़ कर है। महाभारत केवल आर्ष काव्य या केवल इतिहास नहीं है, किन्तु वह एक संहिता है, जिसमें धर्म-अधर्म के सूक्ष्म प्रसंगों का निरूपण किया गया है। और यदि इस धर्मसंहिता में कर्मयोग का शास्त्रीय तथा तात्त्विक विवेचन न किया जाय तो फिर वह कहाँ किया जा सकता है? केवल वेदान्त ग्रन्थों में यह विवेचन नहीं किया जा सकता। उसके लिये योग्य स्थान

कह कर ब्राह्मण-व्याध-संवाद (वन. २११) और अनुगीता में बुद्धि को सारथी की जो उपमा दी गई है वह भी कठोपनिषद् से ही ली गई है (क. १.३.३); और कठोपनिषद् के ये दोनों श्लोक – 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा' (कठ. ३.१२) और 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (कठ. २.१४) – भी शान्तिपर्व में दो स्थानों पर (१८७. २९ और ३३१. ४४) कुछ फेरफार के साथ पाये जाते हैं। श्वेताश्वतर का 'सर्वतः पाणिपादं' श्लोक भी, जैसा कि पहले कह आये हैं, महाभारत में अनेक स्थानों पर और गीता में भी मिलता है। परन्तु केवल इतने ही से यह सादृश्य पूरा नहीं हो जाता। इनके सिवा उपनिषदों के और भी बहुत-से वाक्य महाभारत में कई स्थानों पर मिलते हैं। यही क्यों, यह भी कहा जा सकता है कि महाभारत का अध्यात्मज्ञान प्रायः उपनिषदों से ही लिया गया है।

गीतारहस्य के नौवें और तेरहवें प्रकरणों में हमने विस्तारपूर्वक दिखला दिया है कि महाभारत के समान ही भगवद्गीता का अध्यात्मज्ञान भी उपनिषदों के आधार पर स्थापित है; और गीता में भक्तिमार्ग का जो वर्णन है, वह भी इस ज्ञान से अलग नहीं है। अतएव यहाँ उसको दुबारा न लिख कर संक्षेप में सिर्फ यही बतलाते हैं कि गीता के द्वितीय अध्याय में वर्णित आत्मा का अशोच्यत्व, आठवें अध्याय का अक्षरब्रह्मस्वरूप और तेरहवें अध्याय का क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार तथा विशेष करके 'ज्ञेय' परब्रह्म का स्वरूप – इन सब विषयों का वर्णन गीता में अक्षरशः उपनिषदों के आधार पर ही किया गया है। कुछ उपनिषद् गद्य में हैं और कुछ पद्य में हैं। उनमें से गद्यात्मक उपनिषदों के वाक्यों को पद्यमय गीता में ज्यों-का-त्यों उद्धृत करना सम्भव नहीं; तथापि जिन्होंने छान्दोग्योपनिषद् आदि को पढ़ा है, उनके ध्यान में यह बात सहज ही आ जायगी कि 'जो है सो है, और जो नहीं सो नहीं' (गीता २.१६) तथा 'यं यं वापि स्मरन् भावम्' (गीता ८.६) इत्यादि विचार छान्दोग्योपनिषद् से लिये गये हैं; और 'क्षीणे पुण्ये' (गीता ९.२१), 'ज्योतिषां ज्योतिः' (गीता १३.१७) तथा 'मात्रास्पर्शाः' (गीता २.१४) इत्यादि विचार और वाक्य बृहदारण्यक उपनिषद् से लिये गये हैं। परन्तु गद्य उपनिषदों को छोड़ जब हम पद्यात्मक उपनिषदों पर विचार करते हैं तो यह समता इससे भी अधिक स्पष्ट व्यक्त हो जाती है। क्योंकि इन पद्यात्मक उपनिषदों के कुछ श्लोक ज्यों-के-त्यों भगवद्गीता में उद्धृत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, कठोपनिषद् के छः-सात श्लोक अक्षरशः अथवा कुछ शब्दभेद से गीता में लिये गये हैं। गीता के द्वितीय अध्याय का 'आश्चर्यवत्पश्यति' (२.२९) श्लोक, कठोपनिषद् की द्वितीय वल्ली के 'आश्चर्यो वक्ता' (कठ. २.७) श्लोक के समान है; और 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' (गीता २.२०) श्लोक तथा 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' (गीता ८.११) श्लोकार्ध गीता और कठोपनिषद् में अक्षरशः एक ही है (कठ. २.१८; २.१५)। यह पहले ही बतला दिया गया है कि गीता का 'इन्द्रियाणि पराण्याहुः' (३.४२) श्लोक कठोपनिषद् (कठ. ३.१०)

से लिया गया है। इसी प्रकार गीता के पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित अश्वत्थ वृक्ष का रूपक कठोपनिषद् से और 'न तद्भासयते सूर्यो' (गीता १५. ६) श्लोक कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों से – शब्दों में कुछ फेरफार करके – लिया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् की बहुतेरी कल्पनाएँ तथा श्लोक भी गीता में पाये जाते हैं। नौवें प्रकरण में कह चुके हैं कि माया शब्द का प्रयोग पहले पहल श्वेताश्वतरोपनिषद् में हुआ है और वहीं से वह गीता तथा महाभारत में लिया गया होगा। शब्दसादृश्य से यह भी प्रगट होता है कि गीता के छठवें अध्याय में योगाभ्यास के लिये योग्य स्थल का जो यह वर्णन किया गया है – 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' (गीता ६. ११) – वह 'समे शुचौ' आदि (श्वे. २. १०) मन्त्र से लिया गया है और 'समं कायशिरोग्रीवं' (गीता ६. १३) ये शब्द 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे. २. ८) इस मन्त्र से लिये हैं। इसी प्रकार 'सर्वतः पाणिपादं' श्लोक तथा उसके आगे का श्लोकार्ध भी गीता (१३. १३) और श्वेताश्वतरोपनिषद् में शब्दशः मिलता है (श्वे. ३. १६) और 'अणोरणीयांसम्' तथा 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' पद भी गीता (८. ९) में और श्वेताश्वतरोपनिषद् (३. ८, २०) में एक ही-से हैं। इनके अतिरिक्त गीता और उपनिषदों का शब्दसादृश्य यह है, कि 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' (गीता ६. २९) और 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' (गीता १५. १५) ये दोनों श्लोकार्ध कैवल्योपनिषद् (१. १०; २. ३) में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। परन्तु इस शब्दसादृश्य के विषय पर अधिक विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि इस बात का किसी को भी सन्देह नहीं है, कि गीता का वेदान्त-विषय उपनिषदों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। हम विशेष कर यही देखना है कि उपनिषदों के विवेचन में और गीता के विवेचन में कुछ अन्तर है या नहीं; और यदि है तो किस बात में। अतएव अब उसी पर दृष्टि डालना चाहिये।

उपनिषदों की संख्या बहुत है। उनमें से कुछ उपनिषदों की भाषा तो इतनी अर्वाचीन है कि उनका और पुराने उपनिषदों का असमकालीन होना सहज ही मालूम पड़ जाता है। अतएव गीता और उपनिषदों में प्रतिपादित विषयों के सादृश्य का विचार करते समय इस प्रकरण में हमने प्रधानता से उन्हीं उपनिषदों को तुलना के लिये लिया है जिनका उल्लेख ब्रह्मसूत्रों में है। इन उपनिषदों के अर्थ को और गीता के अध्यायों को जब हम मिला कर देखते हैं, तब प्रथम यही बोध होता है कि यद्यपि दोनों में निर्गुण परब्रह्म का स्वरूप एक-सा है, तथापि निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति का वर्णन करते समय 'अविद्या' शब्द के बदले 'माया' या 'अज्ञान' शब्द ही का उपयोग गीता में किया गया है। नौवें प्रकरण में इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया गया है कि 'माया' शब्द श्वेताश्वतरोपनिषद् में आ चुका है, नामरूपात्मक अविद्या के लिये ही यह दूसरा पर्याय शब्द है; तथा यह भी ऊपर बतला दिया गया है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के कुछ श्लोक गीता में अक्षरशः पाये जाते हैं। इससे पहला

ही है। और यदि महाभारतकार ने यह विवेचन न किया होता तो यह धर्म-अधर्म का बृहत् संग्रह अथवा पाँचवाँ वेद उतना ही अपूर्ण रह जाता। इस त्रुटि की पूर्ति करने के लिये ही भगवद्गीता महाभारत में रखी गई है। सचमुच यह हमारा बड़ा भाग्य है कि इस कर्मयोगशास्त्र का मण्डन महाभारतकार जैसे उत्तम ज्ञानी सत्पुरुष ने ही किया है जो वेदान्तशास्त्र के समान ही व्यवहार में भी अत्यन्त निपुण थे।

इस प्रकार सिद्ध हो चुका कि वर्तमान भगवद्गीता प्रचलित महाभारत ही का एक भाग है। अब उसके अर्थ का कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना चाहिये। भारत और महाभारत शब्दों को हम लोग समानार्थक समझते हैं; परन्तु वस्तुतः वे दो भिन्न भिन्न शब्द हैं। व्याकरण की दृष्टि से देखा जाय तो 'भारत' नाम उस ग्रन्थ को प्राप्त हो सकता है जिसमें भरतवंशी राजाओं के पराक्रम का वर्णन हो। रामायण, भागवत आदि शब्दों की व्युत्पत्ति ऐसी ही है। और, इस रीति से भारतीय युद्ध का जिस ग्रन्थ में वर्णन है उसे केवल 'भारत' कहना यथेष्ट हो सकता है फिर वह ग्रन्थ चाहे जितना विस्तृत हो। रामायणग्रन्थ कुछ छोटा नहीं है परन्तु उसे कोई 'महारामायण' नहीं कहता। फिर भारत ही को 'महाभारत' क्यों कहते हैं? महाभारत के अन्त में यह बतलाया है कि महत्त्व और भारतत्व इन दो गुणों के कारण इस ग्रन्थ को महाभारत नाम दिया गया है (स्वर्गा. ५. ४४)। परन्तु 'महाभारत' का सरल शब्दार्थ 'बड़ा भारत' होता है। और ऐसा अर्थ करने से यह प्रश्न उठता है कि 'बड़े' भारत के पहले क्या कोई 'छोटा' भारत भी था? और उसमें गीता भी थी या नहीं? वर्तमान महाभारत के आदिपर्व में लिखा है कि उपाख्यानों के अतिरिक्त महाभारत के श्लोकों की संख्या चौबीस हजार है (आ. १. १०१) और आगे चलकर यह भी लिखा है कि पहले इसका 'जय' नाम था (आ. ६२. २०)। 'जय' शब्द से भारतीय युद्ध में पाण्डवों के जय का बोध होता है; और ऐसा अर्थ करने से यही प्रतीत होता है कि पहले भारतीय युद्ध का वर्णन 'जय' नामक ग्रन्थ में किया गया था। आगे चल कर उसी ऐतिहासिक ग्रन्थ में अनेक उपाख्यान जोड़ दिये गये; और इस प्रकार महाभारत – एक बड़ा ग्रन्थ हो गया जिसमें इतिहास और धर्म-अधर्म-विवेचन का भी निरूपण किया गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्रों के ऋषितर्पण में – 'सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्याः' (आ. गृ. ३. ४. ४) – भारत और महाभारत दो भिन्न भिन्न ग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इससे भी उक्त अनुमान ही दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार छोटे भारत का बड़े भारत में समावेश हो जाने से कुछ काल के बाद छोटा 'भारत' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ शेष नहीं रहा; और स्वाभावतः लोगों में यह समझ हो गई कि केवल 'महाभारत' ही एक भारत-ग्रन्थ है। वर्तमान महाभारत की पोथी में यह वर्णन मिलता है कि व्यासजी ने पहले अपने पुत्र (शुक) को और अनन्तर अपने अन्य शिष्यों को भारत पढ़ाया था (आ. १. १०३); और

आगे यह भी कहा है, कि सुमन्तु, जैमिनि, पैल, शुक और वैशम्पायन, इन पाँच शिष्यों ने पाँच भिन्न भिन्न भारतसंहिताओं की रचना की (आ. ६३. ८९)। इस विषय में यह कथा पाई जाती है, कि इन पाँच महाभारतों में से वैशम्पायन के महाभारत को और जैमिनि के महाभारत से केवल अश्वमेधपर्व ही को व्यासजी ने रख लिया। इससे अब यह भी मालूम हो जाता है, कि ऋषितर्पण में 'भारत-महाभारत' शब्दों के पहले सुमन्तु आदि नाम क्यों रखे गये हैं। परन्तु यहाँ इस विषय में इतने गहरे विचार का कोई प्रयोजन नहीं। रा. ब. चिंतामणराव वैद्य ने महाभारत के अपने टीकाग्रन्थ में इस विषय का विचार करके जो सिद्धान्त स्थापित किया है, वही हमें सयुक्तिक मालूम होता है। अतएव यहाँ पर इतना कह देना ही यथेष्ट होगा, कि वर्तमान समय में जो महाभारत उपलब्ध है, वह मूल में वैसा नहीं था। भारत या महाभारत के अनेक रूपान्तर हो गये हैं और उस ग्रन्थ को जो अन्तिम स्वरूप प्राप्त हुआ, वही हमारा वर्तमान महाभारत है। यह नहीं कहा जा सकता, कि मूल भारत में भी गीता न रही होगी। हाँ, यह प्रकट है, कि सनत्सुजातीय, विदुरनीति, शुकानुप्रश्न, याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद, विष्णुसहस्रनाम, अनुगीता, नारायणीय धर्म आदि प्रकरणों के समान ही वर्तमान गीता को भी महाभारतकार ने पहले ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा है — नई रचना नहीं की है। तथापि, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि मूल गीता में महाभारतकार ने कुछ भी हेरफेर न किया होगा। उपर्युक्त विवेचन से यह बात सहज ही समझ में आ सकती है, कि वर्तमान सात सौ श्लोकों की गीता वर्तमान महाभारत में है, वर्तमान गीता को किसी ने बाद में मिला नहीं दिया है। आगे यह भी बतलाया जायगा, कि वर्तमान महाभारत का समय कौन-सा है और मूलगीता के विषय में हमारा मत क्या है।

भाग २ – गीता और उपनिषद्।

अब देखना चाहिये, कि गीता और भिन्न भिन्न उपनिषदों का परस्पर सम्बन्ध क्या है। वर्तमान महाभारत ही में स्थान स्थान पर सामान्य रीति से उपनिषदों का उल्लेख किया गया है; और बृहदारण्यक (१.३) तथा छान्दोग्य (१.२) में वर्णित प्राणेन्द्रियों के युद्ध का हाल भी अनुगीता (अश्व. २३) में है; तथा "न मे स्तेनो जनपदे" आदि कैकय-अश्वपति राजा के मुख से निकले हुए शब्द भी (छां. ५.११.५) शान्तिपर्व में उस राजा की कथा का वर्णन करते समय ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं (शां. ७७.८)। इसी प्रकार शान्तिपर्व के जनक-पञ्चशिख-संवाद में बृहदारण्यक (४.५.१३) का यह विषय मिलता है, कि "न प्रेत्य संज्ञास्ति" अर्थात् मरने पर ज्ञाता को कोई संज्ञा नहीं रहती; (क्योंकि वह ब्रह्म में मिल जाता है); और वहीं प्रश्न (६.५) तथा मुण्डक (३.२.८) उपनिषदों में वर्णित नदी और समुद्र का दृष्टान्त नामरूप से विमुक्त पुरुष के विषय में दिया गया है। इन्द्रियों को घो-

छह कर ब्राह्मण-व्याध-संवाद (वन २१) और अनुगीता में बुद्धि को सारथी की जो उपमा दी गई है वह भी कठोपनिषद् से ही ली गई है (क. १ ३ ३); और कठोपनिषद् के ये दोनों श्लोक – 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा' (कठ. ३.१२) और 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (कठ. २.१४) – भी शान्तिपर्व में दो स्थानों पर (१८७. २९ और ३३१. ४४) कुछ फेरफार के साथ पाये जाते हैं। श्वेताश्वतर का 'सर्वतः पाणिपादम्' श्लोक भी, जैसा कि पहले कह आये हैं, महाभारत में अनेक स्थानों पर और गीता में भी मिलता है। परन्तु केवल इतने ही से यह सादृश्य पूरा नहीं हो जाता। इनके सिवा उपनिषदों के और भी बहुत-से वाक्य महाभारत में कई स्थानों पर मिलते हैं। यही क्यों, यह भी कहा जा सकता है कि महाभारत का अध्यात्मज्ञान प्रायः उपनिषदों से ही लिया गया है।

गीतारहस्य के नौवें और तेरहवें प्रकरण में हमने विस्तारपूर्वक दिखला दिया है कि महाभारत के समान ही भगवद्गीता का अध्यात्मज्ञान भी उपनिषदों के आधार पर स्थापित है। और गीता में भक्तिमार्ग का जो वर्णन है वह भी इस ज्ञान से अलग नहीं है। अतएव यहाँ उसको दुबारा न लिख कर संक्षेप में सिर्फ यही बतलाते हैं कि गीता के द्वितीय अध्याय में वर्णित आत्मा का अशोच्यत्व, आठवें अध्याय का अक्षरब्रह्मस्वरूप और तेरहवें अध्याय का क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार तथा विशेष करके 'ज्ञेय' परब्रह्म का स्वरूप – इन सब विषयों का वर्णन गीता में अक्षरशः उपनिषदों के आधार पर ही किया गया है। कुछ उपनिषद् गद्य में हैं और कुछ पद्य में हैं। उनमें से गद्यात्मक उपनिषदों के वाक्यों को पद्यमय गीता में ज्यों-का-त्यों उद्धृत करना सम्भव नहीं; तथापि जिन्हों ने छान्दोग्योपनिषद् आदि को पढ़ा है, इनके ध्यान में यह बात सहज ही आ जावेगी कि 'जो है सो है और जो नहीं सो नहीं' (गीता २ १६) तथा 'यं यं वापि स्मरन् भावम्' (गीता ८ ६) इत्यादि विचार छान्दोग्योपनिषद् से लिये गये हैं; और 'क्षीणे पुण्ये' (गीता ९ २१) 'ज्योतिषां ज्योतिः' (गीता १३ १७) तथा 'मात्रास्पर्शाः' (गीता २ १४) इत्यादि विचार और वाक्य बृहदारण्यक उपनिषद् से लिये गये हैं। परन्तु गद्य उपनिषदों को छोड़ जब हम पद्यात्मक उपनिषदों पर विचार करते हैं, तो यह समता इससे भी अधिक स्पष्ट व्यक्त हो जाती है। क्योंकि इन पद्यात्मक उपनिषदों के कुछ श्लोक ज्यों-के-त्यों भगवद्गीता में उद्धृत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, कठोपनिषद् के छः सात श्लोक अक्षरशः अथवा कुछ शब्दभेद से गीता में लिये गये हैं। गीता के द्वितीय अध्याय का 'आश्चर्यवत्पश्यति' (२ २९) श्लोक, कठोपनिषद् की द्वितीय वल्ली के 'आश्चर्यो वक्ता' (कठ २ ७) श्लोक के समान है; और 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' (गीता २ २०) श्लोक तथा 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' (गीता ८ ११) श्लोकार्ध गीता और कठोपनिषद् में अक्षरशः एक ही हैं (कठ २ १९; २ १५)। यह पहले ही बतला दिया गया है कि गीता का 'इन्द्रियाणि पराण्याहुः' (३ ४२) श्लोक कठोपनिषद् (कठ ३ १०)

से लिया गया है। इसी प्रकार गीता के पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित अश्वत्थ वृक्ष का रूपक कठोपनिषद् से और "न तद्भासयते सूर्यो" (गीता १५.६) श्लोक कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों से – शब्दों में कुछ फेरफार करके – लिया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् की बहुतेरी कल्पनाएँ तथा श्लोक भी गीता में पाये जाते हैं। नौवें प्रकरण में कह चुके हैं, कि माया शब्द का प्रयोग पहले पहल श्वेताश्वतरोपनिषद् में हुआ है और वहीं से वह गीता तथा महाभारत में लिया गया होगा। शब्दसादृश्य से यह भी प्रकट होता है कि गीता के छठवें अध्याय में योगाभ्यास के लिये योग्य स्थल का जो यह वर्णन किया गया है – "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य" (गीता ६.११) – वह "समे शुचौ" आदि (श्वे. २.१०) मन्त्र से लिया गया है और "समं कायशिरोग्रीवं" (गीता ६.१३) ये शब्द "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्" (श्वे. २.८) इस मन्त्र से लिये हैं। इसी प्रकार "सर्वतः पाणिपादं" श्लोक तथा उसके आगे का श्लोकार्ध भी गीता (१३.१३) और श्वेताश्वतरोपनिषद् में शब्दशः मिलता है (श्वे. ३.१६) और "अणोरणीयांसम्" तथा "आदित्यवर्ण तमसः परस्तात्" पद भी गीता (८.९) में और श्वेताश्वतरोपनिषद् (३.२०) में एक ही-से हैं। इनके अतिरिक्त गीता और उपनिषदों का शब्दसादृश्य यह है कि "सर्वभूतस्थमात्मानम्" (गीता ६.२९) और "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो" (गीता १५.१५) ये दोनों श्लोकार्ध कैवल्योपनिषद् (१.१०; २.३) में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। परन्तु इस शब्दसादृश्य के विषय पर अधिक विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि इस बात का किसी को भी सन्देह नहीं है कि गीता का वेदान्त-विषय उपनिषदों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। हमें विशेष कर यही देखना है कि उपनिषदों के विवेचन में और गीता के विवेचन में कुछ अन्तर है या नहीं और यदि है तो किस बात में। अतएव अब उसी पर दृष्टि डालना चाहिये।

उपनिषदों की संख्या बहुत है। उनमें से कुछ उपनिषदों की भाषा तो इतनी अर्वाचीन है कि उनका और पुराने उपनिषदों का असमकालीन होना सहज ही मालूम पड़ जाता है। अतएव गीता और उपनिषदों में प्रतिपादित विषयों के सादृश्य का विचार करते समय इस प्रकरण में हमने प्रधानता से उन्हीं उपनिषदों को तुलना के लिये लिया है जिनका उल्लेख ब्रह्मसूत्रों में है। इन उपनिषदों के अर्थ को और गीता के अध्यायों को जब हम मिला कर देखते हैं तब प्रथम यही बोध होता है कि यद्यपि दोनों में निर्गुण परब्रह्म का स्वरूप एक-सा है तथापि निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति का वर्णन करते समय 'अविद्या' शब्द के बदले 'माया' या 'अज्ञान' शब्द ही का उपयोग गीता में किया गया है। नौवें प्रकरण में इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया गया है कि 'माया' शब्द श्वेताश्वतरोपनिषद् में आ चुका है; नामरूपात्मक अविद्या के लिये ही यह दूसरा पर्याय शब्द है; तथा यह भी ऊपर बतला दिया गया है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के कुछ श्लोक गीता में अक्षरशः पाये जाते हैं। इससे पहला

यह अनुमान किया जाता है कि – 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां ३ १४ १) या 'सर्वमात्मानं पश्यति' (बृ ४ ४ २३) अथवा 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' (ईश ६) इस सिद्धान्त का अथवा उपनिषदों के सार अध्यात्मज्ञान का यद्यपि गीता में संग्रह किया गया है तथापि गीताग्रन्थ तब बना होगा जब कि नामरूपात्मक अविद्या को उपनिषदों में ही 'माया' नाम प्राप्त हो गया होगा।

अब यदि इस बात का विचार करें, कि उपनिषदों के और गीता के उपपादन में क्या भेद है, तो दीख पड़ेगा कि गीता में कापिलसांख्यशास्त्र को विशेष महत्त्व दिया गया है। बृहदारण्यक और छान्दोग्य दोनों उपनिषद् ज्ञानप्रधान हैं परन्तु उनमें तो सांख्यप्रक्रिया का नाम भी दीख नहीं पड़ता। और कठ आदि उपनिषदों में यद्यपि अव्यक्त, महान् इत्यादि सांख्यों के शब्द आये हैं; तथापि यह स्पष्ट है कि उनका अर्थ सांख्यप्रक्रिया के अनुसार न कर के वेदान्तपद्धति के अनुसार करना चाहिये। मैत्र्युपनिषद् के उपासना को भी यही न्याय उपयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार सांख्यप्रक्रिया को बहिष्कृत करने की सीमा यहाँ तक आ पहुँची है कि वेदान्तसूत्रों में पञ्चीकरण के बदले छान्दोग्य उपनिषद् के आधार पर त्रिवृत्करण ही से सृष्टि के नामरूपात्मक वैचित्र्य की उपपत्ति बतलाई गई है (वे सू. २ ४ २०)। सांख्यों को एकदम अलग करके अध्यात्म के क्षर अक्षर का विवेचन करने की यह पद्धति गीता में स्वीकृत नहीं हुई है। तथापि स्मरण रहे कि गीता में सांख्यों के सिद्धान्त ज्यों-के-त्यों नहीं ले लिये गये हैं। त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृति से गुणोत्कर्ष के अनुसार व्यक्त सृष्टि उत्पत्ति होने के विषय में सांख्यों के जो सिद्धान्त हैं वे गीता को ग्राह्य हैं और उनके इस मत से भी गीता सहमत है कि पुरुष निर्गुण हो कर द्रष्टा है। परन्तु द्वैत-सांख्यज्ञान पर अद्वैत-वेदान्त का पहले इस प्रकार प्राबल्य स्थापित कर दिया है कि प्रकृति और पुरुष स्वतन्त्र नहीं हैं। वे दोनों उपनिषद् में वर्णित आत्मरूपी एक ही परब्रह्म के रूप अर्थात् विभूतियाँ हैं और फिर सांख्यों ही के क्षर अक्षरविचार का वर्णन गीता में किया गया है। उपनिषदों के ब्रह्मात्मैक्यरूप अद्वैतमत के साथ स्थापित किया हुआ द्वैती सांख्यों के सृष्ट्युत्पत्तिक्रम का यह मेल गीता के समान महाभारत के अन्य स्थानों में किये हुए अध्यात्मविवेचन में भी पाया जाता है। और ऊपर जो अनुमान किया गया है कि दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति के द्वारा रचे गये हैं वह इस मेल से और भी दृढ़ हो जाता है।

उपनिषदों की अपेक्षा गीता के उपपादन में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है वह व्यक्तोपासना अथवा भक्तिमार्ग है। भगवद्गीता के समान उपनिषदों में भी केवल यज्ञयाग आदि कर्म ज्ञानदृष्टि से गौण ही माने गये हैं। परन्तु व्यक्त मानवदेहधारी ईश्वर की उपासना प्राचीन उपनिषदों में नहीं दीख पड़ती। उपनिषत्कार इस तत्त्व से सहमत हैं कि अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्म का आकलन होना कठिन है। इसलिये मन आकाश सूर्य अग्नि यज्ञ आदि सगुण प्रतीकों की उपासना करनी चाहिये।

शाण्डिल्य अथवा नारद के भक्तिसूत्र उसके बाद के हैं। परन्तु इससे भक्तिमार्ग अथवा भागवतधर्म की प्राचीनता में कुछ भी बाधा हो नहीं सकती। गीतारहस्य में किये गये विवेचन से ये बातें स्पष्ट विदित हो जाती हैं कि प्राचीन उपनिषदों में जिस सगुणोपासना का वर्णन है उसी से क्रमशः हमारा भक्तिमार्ग निकला है। पातञ्जलयोग में चित्त को स्थिर करने के लिये किसी-न-किसी व्यक्त और प्रत्यक्ष वस्तु को दृष्टि के सामने रखना पड़ता है। इसलिये उससे भक्तिमार्ग की और भी पुष्टि हो गई है। भक्तिमार्ग किसी अन्य स्थान से हिन्दुस्थान में नहीं लाया गया है – और न उसे कहीं से लाने की आवश्यकता ही थी। खुद हिन्दुस्थान में इस प्रकार से प्रादुर्भूत भक्तिमार्ग का और विशेषतः वासुदेवभक्ति का उपनिषदों में वर्णित वेदान्त की *दृष्टि से समर्थन करना ही गीता के प्रतिपादन का एक विषय भाग है।*

परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण गीता का भाग कर्मयोग के साथ भक्ति और ब्रह्मज्ञान का मेल कर देना ही है। चातुर्वर्ण्य के अथवा श्रौतयज्ञयाग आदि कर्मों को यद्यपि उपनिषदों ने गौण माना है तथापि कुछ उपनिषत्कारों का कथन है कि उन्हें चित्तशुद्धि के लिये तो करना ही चाहिये; और चित्तशुद्धि होने पर भी उन्हें छोड़ देना उचित नहीं। इतना होने पर भी कह सकते हैं कि अधिकांश उपनिषदों का झुकाव सामान्यतः कर्मसंन्यास की ओर ही है। ईशावास्योपनिषद् के समान कुछ अन्य उपनिषरों में भी 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' जैसे आमरण कर्म करते रहने के विषय में वचन पाये जाते हैं। परन्तु अध्यात्मज्ञान और सांसारिक कर्मों के बीच का विरोध मिटा कर प्राचीन काल से प्रचलित इस कर्मयोग का समर्थन जैसा गीता में किया गया है वैसा किसी भी उपनिषद् में पाया नहीं जाता। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि इस विषय में गीता का सिद्धान्त अधिकांश उपनिषत्कारों के सिद्धान्तों से भिन्न है। गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इसलिये उसके बारे में यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

गीता के छठे अध्याय में जिस योगसाधन का निर्देश किया गया है उसका विस्तृत और ठीक ठीक विवेचन पातञ्जलयोगसूत्र में पाया जाता है और इस समय ये सूत्र ही इस विषय के प्रमाणभूत ग्रन्थ समझे जाते हैं। इन सूत्रों के चार अध्याय हैं। पहले अध्याय के आरम्भ में योग की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'; और यह बतलाया गया है कि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' — अर्थात् यह निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से किया जा सकता है। आगे चल कर यम-नियम-आसन-प्राणायाम आदि योगसाधनों का वर्णन करके तीसरे और चौथे अध्यायों में इस बात का निरूपण किया है कि 'असंप्रज्ञात' अर्थात् निर्विकल्प समाधि से अणिमा-लघिमा आदि अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं; तथा इसी समाधि से अन्त में ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। भगवद्गीता में भी पहले चित्तनिरोध करने की आवश्यकता (गीता ६. २०) बतलाई गई। फिर कहा है कि अभ्यास तथा वैराग्य

इन दोनों साधनों से चित्त का निरोधन करना चाहिये (६. १४) और अन्त में निर्विकल्प समाधि लगाने की रीति का वर्णन करके, यह दिखलाया है कि उसमें क्या सुख है। परन्तु केवल इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि पातञ्जलयोगमार्ग से भगवद्गीता सहमत है अथवा पातञ्जलसूत्र भगवद्गीता से प्राचीन है। पातञ्जलसूत्र की नाई भगवान् ने यह कहीं नहीं कहा है कि समाधि सिद्ध होने के लिये नाक पकड़े पकड़े सारी आयु व्यतीत कर देनी चाहिये। कर्मयोग की सिद्धि के लिये बुद्धि की समता होनी चाहिये और इस समता की प्राप्ति के लिये चित्तनिरोध तथा समाधि दोनों आवश्यक है। अतएव केवल साधनरूप से इनका वर्णन गीता में किया गया है। ऐसी अवस्था में यही कहना चाहिये कि इस विषय में पातञ्जलसूत्रों की अपेक्षा श्वेताश्वतरोपनिषद् या कठोपनिषद् के साथ गीता अधिक मिलती जुलती है। ध्यानबिन्दु, क्षुरिका और योगतत्त्व उपनिषद् भी योगविषयक ही हैं। परन्तु उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय केवल योग है और उनमें सिर्फ योग ही की महत्ता का वर्णन किया गया है। इसलिये केवल कर्मयोग को श्रेष्ठ माननेवाली गीता से इन एकपक्षीय उपनिषदों का मेल करना उचित नहीं और न वह हो ही सकता है। थामसन साहब ने गीता का अंग्रेजी में जो अनुवाद किया है उसके उपोद्घात में आप कहते हैं कि गीता का कर्मयोग पातञ्जलयोग ही का एक रूपान्तर है। परन्तु यह बात असम्भव है। इस विषय पर हमारा यही कथन है कि गीता के 'योग' शब्द का ठीक ठीक अर्थ समझ में न आने के कारण यह भ्रम उत्पन्न हुआ है। क्योंकि इधर गीता का कर्मयोग प्रवृत्तिप्रधान है तो उधर पातञ्जलयोग बिलकुल उसके विरुद्ध अर्थात् निवृत्तिप्रधान है। अतएव उनमें से एक का दूसरे से प्रादुर्भूत होना कभी सम्भव नहीं और न यह बात गीता में कही गई है। इतना ही नहीं; यह भी कहा जा सकता है कि योग शब्द का प्राचीन अर्थ 'कर्मयोग' था और सम्भव है कि वही शब्द पातञ्जलसूत्रों के अनन्तर केवल 'चित्तनिरोधरूपी योग' के अर्थ में प्रचलित हो गया हो। चाहे जो हो, यह निर्विवादसिद्ध है कि प्राचीन समय में जनक आदि ने जिस निष्काम कर्माचरण के मार्ग का अवलम्बन किया था उसी के सदृश गीता का योग अर्थात् कर्मयोग भी है और वह मनु-इक्ष्वाकु आदि महानुभावों की परम्परा से चले हुए भागवतधर्म से लिया गया है — वह कुछ पातञ्जलयोग से उत्पन्न नहीं हुआ है।

अब तक किये गये विवेचन से यह बात समझ में आ जायगी कि गीताधर्म और उपनिषदों में भिन्न भिन्न बातों की विभिन्नता और समानता है। इनमें से बहुतेरी बातों का विवेचन गीतारहस्य में स्थान स्थान पर किया जा चुका है। अतएव यहाँ संक्षेप में यह बतलाया जाता है कि यद्यपि गीता में ब्रह्मज्ञान उपनिषदों के आधार पर ही बतलाया गया है तथापि उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान का ही निरा अनुवाद न कर उसमें वासुदेवभक्ति का और सांख्यशास्त्र में वर्णित सृष्ट्युत्पत्तिक्रम का अथवा क्षराक्षरज्ञान का भी समावेश किया गया है और इसमें वैदिक कर्मयोग धर्म

ही का प्रधानता से प्रतिपादन किया गया है, जो सामान्य लोगों के लिये आचरण करने में सुगम हो, एवं इस लोक तथा परलोक में श्रेयस्कर हो। उपनिषदों की अपेक्षा गीता में जो कुछ विशेषता है, वह यही है। अतएव ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य बातों में भी संन्यासप्रधान उपनिषदों के साथ गीता का मेल करने के लिये साम्प्रदायिक दृष्टि से गीता के अर्थ की खींचातानी करना उचित नहीं है। यह सच है कि दोनों में अध्यात्मज्ञान एक ही सा है। परन्तु – जैसा कि हमने गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में स्पष्ट दिखला दिया है – अध्यात्मरूप मस्तक एक भले हो, तो भी सांख्य तथा कर्मयोग वैदिकधर्म-पुरुष के दो समानबलवाले हाथ हैं और इनमें से ईशावास्योपनिषद् के अनुसार ज्ञानयुक्त कर्म ही का प्रतिपादन मुक्तकंठ से गीता में किया गया है।

भाग ३ – गीता और ब्रह्मसूत्र

ज्ञानप्रधान, भक्तिप्रधान और योगप्रधान उपनिषदों के साथ भगवद्गीता में जो सादृश्य और भेद हैं, उनका इस प्रकार विवेचन कर चुकने पर यथार्थ में ब्रह्मसूत्रों और गीता की तुलना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, भिन्न भिन्न उपनिषदों में भिन्न भिन्न ऋषियों के बतलाये हुए अध्यात्म-सिद्धान्तों का नियमबद्ध विवेचन करने के लिये ही बादरायणाचार्य के ब्रह्मसूत्रों की रचना हुई है। इसलिये उनमें उपनिषदों से भिन्न भिन्न विचारों का होना सम्भव नहीं। परन्तु भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार करते समय ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है –

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

अर्थात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का अनेक प्रकार से विविध छन्दों के द्वारा (अनेक) ऋषियों ने पृथक् पृथक् और हेतुयुक्त तथा पूर्ण निश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदों से भी विवेचन किया है (गीता १३. ४)। और यदि इन ब्रह्मसूत्रों को तथा वर्तमान वेदान्तसूत्रों को एक ही मान लें, तो कहना पड़ता है कि वर्तमान गीता वर्तमान वेदान्तसूत्रों के बाद बनी होगी। अतएव गीता का कालनिर्णय करने की दृष्टि से इस बात का अवश्य विचार करना पड़ता है कि ब्रह्मसूत्र कौन से हैं। क्योंकि वर्तमान वेदान्तसूत्रों के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र नामक कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं पाया जाता; और न उसके विषय में कहीं वर्णन ही है।* और यह कहना तो किसी प्रकार उचित नहीं

* इस विषय का विचार परलोकवासी तैलंग ने किया है। इसके सिवा सन् १८९५ में इसी विषय पर प्रो. तुकाराम रामचन्द्र अमळनेरकर बी. ए. ने भी एक निबन्ध प्रकाशित किया है।

कैंचता कि वर्तमान ब्रह्मसूत्रों के बाद गीता बनी होगी। क्योंकि, गीता की प्राचीनता के विषय में परम्परागत समझ चली आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायः इसी कठिनाई को ध्यान में ला कर शाङ्करभाष्य में 'ब्रह्मसूत्रपदैः' का अर्थ 'श्रुतियों के अथवा उपनिषदों के ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य' किया गया है। परन्तु इसके विपरीत शाङ्करभाष्य के टीकाकार आनन्दगिरि और रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य प्रभृति गीता के अन्यान्य भाष्यकार यह कहते हैं कि यहाँ पर 'ब्रह्मसूत्रपदैः' शब्दों से 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इन बादरायणाचार्य के ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश किया गया है; और श्रीधरस्वामी को दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। अतएव इस श्लोक का सत्यार्थ हमें स्वतन्त्र रीति से ही निश्चित करना चाहिये। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विचार 'ऋषियों ने अनेक प्रकार से पृथक्' कहा है; और इसके सिवा (च) 'हेतुयुक्त और विनिश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदों ने भी' वही अर्थ कहा है; इस प्रकार 'चैव' (और भी) पद से इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि इस श्लोक में क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार के दो भिन्न भिन्न स्थानों का उल्लेख किया गया है। इतना केवल भिन्न ही नहीं है, किन्तु इनमें से पहला अर्थात् ऋषियों का किया हुआ वर्णन 'विविध छन्दों के द्वारा पृथक् पृथक्' अर्थात् कुछ यहाँ और कुछ वहाँ तथा अनेक प्रकार का है; और उसका अनेक ऋषियों द्वारा किया जाना 'ऋषिभिः' (इस बहुवचन तृतीयान्त पद) से स्पष्ट हो जाता है। तथा ब्रह्मसूत्रपदों का दूसरा वर्णन 'हेतुयुक्त और निश्चयात्मक' है। इस प्रकार इन दोनों वर्णनों की विशेष भिन्नता का स्पष्टीकरण इसी श्लोक में है। 'हेतुमत्' शब्द महाभारत में कई स्थानों पर पाया जाता है और उसका अर्थ है – 'नैयायिक पद्धति से कार्यकारणभाव बतला कर किया हुआ प्रतिपादन'। उदाहरणार्थ, जनक के सन्मुख सुलभा का किया हुआ भाषण, अथवा श्रीकृष्ण जब शिष्टाई के लिये कौरवों की सभा में गये, उस समय उनका किया हुआ भाषण लीजिये। महाभारत में ही पहले भाषण को 'हेतुमत् और अर्थवत्' (शां. ३२० . १९१) और दूसरे को 'सहेतुक' (उद्यो. १३१.) कहा है। इससे प्रकट होता है कि जिस प्रतिपादन में साधकबाधक प्रमाण बतला कर अन्त में कोई भी अनुमान निस्सन्देह सिद्ध किया जाता है, उसी को 'हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' विशेषण लगाये जा सकते हैं। ये शब्द उपनिषदों के ऐसे सङ्कीर्ण प्रतिपादन को नहीं लगाये जा सकते कि जिसमें कुछ तो एक स्थान में हो और कुछ दूसरे स्थान में। अतएव 'ऋषिभिः बहुधा विविधैः पृथक्' और 'हेतुमद्भिः विनिश्चितैः' पदों के विरोधात्मक स्वारस्य को यदि स्थिर रखना हो, तो यही कहना पड़ेगा कि गीता के उक्त श्लोक में 'ऋषियों द्वारा विविध छन्दों में किये गये अनेक प्रकार के पृथक्' विवेचनों से भिन्न भिन्न उपनिषदों के सङ्कीर्ण और पृथक् वाक्य ही अभिप्रेत हैं; तथा 'हेतुयुक्त और विनिश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदों' से ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ का वह विवेचन अभिप्रेत है कि जिसमें साधकबाधक प्रमाण दिखला कर अन्तिम सिद्धान्तों का सन्देहरहित निर्णय किया गया है। यह भी

स्मरण रहे, कि उपनिषदों के सब विचार इधर उधर बिखरे हुए हैं, अर्थात् अनेक ऋषियों को जैसे सूझते गये, वैसे ही वे कहे गये हैं। उनमें कोई विशेष पद्धति या क्रम नहीं है। अतएव उनकी एकवाक्यता किये बिना उपनिषदों का भावार्थ ठीक ठीक समझ में नहीं आता। यही कारण है, कि उपनिषदों के साथ ही साथ उस ग्रन्थ या वेदान्तसूत्र (ब्रह्मसूत्र) का भी उल्लेख कर देना आवश्यक था, जिसमें वाक्यकरण हेतु विवेचन कर उनकी (अर्थात् उपनिषदों की) एकवाक्यता की गई है।

गीता के श्लोकों का उक्त अर्थ करने से यह प्रकट हो जाता है कि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र गीता के पहले बने हैं। उनमें से मुख्य मुख्य उपनिषदों के विषय में तो कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता; क्योंकि इन उपनिषदों के बहुतेरे श्लोक गीता में शब्दशः पाये जाते हैं। परन्तु ब्रह्मसूत्रों के विषय में सन्देह अवश्य किया जा सकता है। क्योंकि ब्रह्मसूत्रों में यद्यपि 'भगवद्गीता' शब्द का उल्लेख प्रत्यक्ष में नहीं किया गया है, तथापि भाष्यकार यह मानते हैं कि कुछ सूत्रों में 'स्मृति' शब्द से भगवद्गीता ही का निर्देश किया गया है। जिन ब्रह्मसूत्रों में शाङ्करभाष्य के अनुसार 'स्मृति' शब्द से गीता ही का उल्लेख किया गया है, उनमें से नीचे लिखे हुए सूत्र मुख्य हैं :–

ब्रह्मसूत्र – अध्याय पाद और सूत्र	गीता – अध्याय और श्लोक
१ २ ६ स्मृतेश्च।	गीता १८ ६१ ईश्वरः सर्वभूतानां आदि श्लोक।
१ ३ २३ अपि च स्मर्यते।	गीता १५ ६ न तद्भासयते सूर्यो आ०।
२ १ ३६ उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च।	गीता १५ ३ न रूपमस्येह तथोपलभ्यते आदि।
२ ३ ४५ अपि च स्मर्यते।	गीता १५ ७ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः आदि।
३ २ १७ दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते।	गीता १३ १२ ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि आदि।
३ ३ ३१ अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्।	गीता ८ २६ शुक्लकृष्णे गती ह्येते आदि।
४ १ १० स्मरन्ति च।	गीता ६ ११ शुचौ देशे आदि।
४ २ २१ योगिनः प्रति च स्मर्यते।	गीता ८ २३ यत्र कालेत्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः आदि।

उपर्युक्त आठ स्थानों में से कुछ यदि सन्दिग्ध भी माने जायँ, तथापि हमारे मत से तो चौथे (ब्र. सू. २. ३. ४५) और आठवें (ब्र. सू. ४. २. २१) के विषय में कुछ सन्देह नहीं है; और यह भी स्मरण रखने योग्य है कि इस विषय में — शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य — चारों भाष्यकारों का मत एक ही सा है। ब्रह्मसूत्र के उक्त दोनों स्थानों (ब्र. सू. २. ३. ४५ और ४. २. २१) के विषय में इस प्रसङ्ग पर भी अवश्य ध्यान देना चाहिये — जीवात्मा और परमात्मा के परस्परसम्बन्ध का विचार करते समय पहले "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" (ब्र. सू. २. ३. १७) इस सूत्र ने यह निर्णय किया है कि सृष्टि के अन्य पदार्थों के समान जीवात्मा परमात्मा से उत्पन्न नहीं हुआ है। उसके बाद "अंशो नाना व्यपदेशात्" (२. ३. ४३) सूत्र से यह बतलाया है कि जीवात्मा परमात्मा ही का 'अंश' है; और आगे "मन्त्रवर्णात्" (२. ३. ४४) इस प्रकार श्रुति का प्रमाण देकर अन्त में "अपि च स्मर्यते" (२. ३. ४५) — स्मृति में भी यही कहा है — इस सूत्र का प्रयोग किया गया है। सब भाष्यकारों का कथन है कि यह स्मृति यानी गीता का "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गीता १५. ७) यह वचन है। परन्तु इसकी अपेक्षा अन्तिम स्थान (अर्थात् ब्रह्मसूत्र ४. २. २१) और भी अधिक निस्सन्देह है। यह पहले ही दसवें प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि देवयान और पितृयान गति में क्रमानुसार उत्तरायण के छः महीने और दक्षिणायन के छः महीने होते हैं; और उनका अर्थ कालप्रधान न करके बादरायणाचार्य कहते हैं कि इन शब्दों से तत्तत्कालाभिमानी देवता अभिप्रेत हैं (वे. सू. ४. ३. ४)। अब यह प्रश्न हो सकता है कि दक्षिणायन और उत्तरायण शब्दों का कालवाचक अर्थ क्या कभी लिया ही न जाय? इसलिये "योगिनः प्रति च स्मर्यते" (ब्र. सू. ४. २. २१) अर्थात् ये काल स्मृति में योगियों के लिये विहित माने गये हैं — इस सूत्र का प्रयोग किया गया है; और गीता (८. २३) में यह बात साफ़ साफ़ कह दी गई है कि "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः" अर्थात् ये काल योगियों को विहित हैं। इससे भाष्यकारों के मतानुसार यही कहना पड़ता है कि उक्त दोनों स्थानों पर ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से भगवद्गीता ही विवक्षित है।

परन्तु जब यह मानते हैं कि भगवद्गीता में ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट उल्लेख है और ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से भगवद्गीता का निर्देश किया गया है, तो दोनों में कालदृष्टि से विरोध उत्पन्न हो जाता है। वह यह है — भगवद्गीता में ब्रह्मसूत्रों का साफ़ साफ़ उल्लेख है, इसलिये ब्रह्मसूत्रों का गीता के पहले रचा जाना निश्चित होता है; और ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से गीता का निर्देश माना जाय तो गीता का ब्रह्मसूत्रों के पहले होना निश्चित हुआ जाता है। ब्रह्मसूत्रों का एक बार गीता के पहले रचा जाना और दूसरी बार उन्हीं सूत्रों का गीता के बाद रचा जाना सम्भव नहीं।

अच्छा; अब यदि इस झगड़े से बचने के लिए 'ब्रह्मसूत्र' शब्द से शांकरभाष्य में दिये हुए अर्थ को स्वीकार करते हैं, तो 'हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' इत्यादि पदों का स्वारस्य ही नष्ट हो जाता है। और यदि यह मानें कि ब्रह्मसूत्रों के 'स्मृति' शब्द से गीता के अतिरिक्त कोई दूसरा स्मृतिग्रन्थ विवक्षित होगा, तो यह कहना पड़ेगा कि भाष्यकारों ने भूल की है। अच्छा; यदि उनकी भूल कहें, तो भी यह बतलाया नहीं जा सकता कि 'स्मृति' शब्द से कौन-सा ग्रन्थ विवक्षित है। तब इस अड़चन से कैसे पार पावें? हमारे मतानुसार इस अड़चन से बचने का केवल एक ही मार्ग है। यदि यह मान लिया जाय कि जिसने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है, उसी ने मूल भारत तथा गीता को वर्तमान स्वरूप दिया है, तो कोई अड़चन या विरोध नहीं रह जाता। ब्रह्मसूत्रों को 'व्याससूत्र' कहने की रीति पड़ गई है; और 'शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः' (ब्र. सू. ३. ४. २) इस सूत्र पर शांकरभाष्य की टीका में आनन्दगिरि ने लिखा है कि जैमिनि वेदान्तसूत्रकार व्यासजी के शिष्य थे; और आरम्भ के मङ्गलाचरण में भी, 'श्रीमद्व्यासपयोनिधिर्निधिरसौ' इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मसूत्रों का वर्णन किया है। यह कथा महाभारत के आधार पर हम ऊपर बतला चुके हैं कि महाभारतकार व्यासजी के पैल, शुक, सुमन्तु, जैमिनि और वैशम्पायन नामक पाँच शिष्य थे और उनको व्यासजी ने महाभारत पढ़ाया था। इन दोनों बातों को मिला कर विचार करने से यही अनुमान होता है कि भारत और तदन्तर्गत गीता को वर्तमान स्वरूप देने का तथा ब्रह्मसूत्रों की रचना करने का काम भी एक बादरायण व्यासजी ने ही किया होगा। इस कथन का यह मतलब नहीं कि बादरायणाचार्य ने वर्तमान महाभारत की नवीन रचना की। हमारे कथन का भावार्थ यह है :– महाभारतग्रन्थ के अतिविस्तृत होने के कारण सम्भव है कि बादरायणाचार्य के समय उसके कुछ भाग इधर उधर बिखर गये हों या लुप्त भी हो गये हों। ऐसी अवस्था में तत्कालीन उपलब्ध महाभारत के भागों की खोज करके तथा ग्रन्थ में जहाँ जहाँ अपूर्णता, अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ दीख पड़ीं वहाँ वहाँ उनका संशोधन और उनकी पूर्ति करके, तथा अनुक्रमणिका आदि जोड़ कर बादरायणाचार्य ने इस ग्रन्थ का पुनरुज्जीवन किया हो अथवा उसे वर्तमान स्वरूप दिया हो। यह बात प्रसिद्ध है कि मराठी साहित्य में ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ का ऐसा ही संशोधन एकनाथ महाराज ने किया था। और यह कथा भी प्रचलित है कि एक बार संस्कृत का व्याकरण महाभाष्य प्रायः लुप्त हो गया था और उसका पुनरुद्धार चन्द्रशेखराचार्य को करना पड़ा। अब इस बात की ठीक ठीक उपपत्ति लग जाती है कि महाभारत के अन्य प्रकरणों में गीता के श्लोक क्यों पाये जाते हैं; तथा यह बात भी सहज ही हल हो जाती है कि गीता में ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट उल्लेख और ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से गीता का निर्देश क्यों किया गया है। जिस गीता के आधार पर वर्तमान गीता बनी है, वह बादरायणाचार्य के पहले भी उपलब्ध थी। इसी कारण ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से उसका निर्देश किया गया और महाभारत का

के लिये उपयोग करना कुछ अनुचित न होगा, कि वर्तमान गीता में किया गया ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख केवल अकेला या अपूर्व अतएव अविश्वसनीय नहीं है।

'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' इत्यादि श्लोक के पदों के अर्थ-स्वारस्य की मीमांसा करके हम ऊपर इस बात का निर्णय कर आये हैं कि भगवद्गीता में ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रों ही का उल्लेख होने का – और वह भी तेरहवें अध्याय में अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचार ही में होने का – हमारे मत में एक और महत्त्वपूर्ण तथा दृढ़ कारण है। भगवद्गीता में वासुदेवभक्ति का तत्त्व यद्यपि मूल भागवत या पाञ्चरात्र-धर्म से लिया गया है तथापि (जैसा हम पिछले प्रकरणों में कह आये हैं) चतुर्व्यूह-पाञ्चरात्र-धर्म में वर्णित मूल जीव और मन की उत्पत्ति के विषय का यह मत भगवद्गीता को मान्य नहीं है कि वासुदेव से सङ्कर्षण अर्थात् जीव, सङ्कर्षण से प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहङ्कार) उत्पन्न हुआ। ब्रह्मसूत्रों का यह सिद्धान्त है, कि जीवात्मा किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हुआ है (वे. सू. २. ३. १७)। वह सनातन परमात्मा ही का नित्य 'अंश' है (वे. सू. २. ३. ४३)। इसलिये ब्रह्मसूत्रों के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद में पहले कहा है कि वासुदेव से सङ्कर्षण का होना अर्थात् भागवतधर्मीय जीवसम्बन्धी उत्पत्ति सम्भव नहीं (वे. सू. २. २. ४२); और फिर यह कहा है कि मन जीव की एक इन्द्रिय है। इसलिये जीव से प्रद्युम्न (मन) का होना भी सम्भव नहीं (वे. सू. २. २. ४३)। क्योंकि लोकव्यवहार की ओर देखने से तो यही बोध होता है कि कर्ता से कारण या साधन उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार बादरायणाचार्य ने भागवत धर्म में वर्णित जीव की उत्पत्ति का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। सम्भव है कि भागवतधर्मवाले इस पर यह उत्तर दें कि हम वासुदेव (ईश्वर) सङ्कर्षण (जीव) प्रद्युम्न (मन) तथा अनिरुद्ध (अहङ्कार) को एक ही समान ज्ञानी समझते हैं; और एक से दूसरे की उत्पत्ति को लाक्षणिक तथा गौण मानते हैं। परन्तु ऐसा मानने से कहना पड़ेगा कि एक मुख्य परमेश्वर के बदले चार मुख्य परमेश्वर हैं। अतएव ब्रह्मसूत्रों में कहा है कि यह उत्तर भी समर्पक नहीं है। और बादरायणाचार्य ने अन्तिम निर्णय यह किया है कि यह मत – परमेश्वर से जीव का उत्पन्न होना – वेद अर्थात् उपनिषदों के मत के विरुद्ध अतएव त्याज्य है (वे. सू. २. २. ४४. ४५)। यद्यपि यह बात सच है कि भागवतधर्म का कर्मप्रधान भक्तितत्त्व भगवद्गीता में लिया गया है। तथापि गीता का यह भी सिद्धान्त है कि जीव वासुदेव से उत्पन्न नहीं हुआ। किन्तु नित्य परमात्मा ही का 'अंश' है (गीता १५. ७)। जीव विषयक यह सिद्धान्त मूल भागवत धर्म से नहीं लिया गया। इसलिये यह बतलाना आवश्यक था कि इसका आधार क्या है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता तो सम्भव है कि यह भ्रम उपस्थित हो जाता कि चतुर्व्यूह भागवतधर्म के प्रवृत्तिप्रधान भक्तितत्त्व के साथ ही साथ जीव की उत्पत्तिविषयक कल्पना से भी गीता सहमत है। अतएव क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार में जब जीवात्मा का स्वरूप बतलाने का समय आया तब –

अर्थात् गीता के तेरहवें अध्याय के आरम्भ ही में – यह स्पष्ट रूप से कह देना पड़ा, कि 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा मत भागवतधर्म के अनुसार नहीं वरन उपनिषदों में वर्णित ऋषियों के मतानुसार है; और फिर उसके साथ ही साथ स्वभावतः यह भी कहना पड़ा है कि भिन्न भिन्न ऋषियों ने भिन्न भिन्न उपनिषदों में पृथक् पृथक् उपपादन किया है। इसलिये उन सब की ब्रह्मसूत्रों में की गई एकवाक्यता (वे. सू. २. ३. ४३) ही हमें मान्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतीत होगा कि भागवतधर्म के भक्तिमार्ग का गीता में इस रीति से समावेश किया गया है जिससे वे आक्षेप दूर हो जावें, कि जो ब्रह्मसूत्रों में भागवतधर्म पर लाये गये हैं। रामानुजाचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रभाष्य में उक्त सूत्रों के अर्थ को बदल दिया है (वे. सू. रा. भा. २. २. ४२–४५ देखो)। परन्तु हमारे मत में ये अर्थ क्लिष्ट अतएव अग्राह्य हैं। थीबो साहब का झुकाव रामानुज-भाष्य में दिये गये अर्थ की ओर ही है; परन्तु उनके लेखों से तो यही ज्ञात होता है कि इस बात का यथार्थ स्वरूप उनके ध्यान में नहीं आया। महाभारत में – शान्तिपर्व के अन्तिम भाग में नारायणीय अथवा भागवतधर्म का जो वर्णन है उसमें – यह नहीं कहा है कि वासुदेव से जीव अर्थात् संकर्षण उत्पन्न हुआ; किन्तु पहले यह बतलाया है कि जो वासुदेव है वही (स एव) संकर्षण अर्थात् जीव या क्षेत्रज्ञ है (शां. ३३९. ३९ तथा ७१ और ३३४. २८ तथा २९ देखो); और इसके बाद संकर्षण से प्रद्युम्न तक की केवल परम्परा दी गई है। एक स्थान पर तो यह साफ़ साफ़ कह दिया है कि भागवतधर्म को कोई चतुर्व्यूह, कोई त्रिव्यूह, कोई द्विव्यूह और अन्त में कोई एकव्यूह भी मानते हैं। (म. भा. शां. ३४८. ५७)। परन्तु भागवतधर्म के इन विविध पक्षों को स्वीकार न कर, उनमें से सिर्फ़ वही एक मत वर्तमान गीता में स्थिर किया है कि जिसका मेल क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के परस्परसम्बन्ध में उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों से हो सके। और इस बात पर ध्यान देने पर यह प्रश्न ठीक तौर से हल हो जाता है कि ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख गीता में क्यों किया है? अथवा यह कहना भी अयुक्ति नहीं कि मूल गीता में यह एक सुधार ही किया गया है।

भाग ४ – भागवतधर्म का उदय और गीता

गीतारहस्य में अनेक स्थानों पर तथा इस प्रकरण में भी पहले यह बतला दिया गया है कि उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान तथा कापिलसांख्य के क्षर अक्षरविचार के साथ भक्ति और विशेषतः निष्कामकर्म का मेल करके कर्मयोग का शास्त्रीय रीति से पूर्णतया समर्थन करना ही गीता-ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु इतने विषयों की एकता करने की गीता की पद्धति जिनके ध्यान में पूरी तरह नहीं आ सकती, तथा जिनका पहले ही से यह मत हो जाता है कि इनमें विषयों की एकता हो ही नहीं सकती, उन्हें इस बात का भास हुआ करता है कि गीता के कुछेरे

सिद्धान्त परस्परविरोधी हैं। उदाहरणार्थ, इन आक्षेपकों का यह मत है कि तेरहवें अध्याय का यह कथन – कि इस जगत् में जो कुछ है वह सब निर्गुण ब्रह्म है – सातवें अध्याय के इस कथन से बिलकुल ही विरुद्ध है कि यह सब सगुण वासुदेव ही है। इसी प्रकार भगवान् एक जगह कहते हैं कि 'मुझे शत्रु और मित्र समान हैं' (९. २९) और दूसरे स्थान पर यह भी कहते हैं कि 'ज्ञानी तथा भक्तिमान् पुरुष मुझे अत्यंत प्रिय हैं' (७. १७; १२. १९) – ये दोनों बातें परस्परविरोधी हैं। परन्तु हमने गीतारहस्य में अनेक स्थानों पर इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया है कि वस्तुतः ये विरोध नहीं हैं; किन्तु एक ही बात पर एक बार अध्यात्मदृष्टि से और दूसरी बार भक्ति की दृष्टि से विचार किया गया है। इसलिये यद्यपि [illegible] ही में ये विरोधी बातें कहनी पड़ीं, तथापि अन्त में व्यापक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से गीता में उनका मेल भी कर दिया गया है। इस पर भी कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि अव्यक्त ब्रह्मज्ञान और व्यक्त परमेश्वर की भक्ति में यद्यपि उक्त प्रकार से मेल कर दिया गया है, तथापि मूल गीता में इस मेल का होना सम्भव नहीं। क्योंकि मूल की वर्तमान गीता के समान परस्परविरोधी बातों से भरी नहीं थी – उसमें वेदान्तियों ने अथवा सांख्यशास्त्राभिमानियों ने अपने शास्त्रों के भाग पीछे से घुसेड़ दिये हैं। उदाहरणार्थ प्रो. गार्बे का कथन है कि मूल गीता में भक्ति का मेल केवल सांख्य तथा योग ही से किया है; वेदान्त के साथ और मीमांसकों के कर्ममार्ग के साथ भक्ति का मेल कर देने का काम किसी ने पीछे से किया है। मूल गीता में इस प्रकार जो श्लोक पीछे से जोड़े गये, उनकी अपने मतानुसार एक तालिका भी उसने जर्मन भाषा में अनुवादित अपनी गीता के अन्त में दी है! हमारे मतानुसार ये सब कल्पनाएँ भ्रममूलक हैं। वैदिकधर्म के भिन्न भिन्न अंगों की ऐतिहासिक परम्परा और गीता के 'सांख्य' तथा 'योग' शब्दों का सच्चा अर्थ ठीक ठीक न समझने के कारण और विशेषतः तत्त्वज्ञानविरहित अर्थात् केवल भक्तिप्रधान ईसाई धर्म ही का इतिहास उक्त लेखकों (प्रो. गार्बे प्रभृति) के सामने रखा रहने के कारण उक्त प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। ईसाई धर्म पहले केवल भक्तिप्रधान था; और ग्रीक लोगों के तथा दूसरों के तत्त्वज्ञान से उसका मेल करने का काम पीछे से किया गया है। परन्तु यह बात हमारे धर्म की नहीं। हिन्दुस्थान में भक्तिमार्ग का उदय होने के पहले ही मीमांसकों का यज्ञमार्ग, उपनिषत्कारों का ज्ञान तथा सांख्य और योग – इन को परिपक्व दशा प्राप्त हो चुकी थी। इसलिये पहले ही से हमारे देशवासियों को स्वतंत्र रीति से प्रतिपादित ऐसा भक्तिमार्ग कभी भी मान्य नहीं हो सकता था; जो इन सब शास्त्रों से और विशेष करके उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मज्ञान से अलग हो। इस बात पर ध्यान देने से यह मानना पड़ता है कि गीता के धर्मप्रतिपादन का स्वरूप पहले ही से प्रायः वर्तमान गीता के प्रतिपादन के सदृश ही था। गीतारहस्य का विवेचन भी इसी बात की ओर ध्यान देकर किया गया है। परन्तु यह विषय अत्यन्त महत्त्व का है।

इसलिये संक्षेप में यहाँ पर यह बतलाना चाहिये कि गीताधर्म के मूलस्वरूप तथा परम्परा के सम्बन्ध में (ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर) हमारे मत में कौन कौन-सी बातें निष्पन्न होती हैं।

गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में इस बात का विवेचन किया गया है कि वैदिक धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप न तो भक्तिप्रधान, न तो ज्ञानप्रधान और न योगप्रधान ही था; किन्तु वह यज्ञमय अर्थात् कर्मप्रधान था और वेदसंहिता तथा ब्राह्मणों में विशेषतः इसी यज्ञयाग आदि कर्मप्रधान धर्म का प्रतिपादन किया गया है। आगे चल कर इसी धर्म का व्यवस्थित विवेचन जैमिनि के मीमांसासूत्रों में किया गया है। इसीलिये उसे 'मीमांसकमार्ग' नाम प्राप्त हुआ। परन्तु यद्यपि 'मीमांसक' नाम नया है तथापि इस विषय में तो बिलकुल ही सन्देह नहीं, कि यज्ञयाग आदि धर्म अत्यन्त प्राचीन है। इतना ही नहीं, किन्तु उसे ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिकधर्म की प्रथम सीढ़ी कह सकते हैं। 'मीमांसकमार्ग' नाम प्राप्त होने के पहले उसको त्रयीधर्म अर्थात् तीन वेदों द्वारा प्रतिपादित धर्म कहते थे और इसी नाम का उल्लेख गीता में भी किया गया है (गीता तथा देखो)। कर्ममय त्रयीधर्म के इस प्रकार जोर शोर से प्रचलित रहने पर, कर्म से अर्थात् केवल यज्ञयाग आदि के बाह्य प्रयत्न से परमेश्वर का ज्ञान कैसे हो सकता है? ज्ञान होना एक मानसिक स्थिति है। इस लिये परमेश्वर के स्वरूप का विचार किये बिना ज्ञान होना सम्भव नहीं। इत्यादि विषय और कल्पनायें उपस्थित होने लगीं और धीरे धीरे इन्हीं में से औपनिषदिक ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। यह बात छान्दोग्य आदि उपनिषदों के आरम्भ में जो अवतरण दिये हैं उनसे स्पष्ट मालूम हो जाती है। इस औपनिषदिक ब्रह्मज्ञान ही को आगे चलकर 'वेदान्त' नाम प्राप्त हुआ। परन्तु, मीमांसा शब्द के समान यद्यपि वेदान्त नाम पीछे से प्रचलित हुआ है, तथापि उससे यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मज्ञान अथवा ज्ञानमार्ग भी नया है। यह सच है, कि कर्मकाण्ड के अनन्तर ही ज्ञानकाण्ड उत्पन्न हुआ; परन्तु स्मरण रहे कि ये दोनों प्राचीन हैं। इस ज्ञानमार्ग ही की दूसरी किन्तु स्वतन्त्र शाखा 'कापिलसांख्य' है। गीतारहस्य में यह बतला दिया गया है कि इधर ब्रह्मज्ञान अद्वैती है तो उधर सांख्य है द्वैती; और सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम के सम्बन्ध में सांख्यों के विचार मूल में भिन्न हैं। परन्तु औपनिषदिक अद्वैती ब्रह्मज्ञान तथा सांख्यों का द्वैती ज्ञान, दोनों यद्यपि मूल में भिन्न भिन्न हों, तथापि केवल ज्ञानदृष्टि से देखने पर जान पड़ेगा कि ये दोनों मार्ग अपने पहले के यज्ञयाग आदि कर्ममार्ग के एक ही से विरोधी थे। अतएव यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न हुआ कि कर्म का ज्ञान से किस प्रकार मेल किया जाय? इसी कारण से उपनिषत्काल ही में इस विषय पर दो दल हो गये थे। इनमें से बृहदारण्यकादि उपनिषद् तथा सांख्य यह कहने लगे कि कर्म और ज्ञान में नित्य विरोध है। इसलिये ज्ञान हो जाने पर कर्म का त्याग करना प्रशस्त ही नहीं, किन्तु आवश्यक भी है। इसके

विरुद्ध ईशावास्यादि अन्य उपनिषद् यह प्रतिपादन करने लगे, कि ज्ञान हो जाने पर भी कर्म छोड़ा नहीं जा सकता। वैराग्य से बुद्धि को निष्काम करके जगत् में व्यवहार की सिद्धि के लिये ज्ञानी पुरुष को सब कर्म करना ही चाहिये। इन उपनिषदों के भाष्यों में इस मत को निकाल डालने का प्रयत्न किया है। परन्तु गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण के अन्त में किये गये विवेचन से यह बात ध्यान में आ जावेगी, कि शाङ्करभाष्य में ये साम्प्रदायिक अर्थ खींचातानी से किये गये हैं और इस लिये इन उपनिषदों पर स्वतन्त्र रीति से विचार करते समय वे अर्थ ग्राह्य नहीं माने जा सकते। यह नहीं कि, केवल यज्ञयागादि कर्म तथा ब्रह्मज्ञान ही में मेल करने का प्रयत्न किया गया हो किन्तु मैत्र्युपनिषद् के विवेचन से यह बात भी साफ़ साफ़ प्रकट होती है कि कापिलसांख्य में पहले पहल स्वतन्त्र रीति से प्रादुर्भूत क्षराक्षरज्ञान की तथा उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान की एकवाक्यता – जितनी हो सकती थी – करने का भी प्रयत्न उसी समय आरम्भ हुआ था। बृहदारण्यकादि प्राचीन उपनिषदों में कापिलसांख्यज्ञान का कुछ महत्त्व नहीं दिया गया है। परन्तु मैत्र्युपनिषद् में सांख्यों की परिभाषा का पूर्णतया स्वीकार करके यह कहा है कि अन्त में एक परब्रह्म ही से सांख्यों के चौबीस तत्त्व निर्मित हुए हैं। तथापि कापिलसांख्यशास्त्र भी वैराग्यप्रधान अर्थात् कर्म के विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल में ही वैदिकधर्म के तीन दल हो गये थे:– (१) केवल यज्ञयागादि कर्म करने का मार्ग (२) ज्ञान तथा वैराग्य से कर्मसंन्यास करना अर्थात् ज्ञाननिष्ठा अथवा सांख्यमार्ग और (३) ज्ञान तथा वैराग्य बुद्धि ही से नित्य कर्म करने का मार्ग अर्थात् ज्ञानकर्मसमुच्चयमार्ग। इनमें से ज्ञानमार्ग ही से आगे चल कर दो अन्य शाखाएँ – योग और भक्ति – निर्मित हुई हैं। छान्दोग्यादि प्राचीन उपनिषदों में यह कहा है कि परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचिन्तन अत्यन्त आवश्यक है और यह चिन्तन मनन तथा ध्यान करने के लिये चित्त एकाग्र होना चाहिये और चित्त को स्थिर करने के लिये परब्रह्म का कोई न कोई सगुण प्रतीक पहले नेत्रों के सामने रखना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मोपासना करते रहने से चित्त की जो एकाग्रता हो जाती है उसी को आगे विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और चित्तनिरोधरूपी योग एक जुदा मार्ग हो गया। और जब सगुण प्रतीक के बदले परमेश्वर के मानवरूपधारी व्यक्त प्रतीक की उपासना का आरम्भ धीरे धीरे होने लगा तब अन्त में भक्तिमार्ग उत्पन्न हुआ। यह भक्तिमार्ग औपनिषदिक ज्ञान से अलग बीच ही में स्वतन्त्र रीति से प्रादुर्भूत नहीं हुआ है और न भक्ति की कल्पना हिन्दुस्थान में किसी अन्य देश से लाई गई है। सब उपनिषदों का अवलोकन करने से यह क्रम दीख पड़ता है कि पहले ब्रह्मचिन्तन के लिये यज्ञ के अङ्गों की अथवा ओङ्कार की उपासना थी। आगे चल कर रुद्र विष्णु आदि वैदिक देवताओं की (अथवा आकाश आदि सगुण-व्यक्त ब्रह्म प्रतीक की) उपासना का आरम्भ हुआ; और अन्त में इसी हेतु से अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के लिये ही राम, नृसिंह, श्रीकृष्ण

वासुदेव आदि की भक्ति (अर्थात् एक प्रकार की उपासना) जारी हुई है। उपनिषदों की भाषा से यह बात भी साफ़ साफ़ मालूम होती है, कि उनमें से योगतत्त्वादि योगविषयक उपनिषद् तथा नृसिंहतापनी, रामतापनी आदि भक्तिविषयक उपनिषद् छान्दोग्यादि उपनिषदों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना पड़ता है, कि छान्दोग्यादि प्राचीन उपनिषदों में वर्णित कर्म, ज्ञान अथवा संन्यास और ज्ञानकर्मसमुच्चय – इन तीनों दलों के प्रादुर्भूत हो जाने पर ही आगे योगमार्ग और भक्तिमार्ग को श्रेष्ठता प्राप्त हुई है। परन्तु योग और भक्ति, ये दोनों साधन यद्यपि उक्त प्रकार से श्रेष्ठ माने गये, तथापि उनके पहले के ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता कुछ कम नहीं हुई – और न उसका कम होना सम्भव ही था। इसी कारण योगप्रधान तथा भक्तिप्रधान उपनिषदों में भी ब्रह्मज्ञान को भक्ति और योग का अन्तिम साध्य कहा है। और ऐसा वर्णन भी कई स्थलों में पाया जाता है, कि जिन रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण तथा वासुदेव आदि की भक्ति की जाती है, वे भी परमात्मा के अथवा परब्रह्म के रूप हैं (मैत्र्यु. ७. ७; रामपू. १६; अमृतबिंदु. २२ आदि देखो)। सारांश, वैदिक धर्म में समय समय पर आत्मज्ञानी पुरुषों ने जिन धर्मांगों को प्रवृत्त किया है, वे प्राचीन समय में प्रचलित धर्मांगों से ही प्रादुर्भूत हुए हैं; और नये धर्मांगों का प्राचीन समय में प्रचलित धर्मांगों के साथ मेल करा देना ही वैदिक धर्म की उन्नति का पहले से मुख्य उद्देश रहा है; तथा भिन्न भिन्न धर्मांगों की एकवाक्यता करने के इसी उद्देश को स्वीकार करके, आगे चल कर स्मृतिकारों ने आश्रम-व्यवस्थाधर्म का प्रतिपादन किया है। भिन्न भिन्न धर्मांगों की एकवाक्यता करने की इस प्राचीन पद्धति पर जब ध्यान दिया जाता है, तब यह कहना समुचित नहीं प्रतीत होता, कि उक्त पूर्वापर पद्धति को छोड़ केवल *गीताधर्म ही अकेला प्रवृत्त* हुआ होगा।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के यज्ञयागादि कर्म, उपनिषदों का ब्रह्मज्ञान, कापिलसांख्य, चित्तनिरोधरूपी योग तथा भक्ति, ये ही वैदिक धर्म के मुख्य मुख्य अङ्ग हैं; और इनकी उत्पत्ति के क्रम का सामान्य इतिहास ऊपर लिखा गया है। अब इस बात का विचार किया जायगा, कि गीता में इन सब धर्मांगों का जो प्रतिपादन किया गया है, उसका मूल क्या है? – अर्थात् वह प्रतिपादन साक्षात् भिन्न भिन्न उपनिषदों से गीता में *लिया गया है अथवा बीच में एक आध सीढ़ी और है।* केवल ब्रह्मज्ञान के विवेचन के समय कठ आदि उपनिषदों के कुछ श्लोक गीता में ज्यों-के-त्यों लिये गये हैं; और ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष का प्रतिपादन करते समय जनक आदि के औपनिषदिक उदाहरण भी दिये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि गीता-ग्रन्थ साक्षात् उपनिषदों के आधार पर रचा गया होगा। परन्तु गीता ही में गीताधर्म की जो परम्परा दी गई है, उसमें तो उपनिषदों का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। जिस प्रकार गीता में द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ को श्रेष्ठ माना है (गीता ४. ३३), उसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्

में भी एक स्थान पर यह कहा है कि मनुष्य का जीवन एक प्रकार का यज्ञ ही है (छां. ३. १६. १७)। इस प्रकार के यज्ञ की महत्ता का वर्णन करते हुए यह भी कहा है कि यह यज्ञविद्या घोर आंगिरस नामक ऋषि ने देवकीपुत्र कृष्ण को बतलाई। इस देवकीपुत्र कृष्ण तथा गीता के श्रीकृष्ण को एक ही व्यक्ति मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु यदि कुछ देर के लिये दोनों को एक ही व्यक्ति मान लें तो भी स्मरण रहे कि ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ माननेवाली गीता में घोर आंगिरस का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। इसके सिवा बृहदारण्यकोपनिषद् से यह बात प्रकट है कि जनक का मार्ग यद्यपि ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक था तथापि उस समय इस मार्ग में भक्ति का समावेश नहीं किया गया था। अतएव भक्तियुक्त ज्ञानकर्मसमुच्चय पन्थ की साम्प्रदायिक परम्परा में जनक की गणना नहीं की जा सकती – और न वह गीता में की गई है। गीता के चौथे अध्याय के आरम्भ में कहा है (गीता ४. १–३), कि युग के आरम्भ में भगवान् ने पहले विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को गीताधर्म का उपदेश किया था परन्तु काल के हेरफेर से उसका लोप हो जाने के कारण वह फिर से अर्जुन को बतलाना पड़ा। गीताधर्म की परंपरा का ज्ञान होने के लिये ये श्लोक अत्यन्त महत्त्व के हैं। परन्तु टीकाकारों ने शब्दार्थ बतलाने के अतिरिक्त उनका विशेष रीति से स्पष्टीकरण नहीं किया है और कदाचित् ऐसा करना उन्हें इष्ट भी न रहा हो। क्योंकि यदि कहा जाय कि गीताधर्म मूल में किसी एक विशिष्ट पन्थ का है, तो उससे अन्य धार्मिक पन्थों को कुछ-न-कुछ गौणता प्राप्त हो जाती है। परन्तु हमने गीतारहस्य के आरम्भ में तथा गीता के चौथे अध्याय के प्रथम दो श्लोकों की टीका में प्रमाणसहित इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया है कि गीता में वर्णित परम्परा का मेल उस परम्परा के साथ पूरा पूरा ठीक पड़ता है कि जो महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में वर्णित भागवत धर्म की परम्परा में अन्तिम त्रेतायुगकालीन परम्परा है। भागवतधर्म तथा गीताधर्म की परम्परा की एकता को देखकर कहना पड़ता है कि गीताग्रन्थ भागवतधर्मीय है और यदि इस विषय में कुछ शङ्का हो, तो महाभारत में दिये गये वैशम्पायन के इस वाक्य – "गीता में भागवतधर्म ही बतलाया गया है" (म. भा. शां. ३४८. ८)– से वह दूर हो जाती है। इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि गीता औपनिषदिक ज्ञान का अथवा वेदान्त का स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है – उसमें भागवतधर्म का प्रतिपादन किया गया है – तब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि भागवतधर्म से अलग करके गीता की जो चर्चा की जायगी वह अपूर्ण तथा भ्रममूलक होगी। अतएव, भागवतधर्म कब उत्पन्न हुआ और उसका मूलस्वरूप क्या था इत्यादि प्रश्नों के विषय में जो कुछ इस समय ज्ञात है उसका भी विचार संक्षेप में यहाँ किया जाना चाहिये। गीतारहस्य में हमने कहीं कहीं यह भाव है कि इस भागवतधर्म के ही नारायणीय, सात्वत, पांचरात्र धर्म आदि अन्य नाम हैं

उपनिषत्काल के बाद और बुद्ध के पहले जो धार्मिक धर्मग्रन्थ बने, उनमें से अधिकांश ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। इस कारण भागवतधर्म पर वर्तमान समय में जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें से गीता के अतिरिक्त मुख्य ग्रन्थ ये ही हैं — महाभारतान्तर्गत शान्तिपर्व के अन्तिम अठारह अध्यायों में निरूपित नारायणीयोपाख्यान (म. भा. शां. ३३४–३५१), शाण्डिल्यसूत्र, भागवतपुराण, नारदपञ्चरात्र, नारदसूत्र, तथा रामानुजाचार्य आदि के ग्रन्थ। इनमें से रामानुजाचार्य के ग्रन्थ तो प्रत्यक्ष में साम्प्रदायिक दृष्टि से ही (अर्थात् भागवतधर्म के विशिष्टाद्वैत वेदान्त से मेल करने के लिये) विक्रम संवत् ११९४ में (शालिवाहन शक के लगभग बारहवें शतक में) लिखे गये हैं। अतएव भागवतधर्म का मूलस्वरूप निश्चित करने के लिये इन ग्रन्थों का सहारा नहीं लिया जा सकता; और यही बात मध्वादि के अन्य वैष्णव ग्रन्थों की भी है। श्रीमद्भागवतपुराण इसके पहले का है। परन्तु इस पुराण के आरम्भ में ही यह कथा है (भाग. स्कं. १ अ. ४ और ५ देखो) कि जब व्यासजी ने देखा कि महाभारत में (अतएव गीता में भी) नैष्कर्म्यप्रधान भागवत धर्म का जो निरूपण किया गया है उसमें भक्ति का जैसा चाहिये वैसा वर्णन नहीं है, और 'भक्ति के बिना केवल नैष्कर्म्य शोभा नहीं पाता', तब उनका मन कुछ उदास और अप्रसन्न हो गया। एवं अपने मन की इस तळमळाहट को दूर करने के लिये नारदजी की सूचना से उन्हों ने भक्ति के माहात्म्य का प्रतिपादन करनेवाले भागवतपुराण की रचना की। इस कथा का ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर दीख पड़ेगा कि मूल भागवतधर्म में अर्थात् भारतान्तर्गत भागवतधर्म में नैष्कर्म्य को जो श्रेष्ठता दी गयी थी, वह जब समय के हेरफेर से कम होने लगी, और उसके बदले जब भक्ति को प्रधानता दी जाने लगी, तब भागवतधर्म के इस दूसरे स्वरूप का (अर्थात् भक्तिप्रधान भागवतधर्म का) प्रतिपादन करने के लिये यह भागवतपुराण रूपी नया पीछे तैयार किया गया है। नारदपञ्चरात्र ग्रन्थ भी इसी प्रकार का अर्थात् केवल भक्तिप्रधान है; और उसमें द्वादशस्कन्धी के भागवतपुराण का तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण, विष्णुपुराण, गीता और महाभारत का नामोल्लेख कर स्पष्ट निर्देश किया गया है (ना. पं. २. ७. २८–३२; ३. १४. ७३; और ४. ३. १५४ देखो)। इसलिये यह प्रकट है कि भागवतधर्म के मूलस्वरूप का निर्णय करने के लिये इस ग्रन्थ की योग्यता भागवतपुराण से भी कम दर्जे की है। नारदसूत्र तथा शाण्डिल्यसूत्र कदाचित् नारदपञ्चरात्र से भी कुछ प्राचीन हों; परन्तु नारदसूत्र में व्यास और शुक (ना. सू. ८३) का उल्लेख है। इसलिये वह भारत और भागवत के बाद का है; और शाण्डिल्यसूत्र में भगवद्गीता के श्लोक ही उद्धृत किये गये हैं (शां. सू. ९, १५ और ८३)। अतएव यह सूत्र यद्यपि नारदसूत्र (८३) से प्राचीन भी हो, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि यह गीता और महाभारत के अनन्तर का है। अतएव भागवतधर्म के मूल तथा प्राचीन स्वरूप का निर्णय अन्त में महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान

आधार से ही करना पड़ता है। भागवतपुराण (१ ३ २४) और नारदपञ्चरात्र (४ ३ १५६–१५९; ४ ८ ८१) ग्रन्थों में बुद्ध को विष्णु का अवतार कहा है। परन्तु नारायणीयाख्यान में वर्णित दशावतारों में बुद्ध का समावेश नहीं किया गया – पहला अवतार हंस का और आगे कृष्ण के बाद एकदम कल्कि अवतार बतलाया है (म भा शां ३३९ १००)। इससे भी यही सिद्ध होता है कि नारायणीयाख्यान भागवतपुराण से और नारद पञ्चरात्र से प्राचीन है। इस नारायणीयाख्यान में यह वर्णन है कि नर तथा नारायण (जो परब्रह्म ही के अवतार हैं) नामक दो ऋषियों ने नारायणीय अर्थात् भागवतधर्म को पहले पहल जारी किया और उनके कहने से जब नारद ऋषि श्वेतद्वीप को गये तब वहाँ स्वयं भगवान ने नारद को इस धर्म का उपदेश किया। भगवान जिस श्वेतद्वीप में रहते हैं, वह क्षीरसमुद्र में है और वह क्षीरसमुद्र मेरुपर्वत के उत्तर में है इत्यादि नारायणीयाख्यान की बातें प्राचीन पौराणिक ब्रह्माण्डवर्णन के अनुसार ही हैं और इस विषय में हमारे यहाँ किसी को कुछ कहना भी नहीं है। परन्तु वेबर नामक पश्चिमी संस्कृत पण्डित ने इस कथा का विपर्यास करके यह दीर्घ शङ्का की थी कि भागवतधर्म में वर्णित भक्तितत्त्व श्वेतद्वीप से – अर्थात् हिन्दुस्थान के बाहर के किसी अन्य देश से – हिन्दुस्थान में लाया गया है; और भक्ति का यह तत्त्व उस समय ईसाई धर्म के अतिरिक्त और कहीं भी प्रचलित नहीं था इसलिये ईसाई देशों से ही भक्ति की कल्पना भागवतधर्मियों को सूझी है। परन्तु पाणिनी को वासुदेवभक्ति का तत्त्व मालूम था और बौद्ध तथा जैनधर्म में भी भागवतधर्म तथा भक्ति के उल्लेख पाये जाते हैं। एवं यह बात भी निर्विवाद है कि पाणिनी और बुद्ध दोनों ईसा के पहले हुए हैं। इसलिये अब पश्चिमी पण्डितों ने ही निश्चित किया है कि वेबर साहब की उपर्युक्त शङ्का निराधार है। ऊपर यह बतला दिया गया है कि भक्तिरूप धर्माङ्ग का उदय हमारे यहाँ ज्ञानप्रधान उपनिषदों के अनन्तर हुआ है। इससे यह बात निर्विवाद प्रकट होती है कि ज्ञानप्रधान उपनिषदों के बाद तथा बुद्ध के पहले वासुदेवभक्तिसम्बन्धी भागवतधर्म उत्पन्न हुआ है। अब प्रश्न केवल इतना ही है कि वह बुद्ध के कितने शतक पहले हुआ? अगले विवेचन से यह बात ध्यान में आ जायगी,

---

भक्तिमार्ग (पाली – भत्तिमग्ग) शब्द थेरगाथा (श्लो ३) में मिलता है, और एक स्थान में भक्ति का उल्लेख किया गया है। इसके सिवा प्रसिद्ध फ्रेंच पाली-पण्डित सेनार्ट (Senart) ने बौद्धधर्म का मूल इस विषय पर एक .... में एक व्याख्यान दिया था उसमें स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादन किया है कि भागवतधर्म बौद्धधर्म के पहले का है। "No one will claim to derive from Buddhism, Vishnuism or the Yoga. Assuredly Buddhism is the borrower ...... To sum up if there had not previously existed a religion made up of doctrines of Yoga, of Vishnuite legends of devotion to Vishnu, Krishna, worshipped under the title of Bhagavata, Buddhism could not have come to birth at all." इसमें का यह तत्त्व

है। परन्तु इससे कोई यह नहीं मानता कि बुद्ध, क्राइस्ट या मुहम्मद अनेक हो गये। इसी प्रकार यदि मूल भागवतधर्म को आगे चलकर भिन्न भिन्न स्वरूप प्राप्त हो गये या श्रीकृष्णजी के विषय में आगे भिन्न भिन्न कल्पनाएँ रूढ हो गईं, तो यह कैसे माना जा सकता है कि उतने ही भिन्न श्रीकृष्ण भी हो गये? हमारे मतानुसार ऐसा मानने के लिये कोई कारण नहीं है। कोई भी धर्म लीजिये, समय के हेरफेर से उसका रूपान्तर हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। उसके लिये इस बात की आवश्यकता नहीं कि भिन्न भिन्न कृष्ण, बुद्ध या ईसा मसीह माने जावें।* कुछ लोग और विशेषतः कुछ पश्चिमी तर्कज्ञानी यह तर्क किया करते हैं कि श्रीकृष्ण, यादव और पाण्डव तथा भारतीय युद्ध आदि ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं। ये सब काल्पनिक कथाएँ हैं। और कुछ लोगों के मत में तो महाभारत अध्यात्म विषय का एक बृहत् रूपक ही है। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों को देखकर किसी भी निष्पक्षपाती मनुष्य को यह मानना पड़ेगा कि उक्त शङ्काएँ बिलकुल निराधार हैं। यह बात निर्विवाद है कि इन कथाओं के मूल में इतिहास ही का आधार है। सारांश, हमारा मत यह है कि श्रीकृष्ण चार-पाँच नहीं हुए। वे केवल एक ही ऐतिहासिक पुरुष थे। अब श्रीकृष्णजी के अवतारकाल पर विचार करते समय रा. ब. चिन्तामणराव वैद्य ने यह प्रतिपादन किया है कि श्रीकृष्ण, यादव, पाण्डव तथा भारतीय युद्ध का एक ही काल – अर्थात् कलियुग का आरम्भ – है। पुराणगणना के अनुसार उस काल से अब तक पाँच हजार से भी अधिक वर्ष बीत चुके हैं और यही श्रीकृष्णजी के अवतार का यथार्थ काल है।† परन्तु पाण्डवों से लगा कर शककाल तक के राजाओं की पुराणों में वर्णित पीढ़ियों

---

* श्रीकृष्ण के चरित्र में पराक्रम, भक्ति और वेदान्त के अतिरिक्त गोपियों की रासक्रीड़ा का समावेश होता है और ये बातें परस्परविरोधी हैं। इसलिये आजकल कुछ विद्वान् यह प्रतिपादन किया करते हैं कि महाभारत का कृष्ण भिन्न, गीता का भिन्न और गोकुल का कन्हैया भी भिन्न है। डॉ. भाण्डारकर ने अपने 'वैष्णव, शैव आदि पन्थ' सम्बन्धी अंग्रेजी ग्रन्थ में इसी मत का स्वीकार किया है। परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं है। यह बात नहीं कि गोपियों की कथा में जो शृंगार वर्णन है वह बाद में न आया हो, परन्तु केवल उतने ही के लिये यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं कि श्रीकृष्ण नाम के कई भिन्न भिन्न पुरुष हो गये; और इसकी कल्पना के सिवा कोई अन्य आधार भी नहीं है। इसके सिवा यह भी नहीं कि गोपियों की कथा का प्रचार पहले भागवतकाल ही में हुआ हो, किन्तु शककाल के आरम्भ में यानी विक्रम संवत् [illegible] के लगभग अश्वघोषविरचित बुद्धचरित (४. १४) में और भास कविकृत 'बालचरित' नाटक (३. [illegible]) में भी गोपियों का उल्लेख किया गया है। अतएव इस विषय में हमें डॉ. भाण्डारकर के कथन से चिन्तामणराव वैद्य का मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

† रावबहादुर चिन्तामणराव वैद्य का यह मत उनके महाभारत के टीकात्मक अंग्रेजी ग्रन्थ में है। इसके सिवा इसी विषय पर मार्च सन् १९१४ में डेक्कन कॉलेज एनिवर्सरी के समय जो व्याख्यान दिया था उसमें भी इस बात का विवेचन किया था।

से इस काल का मेल नहीं दीख पड़ता। अतएव भागवत तथा विष्णुपुराण में जो यह वचन है, कि "परीक्षित राजा के जन्म से नन्द के अभिषेक तक १११५ अथवा १०१५ वर्ष होते हैं" (भाग. १२. २. २६; और विष्णु ४. २४. ३२), उसी के आधार पर विद्वानों ने अब यह निश्चित किया है, कि ईसाई सन् के लगभग १४०० वर्ष पहले भारतीय युद्ध और पाण्डव हुए होंगे। अर्थात् श्रीकृष्ण का अवतारकाल भी यही है; और इस काल को स्वीकार कर लेने पर यह बात सिद्ध होती है, कि श्रीकृष्ण ने भागवतधर्म को – ईसा से लगभग १४०० वर्ष पहले अथवा बुद्ध से ८०० वर्ष पहले – प्रचलित किया होगा। इसपर कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं, कि श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों के ऐतिहासिक पुरुष होने में कोई सन्देह नहीं; परन्तु श्रीकृष्ण के जीवनचरित्र में उनके अनेक रूपान्तर दीख पड़ते हैं – जैसे श्रीकृष्ण नामक एक क्षत्रिय योद्धा को पहले महापुरुष का पद प्राप्त हुआ, पश्चात् विष्णु का पद मिला, और धीरे धीरे अन्त में पूर्ण परब्रह्म का रूप प्राप्त हो गया – इन सब अवस्थाओं में आरम्भ से अन्त तक बहुत-सा काल बीत चुका होगा – इसीलिये भागवतधर्म के उदय का तथा भारतीय युद्ध का एक ही काल नहीं माना जा सकता। परन्तु यह आक्षेप निरर्थक है। किसे ईश्वर मानना चाहिये और किसे नहीं मानना चाहिये, इस विषय पर आधुनिक तर्कज्ञों की समझ में तथा दो-चार हजार वर्ष पहले के लोगों की समझ (गीता १०. ४१) में बड़ा अन्तर हो गया है। श्रीकृष्ण के पहले ही बने हुए उपनिषदों में यह सिद्धान्त कहा गया है, कि ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है (बृ. ४. ४. ६); और मैत्र्युपनिषद् में यह साफ़ साफ़ कह दिया है, कि रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण ये सब ब्रह्म ही हैं (मैत्र्यु. ७. ७)। फिर श्रीकृष्ण को परब्रह्म प्राप्त होने के लिये अधिक समय लगने का कारण क्या है? इतिहास की ओर देखने से विश्वसनीय बौद्ध ग्रन्थों में भी यह बात दीख पड़ती है, कि बुद्ध स्वयं अपने को 'ब्रह्मभूत' (सेलसुत्त १४; थेरगाथा ८३१) कहता था। उसके जीवनकाल ही में उसे देव के सदृश सन्मान दिया जाता था। उसके स्वर्गस्थ होने के बाद शीघ्र ही उसे 'देवाधिदेव' का अथवा वैदिकधर्म के परमात्मा का स्वरूप प्राप्त हो गया था और उसकी पूजा भी जारी हो गई थी। यही बात ईसा मसीह की भी है। यह बात सच है, कि बुद्ध तथा ईसा के समान श्रीकृष्ण संन्यासी नहीं थे और न भागवतधर्म ही निवृत्तिप्रधान है। परन्तु केवल इसी आधार पर बौद्ध तथा ईसाई धर्म के मूलपुरुषों के समान भागवतधर्मप्रवर्तक श्रीकृष्ण को भी पहले ही से ब्रह्म अथवा देव का स्वरूप प्राप्त होने में किसी बाधा के उपस्थित होने का कारण दीख नहीं पड़ता।

इस प्रकार श्रीकृष्ण का समय निश्चित कर लेने पर उसी को भागवतधर्म का उदयकाल मानना भी प्रशस्त तथा युक्तिसंगत है। परन्तु सामान्यतः पाश्चिमात्य पण्डित ऐसा करने में क्यों हिचकिचाते हैं? इसका कारण कुछ और ही है। इन पण्डितों

में से अधिकांश का अब तक यही मत है कि कुछ ऋग्वेद का काल ईसा के पहले लगभग १५ वर्ष या बहुत हुआ तो २ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। अतएव उन्हें अपनी दृष्टि से यह कहना असम्भव प्रतीत होता है, कि भागवतधर्म ईसा के लगभग १४ वर्ष पहले प्रचलित हुआ होगा। क्योंकि वैदिकधर्मसाहित्य से यह क्रम निर्विवाद सिद्ध है कि ऋग्वेद के बाद यज्ञयाग आदि कर्मप्रतिपादक यजुर्वेद और ब्राह्मणग्रन्थ बने। तदनन्तर ज्ञानप्रधान उपनिषद् और सांख्यशास्त्र निर्मित हुए; और अन्त में भक्तिप्रधान ग्रन्थ रचे गये। और केवल भागवतधर्म के ग्रन्थों का अवलोकन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि औपनिषदिक ज्ञान, सांख्यशास्त्र, चित्त-निरोधरूपी योग आदि धर्मांग भागवतधर्म के उदय के पहले ही प्रचलित हो चुके थे। समय की मनमानी खींचातानी करने पर भी यही मानना पड़ता है कि ऋग्वेद के बाद और भागवतधर्म के उदय के पहले, उक्त भिन्न भिन्न धर्मांगों का प्रादुर्भाव तथा वृद्धि होने के लिये बीच में कम-से कम दस-बारह शतक अवश्य बीत गये होंगे। परन्तु यदि माना जाय कि भागवतधर्म को श्रीकृष्ण ने अपने ही समय में – अर्थात् ईसी के लगभग १४ वर्ष पहले – प्रवृत्त किया होगा, तो उक्त भिन्न भिन्न धर्मांगों की वृद्धि के लिये उक्त पश्चिमी पण्डितों के मतानुसार कुछ भी उचित कालावकाश नहीं रह जाता। क्योंकि, ये पण्डित लोग ऋग्वेदकाल ही को ईसा से पहले १ तथा २ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं मानते। ऐसी अवस्था में उन्हें यह मानना पड़ता है कि सौ या अधिक से अधिक पाँच-छः सौ वर्ष के बाद ही भागवतधर्म का उदय हो गया। इसलिये उपर्युक्त कथनानुसार कुछ निरर्थक कारण बतला कर ये लोग श्रीकृष्ण और भागवतधर्म की समकालीनता को नहीं मानते। और कुछ पश्चिमी पण्डित तो यह कहने के लिये भी उद्यत हो गये हैं कि भागवतधर्म का उदय बुद्ध के बाद हुआ होगा। परन्तु जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में ही भागवतधर्म के जो उल्लेख पाये जाते हैं उनसे तो यही बात स्पष्ट विदित होती है कि भागवतधर्म बुद्ध से प्राचीन है। अतएव डॉ. बुल्हर ने* कहा है कि भागवतधर्म का उदयकाल बौद्धकाल के आगे हटाने के बदले हमारे 'ओरायन' ग्रन्थ के प्रतिपादन के अनुसार ऋग्वेदादि ग्रन्थों का काल ही पीछे हटाया जाना चाहिये। पश्चिमी पण्डितों ने अटकलपच्चू अनुमानों से वैदिक ग्रन्थों के जो काल निश्चित किये हैं वे भ्रममूलक हैं। वैदिककाल की पूर्वमर्यादा ईसा के पहले ४ वर्ष से कम नहीं है – इत्यादि बातों को हमने अपने 'ओरायन' ग्रन्थ में वेदों के उदगयन स्थिति-दर्शक वाक्यों के आधार पर सिद्ध कर दिया है और इसी अनुमान को अब अधिकांश पश्चिमी पण्डितों ने भी मान्य किया है। इस प्रकार ऋग्वेदकाल को पीछे हटाने से

---

* डॉ. बुल्हर ने Indian Antiquary September 1894 (Vol. XXIII, pp. 238–294) में हमारे 'ओरायन' ग्रन्थ की जो समालोचना की है उसे देखो।

वैदिकग्रन्थ के सब भागों की वृद्धि होने के लिये उचित अवकाश मिल जाता है और भगवद्धर्मोत्पत्तिकाल को सङ्कुचित करने का प्रयोजन ही नहीं रह जाता। परलोकवासी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' (मराठी) के इतिहास में यह बतलाया है कि ऋग्वेद के बाद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में कृत्तिका प्रभृति नक्षत्रों की गणना है। इसलिये उनका काल ईसा से लगभग २५०० वर्ष पहले निश्चित करना पड़ता है। परन्तु हमारे ध्यान में यह अभी तक नहीं आया है कि उदगयन स्थिति से ग्रन्थों के काल का निर्णय करने इस की रीति का प्रयोजन उपनिषदों के विषय में किया गया हो। रामतापनीसरीखे भक्तिप्रधान तथा योगतत्त्वसरीखे योगप्रधान उपनिषदों की भाषा और रचना प्राचीन नहीं दीख पड़ती – केवल इसी आधार पर कुछ लोगों ने यह अनुमान किया है कि सभी उपनिषद् प्राचीनता में बुद्ध की अपेक्षा चार पाँच सौ वर्ष से अधिक नहीं हैं। परन्तु कालनिर्णय की उपर्युक्त रीति से देखा जाय तो यह समझ भ्रममूलक प्रतीत होगी। यह सच है कि ज्योतिष की रीति से सब उपनिषदों का काल निश्चित नहीं किया जा सकता। तथापि मुख्य मुख्य उपनिषदों का काल निश्चित करने के लिये इस रीति का बहुत अच्छा उपयोग किया जा सकता है। भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो प्रो. मेक्समूलर का यह कथन है कि मैत्र्युपनिषद् पाणिनी से भी प्राचीन है।* क्योंकि इस उपनिषद् में ऐसी कई शब्दसन्धियों का प्रयोग किया गया है जो सिर्फ मैत्रायणीसंहिता में ही पायी जाती हैं और जिनका प्रचार पाणिनी के समय बन्द हो गया था (अर्थात् जिन्हें छान्दस कहते हैं)। परन्तु मैत्र्युपनिषद् कुछ सब से पहला अर्थात् अतिप्राचीन उपनिषद् नहीं है। उसमें न केवल ब्रह्मज्ञान और सांख्य मेल कर दिया है किन्तु कई स्थानों पर छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य उपनिषदों के वाक्य तथा श्लोक भी उसमें प्रमाणार्थ उद्धृत किये गये हैं। हाँ, यह सच है कि मैत्र्युपनिषद् में स्पष्ट रूप से उक्त उपनिषदों के नाम नहीं दिये गये हैं। परन्तु इन वाक्यों के पहले ऐसे पद पर वाक्यदर्शक पद रखे गये हैं जैसे 'एवं ह्याह' या 'उक्तं च' (= ऐसा कहा है)। इसीलिये इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ये वाक्य दूसरे ग्रन्थों से लिये गये हैं – स्वयं मैत्र्युपनिषत्कार के नहीं हैं। और अन्य उपनिषदों के देखने से सहज ही मालूम हो जाता है कि वे वचन कहाँ से उद्धृत किये गये हैं। अब इस मैत्र्युपनिषद् में कालरूपी अथवा संवत्सररूपी ब्रह्म का विवेचन करते समय यह वर्णन पाया जाता है कि मघा नक्षत्र के आरम्भ से क्रमशः श्रविष्ठा अर्थात् धनिष्ठा नक्षत्र के आधे भाग पर पहुँचने तक (मघाद्यं श्रविष्ठार्धम्) दक्षिणायन होता है; और सार्प अर्थात् आश्लेषा नक्षत्र से विपरीत क्रमपूर्वक (अर्थात् आश्लेषा, पुष्य आदि क्रम से)

* See Sacred Books of the East Series, Vol. XV. Intro pp. xlviii–lii.

नीचे गिनते हुए धनिष्ठा नक्षत्र के आधे भाग तक उत्तरायण होता है (मनु ६ १४)। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरायणस्थितिदर्शक ये वचन तत्कालीन उत्तरायणस्थिति को लक्ष्य करके ही कहे गये हैं और फिर उसी से इस उपनिषद् का कालनिर्णय भी गणित की रीति से सहज ही किया जा सकता है। परन्तु ऐसा पड़ता है किसी ने भी उसका इस दृष्टि से विचार नहीं किया है। मैत्र्युपनिषद् में वर्णित यह उत्तरायणस्थिति वेदाङ्गज्योतिष में कही गई उत्तरायणस्थिति के पहले की है। क्योंकि वेदाङ्गज्योतिष में यह बात स्पष्ट रूप से कह दी गई है कि उत्तरायण का आरम्भ धनिष्ठा नक्षत्र के आरम्भ से होता है और मैत्र्युपनिषद् में उसका आरम्भ 'धनिष्ठार्ध' से किया गया है। इस विषय में मतभेद है कि मैत्र्युपनिषद् के श्रविष्ठार्धम् शब्द में जो अर्धम् पद है उसका अर्थ ठीक आधा करना चाहिये अथवा धनिष्ठा और शततारका के बीच किसी स्थान पर करना चाहिये? परन्तु चाहे जो कहा जाय इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि वेदाङ्गज्योतिष के पहले की उत्तरायणस्थिति का वर्णन मैत्र्युपनिषद् में किया गया है और वही उस समय की स्थिति होनी चाहिये। अतएव यह कहना चाहिये कि वेदाङ्गज्योतिषकाल का उत्तरायण मैत्र्युपनिषत्कालीन उत्तरायण की अपेक्षा लगभग आधे नक्षत्र से पीछे हट आया था। ज्योतिर्गणित से यह सिद्ध होता है कि वेदाङ्गज्योतिष में कही गई उत्तरायणस्थिति ईसाई सन के लगभग १२०० या १४०० वर्ष पहले की है;* और आधे नक्षत्र से उत्तरायण के पीछे हटने में लगभग ४८० वर्ष लग जाते हैं। इसलिये गणित से यह बात निष्पन्न होती है कि मैत्र्युपनिषद् ईसा के पहले १८८० से १६८० वर्ष के बीच कभी-न-कभी बना होगा। और कुछ नहीं तो यह उपनिषद् निःसन्देह वेदाङ्गज्योतिष के पहले का है। अब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि छान्दोग्यादि जिन उपनिषदों के अवतरण मैत्र्युपनिषद् में दिये गये हैं वे इससे भी प्राचीन हैं। सारांश इन सब ग्रन्थों के काल का निर्णय इस प्रकार हो चुका है कि भारतीय सन ईसवी से लगभग ४५०० वर्ष पहले का है; यज्ञयाग आदि विषयक ब्राह्मणग्रन्थ सन ईसवी के लगभग २५०० वर्ष पहले के हैं और छान्दोग्य आदि ज्ञानप्रधान उपनिषद् सन ईसवी के लगभग १६०० वर्ष पुराने हैं। अब यथार्थ में वे बात अवशिष्ट नहीं रह जाती जिनके कारण पश्चिमी पण्डित स्वयं भागवतधर्म के उदयकाल को इस ओर हटा लाने का यत्न किया करते हैं और श्रीकृष्ण तथा भागवतधर्म का गाय और बछड़े की नैसर्गिक जोड़ी के समान एक ही कालरज्जु से बंधन में कोई भय भी नहीं डील पड़ता। एवं फिर

---

* वेदाङ्गज्योतिष का ज्योतिर्विषयक विवेचन हमारे Orion (ओरायन) नामक अंग्रेजी ग्रन्थ में तथा [illegible] [illegible] भारतीय ज्योतिःशास्त्र का इतिहास नामक मराठी ग्रन्थ [illegible] [illegible] में किया गया है। उसमें इस बात का भी विचार किया गया है कि उत्तरायण से वैदिक ग्रन्थों का कौन-सा काल निश्चित किया जा सकता है।

और परम्परा द्वारा वर्णित तथा अन्य ऐतिहासिक स्थिति से भी ठीक ठीक मेल हो जाता है। इसी समय वैदिककाल की समाप्ति हुई और सूत्र तथा स्मृतिकाल का आरम्भ हुआ है।

उक्त कालगणना से यह बात स्पष्टतया विदित हो जाती है कि भागवतधर्म का उदय ईसा के लगभग १४०० वर्ष पहले (अर्थात् बुद्ध के लगभग सात आठ सौ वर्ष पहले) हुआ है। यह काल बहुत प्राचीन है तथापि यह ऊपर बतला चुके हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित कर्ममार्ग इससे भी अधिक प्राचीन है और उपनिषदों तथा सांख्यशास्त्र में वर्णित ज्ञान भी भागवतधर्म के उदय के पहले ही प्रचलित हो कर सर्वमान्य हो गया था। ऐसी अवस्था में यह कल्पना करना सर्वथा अनुचित है कि उक्त ज्ञान तथा धर्माङ्गों की कुछ परवाह न करके श्रीकृष्णसरीखे ज्ञानी और चतुर पुरुष ने अपना धर्म प्रवृत्त किया होगा अथवा उनके प्रवृत्त करने पर भी यह धर्म तत्कालीन राजर्षियों तथा ब्रह्मर्षियों को मान्य हुआ होगा और लोगों में उसका प्रसार हुआ होगा। ईसा ने अपने भक्तिप्रधान धर्म का उपदेश पहले जिन यहूदी लोगों को किया था उनमें उस समय धार्मिक तत्त्वज्ञान का प्रसार नहीं हुआ था। इसलिये अपने धर्म का मेल तत्त्वज्ञान के साथ कर देने की उसे कोई आवश्यकता नहीं थी। केवल यह बतला देने से ईसा का धर्मोपदेशसम्बन्धी काम पूरा हो सकता था कि पुरानी बाइबल में जिस कर्ममय धर्म का वर्णन किया गया है हमारा यह भक्तिमार्ग भी उसी को लिये हुए है और उसने प्रयत्न भी केवल इतना ही किया है। परन्तु ईसाई धर्म की इन बातों से भागवतधर्म के इतिहास की तुलना करते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिन लोगों में तथा जिस समय भागवतधर्म का प्रसार किया गया उस समय के वे लोग केवल कर्ममार्ग ही से नहीं किन्तु ब्रह्मज्ञान तथा कापिलसांख्यशास्त्र से भी परिचित हो गये थे और तीनों धर्माङ्गों की एकवाक्यता (मेल) करना भी वे लोग सीख चुके थे। ऐसे लोगों से यह कहना किसी प्रकार उचित नहीं हुआ होता कि तुम अपने कर्मकाण्ड या औपनिषदिक और सांख्यज्ञान को छोड़ दो और केवल श्रद्धापूर्वक भागवतधर्म को स्वीकार कर लो। ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में वर्णित और उस समय में प्रचलित यज्ञयाग आदि कर्मों का फल क्या है ? क्या उपनिषदों का या सांख्यशास्त्र का ज्ञान वृथा है ? भक्ति और चित्तनिरोधरूपी योग का मेल कैसे हो सकता है ? – इत्यादि उस समय स्वभावतः उपस्थित होनेवाले प्रश्नों का जब तक ठीक ठीक उत्तर न दिया जाता तब भागवतधर्म का प्रसार होना भी सम्भव नहीं था। अतएव न्याय की दृष्टि से अब यही कहना पड़ेगा कि भागवतधर्म में आरम्भ ही से इन सब विषयों की चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक था; और महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान के देखने से भी यह सिद्धान्त दृढ़ हो जाता है। इस आख्यान में भागवतधर्म के साथ औपनिषदिक ब्रह्मज्ञान का और सांख्यप्रतिपादित क्षराक्षरविचार का मेल कर दिया गया

है और यह भी कहा है – "चार वेद और सांख्य या योग इन पाँचों का उसमें (भागवतधर्म में) समावेश होता है। इसलिये उसे पाञ्चरात्रधर्म नाम प्राप्त हुआ है" (म. भा. शां. ३३९. १०७) और "वेदारण्यकसहित (अर्थात् उपनिषदों को भी लेकर) ये सब (शास्त्र) परस्पर एक दूसरे के अङ्ग हैं" (शां. ३४८–८२)। पाञ्चरात्र शब्द की यह निरुक्ति व्याकरण की दृष्टि से चाहे शुद्ध न हो; तथापि उससे यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि सब प्रकार के ज्ञान की एकवाक्यता भागवतधर्म में आरम्भ ही से की गई थी। परन्तु भक्ति के साथ अन्य सब धर्माङ्गों की एकवाक्यता करना ही कुछ भागवतधर्म की प्रधान विशेषता नहीं है। यह नहीं कि भक्ति के धर्मतत्त्व को पहले पहले भागवतधर्म ही ने प्रवृत्त किया हो। ऊपर दिये हुए मैत्र्युपनिषद् (७.७) के वाक्यों से यह बात प्रकट है कि रुद्र की या विष्णु के किसी न किसी स्वरूप की भक्ति भागवतधर्म का उदय होने के पहले ही जारी हो चुकी थी। और यह भावना भी पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी कि उपास्य कुछ भी हो, वह ब्रह्म ही का प्रतीक अथवा एक प्रकार का रूप है। यह सच है कि सब आदि उपास्यों के बदले भागवतधर्म में वासुदेव उपास्य माना गया है; परन्तु गीता तथा नारायणीयोपाख्यान में भी यह कहा है कि भक्ति चाहे जिसकी की जाय, वह एक भगवान् ही के प्रति हुआ करती है – रुद्र और भगवान् भिन्न भिन्न नहीं हैं (गीता ९. २३; म. भा. शां. ३४१. २०–२६)। अतएव केवल वासुदेवभक्ति भागवतधर्म का मुख्य लक्षण नहीं मानी जा सकती। जिस सात्वतजाति में भागवतधर्म प्रादुर्भूत हुआ, उस जाति के सात्वत आदि पुरुष परम भगवद्भक्त भीष्म और अर्जुन तथा स्वयं श्रीकृष्ण भी बड़े पराक्रमी एवं दूसरों से पराक्रम के कार्य करानेवाले हो गये हैं। अतएव अन्य भगवद्भक्तों को उचित है कि वे भी इसी आदर्श को अपने सम्मुख रखें; और तत्कालीन प्रचलित चातुर्वर्ण्य के अनुसार युद्ध आदि सब व्यावहारिक कर्म करें – बस; यही मूल भागवतधर्म का मुख्य विषय था। यह बात नहीं कि भक्ति के तत्त्व को स्वीकार करके वैराग्ययुक्त बुद्धि से संसार का त्याग करनेवाले पुरुष उस समय बिलकुल ही न होंगे। परन्तु यह कुछ सात्वतों के या श्रीकृष्ण के भागवतधर्म का मुख्य तत्त्व नहीं है। श्रीकृष्णजी के उपदेश का सार यही है कि भक्ति से परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर भगवद्भक्त को परमेश्वर के समान जगत् के धारणपोषण के लिये सदा यत्न करते रहना चाहिये। उपनिषत्काल में जनक आदिकों ने ही यह निश्चित कर दिया था कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष के लिये भी निष्काम कर्म करना कोई अनुचित बात नहीं। परन्तु उस समय उसमें भक्ति का समावेश नहीं किया गया था और इसके सिवा ज्ञानोत्तर कर्म करना अथवा न करना हर एक की इच्छा पर अवलम्बित था – अर्थात् वैकल्पिक समझा जाता था (वे. सू. ३. ४. १५)। वैदिक धर्म के इतिहास में भागवतधर्म ने जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्मरणीय काम किया, वह यह है कि उस (भागवतधर्म) ने कुछ कदम आगे

कहकर केवल निवृत्ति की अपेक्षा निष्कामकर्मप्रधान प्रवृत्तिमार्ग (नैष्कर्म्य) को अधिक श्रेयस्कर ठहराया; और केवल ज्ञान ही से नहीं, किन्तु भक्ति से भी कर्म का उचित मेल कर दिया। इस धर्म के मूलप्रवर्तक नर और नारायण ऋषि भी इसी प्रकार सब काम निष्काम बुद्धि से किया करते थे; और महाभारत (उद्यो. ४८. २१, २२) में कहा है कि सब लोगों को उनके समान कर्म करना ही उचित है। नारायणीय आख्यान में तो भागवतधर्म का लक्षण स्पष्ट बतलाया है कि "प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः" (म. भा. शां. ३४७. ८१) – अर्थात् नारायणीय अथवा भागवतधर्म प्रवृत्तिप्रधान या कर्मप्रधान है। नारायणीय या मूल भागवतधर्म का जो निष्काम-प्रवृत्ति-तत्त्व है, उसीका नाम नैष्कर्म्य है; और यही मूल भागवतधर्म का मुख्य तत्त्व है। परन्तु भागवतपुराण से यह बात सिद्ध होती है कि आगे कालान्तर में यह तत्त्व मन्द होने लगा, और इस धर्म में तो वैराग्यप्रधान वासुदेवभक्ति श्रेष्ठ मानी जाने लगी। नारदपञ्चरात्र में तो भक्ति के साथ मन्त्रतन्त्रों का भी समावेश भागवतधर्म में कर दिया गया है। तथापि भागवत ही से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये सब इस धर्म के मूल स्वरूप नहीं हैं। जहाँ नारायणीय अथवा सात्वतधर्म के विषय में ही कुछ कहने का मौका आया है, वहाँ भागवत (१. ३. ८ और ११. ४. ६) में ही यह कहा है कि सात्वतधर्म या नारायण ऋषि का धर्म (अर्थात् भागवतधर्म) "नैष्कर्म्यलक्षण" है; और आगे यह भी कहा है कि इस नैष्कर्म्यधर्म में भक्ति का उचित महत्त्व नहीं दिया गया था, इसलिये भक्तिप्रधान भागवतपुराण कहना पड़ा (भाग. १. ५. १२)। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि मूल भागवतधर्म नैष्कर्म्यप्रधान अर्थात् निष्कामकर्मप्रधान था; किन्तु आगे समय के हेरफेर से उसका स्वरूप बदल कर वह भक्तिप्रधान हो गया। गीतारहस्य में ऐसी ऐतिहासिक बातों का विवेचन पहले ही हो चुका है कि ज्ञान तथा भक्ति से पराक्रम का लक्ष्य रखनेवाले मूल भागवतधर्म में और आश्रमव्यवस्थारूपी स्मार्तमार्ग में क्या भेद है; वैदिक संन्यासप्रधान जैन और बौद्धधर्म के प्रचार से भागवतधर्म के कर्मयोग की अवनति हो कर उसे दूसरा ही स्वरूप अर्थात् वैराग्ययुक्त भक्तिस्वरूप कैसे प्राप्त हुआ; और बौद्धधर्म का ह्रास होने के बाद जो वैदिक सम्प्रदाय प्रवृत्त हुए, उनमें से कुछ ने तो अन्त में भगवद्गीता ही को संन्यासप्रधान, कुछ ने केवल भक्तिप्रधान तथा कुछ ने विशिष्टाद्वैतप्रधान स्वरूप दे दिया।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह बात समझ में आ जायगी, कि वैदिक धर्म के सनातन प्रवाह में भागवतधर्म का उदय कब हुआ? और पहले उसके प्रवृत्तिप्रधान या कर्मप्रधान रहने पर भी आगे चल कर भक्तिप्रधान स्वरूप एवं अन्त में रामानुजाचार्य के समय विशिष्टाद्वैती स्वरूप कैसे हो गया। भागवतधर्म के इन भिन्न भिन्न स्वरूपों में से जो मूल आरम्भ का अर्थात् निष्काम कर्मप्रधान स्वरूप है, वही गीताधर्म का स्वरूप है। अब यहाँ पर संक्षेप में यह बतलाया जायगा कि उक्त प्रकार की मूल

के मत की पुष्टि हो गई है। भिन्न भिन्न पुराणों में वर्तमान भगवद्गीता के नमूने की जो अनेक गीताएँ कही गई हैं, उनसे यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि उक्त प्रकार से मूल गीता का जो स्वरूप एक बार प्राप्त हो गया था वही अब तक बना हुआ है – उसके बाद उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। क्योंकि, इन सब पुराणों में से अत्यन्त प्राचीन पुराणों के कुछ शतक पहले ही यदि वर्तमान गीता पूर्णतया प्रमाणभूत (और इसीलिये परिवर्तित न होने योग्य) न हो गई होती तो उसी नमूने की अन्य गीताओं की रचना की कल्पना होना भी सम्भव नहीं था। इसी प्रकार – गीता के भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक टीकाकारोंने एकही गीता के शब्दों की खींचातानी करके – यह दिखलाने का जो प्रयत्न किया है कि गीता का अर्थ हमारे ही सम्प्रदाय के अनुकूल है। उसकी भी कोई आवश्यकता उत्पन्न नहीं होती। वर्तमान गीता के कुछ सिद्धान्तों का परस्परविरोध देख कुछ लोग यह शंका करते हैं कि वर्तमान भारतान्तर्गत गीता में भी आगे समय पर कुछ परिवर्तन हुआ होगा। परन्तु हम पहले ही बतला चुके हैं कि वास्तव में यह विरोध नहीं है किन्तु यह भ्रम है जो धर्मप्रतिपादन करनेवाली पूर्वापार वैदिक पद्धतियों के स्वरूप को ठीक तौर पर न समझने से हुआ है। सारांश, ऊपर किये गये विवेचन से यह बात समझ में आ जायगी कि भिन्न भिन्न प्राचीन वैदिक धर्माङ्गों की एकवाक्यता करके प्रवृत्तिमार्ग का विशेष रीति से समर्थन करनेवाले भागवतधर्म का उदय हो चुकने पर लगभग पाँच सौ वर्ष के पश्चात् (अर्थात् सन् ईसवी के लगभग

 चार सौ वर्ष पहले) मूल भारत और मूल गीता दोनों ग्रन्थ निर्मित हुए, जिनमें उस मूल भागवतधर्म का ही प्रतिपादन किया गया था और भारत का महाभारत होते समय यद्यपि इस मूलगीता में तदर्थप्रकाशक कुछ सुधार किये गये हों; तथापि उसके असली रूप में उस समय भी परिवर्तन नहीं हुआ। एवं वर्तमान महाभारत में जब गीता जोड़ी गई तब (और उसके बाद भी) उसमें कोई नया परिवर्तन हुआ – और होना भी असम्भव था। मूल गीता तथा मूल भारत के स्वरूप एवं काल का यह निर्णय स्वभावतः स्थूलदृष्टि से एवं अन्दाज से किया गया है। क्योंकि उस समय उनके लिए कोई विशेष साधन उपलब्ध नहीं है। परन्तु महाभारत तथा वर्तमान गीता की यह बात नहीं। क्योंकि इनके काल का निर्णय करने के लिये बाहर साधन हैं। अतएव इनकी चर्चा स्वतन्त्र रीति से अगले भाग में की गई है। यहाँ पर पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि ये दोनों – अर्थात् वर्तमान गीता और वर्तमान महाभारत – वही ग्रन्थ हैं, जिनके मूल स्वरूप में कालान्तर में परिवर्तन होता रहा और जो इस समय गीता तथा महाभारत के रूप में उपलब्ध हैं; ये उस समय के पहले मूल ग्रन्थ नहीं हैं।

भाग ५ – वर्तमान गीता का काल

इस भाग का विवेचन हो चुका कि भगवद्गीता भागवतधर्म पर प्रधान ग्रन्थ है और यह भागवतधर्म ईसाई सन के लगभग १४०० वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ। एवं स्थूलमान से यह निश्चित किया गया कि उसके कुछ शतकों के बाद मूल गीता बनी होगी और यह भी बतलाया गया कि मूल भागवत धर्म के निष्काम–कर्मप्रधान होने पर भी आगे उसका भक्तिप्रधान स्वरूप हो कर अन्त में विशिष्टाद्वैत का भी उसमें समावेश हो गया। मूल गीता तथा मूल भागवतधर्म के विषय में इस से अधिक हाल निदान वर्तमान समय में तो मालूम नहीं है और यही दशा पचास वर्ष पहले वर्तमान गीता तथा महाभारत की भी थी। परन्तु डॉक्टर भाण्डारकर, परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षित तथा रावबहादुर चिन्तामणराव वैद्य प्रभृति विद्वानों के उद्योग से वर्तमान गीता एवं वर्तमान महाभारत का काल निश्चित करने के लिये यथेष्ट साधन उपलब्ध हो गये हैं और, अभी हाल ही में स्वर्गवासी त्र्यम्बक गुरुनाथ काळे ने दो-एक प्रमाण और भी बतलाये हैं। इन सब को एकत्रित कर तथा हमारे मत से उनमें जिन बातों का मिलना ठीक जँचा उनको भी मिला कर परिशिष्ट का यह भाग संक्षेप में लिखा गया है। इस परिशिष्ट प्रकरण के आरम्भ ही में हमने यह बात प्रमाणसहित दिखला दी है कि वर्तमान महाभारत तथा वर्तमान गीता दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति द्वारा रचे गये हैं। यदि ये दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति द्वारा रचे गये – अर्थात् एककालीन मान लें – तो महाभारत के काल से गीता का काल भी सहज ही निश्चित हो जाता। अतएव इस भाग में पहले वे प्रमाण दिये गये हैं जो वर्तमान महाभारत का काल निश्चित करने में अत्यन्त प्रधान माने जाते हैं और उनके बाद स्वतन्त्र रीति से वे प्रमाण दिये गये हैं जो वर्तमान गीता का काल निश्चित करने में उपयोगी हैं। ऐसा करने का उद्देश यह है कि महाभारत का कालनिर्णय करने के जो प्रमाण हैं वे यदि किसी को सन्दिग्ध प्रतीत हों तो उनके कारण गीता के काल का निर्णय करने में कोई बाधा न होने पावे।

महाभारत कालनिर्णय :– महाभारतग्रन्थ बहुत बड़ा है और उसी में यह लिखा है कि वह लक्षश्लोकात्मक है। परन्तु रावबहादुर वैद्य ने महाभारत के अपने टीकात्मक अंग्रेजी ग्रन्थ के पहले परिशिष्ट में यह बतलाया है * कि जो महाभारत ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है उसमें लाख श्लोकों की संख्या में कुछ न्यूनाधिकता हो गई है; और यदि उनमें हरिवंश के श्लोक मिला दिये जावें तो भी यह संख्या एक लाख नहीं होती। तथापि यह माना जा सकता है कि भारत का

---

* The Mahabharata: A Criticism, p. 185. रा. ब. वैद्य के महाभारत के जिस टीकात्मक ग्रन्थ का हमने कहीं कहीं उल्लेख किया है वह यही पुस्तक है।

महाभारत होने पर जो बृहत् ग्रन्थ तैयार हुआ, वह प्रायः वर्तमान ग्रन्थ ही था होगा। ऊपर बतला चुके हैं कि इस महाभारत में यास्क के निरुक्त तथा मनुसंहिता का और भगवद्गीता में तो ब्रह्मसूत्रों का भी उल्लेख पाया जाता है। अब इसके अतिरिक्त महाभारत के कालनिर्णय करने के लिये जो प्रमाण पाये जाते हैं, वे ये हैं:—

(१) अठारह पर्वों का यह ग्रन्थ तथा हरिवंश, ये दोनों संवत् ५३५ और ६३५ के दर्मियान जावा और बाली द्वीपों में थे, तथा वहाँ की प्राचीन 'कवि' नामक भाषा में उनका अनुवाद हुआ है। इस अनुवाद के ये आठ पर्व – आदि, विराट, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासी, मुसल, प्रस्थानिक और स्वर्गारोहण – बाली द्वीप में इस समय उपलब्ध हैं और उनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं। यद्यपि अनुवाद कविभाषा में किया गया है, तथापि उसमें स्थान स्थान पर महाभारत के मूल संस्कृत श्लोक ही रखे गये हैं। उनमें से उद्योगपर्व के श्लोकों की जाँच हमने की है। वे सब श्लोक वर्तमान महाभारत की कलकत्ते में प्रकाशित पोथी के उद्योगपर्व के अध्यायों में – बीच बीच में क्रमशः – मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि लक्ष श्लोकात्मक महाभारत संवत् ४३५ के पहले लगभग दो सौ वर्ष तक हिन्दुस्थान में प्रमाणभूत माना जाता था। क्योंकि, यदि वह यहाँ प्रमाणभूत न हुआ होता तो जावा तथा बाली द्वीपों में उसे न ले गये होते। तिब्बत की भाषा में भी महाभारत का अनुवाद हो चुका है; परन्तु यह उसके बाद का है।*

(२) गुप्त राजाओं के समय का एक शिलालेख हाल में उपलब्ध हुआ है कि जो चेदि संवत् १९७ अर्थात् विक्रमी संवत् ५०२ में लिखा गया था। उसमें इस बात का स्पष्ट रीति से निर्देश किया गया है कि उस समय महाभारत ग्रन्थ एक लक्ष श्लोकों का था; और इससे यह प्रकट हो जाता है कि विक्रमी संवत् ५०२ के लगभग दो सौ वर्ष पहले उसका अस्तित्व अवश्य होगा।†

(३) आजकल भास कवि के जो नाटकग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनमें से अधिकांश महाभारत के आख्यानों के आधार पर रचे गये हैं। इससे प्रकट है कि उस समय महाभारत उपलब्ध था और वह प्रमाण भी माना जाता था। भास कविकृत 'बालचरित' नाटक में श्रीकृष्णजी की शिशु-अवस्था की बातों का तथा गोपियों का उल्लेख पाया जाता है। अतएव यह कहना पड़ता है कि हरिवंश भी उस समय अस्तित्व में होगा। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भास कवि कालिदास से पुराना है।

---

* जावा द्वीप के महाभारत का ब्यौरा The Modern Review, July 1914, pp. 32-38 में दिया गया है; और तिब्बती भाषा में अनुवादित महाभारत का ब्यौरा Rockhill's Life of the Buddha, p. 228 note में दिया है।

† यह शिलालेख Inscriptionum Indicarum नामक पुस्तक के तृतीय खण्ड के पृष्ठ [illegible] में प्रकाशित हुआ है; और स्वर्गवासी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने उसका उल्लेख भारतीय ज्योतिःशास्त्र (पृ. [illegible]) में किया है।

भास कविकृत नाटकों के सम्पादक पण्डित गणपतिशास्त्री ने स्वप्नवासवदत्ता नामक नाटक की प्रस्तावना में लिखा है कि भास चाणक्य के से भी प्राचीन है। क्योंकि भास कवि के नाटक का एक श्लोक चाणक्य के अर्थशास्त्र में पाया जाता है और उसमें यह बतलाया है कि यह किसी दूसरे का है। परन्तु यह काल यद्यपि कुछ सन्दिग्ध माना जाय तथापि हमारे मत से यह बात निर्विवाद है कि भास कवि का समय सन् ईसवी के दूसरे तथा तीसरे शतक के और भी इस ओर का नहीं माना जा सकता।

(४) बौद्ध ग्रन्थों के द्वारा यह निश्चित किया गया है कि शालिवाहन शक के आरम्भ में अश्वघोष नामक एक बौद्ध कवि हो गया है जिसने 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' नामक दो बौद्धधर्मीय संस्कृत महाकाव्य लिखे थे। अब ये ग्रन्थ छापकर प्रकाशित किये गये हैं। इन दोनों में भारतीय कथाओं का उल्लेख है। इनके सिवा 'वज्रसूचिकोपनिषद्' पर अश्वघोष का व्याख्यानरूपी एक और ग्रन्थ है। अथवा यह कहना चाहिये कि 'वज्रसूचिकोपनिषद्' उसी का रचा हुआ है। इस ग्रन्थ को प्रोफेसर वेबर ने सन् १८६० में जर्मनी में प्रकाशित किया है। इसमें हरिवंश के श्राद्धमाहात्म्य में से 'सप्तव्याधा दशार्णेषु०' (हरि. २४. २० और २१) इत्यादि श्लोक, तथा स्वयं महाभारत के कुछ अन्य श्लोक (उदाहरणार्थ म. भा. शां. २६१. १७) पाये जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि शक संवत् से पहले हरिवंश को मिलाकर वर्तमान लक्षश्लोकात्मक महाभारत प्रचलित था।

(५) आश्वलायन गृह्यसूत्रों (३. ४. ४) में भारत तथा महाभारत का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है और बौधायन धर्मसूत्र में एक स्थान (२. २. २६) पर महाभारत में वर्णित ययाति उपाख्यान का एक श्लोक मिलता है (म. भा. आ. ७८. १०)। बूलर साहब का कथन है कि केवल एक ही श्लोक के आधार पर यह अनुमान दृढ़ नहीं हो सकता कि महाभारत बौधायन के पहले था।* परन्तु यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि बौधायन के गृह्यसूत्र में विष्णुसहस्रनाम का स्पष्ट उल्लेख है। (बौ. गृ. शे. १. २२. ८) और आगे चल कर इसी सूत्र (२. २२. ९) में गीता का 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं०' श्लोक (गीता ९. २६) भी मिलता है। बौधायन सूत्र में पाये जानेवाले इन उल्लेखों को पहले पहल परलोकवासी त्र्यम्बक गुरुनाथ काळे ने प्रकाशित किया था।† और इन सब उल्लेखों से यही कहना पड़ता है कि बूलर साहब की शंका निर्मूल है। आश्वलायन तथा बौधायन दोनों ही महाभारत से परिचित थे। बूलर ही ने अन्य प्रमाणों से निश्चित किया है कि बौधायन सन् ईसवी के लगभग ४०० वर्ष पहले हुआ होगा।

---

* See Sacred Books of the East Series, Vol. XIV., Intro. p. xli.

† परलोकवासी त्र्यम्बक गुरुनाथ काळे का पूरा लेख The Vedic Magazine and Gurukula Samachar Vol. VII Nos. 6-7 pp. 528-532 में प्रकाशित हुआ है। इसमें लेखक का नाम भास्कर काळे लिखा है पर वह अशुद्ध है।

(६) स्वयं महाभारत में जहाँ विष्णु के अवतारों का वर्णन किया गया है, वहाँ बुद्ध का नाम तक नहीं; और नारायणीयोपाख्यान (म. भा. शां. ३३९. १००) में जहाँ दस अवतारों के नाम दिये हैं, वहाँ हंस को प्रथम अवतार कह कर तथा कृष्ण के बाद ही एकदम कल्कि को लाकर पूरे दस गिना दिये हैं। परन्तु वनपर्व में कलियुग की भविष्यत् स्थिति का वर्णन करते समय कहा है कि 'एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता' (म. भा. वन. १९०. ६८) – अर्थात् पृथ्वी पर देवालयों के बदले एडूक होंगे। बुद्ध के बाल तथा दाँत प्रभृति किसी स्मारक वस्तु को ज़मीन में गाड़ कर उस पर जो खम्भ, मीनार या इमारत बनाई जाती थी उसे एडूक कहते थे और आजकल उसे 'डागोबा' कहते हैं। डागोबा शब्द संस्कृत 'धातुगर्भ' (= पाली डागब) का अपभ्रंश है; और 'धातु' शब्द का अर्थ 'भीतर रक्खी हुई स्मारक वस्तु' है। सीलोन तथा ब्रह्मदेश में ये डागोबा कई स्थानों पर पाये जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि बुद्ध के बाद – परन्तु अवतारों में उसकी गणना होने के पहले ही – महाभारत रचा गया होगा। महाभारत में 'बुद्ध' तथा 'प्रतिबुद्ध' शब्द अनेक बार मिलते हैं (शां. १९४. ५८; ३०७. ४७; ३४३. ५२)। परन्तु वहाँ केवल ज्ञानी, जाननेवाला अथवा स्थितप्रज्ञ पुरुष इतना ही अर्थ उन शब्दों से अभिप्रेत है। प्रतीत नहीं होता कि ये शब्द बौद्ध धर्म से लिये गये हों; किन्तु यह मानने के लिये दृढ़ कारण भी है कि बौद्धों ने ये शब्द वैदिक धर्म से लिये होंगे।

(७) कालनिर्णय की दृष्टि से यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि महाभारत में नक्षत्रगणना अश्विनी आदि से नहीं है; किन्तु वह कृत्तिका आदि से है (म. भा. अनु. ६४ और ८९), और मेष-वृषभ आदि राशियों का कहीं भी उल्लेख नहीं है; क्योंकि इस बात से यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि यूनानियों के सहवास से हिन्दुस्थान में मेष वृषभ आदि राशियों के आने के पहले – अर्थात् सिकन्दर के पहले ही – महाभारतग्रन्थ रचा गया होगा। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व की बात श्रवण आदि नक्षत्रगणना के विषय की है। अनुगीता (म. भा. अश्व. ४४. २ और आदि. ७१. ३४) में कहा है कि विश्वामित्र ने श्रवण आदि की नक्षत्रगणना आरम्भ की; और टीकाकार ने उसका यह अर्थ किया है कि उस समय श्रवण नक्षत्र से उत्तरायण का आरम्भ होता था – इसके सिवा उसका कोई दूसरा ठीक ठीक अर्थ भी नहीं हो सकता। वेदाङ्गज्योतिष के समय उत्तरायण का आरम्भ धनिष्ठा नक्षत्र से हुआ करता था। धनिष्ठा में उदगयन होने का काल ज्योतिर्गणित की रीति से शक के पहले लगभग १५०० वर्ष आता है; और ज्योतिर्गणित की रीति से उदगयन को एक नक्षत्र पीछे हटने के लिये लगभग हज़ार वर्ष लग जाते हैं। इस हिसाब से श्रवण के आरम्भ में उदगयन होने का काल शक के पहले लगभग ५०० वर्ष आता है। सारांश, गणित के द्वारा यह बतलाया जा सकता है कि शक के पहले ५०० वर्ष के लगभग वर्तमान महाभारत बना होगा। परलोकवासी शङ्कर बालकृष्ण

दीक्षित ने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' में यही अनुमान किया है (भा. ज्यो. पृ. ८०–९ , १११ और १४७ देखो)। इस प्रमाण की विशेषता यह है कि इसके कारण वर्तमान महाभारत का काल शक के पहले वर्ष से अधिक पीछे हटाया ही नहीं जा सकता।

(८) रावबहादुर वैद्य ने महाभारत पर जो टीकात्मक ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा है, उसमें यह बतलाया है कि चन्द्रगुप्त के दरबार में (सन् ईसवी से लगभग ३२० वर्ष पहले) रहनेवाले मेगास्थनीज़ नामक ग्रीक वकील को महाभारत की कथाएँ मालूम थीं। मेगास्थनीज़ का पूरा ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसके अवतरण कई ग्रन्थों में पाये जाते हैं। वे सब एकत्रित करके, पहले जर्मन भाषा में प्रकाशित किये गये और फिर मेक्क्रिण्डल ने उनका अंग्रेजी अनुवाद किया है। इस पुस्तक (पृष्ठ २००–२०५) में कहा है कि उसमें वर्णित हेराक्लीज़ ही श्रीकृष्ण है और मेगास्थनीज़ के समय शौरसेनीय लोग – जो मथुरा के निवासी थे – उसी की पूजा किया करते थे।* उसमें यह भी लिखा है कि हेराक्लीज़ अपने मूलपुरुष डायोनिसस से पन्द्रहवाँ था। इसी प्रकार महाभारत (अनु. १४७. २५–३३) में भी कहा है कि श्रीकृष्ण दक्षप्रजापति से पन्द्रहवें पुरुष हैं। और, मेगास्थनीज़ ने कर्णप्रावरण, एकपाद, ललाटाक्ष आदि अद्भुत लोगों का (पृ. ७४) तथा सोने के ऊपर निकालनेवाली चींटियों (पिपीलिकाओं) का (पृ. ९४) जो वर्णन किया है, वह भी महाभारत (सभा. ५१ और ५२) ही में पाया जाता है। इन बातों से और अन्य बातों से प्रकट हो जाता है कि मेगास्थनीज़ के समय केवल महाभारत ग्रन्थ ही नहीं प्रचलित था, किन्तु श्रीकृष्णचरित्र तथा श्रीकृष्णपूजा का भी प्रचार हो गया था।

यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि उपर्युक्त प्रमाण परस्परसापेक्ष अर्थात् एक दूसरे पर अवलम्बित नहीं हैं किन्तु वे स्वतन्त्र हैं, तो यह बात निस्सन्देह प्रतीत

---

* See M'Crindle's Ancient India — Megasthenes and Arrian, pp. 200-205. मेगास्थनीज़ का यह कथन एक वर्तमान खोज के कारण विश्वसनीय हो गया है। बम्बई सरकार के Archaeological Department की १९१४ ईसवी की Progress Report हाल ही में प्रकाशित हुई है। उसमें एक शिलालेख है, जो ग्वालियर रियासत के भेलसा शहर के पास बेसनगर गाँव में खाम्बबाबा नामक एक गरुडध्वजस्तम्भ पर मिला है। इस लेख में यह कहा है कि हेलिओडोरस नामक एक हिन्दू बने हुए यवन अर्थात् ग्रीक ने इस स्तम्भ के सामने वासुदेव का मन्दिर बनवाया और यह यवन वहाँ के भगभद्र नामक राजा के दरबार में तक्षशिला के एन्टिआल्किडस नामक ग्रीक राजा के एलची की हैसियत से रहता था। एन्टिआल्किडस के सिक्कों से अब यह सिद्ध किया गया है कि वह ईसा के पहले १४० वें वर्ष में राज्य करता था। इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि उस समय वासुदेवभक्ति प्रचलित थी; केवल इतना ही नहीं, किन्तु यवन लोग भी वासुदेव के मन्दिर बनवाने लगे थे। यह बात ही स्पष्ट हुई है कि मेगास्थनीज़ ही का नहीं, किन्तु पाणिनी को भी वासुदेवभक्ति मालूम थी।

होगी कि वर्तमान महाभारत शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्व में जरूर था। इसके बाद कदाचित् किसी ने उसमें कुछ नये श्लोक मिला दिये होंगे अथवा उसम से कुछ निकाल भी डाले होंगे। परन्तु इस समय कुछ विशिष्ट श्लोकों के विषय में कोई प्रश्न नहीं है – प्रश्न तो समूचे ग्रन्थ के ही विषय में है और यह बात सिद्ध है कि यह समस्त ग्रन्थ शककाल के कम-से-कम पाँच शतक पहले ही रचा गया है। इस प्रकरण के आरम्भ ही में हमने यह सिद्ध कर दिया है कि गीता समस्त महाभारतग्रन्थ का एक भाग है – वह कुछ उसमें पीछे नहीं मिलाई गई। अतएव गीता का भी काल वही मानना पड़ता है जो कि महाभारत का है। सम्भव है कि मूल गीता इसके पहले की हो – क्योंकि (जैसा इसी प्रकरण के चौथे भाग में बतलाया गया है) इसकी परम्परा बहुत प्राचीन समय तक हटानी पड़ती है। परन्तु चाहे जो कुछ कहा जाय यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसका काल महाभारत के बाद का नहीं माना जा सकता। यह नहीं कि यह बात उपर्युक्त प्रमाणों ही से सिद्ध होती है किन्तु इसके विषय में स्वतन्त्र प्रमाण भी दीख पड़ते हैं। अब आगे उन स्वतन्त्र प्रमाणों का ही वर्णन किया जाता है।

गीताकाल का निर्णय :– ऊपर जो प्रमाण बतलाये गये हैं उनमें गीता का स्पष्ट अर्थात् नामतः निर्देश नहीं किया गया है। वहाँ गीता के काल का निर्णय महाभारतकाल से किया गया है। अब यहाँ क्रमशः वे प्रमाण दिये जाते हैं जिनमें गीता का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। परन्तु पहले यह बतला देना चाहिये कि परलोकवासी तैलङ्ग ने गीता को आपस्तम्ब के पहले की अर्थात् ईसा से कम-से-कम तीन सौ वर्ष से अधिक प्राचीन कहा है। डाक्टर भाण्डारकर ने अपने 'वैष्णव, शैव आदि पन्थ' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ में प्रायः इसी काल को स्वीकार किया है। प्रोफेसर गार्बे* के मतानुसार तैलङ्ग द्वारा निश्चित किया गया काल ठीक नहीं। उनका यह कथन है कि मूल गीता ईसा के पहले दूसरी सदी में हुई और ईसा के बाद दूसरे शतक में उसमें कुछ सुधार किये गये हैं। परन्तु नीचे लिखे प्रमाणों से यह बात भली भाँति प्रकट हो जायगी कि गार्बे का उक्त कथन ठीक नहीं है।

( ) गीता पर जो टीकाएँ तथा भाष्य उपलब्ध हैं उनमें शाङ्करभाष्य अत्यन्त प्राचीन है। श्रीशङ्कराचार्य ने महाभारत के सनत्सुजातीय प्रकरण पर भी भाष्य लिखा है और उनके ग्रन्थों में महाभारत के मनुबृहस्पतिसंवाद, शुकानुप्रश्न और अनुगीता में से बहुतेरे वचन अनेक स्थानों पर प्रमाणार्थ लिये गये हैं। इससे यह बात प्रकट है कि उनके समय में महाभारत और गीता दोनों ग्रन्थ प्रमाणभूत

---

* See Telang Bhagavadgita S. B. E. Vol VIII Intro pp 21 and 34 Dr Bhandarkar's Vaishnavism Shaivism and other Sects P 13 Dr Garbe Die Bhagavadgita, p 64

मानते थे। प्रोफ़ेसर काशीनाथ बापू पाठक ने एक साम्प्रदायिक श्लोक के आधार पर श्रीशङ्कराचार्य का जन्मकाल ८४५ विक्रमी संवत् (७८८ ई.) निश्चित किया है। परन्तु हमारे मत से इस काल को सौ वर्ष और भी पीछे हटाना चाहिये। क्योंकि, महानुभाव पन्थ के 'दर्शनप्रकाश' नामक ग्रन्थ में यह कहा है कि 'युग्मपयोधिरसान्वितशाके' अर्थात् शक ६४२ (विक्रमी संवत् ७७७) में श्रीशङ्कराचार्य ने गुहा में प्रवेश किया, और उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी। अतएव यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म शक ६१० (संवत् ७४५) में हुआ। हमारे मत में यही समय – प्रोफ़ेसर पाठक द्वारा निश्चित किये हुए काल से – कहीं अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ पर उसके विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया जा सकता। गीता पर जो शाङ्करभाष्य है उसमें पूर्व समय के अधिकांश टीकाकारों का उल्लेख किया गया है, और इस भाष्य के आरम्भ ही में श्रीशङ्कराचार्य ने कहा है कि इन टीकाकारों के मतों का खण्डन करके हमने नया भाष्य लिखा है। अतएव आचार्य का जन्मकाल चाहे शक ६१० लीजिये या ७१०, इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि उस समय के कम-से-कम दो-तीन सौ वर्ष पहले – अर्थात् ४०० शक के लगभग – गीता प्रचलित थी। अब देखना चाहिये कि इस काल के भी और पहले कब और कितना जा सकते हैं।

(२) परलोकवासी तैलङ्ग ने यह दिखलाया है कि कालिदास और बाणभट्ट गीता से परिचित थे। कालिदासकृत रघुवंश (१०.३१) में विष्णु की स्तुति के विषय में जो 'अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते' यह श्लोक है वह गीता के (३.२२) 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' श्लोक से मिलता है। और बाणभट्ट की कादम्बरी के 'महाभारतमिवानन्तगीताकर्णनानन्दितनरं' इस एक श्लेषप्रधान वाक्य में गीता का स्पष्टरूप से उल्लेख किया गया है। कालिदास और भारवि का उल्लेख स्पष्टरूप से संवत् ६९१ के एक शिलालेख में पाया जाता है। और अब यह भी निश्चित हो चुका है कि बाणभट्ट संवत् ६६३ के लगभग हर्ष राजा के पास था। इस बात का विवेचन परलोकवासी पाण्डुरङ्ग गोविन्दशास्त्री पारखी ने बाणभट्ट पर लिखे हुए अपने एक मराठी निबन्ध में किया है।

(३) जावा द्वीप में जो महाभारत ग्रन्थ यहाँ से गया है उसके भीष्मपर्व में एक गीता प्रकरण है, जिसमें गीता के भिन्न भिन्न अध्यायों के लगभग सौ-सवा सौ श्लोक अक्षरशः मिलते हैं। सिर्फ १२, १५, १६ और १७ इन चार अध्यायों के श्लोक उसमें नहीं हैं। इससे यह कहने में कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती कि उस समय भी गीता का स्वरूप वर्तमान गीता के सदृश ही था। क्योंकि कविभाषा में यह गीता का अनुवाद है, और उसमें जो संस्कृत श्लोक मिलते हैं वे बीच-बीच में उदाहरण तथा प्रतीक के तौर पर ले लिये गये हैं। इससे यह अनुमान करना युक्तिसंगत नहीं कि उस समय गीता में केवल इतने ही श्लोक थे। जब डॉक्टर नरहर गोपाल

सरदेसाई बावा द्वीप को गये थे तब उन्हीं ने इस बात की खोज की है। इस विषय का वर्णन कलकत्ते के 'मॉडर्न रिव्यू' नामक मासिक पत्र के जुलाई १९१४ के अङ्क में तथा अन्यत्र भी प्रकाशित हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि शक चार-पाँच सौ के पहले कम-से-कम दो सौ वर्ष तक महाभारत के भीष्मपर्व में गीता थी और उसके श्लोक भी वर्तमान गीता-श्लोकों के क्रमानुसार ही थे।

(४) विष्णुपुराण और पद्मपुराण आदि ग्रन्थों में भगवद्गीता के नमूने पर बनी हुई जो अन्य गीताएँ दीख पड़ती हैं अथवा उनके उल्लेख पाये जाते हैं उनका वर्णन इस ग्रन्थ के पहले प्रकरण में किया गया है। इससे यह बात स्पष्टतया विदित होती है कि उस समय भगवद्गीता प्रमाण तथा पूजनीय मानी जाती थी। इसी लिये उसका उक्त प्रकार से अनुकरण किया गया है और यदि ऐसा न होता तो उसका कोई भी अनुकरण न करता। अतएव सिद्ध है कि इन पुराणों में जो अत्यन्त प्राचीन पुराण हैं उनसे भी भगवद्गीता कम-से-कम सौ-दो-सौ वर्ष अधिक प्राचीन अवश्य होगी। पुराण-काल का आरम्भ-समय सन् ईसवी के दूसरे शतक से अधिक अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। अतएव गीता का काल कम-से-कम शकारम्भ के कुछ थोड़ा पहले ही मानना पड़ता है।

(५) ऊपर यह बतला चुके हैं कि कालिदास और बाण गीता से परिचित थे। कालिदास से पुराने भास कवि के नाटक हाल ही में प्रकाशित हुए हैं। उनमें से 'कर्णभार' नामक में बारहवाँ श्लोक इस प्रकार है –

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः ।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ॥

यह श्लोक गीता के 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' (गीता २. ३७) श्लोक के समानार्थक है। और, जब कि भास कवि के अन्य नाटकों से यह प्रकट होता है कि वह महाभारत से पूर्णतया परिचित था; तब तो यही अनुमान किया जा सकता है कि उपर्युक्त श्लोक लिखते समय उसके मन में गीता का उक्त श्लोक अवश्य आया होगा। अर्थात् यह सिद्ध होता है कि भास कवि के पहले भी महाभारत और गीता का अस्तित्व था। पण्डित त. गणपतिशास्त्री ने यह निश्चित किया है कि भास कवि का काल शक के दो-तीन सौ वर्ष पहले था। यदि इस दूसरे मत को सत्य मानें तो भी उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध हो जाता है कि भास से कम-से-कम दो-तीन सौ वर्ष पहले – अर्थात् शककाल के आरम्भ में महाभारत और गीता दोनों ग्रन्थ सर्वमान्य हो गये थे।

(६) परन्तु प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा गीता के श्लोक लिये जाने का और भी अधिक दृढ़ प्रमाण, परलोकवासी त्र्यम्बक गुरुनाथ काले ने गुरुकुल की 'वैदिक मेगज़ीन' नामक अंग्रेजी मासिक पुस्तक (पुस्तक ७ अङ्क ६–७ पृष्ठ ५०८–५१२ मार्गशीर्ष और पौष संवत् १९७०) में प्रकाशित किया है। इसके पहिले संस्कृत

पण्डितों का यह मत था, कि संस्कृत काव्य तथा पुराणों की अपेक्षा किन्हीं अधिक प्राचीन ग्रन्थों में – उदाहरणार्थ सूत्रग्रन्थों में भी – गीता का उल्लेख नहीं पाया जाता; और इसलिये यह कहना पड़ता है, कि सूत्रकाल के बाद – अर्थात् अधिक से अधिक सन् ईसवी के पहले दूसरी सदी में गीता बनी होगी। परन्तु परलोकवासी तैलंग ने प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है, कि यह मत ठीक नहीं है। बौधायनगृह्यशेषसूत्र (२. २२. ९) में गीता का (९. २६) श्लोक 'तदाह भगवान्' कह कर स्पष्ट रूप से लिया गया है। जैसे :–

देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यान्मनसा वार्चयेदिति। तदाह भगवान् –
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ इति

और आगे चल कर कहा है, कि भक्ति से नम्र हो कर इन मन्त्रों को पढ़ना चाहिये – 'भक्तिनम्रः एतान् मन्त्रानधीयीत।' उसी गृह्यशेषसूत्र के तीसरे प्रश्न के अन्त में यह भी कहा है, कि 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षरमन्त्र का जप करने से अश्वमेध का फल मिलता है। इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध होती है, कि बौधायन के पहले गीता प्रचलित थी; और वासुदेवपूजा भी सर्वसामान्य समझी जाती थी। इसके सिवा बौधायन के पितृमेधसूत्र के द्वितीय प्रश्न के आरम्भ ही में यह वाक्य है –

जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीयात्तस्माज्जाते
न प्रहृष्येन्मृते च न विषीदेत्।

इससे सहज ही दीख पड़ता है, कि यह गीता के 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥' इस श्लोक से सूझ पड़ा होगा; और उसमें उपर्युक्त 'पत्रं पुष्पं' श्लोक का मेल देने से तो कुछ शंका ही नहीं रह जाती। ऊपर बतला चुके हैं, स्वयं महाभारत का एक श्लोक बौधायनसूत्रों में पाया जाता है। बुल्हर साहब ने निश्चित किया है*, कि बौधायन का काल आपस्तम्ब के सौ-दो-सौ वर्ष पहले होगा; और आपस्तम्ब का काल ईसा के पहले तीन सौ वर्ष से कम हो नहीं सकता। परन्तु हमारे मतानुसार उसे कुछ इस ओर हटाना चाहिये। क्योंकि महाभारत में मेष-वृषभ आदि राशियाँ नहीं हैं; और कालमाधव में तो बौधायन का 'मीनमेषयोर्मेषवृषभयोर्वा वसन्तः' यह वचन दिया गया है। यही वचन परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षित के 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' (पृष्ठ १०२) में भी लिया गया है। इससे भी यही निश्चित अनुमान किया जाता है, कि महाभारत बौधायन के पहले का है। शकारम्भ के कम-से-कम चार सौ वर्ष

---

* See Sacred Books of the East, Series, Vol. II, Intro. p. xl. and also the same Series, Vol. XIV Intro. p. xliii.

पहले बौधायन का समय होना चाहिये और पाँच सौ वर्ष पहले महाभारत तथा गीता का अस्तित्व था। परलोकवासी बूलर ने बौधायन का काल ईसा के सात-आठ सौ वर्ष पहले का निश्चित किया है किन्तु यह ठीक नहीं है। जान पड़ता है कि बौधायन का राशिविषयक वचन उनके ध्यान में न आया होगा।

(७) उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात किसी को भी स्पष्ट रूप से विदित हो जायगी कि वर्तमान गीता शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्व में थी बौधायन तथा आश्वलायन भी उससे परिचित थे और उस समय से श्रीशङ्कराचार्य के समय तक उसकी परम्परा अविच्छिन्न रूप में दिखलाई जा सकती है। परन्तु अब तक जिन प्रमाणों का उल्लेख किया गया है वे सब वैदिक धर्म के ग्रन्थों से लिये गये हैं। अब आगे चल कर जो प्रमाण दिया जायगा वह वैदिक धर्मग्रन्थों से भिन्न अर्थात् बौद्ध साहित्य का है। इससे गीता की उपर्युक्त प्राचीनता स्वतन्त्र रीति से और भी अधिक दृढ़ तथा निःसन्दिग्ध हो जाती है। बौद्धधर्म के पहले ही भागवतधर्म का उदय हो गया था। इस विषय में बुह्लर और प्रसिद्ध फ्रेंच पण्डित सेनार्ट के मतों का उल्लेख पहले हो चुका है तथा प्रस्तुत प्रकरण के अगले भाग में इन बातों का विवेचन स्वतन्त्र रीति से किया जायगा कि बौद्धधर्म की वृद्धि कैसे हुई? तथा हिन्दुधर्म से उसका क्या सम्बन्ध है? यहाँ केवल गीताकाल के सम्बन्ध में ही आवश्यक उल्लेख संक्षिप्त रूप से किया जायगा। भागवतधर्म बौद्धधर्म के पहले का है। केवल इतना कह देने से ही इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता कि गीता भी बुद्ध के पहले थी। क्योंकि यह कहने के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि भागवतधर्म के साथ ही साथ गीता का भी उदय हुआ। अतएव यह देखना आवश्यक है कि बौद्ध ग्रन्थकारों ने गीताग्रन्थ का स्पष्ट उल्लेख कहीं किया है या नहीं? प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि बुद्ध के समय चार वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास, निघण्टु आदि वैदिक धर्मग्रन्थ प्रचलित हो चुके थे। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध के पहले ही वैदिक धर्म पूर्णावस्था में पहुँच चुका था। इसके बाद बुद्ध ने जो नया पन्थ चलाया वह अध्यात्म की दृष्टि से अनात्मवादी था परन्तु उसमें — जैसा अगले भाग में बतलाया जायगा — आचारदृष्टि से उपनिषदों के संन्यासमार्ग ही का अनुकरण किया गया था। अशोक के समय बौद्धधर्म की यह दशा बदल गई थी। बौद्ध भिक्षुओं ने जङ्गलों में रहना छोड़ दिया था। धर्मप्रसारार्थ तथा परोपकार का काम करने के लिये वे लोग पूर्व की ओर चीन में और पश्चिम की ओर अलेक्जेंड्रिया तथा ग्रीस तक चले गये थे। बौद्धधर्म के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्त्व का प्रश्न है कि जङ्गलों में रहना छोड़ कर लोकसंग्रह का काम करने के लिये बौद्ध यति कैसे प्रवृत्त हो गये? बौद्धधर्म के प्राचीन ग्रन्थों पर दृष्टि डालिये। सुत्तनिपात के खग्गविसाणसुत्त में कहा है कि जिस भिक्षु ने पूर्ण अर्हतावस्था प्राप्त कर ली है वह कोई भी काम न करे केवल गेंडे के सदृश जङ्गल में निवास किया

करे। और महावग्ग (५. १. २७) में बुद्ध के शिष्य सोनकोलीविस की कथा में कहा है कि जो भिक्षु निर्वाणपद तक पहुँच चुका है उसके लिये न तो कोई कर्म ही अवशिष्ट रह जाता है, और न किया हुआ कर्म ही भोगना पड़ता है – 'कतस्स पटिचयो नत्थि करणीयं न विज्जति।' यह शुद्ध संन्यासमार्ग है और हमारे औपनिषदिक संन्यासमार्ग से इसका पूर्णतया मेल मिलता है। यह 'करणीयं न विज्जति' वाक्य गीता के इस 'तस्य कार्यं न विद्यते' वाक्य से केवल समानार्थक ही नहीं है, किन्तु शब्दशः भी एक ही है। परन्तु बौद्ध भिक्षुओं का जब यह मूल संन्यासप्रधान आचार बदल गया और जब वे परोपकार के काम करने लगे, तब नये तथा पुराने मत में झगड़ा हो गया। पुराने लोग अपने को 'थेरवाद' (वृद्धपंथ) कहने लगे और नवीन मतवादी लोग अपने पंथ का 'महायान' नाम रख करके पुराने पन्थ को 'हीनयान' (अर्थात् हीन पंथ के) नाम से सम्बोधित करने लगे। अश्वघोष महायान पंथ का था और वह इस मत को मानता था कि बौद्ध यति लोग परोपकार के काम किया करें। अतएव 'सौन्दरानन्द' (१८. ५४) काव्य के अन्त में जब नन्द अर्हतावस्था में पहुँच गया तब उसे बुद्ध ने जो उपदेश किया है, उसमें पहले यह कहा है –

अवाप्तकार्योऽसि परां गतिं गतः न तेऽस्ति किंचित्करणीयमण्वपि।

अर्थात् 'तेरा कर्तव्य हो चुका, तुझे उत्तम गति मिल गई। अब तेरे लिये तिल भर भी कर्तव्य नहीं रहा।' और आगे स्पष्ट रूप से उपदेश किया है कि –

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मनः कुरु स्थिरात्मन्परकार्यमप्यथो॥

अर्थात् 'अतएव अब तू अपना कार्य छोड़ बुद्धि को स्थिर करके परकार्य किया कर' (सौं. १८. ५७)। बुद्ध के कर्मत्यागविषयक उपदेश में – कि जो प्राचीन धर्मग्रन्थों में पाया जाता है – तथा इस उपदेश में (कि जिसे 'सौन्दरानन्द' काव्य में अश्वघोष ने बुद्ध के मुख से कहलाया है) अत्यन्त भिन्नता है। और अश्वघोष की इन दलीलों में तथा गीता के तीसरे अध्याय में जो युक्ति प्रयुक्तियाँ हैं उनमें – 'तस्य कार्यं न विद्यते ... तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' – अर्थात् तेरा कुछ रह नहीं गया है। इसलिये जो कर्म प्राप्त हों उनको निष्कामबुद्धि से किया कर (गीता ३. १७–१९) – न केवल अर्थदृष्टि से ही किन्तु शब्दशः समानता है। अतएव इससे यह अनुमान होता है कि ये दलीलें अश्वघोष को गीता ही से मिली हैं। इसका कारण ऊपर बतला ही चुके हैं कि अश्वघोष से भी पहले महाभारत था। इसे केवल अनुमान ही न समझिये। बौद्धधर्मानुयायी तारानाथ ने बौद्धधर्मविषयक इतिहाससम्बन्धी जो ग्रन्थ तिब्बती भाषा में लिखा है उसमें लिखा है कि बौद्धों के पूर्वकालीन संन्यासमार्ग में महायान पन्थ ने जो कर्मयोगविषयक सुधार किया था उसे 'ज्ञानी श्रीकृष्ण और गणेश' से महायान पन्थ के मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुन के गुरु राहुलभद्र ने जाना

था। इस ग्रन्थ का अनुवाद रूसी भाषा से जर्मन भाषा में किया गया है – अंग्रेजी में अभी तक नहीं हुआ है। डॉ. केर्न ने १८९९ ईसवी में बुद्धधर्म पर एक पुस्तक लिखी थी।* यहाँ उसी से हमने यह अवतरण लिया है। डॉक्टर केर्न का भी यही मत है, कि यहाँ पर श्रीकृष्ण के नाम से भगवद्गीता ही का उल्लेख किया गया है। महायान पन्थ के बौद्ध ग्रन्थों में से 'सद्धर्मपुण्डरीक' नामक ग्रन्थ में भी भगवद्गीता के श्लोकों के समान कुछ श्लोक हैं। परन्तु इन बातों का और अन्य विवेचन अगले भाग में किया जायगा। यहाँ पर केवल यही बतलाना है कि बौद्ध ग्रन्थकारों के ही मतानुसार मूल बौद्धधर्म के संन्यासप्रधान होने पर भी इसमें भक्तिप्रधान तथा कर्मप्रधान महायान पन्थ की उत्पत्ति भगवद्गीता के कारण ही हुई है और अश्वघोष के काव्य से गीता की जो ऊपर समता बतलाई गई है, उससे इस अनुमान को और भी दृढ़ता प्राप्त हो जाती है। पश्चिमी पण्डितों का निश्चय है कि महायान पन्थ का पहला पुरस्कर्ता नागार्जुन शक के लगभग सौ डेढ़-सौ वर्ष पहले हुआ होगा। और यह तो स्पष्ट ही है कि इस पन्थ का बीजारोपण अशोक के राज्यशासन के समय में हुआ होगा। बौद्ध ग्रन्थों से तथा स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों के लिखे हुए उस धर्म के इतिहास से यह बात स्वतन्त्र रीति से सिद्ध हो जाती है कि भगवद्गीता महायान पन्थ के जन्म से पहले – अशोक से भी पहले – यानी सन् ईसवी से लगभग ३०० वर्ष पहले ही अस्तित्व में थी।

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से इसमें कुछ भी शङ्का नहीं रह जाती, कि वर्तमान भगवद्गीता शालिवाहन शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले ही अस्तित्व में थी। डॉक्टर भाण्डारकर, परलोकवासी तैलङ्ग, रावबहादुर चिन्तामणिराव वैद्य और परलोकवासी दीक्षित का मत भी इससे बहुत-कुछ मिलता-जुलता है; और उसी को यहाँ ग्राह्य मानना चाहिये। हाँ, प्रोफेसर गार्बे का मत भिन्न है। उन्हों ने उक्त प्रमाण में गीता के चौथे अध्यायवाले सम्प्रदायपरम्परा के श्लोकों में से इस 'योगो नष्टः' – योग का नाश हो गया – वाक्य को ले कर योग शब्द का अर्थ 'पातञ्जल योग' किया है। परन्तु हमने प्रमाणसहित बतला दिया है कि यहाँ योग शब्द का अर्थ 'पातञ्जल योग' नहीं – कर्मयोग है। इसलिये प्रो. गार्बे का मत भ्रममूलक अतएव अग्राह्य है। यह बात निर्विवाद है कि वर्तमान गीता का काल शालिवाहन शक के पाँच सौ वर्ष पहले की अपेक्षा और कम नहीं माना जा सकता। पिछले भाग में यह स्पष्ट ही आये हैं कि मूल गीता इससे भी कुछ सदियों के पहले की होनी चाहिये।

* See Dr. Kern's Manual of Indian Buddhism, Grundriss, III. 8. p. 122. महायान पन्थ के 'अमितायुस्सुत्त' नामक मुख्य ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में सन् १४८ के लगभग हुआ था।

भाग ६ – गीता और बौद्ध ग्रन्थ

वर्तमान गीता का काल निश्चित करने के लिये ऊपर जिन बौद्ध ग्रन्थों के प्रमाण लिये गये हैं, उनका पूरा पूरा महत्त्व समझने के लिये गीता और बौद्ध ग्रन्थ या बौद्धधर्म की साधारण समानता तथा विभिन्नता पर भी यहाँ विचार करना आवश्यक है। पहले कई बार बतला आये हैं कि गीताधर्म की विशेषता यह है कि गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ प्रवृत्तिमार्गावलम्बी रहता है। परन्तु इस विशेष गुण को थोड़ी देर के लिये अलग रख दें और उक्त पुरुष के केवल मानसिक तथा नैतिक गुणों ही का विचार करें, तो गीता में स्थितप्रज्ञ के (गीता २.५५–७२), ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के (४.१९–२३; ५.१८–२८) और भक्तियोगी पुरुष के (१२.१३–१९) जो लक्षण बतलाये हैं उनमें – और निर्वाणपद के अधिकारी अर्हतों के (अर्थात् पूर्णावस्था को पहुँचे हुए बौद्ध भिक्षुओं के) जो लक्षण भिन्न भिन्न बौद्ध ग्रन्थों में दिये हुए हैं उनमें – विलक्षण समता दिख पड़ती है (धम्मपद श्लोक ३६०–४२३ और सुत्तनिपातों में से मुनिसुत्त तथा धम्मिकसुत्त देखो)। इतना ही नहीं, किन्तु इन वर्णनों के शब्दसाम्य से दीख पड़ता है कि स्थितप्रज्ञ एवं भक्तिमान् पुरुष के समान ही बौद्ध भिक्षु भी 'शान्त', 'निष्काम', 'निर्मम', 'निराशी' (निरिच्छित), 'समदुःखसुख', 'निरारंभ', 'अनिकेतन' या 'अनिवेशन' अथवा 'समनिन्दास्तुति' और मान-अपमान तथा लाभ-अलाभ को समान माननेवाला रहता है (धम्मपद ४०, ४१ और ९४; सुत्तनि. मुनिसुत्त १.७ और १४; द्वयतानुपस्सनसुत्त २१–२३ और विनयपिटक चुल्लवग्ग. ७.४.७ देखो)। द्वयतानुपस्सनसुत्त के ४० वें श्लोक का यह विचार – कि ज्ञानी पुरुष के लिये जो वस्तु प्रकाशमान् है वही अज्ञानी को अन्धकार के सदृश है – गीता के (२.६९) 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' इस श्लोकान्तर्गत विचार के सदृश है। और मुनिसुत्त के १० वें श्लोक का यह वर्णन – 'अरोसनेय्यो न रोसेति' अर्थात् न तो स्वयं कष्ट पाता है और न दूसरों को कष्ट देता है – गीता के 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः' (गीता १२.१५) इस वर्णन के समान है। इसी प्रकार सेल्लसुत्त के ये विचार कि 'जो जन्म लेता है वह मरता है' और 'प्राणियों का आदि तथा अन्त अव्यक्त है, इसलिये शोक करना वृथा है' (सल्लसुत्त १ और ९ तथा गी. २.२७ और २८) कुछ शब्दों के हेरफेर से गीता के ही विचार हैं। गीता के दसवें अध्याय में अथवा अनुगीता (म. भा. अश्व. ४३; ४४) में 'ज्योतिमानों में सूर्य, नक्षत्रों में चन्द्र, और छन्दों में गायत्री' आदि जो वर्णन है वही सेलसुत्त के २१ वें और २२ वें श्लोकों में तथा महावग्ग (६.३५.८) में ज्यों का त्यों आया है। इसके सिवा शब्दसादृश्य के तथा अर्थसमता के छोटे मोटे उदाहरण परलोकवासी तेलंग ने गीता के अपने अंग्रेजी अनुवाद की टिप्पणियों में दिये हैं। तथापि प्रश्न होता है कि यह

समानता हुई कैसे। ये विचार असल में बौद्धधर्म के हैं या वैदिकधर्म के? और, इनसे अनुमान क्या निकलता है? किन्तु इन प्रश्नों का हल करने के लिये उस समय जो साधन उपलब्ध थे वे अपूर्ण थे। यही कारण है जो उपर्युक्त चमत्कारिक शब्द-सादृश्य और अर्थसादृश्य दिखला देने के सिवा परलोकवासी तैलङ्ग ने इस विषय में और कोई विशेष बात नहीं लिखी। परन्तु अब बौद्धधर्म की जो अधिक बातें उपलब्ध हो गई हैं उनसे उक्त प्रश्न हल किये जा सकते हैं। इसलिये यहाँ पर बौद्धधर्म की उन बातों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। परलोकवासी तैलङ्गकृत गीता का अंग्रेज़ी अनुवाद जिस 'प्राच्यधर्मग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ था, उसी में आगे चलकर पश्चिमी विद्वानों ने बौद्धधर्मग्रन्थों के अंग्रेज़ी अनुवाद प्रसिद्ध किये हैं। ये बातें प्रायः उन्हीं से एकत्रित की गई हैं; और प्रमाण में जो बौद्ध ग्रन्थों के स्थल बतलाये गये हैं, उनका सिलसिला इसी माला के अनुवादों में मिलेगा। कुछ स्थानों पर पाली शब्दों तथा वाक्यों के अवतरण मूल पाली ग्रन्थों से ही उद्धृत किये गये हैं।

अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है, कि जैनधर्म के समान बौद्धधर्म भी अपने वैदिक धर्मरूप पिता का ही पुत्र है, कि जो अपनी सम्पत्ति का हिस्सा ले कर किसी कारण से विभक्त हो गया है; अर्थात् वह कोई पराया नहीं है—किन्तु उसके पहले यहाँ पर जो ब्राह्मणधर्म था, उसी की यहीं उपजी हुई यह एक शाखा है। लङ्का में महावंश या दीपवंश आदि प्राचीन पाली भाषा के ग्रन्थ हैं। उनमें बुद्ध के पश्चाद्वर्ती राजाओं तथा बौद्ध आचार्यों की परम्परा का जो वर्णन है, उसका हिसाब लगा कर देखने से ज्ञात होता है, कि गौतमबुद्ध ने अस्सी वर्ष की आयु पा कर ईसवी सन से ५४३ वर्ष पहले अपना शरीर छोड़ा। परन्तु इसमें कुछ बातें असम्बद्ध हैं। इसलिये प्रोफ़ेसर मेक्समूलर ने इस गणना पर सूक्ष्म विचार करके बुद्ध का यथार्थ निर्वाणकाल ईसवी सन से ४७७ वर्ष पहले बतलाया है; और डॉक्टर बुल्हर भी अशोक के शिलालेखों से इसी काल का सिद्ध होना प्रमाणित करते हैं। तथापि प्रोफ़ेसर न्हिस् डेविड्स और डॉ. कर्न के समान कुछ लोग इसके आगे इस काल को उस काल से ६[illegible] तथा १[illegible] वर्ष और भी आगे हटाना चाहते हैं। प्रोफ़ेसर गायगर ने हाल ही में इन सब मतों की जाँच करके बुद्ध का यथार्थ निर्वाणकाल ईसवी सन् से ४८३ वर्ष पहले माना है।* इनमें से कोई भी काल क्यों न स्वीकार कर लिया जाय; यह निर्विवाद है कि बुद्ध का जन्म होने के पहले ही वैदिक धर्म पूर्ण अवस्था में पहुँच चुका था; और न केवल उपनिषद् ही, किन्तु धर्मसूत्रों के समान ग्रन्थ भी उसके पहले ही तैयार हो चुके थे। क्योंकि, पाली भाषा के प्राचीन बौद्ध धर्मग्रन्थों

---

* बुद्ध के निर्वाणकालविषयक वर्णन प्रो. मेक्समूलर ने अपने 'धम्मपद' के अंग्रेज़ी अनुवाद की प्रस्तावना में (S. B. E. Vol. X. Intro. pp. xxxv-li) किया है; और उसकी परीक्षा डॉ. गायगर ने सन् [illegible] में प्रकाशित अपने 'महावंश' के अनुवाद की प्रस्तावना में की है (The Mahavamsa by D. Geiger, Pali Text Society, Intro. p. xxlii).

ही में लिखा है कि — चारों वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास और निघण्टु आदि विषयों में प्रवीण सत्त्वशील गृहस्थ ब्राह्मणों तथा जटिल तपस्वियों से गौतम बुद्ध ने वाद करके उनको अपने धर्म की दीक्षा दी (सुत्तनिपातो में सेलसुत्त के सेल का वर्णन तथा वत्थुगाथा ३०-४५ देखो)। कठ आदि उपनिषदों में (कठ. १. १२-१८; मुंड. १. २. १०) तथा उन्हीं को लक्ष्य करके गीता (२. ४०-४५; ९. २०, २१) में जिस प्रकार यज्ञयाग आदि श्रौतकर्मों की गौणता का वर्णन किया गया तथा कुछ अंशों में उन्हीं शब्दों के द्वारा तेविज्जसुत्त (त्रैविद्यसूत्र) में बुद्ध ने भी अपने मतानुसार 'यज्ञयागादि' को निरुपयोगी तथा त्याज्य बतलाया है; और इस बात का निरूपण किया है कि ब्राह्मण जिसे 'ब्रह्मसहव्यताय' (ब्रह्मसहव्यत्वाय = ब्रह्मसायुज्यता) कहते हैं, वह अवस्था कैसे प्राप्त होती है? इससे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि ब्राह्मणधर्म के कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड — अथवा गार्हस्थ्यधर्म और संन्यासधर्म अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति — इन दोनों शाखाओं के पूर्णतया रूढ़ हो जाने पर उनमें सुधार करने के लिये बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ। सुधार के विषय में सामान्य नियम यह है कि उसमें कुछ पहले की बातें स्थिर रह जाती हैं और कुछ बदल जाती हैं। अतएव इस न्याय के अनुसार हम बात का विचार करना चाहिये कि बौद्धधर्म में वैदिकधर्म की किन किन बातों को स्थिर रख लिया है और किन किन को छोड़ दिया है। यह विचार दोनों — गार्हस्थ्यधर्म और संन्यास — की पृथक् पृथक् दृष्टि से करना चाहिये। परन्तु बौद्धधर्म मूल में संन्यासमार्गीय अथवा केवल निवृत्तिप्रधान है। इसलिये पहले दोनों के संन्यासमार्ग का विचार करके अनन्तर दोनों के गार्हस्थ्यधर्म के तारतम्य पर विचार किया जायगा।

वैदिक संन्यासधर्म पर दृष्टि डालने से दीख पड़ता है कि कर्ममय सृष्टि के सब व्यवहार तृष्णात्मक अतएव दुःखमय हैं। इससे अर्थात् जन्ममरण के भवचक्र से आत्मा का सर्वथा छुटकारा होने के लिये मन निष्काम और विरक्त करना चाहिये; तथा उसको दृश्यसृष्टि के मूल में रहनेवाले आत्मस्वरूपी नित्य परब्रह्म में स्थिर करके सांसारिक कर्मों का सर्वथा त्याग करना उचित है। इस आत्मनिष्ठ स्थिति ही में सदा निमग्न रहना संन्यासधर्म का मुख्य तत्त्व है। दृश्यसृष्टि नामरूपात्मक तथा नाशवान है; और कर्मविपाक के कारण ही उसका अखण्डित व्यापार जारी है।

कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा (प्रजा)।
कम्मनिबन्धना सत्ता (सत्त्वानि) रथस्साऽणीव यायतो ॥

अर्थात् कर्म ही से लोक और प्रजा जारी है। जिस प्रकार चलती हुई गाड़ी रथ की कील से नियन्त्रित रहती है उसी प्रकार प्राणिमात्र कर्म से बँधा हुआ है (सुत्तनि. वासेट्ठसुत्त ६१)। वैदिकधर्म के ज्ञानकाण्ड का यह तत्त्व अथवा जन्ममरण का चक्कर या ब्रह्मा, इन्द्र, महेश्वर, ईश्वर, यम आदि अनेक देवता और उन

सदृशता हुई कैसे। ये विचार असल में बौद्धधर्म के हैं या वैदिकधर्म के? और, इनसे अनुमान क्या निकलता है? किन्तु इन प्रश्नों को हल करने के लिये उस समय जो साधन उपलब्ध थे वे अपूर्ण थे। यही कारण है जो उपर्युक्त चमत्कारिक शब्द-सादृश्य और अर्थसादृश्य दिखला देने के सिवा परलोकवासी तैलङ्ग ने इस विषय में और कुछ विशेष बात नहीं लिखी। परन्तु अब बौद्धधर्म की जो अधिक बातें उपलब्ध हो गई हैं उनसे उक्त प्रश्न हल किये जा सकते हैं। इसलिये यहाँ पर बौद्धधर्म की उन बातों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। परलोकवासी तैलङ्गकृत गीता का अंग्रेजी अनुवाद जिस 'प्राच्यधर्मग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ था उसी में आगे चलकर पश्चिमी विद्वानों ने बौद्धधर्मग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद प्रसिद्ध किये हैं। ये बातें प्रायः उन्हीं से एकत्रित की गई हैं और प्रमाण में जो बौद्ध ग्रन्थों के स्थल बतलाये गये हैं उनका सिलसिला इसी माला के अनुवादों में मिलेगा। कुछ स्थानों पर पाली शब्दों तथा वाक्यों के अवतरण मूल पाली ग्रन्थों से ही उद्धृत किये गये हैं।

अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि जैनधर्म के समान बौद्धधर्म भी अपने वैदिक धर्मरूप पिता का ही पुत्र है कि जो अपनी सम्पत्ति का हिस्सा लेकर किसी कारण से विभक्त हो गया है अर्थात् वह कोई पराया नहीं है – किन्तु उसके पहले यहाँ पर जो ब्राह्मणधर्म था उसी की यहीं उपजी हुई यह एक शाखा है। लङ्का में महावंश या दीपवंश आदि प्राचीन पाली भाषा के ग्रन्थ हैं। उनमें बुद्ध के पश्चाद्वर्ती राजाओं तथा बौद्ध आचार्यों की परम्परा का जो वर्णन है उसका हिसाब लगा कर देखने से ज्ञात होता है कि गौतमबुद्ध ने अस्सी वर्ष की आयु पाकर ईसवी सन से ५४३ वर्ष पहले अपना शरीर छोड़ा। परन्तु इसमें कुछ बातें असम्बद्ध हैं। इसलिये प्रोफेसर मेक्समूलर ने इस गणना पर सूक्ष्म विचार करके बुद्ध का यथार्थ निर्वाणकाल ईसवी सन से ४७७ वर्ष पहले बतलाया है और डॉक्टर बुल्हर भी अशोक के शिलालेखों से इसी काल का सिद्ध होना प्रमाणित करते हैं। तथापि प्रोफेसर हिस्डेविड्स और डा. कर्न के समान कुछ खोज करनेवाले इस काल को उससे भी ६५ तथा १०० वर्ष और भी आगे हटाना चाहते हैं। प्रोफेसर गायगर ने हाल ही में इन सब मतों की जाँच करके बुद्ध का यथार्थ निर्वाणकाल ईसवी सन् से ४८३ वर्ष पहले माना है।* इनमें से कोई भी काल क्यों न स्वीकार कर लिया जाय? यह निर्विवाद है कि बुद्ध का जन्म होने के पहले ही वैदिक धर्म पूर्ण अवस्था में पहुँच चुका था और न केवल उपनिषद् ही किन्तु धर्मसूत्रों के समान ग्रन्थ भी उसके पहले ही तैयार हो चुके थे। क्योंकि, पाली भाषा के प्राचीन बौद्ध धर्मग्रन्थों

* बुद्ध-निर्वाणकाल-विषयक यह मत प्रो. मेक्समूलर ने अपने 'धम्मपद' के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना में (S. B. E. Vol. X. Intro. pp. xxxv-lii) दिया है; और उसकी परीक्षा डॉ. गायगर ने सन् १९१२ में प्रकाशित अपने 'महावंश' के अनुवाद की प्रस्तावना में की है (The Mahavamsa by Dr. Geiger, Pali Text Society, Intro. p. xxiif).

ही में लिखा है कि — 'चारों वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास और निघण्टु' आदि विषयों में प्रवीण सत्त्वशील गृहस्थ ब्राह्मणों, तथा जटिल तपस्वियों से गौतम बुद्ध ने वाद करके उनको अपने धर्म की दीक्षा दी (सुत्तनिपातों में सेलसुत्त के अन्त का वर्णन तथा वत्थुगाथा ३–८ देखो)। कठ आदि उपनिषदों में (कठ १. १८; मुण्ड १. २. ७–११) तथा उन्हीं को लक्ष्य करके गीता (२. ४०–४५; ९. २०, २१) में जिस प्रकार यज्ञयाग आदि श्रौतकर्मों की गौणता का वर्णन किया गया तथा कुछ अंशों में उन्हीं ग्रन्थों के द्वारा तेविज्जसुत्तों (त्रैविद्यसूत्र) में बुद्ध ने भी अपने मतानुसार 'यज्ञयागादि' को निरुपयोगी तथा त्याज्य बतलाया है और इस बात का निरूपण किया है कि ब्राह्मण जिसे 'ब्रह्मसहव्यताय' (ब्रह्मसहव्यत्व = ब्रह्मसायुज्यता) कहते हैं वह अवस्था कैसे प्राप्त होती है? इससे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि ब्राह्मणधर्म के कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड — अथवा गार्हस्थ्यधर्म और संन्यासधर्म अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति — इन दोनों शाखाओं के पूर्णतया रूढ हो जाने पर उनमें सुधार करने के लिये बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ। सुधार के विषय में सामान्य नियम यह है कि उसमें कुछ पहले की बातें स्थिर रह जाती हैं और कुछ बदल जाती हैं। अतएव इस न्याय के अनुसार इस बात का विचार करना चाहिये कि बौद्धधर्म में वैदिकधर्म की किन किन बातों को स्थिर रख लिया है और किन किन को छोड़ दिया है। यह विचार दोनों — गार्हस्थ्यधर्म और संन्यास — की पृथक् पृथक् दृष्टि से करना चाहिये। परन्तु बौद्धधर्म मूल में संन्यासमार्गीय अथवा केवल निवृत्तिप्रधान है। इसलिये पहले दोनों के संन्यासमार्ग का विचार करके अनन्तर दोनों के गार्हस्थ्यधर्म के तारतम्य पर विचार किया जायगा।

वैदिक संन्यासधर्म पर दृष्टि डालने से दीख पड़ता है कि कर्ममय सृष्टि के सब व्यवहार तृष्णात्मक अतएव दुःखमय हैं। इससे अर्थात् जन्ममरण के भवचक्र से आत्मा का सर्वथा छुटकारा होने के लिये मन निष्काम और विरक्त करना चाहिये तथा उसको दृश्यसृष्टि के मूल में रहनेवाले आत्मस्वरूपी नित्य परब्रह्म में स्थिर करके सांसारिक कर्मों का सर्वथा त्याग करना उचित है। इस आत्मनिष्ठ स्थिति ही में सदा निमग्न रहना संन्यासधर्म का मुख्य तत्त्व है। दृश्यसृष्टि नामरूपात्मक तथा नाशवान है और कर्मविपाक के कारण ही उसका अखण्डित व्यापार जारी है।

> कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा (प्रजा)।
> कम्मनिबन्धना सत्ता (सत्त्वानि) रथस्साणीव यायतो ॥

अर्थात् "कर्म ही से लोग और प्रजा जारी है। जिस प्रकार चलती हुई गाड़ी रथ की कील से नियन्त्रित रहती है, उसी प्रकार प्राणिमात्र कर्म से बँधा हुआ है" (सुत्तनि. वासेट्ठसुत्त ६१)। वैदिकधर्म के ज्ञानकाण्ड का उक्त तत्त्व अथवा जन्ममरण का चक्कर या ब्रह्मा, इन्द्र, महेश्वर, ईश्वर, यम आदि अनेक देवता और उनके

गी. ८. १२

भिन्न भिन्न स्वर्गपाताल आदि लोकों का ब्राह्मणधर्म में वर्णित अस्तित्व बुद्ध को मान्य था और इसी कारण नामरूप, कर्मविपाक, अविद्या, उपादान और प्रकृति वगैरह वेदान्त या सांख्यशास्त्र के शब्द तथा ब्रह्मादि वैदिक देवताओं की कथाएँ भी (बुद्ध की श्रेष्ठता को स्थिर रख कर) कुछ हेरफेर से बौद्धग्रन्थों में पाई जाती हैं। यद्यपि बुद्ध को वैदिकधर्म के कर्मसृष्टिविषयक ये सिद्धान्त मान्य थे कि दृश्यसृष्टि नाशवान् और अनित्य है एवं उसके व्यवहार कर्मविपाक के कारण जारी हैं; तथापि वैदिकधर्म अर्थात् उपनिषत्कारों का यह सिद्धान्त उन्हें मान्य न था कि नामरूपात्मक नाशवान सृष्टि के मूल में नामरूप से व्यतिरिक्त आत्मस्वरूपी परब्रह्म के समान एक नित्य और सर्वव्यापक वस्तु है। इन दोनों धर्मों में जो विशेष भिन्नता है वह यही है। गौतम बुद्ध ने यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है, कि आत्मा या ब्रह्म यथार्थ में कुछ नहीं है – केवल भ्रम है। इसलिये आत्म-अनात्म के विचार में या ब्रह्मचिन्तन के पचड़े में पड़ कर किसी को अपना समय न खोना चाहिये (सब्बासवसुत्त ९–१३ देखो)। दीघनिकायों के ब्रह्मजालसुत्तों से भी यही बात स्पष्ट होती है, कि आत्मविषयक कोई भी कल्पना बुद्ध को मान्य न थी।* इन सुत्तों में पहले कहा है कि आत्मा और ब्रह्म एक हैं या दो? फिर ऐसे ही भेद बतलाते हुए आत्मा की भिन्न भिन्न ६२ प्रकार की कल्पनाएँ बतला कर कहा है कि ये सभी मिथ्या दृष्टि हैं; और मिलिन्दप्रश्न (२. ३. ६ और २. ७. १५) में भी बौद्धधर्म के अनुसार नागसेन ने यूनानी मिलिन्द (मिनाण्डर) से साफ़ साफ़ कह दिया है कि आत्मा तो कोई यथार्थ वस्तु नहीं है। यदि मान लें कि आत्मा और उसी प्रकार ब्रह्म भी दोनों भ्रम ही हैं, यथार्थ नहीं हैं, तो वस्तुतः धर्म की नींव ही गिर जाती है। क्योंकि, फिर सभी अनित्य वस्तुएँ बच रहती हैं और नित्यसुख या उसका अनुभव करनेवाला कोई भी नहीं रह जाता। यही कारण है जो श्रीशङ्कराचार्य ने तर्कदृष्टि से इस मत को अग्राह्य निश्चित किया है। परन्तु अभी हमें केवल यही देखना है कि असली बुद्धधर्म क्या है? इसलिये इस बात को यहीं छोड़ कर देखेंगे, कि बुद्ध ने अपने धर्म की क्या उपपत्ति बतलाई है। यद्यपि बुद्ध को आत्मा का अस्तित्व मान्य न था; तथापि इन दो बातों से वे पूर्णतया सहमत थे, कि (१) कर्मविपाक के कारण नामरूपात्मक देह को (आत्मा को नहीं) नाशवान जगत् के प्रपञ्च में बार बार जन्म लेना पड़ता है; और (२) पुनर्जन्म का यह चक्कर या सारा संसार ही दुःखमय है। इससे छुटकारा पा कर स्थिर शान्ति या सुख को प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार इन दो बातों – अर्थात् सांसारिक दुःख के अस्तित्व और उसके निवारण करने की आवश्यकता – को मान लेने से वैदिकधर्म का यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है कि दुःखनिवारण करके

* ब्रह्मजालसुत्त का अंग्रेज़ी में अनुवाद नहीं है; परन्तु उसका संक्षिप्त विवरण विलायती S. B. E. Vol. XXXVI. Intro. pp. xxiii-xx में किया है।

अत्यन्त सुख प्राप्त कर लेने का मार्ग कौन-सा है ? और उसका कुछ न-कुछ ठीक ठीक उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। उपनिषत्कारों ने कहा है कि यज्ञयाग आदि कर्मों के द्वारा संसारचक्र से छुटकारा हो नहीं सकता। और बुद्ध ने इससे भी कहीं आगे बढ़कर इन सब कर्मों को हिंसात्मक अतएव सर्वथा त्याज्य और निषिद्ध बतलाया है। इसी प्रकार यदि स्वयं 'ब्रह्म' ही को एक बड़ा भारी भ्रम मानें तो दुःखनिवारणार्थ का ब्रह्मज्ञानमार्ग है वह भी भ्रान्तिकारक तथा असम्भव निश्चित होता है। फिर दुःखमय भवचक्र से छूटने का मार्ग कौन-सा है ? बुद्ध ने इसका यह उत्तर दिया है कि किसी रोग को दूर करने के लिये उस रोग का मूलकारण ढूँढ कर उसी को हटाने का प्रयत्न जिस प्रकार चतुर वैद्य किया करता है उसी प्रकार सांसारिक दुःख के रोग को दूर करने के लिए (१) उसके कारण को जान कर, (२) उसी कारण को दूर करनेवाले मार्ग का अवलम्ब बुद्धिमान पुरुष को करना चाहिये। इन कारणों का विचार करने से दीख पड़ता है कि तृष्णा या कामना ही इस जगत् के सब दुःखों की जड़ है और एक नामरूपात्मक शरीर का नाश हो जाने पर बचे हुए इस वासनात्मक बीज ही से अन्यान्य नामरूपात्मक शरीर पुनः पुनः उत्पन्न हुआ करते हैं। और फिर बुद्ध ने निश्चित किया है कि पुनर्जन्म के दुःखमय संसार से पिण्ड छुड़ाने के लिये इन्द्रियनिग्रह से, ध्यान से तथा वैराग्य से तृष्णा का पूर्णतया क्षय करके संन्यासी या भिक्षु बन जाना ही एक यथार्थ मार्ग है और इसी वैराग्ययुक्त संन्यास से अचल शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि यज्ञयाग आदि की तथा आत्म-अनात्म विचार की झंझट में न पड़ कर, इन चार दृश्य बातों पर ही बौद्धधर्म की रचना की गई है। वे चार बातें ये हैं : सांसारिक दुःख का अस्तित्व, उसका कारण, उसके निरोध या निवारण करने की आवश्यकता और उसे समूल नष्ट करने के लिये वैराग्यरूप साधन, अथवा बौद्ध की परिभाषा के अनुसार क्रमशः दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। अपने धर्म के इन्हीं चार मूलतत्त्वों को बुद्ध ने 'आर्यसत्य' नाम दिया है। उपनिषद् के आत्मज्ञान के बदले चार आर्यसत्यों की दृश्य नींव के ऊपर यद्यपि इस प्रकार बौद्धधर्म खड़ा किया गया है, तथापि अचल शान्ति या सुख पाने के लिये तृष्णा अथवा वासना का क्षय करके मन को निष्काम करने के जिस मार्ग (चौथा सत्य) का उपदेश बुद्ध ने किया है, वह मार्ग—और मोक्षप्राप्ति के लिये उपनिषदों में वर्णित मार्ग—दोनों वस्तुतः एक ही हैं। इसलिये यह बात स्पष्ट है कि दोनों धर्मों का अन्तिम दृश्यसाध्य मन की निर्विषय स्थिति ही है। परन्तु इन दोनों धर्मों में भेद यह है कि ब्रह्म तथा आत्मा को एक माननेवाले उपनिषत्कारों ने मन की इस निष्काम अवस्था को 'आत्मनिष्ठा' 'ब्रह्मसंस्था' 'ब्रह्मभूतता' 'ब्रह्मनिर्वाण' (गीता ५. १७-२६ और ६. १५) अर्थात् ब्रह्म में आत्मा का लय होना आदि अन्तिम आधारदर्शक नाम दिये हैं और बुद्ध ने उसे केवल 'निर्वाण' अर्थात् 'विराम पाना' या 'दीपक बुझ जाने के समान वासना

भिन्न भिन्न स्वर्गपाताल आदि लोकों का ब्राह्मणधर्म में वर्णित अस्तित्व बुद्ध को मान्य था और इसी कारण नामरूप कर्मविपाक, अविद्या उपादान और प्रकृति वगैरह वेदान्त या सांख्यशास्त्र के शब्द तथा ब्रह्मादि वैदिक देवताओं की कथाएँ भी (बुद्ध की श्रेष्ठता को स्थिर रख कर) कुछ हेरफेर से बौद्धग्रन्थों में पाई जाती हैं। यद्यपि बुद्ध को वैदिकधर्म के कर्मसृष्टिविषयक ये सिद्धान्त मान्य थे कि दृश्यसृष्टि नाशवान और अनित्य है; एवं उसके व्यवहार कर्मविपाक के कारण जारी हैं तथापि वैदिकधर्म अर्थात् उपनिषत्कारों का यह सिद्धान्त उन्हें मान्य न था कि नामरूपात्मक नाशवान सृष्टि के मूल में नामरूप से व्यतिरिक्त आत्मस्वरूपी परब्रह्म के समान एक नित्य और सर्वव्यापक वस्तु है। इन दोनों धर्मों में जो विभेद मिलता है वह यही है। गौतम बुद्ध ने यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है कि आत्मा या ब्रह्म यथार्थ में कुछ नहीं है – केवल भ्रम है। इसलिये आत्म-अनात्म के विचार में या ब्रह्मचिन्तन के पचड़े में पड़ कर किसी को अपना समय न खोना चाहिये (सब्बासवसुत्त – १ १२ देखो)। दीघनिकायों के ब्रह्मजालसुत्तों से भी यही बात स्पष्ट होती है कि आत्मविषयक कोई भी कल्पना बुद्ध को मान्य न थी।* इन सुत्तों में पहले कहा है कि आत्मा और ब्रह्म एक है या दो। फिर ऐसे ही भेद बतलाते हुए आत्मा की भिन्न भिन्न ६ प्रकार की कल्पनाएँ बतला कर कहा है कि ये सभी मिथ्या दृष्टि हैं और मिलिन्दप्रश्न (२ ३ ६ और २ ७, १५) में भी बौद्धधर्म के अनुसार नागसेन ने यूनानी मिलिन्द (मिनान्डर) से साफ़ साफ़ कह दिया है कि आत्मा तो कोई यथार्थ वस्तु नहीं है। यदि मान लें कि आत्मा और उसी प्रकार ब्रह्म भी दोनों भ्रम ही हैं यथार्थ नहीं हैं; तो वस्तुतः धर्म की नींव ही गिर जाती है। क्योंकि, फिर सभी अनित्य वस्तुएँ बच रहती हैं और नित्यसुख या उसका अनुभव करनेवाला कोई भी नहीं रह जाता। यही कारण है जो श्रीशङ्कराचार्य ने तर्कदृष्टि से इस मत को अग्राह्य निश्चित किया है; परन्तु अभी हमें केवल यही देखना है कि असली बुद्धधर्म क्या है? इसलिये इस बात को यहीं छोड़ कर देखना, कि बुद्ध ने अपने धर्म की क्या उपपत्ति बतलाई है। यद्यपि बुद्ध को आत्मा का अस्तित्व मान्य न था; तथापि इन दो बातों से वे पूर्णतया सहमत थे, कि (१) कर्मविपाक के कारण नामरूपात्मक देह को (आत्मा को नहीं) नाशवान जगत् के प्रपञ्च में बार बार जन्म लेना पड़ता है और (२) पुनर्जन्म का यह चक्कर या सारा संसार ही दुःखमय है। इससे छुटकारा पा कर स्थिर शान्ति या सुख को प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार इन दो बातों – अर्थात् सांसारिक दुःख के अस्तित्व और उसके निवारण करने की आवश्यकता – को मान लेने से वैदिकधर्म का यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है कि दुःखनिवारण करके

* ब्रह्मजालसुत्त का अंग्रेज़ी अनुवाद नहीं है परन्तु उसका संक्षिप्त विवरण ... S. B. E. Vol. XXXV Intro. pp. ... में दिया है।

अत्यन्त सुख प्राप्त कर लेने का मार्ग कौन-सा है? और उसका कुछ न-कुछ ठीक ठीक उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। उपनिषत्कारों ने कहा है कि यज्ञयाग आदि कर्मों के द्वारा संसारचक्र से छुटकारा हो नहीं सकता। और बुद्ध ने इससे भी कहीं आगे बढ़कर इन सब कर्मों को हिंसात्मक अतएव सर्वथा त्याज्य और निषिद्ध बतलाया है। इसी प्रकार यदि स्वयं 'ब्रह्म' ही को एक बड़ा भारी भ्रम मानें तो उपनिषत्कारों का ब्रह्मज्ञानमार्ग है वह भी भ्रान्तिकारक तथा असम्भव निर्णित होता है। फिर दुःखमय भवचक्र से छूटने का मार्ग कौन-सा है? बुद्ध ने इसका यह उत्तर दिया है कि किसी रोग को दूर करने के लिये उस रोग का मूलकारण ढूंढ़ कर उसी को हटाने का प्रयत्न जिस प्रकार चतुर वैद्य किया करता है उसी प्रकार सांसारिक दुःख के रोग को दूर करने के लिये (३) उसके कारण को जान कर, (४) उसी कारण को दूर करनेवाले मार्ग का अवलम्ब बुद्धिमान पुरुष को करना चाहिये। इन कारणों का विचार करने से दीख पड़ता है कि तृष्णा या कामना ही इस जगत् के सब दुःखों की जड़ है और एक नामरूपात्मक शरीर का नाश हो जाने पर बचे हुए इस वासनात्मक बीज ही से अन्यान्य नामरूपात्मक शरीर पुनः पुनः उत्पन्न हुआ करते हैं। और फिर बुद्ध ने निश्चित किया है कि पुनर्जन्म के दुःखमय संसार से पिण्ड छुड़ाने के लिये इन्द्रियनिग्रह से ध्यान से तथा वैराग्य से तृष्णा का पूर्णतया क्षय करके संन्यासी या भिक्षु बन जाना ही एक यथार्थ मार्ग है और इसी वैराग्ययुक्त संन्यास से अचल शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि यज्ञयाग आदि की तथा आत्म-अनात्म विचार की झंझट में न पड़ कर, इन चार दृश्य बातों पर ही बौद्धधर्म की रचना की गई है। वे चार बातें ये हैं सांसारिक दुःख का अस्तित्व उसका कारण उसके निरोध या निवारण करने की आवश्यकता और उसे समूल नष्ट करने के लिये वैराग्यरूप साधन अथवा बौद्ध की परिभाषा के अनुसार क्रमशः दुःख, समुदय निरोध और मार्ग। अपने धर्म के इन्हीं चार मूलतत्त्वों को बुद्ध ने आर्यसत्य नाम दिया है। उपनिषद् के आत्मज्ञान के बदले चार आर्यसत्यों की दृश्य नींव के ऊपर यद्यपि इस प्रकार बौद्धधर्म खड़ा किया गया है तथापि अचल शान्ति या सुख पाने के लिये तृष्णा अथवा वासना का क्षय करके मन को निष्काम करने के लिये मार्ग (चौथा सत्य) का उपदेश बुद्ध ने किया है वह मार्ग – और मोक्षप्राप्ति के लिये उपनिषदों में वर्णित मार्ग – दोनों वस्तुतः एक ही हैं। इसलिये यह बात स्पष्ट है कि दोनों धर्मों का अन्तिम दृश्यसाध्य मन की निर्विषय स्थिति ही है। परन्तु इन दोनों धर्मों में भेद यह है कि ब्रह्म तथा आत्मा को एक माननेवाले उपनिषत्कारों ने मन की इस निष्काम अवस्था को आत्मनिष्ठा 'ब्रह्मसंस्था' ब्रह्मभूतता ब्रह्मनिर्वाण (गीता ५.१७-२८; छां. २. २३. १) अर्थात् ब्रह्म में आत्मा का लय होना आदि अन्तिम आधारदर्शक नाम दिये हैं और बुद्ध ने उसे केवल निर्वाण अर्थात् विराम पाना या दीपक बुझ जाने के समान वासना

भिन्न भिन्न स्वर्गपाताल आदि लोकों का ब्राह्मणधर्म में वर्णित अस्तित्व बुद्ध को मान्य था और इसी कारण नामरूप, कर्मविपाक, अविद्या, उपादान और प्रकृति वगैरह वेदान्त या सांख्यशास्त्र के शब्द तथा ब्रह्मादि वैदिक देवताओं की कथाएँ भी (बुद्ध की श्रेष्ठता को स्थिर रख कर) कुछ हेरफेर से बौद्धग्रन्थों में पाई जाती हैं। यद्यपि बुद्ध को वैदिकधर्म के कर्मसृष्टिविषयक ये सिद्धान्त मान्य थे, कि दृश्यसृष्टि नाशवान और अनित्य है एवं उसके व्यवहार कर्मविपाक के कारण जारी हैं; तथापि वैदिकधर्म अर्थात् उपनिषत्कारों का यह सिद्धान्त उन्हें मान्य न था कि नामरूपात्मक नाशवान् सृष्टि के मूल में नामरूप से व्यतिरिक्त आत्मस्वरूपी परब्रह्म के समान एक नित्य और सर्वव्यापक वस्तु है। इन दोनों धर्मों में जो विशेष भिन्नता है वह यही है। गौतम बुद्ध ने यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है कि आत्मा या ब्रह्म यथार्थ में कुछ नहीं है – केवल भ्रम है। इसलिये आत्म-अनात्म के विचार में या ब्रह्मचिन्तन के पचड़े में पड़ कर किसी को अपना समय न खोना चाहिये (सब्बासवसुत्त ९–१३ देखो)। दीघनिकायों के ब्रह्मजालसुत्तों से भी यही बात स्पष्ट होती है कि आत्मविषयक कोई भी कल्पना बुद्ध को मान्य न थी।* इन सुत्तों में पहले कहा है कि आत्मा और ब्रह्म एक है या दो? फिर ऐसे ही भेद बतलाते हुए आत्मा की भिन्न भिन्न ६२ प्रकार की कल्पनाएँ बतला कर कहा है कि ये सभी मिथ्या 'दृष्टि' हैं और मिलिन्दप्रश्न (२.३.६ और २.७.१५) में भी बौद्धधर्म के अनुसार नागसेन ने यूनानी मिलिन्द (मिनांडर) से साफ़ साफ़ कह दिया है कि "आत्मा तो कोई यथार्थ वस्तु नहीं है।" यदि मान लें, कि आत्मा और उसी प्रकार ब्रह्म भी दोनों भ्रम ही हैं, यथार्थ नहीं हैं; तो वस्तुतः धर्म की नींव ही गिर जाती है। क्योंकि, फिर सभी अनित्य वस्तुएँ बच रहती हैं और नित्यसुख या उसका अनुभव करनेवाला कोई भी नहीं रह जाता। यही कारण है जो श्रीशङ्कराचार्य ने तर्कदृष्टि से इस मत को अग्राह्य निश्चित किया है। परन्तु अभी हमें केवल यही देखना है कि असली बुद्धधर्म क्या है? इसलिये इस बात को यहीं छोड़ कर देखेंगे, कि बुद्ध ने अपने धर्म की क्या उपपत्ति बतलाई है। यद्यपि बुद्ध को आत्मा का अस्तित्व मान्य न था; तथापि इन दो बातों से वे पूर्णतया सहमत थे कि (१) कर्मविपाक के कारण नामरूपात्मक देह को (आत्मा को नहीं) नाशवान् जगत् के प्रपञ्च में बार बार जन्म लेना पड़ता है और (२) पुनर्जन्म का यह चक्कर या सारा संसार ही दुःखमय है। इससे छुटकारा पा कर स्थिर शान्ति या सुख को प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार इन दो बातों – अर्थात् सांसारिक दुःख के अस्तित्व और उसके निवारण करने की आवश्यकता – का मान लेने से वैदिकधर्म का यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहता है कि दुःखनिवारण करके

* ब्रह्मजालसुत्त का अंग्रेज़ी में अनुवाद नहीं है, परन्तु उसका संक्षिप्त विवेचन हिसडेविड्स ने S. B. E. V. XXXVI Intro pp. xxiii–xxv में किया है।

अत्यन्त सुख प्राप्त कर लेने का मार्ग कौन-सा है? और उसका कुछ न-कुछ ठीक ठीक उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। उपनिषत्कारों ने कहा है कि यज्ञयाग आदि कर्मों के द्वारा संसारचक्र से छुटकारा हो नहीं सकता। और बुद्ध ने इससे भी कहीं आगे बढ़कर इन सब कर्मों को हिंसात्मक अतएव सर्वथा त्याज्य और निषिद्ध बतलाया है। इसी प्रकार यदि स्वयं 'ब्रह्म' ही को एक बड़ा भारी भ्रम मानें तो दुःखनिवारणार्थ जो ब्रह्मज्ञानमार्ग है वह भी भ्रान्तिकारक तथा असम्भव निर्णित होता है। फिर दुःखमय भवचक्र से छूटने का मार्ग कौन-सा है? बुद्ध ने इसका यह उत्तर दिया है कि किसी रोग को दूर करने के लिये उस रोग का मूलकारण ढूँढ़ कर उसी को हटाने का प्रयत्न जिस प्रकार चतुर वैद्य किया करता है उसी प्रकार सांसारिक दुःख के रोग को दूर करने के लिये (१) उसके कारण का ज्ञान कर, (२) उसी कारण को दूर करनेवाले मार्ग का अवलम्ब बुद्धिमान् पुरुष को करना चाहिये। इन कारणों का विचार करने से दीख पड़ता है कि तृष्णा या कामना ही इस जगत् के सब दुःखों की जड़ है और एक नामरूपात्मक शरीर का नाश हो जाने पर बचे हुए इस वासनात्मक बीज ही से अन्यान्य नामरूपात्मक शरीर पुनः पुनः उत्पन्न हुआ करते हैं। और फिर बुद्ध ने निश्चित किया है कि पुनर्जन्म के दुःखमय संसार से पिण्ड छुड़ाने के लिये इन्द्रियनिग्रह से, ध्यान से तथा वैराग्य से तृष्णा का पूर्णतया क्षय करके संन्यासी या भिक्षु बन जाना ही एक यथार्थ मार्ग है; और इसी वैराग्ययुक्त संन्यास से अचल शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि यज्ञयाग आदि की तथा आत्म-अनात्म विचार की झंझट में न पड़ कर, इन चार दृश्य बातों पर ही बौद्धधर्म की रचना की गई है। वे चार बातें ये हैं: सांसारिक दुःख का अस्तित्व, उसका कारण, उसके निरोध या निवारण करने की आवश्यकता, और उसे समूल नष्ट करने के लिये वैराग्यरूप साधन; अथवा बौद्ध की परिभाषा के अनुसार क्रमशः दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। अपने धर्म के इन्हीं चार मूलतत्त्वों को बुद्ध ने 'आर्यसत्य' नाम दिया है। उपनिषद् के आत्मज्ञान के बदले चार आर्यसत्यों की दृश्य नींव के ऊपर यद्यपि इस प्रकार बौद्धधर्म खड़ा किया गया है; तथापि अचल शान्ति या सुख पाने के लिये तृष्णा अथवा वासना का क्षय करके मन को निष्काम करने के लिये मार्ग (चौथा सत्य) का उपदेश बुद्ध ने किया है वह मार्ग—और मोक्षप्राप्ति के लिये उपनिषदों में वर्णित मार्ग—दोनों वस्तुतः एक ही हैं। इसलिये यह बात स्पष्ट है कि दोनों धर्मों का अन्तिम दृश्यसाध्य मन की निर्विषय स्थिति ही है। परन्तु इन दोनों धर्मों में भेद यह है कि ब्रह्म तथा आत्मा को एक माननेवाले उपनिषत्कारों ने मन की इस निष्काम अवस्था को 'आत्मनिष्ठा', 'ब्रह्मसंस्था', 'ब्रह्मभूतता', 'ब्रह्मनिर्वाण' (गीता ५. १७–२५; छां. २. २३. १) अर्थात् ब्रह्म में आत्मा का लय होना आदि अन्तिम आधारदर्शक नाम दिये हैं; और बुद्ध ने उसे केवल निर्वाण अर्थात् 'विराम पाना, या दीपक बुझ जाने के समान वासना'

का नाश होना' यह क्रियात्मक नाम दिया है। क्योंकि, ब्रह्म या आत्मा को भ्रम मान लेने पर यह प्रश्न ही नहीं रह जाता कि 'निर्वाण' कौन पाता है और किस को पाता है? (सुत्तनिपात में रतनसुत्त १४ और वंगीससुत्त १२ तथा १३ देखो); एवं बुद्ध ने तो यह स्पष्ट रीति से कह दिया है कि चतुर मनुष्य को इस गूढ़ प्रश्न का विचार भी न करना चाहिये (सब्बासवसुत्त ९–१३ और मिलिन्दप्रश्न ४.२.४ एवं ५ देखो)। यह स्थिति प्राप्त होने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। इसलिये एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर को पाने की सामान्य क्रिया के लिये प्रयुक्त होनेवाले 'मरण' शब्द का उपयोग बौद्धधर्म के अनुसार 'निर्वाण' के लिये किया भी नहीं जा सकता। निर्वाण तो 'मृत्यु की मृत्यु' अथवा उपनिषदों के वर्णनानुसार 'मृत्यु को पार कर जाने का मार्ग' है – निरी मौत नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४.४.७) में यह दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार सर्प को अपनी केंचुली छोड़ देने पर उसकी कुछ परवाह नहीं रहती, उसी प्रकार जब कोई मनुष्य इस स्थिति में पहुँच जाता है तब उसे भी अपने शरीर की कुछ चिन्ता नहीं रह जाती। और इसी दृष्टान्त का आधार असली भिक्षु का वर्णन करते समय सुत्तनिपात में उरगसुत्त के प्रत्येक श्लोक में लिया गया है। वैदिकधर्म का यह तत्त्व (कौषी. ब्रा. ३.१) कि आत्मनिष्ठ पुरुष पापपुण्य से सदैव अलिप्त रहता है (बृ. ४.४.२३), इसलिये उसे मातृवध तथा पितृवध सरीखे पातकों का भी दोष नहीं लगता, धम्मपद में शब्दशः ज्यों-का-त्यों बतलाया गया है (धम्म. २९४ और २९५ तथा मिलिन्दप्रश्न ४.५.७ देखो)। सारांश, यद्यपि ब्रह्म तथा आत्मा का अस्तित्व बुद्ध को मान्य नहीं था, तथापि मन को शान्त, विरक्त तथा निष्काम करना प्रभृति मोक्षप्राप्ति के जिन साधनों का उपनिषदों में वर्णन है, वे ही साधन बुद्ध के मत से निर्वाणप्राप्ति के लिये भी आवश्यक हैं। इसीलिये बौद्ध यति तथा वैदिक संन्यासियों के वर्णन मानसिक स्थिति की दृष्टि से एक ही से होते हैं। और इसी कारण पापपुण्य की जवाबदारी के सम्बन्ध में तथा जन्ममरण के चक्कर से छुटकारा पाने के विषय में वैदिक संन्यासधर्म के जो सिद्धान्त हैं, वे ही बौद्धधर्म में स्थिर रखे गये हैं। परन्तु वैदिकधर्म गौतम बुद्ध से पहले का है। अतएव इस विषय में कोई शङ्का नहीं कि ये विचार असल में वैदिकधर्म के ही हैं।

वैदिक तथा बौद्ध संन्यासधर्मों की भिन्नता का वर्णन हो चुका। अब देखना चाहिये कि गार्हस्थ्यधर्म के विषय में बुद्ध ने क्या कहा है। आत्म-अनात्म विचार के तत्त्वज्ञान को महत्त्व न दे कर सांसारिक दुःखों के अस्तित्व आदि दृश्य आधार पर ही यद्यपि बौद्धधर्म खड़ा किया गया है, तथापि स्मरण रखना चाहिये कि कोंट सरीखे आधुनिक पश्चिमी पण्डितों के निरे आधिभौतिक धर्म के अनुसार – अथवा गीताधर्म के अनुसार भी बौद्धधर्म मूल में प्रवृत्तिप्रधान नहीं है। यह सच है कि, बुद्ध को उपनिषदों के आत्मज्ञान की तात्त्विक दृष्टि मान्य नहीं है। परन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् में (४.४.६) वर्णित याज्ञवल्क्य का यह सिद्धान्त कि, संसार को

बिलकुल छोड़ कर के मन को निर्विषय तथा निष्काम करना ही इस जगत् में मनुष्य का केवल एक परम कर्तव्य है, बौद्धधर्म में सर्वथा स्थिर रखा गया है। इसीलिये बौद्धधर्म मूल में केवल संन्यासप्रधान हो गया है। यद्यपि बुद्ध के समग्र उपदेशों का तात्पर्य यह है कि संसार का त्याग किये बिना – केवल गृहस्थाश्रम में ही बने रहने से – परमसुख तथा अर्हतावस्था कभी प्राप्त हो नहीं सकती, तथापि यह न समझ लेना चाहिये कि उसमें गार्हस्थ्यवृत्ति का बिलकुल विवेचन ही नहीं है। जो मनुष्य बिना भिक्षु बने बुद्ध, उसके धर्म और बौद्ध भिक्षुओं के संघ अर्थात् मेले या मण्डलियों, इन तीनों पर विश्वास रखे और "बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि" इस संकल्प के उच्चारण द्वारा उक्त तीनों की शरण में जाय, उसको बौद्ध ग्रन्थों में उपासक कहा है। ये ही लोग बौद्धधर्मावलम्बी गृहस्थ हैं। प्रसङ्ग प्रसङ्ग पर स्वयं बुद्ध ने कुछ स्थानों पर उपदेश किया है कि इन उपासकों को अपना गार्हस्थ्य-व्यवहार कैसा रखना चाहिये (महापरिनिब्बाणसुत्त १. २४)। वैदिक गार्हस्थ्यधर्म में से हिंसात्मक श्रौतयज्ञयाग और चारों वर्णों का भेद बुद्ध को मान्य नहीं था। इन बातों को छोड़ देने से स्मार्त पञ्चमहायज्ञ, दान आदि परोपकारधर्म और नीतिपूर्वक आचरण करना ही गृहस्थ का कर्तव्य रह जाता है; तथा गृहस्थों के धर्म का वर्णन करते समय केवल इन्हीं बातों का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाता है। बुद्ध का मत है कि प्रत्येक गृहस्थ अर्थात् उपासक को पञ्चमहायज्ञ करना ही चाहिये। उनका स्पष्ट कथन है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सर्वभूतानुकम्पा और (आत्मा मान्य न हो तथापि) आत्मौपम्यदृष्टि, शौच या मन की पवित्रता, तथा विशेष करके सत्पात्र यानी बौद्धभिक्षुओं को एवं बौद्ध भिक्षुसंघों को अन्नवस्त्र आदि का दान करना प्रभृति नीतिधर्मों का पालन बौद्ध उपासकों को करना चाहिये। बौद्धधर्म में इसी को 'शील' कहा है; और दोनों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पञ्चमहायज्ञ के समान ये नीतिधर्म भी ब्राह्मणधर्म के धर्मसूत्र तथा प्राचीन स्मृतिग्रन्थों से (मनु. ६. ९२ और १०. ६३ देखो) बुद्ध ने लिये हैं।* और तो क्या? आचरण के विषय में प्राचीन ब्राह्मणों की स्तुति स्वयं बुद्ध ने ब्राह्मणधम्मिकसुत्त में की है; तथा मनुस्मृति के कुछ श्लोक तो धम्मपद में अक्षरशः पाये जाते हैं (मनु. २. १२१ और ५. ४५ तथा धम्मपद १०९ और १३१ देखो)। बौद्धधर्म में वैदिक ग्रन्थों से न केवल पञ्चमहायज्ञ और नीतिधर्म ही लिये गये हैं, किन्तु वैदिक धर्म में कतिपय उपनिषत्कारों द्वारा प्रतिपादित इस मत को भी बुद्ध ने स्वीकार किया है कि गृहस्थाश्रम में पूर्ण मोक्षप्राप्ति कभी भी नहीं होती। उदाहरणार्थ सुत्तनिपातों के धम्मिकसुत्त में भिक्षु के साथ उपासक की तुलना करके बुद्ध ने साफ़ साफ़ कह दिया है कि गृहस्थ को उत्तम शील के द्वारा बहुत हुआ तो 'स्वयंप्रकाश' देवलोक की प्राप्ति

---

* See Dr. Kern's Manual of Buddhism (Grundriss III. 8), p. 68.

हो जावेगी परन्तु जन्ममरण के चक्कर से पूर्णतया छुटकारा पाने के लिये संसार तथा लड़के, बच्चे स्त्री आदि को छोड़ करके अन्त में उसको भिक्षुधर्म ही स्वीकार करना चाहिये (मज्झिमनिकाय सुत्त १७ २९ और ३ ४ ४ ६ तथा म मा वन २ ६३ देखो)। तेविज्जसुत्त (२ ३५, ३ ५) में यह वर्णन है कि कर्ममार्गीय वैदिक ब्राह्मणों से बात करते समय अपने उक्त संन्यासप्रधान मत को सिद्ध करने के लिये बुद्ध ऐसी युक्तियाँ पेश करते थे कि यदि तुम्हारे ब्रह्म के बाल बच्चे तथा क्रोधलोभ नहीं है तो स्त्री-पुत्रों में रह कर तथा यज्ञयाग आदि काम्य कर्मों के द्वारा तुम्हें ब्रह्म की प्राप्ति होगी ही कैसे ! और यह भी प्रसिद्ध है कि स्वयं बुद्ध ने युवावस्था में ही अपनी स्त्री अपने पुत्र तथा राजपाट भी त्याग दिया था। एवं भिक्षुधर्म स्वीकार कर लेने पर छः वर्ष के पीछे उन्हें बुद्धावस्था प्राप्त हुई थी। बुद्ध के समकालीन (परन्तु उनसे पहले ही समाधिस्थ हो जानेवाले) महावीर नामक अन्तिम जैन तीर्थंकर का भी ऐसा ही उपदेश है। परन्तु वह बुद्ध के समान अनात्मवादी नहीं था। और इन दोनों धर्मों में महत्त्व का भेद यह है कि वस्त्राभरण आदि ऐहिक सुखों का त्याग और अहिंसाव्रत प्रभृति धर्मों का पालन बौद्ध भिक्षुओं की अपेक्षा जैन यति अधिक दृढ़ता से किया करते थे एवं अब भी करते रहते हैं। अपने ही लिये नियत से जो प्राणी न मारे गये हों उनका पवत्त (सं प्रवृत्त) अर्थात् तैयार किया हुआ मांस' (हाथी सिंह आदि कुछ प्राणियों को छोड़कर) को बुद्ध स्वयं खाया करते थे और 'पवत्त' मांस तथा मछलियाँ खाने की आज्ञा बौद्ध भिक्षुओं को भी दी गई है। एवं बिना वस्त्रों के नङ्ग-धड़ङ्ग घूमना बौद्धभिक्षुधर्म के नियमानुसार अपराध है (महावग्ग ६ ३१ १४ और ८ २८. १)। सारांश यद्यपि बुद्ध का निश्चित उपदेश था कि अनात्मवादी भिक्षु बनो तथापि कायाक्लेशमय उग्र तप से बुद्ध सहमत नहीं थे (महावग्ग ५ १ १६ और गीता ६ १६)। बौद्ध भिक्षुओं के विहारों अर्थात् उनके रहने के मठों की सारी व्यवस्था भी ऐसी रखी जाती थी कि जिसस उनको कोई विशेष शारीरिक कष्ट न सहना पड़े और प्राणायाम आदि योगाभ्यास सरलतापूर्वक हो सके। तथापि बौद्धधर्म में यह तत्त्व पूर्णतया स्थिर है कि अर्हतावस्था या निर्वाणसुख की प्राप्ति के लिये गृहस्थाश्रम को त्यागना ही चाहिये। इसलिये यह कहने कोई प्रत्यवाय नहीं कि बौद्धधर्म संन्यासप्रधान धर्म है।

यद्यपि बुद्ध का निश्चित मत था कि ब्रह्मज्ञान तथा आत्म अनात्मविचार भ्रम का एक बड़ा-सा जाल है तथापि इस दृश्य कारण के लिये — अर्थात् दुःखमय संसार चक्र से छूट कर निरन्तर शान्ति तथा सुख प्राप्त करने के लिये — उपनिषदों में वर्णित संन्यासमार्गवालों के इसी साधन को उन्होंने मान लिया था कि वैराग्य से मन को निर्विषय रखना चाहिये। और जब यह सिद्ध हो गया कि चातुर्वर्ण्यभेद तथा हिंसात्मक यज्ञयाग को छोड़ कर बौद्धधर्म में वैदिक गार्हस्थ्यधर्म के नीतिनियम ही कुछ हेरफेर करके लिये गये हैं तब यदि उपनिषद् तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में

प्रतिपादन महायान पन्थ के सद्धर्मपुण्डरीक आदि ग्रन्थों में किया गया है। और नागसेन ने मिलिन्द से कहा है कि 'गृहस्थाश्रम में रहते हुए निर्वाणपद को पा लेना बिलकुल असम्भव नहीं है – और उसके कितने ही उदाहरण भी हैं' (मि. प्र. ६. २. ४)। यह बात किसी के भी ध्यान में सहज ही आ जावेगी, कि ये विचार अनात्मवादी तथा केवल संन्यासप्रधान मूल बौद्धधर्म के नहीं हैं; अथवा शून्यवाद या विज्ञानवाद का स्वीकार करके भी इनकी उपपत्ति नहीं जानी जा सकती; और पहले पहल अनेक बौद्ध धर्मवालों को स्वयं मालूम पड़ता था कि ये विचार बुद्ध के मूल उपदेश से विरुद्ध हैं। परन्तु फिर यही नया मत स्वभाव से अधिकाधिक लोकप्रिय होने लगा और बुद्ध के मूल उपदेश के अनुसार आचरण करनेवालों को 'हीनयान' (हलका मार्ग) तथा इस नये पन्थ को 'महायान' (बड़ा मार्ग) नाम प्राप्त हो गया।* चीन, तिब्बत और जापान आदि देशों में आजकल जो बौद्धधर्म प्रचलित है, वह महायान पन्थ का है; और बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् महायानपन्थी भिक्षुसंघ के दीर्घोद्योग के कारण ही बौद्धधर्म का इतनी शीघ्रता से फैलाव हो गया। डॉक्टर केर्न की राय है कि बौद्धधर्म में इस सुधार की उत्पत्ति शालिवाहन शक के लगभग तीन सौ वर्ष पहले हुई होगी।† क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों में इसका उल्लेख है कि शकराजा कनिष्क के शासनकाल में बौद्ध-भिक्षुओं की जो एक महापरिषद् हुई थी, उसमें महायान पन्थ के भिक्षु उपस्थित थे। इस महायान पन्थ के 'अमितायुसुत्त' नामक प्रधान सूत्रग्रन्थ का वह अनुवाद अभी उपलब्ध है, जो कि चीनी भाषा में सन् १४८ ईसवी के लगभग किया गया था। परन्तु हमारे मतानुसार यह काल इससे भी प्राचीन होना चाहिये। क्योंकि, सन् ईसवी से लगभग २३० वर्ष पहले प्रसिद्ध किये गये अशोक के शिलालेखों

---

* हीनयान और महायान पन्थों का भेद बतलाते हुए डॉक्टर कर्न ने कहा है कि –

"Not the Arhat, who has shaken off all human feeling, but the generous, self-sacrificing, active Bodhisattva is the ideal of the Mahayanists, and this attractive side of the creed has, more perhaps than anything else, contributed to their wide conquests, whereas S. Buddhism has not been able to make converts except where the soil had been prepared by Hinduism and Mahayanism." Manual of Indian Buddhism, p. 69. Southern Buddhism अर्थात् हीनयान है। महायान पन्थ में भक्ति का भी समावेश हो चुका था। "Mahayanist lays great stress on devotion, in this respect as in many others harmonising with the current of feeling in India which led to the growing importance of Bhakti." Ibid p. 124.

† See Dr. Kern's Manual of Indian Buddhism, pp. 6, 69 and 119. मिलिन्द (मिनँडर) नामक यूनानी राजा सन् ईसवी से लगभग १४० वर्ष पहले हिन्दुस्थान के वायव्य की ओर बैक्ट्रिया देश में राज्य करता था। मिलिन्दप्रश्न में इस बात का उल्लेख है कि नागसेन ने इसे बौद्धधर्म की दीक्षा दी थी। बौद्धधर्म फैलाने के इस काम महायान पन्थ के लोगों ने किया था; इसलिये स्पष्ट ही है कि तब महायान पन्थ प्रादुर्भूत हो चुका था।

इसके सिवा एक दूसरे तिब्बती ग्रन्थ में भी यही उल्लेख पाया है।* यह सच है कि तारानाथ का ग्रन्थ प्राचीन नहीं है परन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उसका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों के आधार को छोड़ कर नहीं किया गया है। क्योंकि, यह सम्भव नहीं है कि कोई भी बौद्ध ग्रन्थकार स्वयं अपने धर्मपन्थ के तत्त्वों को बतलाते समय (बिना किसी कारण के) परधर्मियों का इस प्रकार उल्लेख कर दे। इसलिये स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों के द्वारा इस विषय में श्रीकृष्ण के नाम का उल्लेख किया जाना बड़े महत्त्व का है। क्योंकि, भगवद्गीता के अतिरिक्त श्रीकृष्णोक्त दूसरा प्रवृत्तिप्रधान भक्तिग्रन्थ वैदिक धर्म में है ही नहीं। अतएव इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि महायान पंथ के अस्तित्व में आने से पहले ही न केवल भागवतधर्मविषयक श्रीकृष्णोक्त ग्रन्थ अर्थात् भगवद्गीता भी उस समय प्रचलित थी; और डाक्टर केर्न भी इसी मत का समर्थन करते हैं। जब गीता का अस्तित्व बुद्ध धर्मीय महायान पन्थ से पहले का निश्चित हो गया तब अनुमान किया जा सकता है कि उसके साथ महाभारत भी रहा होगा। बौद्धग्रन्थों में कहा गया है बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही उनके मतों का संग्रह कर लिया गया परन्तु इससे वर्तमान समय में पाये जानेवाले अत्यन्त प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों का भी उसी समय में रचा जाना सिद्ध नहीं होता। महापरिनिब्बानसुत्त को वर्तमान बौद्ध ग्रन्थों में प्राचीन मानते हैं। परन्तु उनमें पाटलिपुत्र शहर के विषय में जो उल्लेख है उससे प्रोफेसर रिहस डेविड्स ने दिखलाया है कि यह ग्रन्थ बुद्ध का निर्वाण हो चुकने पर कम-से-कम सौ वर्ष पहले तैयार न किया गया होगा और बुद्ध के अनन्तर सौ वर्ष बीतने पर बौद्धधर्मीय भिक्षुओं की जो दूसरी परिषद् हुई थी उसका वर्णन विनयपिटक में चुल्लवग्ग ग्रन्थ के अन्त में है। इससे विदित होता है † कि सिंहलद्वीप के पाली भाषा में लिखे हुए विनयपिटकादि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ इस परिषद् के हो चुकने पर रचे गये हैं। इस विषय में बौद्ध ग्रन्थकारों ही ने कहा है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र ने ईसा की सदी से लगभग १२ वर्ष पहले जब सिंहलद्वीप में बौद्धधर्म का प्रचार करना आरम्भ किया तब ये ग्रन्थ भी वहाँ पहुँचाये गये। यदि मान लें कि इन

---

* See Dr. Kern's Manual of Indian Buddhism, p. 122.

He (Nagarjuna) was a pupil of the Brahmana Rahulabhadra, who himself was a Mahayanist. This Brahmana was much indebted to the sage Krishna and still more to Ganesha. This quasi-historical notice, reduced to a less allegorical expression, means that Mahayanism is much indebted to the Bhagavadgita and more even to Shivaism. ऐसा जान पड़ता है कि डॉ. केर्न ने 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' ग्रन्थमाला में 'सद्धर्मपुण्डरीक' ग्रन्थ का अनुवाद किया है और उसकी प्रस्तावना में इसी मत का प्रतिपादन किया है। (S. B. E. Vol. XXI Intro. pp. xx [illegible] iii).

† See S. B. E. Vol. XI Intro. pp. xxxv and p. 58.

ग्रन्थों को मुखाग्र रट डालने की चाल थी; इसलिये महेन्द्र के समय से उनमें कुछ भी फेरफार न किया होगा; तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् ये ग्रन्थ जब पहले पहल तैयार किये गये, तब अथवा आगे महेन्द्र या अशोक के समय तक तत्कालीन प्रचलित वैदिक ग्रन्थों से इनमें कुछ भी नहीं लिया गया? अतएव यदि महाभारत बुद्ध के पश्चात् का हो, तो भी अन्य प्रमाणों से उसका सिकन्दर बादशाह से पहले का अर्थात् सन १ ४ ईसवी से पहले का होना सिद्ध है। इसलिये मनुस्मृति के श्लोक के समान महाभारत के श्लोक का भी उन पुस्तकों में पाया जाना सम्भव है कि जिनको महेन्द्र सिंहलद्वीप में ले गया था। सारांश, बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उसके धर्म का प्रसार होते होते शीघ्र ही प्राचीन वैदिक गाथाओं तथा कथाओं को महाभारत में एकत्रित संग्रह किया गया है। उसके जो श्लोक बौद्ध ग्रन्थों में शब्दशः पाये जाते हैं उनको बौद्ध ग्रन्थकारों ने महाभारत से ही लिया है, न कि स्वयं महाभारतकार ने बौद्ध ग्रन्थों से। परन्तु यदि मान लिया जाय कि बौद्ध ग्रन्थकारों ने इन श्लोकों को महाभारत से नहीं लिया है, बल्कि उन पुराने वैदिक ग्रन्थों से लिया होगा कि जो महाभारत के भी आधार हैं, परन्तु वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। और इस कारण महाभारत के काल का निर्णय उपर्युक्त श्लोकसमानता से पूरा नहीं होता। तथापि नीचे लिखी हुई चार बातों से इतना तो निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है कि बौद्धधर्म में महायान पन्थ का प्रादुर्भाव होने से पहले केवल भागवत धर्म ही प्रचलित न था, बल्कि उस समय भगवद्गीता भी सर्वमान्य हो चुकी थी और इसी गीता के आधारपर महायान पन्थ निकला है; एवं श्रीकृष्णप्रणीत गीता के तत्त्व बौद्धधर्म से नहीं लिये गये हैं। वे चार बातें इस प्रकार हैं:– (१) केवल अनात्मवादी तथा संन्यासप्रधान मूल बुद्धधर्म ही से आगे चल कर क्रमशः स्वाभाविक रीति पर भक्तिप्रधान तथा प्रवृत्तिप्रधान तत्त्वों का निकलना सम्भव नहीं है। (२) महायानपन्थ की उत्पत्ति के विषय में स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों ने श्रीकृष्ण के नाम का स्पष्टतया निर्देश किया है। (३) गीता के भक्तिप्रधान तथा प्रवृत्तिप्रधान तत्त्वों की महायान पन्थ के मतों से अर्थतः तथा शब्दशः समानता है। और (४) बौद्धधर्म के साथ तत्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पन्थों में प्रवृत्तिप्रधान भक्तिमार्ग का प्रचार न था। उपर्युक्त प्रमाणों से वर्तमान गीता का जो काल निर्णीत हुआ है वह इससे पूर्णतया मिलता-जुलता है।

भाग ७ – गीता और ईसाइयों की बाइबल

ऊपर बतलाई हुई बातों से निश्चित हो गया कि हिंदुस्थान में भक्तिप्रधान भागवतधर्म का उदय ईसा से लगभग १४ सौ वर्ष पहले हो चुका था; और ईसा के पहले प्रादुर्भूत संन्यासप्रधान मूल बौद्धधर्म में प्रवृत्तिप्रधान भक्तितत्त्व का प्रवेश बौद्ध ग्रन्थकारों के ही मतानुसार श्रीकृष्णप्रणीत गीता ही के कारण हुआ है। गीता के

बहुतेरे सिद्धान्त ईसाइयों की नई बाइबल में भी दील पड़ते हैं। बस; इसी बुनियाद पर कुछ क्रिश्चियन ग्रन्थों में यह प्रतिपादन रहता है, कि ईसाई धर्म के ये तत्त्व गीता में ले लिये होंगे। और विशेषतः डॉक्टर लारिनसर ने गीता के उस जर्मन भाषानुवाद में – कि जो सन् १८६९ ईसवी में प्रकाशित हुआ था – जो कुछ प्रतिपादन किया है, उसका निरसन अब आप ही-आप सिद्ध हो जाता है। लारिनसर ने अपनी पुस्तक के (गीता के जर्मन अनुवाद के) अन्त में भगवद्गीता और बाइबल – विशेष कर नई बाइबल – के शब्दसादृश्य के कोई एक सौ से अधिक स्थल बतलाये हैं और उनमें से कुछ तो विलक्षण एवं ध्यान देने योग्य भी हैं। एक उदाहरण लीजिये – 'उस दिन तुम जानोगे कि मैं अपने पिता में, तुम मुझ में और मैं तुम में हूँ' (जान १४. २०) यह वाक्य गीता के नीचे लिखे हुए वाक्यों से समानार्थक ही नहीं है, प्रत्युत शब्दशः भी एक ही है। वे वाक्य ये हैं – 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' (गीता ४. ३५) और 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' (गीता ६. ३०)। इसी प्रकार जान का आगे का यह वाक्य भी – 'जो मुझ पर प्रेम करता है, उसी पर मैं प्रेम करता हूँ' (१४. २१) गीता के 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गीता ७. १७) वाक्य के बिलकुल ही सदृश है। इनको तथा इन्हीं से मिलते-जुलते हुए कुछ एक-से ही वाक्यों की बुनियाद पर डॉक्टर लारिनसर ने अनुमान करके कह दिया है, कि गीताकार बाइबल से परिचित थे और ईसा के लगभग पाँच सौ वर्षों के पीछे गीता बनी होगी। डॉ. लारिनसर की पुस्तक के इस भाग का अंग्रेजी अनुवाद 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' की दूसरी पुस्तक में उस समय प्रकाशित हुआ था; और परलोकवासी तैलंग ने भगवद्गीता का जो पद्यात्मक अंग्रेजी अनुवाद* किया है, उसकी प्रस्तावना में उन्होंने लारिनसर के मत का पूर्णतया खण्डन किया है। लारिनसर पाश्चात्य संस्कृत पण्डितों में न लेखे जाते थे; और संस्कृत की अपेक्षा उनको ईसाई धर्म का ज्ञान तथा अभिमान कहीं अधिक था। अतएव उनके मत – न केवल परलोकवासी तैलंग ही को, किन्तु मेक्समूलर प्रभृति मुख्य मुख्य पाश्चात्य संस्कृत पण्डितों को भी – अग्राह्य हो गये थे। बेचारे लारिनसर को यह कल्पना भी न हुई होगी, कि ज्यों ही एक बार गीता का समय ईसा से प्रथम निस्सन्देह निश्चित हो गया, त्यों ही गीता और बाइबल के जो सैकड़ों अर्थसादृश्य और शब्दसादृश्य मैं दिखला रहा हूँ, वे भूतों के समान उलटे मेरे ही गले से आ लिपटेंगे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि जो बात कभी स्वप्न में भी नहीं दीख पड़ती, वही कभी कभी आँखों के सामने नाचने लगती है; और सचमुच देखा जाय तो अब डॉक्टर लारिनसर का [illegible] खण्डन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। तथापि कुछ बड़े बड़े

* See Bhagavadgita translated into English Blank Verse with Notes &c. K. T. Telang 18[illegible] Bombay. This book is different from the translation S. B. E. Series.

अन्वेषी ग्रन्थों में अभी तक इसी असत्य मत का उल्लेख दीख पड़ता है। इसलिये यहाँ पर उस अर्वाचीन खोज के परिणाम का संक्षेप में दिग्दर्शन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जो इस विषय में निष्पन्न हुआ है। पहले यह ध्यान में रखना चाहिये कि जब कोई दो ग्रन्थों के सिद्धान्त एक-से होते हैं तब केवल इन सिद्धान्तों की समानता ही के भरोसे यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि अमुक ग्रन्थ पहले रचा गया और अमुक पीछे। क्योंकि यहाँ पर दोनों बातें सम्भव हैं कि (१) इन दोनों ग्रन्थों में से पहले ग्रन्थ के विचार दूसरे ग्रन्थ से लिये गये होंगे अथवा (२) दूसरे ग्रन्थ के विचार पहले से। अतएव पहले जब दोनों ग्रन्थों के काल का स्वतन्त्र रीति से निश्चय कर लिया जाय तब फिर विचारसादृश्य से यह निर्णय करना चाहिये कि अमुक ग्रन्थकार ने अमुक ग्रन्थ से अमुक विचार लिये हैं। इसके सिवा दो भिन्न भिन्न देशों के दो ग्रन्थकारों को एक ही से विचारों का एक ही समय में (अथवा कभी आगे-पीछे भी) स्वतन्त्र रीति से सूझ पड़ना कोई बिलकुल असाध्य बात नहीं है। इसलिये उन दोनों ग्रन्थों की समानता को जाँचते समय यह विचार भी करना पड़ता है कि वे स्वतन्त्र रीति से आविर्भूत होने के योग्य हैं या नहीं? और जिन दो देशों में ये ग्रन्थ निर्मित हुए हों उनमें उस समय आवागमन हो कर एक देश के विचारों का दूसरे देश में पहुँचना सम्भव था या नहीं? इस प्रकार चारों ओर से विचार करने पर दीख पड़ता है कि ईसाई धर्म से किसी भी बात का गीता में लिया जाना सम्भव ही नहीं था, बल्कि गीता के तत्त्वों के समान जो कुछ तत्त्व ईसाइयों की बाइबल में पाये जाते हैं उन तत्त्वों को ईसा ने अथवा उसके शिष्यों ने बहुत करके बौद्धधर्म से – अर्थात् पर्याय से गीता या वैदिकधर्म ही से – बाइबल में ले लिया होगा; और अब इस बात को कुछ पश्चिमी पण्डित लोग स्पष्ट रूप से कहने भी लग गये हैं। इस तराजू का फिरा हुआ पलड़ा देख कर ईसा के कट्टर भक्तों को आश्चर्य होगा और यदि उनके मन का झुकाव इस बात को स्वीकृत न करने की ओर हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु ऐसे लोगों से हमें इतना ही कहना है कि यह प्रश्न धार्मिक नहीं – ऐतिहासिक है। इसलिये इतिहास की सार्वकालिक पद्धति के अनुसार हाल में उपलब्ध हुई बातों पर शान्तिपूर्वक विचार करना आवश्यक है। फिर इससे निकलनेवाले अनुमानों को सभी लोग – और विशेषतः वे कि जिन्होंने यह विचारसादृश्य का प्रश्न उपस्थित किया है – आनन्दपूर्वक तथा पक्षपातरहितबुद्धि से ग्रहण करें। यही न्याय्य तथा युक्तिसङ्गत है।

नई बाइबल का ईसाई धर्म यहुदी बाइबल अर्थात् प्राचीन बाइबल में प्रतिपादित प्राचीन यहुदी धर्म का सुधरा हुआ रूपान्तर है। यहुदी भाषा में ईश्वर को इलोहा (अरबी 'इलाह') कहते हैं। परन्तु मोज़ेस ने जो नियम बना दिये हैं उनके अनुसार यहुदी धर्म के मुख्य उपास्य देवता की विशेष संज्ञा 'जिहोवा' है। पश्चिमी पण्डितों ने ही अब निश्चय किया है कि यह 'जिहोवा' शब्द असल में

यहुदी नहीं है; किन्तु पारसी भाषा के 'यसे' (संस्कृत यज्ञ) शब्द से निकला है। यहुदी लोग मूर्तिपूजक नहीं हैं। उनके धर्म का मुख्य आचार यह है कि अग्नि में पशु या अन्य वस्तुओं का हवन कर ईश्वर के बतलाये हुए नियमों का पालन करके ईश्वर को सन्तुष्ट करें और उसके द्वारा इस लोक में अपना तथा अपनी जाति का कल्याण प्राप्त करें। अर्थात् संक्षेप में कहा जा सकता है कि वैदिकधर्मीय कर्मकाण्ड के अनुसार यहुदी धर्म भी यज्ञमय तथा प्रवृत्तिप्रधान है। इसके विरुद्ध ईसा का अनेक स्थानों पर उपदेश है कि 'मुझे (हिंसाकारक) यज्ञ नहीं चाहिये। मैं (ईश्वर की) कृपा चाहता हूँ।' (मेथ्यू १३) 'ईश्वर तथा द्रव्य दोनों को साथ साधना सम्भव नहीं' (मेथ्यू ६. २४)। 'जिसे अमृतत्व की प्राप्ति कर लेनी हो, उसे बालबच्चे छोड़ करके मेरा भक्त होना चाहिये' (मेथ्यू १९. १)। और जब ईसा ने शिष्यों को धर्मप्रचारार्थ देश-विदेश में भेजा, तब संन्यासधर्म के इन नियमों का पालन करने के लिये उनको उपदेश किया कि 'तुम अपने पास सोना, चाँदी तथा बहुत-से वस्त्र-प्रावरण भी न रखना' (मेथ्यू -११)। यह सच है कि अर्वाचीन ईसाई राष्ट्रों ने ईसा के इन सब उपदेशों को लपेट कर ताक में रख दिया है; परन्तु जिस प्रकार आधुनिक शङ्कराचार्य के हाथी-घोड़े रखने से शाङ्करसम्प्रदाय दरबारी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अर्वाचीन ईसाई राष्ट्रों के इस आचरण से मूल ईसाई धर्म के विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह धर्म भी प्रवृत्तिप्रधान था। मूल वैदिकधर्म के कर्मकाण्डात्मक होने पर भी जिस प्रकार उसमें आगे चल कर ज्ञानकाण्ड का उदय हो गया, उसी प्रकार यहुदी तथा ईसाई धर्म का भी सम्बन्ध है। परन्तु वैदिक कर्मकाण्ड में क्रमशः ज्ञानकाण्ड की और फिर भक्तिप्रधान भागवतधर्म की उत्पत्ति एवं वृद्धि सैकड़ों वर्षों तक होती रही है; किन्तु यह बात ईसाई धर्म में नहीं है। इतिहास से पता चलता है कि ईसा के अधिक से अधिक लगभग दो सौ वर्ष पहले एसी या एसीन नामक संन्यासियों का पन्थ यहुदियों के देश में एकाएक आविर्भूत हुआ था। ये एसी लोग थे तो यहुदी धर्म के ही, परन्तु हिंसात्मक यज्ञयाग को छोड़ कर वे अपना समय किसी शान्त स्थान में बैठ परमेश्वर के चिन्तन में बिताया करते थे और उदरपोषणार्थ कुछ करना पड़ा तो खेतों के समान निरुपद्रवी व्यवसाय किया करते थे। क्वाँरे रहना, मद्यमांस से परहेज रखना, हिंसा न करना, शपथ न खाना, संघ के साथ मठ में रहना और जो किसी को कुछ द्रव्य मिल जाय तो उसे पूरे संघ की सामाजिक आमदनी समझना आदि उनके पन्थ के मुख्य तत्त्व थे। जब कोई उस मण्डली में प्रवेश करना चाहता था, तब उसे तीन वर्ष तक उम्मीदवारी करके फिर कुछ शर्तें मंजूर करनी पड़ती थीं। उनका प्रधान मठ मृतसमुद्र के पश्चिमी किनारे पर एंगदी में था। वहीं पर वे संन्यासवृत्ति से शान्तिपूर्वक रहा करते थे। स्वयं ईसा ने तथा उसके शिष्यों ने नई बाइबल में एसी पन्थ के मतों का जो मान्यतापूर्वक निर्देश किया है (मेथ्यू १८ ; जेम्स ? कृत्य.

४ १२–१९), उससे दीख पड़ता है कि ईसा भी इसी पन्थ का अनुयायी था; और इसी पन्थ के संन्यास धर्म का उसने अधिक प्रचार किया है। यदि ईसा के संन्यासप्रधान भक्तिमार्ग की परम्परा इस प्रकार एसी पन्थ की परम्परा से मिला भी जावे तो भी ऐतिहासिक दृष्टि से इस बात की कुछ-न-कुछ सयुक्तिक उपपत्ति बतलाना आवश्यक है कि मूल कर्ममय यहुदी धर्म से संन्यासप्रधान एसी पन्थ का उदय कैसे हो गया? इस पर कुछ लोग कहते हैं कि ईसा एसीनपन्थी नहीं था। अब यदि इस बात को सच मान लें तो यह प्रश्न नहीं टाला जा सकता कि नई बाइबल में जिस संन्यासप्रधान धर्म का वर्णन किया गया है उसका मूल क्या है? अथवा कर्मप्रधान यहुदी धर्म में उसका प्रादुर्भाव एकदम कैसे हो गया? इसमें भेद केवल इतना होता है कि एसीनपन्थ की उत्पत्तिवाले प्रश्न के बदले इस प्रश्न को हल करना पड़ता है। क्योंकि अब समाजशास्त्र का यह मामूली सिद्धान्त निश्चित हो गया है कि कोई भी बात किसी स्थान में एकदम उत्पन्न नहीं हो जाती। उसकी वृद्धि धीरे धीरे तथा बहुत दिन पहले से हुआ करती है। और जहाँ पर इस प्रकार की बात दीख नहीं पड़ती वहाँ पर वह बात प्रायः पराये देशों या पराये लोगों से ली हुई होती है। कुछ यह नहीं है कि प्राचीन ईसाई ग्रन्थकारों के ध्यान में यह अड़चन आई ही न हो। परन्तु यूरोपियन लोगों को बौद्धधर्म का ज्ञान होने के पहले – अर्थात् अठारहवीं सदी तक – यथार्थ ईसाई विद्वानों का यह मत था कि यूनानी तथा यहुदी लोगों का पारस्परिक निकट सम्बन्ध हो जाने पर यूनानियों के – विशेषतः पायथागोरस के – तत्त्वज्ञान के बदौलत कर्ममय यहुदी धर्म में एसी लोगों के संन्यासमार्ग का प्रादुर्भाव हुआ होगा। किन्तु अर्वाचीन शोधों से यह सिद्धान्त सत्य नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध होता है कि कर्ममय यहुदी धर्म ही में एकाएक संन्यासप्रधान एसी या ईसाई धर्म की उत्पत्ति हो जाना स्वभावतः सम्भव नहीं था और उसके लिये यहुदी धर्म से बाहर का कोई न कोई अन्य कारण निमित्त हो चुका है – यह कल्पना नई नहीं है किन्तु ईसा की अठारहवीं सदी से पहले के ईसाई पण्डितों को भी मान्य हो चुकी थी।

कोलबुक साहब* ने कहा है कि पायथागोरस के तत्त्वज्ञान के साथ बौद्ध धर्म के तत्त्वज्ञान की कहीं अधिक समता है। अतएव यदि उपर्युक्त सिद्धान्त सच मान लिया जाय तो भी कहा जा सकेगा कि एसीपन्थ का मूलजन्म परम्परा से हिन्दुस्थान ही में मिलता है। परन्तु इतनी आनाकानी करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। बौद्ध ग्रन्थों के साथ नई बाइबल की तुलना करने पर स्पष्ट ही दीख पड़ता है कि एसी या ईसाई धर्म की पारमार्थिक मतों (?) में जितनी समता है उसमें कहीं अधिक और विलक्षण समता केवल धर्मतत्त्व की ही नहीं किन्तु ईसा के चरित्र और ईसा के उपदेश की बुद्ध के धर्म से है। जिस प्रकार ईसा को भ्रम में फँसाने का प्रयत्न

* See Colebrook Miscellaneous Essays, Vol. I., pp. 399–400.

शैतान ने किया था और जिस प्रकार सिद्धावस्था प्राप्त होने के समय उसने ४ दिन उपवास किया था उसी प्रकार बुद्धचरित में भी यह वर्णन है कि बुद्ध को मार का डर दिखला कर मोह में फँसाने का प्रयत्न किया गया था और उस समय बुद्ध ४९ दिन (सात सप्ताह) तक निराहार रहा था। इसी प्रकार पूर्णश्रद्धा के प्रभाव से पानी पर चलना मुख तथा शरीर की कान्ति को एकदम सूर्यसदृश बना देना अथवा शरणागत चोरों तथा वेश्याओं को भी सद्गति देना इत्यादि बात बुद्ध और ईसा दोनों के चरित्रों में एक ही सी मिलती हैं। और ईसा के जो ऐसे मुख्य मुख्य नैतिक उपदेश हैं कि तू अपने पड़ोसियों तथा शत्रुओं पर भी प्रेम कर, वे भी ईसा से पहले ही कहीं मूल बुद्ध धर्म में बिलकुल अक्षरशः आ चुके हैं। ऊपर बतला ही आये हैं कि भक्ति का तत्त्व मूल बुद्धधर्म में नहीं था परन्तु वह भी आगे चल कर – अर्थात् कम से कम ईसा से दो तीन सदियों से पहले ही – महायान बौद्धपन्थ में भगवद्गीता से लिया जा चुका था। मि आर्थर लिली ने अपनी पुस्तक में आधार पूर्वक स्पष्ट करके दिखला दिया है कि यह साम्य केवल इतनी ही बातों में नहीं है बल्कि इसके सिवा बौद्ध तथा ईसाई धर्म कि अन्यान्य सैकड़ों छोटी-मोटी बातों में उक्त प्रकार का ही साम्य वर्तमान है। यही क्यों सूली पर चढ़ा कर ईसा का वध किया गया था इसलिये ईसाई जिस सूली के चिन्ह को पूज्य तथा पवित्र मानते हैं उसी सूली के चिन्ह को स्वस्तिक 卐 (साँथिया) के रूप में वैदिक तथा बौद्धधर्म-वाले ईसा के सैकड़ों वर्ष पहले से ही शुभदायक चिन्ह मानते थे। और प्राचीन शोधकों ने यह निश्चय किया है कि मिस्र आदि पृथ्वी के पुरातन खण्डों के देशों ही में नहीं किन्तु कोलम्बस से कुछ शतक पहले अमेरिका के पेरू तथा मेक्सिको देश में भी स्वस्तिक चिन्ह शुभदायक माना जाता था।* इससे यह अनुमान करना पड़ता है। कि ईसा के पहले ही सब लोगों का स्वस्तिक चिन्ह पूज्य हो चुका था। उसी का उपयोग आगे चल कर ईसा के भक्तों ने एक विशेष रीति से कर लिया है। बौद्ध भिक्षु और प्राचीन ईसाई धर्मोपदेशकों की – विशेषतः पुराने पादड़ियों की – पोशाक और धर्मविधि में भी कहीं अधिक समता पाई जाती है। उदाहरणार्थ 'बप्तिस्मा' अर्थात् स्नान के पश्चात् दीक्षा देने की विधि भी ईसा से पहले ही प्रचलित थी। अब सिद्ध हो चुका है कि दूर दूर के देशों में धर्मोपदेशक भेज कर धर्मप्रसार करने की पद्धति – ईसाई धर्मोपदेशकों से पहले ही बौद्ध भिक्षुओं ने पूर्णतया स्वीकृत हो चुकी थी।

किसी भी विचारवान मनुष्य के मन में यह प्रश्न होना बिलकुल ही स्वाभाविक है कि बुद्ध और ईसा के चरित्रों में – उनके नैतिक उपदेशों में और उनके धर्मों की

* See Secret of the Pacific by C Reginald Enock 1912 pp 18 5

धार्मिक विधियों तक में जो यह अद्भुत और व्यापक समता पाई जाती है उसका क्या कारण है? * बौद्धधर्मग्रन्थों का अध्ययन करने से जब पहले पहल यह समता पश्चिमी लोगों को दीख पड़ी, तब कुछ ईसाई पण्डित कहने लगे, कि बौद्ध धर्मवालों ने इन तत्त्वों को 'नेस्टोरियन' नामक ईसाई पन्थ से लिया होगा, कि जो एशिया खण्ड में प्रचलित था। परन्तु यह बात ही सम्भव नहीं है। क्योंकि नेस्टर पन्थ का प्रवर्तक ही ईसा से लगभग सवा चार सौ वर्ष के पश्चात् उत्पन्न हुआ था; और अब अशोक के शिलालेखों से भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि ईसा के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले – और नेस्टर से तो लगभग नौ सौ वर्ष पहले – बुद्ध का जन्म हो गया था। अशोक के समय – अर्थात् सन् ईसवी से निदान ढाई सौ वर्ष पहले – बौद्धधर्म हिन्दुस्थान में और आसपास के देशों में तेजी से फैल चुका था। एवं बुद्धचरित आदि ग्रन्थ भी इस समय तैयार हो चुके थे। इस प्रकार जब बौद्धधर्म की प्राचीनता निर्विवाद है, तब ईसाई तथा बौद्धधर्म में दीख पड़नेवाले साम्य के विषय में दो ही पक्ष रह जाते हैं। (१) वह साम्य स्वतन्त्र रीति से दोनों ओर उत्पन्न हो; अथवा (२) इन तत्त्वों को ईसा ने या उसके शिष्यों ने बौद्धधर्म से लिया हो। इस पर प्रोफेसर हिस्डेविड्स का मत है कि बुद्ध और ईसा की परिस्थिति एक ही सी होने के कारण दोनों ओर यह सादृश्य आप-ही-आप स्वतन्त्र रीति से हुआ है।† परन्तु थोड़ा-सा विचार करने पर यह बात सब के ध्यान में आ जावेगी कि यह कल्पना समाधानकारक नहीं है। क्योंकि जब कोई नई बात किसी भी स्थान पर स्वतन्त्र रीति से उत्पन्न होती है, तब उसका उदय सदैव क्रमशः हुआ करता है; और इसलिये उसकी उन्नति का क्रम भी बतलाया जा सकता है। उदाहरण लीजिये – सिलसिलेवार ठीक तौर पर यह बतलाया जा सकता है कि वैदिक कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड और ज्ञानकाण्ड अर्थात् उपनिषदों ही से आगे चल कर भक्ति, पातञ्जलयोग अथवा अन्त में बौद्धधर्म कैसे उत्पन्न हुआ? परन्तु यज्ञमय यहुदी धर्म में संन्यासप्रधान एसी या ईसाई धर्म का उदय उक्त प्रकार से हुआ नहीं है। वह एकदम उत्पन्न हो गया है। ऊपर बतला ही चुके हैं कि प्राचीन ईसाई पण्डित भी यह मानते हैं कि इस रीति से उसके एकदम उदय हो जाने में यहुदी धर्म के अतिरिक्त कोई अन्य बाहरी कारण निमित्त रहा होगा। इसके सिवा बौद्ध तथा

---

* इस विषय पर मि. आर्थर लिली ने Buddhism in Christendom नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है। इसके सिवा Buddha and Buddhism नामक ग्रन्थ के अन्तिम चार भागों में इसी बात का संक्षिप्त विवेचन स्पष्ट रूप से किया है। इस परिशिष्ट के इस भाग में जो विवेचन किया है उसका आधार विशेषतः यही दूसरा ग्रन्थ है। Buddha and Buddhism ग्रन्थ The World's Epochmakers Series में सन् ईसवी में प्रसिद्ध हुआ है। इसके दसवें भाग में बौद्ध और ईसाई धर्म के [illegible] समान उदाहरण दो दो दिखलाये हैं।

† See Buddhist Suttas, S. B. E. Series, Vol. XI, p. 163.

ईसाई धर्म में जो समता दीख पड़ती है वह इतनी विलक्षण और पूर्ण है कि वैसी समता का स्वतन्त्र रीति से उत्पन्न होना सम्भव भी नहीं है। यदि यह बात सिद्ध हो गई होती कि उस समय यहूदी लोगों को बौद्धधर्म का ज्ञान होना ही सर्वथा असम्भव था तो बात दूसरी थी। परन्तु इतिहास से सिद्ध होता है कि सिकन्दर के समय से आगे – और विशेष कर अशोक के तो समय में ही (अर्थात् ईसा से लगभग २५० वर्ष पहले) – पूर्व की ओर मिस्र के अलेक्जेण्ड्रिया तथा यूनान तक बौद्ध यतियों की पहुँच हो चुकी थी। अशोक के एक शिलालेख में यह बात लिखी है कि यहूदी लोगों के तथा आसपास के देशों के यूनानी राजा एण्टिओकस से उसने सन्धि की थी। इसी प्रकार बायबल (मेथ्यू २. १) में वर्णन है कि जब ईसा पैदा हुआ तब पूर्व की ओर कुछ ज्ञानी पुरुष जेरुसलम गये थे। ईसाई लोग कहते हैं कि ये ज्ञानी पुरुष मगी अर्थात् इरानी धर्म के होंगे – हिन्दुस्थानी नहीं। परन्तु चाहे जो कहा जाय अर्थ तो दोनों का एक ही है। क्योंकि, इतिहास से यह बात स्पष्टतया विदित होती है कि बौद्धधर्म का प्रसार इस समय से पहले ही काश्मीर और काबुल में हो गया था। एवं वह पूर्व की ओर ईरान तथा तुर्किस्तान तक भी पहुँच चुका था। इसके सिवा प्लूटार्क * ने साफ़ साफ़ लिखा है कि ईसा के समय में हिन्दुस्थान का एक यति लालसमुद्र के किनारे और अलेक्जेण्ड्रिया के आसपास के प्रदेशों में प्रतिवर्ष प्रतिआया करता था। तात्पर्य, इस विषय में अब कोई शंका नहीं रह गई है कि ईसा से दो-तीन-सौ वर्ष पहले ही यहूदियों के देश में बौद्ध यतियों का प्रवेश होने लगा था। और जब यह सम्भव सिद्ध हो गया तब यह बात सहज ही निष्पन्न हो जाती है कि यहूदी लोगों में संन्यासप्रधान एसी पन्थ का और फिर आगे चल कर संन्यासयुक्त भक्तिप्रधान ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव होने के लिये बौद्ध धर्म ही विशेष कारण हुआ होगा। अंग्रेज़ी ग्रन्थकार लिली ने भी यही अनुमान किया है; और इसकी पुष्टि में फ्रेंच पण्डित एमिल बुर्नफ और रॉस्नी † के इसीप्रकार के मतों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। एवं जर्मन देश में लिपज़िक के तत्त्वज्ञानशास्त्रज्ञ

* See Plutarch's Morals Theosophical Essays translated by C. N. King (George Bell & Sons) pp 96–97. पाली भाषा के महावंश ([illegible] ५) में यवन लोगों के अर्थात् यूनानियों के अलसन्दा (यानि अलेक्जेण्ड्रिया) नामक शहर का उल्लेख है। उसमें यह लिखा है कि ईसा की सदी से कुछ वर्ष पहले जब सिंहलद्वीप में एक मन्दिर बन रहा था तब वहाँ बहुत-से बौद्ध यति उत्सवार्थ पधारे थे। महावंश के अंग्रेज़ी अनुवादक अलसन्दा शब्द से [illegible] [illegible] का नहीं [illegible] [illegible] अलसन्दा नामक गाँव का ही निर्देश समझते हैं कि [illegible] सिकन्दर ने काबुल में बसाया था। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि इस [illegible] गाँव को किसी ने भी यवनों का नगर न कहा होगा। [illegible] लिखा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] बौद्ध भिक्षुओं के [illegible] जाने का [illegible] [illegible]

† See Lillie's Buddha and Buddhism pp. 158 ff.

प्रोफेसर केर्न ने इस विषय के अपने ग्रन्थ में उक्त मत ही का प्रतिपादन किया है। जर्मन प्रोफेसर [illegible] ने अपने एक निबंध में कहा है कि ईसाई तथा बौद्धधर्म सर्वथा एकसे नहीं हैं। यद्यपि उन दोनों की कुछ बातों में समता हो तथापि अन्य बातों में वैषम्य भी थोड़ा नहीं है; और इसी कारण बौद्धधर्म से ईसाई धर्म का उत्पन्न होना नहीं माना जा सकता। परन्तु यह कथन विषय से बाहर का है। इसलिये इसमें कुछ भी जान नहीं है। यह कोई भी नहीं कहता कि ईसाई तथा बौद्ध धर्म सर्वथा एकसे ही हैं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो ये दोनों धर्म पृथक् पृथक् न माने गये होते। मुख्य प्रश्न तो यह है कि जब मूल में यहूदी धर्म केवल कर्ममय है, तब उसमें सुधार के रूप से संन्यासयुक्त भक्तिमार्ग के प्रतिपादक ईसाई धर्म की उत्पत्ति होने के लिये कारण क्या हुआ होगा? और ईसा की अपेक्षा बौद्धधर्म सचमुच प्राचीन है। उसके इतिहास पर ध्यान देने से यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से भी सम्भव नहीं प्रतीत होता कि संन्यासप्रधान भक्ति और नीति के तत्त्वों को ईसा ने स्वतन्त्र रीति से ढूँढ निकाला हो। बाइबल में इस बात का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता कि ईसा अपनी आयु के बारहवें वर्ष से लेकर तीस वर्ष की आयु तक क्या करता था और कहाँ था? इससे प्रकट है कि उसने अपना यह समय ज्ञानार्जन, धर्मचिन्तन और प्रवास में बिताया होगा। अतएव विश्वासपूर्वक कौन कह सकता है कि आयु के इस भाग में उसका बौद्ध भिक्षुओं से प्रत्यक्ष या पर्याय से कुछ भी सम्बन्ध हुआ ही न होगा? क्योंकि, इस समय बौद्ध यतियों का दौरदौरा यूनान तक हो चुका था। नेपाल के एक बौद्ध मठ के ग्रन्थ में स्पष्ट वर्णन है कि उस समय ईसा हिन्दुस्थान में आया था। और वहाँ उसे बौद्धधर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। यह ग्रन्थ निकोलस नोटोविश नाम के एक रूसी के हाथ लगा था; उसने फ्रेंच भाषा में इसका अनुवाद सन् १८९४ ईसवी में प्रकाशित किया है। बहुतेरे ईसाई पण्डित कहते हैं कि नोटोविश का अनुवाद सच भले ही हो; परन्तु मूलग्रन्थ का प्रणेता कोई लफंगा है जिसने यह बनावटी ग्रन्थ गढ़ डाला है। हमारा भी कोई विशेष आग्रह नहीं है कि उक्त ग्रन्थ को ये पण्डित लोग सत्य ही मान लें। नोटोविश को मिला हुआ ग्रन्थ सत्य हो या प्रक्षिप्त, परन्तु हमने ऊपर ऐतिहासिक दृष्टि से जो विवेचन संक्षेप में किया है उससे यह बात स्पष्टतया विदित हो जायगी कि यदि ईसा को नहीं तो निदान उसके भक्तों को कि जिन्होंने नये बाइबल में उसका चरित्र लिखा है — बौद्धधर्म का ज्ञान होना असम्भव नहीं था; और यदि यह बात असम्भव नहीं है तो ईसा और बुद्ध के चरित्र तथा उपदेश में जो विलक्षण समता पाई जाती है उसकी स्वतन्त्र रीति से उत्पत्ति मानना भी युक्तिसंगत नहीं जँचता।* सारांश

* [illegible] उसका विस्तारपूर्वक विवेचन करके दिया है। Ramesh Chunder Dutt, History of Civilization in Ancient India Vol II, Chap XX, pp 328 340.

यह है कि मीमांसकों का केवल कर्ममार्ग, जनक आदि का ज्ञानयुक्त कर्मयोग (नैष्कर्म्य), उपनिषत्कारों तथा सांख्यों की ज्ञाननिष्ठा और संन्यास, चित्तनिरोधरूपी पातञ्जल योग, एवं पाञ्चरात्र या भागवतधर्म अर्थात् भक्ति — ये सभी धार्मिक अङ्ग और तत्त्व मूल में प्राचीन वैदिक धर्म के ही हैं। इन में से ब्रह्मज्ञान, कर्म और भक्ति को छोड़ कर चित्तनिरोधरूपी योग तथा कर्मसंन्यास इन्हीं दोनों तत्त्वों के आधार पर बुद्ध ने पहले पहल अपने संन्यासप्रधान धर्म का उपदेश चारों वर्णों को किया था। परन्तु आगे चलकर उसी में भक्ति तथा निष्काम कर्म को मिला कर बुद्ध के अनुयायियों ने उसके धर्म का चारों ओर प्रचार किया। अशोक के समय बौद्धधर्म का इस प्रकार प्रचार हो जाने के पश्चात् शुद्ध कर्मप्रधान यहूदी धर्म में संन्यास मार्ग के तत्त्वों का प्रवेश होना आरम्भ हुआ और अन्त में उसी में भक्ति को मिला कर ईसा ने अपना धर्म प्रवृत्त किया। इतिहास से निष्पन्न होनेवाली इस परम्परा पर दृष्टि देने से डॉक्टर लारिनसर का यह कथन तो असम्भव सिद्ध होता ही है कि गीता में ईसाई धर्म से कुछ बातें ली गई हैं। किन्तु इसके विपरीत यह बात अधिक सम्भव ही नहीं बल्कि विश्वास करने योग्य भी है कि आत्मौपम्यदृष्टि, संन्यास, निर्वैरत्व तथा भक्ति के जो तत्त्व नई बाइबल में पाये जाते हैं वे ईसाई धर्म में बौद्धधर्म से — अर्थात् परम्परा से वैदिकधर्म से — लिये गये होंगे। और यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि इसके लिये हिन्दुओं को दूसरों का मुँह ताकने की कभी आवश्यकता थी ही नहीं।

इस प्रकार इस प्रकरण के आरम्भ में दिये हुए सात प्रश्नों का विवेचन हो चुका। अब इन्हीं के साथ महत्त्व के कुछ ऐसे प्रश्न होते हैं कि हिंदुस्थान में जो भक्तिपन्थ आजकल प्रचलित हैं उन पर भगवद्गीता का क्या परिणाम हुआ है? परन्तु इन प्रश्नों को गीताग्रन्थसम्बन्धी कहने की अपेक्षा यही कहना ठीक है कि ये हिन्दुधर्म के अर्वाचीन इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये — और विशेषतः यह परिशिष्ट प्रकरण थोड़ा थोड़ा करने पर भी हमारे अन्दाज से अधिक बढ़ गया है इसीलिये — अब यहीं पर गीता की बहिरङ्ग-परीक्षा समाप्त की जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

गीता के मूल श्लोक, हिन्दी अनुवाद और टिप्पणियाँ

पढ़ना चाहिये। अनुवाद की रचना प्रायः ऐसी की गई है कि टिप्पणी छोड़ कर निरा अनुवाद ही पढ़ते जाँय, तो अर्थ में कोई व्यतिक्रम न पड़े। इसी प्रकार जहाँ मूल में एक ही वाक्य एक से अधिक श्लोकों में पूरा हुआ है, वहाँ उतने ही श्लोकों के अनुवाद में वह अर्थ पूर्ण किया गया है। अतएव कुछ श्लोकों का अनुवाद मिला कर ही पढ़ना चाहिये। ऐसे श्लोक जहाँ जहाँ हैं, वहाँ वहाँ श्लोक के अनुवाद में पूर्णविरामचिह्न (।) खड़ी पाई नहीं लगाई गई है। फिर भी यह स्मरण रहे, कि अनुवाद अन्त में अनुवाद ही है। हमने अपने अनुवाद में गीता के सरल, खुले और प्रधान अर्थ को ले आने का प्रयत्न किया है सही; परन्तु संस्कृत शब्दों में और विशेषतः भगवान् की प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और प्रतिक्षण में नई रुचि उपजानेवाली वाणी में लक्षणा से अनेक व्यङ्ग्यार्थ उत्पन्न करने का जो सामर्थ्य है, उसे जरा भी घटा-बढ़ा कर दूसरे शब्दों में ज्यों-का-त्यों झलका देना असम्भव है। अर्थात् संस्कृत जाननेवाला पुरुष अनेक अवसरों पर लक्षणा से गीता के श्लोकों का जैसा उपयोग करेगा, वैसा गीता का निरा अनुवाद पढ़नेवाले पुरुष नहीं कर सकेंगे। अधिक क्या कहें ! सम्भव है कि वे गोता भी खा जायें। अतएव सब लोगों से हमारी आग्रहपूर्वक विनती है कि गीताग्रन्थ का संस्कृत में ही अवश्य अध्ययन कीजिये; और अनुवाद के साथ ही साथ मूल श्लोक रखने का प्रयोजन भी यही है। गीता के प्रत्येक अध्याय के विषय का सुविधा से ज्ञान होने के लिये इन सब विषयों की—अध्यायों के क्रम से प्रत्येक श्लोक की—अनुक्रमणिका भी अलग दे दी है। यह अनुक्रमणिका वेदान्तसूत्रों की अधिकरण-माला के ढंग की है। प्रत्येक श्लोक पृथक् पृथक् न पढ़ कर अनुक्रमणिका के इस सिलसिले से गीता के श्लोक एकत्र पढ़ने पर गीता के तात्पर्य के सम्बन्ध में जो भ्रम फैला है, वह कई अंशों में दूर हो सकता है। क्योंकि, साम्प्रदायिक टीकाकारों ने गीता के श्लोकों की खींचातानी कर अपने सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये कुछ श्लोकों के जो निराले अर्थ कर डाले हैं, वे प्रायः इस पूर्वापर सन्दर्भ की ओर दुर्लक्ष्य करके ही किये गये हैं। उदाहरणार्थ, गीता ४. १८; ६. ३ और १८. २ देखिये। इस दृष्टि से देखें तो यह कहने में कोई हानि नहीं कि गीता का यह अनुवाद और गीतारहस्य दोनों परस्पर एक दूसरे की पूर्ति करते हैं; और जिसे हमारा वक्तव्य पूर्णतया समझ लेना हो, उसे इन दोनों ही भागों का अवलोकन करना चाहिये। भगवद्गीता ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर लेने की रीति प्रचलित है। इसलिये उसमें महत्त्व के पाठभेद कहीं भी नहीं पाये जाते हैं। फिर भी यह बतलाना आवश्यक है कि वर्तमानकाल में गीता पर उपलब्ध होनेवाले भाष्यों में जो सब से प्राचीन भाष्य है, उसी शांकरभाष्य के मूल पाठ को हमने प्रमाण माना है।

गीता के अध्यायों की श्लोकशः विषयानुक्रमणिका

[नोट – इस अनुक्रमणिका में गीता के अध्यायों के श्लोकों के क्रम से जो विभाग किये गये हैं, वे मूल संस्कृत श्लोकों पहले §§ इस चिन्ह से दिखलाये गये हैं; और अनुवाद में ऐसे श्लोकों से आरम्भ करके पैराग्राफ शुरू किया गया है।]

पहला अध्याय – अर्जुनविषादयोग

१ संजय से धृतराष्ट्र का प्रश्न। २–११ दुर्योधन का द्रोणाचार्य से दोनों सेनाओं का वर्णन करना। १२–१९ युद्ध के आरम्भ में परस्पर सलामी के लिये शंखध्वनि। २० – २७ अर्जुन का रथ आगे आने पर सैन्यनिरीक्षण। २८–३७ दोनों सेनाओं में अपने ही बांधव हैं, इनको मारने से कुलक्षय होगा, यह सोच कर अर्जुन को विषाद हुआ। ३८–४४ कुलक्षय प्रभृति पातकों का परिणाम। ४५–४७ युद्ध न करने का अर्जुन का निश्चय और धनुर्बाणत्याग।

दूसरा अध्याय – सांख्ययोग

१–३ श्रीकृष्ण का उत्तेजन। ४–१० अर्जुन का उत्तर, कर्तव्यमूढता और धर्मनिर्णयार्थ श्रीकृष्ण के शरणापन्न होना। ११–१३ आत्मा का अशोच्यत्व। १४–१५ देह और सुखदुःख की अनित्यता। १६–२५ सदसद्विवेक और आत्मा के नित्यत्वादि स्वरूपकथन से उसके अशोच्यत्व का समर्थन। २६–२७ आत्मा के अनित्यत्व पक्ष को उत्तर। २८ सांख्यशास्त्रानुसार व्यक्त भूतों का अनित्यत्व और अशोच्यत्व। २९–३० लोगों को आत्मा दुर्ज्ञेय है सही; परन्तु तू सत्य ज्ञान को प्राप्त कर, शोक करना छोड़ दे। ३१–३८ क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता। ३९ सांख्यमार्गानुसार विषयप्रतिपादन की समाप्ति और कर्मयोग के प्रतिपादन का आरम्भ। ४० कर्मयोग का स्वल्प आचरण भी क्षेमकारक है। ४१ व्यवसायात्मक बुद्धि की स्थिरता। ४२–४४ कर्मकाण्ड के अनुयायी मीमांसकों की अस्थिर बुद्धि का वर्णन। ४५–४६ स्थिर और योगस्थ बुद्धि से कर्म करने के विषय में उपदेश। ४७ कर्मयोग की चतुःसूत्री। ४८–५० कर्मयोग का लक्षण और कर्म की अपेक्षा कर्ता की बुद्धि की श्रेष्ठता। ५१–५३ कर्मयोग से मोक्षप्राप्ति। ५४–७० अर्जुन के पूछने पर कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ के लक्षण और उसी में प्रसंगानुसार विषयासक्ति से काम आदि की उत्पत्ति का क्रम। ७१–७२ ब्राह्मी स्थिति।

तीसरा अध्याय – कर्मयोग

१ २ अर्जुन का यह प्रश्न कि कर्मों को छोड़ देना चाहिये या करते रहना चाहिये सच क्या है ? ३–८ यद्यपि सांख्य (कर्मसंन्यास) और कर्मयोग दो निष्ठायें हैं तो भी कर्म किसी से नहीं छूटते । इसलिये कर्मयोग की श्रेष्ठता सिद्ध करके अर्जुन को इसी के आचरण करने का निश्चित उपदेश । ९–१६ मीमांसकों के यज्ञार्थ कर्म को भी आसक्ति छोड़ कर करने का उपदेश यज्ञचक्र का अनादित्व और जगत् के धारणार्थ उसकी आवश्यकता । १७–१९ ज्ञानी पुरुष में स्वार्थ नहीं होता इसीलिये वह प्राप्त कर्मों को निःस्वार्थ अर्थात् निष्कामबुद्धि से किया करे । क्योंकि कर्म किसी से भी नहीं छूटते । २ –२४ जनक आदि का उदाहरण । लोकसंग्रह का महत्त्व और स्वयं भगवान् का दृष्टान्त । २५–२९ ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों में भेद । एवं यह आवश्यकता कि ज्ञानी मनुष्य निष्काम कर्म करके अज्ञानी को सदाचरण का आदर्श दिखलावे । ३ ज्ञानी पुरुष के समान परमेश्वरार्पणबुद्धि से युद्ध करने का अर्जुन को उपदेश । ३१, ३२ भगवान् के इस उपदेश के अनुसार श्रद्धापूर्वक बर्ताव करने अथवा न करने का फल । ३३ ३४ प्रकृति की प्रबलता और इन्द्रियनिग्रह । ३ निष्काम कर्म भी स्वधर्म का ही करे । उसमें यदि मृत्यु हो जाय तो कोई परवाह नहीं । ३६–४१ काम ही मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध पाप करने के लिये उकसाता है इन्द्रियसंयम से उसका नाश । ४२ ४३ इन्द्रियों की श्रेष्ठता का क्रम और आत्मज्ञानपूर्वक उनका नियमन ।

चौथा अध्याय – ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

१–३ कर्मयोग की सम्प्रदायपरम्परा । ४–८ जन्मरहित परमेश्वर माया से दिव्य जन्म अर्थात् अवतार कब और किस लिये लेता है – इसका वर्णन । ९, १ ११, १२ अन्य रीति से भजे तो वैसा फल । उदाहरणार्थ इस लोक के फल पाने के लिये देवताओं की उपासना । १३–१५ भगवान् के चातुर्वर्ण्य आदि निर्लेप कर्म उनके तत्त्व का ज्ञान लेने से कर्मबन्ध का नाश और वैसे कर्म करने के लिये उपदेश । १६–२१ कर्म अकर्म और विकर्म और विकर्म का भेद । अकर्म ही निःसङ्ग कर्म है । वही सच्चा कर्म है और उसी से कर्मबन्ध का नाश होता है । २४–३३ अनेक प्रकार के लाक्षणिक यज्ञ का वर्णन और ब्रह्मबुद्धि से किये हुए यज्ञ की अर्थात् ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता । ३४–३७ ज्ञाता से ज्ञानोपदेश ज्ञान से आत्मौपम्यदृष्टि और पापपुण्य का नाश । ३८–४ ज्ञानप्राप्ति के उपाय – बुद्धि (योग) और श्रद्धा । इसके अभाव में नाश । ४१ ४२ (कर्म) योग और ज्ञान का पृथक् उपयोग बतला कर दोनों के आश्रय से युद्ध करने के लिये उपदेश ।

पाँचवाँ अध्याय – संन्यासयोग

१ २ यह स्पष्ट प्रश्न, कि संन्यास श्रेष्ठ है या कर्मयोग ? इस पर भगवान् का यह निश्चित उत्तर कि मोक्षप्रद तो दोनों हैं। पर कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । ३–

संकल्पों का छोड़ देने से कर्मयोगी नित्य संन्यासी ही होता है और बिना कर्म के संन्यास भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये तत्त्वतः दोनों एक ही हैं। ७–१२ मन सदैव संन्यस्त रहता है और कर्म केवल इन्द्रियाँ किया करती हैं। इसलिये कर्मयोगी सदा अलिप्त, शान्त और मुक्त रहता है। १४, १५ सच्चा कर्तृत्व और भोक्तृत्व प्रकृति का है। परन्तु अज्ञान से आत्मा का अथवा परमेश्वर का समझा जाता है। १६, १७ इस अज्ञान के नाश से पुनर्जन्म से छुटकारा। १८–२३ ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होनेवाले समदर्शित्व का, स्थिर बुद्धि का और सुखदुःख की समता का वर्णन। २४–२८ सर्वभूतहितार्थ कर्म करते रहने पर भी कर्मयोगी इसी लोक में सदैव ब्रह्मभूत, समाधिस्थ और मुक्त है। २९ (कर्तृत्व अपने ऊपर न लेकर) परमेश्वर को यज्ञतप का भोक्ता और सब भूतों का मित्र जान लेने का फल।

छठवाँ अध्याय – ध्यानयोग

१, २ फलाशा छोड़ कर कर्तव्य करनेवाला ही सच्चा संन्यासी और योगी है। संन्यासी का अर्थ निरग्नि और अक्रिय नहीं है। ३, ४ कर्मयोगी की साधनावस्था में और सिद्धावस्था में शम एवं कर्म के कार्यकारण का बदल जाना तथा योगारूढ का लक्षण। ५, ६ योग की सिद्धि करने के लिये आत्मा की स्वतन्त्रता। ७–९ जितात्मा योगयुक्तों में भी समबुद्धि की श्रेष्ठता। १०–१७ योगसाधन के लिये आवश्यक आसन और आहारविहार का वर्णन। १८–२३ योगी के और योगसमाधि के आत्यन्तिक सुख का वर्णन। २४–२६ मन को धीरे धीरे समाधिस्थ, शान्त और आत्मनिष्ठ करना चाहिये। २७, २८ योगी ही ब्रह्मभूत और अत्यन्त सुखी है। २९–३२ प्राणिमात्र में योगी की आत्मौपम्यबुद्धि। ३३–३६ अभ्यास और वैराग्य से चञ्चल मन का निग्रह। ३७–४५ अर्जुन के प्रश्न करने पर इस विषय का वर्णन कि योगभ्रष्ट को अथवा जिज्ञासु को भी जन्मजन्मान्तर में उत्तम फल मिलने से अन्त में पूर्ण सिद्धि कैसे मिलती है? ४६, ४७ तपस्वी, ज्ञानी और निरे कर्मी की अपेक्षा कर्मयोगी और उसमें भी भक्तिमान कर्मयोगी – श्रेष्ठ है। अतएव अर्जुन को (कर्म) योगी होने के विषय में उपदेश।

सातवाँ अध्याय – ज्ञानविज्ञानयोग

१–३ कर्मयोग की सिद्धि के लिये ज्ञान विज्ञान के निरूपण का आरम्भ, सिद्धि के लिये प्रयत्न करनेवालों का कम मिलना। ४–७ क्षराक्षरविचार। भगवान की अष्टधा अपरा और जीवरूपी परा प्रकृति। इससे आगे सारा विस्तार। ८–१२ विस्तार के सात्त्विक आदि सब भागों में गुँथे हुए परमेश्वरस्वरूप का दिग्दर्शन। १३–१५ परमेश्वर की यही गुणमयी और दुस्तर माया है और उसी के शरणागत होने पर माया से उद्धार होता है। १६–१९ भक्त चतुर्विध हैं। इनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है। अनेक जन्मों से ज्ञान की पूर्णता और भगवत्प्राप्तिरूप नित्य फल। २०–२३ अनित्य काम्यफलों के

निमित्त देवताओं की उपासना। परन्तु इसमें भी उनकी श्रद्धा का फल भगवान् ही देते हैं। २४–२८ भगवान् का सत्यस्वरूप अव्यक्त है। परन्तु माया के कारण और द्वन्द्वमोह के कारण वह दुर्ज्ञेय है। मायामोह के नाश से स्वरूप का ज्ञान। २९, ३० ब्रह्म अध्यात्म कर्म और अधिभूत अधिदैव अधियज्ञ सब एक परमेश्वर ही है – यह ज्ञान होने से अन्त तक ज्ञानसिद्धि हो जाती है।

आठवाँ अध्याय – अक्षरब्रह्मयोग

१–४ अर्जुन के प्रश्न करने पर ब्रह्म अध्यात्म कर्म अधिभूत अधिदैव अधियज्ञ और अधिदेह की व्याख्या। इन सब में एक ही ईश्वर है। ५–८ अन्तकाल में भगवत्स्मरण से मुक्ति। परन्तु जो मन में नित्य रहता है वही अन्तकाल में भी रहता है अतएव सदैव भगवान् का स्मरण करने और युद्ध करने के लिये उपदेश। ९–१३ अन्तकाल में परमेश्वर का अर्थात् ॐकार का समाधिपूर्वक ध्यान और उसका फल। १४–१६ भगवान का नित्य चिन्तन करने से पुनर्जन्म-नाश। ब्रह्मलोकादि गतियाँ नित्य नहीं हैं। १७–१९ ब्रह्म का दिन-रात, दिन के आरम्भ में अव्यक्त से सृष्टि की उत्पत्ति और रात्रि के आरम्भ में उसी में लय। २०–२२ इस अव्यक्त से भी परे का अव्यक्त और अक्षर पुरुष। भक्ति से उसका ज्ञान। उसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म का नाश। २३–२६ देवयान और पितृयानमार्ग। पहला पुनर्जन्म नाशक है और दूसरा इसके विपरीत है। २७, २८ इन मार्गों के तत्त्व को जाननेवाले योगी को अत्युत्तम फल मिलता है। अतः तदनुसार सदा व्यवहार करने का उपदेश।

नौवाँ अध्याय – राजविद्याराजगुह्ययोग

१–३ ज्ञानविज्ञानयुक्त भक्तिमार्ग मोक्षप्रद होने पर भी प्रत्यक्ष और सुलभ है। अतएव राजमार्ग है। ४–६ परमेश्वर का अपार योगसामर्थ्य। प्राणिमात्र में रह कर भी उनमें नहीं है और प्राणिमात्र भी उनमें रह कर नहीं है। ७–१० मायात्मक प्रकृति के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति और संहार, भूतों की उत्पत्ति और लय। इतना करने पर भी वह निष्काम है। अतएव अलिप्त है। ११, १२ इसे बिना पहचाने मोह में फँस कर मनुष्यदेहधारी परमेश्वर की अवज्ञा करनेवाले मूढ़ और आसुरी हैं। १३–१५ ज्ञानयज्ञ के द्वारा अनेक प्रकार से उपासना करनेवाले दैवी हैं। १६–१९ ईश्वर सर्वत्र है, वही जगत् का माँ-बाप है, स्वामी है, पालक और भला-बुरा करनेवाला है। २०–२२ श्रौत यज्ञयाग आदि का दीर्घ उद्योग यद्यपि स्वर्गप्रद है तो भी वह फल अनित्य है। योगक्षेम के लिये यदि ये आवश्यक समझे जावें तो वह भक्ति से भी साध्य है। २३–२५ अन्यान्य देवताओं की भक्ति पर्याय से परमेश्वर की ही होती है, परन्तु जैसी भावना होगी और जैसा देवता होगा, फल भी वैसा ही मिलता है। भक्ति हो, तो परमेश्वर पत्ते-फूल की पंखुड़ी से भी सन्तुष्ट हो जाता है। २७, २८ सब कर्मों को ईश्वरार्पण करने का उपदेश। उसी द्वारा कर्मबन्ध से छुटकारा

तेरहवाँ अध्याय – क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

१, २ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की व्याख्या। इनका ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है। ३, ४ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार उपनिषदों का और ब्रह्मसूत्रों का है। ५, ६ क्षेत्रस्वरूपलक्षण। ७–११ ज्ञान का स्वरूपलक्षण। तद्विरुद्ध अज्ञान। १२–१७ ज्ञेय के स्वरूप का लक्षण। १८ इन सब को जान लेने का फल। १९–२१ प्रकृतिपुरुषविवेक। करने-धरनेवाली प्रकृति है। पुरुष अकर्ता किन्तु भोक्ता, द्रष्टा इत्यादि है। २२ पुरुष ही देह में परमात्मा है। २३ इस प्रकृतिपुरुषज्ञान से पुनर्जन्म नष्ट होता है। २४, २५ आत्मज्ञान के मार्ग – ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग और श्रद्धापूर्वक श्रवण से भक्ति। २६–२८ क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के संयोग से स्थावर जङ्गम सृष्टि। इनमें जो अविनाशी है वही परमेश्वर है। अपने प्रयत्न से उसकी प्राप्ति। २९, ३० करने-धरनेवाली प्रकृति है और आत्मा अकर्ता है। सब प्राणिमात्र एक में हैं और एक से सब प्राणिमात्र होते हैं। यह जान लेने से ब्रह्मप्राप्ति। ३१–३३ आत्मा अनादि और निर्गुण है। अतएव यद्यपि वह क्षेत्र का प्रकाशक है तथापि निर्लेप है। ३४ क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के भेद जान लेने से परम सिद्धि।

चौदहवाँ अध्याय – गुणत्रयविभागयोग

१, २ ज्ञानविज्ञानान्तर्गत प्राणिवैचित्र्य का गुणभेद से विचार। यह भी मोक्षप्रद है। ३–४ प्राणिमात्र का पिता परमेश्वर है; और उसके अधीनस्थ प्रकृति माता है। ५– प्राणिमात्र पर सत्त्व, रज और तम के होनेवाले परिणाम। १०–१३ एक एक गुण अलग नहीं रह सकता। कोई दो को दबा कर तीसरे की वृद्धि; और प्रत्येक की वृद्धि के लक्षण। १४–१८ गुणप्रवृद्धि के अनुसार कर्म के फल और मरने पर प्राप्त होनेवाली गति। १९, २० त्रिगुणातीत हो जाने से मोक्षप्राप्ति। २१–२५ अर्जुन के प्रश्न करने पर त्रिगुणातीत के लक्षण का और आचार का वर्णन। २६–२७ एकान्तभक्ति से त्रिगुणातीत अवस्था की सिद्धि और फिर सब मोक्ष के, धर्म के, एवं सुख के अन्तिम स्थान परमेश्वर की प्राप्ति।

पन्द्रहवाँ अध्याय – पुरुषोत्तमयोग

१, २ अश्वत्थरूपी ब्रह्मवृक्ष के वेदोक्त और सांख्योक्त वर्णन का मेल। ३–६ असङ्ग से इसको काट डालना ही उसके परे के अव्यक्त पद की प्राप्ति का मार्ग है। अव्यय पदवर्णन। ७–११ जीव और लिङ्गशरीर का स्वरूप एवं सम्बन्ध। ज्ञानी के लिये गोचर है। १२–१५ परमेश्वर की सर्वव्यापकता। १६–१८ क्षराक्षरलक्षण, उसके परे पुरुषोत्तम। १९–२० इस गुह्य पुरुषोत्तमज्ञान से सर्वज्ञता और कृतकृत्यता।

सोलहवाँ अध्याय – दैवासुरसम्पद्विभागयोग

१–३ दैवी सम्पत्ति के छब्बीस गुण। ४ आसुरी सम्पत्ति के लक्षण। ५ दैवी सम्पत्ति मोक्षप्रद और आसुरी बन्धनकारक है। ६–२० आसुरी लोगों का विस्तृत

बन्धन। उनको जन्म जन्म में अधोगति मिलती है। २१, २ नरक के त्रिविध द्वार – काम क्रोध और लोभ। इनसे बचने में कल्याण है। २ ४ शास्त्रानुसार कार्याकार्य का निर्णय और आचरण करने के विषय में उपदेश।

सत्रहवाँ अध्याय – श्रद्धात्रयविभागयोग

१–४ अर्जुन के पूछने पर प्रकृतिस्वभावानुरूप सात्त्विक आदि त्रिविध श्रद्धा का वर्णन। जैसी श्रद्धा वैसा पुरुष। ६ इनसे भिन्न आसुर। ७–१ सात्त्विक राजस और तामस आहार। ११–१३ त्रिविध यज्ञ। १४–१६ तप के तीन भेद – शारीर वाचिक और मानस। १७–१ इनमें सात्त्विक आदि भेद से प्रत्येक त्रिविध हैं। ०–२ सात्त्विक आदि त्रिविध दान। २३ ओं तत्सत् ब्रह्मनिर्देश। ४–२६ इनमें ॐ से आरम्भस्वरूप तत् से निष्काम और सत् से प्रशस्त कर्म का समावेश होता है। ८ शेष (अर्थात् असत्) इहलोक और परलोक में निष्फल है।

अठारहवाँ अध्याय – मोक्षसंन्यासयोग

१ २ अर्जुन के पूछने पर संन्यास और त्याग की कर्मयोगमार्गान्तर्गत व्याख्यायें। ३–६ कर्म का स्वरूपतः त्याज्य-अत्याज्यविषयक निर्णय यज्ञयाग आदि कर्मों को भी अन्यान्य कर्मों के समान निःसङ्गबुद्धि से करना ही चाहिये। ७–९ कर्मत्याग के तीन भेद – सात्त्विक, राजस और तामस। फलाशा छोड़ कर कर्तव्यकर्म करना ही सात्त्विक त्याग है। १ ११ कर्मफलत्यागी है। क्योंकि कर्म तो किसी से भी छूट ही नहीं सकता। १ कर्म का त्रिविध फल सात्त्विक त्यागी पुरुष को बन्धक नहीं होता। १३–१५ कोई भी कर्म होने के पाँच कारण हैं। केवल मनुष्य ही कारण नहीं है। १६ १७ अतएव यह अहङ्कारबुद्धि – कि मैं करता हूँ – छूट जाने से कर्म करने पर भी अलिप्त रहता है। १८ १ कर्मचोदना और कर्मसंग्रह का सांख्योक्त लक्षण और उनके तीन भेद। –२२ सात्त्विक आदि गुण भेद से ज्ञान के तीन भेद। अविभक्तं विभक्तेषु यह सात्त्विक ज्ञान है। २३– कर्म की त्रिविधता। फलाशारहित कर्म सात्त्विक है। ६–२८ कर्ता के तीन भेद। निःसङ्ग कर्ता सात्त्विक है। –३२ बुद्धि के तीन भेद। ३३–३ धृति के तीन भेद। ३६–३ सुख के तीन भेद। आत्मबुद्धिप्रसादज सात्त्विक सुख है। ४ गुणभेद से सारे जगत् के तीन भेद। ४ –४४ गुणभेद से चातुर्वर्ण्य की उपपत्ति। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के स्वभावजन्य कर्म। ४५ ४६ चातुर्वर्ण्यविहित स्वकर्माचरण से ही अन्तिम सिद्धि। ४७–४ परधर्म भयावह है। स्वकर्म सदोष होने पर भी अत्याज्य है। सारे कर्म स्वधर्म के अनुसार निःसङ्गबुद्धि के द्वारा करने से ही नैष्कर्म्यसिद्धि मिलती है। ५०–५६ इस का निरूपण कि सारे कर्म करते रहने से भी सिद्धि किस प्रकार मिलती है ५७ ५८ इसी मार्ग को स्वीकार करने के विषय में अर्जुन को उपदेश। ५ –६१ प्रकृतिधर्म के सामने अहङ्कार की एक नहीं चलती। ईश्वर की ही शरण में जाना चाहिये। अर्जुन को यह

गी० र० ३

उपदेश कि इसे पूरा समझ कर फिर जो दिल में आवे सो कर। ६४–६६ भगवान् का यह अन्तिम आश्वासन कि सब धर्म छोड़ कर मेरी शरण में आ। सब पापों से मुक्त कर दूँगा। ६७–६९ कर्मयोगमार्ग की परम्परा को आगे प्रचलित रखने का श्रेय। ७०, ७१ उसका फलमाहात्म्य। ७२, ७३ कर्तव्यमोह नष्ट हो कर अर्जुन की युद्ध करने के लिये तैयारी। ७४–७८ धृतराष्ट्र को यह कथा सुना चुकने पर संजयकृत उपसंहार।

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्याय ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

पहला अध्याय

[illegible]

सञ्जय उवाच।

§§ दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

मैदान को हल से बड़े श्रमपूर्वक जोता करता था। अतएव इसको क्षेत्र (या खेत) कहते हैं। जब इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया कि इस क्षेत्र में जो लोग तप करते करते या युद्ध में मर जावेंगे, उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। तब उसने इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया (म. भा. शल्य. ५३)। इन्द्र के इस वरदान के कारण ही यह क्षेत्र धर्मक्षेत्र या पुण्यक्षेत्र कहलाने लगा। इस मैदान के विषय में यह कथा प्रचलित है कि यहाँ पर परशुराम ने इक्कीस बार सारी पृथ्वी को निःक्षत्रिय करके पितृतर्पण किया था और अर्वाचीन काल में भी इसी क्षेत्र पर बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ हो चुकी हैं।]

सञ्जय ने कहा – (२) उस समय पाण्डवों की सेना को व्यूह रच कर (खड़ी) देख राजा दुर्योधन (द्रोण) आचार्य के पास गया और उनसे कहने लगा कि –

[महाभारत (म. भा. भी. १९. ४–७; मनु. ७. १९१) के उन अध्यायों में – कि जो गीता से पहले लिखे गये हैं – यह वर्णन है कि जब कौरवों की सेना का भीष्म द्वारा रचा हुआ व्यूह पाण्डवों ने देखा; और जब उनको अपनी सेना कम दीख पड़ी तब उन्होंने युद्धविद्या के अनुसार वज्र नामक व्यूह रचकर अपनी सेना खड़ी की। युद्ध में प्रतिदिन ये व्यूह बदला करते थे।]

(३) हे आचार्य! पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी सेना को देखिये कि जिसकी व्यूहरचना तुम्हारे बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) ने की है। (४) इसमें शूर, महाधनुर्धर और युद्ध में भीम तथा अर्जुन सरीखे युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपद, (५) धृष्टकेतु, चेकितान और वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज और नरश्रेष्ठ शैब्य, (६) इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु और वीर्यवान् उत्तमौजा

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

एवं सुभद्रा के पुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदी के (पाँच) पुत्र – ये सभी महारथी हैं।

[दस हज़ार धनुर्धारी योद्धाओं के साथ अकेले युद्ध करनेवाले को महारथी कहते हैं। दोनों ओर की सेनाओं में जो रथी, महारथी अथवा अतिरथी थे, उनका वर्णन उद्योगपर्व (१६४ से १७१ तक) में चार अध्यायों में किया गया है। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि धृष्टकेतु शिशुपाल का बेटा था। इसी प्रकार पुरुजित् कुन्तिभोज, ये दो भिन्न भिन्न पुरुषों के नाम नहीं हैं। जिस कुन्तिभोज राजा को कुन्ती गोद दी गई थी, पुरुजित् उसका औरस पुत्र था और अर्जुन का मामा था। (म. भा. उ. १७१. २)। युधामन्यु और उत्तमौजा दोनों पाञ्चाल्य थे और चेकितान एक यादव था। युधामन्यु और उत्तमौजा दोनों अर्जुन के चक्ररक्षक थे। शैब्य शिबि देश का राजा था।]

(७) हे द्विजश्रेष्ठ! अब हमारी ओर सेना के जो मुख्य मुख्य नायक हैं, उनके नाम भी मैं आपको सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनिये। (८) आप और भीष्म, कर्ण और रणजित् कृप, अश्वत्थामा और विकर्ण (दुर्योधन के सौ भाइयों में से एक) तथा सोमदत्त का पुत्र (भूरिश्रवा) (९) एवं इनके सिवा बहुतेरे अन्यान्य शूर मेरे लिये प्राण देने को तैयार हैं और सभी नाना प्रकार के शस्त्र चलाने में निपुण तथा युद्ध में प्रवीण हैं। (१०) इस प्रकार हमारी यह सेना – जिसकी रक्षा स्वयं भीष्म कर रहे हैं – अपर्याप्त अर्थात् अपरिमित या अमर्यादित है। किन्तु इन (पाण्डवों) की यह सेना – जिसकी रक्षा भीम कर रहा है – पर्याप्त अर्थात् परिमित या मर्यादित है।

[इस श्लोक में 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' शब्दों के अर्थ के विषय में मतभेद है। 'पर्याप्त' का सामान्य अर्थ 'बस' या 'काफ़ी' होता है। इसलिये कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि 'पाण्डवों की सेना काफ़ी है, और हमारी काफ़ी नहीं है'। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पहले उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र ने अपनी सेना का वर्णन करते समय उन मुख्य सेनापतियों के नाम बतला कर दुर्योधन ने

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

| कहा है कि मेरी सेना बड़ी और गुणवान है। इसलिये जीत मेरी ही होगी" (उ ४ ६ -७)। इसी प्रकार भाग चल कर भीष्मपर्व म (जिस समय द्रोणाचार्य के पास दुर्योधन फिरसे सेना का वर्णन कर रहा था उस समय भी) गीता के उपर्युक्त श्लोकों के समान ही श्लोक उसने अपने मुँह से ज्यों-के-त्यों कहे हैं (भीष्म ५१ ४-६ । और तीसरी बात यह है कि सब सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिये ही हर्षपूर्वक यह वर्णन किया गया है। इन सब बातों का विचार करने से इस स्थान पर अपर्याप्त शब्द का असमर्यादित अपार या अगणित' के सिवा और कोई अर्थ ही हो नहीं सकता। 'पर्याप्त शब्द का धात्वर्थ यहाँ ओर (परि) वेष्टन करने योग्य (आप् = प्रापणे) है। परन्तु 'अमुक काम के लिये पर्याप्त या अमुक मनुष्य के लिये पर्याप्त इस प्रकार पर्याप्त शब्द के पीछे चतुर्थी अर्थ के दूसरे शब्द जोड़ कर प्रयोग करने से 'पर्याप्त शब्द का यह अर्थ हो जाता है — उस काम के लिये या मनुष्य के लिये भरपूर अथवा समर्थ। और यदि 'पर्याप्त के पीछे कोई दूसरा शब्द न रखा जावे तो केवल 'पर्याप्त' शब्द का अर्थ होता है भरपूर, परिमित या जिसकी गिनती की जा सकती है। प्रस्तुत श्लोक में 'पर्याप्त शब्द के पीछे दूसरा शब्द नहीं है। इसलिये यहाँ पर उसका उपर्युक्त दूसरा अर्थ (परिमित या मर्यादित) विवक्षित है; और महाभारत के अतिरिक्त अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग किये जाने के उदाहरण ब्रह्मानन्दगिरि कृत टीका में दिये गये हैं। कुछ लोगों ने यह उपपत्ति बतलाई है कि दुर्योधन भय से अपनी सेना को अपर्याप्त अर्थात् कम नहीं कहता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि दुर्योधन के डर जाने का वर्णन कहीं भी नहीं मिलता। किन्तु इसके विपरीत यह वर्णन पाया जाता है कि दुर्योधन की बड़ी भारी सेना को देख कर पाण्डवों ने वज्र नामक व्यूह रचा; और कौरवों की अपार सेना को देख युधिष्ठिर को बहुत दुःख हुआ था (म भा भीष्म १ ९ और २१ १)। पाण्डवों की सेना का सेनापति धृष्टद्युम्न था। परन्तु भीम रक्षा कर रहा है कहने का कारण यह है कि पहले दिन पाण्डवों ने जो वज्र नाम का व्यूह रचा था उसकी रक्षा के लिये इस व्यूह के अग्रभाग में भीम ही नियुक्त किया गया था। अतएव सेनारक्षक की दृष्टि से दुर्योधन को यही सामने दिखाई दे रहा था। (म भा भीष्म १९ ४-११ ३३ ३४) और इसी अर्थ में इन शब्दों [illegible] के विषय में महाभारत में गीता के पहले के अध्यायों में [illegible] और भीमसेन कहा गया है ([illegible] म भा [illegible])]

(११) (सो १४) नियुक्त के अनुसार सब [illegible] सेना में — अर्थात् सेना [illegible]

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

§§ अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

फूँका। (१६) कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल और सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक, (१७) महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट तथा अजेय सात्यकि, (१८) द्रुपद और द्रौपदी के (पाँचों) बेटे, तथा महाबाहु सौभद्र (अभिमन्यु) इन सब ने, हे राजा (धृतराष्ट्र)! चारों ओर अपने अपने अलग शङ्ख बजाये। (१९) आकाश और पृथिवी को गुंजा देनेवाले उस तुमुल आवाज ने कौरवों का कलेजा फाड़ डाला।

(२०) अनन्तर कौरवों को व्यवस्था से खड़े देख, परस्पर एक दूसरे पर शस्त्रप्रहार होने का समय आने पर कपिध्वज पाण्डव अर्थात् अर्जुन (२१) हे राजा धृतराष्ट्र! श्रीकृष्ण से ये शब्द बोला — अर्जुन ने कहा :- हे अच्युत! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले चल कर खड़ा करो (२२) इतने में युद्ध की इच्छा से तैयार हुए इन लोगों को मैं अवलोकन करता हूँ, और मुझे इस रणसंग्राम में किनके साथ लड़ना है; एवं (२३) युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का कल्याण करने की

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच ।

§§ दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

नाम अस्पष्ट हो गये हैं; उनकी निरुक्ति बतलाने में इस प्रकार की कल्पनाओं का आना या मतभेद हो जाना बिलकुल सहज बात है।]

(२५) भीष्म, द्रोण तथा सब राजाओं के सामने (वे) बोले कि "अर्जुन! यहाँ एकत्रित हुए इन कौरवों को देखो!" (२६) तब अर्जुन को दिखाई दिया कि वहाँ पर इकट्ठे हुए सब (अपने ही) बड़े बूढ़े, आजा, आचार्य, मामा, भाई, बेटे, नाती, मित्र, (२७) ससुर और स्नेही दोनों ही सेनाओं में हैं। (और इस प्रकार) यह देख कर – कि ये सभी एकत्रित हमारे बान्धव हैं – कुन्तीपुत्र अर्जुन (२८) परम करुणा से व्याप्त होता हुआ खिन्न हो कर यह कहने लगा :–

अर्जुन ने कहा – हे कृष्ण! युद्ध करने की इच्छा से (यहाँ) जमा हुए इन स्वजनों को देख कर (२९) मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीर में कँपकँपी उठ कर रोएँ भी खड़े हो गये हैं; (३०) गाण्डीव (धनुष्य) हाथ से गिर पड़ता है और शरीर में भी सर्वत्र दाह हो रहा है; खड़ा नहीं रहा जाता और मेरा मन चक्कर सा खा गया है। (३१) इसी प्रकार हे केशव! (मुझे सब) लक्षण विपरीत दिखते हैं और स्वजनों को युद्ध में मार कर श्रेय अर्थात्

§§ यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

(३८) लोभ से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, उन्हें कुल के क्षय से होनेवाला दोष और मित्रद्रोह का पातक यद्यपि दिखाई नहीं देता, (३९) तथापि हे जनार्दन! कुलक्षय का दोष हमें स्पष्ट दीख पड़ रहा है। अतः इस पाप से पराङ्मुख होने की बात हमारे मन में आये बिना कैसे रहेगी?

[प्रथम से ही यह प्रत्यक्ष हो जाने पर—कि युद्ध में गुरुवध, सुहृद्वध और कुलक्षय होगा—युद्धसम्बन्धी अपने कर्तव्य के विषय में अर्जुन को जो व्यामोह हुआ, उसका क्या बीज है? गीता में आगे प्रतिपादन है उससे इसका क्या सम्बन्ध है? और उस दृष्टि से प्रथमाध्याय का कौन-सा महत्त्व है? — इन सब प्रश्नों का विचार गीतारहस्य के पहले और फिर चौदहवें प्रकरण में हमने किया है, उसे देखो। इस स्थान पर ऐसी साधारण युक्तियों का उल्लेख किया गया है, कि जैसे लोभ से बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण दुष्टों को अपनी दुष्टता जान न पड़ती हो, तो चतुर पुरुषों को दुष्टों के फन्दे में पड़ कर दुष्ट न होना चाहिये— 'न पापे प्रतिपापः स्यात्'—उन्हें चुप रहना चाहिये। इन साधारण युक्तियों का ऐसे प्रसङ्ग पर कहाँ तक उपयोग किया जा सकता है, अथवा करना चाहिये? यह भी ऊपर के समान ही एक महत्त्व का प्रश्न है। और इसका गीता के अनुसार जो उत्तर है, उसका हमने गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृष्ठ ३९३–३९८) में निरूपण किया है। गीता के अगले अध्यायों में जो विवेचन है, वह अर्जुन की उन शङ्काओं की निवृत्ति करने के लिये है कि जो उसे पहले अध्याय में हुई थीं। इस बात पर ध्यान दिये रहने से गीता का तात्पर्य समझने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। भारतीय युद्ध में एक ही राष्ट्र और धर्म के लोगों में फूट हो गई थी और वे परस्पर मरने-मारने पर उतारू हो गये थे। इसी कारण से उक्त शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं। अर्वाचीन इतिहास में जहाँ जहाँ ऐसे प्रसङ्ग आये हैं, वहाँ ऐसे ही प्रश्न उपस्थित हुए हैं। अस्तु; आगे कुलक्षय से जो जो अनर्थ होते हैं, उन्हें अर्जुन स्पष्ट कर कहता है।]

(४०) कुल का क्षय होने से सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं, (कुल-) धर्मों के

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

(४७) इस प्रकार रणभूमि में भाषण कर, शोक से व्यथितचित्त अर्जुन (हाथ का) धनुष्य-बाण त्याग कर रथ में अपने स्थान पर यों ही बैठ गया।
[रथ की पहचान के लिये प्रत्येक रथ पर एक प्रकार की विशेष ध्वजा लगी रहती थी। यह बात प्रसिद्ध है कि अर्जुन की ध्वजा पर प्रत्यक्ष हनुमान ही बैठे थे।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ।

[गीतारहस्य के पहले (पृष्ठ ३) तीसरे (पृष्ठ ६) और ग्यारहवें (पृष्ठ ३५१) प्रकरण में इस संकल्प का ऐसा अर्थ किया गया है कि गीता में केवल ब्रह्मविद्या ही नहीं है, किन्तु उसमें ब्रह्मविद्या के आधार पर कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि यह संकल्प महाभारत में नहीं है, परन्तु यह गीता पर संन्यासमार्गी टीका होने के पहले का होगा। क्योंकि, संन्यासमार्ग का कोई भी पण्डित ऐसा संकल्प न लिखेगा। और इससे यह प्रकट होता है कि गीता में संन्यासमार्ग का प्रतिपादन नहीं है। किन्तु कर्मयोग का शास्त्र समझ कर संवाद रूप से विवेचन है। संवादात्मक और शास्त्रीय पद्धति का भेद रहस्य के चौदहवें प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है।]

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

के साथ युद्ध में बाणों से कैसे लडूँगा ? (५) महात्मा गुरु लोगों को न मार कर इस लोक में भीख माँग कर पेट पालना भी श्रेयस्कर है; परन्तु अर्थलोलुप (हों तो भी) गुरु लोगों को मार कर इसी जगत् में मुझे उनके रक्त से सने हुए भोग भोगने पड़ेंगे।

[गुरु लोगों इस बहुवचनान्त शब्द से 'बड़े-बूढ़ों' का ही अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि, विद्या सिखानेवाला गुरु एक द्रोणाचार्य को छोड़ सेना में और कोई दूसरा न था। युद्ध छिड़ने के पहले जब ऐसे गुरु लोगों – अर्थात् भीष्म, द्रोण और शल्य – की पादवन्दना कर उनका आशीर्वाद लेने के लिये युधिष्ठिर रणाङ्गण में अपना कवच उतार कर नम्रता से उनके समीप गये, तब शिष्टसम्प्रदाय का उचित पालन करनेवाले युधिष्ठिर का अभिनन्दन कर सब ने इसका कारण बतलाया कि दुर्योधन की ओर से हम क्यों लड़ेंगे ?

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

सच तो यह है कि मनुष्य अर्थ का गुलाम है। अर्थ किसी का गुलाम नहीं। इसलिये हे युधिष्ठिर महाराज ! कौरवों ने मुझे अर्थ से जकड़ रखा है (म. भा. भी. अ. ४३. श्लो. ३५, ५०, ७६)। ऊपर जो यह 'अर्थलोलुप' शब्द है वह इसी श्लोक के अर्थ का द्योतक है।]

(६) हम जय प्राप्त करें या हमें (वे लोग) जीत लें – इन दोनों बातों में श्रेयस्कर कौन है, यह भी समझ नहीं पड़ता। जिन्हें मार कर फिर जीवित रहने की इच्छा नहीं, वे ही ये कौरव (युद्ध के लिये) सामने डटे हैं !

['गरीयः' शब्द से प्रकट होता है कि अर्जुन के मन में 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' के समान कर्म और अकर्म की लघुता-गुरुता ठहराने की कसौटी थी। पर वह इस बात का निर्णय नहीं कर सकता था कि उस कसौटी के अनुसार किसकी जीत होने में भलाई है ? गीतारहस्य प्र. ४ पृ. ८४–८७ देखो।]

(७) दीनता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई। (मुझे अपने) धर्म अर्थात् कर्त्तव्य का मन में मोह हो गया है। इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ। जो निश्चय से श्रेयस्कर

श्रीभगवानुवाच ।

§§ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतःपरम् ॥ १२ ॥

[संन्यासनिष्ठा की ओर ही अधिक झुकी हुई थी। अतएव उसी मार्ग के तत्त्वज्ञान से पहले अर्जुन की भूल उसे सुझा दी गई है और आगे ३९ वें श्लोक से कर्मयोग का प्रतिपादन करना भगवान् ने आरम्भ कर दिया है। सांख्यमार्गवाले पुरुष ज्ञान के पश्चात् कर्म भले ही न करते हों; पर उनका ब्रह्मज्ञान और कर्मयोग का ब्रह्मज्ञान कुछ जुदा जुदा नहीं। तब सांख्यनिष्ठा के अनुसार देखने पर भी आत्मा यदि अविनाशी और नित्य है तो फिर यह कहना व्यर्थ है कि 'मैं अमुक को कैसे मारूँ ?' इस प्रकार निश्चित उपहासपूर्वक अर्जुन से भगवान् का प्रथम कथन है।]

श्रीभगवान् ने कहा :- (११) जिनका शोक न करना चाहिये तू उन्हीं का शोक कर रहा है और ज्ञान की बातें करता है! किसी के प्राण (चाहे) जावें या (चाहे) रहें, ज्ञानी पुरुष उनका शोक नहीं करते।

[इस श्लोक में यह कहा गया है कि पण्डित लोग प्राणों के जाने या रहने का शोक नहीं करते। इसमें जाने का शोक करना तो समझमें आता है। उस न करने का उपदेश करना उचित है। पर टीकाकारों ने प्राण रहने का शोक कैसा और क्यों करना चाहिये। यह शंका करके बहुतकुछ चर्चा की है; और कई एकों ने कहा है कि मूर्ख एवं अज्ञानी लोगों का प्राण रहना यह शोक का ही कारण है। किन्तु इतनी बात की ख़ास निकाल रहने की अपेक्षा 'शोक करना' शब्द का ही 'भला या बुरा लगाना' अथवा 'परवाह करना' ऐसा व्यापक अर्थ करने से कोई भी अड़चन रह नहीं जाती। यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि ज्ञानी पुरुष को दोनों बातें एक ही सी होती हैं।]

(१२) देखो न, ऐसा तो है ही नहीं कि मैं (पहले) कभी न था। तू और ये राजा लोग (पहले) न थे। और ऐसा भी नहीं हो सकता कि हम सब लोग अब आगे न होंगे।

[इस श्लोक पर रामानुज-भाष्य में जो टीका है उसमें लिखा है :- इस श्लोक से ऐसा सिद्ध होता है कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर और 'तू एवं राजा लोग' अर्थात् अन्यान्य आत्मा, दोनों यदि पहले (अतीतकाल में) थे और आगे होनेवाले हैं, तो परमेश्वर और आत्मा दोनों ही पृथक् स्वतन्त्र और नित्य हैं। किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं है, साम्प्रदायिक आग्रह का है। क्योंकि इस

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

न करके) उनको तू सहन कर। (१५) क्योंकि, हे नरश्रेष्ठ! सुख और दुःख को समान माननेवाले जिस ज्ञानी पुरुष को उनकी व्यथा नहीं होती, वही अमृतत्व अर्थात् अमृत ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है।

[जिस पुरुष को ब्रह्मात्मैक्यज्ञान नहीं हुआ और इसीलिये जिसे नामरूपात्मक जगत् मिथ्या नहीं जान पड़ता है, वह बाह्य पदार्थों और इन्द्रियों के संयोग से होनेवाले शीत-उष्ण आदि या सुख-दुःख आदि विकारों को सत्य मान कर आत्मा में उनका अध्यारोप किया करता है और इस कारण से उसको दुःख की पीड़ा होती है। परन्तु जिसने यह जान लिया है कि ये सभी विकार प्रकृति के हैं (आत्मा अकर्ता और अलिप्त है) उसे सुख और दुःख एक ही से हैं। अब अर्जुन से भगवान् यह कहते हैं कि इस समबुद्धि से तू उनको सहन कर। और यही अर्थ अगले अध्याय में अधिक विस्तार से वर्णित है। शांकर भाष्य में 'मात्रा' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है — मीयते एभिरिति मात्राः अर्थात् जिनसे बाहरी पदार्थ मापे जाते हैं या ज्ञात होते हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। पर मात्रा का इन्द्रिय अर्थ न करके कुछ लोग ऐसा भी अर्थ करते हैं कि इन्द्रियों से मापे जानेवाले शब्द-रूप आदि बाह्य पदार्थों को मात्रा कहते हैं और उनका इन्द्रियों से जो स्पर्श अर्थात् संयोग होता है उसे मात्रा-स्पर्श कहते हैं। इसी अर्थ को हमने स्वीकृत किया है। क्योंकि, इस श्लोक के विचार गीता में आगे जहाँ पर आये हैं। (गीता ५. २१) वहाँ 'बाह्यस्पर्श' शब्द है। और 'मात्रास्पर्श' शब्द का हमारे किये हुए अर्थ के समान अर्थ करने से इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही सा हो जाता है। तथापि इस प्रकार ये दोनों शब्द मिलते जुलते हैं तो भी मात्रास्पर्श शब्द पुराना दीख पड़ता है। क्योंकि मनुस्मृति (६. ५७) में इसी अर्थ में मात्रासङ्ग शब्द आया है और बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन है कि मरने पर ज्ञानी पुरुष के आत्मा का मात्राओं से असंसर्ग (मात्राऽसंसर्ग) होता है। अर्थात् वह मुक्त हो जाता है और उसे संज्ञा नहीं रहती (बृ. भाष्य ४. ५. १४ और मु. शां. भा. १. ४. २२)। शीतोष्ण और सुखदुःख ये पद उपलक्षणात्मक हैं। इनमें राग-द्वेष, सत्-असत् और मृत्यु-अमरत्व इत्यादि परस्परविरोधी द्वन्द्वों का समावेश होता है। ये सब माया-सृष्टि के द्वन्द्व हैं। इसलिये प्रकट है कि अनित्य मायासृष्टि के इन द्वन्द्वों को शान्तिपूर्वक सह कर इन द्वन्द्वों से बुद्धि को छुड़ाये बिना ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती (गीता २. ४५ और गीतार. प्र. ९ पृ. २ और ४ - ४० देखो)। अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से इसी अर्थ को व्यक्त कर दिखलाते हैं —]

> १६ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

(१६) जो नहीं (असत्) है वह हो ही नहीं सकता और जो है (सत्) उसका अभाव नहीं होता। तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने सत् और असत् दोनों का अन्त देख लिया है – अर्थात् अन्त देख कर उनके स्वरूप का निर्णय किया है।

[इस श्लोक के 'अन्त' शब्द का अर्थ और 'राद्धान्त' 'सिद्धान्त' एवं 'कृतान्त' शब्दों (गीता १८. १३) के अन्त का अर्थ एक ही है। शाश्वतकोश (३८१) में अन्त शब्द के ये अर्थ हैं – "स्वरूपप्रान्तयोरन्तमन्तिकेऽपि प्रयुज्यते।" इस श्लोक में सत् का अर्थ ब्रह्म और असत् का अर्थ नामरूपात्मक दृश्य जगत् है (गीतार. प्र. पृष्ठ ९-२२३ और २४४ – २४७ देखो)। स्मरण रहे कि 'जो है उसका अभाव नहीं होता' इत्यादि तत्त्व देखने में यद्यपि सत्कार्यवाद के समान दीख पड़ें तो भी उनका अर्थ कुछ निराला है। जहाँ एक वस्तु से दूसरी वस्तु निर्मित होती है – उदा. बीज से वृक्ष – वहाँ सत्कार्यवाद का तत्त्व उपयुक्त होता है। प्रस्तुत श्लोक में इस प्रकार का प्रश्न नहीं है। वक्तव्य इतना ही है कि सत् अर्थात् जो है उसका अस्तित्व (भाव) और असत् अर्थात् जो नहीं है उसका अभाव, ये दोनों नित्य यानी सदैव कायम रहनेवाले हैं। इस प्रकार क्रम से दोनों के भाव-अभाव को नित्य मान लें तो आगे फिर आप ही आप कहना पड़ता है कि जो 'सत्' उसका नाश हो कर उसका 'असत्' नहीं हो जाता। परन्तु यह अनुमान और सत्कार्यवाद में पहले ही ग्रहण की हुई एक वस्तु की कार्यकारणरूप उत्पत्ति, ये दोनों एक सी नहीं हैं (गीतार. प्र. ७ पृ. १५६)। माध्वभाष्य में इस श्लोक के 'नासतो विद्यते भावः' इस पहले चरण के 'विद्यते भावः' का 'विद्यते + अभावः' ऐसा पदच्छेद है और उसका यह अर्थ किया है कि असत् यानी अव्यक्त प्रकृति का अभाव अर्थात् नाश नहीं होता। और जब कि दूसरे चरण में यह कहा है कि सत् का भी नाश नहीं होता, तब अपनी द्वैती सम्प्रदाय के अनुसार मध्वाचार्य ने इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया है कि सत् और असत् दोनों नित्य हैं। परन्तु यह अर्थ सरल नहीं है। इसमें खींचातानी है। क्योंकि स्वाभाविक रीति से दीख पड़ता है कि परस्परविरोधी असत् और सत् शब्दों के समान ही अभाव और भाव ये दो विरोधी शब्द भी इस स्थल पर प्रयुक्त हैं। एवं दूसरे चरण में अर्थात् 'नाभावो विद्यते सतः' यहाँ पर 'नाभावो' में यदि अभाव शब्द ही लेना पड़ता है तो प्रकट है कि पहले में भाव शब्द ही रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह कहने के लिये – कि असत् और सत् ये दोनों नित्य हैं – 'अभाव' और 'विद्यते' इन पदों के दो बार प्रयोग करने की कोई आवश्यकता न थी। किन्तु मध्वाचार्य के कथनानुसार यदि इस

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

[द्विरुक्ति का आक्षेप मान भी लें तो आगे अठारहवें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि व्यक्त या दृश्यसृष्टि में आनेवाले मनुष्य का शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य है। अतएव आत्मा के साथ ही साथ भगवद्गीता के अनुसार, देह को भी नित्य नहीं मान सकते। प्रकट रूप से सिद्ध होता है कि एक नित्य है और दूसरा अनित्य। पाठकों को यह दिखलाने के लिये – कि साम्प्रदायिक दृष्टि से कैसी खींचातानी की जाती है? – हमने नमूने के ढँग पर यहाँ इस श्लोक का माध्वभाष्यवाला अर्थ लिख दिया है। अस्तु जो सत् है वह कभी नष्ट होने का नहीं। अतएव सत्स्वरूपी आत्मा का शोक न करना चाहिये। और तत्त्व की दृष्टि से नामरूपात्मक देह आदि अथवा सुख-दुःख आदि विकार मूल में ही विनाशी हैं। इसलिये उनके नाश होने का शोक करना भी उचित नहीं। फलतः आरम्भ में अर्जुन से जो यह कहा है – कि जिसका शोक न करना चाहिये उसका तू शोक कर रहा है – वह सिद्ध हो गया। अब 'सत्' और 'असत्' के अर्थों का ही अगले दो श्लोकों में और भी स्पष्ट कर बतलाते हैं :–]

(१७) स्मरण रहे कि यह (जगत्) जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है वह (मूल आत्मस्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है। इस अव्यक्त तत्त्व का विनाश करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है।

[पिछले श्लोक में जिसे सत् कहा है उसी का यह वर्णन है। यह बतला दिया गया कि शरीर का स्वामी अर्थात् आत्मा ही 'नित्य' श्रेणी में आता है। अब यह बतलाते हैं कि अनित्य या असत् किसे कहना चाहिये –]

(१८) कहा है कि जो शरीर का स्वामी (आत्मा) नित्य, अविनाशी और अचिन्त्य है उसे प्राप्त होनेवाले ये शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य हैं। अतएव हे भारत! तू युद्ध कर।

[सारांश इस प्रकार नित्य अनित्य का विवेक करने से तो यह भाव ही झूठा होता है कि मैं अमुक को मारता हूँ, और युद्ध न करने के लिये अर्जुन ने जो कारण दिखलाया था वह निर्मूल हो जाता है। इसी अर्थ को अब और अधिक स्पष्ट करते हैं –]

[क्योंकि यह आत्मा नित्य और स्वयं अकर्ता है। खेल तो सब प्रकृति का ही है। कठोपनिषद् में यह और अगला श्लोक आया है (कठ. २. १८, १९)।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

[इसके अतिरिक्त महाभारत के अन्य स्थानों में भी ऐसा वर्णन है कि काल से सब ग्रस्त हुए हैं। इस काल की क्रीडा को ही यह 'मारने और मरने' की लौकिक संज्ञाएँ हैं (शां. १८)। गीता (११. ३३) में भी आगे भक्तिमार्ग की भाषा से यही तत्त्व भगवान् ने अर्जुन को फिर बतलाया है कि भीष्म-द्रोण आदि को कालस्वरूप से मैंने ही पहले मार डाला है। तू केवल निमित्त हो जा।]

(१९) (शरीर के स्वामी या आत्मा) को ही जो मारनेवाला मानता है या ऐसा समझता है कि वह मारा जाता है, उन दोनों को ही सच्चा ज्ञान नहीं है। (क्योंकि) यह (आत्मा) न तो मारता है और न मारा ही जाता है। (२०) यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है। ऐसा भी नहीं है कि यह (एक बार) हो कर फिर होने का नहीं। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। एवं शरीर का वध हो जाय तो भी मारा नहीं जाता। (२१) हे पार्थ! जिस ने जान लिया कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है, वह पुरुष किसी को कैसे मरवावेगा और किसी को कैसे मारेगा? (२२) जिस प्रकार (कोई) मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नये शरीर धारण करता है। (२३) इसे अर्थात् आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते; इसे आग जला नहीं सकती, वैसे ही इसे पानी भिगा या गला नहीं सकता और वायु सुखा भी नहीं सकती है।

[वस्त्र की यह उपमा प्रचलित है। महाभारत में एक स्थान पर, एक घर (शाला) छोड़ कर दूसरे घर में जाने का दृष्टान्त पाया जाता है (शां. १) और एक अमेरिकन ग्रन्थकार ने यही कल्पना पुस्तक में नई जिल्द बाँधने की

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥
§§ अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

[दृष्टान्त ऊपर व्यक्त की है। पिछले तेरहवें श्लोक में बाल्यपन, जवानी और बुढ़ापा इन तीन अवस्थाओं का जो न्याय उपयुक्त किया गया है, वही अब सब शरीर के विषय में किया गया है।]

(२४) (कभी भी) न कटनेवाला, न जलनेवाला, न भीगनेवाला और न सूखनेवाला यह (आत्मा) नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन अर्थात् चिरन्तन है। (   ) इस आत्मा को ही अव्यक्त (अर्थात् जो इन्द्रियों को गोचर नहीं हो सकता) अचिन्त्य (अर्थात् जो मन से भी जाना नहीं जा सकता) और अविकार्य (अर्थात् जिसे किसी भी विकार की उपाधि नहीं है) कहते हैं। इसलिये उसे (आत्मा को) इस प्रकार का समझ कर उसका शोक करना तुझे उचित नहीं है।

[यह वर्णन उपनिषदों से लिया है। यह वर्णन निर्गुण आत्मा का है, सगुण का नहीं। क्योंकि अविकार्य या अचिन्त्य विशेषण सगुण को लग नहीं सकते (गीतारहस्य प्र.   देखो)। आत्मा के विषय में वेदान्तशास्त्र का जो अन्तिम सिद्धान्त है, उसके आधार से शोक न करने के लिये यह उपपत्ति बतलाई गई है। अब कदाचित् कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे, कि हम आत्मा को नित्य नहीं समझते, इसलिये तुम्हारी उपपत्ति हमें ग्राह्य नहीं; तो इस पूर्वपक्ष का प्रथम उल्लेख करके भगवान उसका यह उत्तर देते हैं कि —]

(२६) अथवा यदि तू ऐसा मानता हो, कि यह आत्मा (नित्य नहीं, शरीर के साथ ही) सदा जन्मता या सदा मरता है, तो भी हे महाबाहु! उसका शोक करना तुझे उचित नहीं। (२७) क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मरता है उसका जन्म निश्चित है। इसलिये (इस) अपरिहार्य बात का (ऊपर उल्लिखित तेरे मत के अनुसार भी) शोक करना तुमको उचित नहीं।

[स्मरण रहे, कि ऊपर के दो श्लोकों में बतलाई हुई उपपत्ति सिद्धान्तपक्ष की नहीं है। यह "अथ च = अथवा" शब्द से बीच में ही उपस्थित किये हुए

§§ अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

§§ आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

पूर्वपक्ष का उत्तर है। आत्मा को नित्य मानो चाहे अनित्य, दिखलाना इतना ही है कि दोनों ही पक्षों में शोक करने का प्रयोजन नहीं है। गीता का यह सच्चा सिद्धान्त पहले ही बतला चुके हैं कि आत्मा सत्, नित्य, अज, अविकार्य और अचिन्त्य या निर्गुण है। अस्तु; देह अनित्य है, अतएव शोक करना उचित नहीं। इसी को सांख्यशास्त्र के अनुसार दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं –]

(२८) सब भूत आरम्भ में अव्यक्त, मध्य में व्यक्त और मरणसमय में फिर अव्यक्त होते हैं। (ऐसी यदि सभी की स्थिति है) तो भारत! उसमें शोक किस बात का?

['अव्यक्त' शब्द का ही अर्थ है – 'इन्द्रियों को गोचर न होनेवाला'। मूल एक अव्यक्त द्रव्य से ही आगे क्रम क्रम से समस्त व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है और अन्त में अर्थात् प्रलयकाल में सब व्यक्त सृष्टि का फिर अव्यक्त में ही लय हो जाता है (गीता ८. १८); इस सांख्यसिद्धान्त का अनुसरण कर, इस श्लोक की दलीलें हैं। सांख्यमतवालों के इस सिद्धान्त का खुलासा गीतारहस्य के सातवें और आठवें प्रकरण में किया गया है। किसी भी पदार्थ की व्यक्त स्थिति यदि इस प्रकार कभी न कभी नष्ट होनेवाली है, तो जो व्यक्त स्वरूप निसर्ग से ही नाशवान् है, उसके विषय में शोक करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। यही श्लोक 'अव्यक्त' के बदले 'अभाव' शब्द से संयुक्त हो कर महाभारत के स्त्रीपर्व (म. भा. स्त्री. २.६) में आया है। आगे "अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः। न ते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना॥" (स्त्री. २.१३) इस श्लोक में 'अदर्शन' अर्थात् 'नजर से दूर हो जाना' इस शब्द का भी मृत्यु को उद्देश कर उपयोग किया गया है। सांख्य और वेदान्त दोनों शास्त्रों के अनुसार शोक करना यदि व्यर्थ सिद्ध होता है और आत्मा को अनित्य मानने से भी यदि यही बात सिद्ध होती है, तो फिर लोग मृत्यु के विषय में शोक क्यों करते हैं? आत्मस्वरूप-सम्बन्धी अज्ञान ही इसका उत्तर है। क्योंकि –]

(२९) मानो कोई तो आश्चर्य (अद्भुत वस्तु) समझ कर इसकी ओर देखते हैं, कोई आश्चर्य सरीखा इसका वर्णन करता है, और कोई मानो आश्चर्य समझ कर सुनता है। परन्तु (इस प्रकार देख कर, वर्णन कर और) सुन कर भी (इनमें) कोई इसे (तत्त्वतः) नहीं जानता है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

[अपूर्व वस्तु समझ कर बड़े-बड़े लोग आश्चर्य से आत्मा के विषय में कितना ही विचार क्यों न किया करें, पर उसके सच्चे स्वरूप को जाननेवाले लोग बहुत ही थोड़े हैं। इसीसे बहुतेरे लोग मृत्यु के विषय में शोक किया करते हैं। इससे तू ऐसा न करके, पूर्ण विचार से आत्मस्वरूप को यथार्थ रीति पर समझ ले और शोक करना छोड़ दे। इसका यही अर्थ है। कठोपनिषद् (२. ७) में आत्मा का वर्णन इसी ढँग का है।]

(३०) सब के शरीर में (रहनेवाला) शरीर का स्वामी (आत्मा) सर्वदा अवध्य अर्थात् कभी भी वध न किया जानेवाला है। अतएव हे भारत (अर्जुन) ! सब अर्थात् किसी भी प्राणी के विषय में शोक करना तुझे उचित नहीं है।

[अब तक यह सिद्ध किया गया कि सांख्य या संन्यासमार्ग के तत्त्वज्ञानानुसार आत्मा अमर है और देह तो स्वभाव से ही अनित्य है। इस कारण कोई मरे या मारे, उसमें 'शोक' करने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि कोई इससे यह अनुमान कर ले कि कोई किसी को मारे तो इसमें भी 'पाप' नहीं, तो वह भयङ्कर भूल होगी। मरना या मारना इन दो शब्दों के अर्थों का यह पृथक्करण है; मरने या मारने में जो डर लगता है उसे पहले दूर करनेके लिये ही यह ज्ञान बतलाया है। मनुष्य तो आत्मा और देह का समुच्चय है। इसमें आत्मा अमर है इसलिये मरना या मारना ये दोनों शब्द उसे उपयुक्त नहीं होते। बाकी रह गई देह, वह तो स्वभाव से ही अनित्य है। यदि उसका नाश हो जाय, तो शोक करने योग्य कुछ है नहीं। परन्तु यदृच्छा या काल की गति से कोई मर जाय, या किसी को कोई मार डाले, तो उसका सुख-दुःख न मान कर शोक करना छोड़ दें, तो भी इस प्रश्न का निपटारा हो नहीं पाता कि युद्ध जैसा घोर कर्म करने के लिये जानबूझ कर, प्रवृत्त हो कर लोगों के शरीरों का नाश हम क्यों करें। क्योंकि देह यद्यपि अनित्य है तथापि आत्मा का पक्का कल्याण या मोक्ष सम्पादन कर लेने के लिये देह ही तो एक साधन है। अथवा बिना योग्य कारण के किसी दूसरे को मार डालना यह लेना शास्त्रानुसार घोर पातक ही है। इसलिये मरे हुए का शोक करना यद्यपि उचित नहीं है, तो भी इसका कुछ-न-कुछ प्रबल कारण बतलाना आवश्यक है कि एक दूसरे को क्यों मारें। इसी का नाम धर्माधर्म-विवेक है और गीता का वास्तविक प्रतिपाद्य विषय भी यही है। अब जो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सांख्यमार्ग को ही सम्मत है, उसके अनुसार भी युद्ध करना क्षत्रियों का कर्तव्य है; इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू मरने मारने का शोक मत कर। इतना ही नहीं

§§ स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

[बल्कि व्यवहार में मरना या मार डालना ये दोनों बातें क्षत्रियधर्मानुसार युद्ध में आवश्यक ही हैं –]

(३१) इसके सिवा स्वधर्म की ओर देखें तो भी (इस समय) हिम्मत हारना तुझे उचित नहीं है। क्योंकि धर्मोचित युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय को श्रेयस्कर और कुछ है ही नहीं।

[स्वधर्म की यह उपपत्ति आगे भी दो बार (गीता ३. ३५ और १८. ४७) बतलाई गई है। संन्यास अथवा सांख्य मार्ग के अनुसार यद्यपि कर्मसंन्यासरूपी चतुर्थ आश्रम अन्त की सीढ़ी है, तो भी मनु आदि स्मृतिकारों का कथन है कि इसके पहले चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण को ब्राह्मणधर्म और क्षत्रिय को क्षत्रियधर्म का पालन कर गृहस्थाश्रम पूरा करना चाहिये। अतएव इस श्लोक का और आगे के श्लोक का तात्पर्य यह है कि गृहस्थाश्रमी अर्जुन को युद्ध करना आवश्यक है।]

(३२) और हे पार्थ! यह युद्ध आप ही आप खुला हुआ स्वर्ग का द्वार ही है। ऐसा युद्ध भाग्यवान क्षत्रियों ही को मिला करता है। (३३) अतएव यदि तू (अपने) धर्म के अनुकूल यह युद्ध न करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति खो कर पाप बटोरेगा। (३४) यही नहीं, बल्कि (सब) लोग तेरी अक्षय्य दुष्कीर्ति गाते रहेंगे। और अपयश तो सम्भावित पुरुष के लिये मृत्यु से भी बढ़ कर है।

[श्रीकृष्ण ने यही तत्त्व उद्योगपर्व में युधिष्ठिर को भी बतलाया है (म. भा. उ. ७२. २४)। वहाँ यह श्लोक है – "कुलीनस्य च या निन्दा वधो वाऽमित्रकर्षण। महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका॥" परन्तु गीता में इसकी अपेक्षा यह अर्थ संक्षेप में है, और गीताग्रन्थ का प्रचार भी अधिक है। इस कारण गीता के 'सम्भावितस्य' इत्यादि वाक्य का कहावत का सा उपयोग होने लगा है। गीता के और बहुतेरे श्लोक भी इसी के समान सर्वसाधारण लोगों में प्रचलित हो गये हैं। अब दुष्कीर्ति का स्वरूप बतलाते हैं –]

> भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
> येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
>
> अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
> निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
>
> हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
> तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥
>
> सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
> ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

(३५) (सब) महारथी समझेंगे कि तू डर कर रण से भाग गया; और जिन्हें (आज) तू बहुमान्य हो रहा है, वे ही तेरी योग्यता कम समझने लगेंगे। (३६) ऐसे ही तेरे सामर्थ्य की निन्दा कर, तेरे शत्रु तुझे ऐसी अनेक बातें (तेरे विषय में) कहेंगे जो न कहनी चाहियें। इससे अधिक दुःखकारक और है ही क्या? (३७) मर गया तो स्वर्ग को जावेगा और जीत गया तो पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा। इसलिये हे अर्जुन! युद्ध का निश्चय करके उठ।

[उल्लिखित विवेचन से न केवल यही सिद्ध हुआ कि सांख्य ज्ञान के अनुसार मरने मारने का शोक न करना चाहिये, प्रत्युत यह भी सिद्ध हो गया कि स्वधर्म के अनुसार युद्ध करना ही कर्तव्य है। तो भी अब इस शंका का उत्तर दिया जाता है कि लड़ाई में होनेवाली हत्या का 'पाप' कर्ता को लगता है या नहीं। वास्तव में इस उत्तर की युक्तियाँ कर्मयोगमार्ग की हैं। इसलिये उस मार्ग की प्रस्तावना यहीं हुई है।]

(३८) सुख-दुःख, नफा-नुकसान और जय-पराजय को एक सा मान कर फिर युद्ध में लग जा। ऐसा करने से तुझे (कोई भी) पाप लगने का नहीं।

[संसार में आयु बिताने के दो मार्ग हैं — एक सांख्य और दूसरा योग। इनमें जिस सांख्य अथवा संन्यास मार्ग के आचार को ध्यान में ला कर अर्जुन युद्ध छोड़ भिक्षा माँगने के लिये तैयार हुआ था, उस संन्यासमार्ग के तत्त्वज्ञानानुसार ही आत्मा का या देह का शोक करना उचित नहीं है। भगवान् ने अर्जुन को सिद्ध कर दिखलाया है कि सुख और दुःखों को समबुद्धि से सह लेना चाहिये। एवं स्वधर्म की ओर ध्यान दे कर युद्ध करना ही क्षत्रिय को उचित है, तथा सम-बुद्धि से युद्ध करने में कोई भी पाप नहीं लगता। परन्तु इस मार्ग (सांख्य) का मत है कि कभी न कभी संसार छोड़ कर संन्यास ले लेना ही प्रत्येक मनुष्य का इस जगत् में परम कर्तव्य है। इसलिये इष्ट जान पड़े तो अभी ही युद्ध छोड़ कर

§§ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

[इस सिद्धान्त का महत्त्व गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृष्ठ २८६) में दिखलाया गया है और अधिक खुलासा आगे गीता में भी किया गया है (गीता ६. ४०–४६)। इसका यह अर्थ है कि कर्मयोगमार्ग में यदि एक जन्म में सिद्धि न मिले, तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जा कर अगले जन्म में उपयोगी होता है और प्रत्येक जन्म में इसकी बढ़ती होती है एवं अन्त में कभी-न-कभी सच्ची सद्गति मिलती ही है। अब कर्मयोगमार्ग का दूसरा महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्त बतलाते हैं –]

(४१) हे कुरुनन्दन! इस मार्ग में व्यवसाय-बुद्धि अर्थात् कार्य और अकार्य का निश्चय करनेवाली (इन्द्रियरूपी) बुद्धि एक अर्थात् एकाग्र रखनी पड़ती है; क्योंकि जिनकी बुद्धि का (इस प्रकार एक) निश्चय नहीं होता, उनकी बुद्धि अर्थात् वासनाएँ अनेक शाखाओं से युक्त और अनन्त (प्रकार की) होती हैं।

[संस्कृत में बुद्धि शब्द के अनेक अर्थ हैं। ३९ वें श्लोक में यह शब्द ज्ञान के अर्थ में आया है और आगे ४९ वें श्लोक में इस 'बुद्धि' शब्द का ही 'समझ, इच्छा, वासना या हेतु' अर्थ है। परन्तु बुद्धि शब्द के पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण है। इसलिये इस श्लोक के पूर्वार्ध में उसी शब्द का अर्थ यों होता है। व्यवसाय अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि-इन्द्रिय (गीतार. प्र. ६ पृष्ठ ११४–११९ देखो)। पहले इस बुद्धि-इन्द्रिय से किसी भी बात का भला-बुरा विचार कर लेने पर फिर तदनुसार कर्म करने की इच्छा या वासना मन में हुआ करती है। अतएव इस इच्छा या वासना को भी बुद्धि ही कहते हैं; परन्तु उस समय 'व्यवसायात्मिका' यह विशेषण उसके पीछे नहीं लगाते। भेद दिखलाना ही आवश्यक हो, तो 'वासनात्मक' बुद्धि कहते हैं। इस श्लोक के दूसरे चरण में सिर्फ 'बुद्धि' शब्द है, उसके पीछे 'व्यवसायात्मक' यह विशेषण नहीं है। इसलिये बहुवचनान्त 'बुद्धयः' से 'वासना, कल्पना-तरंग' अर्थ होकर पूरे श्लोक का यह अर्थ होता है, कि जिसकी व्यवसायात्मक बुद्धि अर्थात् निश्चय करनेवाली बुद्धि-इन्द्रिय स्थिर नहीं होती, उसके मन में क्षण-क्षण में नई तरंगें या वासनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं। 'बुद्धि' शब्द के 'निश्चय करनेवाली इन्द्रिय' और 'वासना' इन दोनों अर्थों को ध्यान में रखे बिना कर्मयोग की बुद्धि के विवेचन का मर्म भली भाँति समझ में आने का नहीं। व्यवसायात्मक बुद्धि के स्थिर या एकाग्र न रहने से प्रतिदिन भिन्न भिन्न वासनाओं से मन व्यग्र हो जाता है और मनुष्य ऐसी अनेक झंझटों में पड़ जाता है कि आज पुत्रप्राप्ति के लिये अमुक कर्म करो, तो कल स्वर्ग की प्राप्ति के लिये अमुक कर्म करो। बस, अब इसी का वर्णन करते हैं:–]

§§ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

(४२) हे पार्थ ! (कर्मकाण्डात्मक) वेदों के (फलश्रुति युक्त) वाक्यों में भूले हुए और यह कहनेवाले मूढ़ लोग – कि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है – बढ़ा कर कहा करते हैं कि – (४३) अनेक प्रकार के (यज्ञ-याग आदि) कर्मों से ही (फिर) जन्मरूप फल मिलता है और (जन्म-जन्मान्तर में) भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है – स्वर्ग के पीछे पड़े हुए वे काम्य-बुद्धिवाले (मूढ़) (४४) उल्लिखित भाषण की ओर ही उनके मन आकर्षित हो जाने से भोग और ऐश्वर्य में ही गर्क रहते हैं। इस कारण उनकी व्यवसायात्मक अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि (कभी भी) समाधिस्थ अर्थात् एक स्थान में स्थिर नहीं रह सकती।

[ऊपर के तीनों श्लोकों को मिला कर एक वाक्य है। इसमें उन ज्ञानविरहित कोरे मीमांसामार्गवालों का वर्णन है, जो श्रौत-स्मार्त कर्मकाण्ड के अनुसार आज अमुक हेतु की सिद्धि के लिये, तो कल और किसी हेतु से सदैव स्वार्थ के लिये ही यज्ञ-याग आदि कर्म करने में निमग्न रहते हैं। यह वर्णन उपनिषदों के आधार पर किया गया है। उदाहरणार्थ, मुण्डकोपनिषद् में कहा है –

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

"इष्टापूर्त ही श्रेष्ठ है, दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं, यह माननेवाले मूढ़ लोग स्वर्ग में पुण्य का उपभोग कर चुकने पर फिर नीचे के इस मनुष्यलोक में आते हैं" (मुं. [illegible])। ज्ञानविरहित कर्मों की [illegible] निन्दा [illegible] उपनिषदों में भी की गई है ([illegible])। परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त न करके केवल कर्मों में ही फँसे रहनेवाले इन लोगों को ([illegible]) अपने अपने कर्मों के भोग आदि फल मिलते तो हैं, पर उनकी वासना आज एक कर्म में तो कल किसी दूसरे ही कर्म में रत होकर चारों ओर घुड़दौड़ सी मचाये रहती है। इस कारण उन्हें स्वर्ग का आवागमन नहीं [illegible] नहीं मिलता। मोक्ष की प्राप्ति के लिये बुद्धि [illegible] स्थिर या एकाग्र रखना चाहिये। आगे इस अध्याय में विस्तार किया गया है कि इसके [illegible] किस प्रकार करना चाहिये। अभी तो इतना ही कहते हैं कि –]

§§ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

(४५) हे अर्जुन ! (कर्मकाण्डात्मक) वेद (इस रीति से) त्रैगुण्य की बातों से भरे पड़े हैं। इसलिये तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणों से अतीत, नित्यसत्त्वस्थ और सुखदुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त हो। एवं योगक्षेम आदि स्वार्थों में न पड़ कर आत्मनिष्ठ हो।

[सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से मिश्रित प्रकृति की सृष्टि को त्रैगुण्य कहते हैं। सृष्टि, सुख दुःख आदि अथवा जन्म-मरण आदि विनाशवान द्वन्द्वों से भरी हुई है और सत्य ब्रह्म उसके परे है। यह बात गीतारहस्य (२११–२१७) में स्पष्ट कर दिखलाई गई है। इसी अध्याय के ४२ वें श्लोक में कहा है कि प्रकृति के अर्थात् माया के इस संसार के सुखों की प्राप्ति के लिये मीमांसक-मार्गवाले श्रौत यज्ञ-याग आदि किया करते हैं और वे इन्हीं में निमग्न रहा करते हैं। कोई पुत्र प्राप्ति के लिये एक विशेष यज्ञ करता है, तो कोई पानी बरसाने के लिये दूसरी इष्टि करता है। ये सब कर्म इस लोक में संसारी व्यवहारों के लिये अर्थात् अपने योगक्षेम के लिये हैं। अतएव प्रकट ही है कि जिसे मोक्ष प्राप्त करना हो, वह वैदिक कर्मकाण्ड के इन त्रिगुणात्मक और निरे योगक्षेम सम्पादन करनेवाले कर्मों को छोड़ कर अपना चित्त इसके परे परब्रह्म की ओर लगावे। इसी अर्थ में 'निर्द्वन्द्व' और 'निर्योगक्षेमवान्' – शब्द ऊपर आये हैं। यहाँ ऐसी शङ्का हो सकती है, कि वैदिक कर्मकाण्ड के इन काम्य कर्मों को छोड़ देने से योग-क्षेम (निर्वाह) कैसे होगा (गी. र. पृष्ठ २९१–२९२ देखो)? किन्तु इसका उत्तर यहाँ नहीं दिया। यह विषय आगे फिर नौवें अध्याय में आया है। वहाँ कहा है कि इस योग-क्षेम को भगवान् करते हैं; और इन्हीं दो स्थानों पर गीता में 'योग क्षेम' शब्द आया है (गीता ९. २२ और उसपर हमारी टिप्पणी देखो)। नित्यसत्त्वस्थ पद का ही अर्थ त्रिगुणातीत होता है। क्योंकि आगे कहा है कि सत्त्वगुण के नित्य उत्कर्ष से ही फिर आगे त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है जो कि सच्ची सिद्धावस्था है (गीता १४. १४ और २०; गी. र. पृष्ठ १६६–१६७ देखो)। तात्पर्य यह है कि मीमांसकों के योग्य-क्षेमकारक त्रिगुणात्मक काम्य कर्म छोड़ कर एवं सुख-दुःख के द्वन्द्वों से निपट कर ब्रह्मनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ होने के विषय में यहाँ उपदेश किया गया है। किन्तु इस बात पर फिर भी ध्यान देना चाहिये कि आत्मनिष्ठ होने का अर्थ सब कर्मों को स्वरूपतः एकदम छोड़ देना नहीं है। ऊपर के श्लोक में वैदिक काम्य कर्मों की जो निन्दा की गई है, या जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह कर्मों की नहीं, बल्कि उन कर्मों के विषय में जो काम्यबुद्धि होती है उस की है। यदि यह काम्यबुद्धि मन में न हो, तो निरे

और पानी ही पानी होने पर (पीने के लिये कहीं भी बिना प्रयत्न के यथेष्ट पानी मिलने लगने पर) जिस प्रकार कुएँ को कोई भी नहीं पूछता उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त पुरुष को यज्ञ याग आदि केवल वैदिक कर्म का कुछ भी उपयोग नहीं रहता।' क्योंकि, वैदिक कर्म केवल स्वर्ग प्राप्ति के लिये ही नहीं बल्कि अन्त में मोक्षसाधक ज्ञान प्राप्ति के लिये करना होता है और इस पुरुष को तो ज्ञान-प्राप्ति पहले ही हो जाती है। इस कारण इसे वैदिक कर्म करके कोई नई वस्तु पाने के लिये शेष रह नहीं जाती। इसी हेतु से आगे तीसरे अध्याय (३. १७) में कहा है कि जो ज्ञानी हो गया उसे इस जगत् में कर्तव्य शेष नहीं रहता। बड़े भारी तालाब या नदी पर अनायास ही जितना चाहिये उतना पानी पीने की सुविधा होने पर कुएँ की ओर कौन झाँकेगा? ऐसे समय कोई कुएँ की अपेक्षा नहीं रखता। सनत्सुजातीय के अन्तिम अध्याय (म. भा. उद्योग. ४५. २६) में यही श्लोक कुछ थोड़े-से शब्दों के हेरफेर से आया है। माधवाचार्य ने इसकी टीका में वैसा ही अर्थ किया है जैसा कि हमने ऊपर किया है। एवं शुकानुप्रश्न में ज्ञान और कर्म के तारतम्य का विवेचन करते समय साफ़ कह दिया है – "न ते (ज्ञानिनः) कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव" – अर्थात् नदी पर जिसे पानी मिलता है वह जिस प्रकार कुएँ की परवाह नहीं करता उसी प्रकार 'ते' अर्थात् ज्ञानी पुरुष कर्म की कुछ परवाह नहीं करते (म. भा. शां. २४०. १०)। ऐसे ही पाण्डवगीता के सत्रहवें श्लोक में कुएँ का दृष्टान्त यों दिया है – जो वासुदेव को छोड़ कर दूसरे देवता की उपासना करता है वह – "तृषितो जाह्नवी-तीरे कूपं वाञ्छति दुर्मतिः" – भागीरथी के किनारे पानी मिलने पर भी कुएँ की इच्छा करनेवाले प्यासे पुरुष के समान मूर्ख है। यह दृष्टान्त केवल वैदिक ग्रन्थों में ही नहीं है प्रत्युत पाली के बौद्ध ग्रन्थों में भी इसके प्रयोग हैं। यह सिद्धान्त बौद्धधर्म को भी मान्य है कि जिस पुरुष ने अपनी तृष्णा समूल नष्ट कर डाली हो उसे आगे और कुछ प्राप्त करने के लिये नहीं रह जाता और इस सिद्धान्त को बतलाते हुए उदान नामक पाली ग्रन्थ के (७. ९) इस श्लोक में यह दृष्टान्त दिया है – "किं कयिरा उदपानेन आपा चे सब्बदा सियुम्" – सर्वदा पानी मिलने योग्य हो जाने से कुएँ को लेकर क्या करना है? आजकल बड़े-बड़े शहरों में यह देखा ही जाता है कि घर में नल हो जाने से फिर कोई कुएँ की परवाह नहीं करता। इससे और विशेष कर शुकानुप्रश्न के विवेचन से गीता के दृष्टान्त का स्वारस्य ज्ञात हो जायगा और यह दीख पड़ेगा कि हमने इस श्लोक का ऊपर जो अर्थ किया है वही सरल और ठीक है। परन्तु, चाहे इस कारण से हो कि ऐसे अर्थ से वेदों को कुछ गौणता आ जाती है; अथवा इस साम्प्रदायिक सिद्धान्त की ओर दृष्टि देने से हो कि ज्ञान में ही समस्त कर्मों का समावेश रहने के कारण ज्ञानी को कर्म करने की जरूरत नहीं। गीता के

§§ योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

[कि कर्म का फल कर्म से ही संयुक्त होने के कारण जिसका पेड़ उसी का फल इस न्याय से जो कर्म करने का अधिकारी है वही फल का भी अधिकारी होगा। अतएव इस शङ्का को दूर करने के निमित्त दूसरे चरण में साफ़ कह दिया है कि फल में तेरा अधिकार नहीं है। फिर इससे निष्पन्न होनेवाला तीसरा यह सिद्धान्त बतलाया है कि मन में फलाशा रख कर कर्म करनेवाला मत हो। ('कर्मफलहेतु' = कर्मफले हेतुर्यस्य स कर्मफलहेतुः ऐसा बहुव्रीहि समास होता है।) परन्तु कर्म और उसका फल दोनों संलग्न होते हैं। इस कारण यदि कोई ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन करने लगे कि फलाशा के साथ फल को भी छोड़ ही देना चाहिये। तो इसे भी सच मानने के लिये अन्त में साफ़ उपदेश किया है कि फलाशा को तो छोड़ दे पर इसके साथ ही कर्म न करने का अर्थात् कर्म छोड़ने का आग्रह न कर। सारांश कर्म कर कहने से कुछ यह अर्थ नहीं होता कि फल की आशा को रख और फल की आशा को छोड़ कहने से यह अर्थ नहीं हो जाता कि कर्मों को छोड़ दे। अतएव इस श्लोक का यह अर्थ है कि फलाशा छोड़ कर कर्तव्यकर्म अवश्य करना चाहिये किन्तु न तो कर्म की आसक्ति में फँसे और न कर्म ही छोड़े — त्यागो न युक्त इह कर्मसु नापि रागः (योग ५ ५४)। और यह दिखला कर कि फल मिलने की बात अपने वश में नहीं है किन्तु उसके लिये और अनेक बातों की अनुकूलता आवश्यक है। अठारहवें अध्याय में फिर यही अर्थ और भी दृढ़ किया गया है (१८ १४-१६ और रहस्य प्र ५ पृ ११५ एवं प्र १२ देखो)। अब कर्मयोग का स्पष्ट लक्षण बतलाते हैं कि इसे ही योग अथवा कर्मयोग कहते हैं —]

(४८) हे धनंजय! आसक्ति छोड़ कर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि दोनों को समान ही मान कर, 'योगस्थ' हो करके कर्म कर। (कर्म के सिद्ध होने या निष्फल होने में रहनेवाली) समता की (मनो) वृत्ति को ही (कर्म) योग कहते हैं। (४९) क्योंकि, हे धनंजय! बुद्धि के (साम्य) योग की अपेक्षा (बाह्य) कर्म बहुत ही कनिष्ठ है। अतएव इस (साम्य) बुद्धि की शरण में जा। फलहेतुक अर्थात् फल पर दृष्टि रख कर कर्म करने वाले लोग कृपण अर्थात् दीन या निचले दर्जे

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

के है। (५०) जो (साम्य) बुद्धि से युक्त हो जावे, वह इस लोक में पाप और पुण्य से अलिप्त रहता है। अतएव योग का आश्रय कर। (पाप-पुण्य से बच कर) कर्म करने की चतुराई (कुशलता या युक्ति) को ही (कर्मयोग) कहते हैं।

[इन श्लोकों में कर्मयोग का जो लक्षण बतलाया है, वह महत्त्व का है। इस सम्बन्ध में गीता-रहस्य के तीसरे प्रकरण (पृष्ठ ५६–६४) में जो विवेचन किया गया है, उसे देखो। इसमें भी कर्मयोग का तत्त्व – कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है – ४९ वें श्लोक में बतलाया है, वह अत्यन्त महत्त्व का है। 'बुद्धि' शब्द के पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण नहीं है। इसलिये इस श्लोक में उसका अर्थ 'वासना' या 'समझ' होना चाहिये। कुछ लोग बुद्धि का अर्थ 'ज्ञान' करके इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया चाहते हैं, कि ज्ञान की अपेक्षा कर्म हलके दर्जे का है; परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि, पीछे ४८ वें श्लोक में समत्व का लक्षण बतलाया है, और ४९ वें तथा अगले श्लोक में भी वही वर्णित है। इस कारण यहाँ बुद्धि का अर्थ समत्वबुद्धि ही करना चाहिये। किसी भी कर्म की भलाई बुराई कर्म पर अवलम्बित नहीं होती। कर्म एक ही क्यों न हो, पर करनेवाले की भली या बुरी बुद्धि के अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ हुआ करता है। अतः कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है। इत्यादि नीति के तत्त्वों का विचार गीतारहस्य के चौथे, बारहवें और पन्द्रहवें प्रकरण में (पृष्ठ ८८, ३८६–३८८ और ४८०–४८४) किया गया है। इस कारण यहाँ और अधिक चर्चा नहीं करते। ४१ वें श्लोक में बतलाया ही है, कि वासनात्मक बुद्धि को सम और शुद्ध रखने के लिये कार्य-अकार्य का निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मक बुद्धि पहले ही स्थिर हो जानी चाहिये। इसलिये 'साम्यबुद्धि' इस शब्द से ही स्थिर व्यवसायात्मक बुद्धि और शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि) इन दोनों का बोध हो जाता है। यह साम्यबुद्धि ही आचरण अथवा कर्मयोग की जड़ है। इसलिये ३९ वें श्लोक में भगवान् ने पहले जो यह कहा है, कि कर्म करके भी कर्म की बाधा न लगनेवाली युक्ति अथवा योग तुझे बतलाता हूँ, उसी के अनुसार इस श्लोक में कहा है, कि कर्म करते समय बुद्धि को स्थिर, पवित्र, सम और शुद्ध रखना ही वह 'युक्ति' या 'कौशल' है, और इसी को 'योग' कहते हैं। इस प्रकार योग शब्द की दो बार व्याख्या की गई है। ५० वें श्लोक के 'योगः कर्मसु कौशलम्' इस पद का इस प्रकार सरल अर्थ लगाने पर भी, कुछ लोगों ने ऐसी खींचातानी से अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है, कि 'कर्मसु योगः कौशलम्' – कर्म में जो योग है, उसको कौशल कहते हैं। पर 'कौशल' शब्द की व्याख्या करने का

§§ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। 'योग' शब्द का लक्षण बतलाना ही अभीष्ट है। इसलिये यह अर्थ सच्चा नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त जब कि 'कर्मसु कौशलम्' ऐसा सरल अन्वय लग सकता है, तब 'कर्मसु योगः' ऐसा औंधा-सीधा अन्वय करना ठीक भी नहीं है। अब बतलाते हैं कि इस प्रकार साम्यबुद्धि से समस्त कर्म करते रहने से व्यवहार का लोप नहीं होता और पूर्ण सिद्धि अथवा मोक्ष प्राप्त हुए बिना नहीं रहता —]

(५१) (समत्व) बुद्धि से युक्त (जो) ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करते हैं वे जन्म के बन्ध से मुक्त होकर (परमेश्वर के) दुःखविरहित पद को जा पहुँचते हैं। (५२) जब तेरी बुद्धि मोह के गँदले आवरण से पार हो जायगी तब उन बातों से तू विरक्त हो जायगा जो सुनी हैं और सुनने की हैं।

[अर्थात् तुझे कुछ अधिक सुनने की इच्छा न होगी। क्योंकि इन बातों के सुनने से मिलनेवाला फल तुझे पहले ही प्राप्त हो चुका होगा। 'निर्वेद' शब्द का उपयोग प्रायः संसारी प्रपञ्च से उकताहट या वैराग्य के लिये किया जाता है। इस श्लोक में उसका सामान्य अर्थ 'ऊब जाना' या 'चाह न रहना' ही है। अगले श्लोक से दीख पड़ेगा कि यह उकताहट विशेष करके पीछे बतलाये हुए, त्रैगुण्यविषयक श्रौतकर्मों के सम्बन्ध में है।]

(५३) (नाना प्रकार के) वेदवाक्यों से घबड़ाई हुई तेरी बुद्धि जब समाधिवृत्ति में स्थिर और निश्चल होगी तब (यह साम्यबुद्धिरूप) योग तुझे प्राप्त होगा।

[सारांश, द्वितीय अध्याय के ४४ वें श्लोक के अनुसार जो लोग वेदवाक्य की फलश्रुति में भूले हुए हैं और जो लोग किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिये कुछ कर्म करने की धुन में लगे रहते हैं, उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती — और भी अधिक गड़बड़ा जाती है। इसलिये अनेक उपदेशों का सुनना छोड़ कर चित्त को निश्चल समाधि अवस्था में रख। ऐसा करने से साम्यबुद्धिरूप कर्मयोग तुझे प्राप्त होगा और अधिक उपदेश की जरूरत न रहेगी। ऐसे कर्म करने पर भी तुझे उनका कुछ पाप न लगेगा। इस रीति से जिस कर्मयोगी की बुद्धि या प्रज्ञा

अर्जुन उवाच।

§§ स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

स्थिर हो जाय, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। अब अर्जुन का प्रश्न है कि उसका व्यवहार कैसा होता है।]

अर्जुन ने कहा – (५४) हे केशव! (मुझे बतलाओ कि) समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ किसे कहें? उस स्थितप्रज्ञ का बोलना, बैठना और चलना कैसा रहता है?

[इस श्लोक में 'भाषा' शब्द 'लक्षण' के अर्थ में प्रयुक्त है और हमने उसका भाषान्तर उसकी 'भाष्' धातु के अनुसार 'किसे कहें' किया है। गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३६[illegible]–३७[illegible]) में स्पष्ट कर दिया है कि स्थितप्रज्ञ का बर्ताव कर्मयोगशास्त्र का आधार है, और इससे आगे का वर्णन का महत्त्व ज्ञात हो जायगा।]

श्रीभगवान् ने कहा – (५५) हे पार्थ! जब (कोई मनुष्य अपने) मन के समस्त काम अर्थात् वासनाओं को छोड़ता है और अपने आप में ही सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। (५६) दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं; और प्रीति, भय एवं क्रोध जिसके छूट गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। (५७) सब बातों में जिसका मन निःसङ्ग हो गया, और यथाप्राप्त शुभ-अशुभ का जिसे आनन्द या विषाद भी नहीं, (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (५८) जिस प्रकार कछुआ अपने (हाथ-पैर आदि) अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के (शब्द, स्पर्श आदि) विषयों से (अपनी) इन्द्रियों को खींच लेता है, तब (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

(५९) निराहारी पुरुष के विषय छूट जायँ तो भी (उनका) रस अर्थात् चाह नहीं छूटती। परन्तु परब्रह्म का अनुभव होने पर चाह भी छूट जाती है – अर्थात् विषय और उनकी चाह दोनों छूट जाते हैं। (६०) कारण यह है कि केवल (इन्द्रियों के दमन करने के लिये) प्रयत्न करनेवाले विद्वान् के भी मन को हे कुन्तीपुत्र! ये प्रबल इन्द्रियाँ बलात्कार से मनमानी ओर खींच लेती हैं।

[अन्न से इन्द्रियों का पोषण होता है। अतएव निराहार या उपवास करने से इन्द्रियाँ अशक्त होकर अपने अपने विषयों का सेवन करने में असमर्थ हो जाती हैं। पर इस रीति से विषयोपभोग का छूटना केवल जबर्दस्ती की अशक्तता की बाह्यक्रिया हुई। इससे मन की विषयवासना (रस) कुछ कम नहीं होती। इसलिये यह वासना जिससे नष्ट हो, उस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करना चाहिये। इस प्रकार ब्रह्म का अनुभव हो जाने पर मन एवं उसके साथ ही साथ इन्द्रियाँ भी आप-ही आप ताब में रहती हैं। इन्द्रियों को ताब में रखने के लिये निराहार आदि उपाय आवश्यक नहीं – यही इस श्लोक का भावार्थ है। और यही अर्थ आगे छठे अध्याय के इस श्लोक में स्पष्टता से वर्णित है (गीता ६. १६, १७ और ३. ६, ७ देखो) कि योगी का आहार नियमित रहे। वह आहारविहार आदि को बिलकुल ही न छोड़ दे। सारांश, गीता का यह सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिये कि शरीर को कृश करनेवाले निराहार आदि साधन एकांगी हैं, अतएव वे त्याज्य हैं। नियमित आहारविहार और ब्रह्मज्ञान ही इन्द्रियनिग्रह का उत्तम साधन है। इस श्लोक में 'रस' शब्द का 'जिह्वा से अनुभव किये जानेवाला मीठा, कड़ुवा इत्यादि रस' ऐसा अर्थ करके कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि उपवासों से शेष इन्द्रियों के विषय यदि छूट भी जावें तो भी जिह्वा का रस अर्थात् खाने-पीने की इच्छा कम न होकर बहुत दिनों के निराहार से और भी अधिक तीव्र हो जाती है; और भागवत में ऐसे अर्थ का एक श्लोक भी है (भाग. ११. ८. २०)। पर हमारी राय में गीता के इस श्लोक का ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं। क्योंकि दूसरे चरण से वह मेल नहीं रखता। इसके अतिरिक्त भागवत में 'रस' शब्द नहीं 'रसन' है और गीता के श्लोक का दूसरा चरण भी वहाँ नहीं है। अतएव भागवत और गीता के श्लोक को एकार्थक मान लेना उचित नहीं है। अब आगे के दो श्लोकों में और अधिक स्पष्ट कर बतलाते हैं कि बिना ब्रह्मसाक्षात्कार के पूरा इन्द्रियनिग्रह हो नहीं सकता है :-]

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥

(६१) (अतएव) इन सब इन्द्रियों का संयमन कर युक्त अर्थात् योगयुक्त और मत्परायण होकर रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ अपने स्वाधीन हो जायँ (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हो गई।

[इस श्लोक में कहा है कि नियमित आहार से इन्द्रियनिग्रह करके साथ ही साथ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये मत्परायण होना चाहिये। अर्थात् ईश्वर में चित्त लगाना चाहिये। ५९ वें श्लोक का हमने जो अर्थ किया है, उससे प्रकट होगा कि इसका हेतु क्या है। मनु ने भी निरे इन्द्रियनिग्रह करनेवाले पुरुष को यह इशारा किया है कि "बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति" (मनु. २. २१५) और उसी का अनुवाद ऊपर के ६० वें श्लोक में किया है। सारांश, इन तीन श्लोकों का भावार्थ यह है कि जिसे स्थितप्रज्ञ होना हो उसे अपना आहार विहार नियमित रख कर ब्रह्मज्ञान ही प्राप्त करना चाहिये। ब्रह्मज्ञान होने पर ही मन निर्विषय होता है। शरीरक्लेश के उपाय तो ऊपरी हैं – सच्चे नहीं। 'मत्परायण' पद से यहाँ भक्तिमार्ग का भी आरम्भ हो (गीता ९. ३४ देखो)। ऊपर के श्लोक में जो 'युक्त' शब्द है उसका अर्थ 'योग में तैयार या बना हुआ' है। गीता ६. १७ में 'युक्त' शब्द है उसका अर्थ 'नियमित' है। पर गीता में इस शब्द का सदैव का अर्थ है – साम्यबुद्धि का जो योग गीता में बतलाया गया है उसका उपयोग करके तदनुसार समस्त सुखदुःखों को शान्तिपूर्वक सहन कर, व्यवहार करने में चतुर पुरुष (गीता ५. २३ देखो)। इस रीति से निष्णात पुरुष को ही स्थितप्रज्ञ कहते हैं। उसकी अवस्था ही सिद्धावस्था कहलाती है और इस अध्याय के तथा पाँचवें एवं बारहवें अध्याय के अन्त में इसी का वर्णन है। यह बतला दिया कि विषयों की चाह छोड़ कर स्थितप्रज्ञ होने के लिये क्या आवश्यक है। अब अगले श्लोकों में यह वर्णन करते हैं कि विषयों में चाह कैसी उत्पन्न होती है? इसी चाह से आगे चल कर काम क्रोध आदि विकार कैसे उत्पन्न होते हैं? और अन्त में उनसे मनुष्य का नाश कैसे हो जाता है? एवं इनसे छुटकारा किस प्रकार मिल सकता है? –]

(६२) विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष का इन विषयों में संग बढ़ता जाता है। फिर इस संग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये और (इस काम की तृप्ति होने में विघ्न से) उस काम से ही क्रोध की

§§ विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

विषय (उसकी शान्ति भङ्ग हुए बिना ही) प्रवेश करते हैं उसे ही (सच्ची) शान्ति मिलती है। विषयों की इच्छा करनेवाले को (यह शान्ति) नहीं मिलती।

[इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि शान्ति प्राप्त करने के लिये कर्म न करना चाहिये। प्रत्युत भावार्थ यह है कि साधारण लोगों का मन फलाशा से या काम्यवासना से घबड़ा जाता है और उनके कर्मों से उनके मन की शान्ति बिगड़ जाती है। परन्तु जो सिद्धावस्था में पहुँच गया है उसका मन फलाशा से क्षुब्ध नहीं होता। कितने ही कर्म करने को क्यों न हों ? पर उसके मन की शान्ति नहीं बिगड़ती। वह समुद्रसरीखा शान्त बना रहता है और सब काम किया करता है। अतएव उसे सुखदुःख की व्यथा नहीं होती। (उक्त ६४ वाँ श्लोक और गीता ४. २० देखो)। अब इस विषय का उपसंहार करके बतलाते हैं कि स्थितप्रज्ञ की इस स्थिति का नाम क्या है ? —]

(७१) जो पुरुष काम (अर्थात् आसक्ति) छोड़ कर और निःस्पृह हो करके (व्यवहार में) बर्तता है एवं जिसे ममत्व और अहङ्कार नहीं होता उसे ही शान्ति मिलती है।

[संन्यासमार्गवाले के टीकाकार इस 'चरति' (बर्तता है) पद का 'भीख माँगता फिरता है' ऐसा अर्थ करते हैं परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पिछले ६४ वे और ६७ वे श्लोक में 'चरन्' एवं 'चरतां' का जो अर्थ है वही अर्थ यहाँ भी करना चाहिये। गीता में ऐसा उपदेश कहीं भी नहीं है कि स्थितप्रज्ञ भिक्षा माँगा करे। हाँ, इसके विरुद्ध ६४ वे श्लोक में यह स्पष्ट कह दिया है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष इन्द्रियों को अपने स्वाधीन रख कर 'विषयों में बर्ते'। अतएव 'चरति' का ऐसा ही अर्थ करना चाहिये कि 'बर्तता है' अर्थात् 'जगत् के व्यवहार करता है'। श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने दासबोध के उत्तरार्ध में इस बात का उत्तम वर्णन किया है कि 'निःस्पृह' चतुर पुरुष (स्थितप्रज्ञ) व्यवहार में कैसे बर्तता है ? और गीतारहस्य के चौदहवें प्रकरण का विषय भी वही है।]

(७२) हे पार्थ ! ब्राह्मी स्थिति यही है। इसे पा जाने पर कोई भी मोह में नहीं फँसता; और अन्तकाल में अर्थात् मरने के समय में भी इस स्थिति में रह कर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने के स्वरूप का मोक्ष पाता है।

[यह ब्राह्मी स्थिति कर्मयोग की अन्तिम और सर्वोत्तम स्थिति है (देखो गीतार. प्र. पृ. १२ और २५१) और इसमें विशेषता यह है कि इसमें प्राप्त हो जाने से फिर मोह नहीं होता। यहाँ पर इस 'विशेषता' के बतलाने का कुछ कारण है। वह यह कि, यदि किसी दिन संयोग से घड़ी-दो-घड़ी के लिये इस ब्राह्मी स्थिति का अनुभव हो सके, तो उससे कुछ चिरकालिक लाभ नहीं होता। क्योंकि किसी भी मनुष्य यदि मरते समय यह स्थिति न रहेगी तो मरणकाल में जैसी वासना रहेगी उसी के अनुसार पुनर्जन्म होगा (देखो गीतारहस्य प्र. १ पृ. २९१)। यही कारण है जो ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करते हुए इस श्लोक में स्पष्टतया कह दिया है कि 'अन्तकालेऽपि' = अन्तकाल में भी स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था स्थिर बनी रहती है। अन्तकाल में मन के शुद्ध रहने की विशेष आवश्यकता का वर्णन उपनिषदों में (छां. ३. १४. १; प्र. ३. १०) और गीता में भी (गीता ८. ५–१०) है। यह वासनात्मक कर्म अगले अनेक जन्मों के मिलने का कारण है। इसलिये प्रकट ही है कि अन्ततः मरने के समय तो वासना शून्य हो जानी चाहिये। और फिर यह भी कहना पड़ता है कि मरणसमय में वासना शून्य होने के लिये पहले से ही वैसा अभ्यास हो जाना चाहिये। क्योंकि वासना को शून्य करने का कर्म अत्यन्त कठिन है। और बिना ईश्वर की विशेष कृपा के उसका किसी को भी प्राप्त हो जाना न केवल कठिन है वरन् असम्भव भी है। यह तत्त्व वैदिकधर्म में ही नहीं है कि मरणसमय में वासना शुद्ध होनी चाहिये किन्तु अन्यान्य धर्मों में भी यह तत्त्व अङ्गीकृत हुआ है। (देखो गीतारहस्य प्र. १२ पृ. ४९२)]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए—अर्थात् कहे हुए—उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

[इस अध्याय में आरम्भ में सांख्य अथवा संन्यासमार्ग का विवेचन है। इस कारण इसको सांख्ययोग नाम दिया गया है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि पूरे अध्याय में वही विषय है। एक ही अध्याय में प्रायः अनेक विषयों का वर्णन होता है। जिस अध्याय में जो विषय आरम्भ में आ गया है अथवा जो विषय उसमें प्रमुख है उसके अनुसार उस अध्याय का नाम रख दिया जाता है। (देखो गीतारहस्य प्रकरण १४ पृ. ४४८)]

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

उत्पत्ति होती है; (६३) क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक होता है, सम्मोह से स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से (पुरुष का) सर्वस्वनाश हो जाता है। (६४) परन्तु अपना आत्मा अर्थात् अन्तःकरण जिसके काबू में है, वह (पुरुष) प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बर्ताव करके भी (चित्त से) प्रसन्न रहता है। (६५) चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःखों का नाश होता है; क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि भी तत्काल स्थिर होती है।

[इन दो श्लोकों में यह वर्णन है कि विषय या कर्म को न छोड़ स्थितप्रज्ञ केवल उनका संग छोड़ कर विषय में ही निःसंगबुद्धि से बर्तता रहता है; और उसे जो शान्ति मिलती है, वह कर्मयोग से नहीं, किन्तु फलाशा के त्याग से प्राप्त होती है। क्योंकि इसके सिवा अन्य बातों में इस स्थितप्रज्ञ में और संन्यासमार्गवाले स्थितप्रज्ञ में कोई भेद नहीं है। इन्द्रियसंयमन, निरिच्छा और शान्ति ये गुण दोनों को ही चाहिये। परन्तु इन दोनों में महत्त्व का भेद यह है कि गीता का स्थितप्रज्ञ कर्मों का संन्यास नहीं करता, किन्तु लोकसंग्रह के निमित्त समस्त कर्म निष्कामबुद्धि से किया करता है; और संन्यासमार्गवाला स्थितप्रज्ञ करता ही नहीं है (देखो गीता ३. २)। किन्तु गीता के संन्यासमार्गीय टीकाकार इस भेद को गौण समझ कर साम्प्रदायिक आग्रह से प्रतिपादन किया करते हैं कि स्थितप्रज्ञ का उक्त वर्णन संन्यासमार्ग का ही है। अब इस प्रकार जिसका चित्त प्रसन्न नहीं, उसका वर्णन कर स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को और भी अधिक व्यक्त करते हैं :–]

(६६) जो पुरुष उक्त रीति से युक्त अर्थात् योगयुक्त नहीं है, उसमें (स्थिर) बुद्धि और भावना अर्थात् दृढ़बुद्धिरूप निष्ठा भी नहीं रहती। जिसे भावना नहीं, उसे शान्ति नहीं; और जिसे शान्ति नहीं उसे सुख मिलेगा कहाँ से?

§§ विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

विषय (उसकी शान्ति भङ्ग हुए बिना ही) प्रवेश करते हैं उसे ही (सच्ची) शान्ति मिलती है। विषयों की इच्छा करनेवाले को (यह शान्ति) नहीं मिलती)।

[इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि शान्ति प्राप्त करने के लिये कर्म न करना चाहिये। प्रत्युत भावार्थ यह है कि साधारण लोगों का मन फलाशा से या काम्यवासना से घबड़ा जाता है और उनके कर्मों से उनके मन की शान्ति बिगड़ जाती है। परन्तु जो सिद्धावस्था में पहुँच गया है उसका मन फलाशा से क्षुब्ध नहीं होता। कितने ही कर्म करने को क्यों न हों? पर उसके मन की शान्ति नहीं बिगड़ती। वह समुद्रसरीखा शान्त बना रहता है और सब काम किया करता है। अतएव उसे सुख-दुःख की व्यथा नहीं होती। (उक्त ६४ वाँ श्लोक और गीता ४. १९ देखो)। अब इस विषय का उपसंहार करके बतलाते हैं कि स्थितप्रज्ञ की इस स्थिति का नाम क्या है?—]

(७१) जो पुरुष काम (अर्थात् आसक्ति) छोड़कर और निःस्पृह हो करके (व्यवहार में) बर्तता है एवं जिसे ममत्व और अहङ्कार नहीं होता, उसे ही शान्ति मिलती है।

[संन्यासमार्गवाले के टीकाकार इस 'चरति' (बर्तता है) पद का 'भीख माँगता फिरता है' ऐसा अर्थ करते हैं परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पिछले ६४ वें और ६७ वें श्लोक में 'चरन्' एवं 'चरतां' का जो अर्थ है वही अर्थ यहाँ भी करना चाहिये। गीता में ऐसा उपदेश कहीं भी नहीं है कि स्थितप्रज्ञ भिक्षा माँगा करे। हाँ इसके विरुद्ध ६४ वें श्लोक में यह स्पष्ट कह दिया है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष इन्द्रियों को अपने स्वाधीन रख कर 'विषयों में बर्ते'। अतएव 'चरति' का ऐसा ही अर्थ करना चाहिये कि 'बर्तता है' अर्थात् 'जगत् के व्यवहार करता है'। श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने दासबोध के उत्तरार्ध में इस बात का उत्तम वर्णन किया है कि 'निःस्पृह' चतुर पुरुष (स्थितप्रज्ञ) व्यवहार में कैसे बर्तता है और गीतारहस्य के चौदहवें प्रकरण का विषय भी वही है।]

(७२) हे पार्थ! ब्राह्मी स्थिति यही है। इसे पा जाने पर कोई भी मोह में नहीं फँसता; और अन्तकाल में अर्थात् मरने के समय में भी इस स्थिति में रह कर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने के स्वरूप का मोक्ष पाता है।

[यह ब्राह्मी स्थिति कर्मयोग की अन्तिम और सर्वोत्तम स्थिति है (देखो गीतार. प्र. पृ. २१२ और २४७) और इसमें विशेषता यह है कि इसमें प्राप्त हो जाने से फिर मोह नहीं होता। यहाँ पर 'इस विशेषता' के बतलाने का कुछ कारण है। वह यह कि, यदि किसी दिन दैवयोग से घड़ी-दो-घड़ी के लिये इस ब्राह्मी स्थिति का अनुभव हो सके, तो उससे कुछ चिरकालिक लाभ नहीं होता। क्योंकि किसी भी मनुष्य यदि मरते समय यह स्थिति न रहेगी तो मरणकाल में जैसी वासना रहेगी उसी के अनुसार पुनर्जन्म होगा (देखो गीतारहस्य प्र. १० पृ. २९१)। यही कारण है जो ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करते हुए इस श्लोक में स्पष्टतया कह दिया है कि 'अन्तकालेऽपि = अन्तकाल में भी स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था स्थिर बनी रहती है। अन्तकाल में मन के शुद्ध रहने की विशेष आवश्यकता का वर्णन उपनिषदों में (छां. ३. १४. १; प्र. ३. १०) और गीता में भी (गीता ८. ५-१०) है। यह वासनात्मक कर्म अगले अनेक जन्मों के मिलने का कारण है। इसलिये प्रकट ही है कि अन्ततः मरने के समय तो वासना शून्य हो जानी चाहिये। और फिर यह भी कहना पड़ता है कि मरणसमय में वासना शून्य होने के लिये पहले से ही वैसा अभ्यास हो जाना चाहिये। क्योंकि वासना को शून्य करने का कर्म अत्यन्त कठिन है। और बिना ईश्वर की विशेष कृपा के उसका किसी को भी प्राप्त हो जाना न केवल कठिन है वरन असम्भव भी है। यह तत्त्व वैदिकधर्म में ही नहीं है कि मरणसमय में वासना शुद्ध होनी चाहिये किन्तु अन्यान्य धर्मों में भी यह तत्त्व अङ्गीकृत हुआ है (देखो गीतारहस्य प्र. १२ पृ. ४४३)]

इस प्रकार श्रीभगवान के गाये हुए – अर्थात् कहे गए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

[इस अध्याय में आरम्भ में सांख्य अथवा संन्यासमार्ग का विवेचन है इस कारण इसको सांख्ययोग नाम दिया गया है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि पूरे अध्याय में वही विषय है। एक ही अध्याय में प्रायः अनेक विषयों का वर्णन होता है जिस अध्याय में जो विषय आरम्भ में आ गया है अथवा जो विषय उसमें प्रमुख है उसके अनुसार उस अध्याय का नाम रख दिया जाता है (देखो गीतारहस्य प्रकरण १४ पृ. ४४८)]

तृतीयोऽध्याय ।

अर्जुन उवाच ।
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥
श्रीभगवानुवाच ।
§§ लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम् ॥ ३ ॥

तीसरा अध्याय

[अर्जुन को भय हो गया था कि युद्ध में भीष्म-द्रोण आदि को मारना पड़ेगा। अतः सांख्यमार्ग के अनुसार आत्मा की नित्यता और अशोच्यत्व से यह सिद्ध किया गया कि अर्जुन का भय वृथा है। फिर स्वधर्म का थोड़ा-सा विवेचन करके गीता के मुख्य विषय कर्मयोग का दूसरे अध्याय में ही आरम्भ किया गया है। और कहा गया है कि कर्म करने पर भी उनके पाप पुण्य से बचने के लिये केवल यही एक युक्ति या योग है कि वे कर्म साम्यबुद्धि से किये जावें। इसके अनन्तर अन्त में उस कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ का वर्णन भी किया गया है कि जिसकी बुद्धि इस प्रकार सम हो गई हो। परन्तु इतने से ही कर्मयोग का विवेचन पूरा नहीं हो जाता। यह बात सच है कि कोई भी काम समबुद्धि से किया जावे तो उसका पाप नहीं लगता; परन्तु जब कर्म की अपेक्षा समबुद्धि की ही श्रेष्ठता विचारदृष्टि से सिद्ध होती है (गीता २. ४९) तब फिर स्थितप्रज्ञ की नाईं बुद्धि को सम कर लेने से ही काम चल जाता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कर्म करना ही चाहिये। अतएव जब अर्जुन ने यही शङ्का प्रश्नरूप से उपस्थित की, तब भगवान् इस अध्याय में तथा अगले अध्याय में प्रतिपादन करते हैं कि कर्म करना ही चाहिये।]

अर्जुन ने कहा — (१) हे जनार्दन! यदि तुम्हारा यही मत है कि कर्म की अपेक्षा (साम्य) बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो हे केशव! मुझे (युद्ध के) घोर कर्म में क्यों लगाते हो? (२) (इससे मैं) व्यामिश्र अर्थात् सन्दिग्ध भाषण करके तुम मेरी बुद्धि को भ्रम में डाल रहे हो! इसलिये तुम ऐसी एक ही बात निश्चित करके मुझे बतलाओ कि जिससे मुझे श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त हो।

श्रीभगवान् ने कहा — (३) हे निष्पाप अर्जुन! पहले (अर्थात् दूसरे अध्याय

के सूत्र बनने के भी पूर्व से ही उनका प्रचार होता आ रहा है। यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं कि कर्म बन्धक होता ही है इसलिये पारे का उपयोग करने के पहले उसे मार कर जिस प्रकार वैद्य लोग शुद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार कर्म करने के पहले ऐसा उपाय करना पड़ता है कि जिससे उसका बन्धकत्व या दोष मिट जावें। और ऐसी युक्ति से कर्म करने की स्थिति को ही 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। इस प्रकार बन्धकत्वरहित कर्म मोक्ष के लिये बाधक नहीं होते। अतएव मोक्षशास्त्र का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि यह स्थिति कैसे प्राप्त की जाय? मीमांसक लोग इसका यह उत्तर देते हैं कि नित्य और (निमित्त होने पर) नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिये पर काम्य और निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिये इससे कर्म का बन्धकत्व नहीं रहता और नैष्कर्म्यावस्था सुलभ रीति से प्राप्त हो जाती है। परन्तु वेदान्तशास्त्र ने सिद्धान्त किया है कि मीमांसकों की यह युक्ति गलत है और इस बात का विवेचन गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृष्ठ २७६) में किया गया है। कुछ और लोगों का कथन है कि यदि कर्म किये ही न जावें तो उनसे बाधा कैसे हो सकती है? इसलिये उनके मतानुसार नैष्कर्म्य अवस्था प्राप्त करने के लिये सब कर्मों ही को छोड़ देना चाहिये। इनके मत से कर्मशून्यता को ही नैष्कर्म्य कहते हैं। चौथे श्लोक में बतलाया गया है कि यह मत ठीक नहीं है। इससे तो सिद्धि अर्थात् मोक्ष भी नहीं मिलता; और पाँचवें श्लोक में इसका कारण भी बतला दिया है। यदि हम कर्म को छोड़ देने का विचार करें, तो जब तक यह देह है तब तक सोना बैठना इत्यादि कर्म कभी रुक ही नहीं सकते (गीता ५. ९ और १८. ११)। इसलिये कोई भी मनुष्य कर्मशून्य कभी नहीं हो सकता। फलतः कर्मशून्यरूपी नैष्कर्म्य असम्भव है। सारांश कर्मरूपी बिच्छू कभी नहीं मरता। इसलिये ऐसा कोई उपाय सोचना चाहिये कि जिससे वह विषरहित हो जाय। गीता का सिद्धान्त है कि कर्मों में से अपनी आसक्ति को हटा लेना ही इसका एकमात्र उपाय है। आगे अनेक स्थानों में इसी उपाय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। परन्तु इस पर भी शङ्का हो सकती है कि यद्यपि कर्मों को छोड़ देना नैष्कर्म्य नहीं है तथापि संन्यासमार्गवाले तो सब कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग करके ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्मों का त्याग करना आवश्यक है। इसका उत्तर गीता इस प्रकार देती है कि संन्यासमार्गवालों को मोक्ष तो मिलता है सही परन्तु वह कुछ उन्हें कर्मों का त्याग करने से नहीं मिलता। किन्तु मोक्षसिद्धि उनके ज्ञान का फल है। यदि केवल कर्मों का त्याग करने से ही मोक्षसिद्धि होती हो तो फिर पत्थरों को भी मुक्ति मिलनी चाहिये! इससे ये तीन बातें सिद्ध होती हैं – (१) नैष्कर्म्य कुछ कर्म-शून्यता नहीं है (२) कर्मों को बिलकुल त्याग देने का कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे परन्तु वे छूट नहीं सकते और (३) कर्मों को त्याग देना सिद्धि

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

प्राप्त करने का उपाय नहीं है। ये ही बातें ऊपर के श्लोक में बतलाई गई हैं। जब ये तीनों बातें सिद्ध हो गईं, तब अठारहवें अध्याय के कथनानुसार 'नैष्कर्म्य सिद्धि' की (देखो गीता १८. ४८ और ४९) प्राप्ति के लिये यही एक मार्ग शेष रह जाता है, कि कर्म करना तो छोड़े नहीं, पर ज्ञान के द्वारा आसक्ति का क्षय कर के सब कर्म सदा करता रहे। क्योंकि ज्ञान मोक्ष का साधन है तो सही, पर कर्मशून्य रहना भी कभी सम्भव नहीं। इसलिये कर्मों के बन्धकत्व (बन्धन) को नष्ट करने के लिये आसक्ति छोड़ कर उन्हें करना आवश्यक होता है। इसी को कर्मयोग कहते हैं। और अब बतलाते हैं, कि यही ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक मार्ग विशेष योग्यता का – अर्थात् श्रेष्ठ है –]

(६) जो मूढ़ (हाथ पैर आदि) कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करता है, उसे मिथ्याचारी अर्थात् दांभिक कहते हैं। (७) परन्तु हे अर्जुन! उसकी योग्यता विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है कि जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके (दमन) कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्तबुद्धि से कर्मयोग का आरम्भ करता है।

[पिछले अध्याय में जो यह बतलाया गया है, कि कर्मयोग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गीता २. ४९), उसी का इन दोनों श्लोकों में स्पष्टीकरण किया गया है। यहाँ साफ़ साफ़ कह दिया है, कि जिस मनुष्य का मन तो शुद्ध नहीं है, पर केवल दूसरों के भय से या इस अभिलाषा से – कि दूसरे मुझे भला कहें – केवल बाह्येन्द्रियों के व्यापार को रोकता है, वह सच्चा सदाचारी नहीं है, वह ढोंगी है। जो लोग इस वचन का प्रमाण दे कर – कि 'कलौ कर्ता च लिप्यते' कलियुग में दोष बुद्धि में नहीं, किन्तु कर्म में रहता है – यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि बुद्धि चाहे जैसी हो, परन्तु कर्म बुरा न हो; उन्हें इस श्लोक में वर्णित गीतातत्त्व पर विशेष ध्यान देना चाहिये। सातवें श्लोक में यह बात प्रकट होती है, कि निष्कामबुद्धि से कर्म करने के मार्ग को ही गीता में 'कर्मयोग' कहा है। संन्यासमार्गीय कुछ टीकाकार इस श्लोक का ऐसा अर्थ करते हैं, कि यह संन्यासमार्ग से श्रेष्ठ नहीं है। परन्तु यह पूर्ण साम्प्रदायिक आग्रह की है; क्योंकि न केवल इसी श्लोक में, बरन फिर पाँचवें अध्याय के आरम्भ में (और अन्यत्र भी) यह स्पष्ट कह दिया गया है, कि संन्यासमार्ग से भी कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

[अधिक योग्यता का या श्रेष्ठ है (गीतार. प्र. ११ पृ. ३०९–३११)। इस प्रकार जब कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, तब अर्जुन को इसी मार्ग का आचरण करने के लिये उपदेश करते हैं –]

(८) (अपने धर्म के अनुसार) नियत अर्थात् नियमित कर्म को तू कर। क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है। इसके अतिरिक्त (यह समझ ले कि यदि) तू कर्म न करेगा तो (भोजन भी न मिलने से) तेरा शरीर निर्वाह तक न हो सकेगा।

['अतिरिक्त' और 'तक' (अपि च) पदों से शरीरयात्रा को कम-से-कम हेतु कहा है। अब यह बतलाने के लिये यज्ञप्रकरण का आरम्भ किया जाता है कि 'नियत' अर्थात् नियत किया हुआ 'कर्म' कौन-सा है? और दूसरे किस महत्त्व के कारण उसका आचरण अवश्य करना चाहिये? आजकल यज्ञयाग आदि श्रौतधर्म लुप्त-सा हो गया है। इसलिये इस विषय का आधुनिक पाठकों को कोई विशेष महत्त्व मालूम नहीं होता। परन्तु गीता के समय में इन यज्ञयागों का पूरा पूरा प्रचार था और 'कर्म' शब्द से मुख्यतः इन्हीं का बोध हुआ करता था। अतएव गीताधर्म में इस बात का विवेचन करना अत्यावश्यक था कि ये धर्मकृत्य किये जावें या नहीं, और यदि किये जावें तो किस प्रकार? इसके सिवा यह भी स्मरण रहे कि यज्ञ शब्द का अर्थ केवल ज्योतिष्टोम आदि श्रौतयज्ञ या अग्नि में किसी भी वस्तु का हवन करना ही नहीं है (देखो गीता ४. ३२)। सृष्टि निर्माण करके उसका काम ठीक ठीक चलते रहने के लिये (अर्थात् लोकसंग्रहार्थ) प्रजा को ब्रह्मा ने चातुर्वर्ण्यविहित जो जो काम बाँट दिये हैं उन सब का 'यज्ञ' शब्द में समावेश होता है (देखो म. भा. अनु. ४८. ३ और गीतार. प्र. ११ पृ. २९०–२९७)। धर्मशास्त्रों में इन्हीं कर्मों का उल्लेख है और इस 'नियत' शब्द से वे ही विवक्षित हैं। इसलिये कहना चाहिये कि यद्यपि आजकल यज्ञयाग लुप्तप्राय हो गये हैं, तथापि यज्ञचक्र का यह विवेचन अब भी निरर्थक नहीं है। शास्त्रों के अनुसार ये सब कर्म काम्य हैं – अर्थात् इसलिये बतलाये गये हैं कि मनुष्य का इस जगत् में कल्याण होवे और उसे सुख मिले। परन्तु पीछे दूसरे अध्याय (गीता २. ४१–४४) में यह सिद्धान्त है कि मीमांसकों के ये सहेतुक या काम्यकर्म मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक हैं, अतएव वे नीच दर्जे के हैं; और मानना पड़ता है कि अब तो उन्हीं कर्मों को करना चाहिये। इसलिये अगले श्लोकों में इस बात का विस्तृत विवेचन किया गया है कि कर्मों का शुभाशुभ लेप अथवा बन्धन कैसे छूट जाता है; और उन्हें करते रहने पर

§ § यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

भी नैष्कर्म्यावस्था क्योंकर प्राप्त होती है? यह समग्र विवेचन भारत में वर्णित नारायणीय या भागवतधर्म के अनुसार है (देखो म. भा. शां. ३४०)।]

(९) यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कर्मों से यह लोक बँधा हुआ है। तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ (किये जानेवाले) कर्म (भी) तू आसक्ति या फलाशा छोड़ कर करता जा।

[इस श्लोक के पहले चरण में मीमांसकों का और दूसरे में गीता का सिद्धान्त बतलाया गया है। मीमांसकों का कथन है कि जब वेदों ने ही यज्ञयागादि कर्म मनुष्यों के लिये नियत कर दिये हैं, और जब कि ईश्वरनिर्मित सृष्टि का व्यवहार ठीक ठीक चलते रहने के लिये यह यज्ञचक्र आवश्यक है, तब कोई भी इन कर्मों का त्याग नहीं कर सकता। यदि कोई इनका त्याग कर देगा, तो समझना होगा कि वह श्रौतधर्म से वञ्चित हो गया। परन्तु कर्मविपाकप्रक्रिया का सिद्धान्त है कि प्रत्येक कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है। उसके अनुसार कहना पड़ता है कि यज्ञ के लिये मनुष्य जो जो कर्म करेगा, उसका भला या बुरा फल भी उसे भोगना ही पड़ेगा। मीमांसकों का इस पर यह उत्तर है कि वेदों की ही आज्ञा है कि 'यज्ञ करना चाहिये'। इसलिये यज्ञार्थ जो जो कर्म किये जावेंगे वे सब ईश्वरसम्मत होंगे। अतः उन कर्मों से कर्ता बद्ध नहीं हो सकता। परन्तु यज्ञों के सिवा दूसरे कर्मों के लिये – उदाहरणार्थ केवल अपना पेट भरने के लिये मनुष्य जो कुछ करता है, वह यज्ञार्थ नहीं हो सकता। उसमें तो केवल मनुष्य का ही निजी लाभ है। यही कारण है जो मीमांसक उसे 'पुरुषार्थ' कर्म कहते हैं। और उन्होंने निश्चित किया है कि ऐसे यानी यज्ञार्थ के अतिरिक्त अन्य कर्म अर्थात् पुरुषार्थ कर्म का जो कुछ भला या बुरा फल होता है, वह मनुष्य को भोगना पड़ता है – यही सिद्धान्त उक्त श्लोक की पहली पंक्ति में है (देखो गीतार. प्र. ३ पृ. ५०–५३)। कोई कोई टीकाकार यज्ञ = विष्णु ऐसा गौण अर्थ करके कहते हैं कि यज्ञार्थ शब्द का अर्थ विष्णुप्रीत्यर्थ या परमेश्वरार्पणपूर्वक है। परन्तु हमारी समझ में यह अर्थ खींचातानी का और क्लिष्ट है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि यज्ञ के लिये जो कर्म करने पड़ते हैं, उनके सिवा यदि मनुष्य दूसरे कर्म कुछ भी न करे, तो क्या वह कर्मबन्धन से छूट सकता है? क्योंकि यज्ञ भी तो कर्म ही है। और उसका स्वर्गप्राप्तिरूप जो शास्त्रोक्त फल है, वह मिले बिना नहीं रहता। परन्तु गीता के दूसरे ही अध्याय में स्पष्ट रीति से बतलाया गया है कि यह स्वर्गप्राप्तिरूप फल मोक्षप्राप्ति के विरुद्ध है (देखो गीता २. ४०–४४ और ...)। इसीलिये उक्त श्लोक के दूसरे

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

चरण में यह बात फिर बतलाई गई है कि मनुष्य को यज्ञार्थ जो कुछ नियत कर्म करना होता है उसे भी वह फल की आशा छोड़ कर अर्थात् केवल कर्तव्य समझ कर करे और इसी अर्थ का प्रतिपादन आगे सात्त्विक यज्ञ की व्याख्या करते समय किया गया है (देखो गी. १७. ११ और १८. ६)। इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि इस प्रकार सब कर्म यज्ञार्थ और सो भी फलाशा छोड़ कर करने से (१) वे मीमांसकों के न्यायानुसार ही किसी भी प्रकार मनुष्य को बद्ध नहीं करते। क्योंकि वे तो यज्ञार्थ किये जाते हैं। और (२) उनका स्वर्गप्राप्तिरूप शास्त्रोक्त एवं अनित्य फल मिलने के बदले मोक्षप्राप्ति होती है। क्योंकि वे फलाशा छोड़ कर किये जाते हैं। आगे १९ वें श्लोक में और फिर चौथे अध्याय के २३ वें श्लोक में यही अर्थ दुबारा प्रतिपादित हुआ है। तात्पर्य यह है कि मीमांसकों के इस सिद्धान्त – यज्ञार्थ कर्म करने चाहिये। क्योंकि वे बन्धक नहीं होते – में भगवद्गीता ने और भी यह सुधार कर दिया है कि जो कर्म यज्ञार्थ किये जावें, उन्हें भी फलाशा छोड़ कर करना चाहिये। किन्तु इस पर भी यह शंका होती है कि मीमांसकों के सिद्धान्त को इस प्रकार सुधारने का प्रयत्न करके यज्ञयाग आदि गार्हस्थ्यवृत्ति को जारी रखने की अपेक्षा क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि कर्मों की झंझट से छूट कर मोक्षप्राप्ति के लिये सब कर्मों को छोड़ कर संन्यास ले लें ? भगवद्गीता इस प्रश्न का साफ़ यही एक उत्तर देती है कि 'नहीं'। क्योंकि यज्ञचक्र के बिना इस जगत् के व्यवहार जारी नहीं रह सकते। अधिक क्या कहें ! जगत् के धारण पोषण के लिये ब्रह्मा ने इस चक्र को प्रथम उत्पन्न किया है। और जब कि जगत् की सुस्थिति या संग्रह ही भगवान् को इष्ट है तब इस यज्ञचक्र को कोई भी नहीं छोड़ सकता। अब यही अर्थ अगले श्लोक में बतलाया गया है। इस प्रकरण में पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि यज्ञ शब्द यहाँ केवल श्रौतयज्ञ के ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। किन्तु उसमें स्मार्तयज्ञों का तथा चातुर्वर्ण्य आदि के यथाधिकार सब व्यावहारिक कर्मों का समावेश है।

(१०) आरम्भ में यज्ञ के साथ साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने (उनसे) कहा "इस (यज्ञ) के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो – यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु होवे – अर्थात् यह तुम्हारे इच्छित फलों का देनेवाला होवे। (११) तुम इससे देवताओं को सन्तुष्ट करते रहो (और) वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए (दोनों) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो।"

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

(१२) क्योंकि, यज्ञ से सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब) भोग तुम्हें देंगे। उन्हीं का दिया हुआ उन्हें (वापिस) न दे कर जो (केवल स्वयं) उपभोग करता है, वह सचमुच चोर है।

[जब ब्रह्मा ने इस सृष्टि अर्थात् देव आदि सब लोगों को उत्पन्न किया तब उसे चिन्ता हुई कि इन लोगों का धारण-पोषण कैसे होगा? महाभारत के नारायणीय धर्म में वर्णन है कि ब्रह्मा ने इसके बाद हजार वर्ष तक तप करके भगवान् को सन्तुष्ट किया। तब भगवान् ने सब लोगों के निर्वाह के लिये प्रवृत्तिप्रधान यज्ञचक्र उत्पन्न किया। और देवता तथा मनुष्य दोनों से कहा, कि इस प्रकार बर्ताव करके एक दूसरे की रक्षा करो। उक्त श्लोक में इसी कथा का कुछ शब्दभेद से अनुवाद किया गया है (देखो म. भा. शां. ३४० ३८ से ६२)। इससे यह सिद्धान्त और भी अधिक दृढ़ हो जाता है कि प्रवृत्ति-प्रधान भागवतधर्म के तत्त्व का ही गीता में प्रतिपादन किया गया है। परन्तु भागवतधर्म में यज्ञों में की जानेवाली हिंसा गर्ह्य मानी गई है (देखो म. भा. शां. ३३६ और ३३७)। इसलिये पशुयज्ञ के स्थान में प्रथम द्रव्यमय यज्ञ शुरू हुआ। और अन्त में यह मत प्रचलित हो गया कि जपमय यज्ञ अथवा ज्ञानमय यज्ञ ही सब में श्रेष्ठ है (गीता ४. २३-३३)। यज्ञ शब्द से मतलब चातुर्वर्ण्य के सब कर्मों से है। और यह बात स्पष्ट है कि समाज का उचित रीति से धारण-पोषण होने के लिये इस यज्ञकर्म या यज्ञचक्र को अच्छी तरह जारी रखना चाहिये (देखो मनु. ३. ८७)। अधिक क्या कहें? यह यज्ञचक्र आगे बीसवें श्लोक में वर्णित लोकसंग्रह का ही एक स्वरूप है (देखो गीतार. प्र. ११)। इसीलिये स्मृतियों में भी लिखा है कि देवलोक और मनुष्यलोक दोनों के संग्रहार्थ भगवान् ने ही प्रथम जिस लोकसंग्रहकारक कर्म को निर्माण किया है उसे आगे अच्छी तरह प्रचलित रखना मनुष्य का कर्तव्य है; और यही अर्थ अब अगले श्लोक में स्पष्ट रीति से समझाया गया है —]

(१३) यज्ञ करके शेष बचे हुए भाग का ग्रहण करनेवाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु (यज्ञ न करके केवल) अपने ही लिये जो (अन्न) पकाते हैं वे पापी लोग पाप भक्षण करते हैं।

[ऋग्वेद के १०. ११७. ६ मन्त्र में भी यही अर्थ है। उसमें कहा है कि "नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" — अर्थात् जो मनुष्य

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

[अथवा या सत्ता का पोषण नहीं करता अकेला ही भोजन करता है उसे केवल पापी समझना चाहिये। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी कहा है कि "अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥" (३. ११८) – अर्थात् जो मनुष्य अपने लिये ही (अन्न) पकाता है वह केवल पाप भक्षण करता है। यज्ञ करने पर जो शेष रह जाता है उसे 'अमृत' और दूसरों के भोजन कर चुकने पर जो शेष रहता है (भुक्तशेष) उसे 'विघस' कहते हैं (मनु. ३. २८५)। और सज्जनों के लिये यही अन्न विहित कहा गया है (देखो गीता ४. ३१)। अब इस बात का और भी स्पष्टीकरण करते हैं कि यज्ञ आदि कर्म न तो केवल तिल और चावलों को आग में झोंकने के लिये ही हैं और न स्वर्गप्राप्ति के लिये ही; वरन् जगत् का धारण-पोषण होने के लिये उनकी बहुत आवश्यकता है अर्थात् यज्ञ पर ही सारा जगत् अवलम्बित है –]

(१४) प्राणिमात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है; और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।

[मनुस्मृति में भी मनुष्य की और उसके धारण के लिये आवश्यक अन्न की उत्पत्ति के विषय में इसी प्रकार का वर्णन है। मनु के श्लोक का भाव यह है :– यज्ञ की आग में दी हुई आहुति सूर्य को मिलती है; और फिर सूर्य से (अर्थात् परम्परा द्वारा यज्ञ से ही) पर्जन्य उपजता है। पर्जन्य से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है (मनु. ३. ७६)। यही श्लोक महाभारत में भी है (देखो म. भा. शां. २६२. ११) तैत्तिरीय उपनिषद् (२. १) में यह पूर्व-परम्परा इससे भी पीछे हटा दी गई है और ऐसा क्रम दिया है – प्रथम परमात्मा से आकाश हुआ; और फिर क्रम से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। अतएव इस परम्परा के अनुसार प्राणिमात्र की कर्मपर्यन्त बतलाई हुई पूर्वपरम्परा को – अब कर्म के पहले प्रकृति और प्रकृति के पहले ठेठ अक्षरब्रह्म पर्यन्त पहुँचा कर – पूरी करते हैं –]

(१५) कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् प्रकृति से हुई; और यह ब्रह्म अक्षर से अर्थात् परमेश्वर से हुआ है। इसलिये (यह समझो कि) सर्वगत ब्रह्म ही यज्ञ में सदा अधिष्ठित रहता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

[कोई कोई इस श्लोक के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'प्रकृति' नहीं समझते। वे कहते हैं कि यहाँ ब्रह्म का अर्थ 'वेद' है। परन्तु 'ब्रह्म' शब्द का 'वेद' अर्थ करने से यद्यपि इस वाक्य में आपत्ति नहीं हुई कि 'ब्रह्म अर्थात् वेद परमेश्वर से हुए हैं', तथापि वैसा अर्थ करने से 'सर्वगतं ब्रह्म' पद में है, इसका अर्थ ठीक ठीक नहीं लगता। इसलिये 'मम योनिर्महद् ब्रह्म' (गीता १४. ३) श्लोक में 'ब्रह्म' पद का जो 'प्रकृति' अर्थ है उसके अनुसार रामानुज भाष्य में यह अर्थ किया गया है कि इस स्थान में भी 'ब्रह्म' शब्द से जगत् की मूलप्रकृति विवक्षित है। वही अर्थ हमें भी ठीक मालूम होता है। इसके सिवा महाभारत के शान्तिपर्व में यज्ञप्रकरण में यह वर्णन है कि "अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा" (शां. २६७. ३४) – अर्थात् यज्ञ के पीछे जगत् है और जगत् के पीछे पीछे यज्ञ है। ब्रह्म का अर्थ 'प्रकृति' करने से इस वर्णन का भी प्रस्तुत श्लोक से मेल हो जाता है। क्योंकि जगत् ही प्रकृति है। गीतारहस्य के सातवें और आठवें प्रकरण में यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई गई है कि परमेश्वर से प्रकृति और त्रिगुणात्मक प्रकृति से जगत् के सब कर्म कैसे निष्पन्न होते हैं? इसी प्रकार पुरुषसूक्त में भी यह वर्णन है कि देवताओं ने प्रथम यज्ञ करके ही सृष्टि का निर्माण किया है।]

(१६) हे पार्थ! इस प्रकार जगत् के धारणार्थ चलाये हुए कर्म या यज्ञ के चक्र को जो इस जगत् में आगे नहीं चलाता, उसकी आयु पापरूप है। उस इन्द्रियलम्पट का (अर्थात् देवताओं को न देकर स्वयं उपभोग करनेवाले का) जीवन व्यर्थ है।

[स्वयं ब्रह्मा ने ही – मनुष्यों ने नहीं – लोगों के धारण पोषण के लिये यज्ञमय कर्म या चातुर्वर्ण्यवृत्ति उत्पन्न की है। इस सृष्टि का क्रम चलता रहने के लिये (श्लोक १४) और साथ ही साथ अपना निर्वाह होने के लिये (श्लोक ८) इन दोनों कारणों से इस वृत्ति की आवश्यकता है। इससे सिद्ध होता है कि यज्ञचक्र को अनासक्तबुद्धि से जगत् में सदा चलाते रहना चाहिये। अब यह बात मालूम हो चुकी कि मीमांसकों का या त्रयीधर्म का कर्मकाण्ड (यज्ञचक्र) गीताधर्म में अनासक्तबुद्धि की युक्ति से कैसे स्थिर रखा गया है (देखो गीतारहस्य प्र. ११ पृ. ३४७–३४८)। कोई संन्यासमार्गवाले वेदान्ती इस विषय में शङ्का करते हैं कि आत्मज्ञानी पुरुष को जब यहीं मोक्ष प्राप्त हो जाता है, और उसे जो कुछ प्राप्त करना होता है वह सब उसे यहीं मिल जाता है, तब उसे कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है – और उसको कर्म करना भी न चाहिये। इसका उत्तर अगले तीन श्लोकों में दिया गया है।]

§§ यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

(१७) परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा में ही रत, आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही संतुष्ट हो जाता है, उसके लिये (स्वयं अपना) कुछ भी कार्य (शेष) नहीं रह जाता; (१८) इसी प्रकार यहाँ अर्थात् इस जगत् में (कोई काम) करने से या न करने से भी उसका लाभ नहीं होता और सब प्राणियों में उसका कुछ भी (निजी) मतलब अटका नहीं रहता। (१९) तस्मात् अर्थात् जब ज्ञानी पुरुष इस प्रकार कोई भी अपेक्षा नहीं रखता, तब तू भी (फल की) आसक्ति छोड़ कर अपना कर्तव्यकर्म सदैव किया कर। क्योंकि आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवाले मनुष्य को परमगति प्राप्त होती है।

[१७ से १९ तक के श्लोकों का टीकाकारों ने बहुत विपर्यास कर डाला है। इसलिये हम पहले उनका सरल भावार्थ ही बतलाते हैं। तीनों श्लोक मिल कर हेतु अनुमानयुक्त एक ही वाक्य है। इनमें से १७ वें और १८ वें श्लोकों में पहले उन कारणों का उल्लेख किया गया है कि जो साधारण रीति से ज्ञानी पुरुष के कर्म करने के विषय में बतलाये जाते हैं। और इन्हीं कारणों से गीता ने जो अनुमान निकाला है वह १९ वें श्लोक में कारणबोधक 'तस्मात्' शब्द का प्रयोग करके बतलाया गया है। इस जगत् में सोना, बैठना, उठना या जिन्दा रहना आदि सब कर्मों का कोई छोड़ने की इच्छा करे, तो वे छूट नहीं सकते। अतः इस अध्याय के आरम्भ में चौथे और पाँचवें श्लोकों में स्पष्ट कह दिया गया है कि कर्म को छोड़ देने से न तो नैष्कर्म्य होता है और न वह सिद्धि प्राप्त करने का उपाय ही है। परन्तु इस पर संन्यासमार्गवालों की यह दलील है कि हम कुछ सिद्धि प्राप्त करने के लिये कर्म करना नहीं छोड़ते हैं। प्रत्येक मनुष्य इस जगत् में जो कुछ करता है, वह अपने या पराये लाभ के लिये ही करता है। किन्तु मनुष्य का स्वकीय परमसाध्य सिद्धावस्था अथवा मोक्ष है और वह ज्ञानी पुरुष को उसके ज्ञान से प्राप्त हुआ करता है। इसलिये उसको ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ प्राप्त करने के लिये नहीं रहता (श्लोक १७)। ऐसी अवस्था में चाहे वह कर्म करे या न करे – उसे दोनों बातें समान हैं। अच्छा; यदि कहें कि उसे लोकोपयोगार्थ कर्म करना चाहिये तो उसे लोगों से भी कुछ लेना-देना नहीं रहता (श्लोक १८)।

फिर वह कर्म करे ही क्यों ?' इसका उत्तर गीता यों देती है कि जब कर्म करना और न करना तुम्हें दोनों एक-से हैं, तब कर्म न करने का ही इतना हठ तुम्हें क्यों है ? जो कुछ शास्त्र के अनुसार प्राप्त होता जाय उसे आग्रहविहीन बुद्धि से करके छुट्टी पा जाओ। इस जगत् में कर्म किसी से भी छूटते नहीं हैं। फिर चाहे वह ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी। अब देखने में तो यह बड़ी कठिन समस्या जान पड़ती है, कि कर्म तो छूटने से रहे और ज्ञानी पुरुष को स्वयं अपने लिये उनकी आवश्यकता नहीं ! परन्तु गीता को यह समस्या कुछ कठिन नहीं जँचती। गीता का कथन यह है कि जब कर्म छूटता है ही नहीं तब उसे करना ही चाहिये। किन्तु अब स्वार्थबुद्धि न रहने से उसे निःस्वार्थ अर्थात् निष्कामबुद्धि से किया करो। १९ वें श्लोक में 'तस्मात्' पद का प्रयोग करके यही उपदेश अर्जुन को किया गया है एवं इसकी पुष्टि में आगे २२ वें श्लोक में यह दृष्टान्त दिया गया है कि सब से श्रेष्ठ ज्ञानी भगवान् स्वयं अपना कुछ भी कर्तव्य न होने पर भी कर्म ही करते हैं। सारांश, संन्यासमार्ग के लोग ज्ञानी पुरुष की जिस स्थिति का वर्णन करते हैं उसे ठीक मान लें तो गीता का यह वक्तव्य है कि उसी स्थिति से कर्मसंन्यासपक्ष सिद्ध होने के बदले सदा निष्काम कर्म करते रहने का पक्ष ही और भी दृढ़ हो जाता है। परन्तु संन्यासमार्गवाले टीकाकारों को कर्मयोग की उक्त युक्ति और सिद्धान्त (श्लोक ७ ८) मान्य नहीं है। इसलिये वे उक्त कार्यकारणभाव को अथवा समूचे अर्थप्रवाह को या आगे बतलाये हुए भगवान् के दृष्टान्त को भी नहीं मानते (श्लोक २२ २५ और ३)। उन्होंने तीनों श्लोकों को तोड़-मरोड़ कर स्वतन्त्र मान लिया है। और इनमें से पहले श्लोकों में जो यह निर्देश है कि 'ज्ञानी पुरुष का स्वयं अपना कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता।' इसी को गीता का अन्तिम सिद्धान्त मान कर इसी आधार पर यह प्रतिपादन किया है कि भगवान् ज्ञानी पुरुष से कहते हैं कि कर्म छोड़ दे ! परन्तु ऐसा करने से तीसरे अर्थात् १ वें श्लोक में अर्जुन को जो भगवान् यह उपदेश किया है कि आसक्ति छोड़ कर कर्म कर यह अलग हुआ जाता है और इसकी उत्पत्ति भी नहीं लगती। इस पेंच से बचने के लिये इन टीकाकारों ने यह अर्थ करके अपना समाधान कर लिया है कि अर्जुन को कर्म करने का उपदेश तो इसलिये किया है कि वह अज्ञानी था ! परन्तु इतनी माथापच्ची करने पर भी १ वें श्लोक का 'तस्मात्' पद निरर्थक ही रह जाता है। और संन्यासमार्गवालों का किया हुआ यह अर्थ इसी अध्याय के पूर्वापर सन्दर्भ से भी विरुद्ध होता है। एवं गीता के अन्यान्य स्थलों के इस सिद्धान्त से भी विरुद्ध हो जाता है कि ज्ञानी पुरुष को भी आसक्ति छोड़ कर कर्म करना चाहिये तथा आगे भगवान् ने जो अपना दृष्टान्त दिया है उससे भी यह अर्थ विरुद्ध हो जाता है (देखो गीता २. ४७ ३ ७ १९ ४ २१ ६ १; १८ ६- ; और गीतार. प्र. ११ पृ. ३२१-३२६)। इसके

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

[तैत्तिरीय उपनिषद् में भी पहले 'सत्यं वद', 'धर्मं चर' इत्यादि उपदेश किया है। और फिर अन्त में कहा है कि "जब संसार में तुम्हें सन्देह हो, कि यहाँ कैसा बर्ताव करें, तब वैसा ही बर्ताव करो कि जैसा ज्ञानी, युक्त और धार्मिक ब्राह्मण करते हों" (तै. १. ११. ४)। इसी अर्थ का एक श्लोक नारायणीय धर्म में भी है (म. भा. शां. ३४१. २५); और इसी आशय का मराठी में एक श्लोक है जो इसी का अनुवाद है। और जिसका सार यह है :– "लोककल्याणकारी मनुष्य जैसे बर्ताव करता है, वैसे ही इस संसार में सब लोग भी किया करते हैं।" यही भाव इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है – "देख भली की चाल को बर्ते सब संसार।" यही लोककल्याणकारी पुरुष गीता का श्रेष्ठ धर्म का अर्थ 'आत्म-ज्ञानी संन्यासी' नहीं है (देखो गीता ५. २)। अब भगवान् स्वयं अपना उदाहरण दे कर इसी अर्थ को और भी दृढ करते हैं कि आत्मज्ञानी पुरुष की स्वार्थबुद्धि छूट जाने पर भी लोककल्याण के कर्म उससे छूट नहीं जाते :–]

(२२) हे पार्थ! (देखो कि) त्रिभुवन में न तो मेरा कुछ कर्तव्य (शेष) रहा है (और) न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने को रह गई है। तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ। (२३) क्योंकि जो मैं कदाचित् आलस्य छोड़ कर कर्मों में न लगूँ, तो हे पार्थ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुकरण करेंगे। (२४) जो मैं कर्म न करूँ, तो ये सारे लोक उत्सन्न अर्थात् नष्ट हो जावेंगे, मैं संकरकर्ता होऊँगा और इन प्रजाजनों का मेरे हाथ से नाश होगा।

[भगवान् ने अपना उदाहरण दे कर इस श्लोक में भली भाँति स्पष्ट कर दिया है कि लोकसंग्रह कुछ पाखण्ड नहीं है। इसी प्रकार हमने ऊपर १७ वें श्लोक तक का जो यह अर्थ किया है कि ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ कर्तव्य शेष न रह गया हो, फिर भी ज्ञाता को निष्कामबुद्धि से सारे कर्म करते रहना चाहिये; वह भी स्वयं भगवान् के इस दृष्टान्त से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। यदि ऐसा न हो, तो दृष्टान्त भी निरर्थक हो जावेगा (देखो गीतार. प्र. ११ पृ. ३ ८–३)। सांख्यमार्ग और कर्ममार्ग में यह बड़ा भारी भेद है कि सांख्यमार्ग के ज्ञानी पुरुष सारे कर्म छोड़ बैठते हैं। फिर चाहे इस कर्मत्याग से

सिवा एक बात और भी है। वह यह कि इस अध्याय में उस कर्मयोग का विवेचन चल रहा है कि जिसके कारण कर्म करने पर भी वे बन्धक नहीं होते (२.३९)। इस विवेचन के बीच में ही यह बे-सिरपैर की-सी बात कोई भी समझदार मनुष्य न कहेगा कि 'कर्म छोड़ना उत्तम है'। फिर भला भगवान् यह बात क्यों कहने लगे? अतएव निरे साम्प्रदायिक आग्रह के और खींचतानी के ये अर्थ माने नहीं जा सकते। योगवासिष्ठ में लिखा है कि जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष को भी कर्म करना चाहिये। और जब राम ने पूछा – "मुझे बतलाइये कि मुक्त पुरुष कर्म क्यों करें?" तब वसिष्ठ ने उत्तर दिया है –

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः ।

तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥

"अर्थात् ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ने या करने से कोई लाभ नहीं उठाना होता। अतएव वह जो जैसा प्राप्त हो जाय उसे वैसा किया करता है" (योग. ६ उ. १९९.४)। इसी ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार में फिर गीता के ही शब्दों में पहले यह कारण दिखलाया है –

मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः ॥

किसी बात का करना या न करना मुझे एक-सा ही है। और दूसरी ही पंक्ति में कहा है कि जब दोनों बातें एक ही सी हैं तब फिर "कर्म न करने का आग्रह ही क्यों है? जो जो शास्त्र की रीति से प्राप्त होता जाय उसे मैं करता रहता हूँ" (यो. ६ उ. २१६.१४)। इसी प्रकार इसके पहले, योगवासिष्ठ में 'नैव तस्य कृतेनार्थो' आदि गीता का श्लोक ही शब्दशः लिया गया है। आगे के श्लोक में कहा है कि 'यद्यथा नाम सम्पन्नं तत्तथाऽस्त्वितरेण किम्' – जो प्राप्त हो उसे ही (जीवन्मुक्त) किया करता है और कुछ प्रतीक्षा करता हुआ नहीं बैठता (यो. ६ उ. १२५.४९-५)। योगवासिष्ठ में ही नहीं किन्तु गणेशगीता में भी इसी अर्थ के प्रतिपादन में यह श्लोक आया है:–

किंचिदस्य न साध्यं स्यात् सर्वजन्तुषु सर्वदा ।

अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः ॥

"उसका अन्य प्राणियों में कोई साध्य (प्रयोजन) शेष नहीं रहता। अतएव हे राजन्! लोगों को अपने अपने कर्तव्य आसक्तबुद्धि से करते रहना चाहिये" (गणेशगीता २.१८)। इन सब उदाहरणों पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि यहाँ पर गीता के तीनों श्लोकों का जो कार्यकारणसम्बन्ध हमने ऊपर दिखलाया है वही ठीक है। और गीता के तीनों श्लोकों का पूरा अर्थ योगवासिष्ठ के एकही श्लोक में आ गया। अतएव उसके कार्यकारणभाव के विषय में शंका करने के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। गीता की इन्हीं युक्तियों को महायानपन्थ

> कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
> लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥
> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

के बौद्ध ग्रन्थकारों ने भी पीछे से ले लिया है (देखो गीतारहस्य परिशिष्ट पृ. ५७२–७३ और ५८६)। ऊपर जो यह कहा गया है कि स्वार्थ न रहने के कारण से ही ज्ञानी पुरुष को अपना कर्तव्य निष्कामबुद्धि से करना चाहिये और इस प्रकार से किये हुए निष्काम कर्म मोक्ष में बाधक होना तो दूर रहा, उसी से सिद्धि मिलती है – इसी की पुष्टि के लिये अब दृष्टान्त देते हैं –]

(२०) जनक आदि ने भी इस प्रकार कर्म से ही सिद्धि पाई है। इसी प्रकार लोकसंग्रह पर भी दृष्टि दे कर तुझे कर्म करना ही उचित है।

[पहले चरण में इस बात का उदाहरण दिया है कि निष्काम कर्म से सिद्धि मिलती है; और दूसरे चरण में भिन्न रीति के प्रतिपादन का आरम्भ कर दिया है। यह तो सिद्ध किया कि ज्ञानी पुरुषों को लोगों में कुछ अटकना नहीं रहता, तो भी जब उनके कर्म छूट ही नहीं सकते, तब तो निष्काम कर्म ही करना चाहिये। परन्तु यद्यपि यह युक्ति नियमानुसार है कि कर्म जब छूट नहीं सकते हैं तब उन्हें करना ही चाहिये; तथापि सिर्फ इसी से साधारण मनुष्यों का पूरा पूरा विश्वास नहीं हो जाता। मन में शंका होती है कि क्या कर्म टाले नहीं टलते हैं इसीलिये उन्हें करना चाहिये? उसमें और कोई साध्य नहीं है? अतएव इस श्लोक के दूसरे चरण में यह दिखलाने का आरम्भ कर दिया है कि इस जगत् में अपने कर्म से लोकसंग्रह करना ज्ञानी पुरुष का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष साध्य है। 'लोकसंग्रहमेवापि' के 'एवापि' पद का यही तात्पर्य है। और इससे स्पष्ट होता है कि अब भिन्न रीति के प्रतिपादन का आरम्भ हो गया है। 'लोकसंग्रह' शब्द में 'लोक' का अर्थ व्यापक है। अतः इस शब्द में न केवल मनुष्यजाति को ही, वरन् सारे जगत् को सन्मार्ग पर लाकर उसका नाश से बचाते हुए संग्रह करना – अर्थात् भली भाँति धारण, पोषण-पालन या बचाव करना इत्यादि सभी बातों का समावेश हो जाता है। गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३३१–३३८) में इन सब बातों का विस्तृत विचार किया गया है। इसलिये हम यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं करते। अब पहले यह बतलाते हैं कि लोकसंग्रह करने का यह कर्तव्य या अधिकार ज्ञानी पुरुष का ही क्यों है?]

(२१) श्रेष्ठ (अर्थात् आत्मज्ञानी कर्मयोगी पुरुष) जो कुछ करता है, वही अन्य – अर्थात् साधारण मनुष्य – भी किया करते हैं। वह जिसे प्रमाण मान कर अंगीकार करता है, लोग उसी का अनुकरण करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

[तैत्तिरीय उपनिषद् में भी पहले 'सत्यं वद' 'धर्म चर' इत्यादि उपदेश किया है। और फिर अन्त में कहा है कि 'जब संसार में तुम्हें सन्देह हो, कि यहाँ कैसा बर्ताव करें, तब वैसा ही बर्ताव करो कि जैसा ज्ञानी, युक्त और धर्मिष्ठ ब्राह्मण करते हों' (तै. १. ११. ४)। इसी अर्थ का एक श्लोक नारायणीय धर्म में भी है (म. भा. शां. ३४१. २५) और इसी आशय का मराठी में एक श्लोक है जो इसी का अनुवाद है। और जिसका सार यह है :– 'लोककल्याणकारी मनुष्य जैसे बर्ताव करता है वैसे ही इस संसार में सब लोग भी किया करते हैं।' यही भाव इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है – 'देख भले की चाल को बर्ते सब संसार।' यही लोककल्याणकारी पुरुष गीता का 'श्रेष्ठ' शब्द का अर्थ आत्मज्ञानी संन्यासी नहीं है (देखो गीता ५. २)। अब भगवान् स्वयं अपना उदाहरण दे कर इसी अर्थ को और भी दृढ़ करते हैं, कि आत्मज्ञानी पुरुष की स्वार्थबुद्धि छूट जाने पर भी लोककल्याण के कर्म उससे छूट नहीं जाते :–]

(२२) हे पार्थ! (देखो कि) त्रिभुवन में न तो मेरा कुछ कर्तव्य (शेष) रहा है (और) न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने को रह गई है। तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ। (२३) क्योंकि जो मैं कदाचित् आलस्य छोड़ कर कर्मों में न लगूँगा तो हे पार्थ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुकरण करेंगे। (२४) जो मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोक उत्सन्न अर्थात् नष्ट हो जावेंगे, मैं संकरकर्ता होऊँगा और इन प्रजाजनों का मेरे हाथ से नाश होगा।

[भगवान् ने अपना उदाहरण दे कर इस श्लोक में अच्छी भाँति स्पष्ट कर दिखला दिया है कि लोकसंग्रह कुछ पाखण्ड नहीं है। इसी प्रकार हमने ऊपर १७ से १९ वें श्लोक तक का जो यह अर्थ किया है कि ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ कर्तव्य शेष न रह गया हो, फिर भी ज्ञाता को निष्कामबुद्धि से सारे कर्म करते रहना चाहिये, वह भी स्वयं भगवान् के इस दृष्टान्त से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। यदि ऐसा न हो, तो दृष्टान्त भी निरर्थक हो जायगा (देखो गीतार. पृ. [illegible])। सांख्यमार्ग और कर्मयोग में यह बड़ा भारी भेद है कि सांख्यमार्ग के ज्ञानी पुरुष सारे कर्म छोड़ बैठते हैं। फिर चाहे इस कर्मत्याग से

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

ज्ञानी हो जाय वह लोकसंग्रह के लिये – लोगों को चतुर और सदाचरणी बनाने के लिये – स्वयं संसार में रह कर निष्काम कर्म अर्थात् सदाचरण का प्रत्यक्ष नमूना लोगों को दिखलावे और तदनुसार उनसे आचरण करावे। इस जगत् में उसका यही बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है (देखो गीतारहस्य प्र. १२ पृ. ४४) किन्तु गीता के इस अभिप्राय को बे-समझे-बूझे कुछ टीकाकार इसका यों विपरीत अर्थ किया करते हैं कि ज्ञानी पुरुष को अज्ञानियों के समान ही कर्म करने का स्वाँग इसलिये करना चाहिये कि जिसमें कि अज्ञानी लोग नादान बने रह कर ही अपने कर्म करते रहें! मानो दम्भाचरण सिखलाने अथवा लोगों को अज्ञानी बने रहने दे कर जानवरों के समान उनसे कर्म करा लेने के लिये ही गीता प्रवृत्त हुई है! जिनका यह दृढ़ निश्चय है; कि ज्ञानी पुरुष कर्म न करे सम्भव है, कि उन्हें लोकसंग्रह एक ढोंग-सा प्रतीत हो। परन्तु गीता का वास्तविक अभिप्राय ऐसा नहीं है। भगवान कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष के कामों में लोकसंग्रह एक महत्त्वपूर्ण काम है। और ज्ञानी पुरुष अपने उत्तम आदर्श के द्वारा उन्हें सुधारने के लिये – नादान बनाए रखने के लिये नहीं – कर्म ही किया करे (गीतारहस्य प्र. ११–१२)। अब यह शङ्का हो सकती है कि यदि आत्मज्ञानी पुरुष इस प्रकार लोकसंग्रह के लिये सांसारिक कर्म करने लगे तो वह भी अज्ञानी ही बन जायगा। अतएव स्पष्ट कर बतलाते हैं कि यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही संसारी बन जावें तथापि इन दोनों के बर्ताव में भेद क्या है? और ज्ञानवान् से अज्ञानी को किस बात की शिक्षा लेनी चाहिये!]

(२७) प्रकृति के (सत्त्व-रज-तम) गुणों से सब प्रकार कर्म हुआ करते हैं। पर अहंकार से मोहित (अज्ञानी पुरुष) समझता है कि मैं कर्ता हूँ; (२८) परन्तु हे महाबाहु अर्जुन! गुण और कर्म दोनों ही मुझसे भिन्न हैं इस तत्त्व को जाननेवाला (ज्ञानी पुरुष) यह समझ कर इनमें आसक्त नहीं होता कि गुणों का यह खेल आपस में हो रहा है। (२९) प्रकृति के गुणों से बहके हुए लोग गुण और कर्मों में ही आसक्त रहते हैं। इन असर्वज्ञ और मन्द जनों को सर्वज्ञ पुरुष (अपने कर्मत्याग से किसी अनुचित मार्ग में लगा कर) विचलित न करे।

§§ मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

§§ ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

[यहाँ २९ वें श्लोक के अर्थ का ही अनुवाद किया गया है। इस श्लोक में जो ये सिद्धान्त हैं – कि प्रकृति भिन्न है और आत्मा भिन्न है; प्रकृति अथवा माया ही सब कुछ करती है, आत्मा कुछ करता-धरता नहीं है; जो इस तत्त्व को जान लेता है, वही बुद्ध अथवा ज्ञानी हो जाता है; उसे कर्म का बन्धन नहीं होता; इत्यादि – वे मूल में कापिलसांख्यशास्त्र के हैं। गीतारहस्य के ७ वें प्रकरण (पृ. १६५–१६७) में इनका पूर्ण विवेचन किया गया है, उसे देखिये। २८ वें श्लोक का कुछ लोग यों अर्थ करते हैं कि गुण यानी इन्द्रियाँ गुणों में यानी विषयों में बरतती हैं। यह अर्थ कुछ शुद्ध नहीं है। क्योंकि सांख्यशास्त्र के अनुसार ग्यारह इन्द्रियाँ और शब्द स्पर्श आदि पाँच विषय मूलप्रकृति के २३ गुणों में से ही गुण हैं। परन्तु इससे अच्छा तो यही है कि प्रकृति के समस्त अर्थात् चौबीसों गुणों को लक्ष्य करके ही यह 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' का सिद्धान्त स्थिर किया गया है (देखो गीता १३. १९–२२ और १४. २३)। हमने उसका शब्दशः और व्यापक रीति से अनुवाद किया है। भगवान् ने यह बतलाया है कि ज्ञानी और अज्ञानी एक ही कर्म करें, तो भी इनमें बुद्धि की दृष्टि से बहुत बड़ा भेद रहता है (गीतारहस्य प्र. ११ पृ. ३१० और ३११)। अब इस पूरे विवेचन के सारूप से यह उपदेश करते हैं –]

(३०) (इसलिये हे अर्जुन!) मुझमें अध्यात्मबुद्धि से सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण करके और (फल की) आशा एवं ममता छोड़ कर तू निश्चिन्त हो करके युद्ध कर।

(३१) जो श्रद्धावान् (पुरुष) दोषों को न ढूँढ कर मेरे इस मत के अनुसार नित्य बर्ताव करते हैं, वे भी कर्मों से अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं। (३२) परन्तु जो दोषदृष्टि से शंकाएँ करके मेरे इस मत के अनुसार नहीं बरतते, उन सर्वज्ञानविमूढ़ अर्थात् पक्के मूर्ख अविवेकियों को नष्ट हुए समझो।

[अब यह बतलाते हैं कि इस उपदेश के अनुसार बर्ताव करने से क्या फल मिलता है? और बर्ताव न करने से कैसी गति होती है?]

§ § सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

[कर्मयोग निष्कामबुद्धि से कर्म करने के लिये कहता है। उसकी श्रेयस्करता के सम्बन्ध में ऊपर अन्वयव्यतिरेक से जो फलश्रुति बतलाई गई है उससे पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि गीता में कौनसा विषय प्रतिपाद्य है। इसी कर्मयोगनिरूपण की पूर्ति के हेतु भगवान् प्रकृति की प्रबलता का और फिर उसे रोकने के लिये इन्द्रियनिग्रह का वर्णन करते हैं :–]

(३३) ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार बर्तता है। सभी प्राणी (अपनी अपनी) प्रकृति के अनुसार रहते हैं (वहाँ) निग्रह (जबरदस्ती) क्या करेगा? (३४) इन्द्रिय और उसके (शब्द-स्पर्श आदि) विषयों में प्रीति एवं द्वेष (दोनों) व्यवस्थित हैं – अर्थात् स्वभावतः निश्चित हैं। प्रीति और द्वेष के वश में न जाना चाहिये। (क्योंकि) ये मनुष्य के शत्रु हैं।

[तैंतीसवें श्लोक के 'निग्रह' शब्द का अर्थ 'निरा संयमन' ही नहीं है किन्तु उसका अर्थ 'जबरदस्ती' अथवा 'हठ' है। इन्द्रियों का योग्य संयमन तो गीता को इष्ट है। किन्तु यहाँ पर कहना यह है कि हठ से या जबरदस्ती से इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति को ही एकदम मार डालना सम्भव नहीं है। उदाहरण लीजिये जब तक देह है तब तक भूख-प्यास आदि धर्म प्रकृतिसिद्ध होने के कारण छूट नहीं सकते। मनुष्य कितना ही ज्ञानी क्यों न हो? भूख लगते ही भिक्षा माँगने के लिये उसे बाहर निकलना पड़ता है। इसलिये चतुर पुरुषों का यही कर्तव्य है कि जबरदस्ती से इन्द्रियों को बिलकुल ही मार डालने का वृथा हठ न करें और योग्य संयम के द्वारा उन्हें अपने वश में करके उनकी स्वभावसिद्ध वृत्तियों का लोकसंग्रहार्थ उपयोग किया करें। इसी प्रकार ३४ वें श्लोक के 'व्यवस्थित' पद से प्रकट होता है कि सुख और दुःख दोनों विकार स्वतन्त्र हैं एक दूसरे का अभाव नहीं है (देखो गीतारहस्य प्र. ४ पृ.   और १   )। प्रकृति अर्थात् सृष्टि के अखण्डित व्यापार में कई बार हमें ऐसी बातें भी करनी पड़ती हैं कि जो हमें स्वयं पसन्द नहीं (देखो गीता १८.   ); और यदि नहीं करते हैं तो निर्वाह नहीं होता। ऐसे समय ज्ञानी पुरुष इन कर्मों को निरिच्छबुद्धि से केवल कर्तव्य समझ कर करता जाता है। अतः पापपुण्य से अलिप्त रहता है, और अज्ञानी उसी में आसक्ति रख कर दुःख पाता है। भास कवि के वर्णनानुसार बुद्धि की दृष्टि से यही इन दोनों में बड़ा भारी भेद है। परन्तु

§§ श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

[अब एक और शङ्का होती है कि यद्यपि यह सिद्ध हो गया कि इन्द्रियों को जबरदस्ती मार कर कर्मत्याग न करे, किन्तु निःसङ्गबुद्धि से सभी काम करता जावे। परन्तु यदि ज्ञानी पुरुष युद्ध के समान हिंसात्मक घोर कर्म करने की अपेक्षा खेती, व्यापार या भिक्षा माँगना आदि कोई निरुपद्रवी और सौम्य कर्म करे तो क्या अधिक प्रशस्त नहीं है? भगवान् इसका यह उत्तर देते हैं –]

(३५) पराये धर्म का आचरण सुख से करते बने तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यविहित कर्म ही अधिक श्रेयस्कर है, (फिर चाहे) वह विगुण अर्थात् सदोष भले ही हो। स्वधर्म के अनुसार (बर्तने में) मृत्यु हो जाय तो भी उसमें कल्याण है। (परन्तु) परधर्म भयङ्कर होता है।

[स्वधर्म वह व्यवसाय है कि जो स्मृतिकारों की चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रद्वारा नियत कर दिया गया है। स्वधर्म का अर्थ मोक्षधर्म नहीं है। सब लोगों के कल्याण के लिये ही गुणकर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्यव्यवस्था को (गीता १८. ४१) शास्त्रकारों ने प्रवृत्त कर दिया है। अतएव भगवान् कहते हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय आदि ज्ञानी हो जाने पर भी अपना अपना व्यवसाय करते रहें। इसी में उनका और समाज का कल्याण है। इस व्यवस्था में बार बार गड़बड़ करना योग्य नहीं है (देखो गीतार. प्र. ११ पृ. ३३६ और प्र. १५ पृ. ४ –)। 'तेली का काम तंबोली करे, दैव न मारे आप मरे' इस प्रचलित लौकिक का तात्पर्य भी यही है। जहाँ चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का चलन नहीं है, वहाँ भी सब को यही श्रेयस्कर जँचेगा कि जिसने सारी जिन्दगी फौजी महकमे में बिताई हो, उसे यदि फिर काम पड़े तो उसको सिपाही का पेशा ही सुभीते का होगा; न कि दर्जी का रोजगार। और यही न्याय चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के लिये भी उपयोगी है। यह प्रश्न भिन्न है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भली है या बुरी; और वह यहाँ उपस्थित भी नहीं होता। [illegible]

अर्जुन उवाच ।

§§ अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

है (देखो गीता १८. ४८)। परन्तु इस नुक्ताचीनी के मारे अपना नियत कर्तव्य ही छोड़ देना कुछ धर्म नहीं है। महाभारत के ब्राह्मणव्याधसंवाद में और तुलाधारजाजलिसंवाद में भी यही तत्त्व बतलाया गया है। एवं यहाँ के ३५ वें श्लोक का पूर्वार्ध मनुस्मृति (१०. ९७) में और गीता (१८. ४७) में भी आया है। भगवान् ने ३३ वें श्लोक में कहा है कि 'इन्द्रियों को मारने का हठ नहीं चलता।' इस पर अब अर्जुन ने पूछा है कि इन्द्रियों को मारने का हठ क्यों नहीं चलता? और मनुष्य अपनी मर्जी न होने पर भी बुरे कर्मों की ओर क्यों घसीटा जाता है?]

अर्जुन ने कहा :- (३६) हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण)! अब (यह बतलाओ कि) मनुष्य अपनी इच्छा न रहने पर भी किस की प्रेरणा से पाप करता है? मानो कोई जबर्दस्ती सी करता हो। श्रीभगवान् ने कहा :- (३७) इस विषय में यह समझो कि रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला बड़ा पेटू और बड़ा पापी यह काम एवं यह क्रोध ही शत्रु है। (३८) जिस प्रकार धुएँ से अग्नि, धूलि से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढँका रहता है, उसी प्रकार इससे यह सब ढँका हुआ है। (३९) हे कौन्तेय! ज्ञाता का यह कामरूपी नित्यवैरी कभी भी तृप्त न होनेवाला अग्नि ही है। इसने ज्ञान को ढँक रखा है।

[यह मनु के ही कथन का अनुवाद है। मनु ने कहा है कि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥" (मनु. २. ९४) — काम के उपभोगों से काम कभी अघाता नहीं है, बल्कि ईंधन डालने पर अग्नि जैसा बढ़ जाता है, उसी प्रकार यह भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है (देखो गीतार. प्र. ५ १११)।]

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥
§§ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

(४०) इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को इसका अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं। इनके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर (ढँक कर) यह मनुष्य को भुलावे में डाल देता है। (४१) अतएव हे भरतश्रेष्ठ! पहले इन्द्रियों का संयम करके ज्ञान (अध्यात्म) और विज्ञान (विशेष ज्ञान) का नाश करनेवाले इस पापी को तू मार डाल।

(४२) कहा है कि (स्थूल बाह्य पदार्थों के मान से उनको जाननेवाली) इन्द्रियाँ पर अर्थात् परे हैं। इन्द्रियों के परे मन है। मन से भी परे (व्यवसायात्मक) बुद्धि है; और जो बुद्धि से भी परे है, वह आत्मा है। (४३) हे महाबाहु अर्जुन! इस प्रकार (जो) बुद्धि से परे है उसको पहचान कर और अपने आपको रोक करके दुरासाध्य कामरूपी शत्रु को तू मार डाल।

[कामरूपी आसक्ति को छोड़ कर स्वधर्म के अनुसार लोकसंग्रहार्थ समस्त कर्म करने के लिये इन्द्रियों पर अपनी सत्ता होनी चाहिये। वे अपने काबू में रहें। बस यहाँ इतना ही इन्द्रियनिग्रह विवक्षित है। यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों को जबर्दस्ती से एकदम मार करके सारे कर्म छोड़ दे (देखो गीतार. प्र. ५ पृ. ११५)। गीतारहस्य (परि. पृ. ५१) में दिखलाया है कि "इन्द्रियाणि पराण्याहुः" इत्यादि ४२ वाँ श्लोक कठोपनिषद् का है और उपनिषद् के अन्य चार-पाँच श्लोक भी गीता में लिये गये हैं। क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार का यह तात्पर्य है कि बाह्य पदार्थों के संस्कार ग्रहण करना इन्द्रियों का काम है, मन का काम इनकी व्यवस्था करना है और फिर बुद्धि इनको अलग अलग छाँटती है। एवं आत्मा इन सब से परे है तथा सब से भिन्न है। इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार गीतारहस्य के छठे प्रकरण के अन्त (पृ. १३२-१४०) में किया गया है।

चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

[कर्मविपाक के ऐसे गूढ़ प्रश्नों का विचार गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ. २७१–२८७) में किया गया है कि अपनी इच्छा न रहने पर भी मनुष्य काम-क्रोध आदि प्रकृतिधर्मों के कारण कोई काम करने में क्योंकर प्रवृत्त हो जाता है ? और आत्मस्वतन्त्रता के कारण इन्द्रियनिग्रहरूप साधन के द्वारा इससे छुटकारा पाने का मार्ग कैसे मिल जाता है ? गीता के छठे अध्याय में विचार किया गया है कि इन्द्रियनिग्रह कैसे करना चाहिये ?]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चौथा अध्याय

[कर्म किसी से छूटते नहीं हैं। इसलिये निष्कामबुद्धि हो जाने पर भी कर्म करना ही चाहिये। कर्म के मानी ही यज्ञयाग आदि कर्म हैं। पर मीमांसकों के ये कर्म स्वर्गप्रद हैं। अतएव एक प्रकार से बन्धक हैं। इस कारण इन्हें आसक्ति छोड़ करके करना चाहिये। ज्ञान से स्वार्थबुद्धि छूट जावे तो भी कर्म छूटते नहीं हैं। अतएव ज्ञाता को भी निष्काम करना ही चाहिये। लोकसंग्रह के लिये यह आवश्यक है। इत्यादि प्रकार से अब तक कर्मयोग का जो विवेचन किया गया, उसी को इस अध्याय में दृढ़ किया है। कहीं यह शङ्का न हो कि आयुष्य बिताने का यह मार्ग अर्थात् निष्ठा अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये नई बतलाई गई है। एतदर्थ इस मार्ग की प्राचीन गुरुपरम्परा पहले बतलाते हैं –]

श्रीभगवान ने कहा – (१) अव्यय अर्थात् कभी भी क्षीण न होनेवाला अथवा त्रिकाल में भी अबाधित और नित्य यह (कर्म) योग (मार्ग) मैंने विवस्वान् अर्थात् सूर्य को बतलाया था; विवस्वान् ने (अपने पुत्र) मनु को और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को बतलाया। (२) ऐसी परम्परा से प्राप्त हुए इस

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

(योग) को राजर्षियों ने जाना। परन्तु हे परन्तप (अर्जुन)! दीर्घकाल के अनन्तर वही योग इस लोक में नष्ट हो गया। (३) (सब रहस्यों में) उत्तम रहस्य समझ कर यह पुरातन योग (कर्मयोगमार्ग) मैंने तुझे आज इसलिये बतला दिया कि तू मेरा भक्त और सखा है।

[गीतारहस्य के तीसरे प्रकरण (पृ. ५५-६८) में हमने सिद्ध किया है, कि इन तीनों श्लोकों में 'योग' शब्द से आयु बिताने के उन दोनों मार्गों में से – कि जिन्हें सांख्य और योग कहते हैं – योग अर्थात् कर्मयोग यानी साम्यबुद्धि से कर्म करने का मार्ग अभिप्रेत है। गीता के उस मार्ग की परम्परा ऊपर के श्लोक बतलाये गये हैं। यह यद्यपि इस मार्ग की जड़ को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्व की है तथापि टीकाकारों ने उसकी विशेष चर्चा नहीं की है। महाभारत के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में भागवतधर्म का जो निरूपण है उसमें जनमेजय से वैशम्पायन कहते हैं कि यह धर्म पहले श्वेतद्वीप में भगवान् से ही –

नारदेन तु संप्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप ॥
एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

नारद को प्राप्त हुआ। हे राजा! वही महान् धर्म तुझे हरिगीता अर्थात् भगवद्गीता में समासविधिसहित बतलाया है – (म. भा. शां. ३४६. ९.१०)। और फिर कहा है कि युद्ध में विमनस्क हुए अर्जुन को यह धर्म बतलाया गया है (म. भा. शां. ३४८. ८)। इससे प्रकट होता है, कि गीता का योग अर्थात् कर्मयोग भागवतधर्म का है (गीतार. प्र. १ पृ. ८-११)। विस्तार हो जाने के भय से गीता में उसकी सम्प्रदायपरम्परा सृष्टि के मूल आरम्भ से नहीं दी है; विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु इन्हीं तीनों का उल्लेख कर दिया है। परन्तु इसका सच्चा अर्थ नारायणीय धर्म की समस्त परम्परा देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है। ब्रह्मा के कुल सात जन्म हैं। इनमें से पहले छः जन्मों की नारायणीय धर्म में कथित परम्परा का वर्णन हो चुकने पर जब ब्रह्मा के सातवें – अर्थात् वर्तमान – जन्म का कृतयुग समाप्त हुआ तब –

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥

इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप ॥
यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

"त्रेतायुग के आरम्भ में विवस्वान् ने मनु को (यह धर्म) दिया, मनु ने लोकधारणार्थ यह अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया और इक्ष्वाकु से आगे सब लोगों में फैल गया। हे राजा! सृष्टि का क्षय होने पर (यह धर्म) फिर नारायण के यहाँ चला जावेगा। यह धर्म और 'यतीनां चापि' अर्थात् इसके साथ ही संन्यासधर्म तुझसे पहले भगवद्गीता में कह दिया है" – ऐसा नारायणीय धर्म में ही वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा है (म. भा. शां. ३४८. ५१–५२)। इससे दीख पड़ता है कि जिस द्वापरयुग के अन्त में भारतीय युद्ध हुआ था उससे पहले के त्रेतायुगभर की ही भागवतधर्म की परम्परा गीता में वर्णित है। विस्तारभय से अधिक वर्णन नहीं किया है। यह भागवतधर्म ही योग या कर्मयोग है और मनु को इस कर्मयोग के उपदेश किये जाने की कथा न केवल गीता में है, प्रत्युत भागवतपुराण (८. २४. ५५) में भी इस कथा का उल्लेख है। मत्स्यपुराण के ५२ वें अध्याय में मनु को उपदिष्ट कर्मयोग का महत्त्व भी बतलाया गया है। परन्तु इनमें से कोई भी वर्णन नारायणीयोपाख्यान में किये गये वर्णन के समान पूर्ण नहीं है। विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा सांख्यमार्ग को बिलकुल ही उपयुक्त नहीं होती; और सांख्य एवं योग दोनों के अतिरिक्त तीसरी निष्ठा गीता में वर्णित ही नहीं है। इस बात पर ध्यान देने से दूसरी रीति से भी सिद्ध होता है कि यह परम्परा कर्मयोग की ही है (गीता २. ३९)। परन्तु सांख्य और योग दोनों निष्ठाओं की परम्परा यद्यपि एक न हो, तो भी कर्मयोग अर्थात् भागवतधर्म के निरूपण में ही सांख्य या संन्यासनिष्ठा के निरूपण का पर्याय से समावेश हो जाता है (गीतारहस्य प्र. १४ पृ. ४७१ देखो)। इस कारण वैशम्पायन ने कहा है कि भगवद्गीता में यतिधर्म अर्थात् संन्यासधर्म भी वर्णित है। मनुस्मृति में चार आश्रम धर्मों का जो वर्णन है उसके छठे अध्याय में पहले यति अर्थात् संन्यास आश्रम का धर्म कह चुकने पर विकल्प से 'वेदसंन्यासिकों का कर्मयोग' इस नाम से भागवतधर्म के कर्मयोग का वर्णन है। और स्पष्ट कहा है कि निःस्पृहता से अपना कर्म करते रहने से ही अन्त में परमसिद्धि मिलती है (मनु. ६. ९६)। इससे स्पष्ट दीख पड़ता है कि कर्मयोग मनु को भी ग्राह्य था। इसी प्रकार अन्य स्मृतिकारों को भी यह मान्य था और इस विषय के अनेक प्रमाण गीतारहस्य के ११ वें प्रकरण के अन्त (पृ. ३६३–३६८) में दिये गये हैं। अब अर्जुन को इस परम्परा पर यह शङ्का है कि –]

अर्जुन उवाच ।

§§ अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अर्जुन ने कहा — (४) तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है और विवस्वान् का इससे बहुत पहले हो चुका है। (ऐसी दशा में) यह कैसे जानूँ कि तुमने (यह योग) पहले बतलाया?

[अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् अपने अवतारों के कार्यों का वर्णन कर आसक्तिविरहित कर्मयोग या भागवतधर्म का ही फिर समर्थन करते हैं कि इस प्रकार मैं भी कर्मों को करता आ रहा हूँ।]

श्रीभगवान् ने कहा — (५) हे अर्जुन! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। उन सब को मैं जानता हूँ। (और) हे परन्तप! तू नहीं जानता (यही भेद है)। (६) मैं (अज) प्राणियों का स्वामी और जन्मविरहित हूँ। यद्यपि मेरे आत्मस्वरूप में कभी भी व्यय अर्थात् विकार नहीं होता, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लिया करता हूँ।

[इस श्लोक के अध्यात्मज्ञान में कापिलसांख्य और वेदान्त दोनों ही मतों का मेल कर दिया गया है। सांख्यमतवालों का कथन है कि प्रकृति आप ही स्वयं सृष्टि निर्माण करती है। परन्तु वेदान्ती लोग प्रकृति को परमेश्वर का ही एक स्वरूप समझ कर यह मानते हैं कि प्रकृति में परमेश्वर के अधिष्ठित होने पर प्रकृति से व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है। अपने अव्यक्त स्वरूप से व्यक्त जगत् को निर्माण करने की इस अचिन्त्य शक्ति को ही गीता में माया कहा है। और इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ऐसा वर्णन है — "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" अर्थात् प्रकृति ही माया है और उस माया का अधिपति परमेश्वर है (श्वे. ४. १०) और "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" — इस माया का अधिपति सृष्टि उत्पन्न करता है (श्वे. ४. ९)। [illegible] माया क्या वस्तु है? इस माया का स्वरूप क्या है और इस कथन का क्या अर्थ है कि माया से सृष्टि उत्पन्न होती है? — [illegible]

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
§§ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

[के [illegible] में प्रकरण में दिया गया है। यह बतला दिया कि अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त कैसे होता है? अर्थात् कर्म उत्पन्न हुआ-सा कैसे दीख पड़ता है? अब इस बात का खुलासा करते हैं कि वह ऐसा कब और किसलिये करता है?:-]

(७) हे भारत! जब (जब) धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की प्रबलता फैल जाती है, तब (तब) मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ। (८) साधुओं की संरक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने के लिये युग युग में धर्मसंस्थापना के अर्थ मैं जन्म लिया करता हूँ।

[इन दोनों श्लोकों में 'धर्म' शब्द का अर्थ केवल पारलौकिक वैदिक धर्म नहीं है। किन्तु चारों वर्णों के धर्म, न्याय और नीति प्रभृति बातों का भी उसमें मुख्यता से समावेश होता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है, कि जगत् में जब अन्याय, अनीति, दुष्टता और अँधाधुँधी मच कर साधुओं को कष्ट होने लगता है और जब दुष्टों का दबदबा बढ़ जाता है, तब अपने निर्माण किये हुए जगत् की सुस्थिति को स्थिर कर उसका कल्याण करने के लिये तेजस्वी और पराक्रमी पुरुष के रूप से (गीता १०. ४१) अवतार ले कर भगवान् समाज की बिगड़ी हुई व्यवस्था को फिर ठीक कर दिया करते हैं। इस रीति से अवतार ले कर भगवान् जो काम करते हैं, उसी को 'लोकसंग्रह' भी कहते हैं। पिछले अध्याय में कह दिया गया है कि यही काम अपनी शक्ति और अधिकार के अनुसार आत्मज्ञानी पुरुषों को भी करना चाहिये (गीता ३. २०)। यह बतला दिया गया कि परमेश्वर कब और किसलिये अवतार लेता है? अब यह बतलाते हैं कि इस तत्त्व को परख कर जो पुरुष तदनुसार बर्ताव करते हैं, उनको कौनसी गति मिलती है? –]

(९) हे अर्जुन! इस प्रकार के मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्म के तत्त्व को जो जानता है, वह देह त्यागने के पश्चात् फिर जन्म न ले कर मुझसे आ मिलता है। (१०) प्रीति, भय और क्रोध से छूटे हुए, मत्परायण और मेरे आश्रय में आये

§§ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥
कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

हुए अनेक लोग (इस प्रकार) ज्ञानरूप तप से शुद्ध होकर मेरे स्वरूप में आकर मिल गये हैं।

[भगवान के दिव्य जन्म को समझने के लिये यह जानना पड़ता है कि अव्यक्त परमेश्वर माया से सगुण कैसे होता है ? और इसके जान लेने से अध्यात्मज्ञान हो जाता है एवं दिव्य कर्म का ज्ञान लेने पर कर्म करके भी अलिप्त रहने का – अर्थात् निष्कामकर्म के तत्त्व का – ज्ञान हो जाता है सारांश परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म को पूरा पूरा जान लें तो अध्यात्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की पूरी पूरी पहचान हो जाती है और मोक्ष की प्राप्ति के लिये इसकी आवश्यकता होने के कारण ऐसे मनुष्य को अन्त में भगवत्प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। अर्थात् भगवान के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेने में सब कुछ आ गया। फिर अध्यात्मज्ञान अथवा निष्काम कर्मयोग दोनों का अलग अलग अध्ययन नहीं करना पड़ता। अतएव वक्तव्य यह है कि भगवान के जन्म और कृत्य का विचार करो एवं उसके तत्त्व को परख कर बर्ताव करो। भगवत्प्राप्ति होने के लिये दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है। भगवान् की यही सच्ची उपासना है। अब इसकी अपेक्षा नीचे के दर्जे की उपासनाओं के फल और उपयोग बतलाते हैं –]

(११) जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं उन्हें मैं उसी प्रकार के फल देता हूँ। हे पार्थ ! किसी भी ओर से हो मनुष्य मेरे ही मार्ग में आ मिलते हैं।

[मम वर्त्मानुवर्तन्ते इत्यादि उत्तरार्ध पहले (३. २३) कुछ निराले अर्थ में आया है और इससे ध्यान में आवेगा कि गीता में पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार अर्थ कैसे बदल जाता है ? यद्यपि यह सच है कि किसी मार्ग से जाने पर भी मनुष्य परमेश्वर की ही ओर जाता है तो यह जानना चाहिये कि अनेक लोग अनेक मार्गों में क्यों जाते हैं ? अब इसका कारण बतलाते हैं –]

(१२) (कर्मबन्धन के नाश की नहीं, किन्तु) कर्मफल की इच्छा करनेवाले लोग इस लोक में देवताओं की पूजा इसलिये किया करते हैं कि (ये) कर्मफल (रूपी) मनुष्यलोक में शीघ्र ही मिल जाते हैं।

[यही विचार सातवें अध्याय (गीता. ७. २१) में फिर आये हैं परमेश्वर की आराधना का सच्चा फल है मोक्ष। परन्तु वह तभी प्राप्त होता है कि जब कालान्तर से एवं दीर्घ और एकान्त उपासना से कर्मबन्ध का पूर्ण नाश

§§ चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

हो जाता है। परन्तु इतने दूरदर्शी और दीर्घ उद्योगी पुरुष बहुत ही थोड़े होते हैं। इस श्लोक का भावार्थ यह है कि बहुतेरों को अपने उद्योग अर्थात् कर्म से इसी लोक में कुछ-न-कुछ प्राप्त करना होता है; और ऐसे ही लोग देवताओं की पूजा किया करते हैं (गीता र. प्र. ११ पृ. ४२६ देखो)। गीता का यह भी तो परमेश्वर का ही पूजन होता है और करते करते इस योग का पर्यवसान निष्काममभक्ति में होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त हो जाता है (गीता ७ १)। पहले कह चुके हैं कि धर्म की संस्थापना करने के लिये परमेश्वर अवतार लेता है। अब संक्षेप में बतलाते हैं कि धर्म की संस्थापना करने के लिये क्या करना पड़ता है ? —]

(१३) (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इस प्रकार) चारों वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्म के भेद से मैंने निर्माण की है। इसे तू ध्यान में रख कि मैं उसका कर्ता भी हूँ; और अकर्ता अर्थात् उसे न करनेवाला अव्यय (मैं ही) हूँ।

[अर्थ यह है कि परमेश्वर कर्ता भले ही हो; पर अगले श्लोक के कथनानुसार वह सदैव निःसंग है। इस कारण अकर्ता ही है (गीता ५. १४ देखो)। परमेश्वर के स्वरूप के 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' ऐसे दूसरे भी विरोधाभासात्मक वचन हैं (गीता १३ १४)। चातुर्वर्ण्य के गुण और भेद का निरूपण आगे अठारहवें अध्याय (१८ ४१–४९) में किया गया है। अब भगवान् ने 'करके न करनेवाला' ऐसा जो अपना वर्णन किया है उसका मर्म बतलाते हैं :—]

(१४) मुझे कर्म का लेप अर्थात् बाधा नहीं होती। (क्योंकि) कर्म के फल में मेरी इच्छा नहीं है। जो मुझे इस प्रकार जानता है उसे कर्म की बाधा नहीं होती।

[ऊपर नवम श्लोक में जो यह बात कही है कि मेरे 'जन्म और कर्म' को जो जानता है वह मुक्त हो जाता है। उसमें से कर्म के तत्त्व का स्पष्टीकरण इस श्लोक में किया है। 'जानता है' शब्द में यहाँ 'जान कर तदनुसार बर्तने लगता है' इतना अर्थ विवक्षित है। भावार्थ यह है कि भगवान् को उनके कर्म की बाधा नहीं होती इसका यह कारण है कि वे फलाशा रख कर काम ही नहीं करते। और इसे जान कर तदनुसार जो बर्तता है उसको कर्मों का बन्धन नहीं होता। अब इस श्लोक के सिद्धान्त का ही प्रत्यक्ष उदाहरण देते हैं :—]

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

§§ किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

(१५) ऐसे जान कर प्राचीन समय के मुमुक्षु लोगों ने भी कर्म किया था। इसलिये पूर्व के लोगों के किये हुए अति प्राचीन कर्म ही तू कर।

[इस प्रकार मोक्ष और कर्म का विरोध नहीं है। अतएव अर्जुन को निश्चित उपदेश किया है कि तू कर्म कर! परन्तु संन्यासमार्गवालों का कथन है कि कर्मों के छोड़ने से अर्थात् अकर्म से ही मोक्ष मिलता है। इस पर यह शङ्का होती है कि ऐसे कथन का बीज क्या है। अतएव अब कर्म और अकर्म के विवेचन का आरम्भ करके तेईसवें श्लोक में सिद्धान्त करते हैं कि अकर्म कुछ कर्मत्याग नहीं है निष्कामकर्म को ही अकर्म कहना चाहिये।]

(१६) इस विषय में बड़े बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है कि कौन कर्म है और कौन अकर्म? (अतएव) वैसा कर्म तुझे बतलाता हूँ, कि जिसे जान लेने से तू पाप से मुक्त होगा।

[अकर्म नञ् है! व्याकरण की रीति से उसके अ = अञ् शब्द के 'अभाव' अथवा 'अप्राशस्त्य' दो अर्थ हो सकते हैं। और यह नहीं कह सकते कि इस स्थल पर ये दोनों ही अर्थ विवक्षित न होंगे। परन्तु अगले श्लोक में 'विकर्म' नाम से कर्म का एक और तीसरा भेद किया है। अतएव इस श्लोक में अकर्म शब्द से विशेषतः वही कर्मत्याग उद्दिष्ट है कि जिसे संन्यासमार्गवाले लोग कर्म का स्वरूपतः त्याग कहते हैं। संन्यासवाले कहते हैं कि सब कर्म छोड़ दो। परन्तु १८ वें श्लोक की टिप्पणी से दीख पड़ेगा कि इस बात को दिखलाने के लिये ही यह विवेचन किया गया है कि कर्म को बिलकुल ही त्याग देने की कोई आवश्यकता नहीं है; संन्यासमार्गवालों का कर्मत्याग सच्चा अकर्म नहीं है। अकर्म का मर्म ही कुछ और है।]

(१७) कर्म की गति गहन है। (अतएव) यह जान लेना चाहिये कि कर्म क्या है? और समझना चाहिये कि विकर्म (विपरीत कर्म) क्या है? और यह भी ज्ञात कर लेना चाहिये कि अकर्म (कर्म न करना) क्या है? (१८) कर्म में अकर्म

और अकर्म में कर्म जिसे दीख पड़ता है, वह पुरुष सब मनुष्यों में ज्ञानी और वही युक्त अर्थात् योगयुक्त एवं समस्त कर्म करनेवाला है।

[इसमें और अगले पाँच श्लोकों में कर्म, अकर्म एवं विकर्म का खुलासा किया गया है। इसमें जो कुछ कमी रह गई है, वह अगले अठारहवें अध्याय में कर्मत्याग, कर्म और कर्ता के त्रिविध भेदवर्णन में पूरी कर दी गई है (गीता १८. ४–७; १८. २३–२५; १८. २६–२८)। यहाँ संक्षेप में स्पष्टतापूर्वक यह बतला देना आवश्यक है, कि दोनों स्थलों के कर्मविवेचन से कर्म, अकर्म और विकर्म के सम्बन्ध में गीता के सिद्धान्त क्या हैं? क्योंकि, टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में बड़ी गड़बड़ कर दी है। संन्यासमार्गवालों को सब कर्मों का स्वरूपतः त्याग इष्ट है। इसलिये वे गीता के 'अकर्म' पद का अर्थ खींचातानी से अपने मार्ग की ओर खींचना चाहते हैं। मीमांसकों को यज्ञयाग आदि काम्यकर्म इष्ट हैं। इसलिये उन्हें उनके अतिरिक्त और सभी कर्म 'विकर्म' जँचते हैं। इसके सिवा मीमांसकों के नित्यनैमित्तिक आदि कर्मभेद भी इसी में आ जाते हैं और फिर इसी में धर्मशास्त्री अपनी दाल चावल की खिचड़ी पकाने की इच्छा रखते हैं। सारांश, चारों ओर से ऐसी खींचातानी होने के कारण अन्त में यह जान लेना कठिन हो जाता है, कि गीता 'अकर्म' किसे कहती है और 'विकर्म' किसे? अतएव पहले से ही इस बात पर ध्यान दिये रहना चाहिये, कि गीता में जिस तात्त्विक दृष्टि से इस प्रश्न का विचार किया गया है, वह दृष्टि निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी की है; काम्यकर्म करनेवाले मीमांसकों की या कर्म छोड़नेवाले संन्यासमार्गियों की नहीं है। गीता की इस दृष्टि को स्वीकार कर लेने पर तो यही कहना पड़ता है, कि 'कर्मशून्यता' के अर्थ में 'अकर्म' इस जगत् में कहीं भी नहीं रह सकता। अथवा कोई भी मनुष्य कभी कर्मशून्य नहीं हो सकता (गीता ३. ५; १८. ११)। क्योंकि सोना, उठना, बैठना और जीवित रहना तक किसी से भी छूट नहीं जाता। और यदि कर्मशून्यता होना सम्भव नहीं है, तो निश्चय करना पड़ता है कि अकर्म कहें किसे? इसके लिये गीता का यह उत्तर है, कि कर्म का मतलब निरी क्रिया न समझ कर उससे होनेवाले शुभ-अशुभ आदि परिणामों का विचार करके कर्म का कर्मत्व या अकर्मत्व निश्चित करो। यदि सृष्टि के मानी ही कर्म है, तो मनुष्य जब तक सृष्टि में है, तब तक उससे कर्म नहीं छूटते। अतः कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो, वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिये, कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा? करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिये, कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया; और यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय, तो फिर वह कर्म 'अकर्म' ही हुआ। अकर्म का प्रचलित सांसारिक अर्थ कर्मशून्यता ठीक है; परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से विचार

करने पर उसका यहाँ मेल नहीं मिलता। क्योंकि हम देखते हैं, कि चुपचाप बैठना अर्थात् कर्म न करना भी कई बार कर्म ही हो जाता है। उदाहरणार्थ अपने माँ-बाप को कोई मारता-पीटता हो तो उसको न रोक कर चुप्पी मारे देखा रहना उस समय व्यावहारिक दृष्टि से अकर्म अर्थात् कर्मशून्यता हो तो भी वह कर्म ही – अधिक क्या कहें? विकर्म – है और कर्मविपाक की दृष्टि से उसका अशुभ परिणाम हमें भोगना ही पड़ेगा। अतएव गीता इस श्लोक में विरोधाभास की रीति से बड़ी खूबी के साथ कहती है, कि ज्ञानी वही है, जिसने जान लिया कि अकर्म में भी (कभी कभी तो भयानक) कर्म हो जाता है तथा यही अर्थ अगले श्लोक में भिन्न भिन्न रीतियों से वर्णित है। कर्म के फल का बन्धन न लगने के लिये गीताशास्त्र के अनुसार यही एक सच्चा साधन है कि निःसङ्गबुद्धि से अर्थात् फलाशा छोड़ कर निष्कामबुद्धि से कर्म किया जावे (गीतारहस्य प्र. ५ पृ. ११०–११६ प्र. १ पृ. २८६–२८७ देखो)। अतः इस साधन का उपयोग कर निःसङ्गबुद्धि से जो कर्म किया जाय वही गीता के अनुसार प्रशस्त – सात्त्विक – कर्म है (गीता १८. ९) और गीता के मत में वही सच्चा अकर्म है। क्योंकि उसका कर्मत्व – (अर्थात् कर्मविपाक की क्रिया के अनुसार बन्धकत्व) निकल जाता है। मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं (और करते हैं पद में चुपचाप निठल्ले बने रहने का भी समावेश करना चाहिये) उनमें से उक्त प्रकार के अर्थात् सात्त्विक कर्म (अथवा गीता के अनुसार अकर्म) घटा देने से बाकी या कर्म रह जाते हैं उनके दो भाग हो सकते हैं एक राजस और दूसरा तामस। इनमें तामस कर्म मोह और अज्ञान से हुआ करते हैं। इसलिये उन्हें विकर्म कहते हैं – फिर यदि कोई कर्म मोह से छोड़ दिया जाय तो भी वह विकर्म ही है अकर्म नहीं (गीता १८. ७)। अब रह गये राजस कर्म। ये कर्म पहले दर्जे के अर्थात् सात्त्विक नहीं हैं। अथवा ये वे कर्म भी नहीं हैं जिन्हें गीता सचमुच अकर्म कहती है। गीता इन्हें 'राजस' कर्म कहती है। परन्तु यदि कोई चाहे तो ऐसे राजस कर्मों को केवल 'कर्म' भी कह सकता है। तात्पर्य क्रियात्मक स्वरूप अथवा कोरे धर्मशास्त्र से कर्म अकर्म का निश्चय नहीं होता। किन्तु कर्म के बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि कर्म है या अकर्म? अष्टावक्रगीता संन्यासमार्ग की है। तथापि उसमें भी कहा है –

> निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
> प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥

अर्थात् मूर्खों की निवृत्ति (अथवा हठ से या मोह के द्वारा कर्म से विमुखता) ही वास्तव में प्रवृत्ति अर्थात् कर्म है और पण्डित लोगों की प्रवृत्ति (अर्थात् निष्काम कर्म) से ही निवृत्ति यानी कर्मत्याग का फल मिलता है (अष्टा. १८. ६१)। गीता के उक्त श्लोक में ही यही अर्थ विरोधाभासरूपी अलङ्कार की रीति

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

से बड़ी सुन्दरता से बतलाया गया है। गीता के अकर्म के इस लक्षण को भली भाँति समझे बिना गीता के कर्म अकर्म के विवेचन का मर्म भी कभी समझ में आने का नहीं। अब इसी अर्थ को अगले श्लोकों में अधिक व्यक्त करते हैं :–]

(१९) ज्ञानी पुरुष उसी को पण्डित कहते हैं कि जिसके सभी समारम्भ अर्थात् उद्योग फल की इच्छा से विरहित होते हैं; और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं।

[ज्ञान से कर्म भस्म होते हैं इसका अर्थ कर्मों को छोड़ना नहीं है। किन्तु इस श्लोक से प्रगट होता है कि फल की इच्छा छोड़ कर कर्म करना यही अर्थ यहाँ लेना चाहिये (गीता र. प्र. १० पृ. २८६–२९१)। इसी प्रकार आगे भगवद्भक्त के वर्णन में जो 'सर्वारम्भपरित्यागी'–समस्त आरम्भ या उद्योग छोड़नेवाला – पद आया है (गीता १२. १६; १४. २५) उसके अर्थ का निर्णय भी इससे हो जाता है। अब इसी अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हैं :–]

(२०) कर्म की आसक्ति छोड़ कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है – अर्थात् जो पुरुष कर्मफल के साधन की आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता कि अमुक कार्य की सिद्धि के लिये अमुक काम करता हूँ – कहना चाहिये कि वह कर्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नहीं करता। (२१) आशी अर्थात् फल की वासना छोड़नेवाले चित्त का नियमन करनेवाला और सब परिग्रह से मुक्त पुरुष केवल शारीर अर्थात् शरीर या कर्मेन्द्रियों से ही कर्म करते समय पाप का भागी नहीं होता।

[कुछ लोग बीसवें श्लोक के 'निराश्रय' शब्द का अर्थ घरगृहस्थी न रखनेवाला (संन्यासी) करते हैं; पर वह ठीक नहीं है। आश्रय का अर्थ घर या डेरा कह सकेंगे, परन्तु इस स्थान पर कर्ता के स्वयं रहने का ठिकाना विवक्षित नहीं है। अर्थ यह है कि वह जो कर्म करता है उसका हेतुरूप ठिकाना (आश्रय) कहीं न रहे। यही अर्थ गीता के ६. १ श्लोक में 'अनाश्रितः कर्मफलं' इन शब्दों से स्पष्ट व्यक्त किया है और वामन पण्डित ने गीता की 'यथार्थदीपिका' नामक अपनी मराठी टीका में इसे स्वीकार किया है। ऐसे ही २१ वें श्लोक में शारीर

§§ ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

ही हो जाता है। इस यज्ञ से देवाधिदेव परमेश्वर अथवा ब्रह्म का यजन हुआ करता है। सारांश, मीमांसकों के द्रव्ययज्ञसम्बन्धी जो सिद्धान्त हैं वे इस बड़े यज्ञ के लिये भी उपयुक्त होते हैं और लोकसंग्रह के निमित्त जगत् के आसक्ति विरहित कर्म करनेवाला पुरुष कर्म के 'समग्र' फल से मुक्त होता हुआ अन्त में मोक्ष पाता है (गीतार. प्र. ११ पृ. ३४६–३५ देखो)। ब्रह्मार्पणरूपी बड़े यज्ञ का ही वर्णन पहले इस श्लोक में किया गया है। और फिर इसकी अपेक्षा कम योग्यता के अनेक लाक्षणिक यज्ञों का स्वरूप बतलाया गया है एवं तेतीसवें श्लोक में समग्र प्रकरण का उपसंहार कर कहा गया है, कि ऐसा ज्ञानयज्ञ ही सब में श्रेष्ठ है।]

(२४) अर्पण अथवा हवन करने की क्रिया ब्रह्म है। हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य ब्रह्म है; ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है – (इस प्रकार) जिसकी बुद्धि में (सभी) कर्म ब्रह्ममय हैं उसको ब्रह्म ही मिलता है।

[शांकरभाष्य में 'अर्पण' शब्द का अर्थ 'अर्पण करने का साधन' अर्थात् आचमनी इत्यादि है; परन्तु यह जरा कठिन है। इसकी अपेक्षा 'अर्पण = अर्पण करने की या हवन करने की क्रिया' यह अर्थ अधिक सरल है। यह ब्रह्मार्पणपूर्वक अर्थात् निष्कामबुद्धि से यज्ञ करनेवालों का वर्णन हुआ। अब देवता के उद्देश से अर्थात् काम्यबुद्धि से किये हुए यज्ञ का स्वरूप बतलाते हैं –]

(२५) कोई कोई (कर्म) योगी (ब्रह्मबुद्धि न रखके) देवता आदि के उद्देश से यज्ञ किया करते हैं और कोई ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ का यजन करते हैं।

[पुरुषसूक्त में विराट्रूपी यज्ञपुरुष के देवताओं द्वारा यजन होने का जो वर्णन है – 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋ. १ ... १६) उसी को लक्ष्य कर इस श्लोक का उत्तरार्ध कहा गया है। 'यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' ये पद ऋग्वेद के 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' से समानार्थक ही पड़ते हैं। प्रगट है कि इस यज्ञ में (जो सृष्टि के आरम्भ में हुआ था) जिस विराट्रूपी पशु का हवन किया था वह पशु और जिस देवता का यजन किया गया था वह देवता ये दोनों ब्रह्मस्वरूपी होंगे। सारांश, तात्त्विक अर्थ का यह वचन ही तत्त्वदृष्टि से ठीक है कि सृष्टि के सब पदार्थों में सदैव ब्रह्म भरा हुआ है। इस कारण इच्छारहित बुद्धि से सब व्यवहार करते करते ब्रह्म से ही ब्रह्म का यजन होता रहता है। केवल बुद्धि वैसी

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

[होनी चाहिये । पुरुषसूक्त का स्मरण कर गीता में यही एक श्लोक नहीं है; प्रत्युत आगे दसवें अध्याय (१८ ४७) में भी इस सूक्त के अनुसार वर्णन है । देवता के उद्देश से किये हुए यज्ञ का वर्णन हो चुका । अब अग्नि आदि दृश्य द्रव्यों के लाक्षणिक अर्थ लेकर बतलाते हैं कि प्राणायाम आदि पातञ्जलयोग की क्रिया अथवा तपश्चरण भी एक प्रकार का यज्ञ होता है :-]

(२६) और कोई श्रोत्र आदि (कान आँख आदि) इन्द्रियों का संयमरूप अग्नि में होम करते हैं; और कुछ लोग इन्द्रियरूप अग्नि में (इन्द्रियों के) शब्द आदि विषयों का हवन करते हैं । (२७) और कुछ लोग इन्द्रियों तथा प्राणों के सब कर्मों को अर्थात् व्यापारों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योग की अग्नि में हवन किया करते हैं ।

[इन श्लोकों में दो-तीन प्रकार के लाक्षणिक यज्ञों का वर्णन है । जैसे (१) इन्द्रियों का संयमन करना अर्थात् उनको योग्य मर्यादा के भीतर अपने अपने व्यवहार करने देना । (२) इन्द्रियों के विषय अर्थात् उपभोग के पदार्थ सर्वथा छोड़ कर इन्द्रियों को बिलकुल मार डालना । (३) न केवल इन्द्रियों के व्यापार को, प्रत्युत प्राणों के भी व्यापार को बन्द कर पूरी समाधि लगा करके केवल आत्मानन्द में ही मग्न रहना । अब इन्हें यज्ञ की उपमा दी जाय तो पहले भेद में इन्द्रियों को मर्यादित करने की क्रिया (संयमन) अग्नि हुई । क्योंकि दृष्टान्त से यह कहा जा सकता है कि इस मर्यादा के भीतर जो कुछ आ जाय उसका उसमें हवन हो गया । इसी प्रकार दूसरे भेद में साक्षात् इन्द्रियाँ होमद्रव्य हैं । और तीसरे भेद में इन्द्रियाँ एवं प्राण दोनों मिल कर होम करने के द्रव्य हो जाते हैं और आत्मसंयमन अग्नि है । इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे हैं जो निरा प्राणायाम ही किया करते हैं । उनका वर्णन उनतीसवें श्लोक में है । 'यज्ञ' शब्द के मूल अर्थ द्रव्यात्मक यज्ञ को लक्षणा से विस्तृत और व्यापक कर तप, संन्यास, समाधि एवं प्राणायाम प्रभृति भगवत्प्राप्ति के सब प्रकार के साधनों का एक 'यज्ञ' शीर्षक में ही समावेश कर दिया गया है । भगवद्गीता की यह कल्पना कुछ अपूर्व नहीं है । मनुस्मृति के चौथे अध्याय में गृहस्थाश्रम के वर्णन के सिलसिले में पहले यह बतलाया गया है कि ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ — इन स्मार्त पञ्चमहायज्ञों को कोई गृहस्थ न छोड़े । और फिर कहा है कि इनके

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

यज्ञ कोई कोई इन्द्रियों में वाणी का हवन कर वाणी में प्राण का हवन करके अन्त में ज्ञानयज्ञ से भी परमेश्वर का यजन करते हैं' (मनु. ४. २१–२४)। इतिहास की दृष्टि से देखें तो विदित होता है कि इन्द्र-वरुण प्रभृति देवताओं के उद्देश से जो द्रव्यमय यज्ञ श्रौत ग्रन्थों में कहे गये हैं, उनका प्रचार धीरे धीरे घटता गया। और जब पातञ्जलयोग से, संन्यास से अथवा आध्यात्मिक ज्ञान से परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने के मार्ग अधिक अधिक प्रचलित होने लगे, तब 'यज्ञ' ही शब्द का अर्थ विस्तृत कर उसी में मोक्ष के समग्र उपायों का लक्षणा से समावेश करने का आरम्भ हुआ होगा। इसका मर्म यही है, पहले जो शब्द धर्म की दृष्टि से प्रचलित हो गये थे, *उन्हीं का उपयोग अगले धर्ममार्ग के लिये भी किया जावे।* कुछ भी हो; मनुस्मृति के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के पहले, या अन्ततः उस काल में उक्त कल्पना सर्वसामान्य हो चुकी थी।]

(२८) इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करनेवाले यति अर्थात् संयमी पुरुष कोई द्रव्यरूप, कोई तपरूप, कोई योगरूप, कोई स्वाध्याय अर्थात् नित्य स्वकर्मानुष्ठानरूप और कोई ज्ञानरूप यज्ञ किया करते हैं। (२९) प्राणायाम में तत्पर हो कर प्राण और अपान की गति को रोक करके कोई प्राणवायु का अपान में (हवन किया करते हैं) और कोई अपानवायु का प्राण में हवन किया करते हैं।

[इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि पातञ्जलयोग के अनुसार प्राणायाम करना भी एक यज्ञ ही है। यह पातञ्जलयोगरूप यज्ञ उनतीसवें श्लोक में बतलाया गया है। अतः अट्ठाईसवें श्लोक के 'योगरूप यज्ञ' पद का अर्थ कर्मयोगरूपी यज्ञ करना चाहिये। प्राणायाम शब्द के 'प्राण' शब्द से श्वास और उच्छ्वास दोनों क्रियाएँ प्रकट होती हैं। परन्तु जब प्राण और अपान का भेद करना होता है, तब प्राण = बाहर जानेवाली अर्थात् उच्छ्वास वायु, और अपान = भीतर आनेवाली श्वास, यह अर्थ लिया जाता है (वे. सू. शां. भा. २. ४. १२ और छान्दोग्य शां. भा. १. ३. ३)। ध्यान रहे कि प्राण और अपान के ये अर्थ प्रचलित अर्थ से भिन्न हैं। इस अर्थ से अपान में अर्थात् भीतर खींची हुई श्वास में प्राण का – उच्छ्वास का – होम करने से पूरक नाम का प्राणायाम होता है; और इसके विपरीत प्राण में अपान का होम करने से रेचक प्राणायाम होता है। प्राण और अपान दोनों के ही निरोध से वही प्राणायाम

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

[कुम्भक हो जाता है। अब इनके सिवा व्यान, उदान और समान ये तीनों बच रहे। इनमें से व्यान प्राण और अपान के संधिस्थलों में रहता है; जो मनुष्य सींचने, वजन उठाने आदि दम खींच कर या आधी श्वास छोड़ करके शक्ति के काम करते समय व्यक्त होता है (छां. १. ३. ५)। मरणसमय में निकल जाने वाली वायु को उदान कहते हैं (प्रश्न. ३. ६) और सारे शरीर में सब स्थानों पर एक-सा अन्नरस पहुँचानेवाली वायु को समान कहते हैं (प्रश्न. ३. ५)। इस प्रकार वेदान्तशास्त्र में इन शब्दों के सामान्य अर्थ किये गये हैं; परन्तु कुछ स्थलों पर इसकी अपेक्षा निराले अर्थ अभिप्रेत होते हैं। उदाहरणार्थ महाभारत (वनपर्व) के २१२ वें अध्याय में प्राण आदि वायु के निराले ही लक्षण हैं। उसमें प्राण का अर्थ मस्तक की वायु और अपान का अर्थ नीचे सरकनेवाली वायु है (प्रश्न. ३. ५ और मैत्र्यु. २. ६)। ऊपर के श्लोक में जो वर्णन है उसका यह अर्थ है, कि इनमें से जिस वायु का निरोध करते हैं, उसका अन्य वायु में होम होता है।]

(२९-३१) और कुछ लोग आहार को नियमित कर प्राणों का ही होम किया करते हैं। ये सभी लोग सनातन ब्रह्म में जा मिलते हैं, कि जो यज्ञ के जाननेवाले हैं, जिनके पाप यज्ञ से क्षीण हो गये हैं (और जो) अमृत का (अर्थात् यज्ञ से बचे हुए का) उपभोग करनेवाले हैं। यज्ञ न करनेवाले को (जब) इस लोक में सफलता नहीं होती, (तब) फिर हे कुरुश्रेष्ठ! (उसे) परलोक कहाँ से (मिलेगा)?

[सारांश, यज्ञ करना यद्यपि वेद की आज्ञा के अनुसार मनुष्य का कर्तव्य है, तो भी यह यज्ञ एक ही प्रकार का नहीं होता। प्राणायाम करो, तप करो, वेद का अध्ययन करो, अग्निष्टोम करो, पशुयज्ञ करो, तिल-चावल अथवा घी का हवन करो, पूजापाठ करो या नैवेद्य-वैश्वदेव आदि पाँच गृहयज्ञ करो; फलासक्ति के छूटने पर ये सब व्यापक अर्थ में यज्ञ ही हैं। और फिर यज्ञशेष-भक्षण के विषय में मीमांसकों के जो सिद्धान्त हैं, वे सब इनमें से प्रत्येक यज्ञ के लिये उपयुक्त हो जाते हैं। इनमें से पहला नियम यह है, कि "यज्ञ के अर्थ किया हुआ कर्म बन्धक नहीं होता" और इसका वर्णन तीसरे अध्याय में हो चुका है (गीता ३. ९ पर टिप्पणी देखो)। अब दूसरा नियम यह है, कि प्रत्येक गृहस्थ पञ्चमहायज्ञ कर अतिथि आदि के भोजन कर चुकने पर फिर अपनी पत्नी-सहित भोजन करे; और इस प्रकार बर्तने से गृहस्थाश्रम सफल होकर सद्गति देता है। "विघसं भुक्त"

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

[यज्ञशेषममृतम् (मनु. ३ २८) – अतिथि वगैरह के भोजन कर चुकने पर जो बचे, उसे 'विघस' और यज्ञ करने से जो शेष रहे उसे 'अमृत' कहते हैं। इस प्रकार व्याख्या करके मनुस्मृति और अन्य स्मृतियों में भी कहा है कि प्रत्येक गृहस्थ को नित्य विघसाशी और अमृताशी होना चाहिये (गीता ३ १३ और गीतारहस्य प्र. १० पृ २९७ देखो)। अब भगवान् कहते हैं कि सामान्य गृहस्थ को उपयुक्त होनेवाला यह सिद्धान्त ही सब प्रकार के उक्त यज्ञों को उपयोगी होता है। यज्ञ के अर्थ किया हुआ कोई भी कर्म बन्धक नहीं होता। यही नहीं, बल्कि उन कर्मों में से अवशिष्ट काम यदि अपने निजी उपयोग में आ जावें तो भी वे बन्धक नहीं होते (देखो गीतार प्र १२ पृ. ३८७)। "बिना यज्ञ के इहलोक भी सिद्ध नहीं होता" यह वाक्य मार्मिक और महत्त्व का है। इसका अर्थ इतना ही नहीं है कि यज्ञ के बिना पानी नहीं बरसता और पानी के न बरसने से इस लोक की गुजर नहीं होती। किन्तु 'यज्ञ' शब्द का व्यापक अर्थ लेकर इस सामाजिक तत्त्व का भी इसमें पर्याय से समावेश हुआ है कि कुछ अपनी प्यारी बातों को छोड़े बिना न तो सब को एक-सी सुविधा मिल सकती है; और न जगत् के व्यवहार ही चल सकते हैं। उदाहरणार्थ – पश्चिमी समाजशास्त्रवेत्ता जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं कि अपनी अपनी स्वतन्त्रता को परिमित किये बिना औरों को एक-सी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती है वही इस तत्त्व का उदाहरण है। और, यदि गीता की परिभाषा में इसी अर्थ को कहना हो तो इस स्थल पर ऐसी यज्ञप्रधान भाषा का ही प्रयोग करना पड़ेगा कि जब तक प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के कुछ अंश का भी यज्ञ न करे तब तक इस लोक के व्यवहार चल नहीं सकते। इस प्रकार के व्यापक और विस्तृत अर्थ से जब यह निश्चय हो चुका कि यज्ञ ही सारी समाजरचना का आधार है तब कहना नहीं होगा, कि केवल कर्तव्य की दृष्टि से 'यज्ञ' करना जब तक प्रत्येक मनुष्य न सीखेगा तब तक समाज की व्यवस्था ठीक न रहेगी।]

(३२) इस प्रकार भाँति भाँति के यज्ञ ब्रह्म के (ही) मुख में जारी हैं। यह जानो कि वे सब कर्म से निष्पन्न होते हैं। यह ज्ञान हो जाने से तू मुक्त हो जावेगा।

[ज्योतिष्टोम आदि द्रव्यमय श्रौतयज्ञ अग्नि में हवन करके किये जाते हैं और शास्त्र में कहा है कि देवताओं का मुख अग्नि है। इस कारण ये यज्ञ उन देवताओं को मिल जाते हैं। परन्तु यदि कोई समझे कि देवताओं के मुख – अग्नि – में उक्त स्थूलिक यज्ञ नहीं होते। अतः इन सात्त्विक यज्ञों से श्रेयप्राप्ति

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥
§§ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

होते कैसे? तो उसे दूर करने के लिये कहा है कि ये साक्षात् ब्रह्म के ही मुख में होते हैं। दूसरे चरण का भावार्थ यह है कि जिस पुरुष ने यज्ञविधि के इस व्यापक स्वरूप को – केवल मीमांसकों के संकुचित अर्थ को ही नहीं – जान लिया, उसकी बुद्धि संकुचित नहीं रहती। किन्तु वह ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने का अधिकारी हो जाता है। अब बतलाते हैं कि इन यज्ञों में श्रेष्ठ यज्ञ कौन है?]

(३३) हे परन्तप! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि, हे पार्थ! सब प्रकार के समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है।

[गीता में 'ज्ञानयज्ञ' शब्द दो बार आगे भी आया है (गीता ९. १५ और १८. ७०)। हम जो द्रव्यमय यज्ञ करते हैं, वह परमेश्वर की प्राप्ति के लिये किया करते हैं। परन्तु परमेश्वर की प्राप्ति उसके स्वरूप का ज्ञान हुए बिना नहीं होती। अतएव परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान के अनुसार आचरण करके परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने के इस मार्ग या साधन को 'ज्ञानयज्ञ' कहते हैं। यह यज्ञ मानस और बुद्धिसाध्य है। अतः द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा इसकी योग्यता अधिक समझी जाती है। मोक्षशास्त्र में ज्ञानयज्ञ का यह ज्ञान ही मुख्य है और इसी ज्ञान से सब कर्मों का क्षय हो जाता है। कुछ भी हो, गीता का यह स्थिर सिद्धान्त है कि अन्त में परमेश्वर का ज्ञान होना चाहिये। बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता। तथापि 'कर्म का पर्यवसान ज्ञान में होता है' इस वचन का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान के पश्चात् कर्मों को छोड़ देना चाहिये – यह बात गीतारहस्य के दसवें और ग्यारहवें प्रकरण में विस्तारपूर्वक प्रतिपादन की गई है। अपने लिये नहीं, तो लोकसंग्रह के निमित्त कर्तव्य समझ कर सभी कर्म करना चाहिये। और जब कि वे ज्ञान एवं समबुद्धि से किये जाते हैं, तब उनके पापपुण्य की बाधा कर्ता को नहीं होती (देखो आगे ३७ वाँ श्लोक) और यह ज्ञानयज्ञ मोक्षप्रद होता है। अतः गीता का सब लोगों को यही उपदेश है कि यज्ञ करो, किन्तु उन्हें ज्ञानपूर्वक निष्कामबुद्धि से करो।]

(३४) ध्यान में रख कि प्रणिपात से, प्रश्न करने से और सेवा से तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे; (३५) जिस ज्ञान को पाकर हे पाण्डव!

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥
§§ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

फिर तुझे ऐसा मोह नहीं होगा; और जिस ज्ञान के योग से समस्त प्राणियों को तू अपने में और मुझमें भी देखेगा।

[सब प्राणियों को अपने में और अपने को सब प्राणियों में देखने का समस्त प्राणिमात्र में एकता का जो ज्ञान वर्णित है (गीता ६. २९), उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है। मूल में आत्मा और भगवान् दोनों एकरूप हैं। अतएव आत्मा में सब प्राणियों का समावेश होता है। अर्थात् भगवान् में भी उनका समावेश होकर आत्मा (मैं), अन्य प्राणी और भगवान् यह त्रिविध भेद नष्ट हो जाता है। इसीलिये भागवत पुराण में भगवद्भक्तों का लक्षण देते हुए कहा है "सब प्राणियों को भगवान् में और अपने में जो देखता है उसे उत्तम भागवत कहना चाहिये" (भाग. ११. २. ४५)। इस महत्त्व के नीतितत्त्व का अधिक खुलासा गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३९२–४०१) में और भक्तिदृष्टि से तेरहवें प्रकरण (पृ. ४३२–४३३) में किया गया है।]

(३६) सब पापियों से यदि अधिक पाप करनेवाला हो, तो भी (उस) ज्ञाननौका से ही तू सब पापों को पार कर जावेगा। (३७) जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि (सब) ईंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! (यह) ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को (शुभ-अशुभ बन्धनों को) भस्म कर डालती है।

[ज्ञान की महत्ता बतला दी। अब बतलाते हैं कि इस ज्ञान की प्राप्ति किन उपायों से होती है? –]

(३८) इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ भी नहीं है। काल पा कर उस ज्ञान को वह पुरुष आप ही अपने में प्राप्त कर लेता है, जिसका योग अर्थात् कर्मयोग सिद्ध हो गया है।

[३७ वें श्लोक में 'कर्मों' का अर्थ 'कर्म का बन्धन' है (गीता ४. १९ देखो)। अपनी बुद्धि से आरम्भ किये हुए निष्काम कर्मों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कर लेना ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य या बुद्धिगम्य मार्ग है। परन्तु जो स्वयं इस प्रकार अपनी बुद्धि से ज्ञान को प्राप्त न कर सके, उनके लिये अब श्रद्धा का दूसरा मार्ग बतलाते हैं –]

[ज्ञान और योग के समुच्चय से ही कर्म करने के विषय में अर्जुन को उपदेश किया गया है। इन दोनों का पृथक् पृथक् उपयोग यह है, कि निष्कामबुद्धियोग के द्वारा कर्म करने पर उनके बन्धन टूट जाते हैं; और वे मोक्ष के लिए प्रतिबन्धक नहीं होते एवं ज्ञान से मन का सन्देह दूर होकर मोक्ष मिलता है। अतः अन्तिम तत्त्व यह है, कि अकेले कर्म या अकेले ज्ञान को स्वीकार न करो, किन्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक कर्मयोग का आश्रय करके युद्ध करो। अर्जुन को योग का आश्रय करके युद्ध के लिए खड़ा रहना था। इस कारण गीतारहस्य के प्र. ११ पृष्ठ ५६ में दिखलाया गया है, कि योग शब्द का अर्थ यहाँ कर्मयोग ही लेना चाहिये। ज्ञान योग का यह मेल ही 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' पद से दैवी सम्पत्ति के लक्षण (गीतारहस्य १६. १) में फिर बतलाया गया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

[ध्यान रहे कि 'ज्ञान-कर्म-संन्यास' पद में संन्यास शब्द का अर्थ 'स्वरूपतः कर्मत्याग' नहीं है। किन्तु निष्कामबुद्धि से परमेश्वर में कर्म का संन्यास अर्थात् अर्पण करना अर्थ है। और आगे अठारहवें अध्याय के आरम्भ में उसी का खुलासा किया गया है।]

पाँचवाँ अध्याय

[चौथे अध्याय के सिद्धान्त पर संन्यासमार्गवालों की जो शंका हो सकती है उसे ही अर्जुन के मुख से प्रश्नरूप से कहला कर इस अध्याय में भगवान् ने उसका स्पष्ट उत्तर दिया है। यदि समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान है (४. ३३) यदि ज्ञान से ही सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं (४. ३७); और यदि द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है (४. ३३); तो दूसरे ही अध्याय में यह कह कर – कि 'धर्म्य युद्ध करना ही क्षत्रिय को श्रेयस्कर है' (२. ३१) – चौथे अध्याय के उपसंहार में यह बात क्यों कही गई कि 'अतएव तू कर्मयोग का आश्रय कर युद्ध के लिये उठ खड़ा हो' (४. ४२)? इस प्रश्न का गीता यह उत्तर देती है कि समस्त सन्देहों को दूर कर मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। और यदि मोक्ष के लिये कर्म आवश्यक न हों तो भी कर्मों न छूटने के कारण वे लोकसंग्रहार्थ आवश्यक हैं इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों के ही समुच्चय की नित्य अपेक्षा है (४. ४१)। परन्तु इस पर भी शंका होती है कि यदि कर्मयोग और सांख्य दोनों

पञ्चमोऽध्याय ।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

ही मार्ग शास्त्र में विहित हैं, तो इनमें से अपनी इच्छा के अनुसार सांख्यमार्ग को स्वीकार कर कर्मों का त्याग करने में हानि ही क्या है? अर्थात् इसका पूरा निर्णय हो जाना चाहिये कि इन दोनों मार्गों में श्रेष्ठ कौन-सा है; और अर्जुन के मन में यही शङ्का हुई है। उसने तीसरे अध्याय के आरम्भ में जैसा प्रश्न किया था, वैसा ही अब भी वह पूछता है कि –]

(१) अर्जुन ने कहा – हे कृष्ण! (तुम) एक बार संन्यास को और दूसरी बार कर्मों के योग को (अर्थात् कर्म करते रहने के मार्ग को ही) उत्तम बतलाते हो। अब निश्चय कर मुझे एक ही (मार्ग) बतलाओ, कि जो इन दोनों में सचमुच ही श्रेय अर्थात् अधिक प्रशस्त हो। (२) श्रीभगवान ने कहा – कर्म-संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयस्कर हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करा देनेवाले हैं; परन्तु (मोक्ष की दृष्टि से दोनों की योग्यता समान होने पर भी) इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है।

[उक्त प्रश्न और उत्तर दोनों निःसन्दिग्ध और स्पष्ट हैं। व्याकरण की दृष्टि से पहले श्लोक के 'श्रेय' शब्द का अर्थ अधिक प्रशस्त या बहुत अच्छा है। दोनों मार्गों के तारतम्य भावविषयक अर्जुन के प्रश्न का ही यह उत्तर है कि 'कर्मयोगो विशिष्यते' – कर्मयोग की योग्यता विशेष है। तथापि यह सिद्धान्त सांख्यमार्ग को इष्ट नहीं है; क्योंकि उसका कथन है कि ज्ञान के पश्चात् सब कर्मों का स्वरूपतः संन्यास ही करना चाहिये। इस कारण इन स्पष्ट अर्थवाले प्रश्नोत्तरों की व्यर्थ खींचातानी कुछ लोगों ने की है। जब यह खींचातानी करने पर भी निर्वाह न हुआ, तब इन लोगों ने यह तुर्रा लगा कर किसी प्रकार अपना समाधान कर लिया कि 'विशिष्यते' (योग्यता या विशेषता) पद से भगवान् ने कर्मयोग की अर्थवादात्मक अर्थात् झूठी प्रशंसा कर दी है – असल में भगवान् के मत से [illegible] संन्यास [illegible] नहीं है। यदि भगवान का यह मत होता कि ज्ञान के

§§ ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

पश्चात् कर्मों की आवश्यकता नहीं है; तो क्या वे अर्जुन को यह उत्तर नहीं दे देते कि 'इन दोनों में संन्यास श्रेष्ठ है'? परन्तु ऐसा न करके उन्होंने दूसरे श्लोक के पहले चरण में बतलाया है कि कर्मों का करना और छोड़ देना ये दोनों मार्ग एक ही से मोक्षदाता हैं; और आगे 'तु' अर्थात् 'परन्तु' पद का प्रयोग करके जब भगवान् ने निःसन्दिग्ध विधान किया है कि 'तयोः' अर्थात् इन दोनों मार्गों में कर्म छोड़ने के मार्ग की अपेक्षा कर्म करने का पक्ष ही अधिक प्रशस्त (श्रेय) है। तब पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि भगवान् को ही यही मत मान्य है कि साधनावस्था में ज्ञानप्राप्ति के लिये किये जानेवाले निष्काम कर्मों को ही ज्ञानी पुरुष आगे सिद्धावस्था में भी लोकसंग्रह के अर्थ मरणपर्यन्त कर्तव्य समझ कर करता रहे। यही अर्थ गीता ३. ७ में वर्णित है। यही 'विशिष्यते' पद वहाँ है, और उसके अगले श्लोक में अर्थात् गीता ३. ८ में ये स्पष्ट शब्द फिर भी हैं कि 'अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है'। इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदों में कई स्थलों पर (बृ. ४. ४. २२) वर्णन है कि ज्ञानी पुरुष लोकैषणा और पुत्रैषणा प्रभृति न रख कर भिक्षा माँगते हुए घूमा करते हैं। परन्तु उपनिषदों में भी यह नहीं कहा है कि ज्ञान के पश्चात् यही एक ही मार्ग है – दूसरा नहीं है। अतः केवल उल्लिखित उपनिषद्-वाक्य से ही गीता की एकवाक्यता करना उचित नहीं है। गीता का यह कथन नहीं है कि उपनिषदों में वर्णित यह संन्यासमार्ग मोक्षप्रद नहीं है; किन्तु यद्यपि कर्मयोग और संन्यास दोनों मार्ग एक-से ही मोक्षप्रद हैं तथापि (अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से दोनों का फल एक ही होने पर भी) जगत् के व्यवहार का विचार करने पर गीता का यह निश्चित मत है कि ज्ञान के पश्चात् भी निष्कामबुद्धि से कर्म करते रहने का मार्ग ही अधिक प्रशस्त या श्रेष्ठ है। हमारा किया हुआ यह अर्थ गीता के बहुतेरे टीकाकारों को मान्य नहीं है। उन्होंने कर्मयोग को गौण निश्चित किया है। परन्तु हमारी समझ में ये अर्थ सरल नहीं हैं। और गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (विशेष कर पृ. ३०६–३१९) में इसके कारणों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस कारण यहाँ उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार दोनों में से अधिक प्रशस्त मार्ग का निर्णय कर दिया गया। अब यह सिद्ध कर दिखलाते हैं कि ये दोनों मार्ग व्यवहार में यदि लोगों को भिन्न दीख पड़ें तो भी तत्त्वतः वे दो नहीं हैं :–]

(३) जो (किसी का भी) द्वेष नहीं करता और (किसी की भी) इच्छा नहीं करता, उस पुरुष को (कर्म करने पर भी) नित्यसंन्यासी समझना चाहिये। क्योंकि हे महाबाहु अर्जुन! जो (सुखदुःख आदि) द्वन्द्वों से मुक्त हो जाय वह

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

जितात्मा हो गया, वह सब कर्म करता हुआ भी (कर्मों के पुण्यपाप से) अलिप्त रहता है। (८) योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुष को समझना चाहिये, कि "मैं कुछ भी नहीं करता"। (और) देखने में, सुनने में, स्पर्श करने में, खाने में, सूँघने में, चलने में, सोने में, साँस लेने-छोड़ने में, (९) बोलने में, विसर्जन करने में, लेने में, आँखों के पलक खोलने और बन्द करने में भी ऐसी बुद्धि रख कर व्यवहार करे, कि (केवल) इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में बर्तती हैं।

[अन्त के दो श्लोक मिल कर एक वाक्य बना है, और उसमें कहलाये हुए सब कर्म भिन्न भिन्न इन्द्रियों के व्यापार हैं। उदाहरणार्थ, विसर्जन करना गुद का, लेना हाथ का, पलक गिराना प्राणवायु का, देखना आँखों का इत्यादि। 'मैं कुछ भी नहीं करता' इसका यह मतलब नहीं, कि इन्द्रियों को चाहे जो करने दे; किन्तु मतलब यह है, कि 'मैं' इस अहङ्कारबुद्धि के छूट जाने से अचेतन इन्द्रियाँ आप ही आप कोई बुरा काम नहीं कर सकतीं और वे आत्मा के वश में रहती हैं। सारांश, कोई पुरुष ज्ञानी हो जाय, तो भी श्वासोच्छ्वास आदि इन्द्रियों के कर्म उसकी इन्द्रियाँ करती ही रहेंगी। और तो क्या! पलभर जीवित रहना भी कर्म ही है। फिर यह भेद कहाँ रह गया, कि संन्यासमार्ग का ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ता है और कर्मयोगी करता है? कर्म तो दोनों को करना ही पड़ता है। पर अहङ्कारयुक्त आसक्ति छूट जाने से वे ही कर्म बन्धक नहीं होते। इस कारण आसक्ति का छोड़ना ही इसका मुख्य तत्त्व है; और उसी का अब अधिक निरूपण करते हैं :–]

(१०) जो ब्रह्म में अर्पण कर आसक्तिविरहित कर्म करता है, उसको वैसे ही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमल के पत्ते को पानी नहीं लगता। (११) (अतएव) कर्मयोगी (ऐसी अहङ्कारबुद्धि न रख कर, कि 'मैं करता हूँ' – केवल) शरीर से, (केवल) मन से, (केवल) बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी आसक्ति छोड़ कर आत्मशुद्धि के लिये कर्म किया करते हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

§§ ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

§§ विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

अर्थात् प्रकृति ही (सब कुछ) किया करती है। (१५) विभु अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा या परमेश्वर किसी का पाप और किसी का पुण्य भी नहीं लेता। ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहने के कारण (अर्थात् माया से) प्राणी मोहित हो जाते हैं।

[इन दोनों श्लोकों का तत्त्व असल में सांख्यशास्त्र का है (गीतार. प्र. ७ पृ. १६४-१६७)। वेदान्तियों के मत आत्मा का अर्थ परमेश्वर है। अतः वेदान्ती लोग परमेश्वर के विषय में भी 'आत्मा अकर्ता है' इस तत्त्व का उपयोग करते हैं। प्रकृति और पुरुष ऐसे दो तत्त्व मान कर सांख्यमतवादी समग्र कर्तृत्व प्रकृति का मानते है और आत्मा को उदासीन कहते हैं। परन्तु वेदान्ती लोग इसके आगे बढ़ कर यह मानते हैं कि इन दोनों ही का मूल एक निर्गुण परमेश्वर है और वह सांख्यवालों के आत्मा के समान उदासीन और अकर्ता है। एवं सारा कर्तृत्व माया (अर्थात् प्रकृति) का है (गीतार. प्र. ९, पृ. २६७) अज्ञान के कारण साधारण मनुष्य को ये बातें जान नहीं पड़ती; परन्तु कर्मयोगी कर्तृत्व और अकर्तृत्व का भेद जानता है। इस कारण वह कर्म करके भी अलिप्त ही रहता है। अब यही कहते हैं।]

(१६) परन्तु ज्ञान से जिनका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है उनके लिये उन्हीं का ज्ञान परमार्थतत्त्व को सूर्य के समान प्रकाशित कर देता है। (१७) और उस परमार्थतत्त्व में ही जिनकी बुद्धि रँग जाती है वहीं जिनका अन्तःकरण रम जाता है और जो तन्निष्ठ एवं तत्परायण हो जाते हैं उनके पाप ज्ञान से बिलकुल धुल जाते हैं; और वे फिर जन्म नहीं लेते।

[इस प्रकार जिनका अज्ञान नष्ट हो जाय उस कर्मयोगी (संन्यासी की नहीं) ब्रह्मभूत या जीवन्मुक्त अवस्था का अब अधिक वर्णन करते हैं।—]

(१८) पण्डितों की अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि विद्या विनययुक्त ब्राह्मण गाय हाथी ऐसे ही कुत्ता और चण्डाल सभी के विषय में समान रहती है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥
§§ योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

अनुभव करता है। (२२) (बाहरी पदार्थों के) संयोग से ही उत्पन्न होनेवाले भोगों का आदि और अन्त है, अतएव वे दुःख के ही कारण हैं। हे कौन्तेय! उनमें पण्डित लोग रत नहीं होते। (२३) शरीर छूटने के पहले अर्थात् मरणपर्यन्त काम-क्रोध से होनेवाले वेग को इस लोक में ही सहन करने में (इन्द्रियसंयम से) जो समर्थ होता है, वही युक्त और वही (सच्चा) सुखी है।

[गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् ने कहा है कि सुखदुःख को सहना चाहिये (गीता २. १४)। यह उसी का विस्तार और निरूपण है। गीता २. १४ में सुखदुःखों को 'आगमापायिनः' विशेषण लगाया है, तो यहाँ २२ वें श्लोक में उनको 'आद्यन्तवन्तः' कहा है और 'मात्रा' शब्द के बदले 'बाह्य' शब्द का प्रयोग किया है। इसी से 'युक्त' शब्द की व्याख्या भी आ गई है। सुखदुःखों का त्याग न कर समबुद्धि से उनको सहते रहना ही युक्तता का सच्चा लक्षण है। (गीता २. ६१ पर टिप्पणी देखो।)]

(२४) इस प्रकार (बाह्य सुखदुःखों की अपेक्षा न कर) जो अन्तःसुखी अर्थात् अन्तःकरण में ही सुखी हो जाय, जो अपने आप में ही आराम पाने लगे, और ऐसे ही जिसे (यह) अन्तःप्रकाश मिल जाय, (वह) योगी ब्रह्मरूप हो जाता है, एवं उसे ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने का मोक्ष प्राप्त हो जाता है। (२५) जिन ऋषियों की द्वन्द्वबुद्धि छूट गई है — अर्थात् जिन्होंने इस तत्त्व को जान लिया है, कि सब स्थानों में एक ही परमेश्वर है — जिनके पाप नष्ट हो गये हैं और जो आत्मसंयम से सब प्राणियों का हित करने में रत हो गये हैं, उन्हें यह ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिलता है। (२६) कामक्रोधविरहित, आत्मसंयमी और आत्मज्ञानसम्पन्न यतियों को 'अभितः' — अर्थात् आसपास या सम्मुख रखा हुआ-सा

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

§§ भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(ब्रह्म-निर्वाण) – ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। (२७) बाह्य पदार्थों के (इन्द्रियों के सुखदुःखदायक) संयोग से अलग हो कर, आँखों को भौंहों के बीच में स्थिर करके और नाक से चलनेवाले प्राण एवं अपान को सम करके (२८) जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संयम कर लिया है, तथा जिसके भय, इच्छा और क्रोध छूट गये हैं, वह मोक्षपरायण मुनि सदा सर्वदा मुक्त ही है।

[गीतारहस्य के नवम (पृ. २४८) और दशम (पृ. [illegible]) प्रकरणों से ज्ञात होगा कि यह वर्णन जीवन्मुक्तावस्था का है। परन्तु हमारी राय में टीकाकारों का यह कथन ठीक नहीं कि यह वर्णन संन्यासमार्ग के पुरुष का है। संन्यास और कर्मयोग दोनों मार्गों में शान्ति तो एक ही सी रहती है और इतने ही के लिये यह वर्णन संन्यासमार्ग को उपयुक्त हो सकेगा। परन्तु इस अध्याय के आरम्भ के कर्मयोग का श्रेष्ठत्व निश्चित कर फिर २५ वें श्लोक में जो यह कहा है कि ज्ञानी पुरुष सब प्राणियों का हित करने में प्रत्यक्ष मग्न रहते हैं, इससे प्रगट होता है कि यह समस्त वर्णन कर्मयोगी जीवन्मुक्त का ही है – संन्यासी का नहीं (गीतार. प्र. [illegible] पृ. [illegible] देखो)। कर्ममार्ग में भी सर्वभूतान्तर्गत परमेश्वर को पहचानना ही परमसाध्य है। अतः भगवान् अन्त में कहते हैं कि –]

(२९) जो मुझको (सब) यज्ञों और तपों का भोक्ता, (स्वर्ग आदि) सब लोकों का बड़ा स्वामी एवं सब प्राणियों का मित्र जानता है, वही शान्ति पाता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

छठवाँ अध्याय

[इतना तो सिद्ध हो गया कि मोक्षप्राप्ति होने के लिये और किसी की भी अपेक्षा न हो, तो भी लोकसंग्रह की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के अनन्तर भी कर्म करते रहना चाहिये। परन्तु फलाशा छोड़ कर उन्हें समबुद्धि से इसलिये करे, ताकि वे बन्धक न हो जावें। इसे ही कर्मयोग कहते हैं। और कर्मसंन्यासमार्ग की अपेक्षा यह अधिक श्रेयस्कर है। तथापि इतने से ही कर्मयोग का प्रतिपादन समाप्त नहीं होता। तीसरे अध्याय में भगवान् ने अर्जुन से काम-क्रोध आदि का वर्णन करते हुए कहा है कि ये शत्रु मनुष्य की इन्द्रियों में, मन में और बुद्धि में घर करके ज्ञान-विज्ञान का नाश कर देते हैं (३. ४०), अतएव तू इन्द्रियों के निग्रह से इनको पहले जीत ले। इस उपदेश को पूर्ण करने के लिये इन दो प्रश्नों का खुलासा करना आवश्यक था कि (१) इन्द्रियनिग्रह कैसे करें? और (२) ज्ञानविज्ञान किसे कहते हैं? परन्तु बीच में ही अर्जुन के प्रश्नों से यह बतलाना पड़ा कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग में अधिक अच्छा मार्ग कौन-सा है? फिर इन दोनों मार्गों की यथाशक्य एकवाक्यता करके यह प्रतिपादन किया गया है कि कर्मों को न छोड़ कर निःसंगबुद्धि से करते जाने पर ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष क्योंकर मिलता है। *अब इस अध्याय में उन साधनों के निरूपण करने का आरम्भ किया गया है* कि जिनकी आवश्यकता कर्मयोग में भी उक्त निःसंग या ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त करने में होती है; तथापि स्मरण रहे कि यह निरूपण भी कुछ स्वतन्त्र रीति से पातञ्जलयोग का उपदेश करने के लिये नहीं किया गया है। और यह बात पाठकों के ध्यान में आ जाय इसलिये यहाँ पिछले अध्यायों में प्रतिपादन की हुई बातों का ही प्रथम उल्लेख किया गया है। जैसे — फलाशा छोड़कर कर्म करनेवाले पुरुष को ही सच्चा संन्यासी समझना चाहिये, कर्म छोड़नेवाले को नहीं (५. ३) इत्यादि।]

श्रीभगवान् ने कहा — (१) कर्मफल का आश्रय न करके (अर्थात् मन में फलाशा को न टिकने देकर) जो (शास्त्रानुसार अपने विहित) कर्तव्यकर्म करता है, वही संन्यासी और वही कर्मयोगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ देनेवाला अथवा अक्रिय अर्थात् कोई भी कर्म न करके निठल्ले बैठनेवाला

के लिये शम कारण हो जाता है' – इसका अर्थ टीकाकारों ने संन्यासप्रधान कर डाला है। उनका कथन यों है – 'शम = कर्म का उपशम; और जिसे योग सिद्ध हो जाता है, उसे कर्म छोड़ देना चाहिये। क्योंकि उनके मत में कर्मयोग संन्यास का अङ्ग अर्थात् पूर्वसाधन है। परन्तु यह अर्थ साम्प्रदायिक आग्रह का है, जो ठीक नहीं है। इसका पहला कारण यह है कि (१) अब इस अध्याय के पहले ही श्लोक में भगवान् ने कहा है कि कर्मफल का आश्रय न करके 'कार्य-कर्म करनेवाला पुरुष ही सच्चा योगी अर्थात् योगारूढ है – कर्म न करनेवाला (अक्रिय) सच्चा योगी नहीं है; तब यह मानना सर्वथा अन्याय्य है कि तीसरे श्लोक में योगारूढ पुरुष को कर्म का शम करने के लिये या कर्म छोड़ने के लिये भगवान् कहेंगे। संन्यासमार्ग का यह मत भले ही हो कि शान्ति मिल जाने पर योगारूढ पुरुष कर्म न करे; परन्तु गीता को यह मत मान्य नहीं है। गीता में अनेक स्थानों पर स्पष्ट उपदेश किया गया है कि कर्मयोगी सिद्धावस्था में भी यावज्जीवन भगवान् के समान निष्कामबुद्धि से सब कर्म केवल कर्तव्य समझ कर करता रहे (गीता २. ७१; ३. ७ और १९; ४. १९–२१; ५. ७–१२; १२. १२; १८. ५६, ५७ तथा गीतार. प्र. ११ और १२ देखो)। (२) दूसरा कारण यह है कि 'शम का अर्थ' कर्म का शम' कहाँ से आया? भगवद्गीता में 'शम' शब्द दो-चार बार आया है। (गीता १०. ४; १८. ४२) वहाँ और व्यवहार में भी उसका अर्थ 'मन की शान्ति' है। फिर इसी श्लोक में 'कर्म की शान्ति' अर्थ क्यों लें? इस कठिनाई को दूर करने के लिये गीता के पैशाचभाष्य में 'योगारूढस्य तस्यैव' के 'तस्यैव' इस एकवचन सर्वनाम का सम्बन्ध 'योगारूढस्य' से न लगा कर 'तस्य' को नपुंसकलिङ्ग की षष्ठी विभक्ति समझ करके ऐसा अर्थ किया है कि 'तस्यैव कर्मणः शमः' (तस्य अर्थात् पूर्वार्ध के कर्म का शम)। किन्तु यह अन्वय भी सरल नहीं है। क्योंकि, इसमें कोई सन्देह नहीं कि योगाभ्यास करनेवाले जिस पुरुष का वर्णन इस श्लोक के पूर्वार्ध में किया गया है उसकी जो स्थिति अभ्यास पूरा हो चुकने पर होती है उसे बतलाने के लिये उत्तरार्ध का आरम्भ हुआ है। अतएव 'तस्यैव' पदों से 'कर्मणः' पद का सम्बन्ध नहीं हो सकता। अथवा यदि ऐसे ही ले लो तो उसका सम्बन्ध 'शम' से न जोड़ कर 'कारणमुच्यते' के साथ जोड़ने से ऐसा अन्वय लगता है 'शमः योगारूढस्य तस्यैव कर्मणः कारणमुच्यते'। और गीता के सपूर्ण उपदेश के अनुसार उसका यह अर्थ भी ठीक लग जावेगा कि 'अब योगारूढ के कर्म का ही शम कारण होता है।' (३) टीकाकारों के अर्थ को त्याज्य मानने का तीसरा कारण यह है कि संन्यासमार्ग के अनुसार योगारूढ पुरुष को कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसके सब कर्मों का अन्त शम में ही होता है। और जो यह सच है तो 'योगारूढ को शम कारण होता है' इस वाक्य का 'कारण'

शब्द बिलकुल ही निरर्थक हो जाता है। कारण शब्द सदैव सापेक्ष है। 'कारण' कहने से उसको कुछ-न-कुछ 'कार्य' अवश्य चाहिये। और संन्यासमार्ग के अनुसार योगारूढ को तो कोई भी 'कार्य' शेष नहीं रह जाता। यदि शम को मोक्ष का कारण अर्थात् साधन कहें तो मेल नहीं मिलता। क्योंकि मोक्ष का साधन ज्ञान है शम नहीं। अच्छा, शम को ज्ञानप्राप्ति का 'कारण' अर्थात् साधन कहें तो यह वर्णन योगारूढ अर्थात् पूर्णावस्था को ही पहुँचे हुए पुरुष का है। इसलिये उसको ज्ञानप्राप्ति तो कर्म के साधन से पहले ही हो चुकी है। फिर यह शम 'कारण' है ही किसका? संन्यासमार्ग के टीकाकारों से इस प्रश्न का कुछ भी समाधानकारक उत्तर देते नहीं बनता। परन्तु उनके इस अर्थ को छोड़ कर विचार करने लगें, तो उत्तरार्ध का अर्थ करने में पूर्वार्ध का 'कर्म' पद साहित्य सामर्थ्य से सहज ही मन में आ जाता है। और फिर यह अर्थ निष्पन्न होता है कि योगारूढ पुरुष को लोकसंग्रहकारक कर्म करने के लिये अब 'शम' 'कारण' या साधन हो जाता है। क्योंकि यद्यपि उसका कोई स्वार्थ शेष नहीं रह गया है तथापि लोकसंग्रहकारक कर्म किसी से छूट नहीं सकते (देखो गीता ३. १७–१९)। पिछले अध्याय में जो यह वचन है कि 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्' (गीता ५. १२) – कर्मफल का त्याग करके योगी पूर्ण शान्ति पाता है – इससे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। क्योंकि उसमें शान्ति का सम्बन्ध कर्मत्याग से न जोड़ कर केवल फलाशा के त्याग से ही वर्णित है। वहीं पर स्पष्ट कहा है कि योगी जो कर्मसंन्यास करे, वह 'मनसा' अर्थात् मन से करे (गीता ५. १३), शरीर के द्वारा या कर्मेन्द्रियों के द्वारा उसे कर्म करना ही चाहिये। हमारा यह मत है कि अलङ्कारशास्त्र के अन्योन्यालङ्कार का सा अर्थचमत्कार या सौरस्य इस श्लोक में सध गया है और पूर्वार्ध में यह बतला कर – कि 'शम का कारण 'कर्म' का होता है' – उत्तरार्ध में इसके विपरीत वर्णन किया है कि 'कर्म का कारण 'शम' का होता है'। भगवान् कहते हैं कि प्रथम साधनावस्था में कर्म ही शम का अर्थात् योगसिद्धि का कारण है। भाव यह है कि यथाशक्ति निष्काम कर्म करते करते ही चित्त शान्त होकर उसी के द्वारा अन्त में पूर्ण योगसिद्धि हो जाती है। किन्तु योगी के योगारूढ होकर सिद्धावस्था में पहुँच जाने पर कर्म और शम का उक्त कार्यकारणभाव बदल जाता है, यानी कर्म शम का कारण नहीं होता; किन्तु शम ही कर्म का कारण बन जाता है, अर्थात् योगारूढ पुरुष अपने सब काम अब कर्तव्य समझ कर (फल की आशा न रख करके) शान्तचित्त से किया करता है। तात्पर्य, इस श्लोक का भावार्थ यह नहीं है कि सिद्धावस्था में कर्म छूट जाते हैं; गीता का कथन है कि साधनावस्था में कर्म और शम के बीच जो कार्यकारणभाव होता है, सिर्फ वही सिद्धावस्था में बदल जाता है (गीतारहस्य पृ. [illegible])। गीता में यह कहीं भी नहीं कहा कि कर्मयोगी को

§§ जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

[कितनी ही बलवती क्यों न हो ! उसको जीत कर आत्मोन्नति कर लेना हर एक के स्वाधीन है (गीतार. प्र. १, पृ. २७१–२८४ देखो)। मन में इस तत्त्व के भली भाँति जम जाने के लिये ही एक बार अन्वय से और फिर व्यतिरेक से – दोनों रीतियों से – वर्णन किया है कि आत्मा अपना ही मित्र कब होता है और आत्मा अपना शत्रु कब हो जाता है और यही तत्त्व फिर १३. २८ श्लोक में भी आया है। संस्कृत में आत्मा शब्द के ये तीन अर्थ होते हैं (१) अन्तरात्मा (२) मैं स्वयं और (३) अन्तःकरण या मन। इसी से यह आत्मा शब्द इनमें और अगले श्लोक में अनेक बार आया है। अब बतलाते हैं कि आत्मा को अपने अधीन रखने से क्या फल मिलता है :–]

(७) जिसने अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को जीत लिया हो और जिसे शान्ति प्राप्त हो गई हो, उसका परमात्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में समाहित अर्थात् सम एवं स्थिर रहता है।

[इस श्लोक में 'परमात्मा' शब्द आत्मा के लिये ही प्रयुक्त है। देह का आत्मा सामान्यतः सुखदुःख की उपाधि में मग्न रहता है, परन्तु इन्द्रियसंयम से उपाधियों को जीत लेने पर यही आत्मा प्रसन्न हो करके परमात्मरूपी या परमेश्वरस्वरूपी बना करता है। परमात्मा कुछ आत्मा से विभिन्न स्वरूप का पदार्थ नहीं है। आगे गीता में ही (गीता १३. २२ और ३१) कहा है कि मानवी शरीर में रहनेवाला आत्मा ही तत्त्वतः परमात्मा है। महाभारत में यह वर्णन है –

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥

"आत्मा अर्थात् प्रकृति के गुणों से (सुखदुःख आदि विकारों से) बद्ध रहने के कारण आत्मा को ही क्षेत्रज्ञ या शरीर का जीवात्मा कहते हैं और इन गुणों से मुक्त होने पर वही परमात्मा हो जाता है" (म. भा. शां. १८७. २४)। गीतारहस्य के ९ वें प्रकरण से ज्ञात होगा कि अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त भी यही है। जो कहते हैं कि गीता में अद्वैत मत का प्रतिपादन नहीं है, विशिष्टाद्वैत या शुद्ध द्वैत ही गीता को मान्य है, वे 'परमात्मा' को एक पद न मान 'पर' और 'आत्मा' ऐसे दो पद करके 'परः' को 'समाहित' का क्रियाविशेषण समझते हैं। यह अर्थ क्लिष्ट है; परन्तु इस उदाहरण से समझ में आ जावेगा कि साम्प्रदायिक टीकाकार अपने मत के अनुसार गीता की कैसी खींचातानी करते हैं।]

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
§§ योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

(८) जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान से तृप्त हो जाय, जो अपनी इन्द्रियों को जीत ले, जो कूटस्थ अर्थात् मूल में जा पहुँचे और मिट्टी, पत्थर एवं सोने को एक-सा मानने लगे, उसी (कर्म) योगी पुरुष को 'युक्त' अर्थात् सिद्धावस्था को पहुँचा हुआ कहते हैं। (९) सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने योग्य, बान्धव, साधु और दुष्ट लोगों के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम हो गयी हो, वही (पुरुष) विशेष योग्यता का है।

[प्रत्युपकार की इच्छा न रख कर सहायता करनेवाले स्नेही को सुहृद् कहते हैं। जब दो दल हो जावें तब किसी की भी बुराई भलाई न चाहनेवाले को उदासीन कहते हैं। दोनों दलों की भलाई चाहनेवाले को मध्यस्थ कहते हैं और सम्बन्धी को बन्धु कहते हैं। टीकाकारों ने ऐसे ही अर्थ किये हैं। परन्तु इन अर्थों से कुछ भिन्न अर्थ भी कर सकते हैं। क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग प्रत्येक में कुछ भिन्न अर्थ दिखलाने के लिये ही नहीं किया गया है। किन्तु अनेक शब्दों की यह योजना सिर्फ इसलिये की गई है कि सब के मेल से व्यापक अर्थ का बोध हो जाय – उसमें कुछ भी न्यूनता न रहने पावे। इस प्रकार संक्षेप से बतला दिया कि योगी, योगारूढ या युक्त किसे कहना चाहिये (गीता २. ६१; ४. १८ और ५. २३ देखो)। और यह भी बतला दिया कि इस कर्मयोग को सिद्ध कर लेने के लिये प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है। उसके लिये किसी का मुँह जोहने की कोई ज़रूरत नहीं। अब कर्मयोग की सिद्धि के लिये अपेक्षित साधन का निरूपण करते हैं –]

(१०) योगी अर्थात् कर्मयोगी एकान्त में अकेला रह कर चित्त और आत्मा का संयम करे, किसी भी काम्यवासना को न रख, परिग्रह अर्थात् पाश छोड़ करके निरन्तर अपने योगाभ्यास में लगा रहे।

[अगले श्लोक से स्पष्ट होता है कि यहाँ पर 'युञ्जीत' पद से पातञ्जल सूत्र का योग विवक्षित है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि कर्मयोग को प्राप्त कर लेने की इच्छा करनेवाला पुरुष अपनी तमाम आयु पातञ्जलयोग में बिता दे। कर्मयोग के लिये आवश्यक साम्यबुद्धि को प्राप्त करने के लिये साधनस्वरूप

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

[पातञ्जलयोग इस अध्याय में वर्णित है और इतने ही के लिये एकान्तवास भी आवश्यक है। प्रकृतिस्वभाव के कारण सम्भव नहीं कि सभी को पातञ्जलयोग की समाधि एक ही जन्म में सिद्ध हो जाय। इसी अध्याय के अन्त में भगवान् ने कहा है कि जिन पुरुषों को समाधि सिद्ध नहीं हुई है वे अपनी सारी आयु पातञ्जलयोग में ही न बिता दें। किन्तु जितना हो सके, उतना बुद्धि को स्थिर करके कर्मयोग का आचरण करते जावें। इसी से अनेक जन्मों में उनको अन्त में सिद्धि मिल जावेगी। (गीतार. प्र. १ पृ. २८४–२८७ देखो।)]

(११) योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावे कि जो न बहुत ऊँचा हो और न नीचा। उस पर पहले दर्भ, फिर मृगछाला और फिर वस्त्र बिछावे। (१२) वहाँ चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिये आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करे। (१३) काय अर्थात् पीठ, मस्तक और गर्दन को सम करके अर्थात् सीधी खड़ी रेखा में निश्चल करके, स्थिर होता हुआ दिशाओं को यानी इधर-उधर न देखे; और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमा कर, (१४) निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य व्रत पाल कर तथा मन का संयम करके मुझमें ही चित्त लगा कर मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय।

[शुद्ध स्थान में आसन और शरीर, ग्रीवा एवं सिर को सम करना, ये शब्द श्वेताश्वतर उपनिषद् के हैं (श्वे. २. ८ और १० देखो) और ऊपर का समूचा वर्णन भी हठयोग का नहीं है; प्रत्युत पुराने उपनिषदों में जो योग का वर्णन है उससे अधिक मिलता-जुलता है। हठयोग में इन्द्रियों का निग्रह बलात्कार से किया जाता है पर आगे इसी अध्याय के २४ वें श्लोक में कहा है कि ऐसा न करके 'मनसैव इन्द्रियग्रामं विनियम्य' – मन से ही इन्द्रियों को रोके। इससे प्रकट है कि गीता में हठयोग विवक्षित नहीं। ऐसे ही इस अध्याय के अन्त में कहा है

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

[इस वर्णन का यह उद्देश नहीं कि कोई अपनी सारी ज़िन्दगी योगाभ्यास में ही बिता दे। अब इस योगाभ्यास के फल का अधिक निरूपण करते हैं :–]

(१५) इस प्रकार सदा अपना योगाभ्यास जारी रखने से मन काबू में होकर (कर्म-) योगी को मुझमें रहनेवाली और अन्त में निर्वाणप्रद अर्थात् मेरे स्वरूप में लीन कर देनेवाली शान्ति प्राप्त होती है।

[इस श्लोक में 'सदा' पद से प्रतिदिन के २४ घण्टों का मतलब नहीं। इतना ही अर्थ विवक्षित है कि प्रतिदिन यथाशक्ति घड़ी घड़ी भर यह अभ्यास करे (श्लोक १० की टिप्पणी देखो)। कहा है कि इस प्रकार योगाभ्यास करता हुआ 'मच्चित्त' और 'मत्परायण' हो। इसका कारण यह है कि पातञ्जलयोग मन के निरोध करने की एक युक्ति या क्रिया है। इस कसरत से यदि मन स्वाधीन हो गया तो वह एकाग्र मन भगवान् में न लगा कर और दूसरी बात की ओर भी लगाया जा सकता है। पर गीता का कथन है कि चित्त की एकाग्रता का ऐसा दुरुपयोग न कर इस एकाग्रता या समाधि का उपयोग परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में होना चाहिये; और ऐसा होने से ही यह योग सुखकारक होता है, अन्यथा ये निरे क्लेश हैं। यही अर्थ आगे २९ वें [illegible] एवं अध्याय के अन्त में ४७ वें श्लोक में आया है। परमेश्वर में निष्ठा न रख जो लोग केवल इन्द्रियनिग्रह का योग इन्द्रियों की कसरत करते हैं वे लोगों को क्लेशप्रद जारण मारण या वशीकरण वगैरह कर्म करने में ही प्रवीण हो जाते हैं। यह अवस्था न केवल गीता को ही, प्रत्युत किसी भी मोक्षमार्ग को इष्ट नहीं। अब फिर इसी योगक्रिया का अधिक खुलासा करते हैं –]

(१६) हे अर्जुन! अतिशय खानेवाले या बिलकुल न खानेवाले और खूब सोनेवाले अथवा जागरण करनेवाले को (यह) योग सिद्ध नहीं होता। (१७) जिसका आहारविहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है, और सोना-जागना परिमित है, उसको (यह) योग दुःखघातक अर्थात् सुखावह होता है।

[इस श्लोक में 'योग' से पातञ्जलयोग की क्रिया और 'युक्त' से नियमित नपी-तुली अथवा परिमित का अर्थ है। आगे भी दो एक स्थानों पर

§§ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

योग-से पातञ्जलयोग का ही अर्थ है। तथापि इतने ही से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इस अध्याय में पातञ्जलयोग ही स्वतन्त्र रीति से प्रतिपाद्य है। पहले स्पष्ट बतला दिया है कि कर्मयोग को सिद्ध कर लेना जीवन का प्रधान कर्तव्य है; और उसके साधन मात्र के लिये पातञ्जलयोग का यह वर्णन है। इस श्लोक के कर्म के उचित आचरण। इन शब्दों से भी प्रकट होता है कि अन्यान्य कर्मों को करते हुए इस योग का अभ्यास करना चाहिये। अब योगी का थोड़ा सा वर्णन करके समाधिसुख का स्वरूप बतलाते हैं –]

(१८) जब संयत मन आत्मा में ही स्थिर हो जाता है और किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती, तब कहते हैं कि वह 'युक्त' हो गया। (१९) वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति जैसी निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करनेवाले योगी को दी जाती है।

[इस उपमा के अतिरिक्त महाभारत (शान्ति ३००. ३२–३४) में ये दृष्टान्त हैं – तेल से भरे हुए पात्र को जीने पर से ले जाने में या तूफान के समय नाव का बचाव करने में मनुष्य जैसा 'युक्त' अथवा एकाग्र होता है, योगी का मन वैसा ही एकाग्र रहता है। कठोपनिषद् का सारथी और रथ के घोड़े वाला दृष्टान्त तो प्रसिद्ध ही है; और यद्यपि यह दृष्टान्त गीता में स्पष्ट आया नहीं है, तथापि दूसरे अध्याय के ६७ और ६८ तथा इसी अध्याय का २६ वाँ श्लोक ये उस दृष्टान्त को मन में रख कर ही कहे गये हैं। यद्यपि योग का गीता का पारिभाषिक अर्थ कर्मयोग है, तथापि इस शब्द के अन्य अर्थ भी गीता में आये हैं (उदाहरणार्थ ९. ५ और १०. ७ श्लोक में योग का अर्थ है अलौकिक अथवा चाहे जो करने की शक्ति)। यह भी कह सकते हैं कि योग शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण ही गीता में पातञ्जलयोग और सांख्यमार्ग को प्रतिपाद्य समझने की सुविधा उन उन सम्प्रदायवालों को मिल गई है। २० वें श्लोक में वर्णित चित्तनिरोधरूपी पातञ्जलयोग की समाधि का स्वरूप ही अब विस्तार से कहते हैं –]

(२०) योगानुष्ठान से निरुद्ध चित्त जिस स्थान में रम जाता है, और जहाँ स्वयं आत्मा

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

को देख कर आत्मा में ही सन्तुष्ट हो रहता है; (२१) जहाँ (केवल) बुद्धिगम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है और जहाँ वह (एक बार) स्थिर हुआ तो तत्त्व से कभी नहीं डिगता; (२२) ऐसे ही स्थिति को पाने से उसकी अपेक्षा दूसरा कोई लाभ उसे अधिक नहीं जँचता; और जहाँ स्थिर होने से कोई भी बड़ा भारी दुःख (उसको) वहाँ से विचला नहीं सकता; (२३) उसको दुःख के स्पर्श से वियोग अर्थात् 'योग' नाम की स्थिति कहते हैं; और इस 'योग' का आचरण मन को उकताने न देकर निश्चय से करना चाहिये।

[इन चारों श्लोकों का एक ही वाक्य है। २३ वें श्लोक के आरम्भ के 'उसको' ('तम्') इस दर्शक सर्वनाम से पहले तीन श्लोकों का वर्णन उद्दिष्ट है; और चारों श्लोकों में 'समाधि' का वर्णन पूरा किया गया है। पातञ्जलयोगसूत्र में योग का यह लक्षण है कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' — चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। इसी के सदृश २० वें श्लोक के आरम्भ के शब्द हैं। अब इस 'योग' शब्द का नया लक्षण जानबूझ कर किया है कि समाधि इसी चित्तवृत्तिनिरोध की पूर्णावस्था है और इसी को 'योग' कहते हैं। उपनिषद् और महाभारत में कहा है कि निग्रहकर्ता और उद्योगी पुरुष को सामान्य रीति से यह योग छः महीनों में सिद्ध होता है (मैत्र्यु. ६. २८; अमृतनाद. २९; मभा. अश्व. अनुगीता १९. ६६)। किन्तु पहले २० वें और २८ वें श्लोक में स्पष्ट कह दिया है कि पातञ्जलयोग की समाधि से प्राप्त होनेवाला सुख न केवल चित्तनिरोध से, प्रत्युत चित्तनिरोध के द्वारा अपने आप आत्मा की पहचान कर लेने पर होता है। इस दुःखरहित स्थिति को ही ब्रह्मानन्द या आत्मप्रसादज सुख अथवा आत्मानन्द कहते हैं (गीता १८. ३७ और गीतार. प्र. ९, पृ. २३४ देखो)। अगले अध्यायों में इसका वर्णन है कि आत्मज्ञान होने के लिये आवश्यक चित्त की यह समता एक पातञ्जलयोग से ही नहीं उत्पन्न होती; किन्तु चित्तशुद्धि का यह परिणाम ज्ञान और भक्ति से भी हो जाता है। यही मार्ग अधिक प्रशस्त और सुलभ समझा जाता है। समाधि का लक्षण बतला चुके। अब बतलाते हैं कि उसे किस प्रकार लगाना चाहिये।]

§§ सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

§§ प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

(२४) सङ्कल्प से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं अर्थात् वासनाओं का निःशेष त्याग कर और मन से ही सब इन्द्रियों का चारों ओर से संयम कर (२५) धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे धीरे शान्त होता जावे और मन को आत्मा में स्थिर करके कोई भी विचार मन में न आने दे। (२६) (इस रीति से चित्त को एकाग्र करते हुए) चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ जहाँ बाहर जावे, वहाँ वहाँ से रोक कर उसको आत्मा के ही स्वाधीन करे।

[मन की समाधि लगाने की क्रिया का यह वर्णन कठोपनिषद् में दी गई रथ की उपमा से (कठ. १. ३. ३) अच्छा व्यक्त होता है। जिस प्रकार उत्तम सारथी रथ घोड़ों को इधर उधर न जाने देकर सीधे रास्ते से ले जाता है, उसी प्रकार का प्रयत्न मनुष्य को समाधि के लिये करना पड़ता है। जिसने किसी भी विषय पर अपने मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है, उसकी समझ में ऊपरवाले श्लोक का मर्म तुरन्त आ जावेगा। मन को एक ओर से रोकने का प्रयत्न करने लगो, तो वह दूसरी ओर खिसक जाता है; और यह आदत रुके बिना समाधि लग नहीं सकती। अब योगाभ्यास से चित्त स्थिर होने का जो फल मिलता है, उसका वर्णन करते हैं —]

(२७) इस प्रकार शान्तचित्त, रज से रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत (कर्म) योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है। (२८) इस रीति से निरन्तर अपना योगाभ्यास करनेवाला (कर्म) योगी पापों से छूट कर ब्रह्मसंयोग से प्राप्त होनेवाले अत्यन्त सुख का आनन्द से उपभोग करता है।

§§ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

[इन दो श्लोकों में हमने योगी का अर्थ कर्मयोगी किया है। क्योंकि कर्मयोग का साधन समझ कर ही पातञ्जलयोग का वर्णन किया गया है। अतः पातञ्जलयोग के अभ्यास करनेवाले उक्त पुरुष से कर्मयोगी ही विवक्षित है। तथापि योगी का अर्थ 'समाधि लगाये बैठा हुआ पुरुष' भी कर सकते हैं। किन्तु स्मरण रहे कि गीता का प्रतिपाद्य मार्ग इससे भी परे है। यही नियम अगले दो-तीन श्लोकों को लागू है। इस प्रकार निर्वाण ब्रह्मसुख का अनुभव होने पर सब प्राणियों के विषय में जो आत्मौपम्यदृष्टि हो जाती है, अब उसका वर्णन करते हैं –]

(२९) (इस प्रकार) जिसका आत्मा योगयुक्त हो गया है, उसकी दृष्टि सम हो जाती है, और उसे सर्वत्र ऐसा दीख पड़ने लगता है कि मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं। (३०) जो मुझ (परमेश्वर परमात्मा) को सब स्थानों में और सब को मुझमें देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता और न वही मुझसे कभी दूर होता है।

[इन दो श्लोकों में पहला वर्णन 'आत्मा' शब्द का प्रयोग कर अव्यक्त अर्थात् आत्मदृष्टि से और दूसरा वर्णन प्रथमपुरुषवाचक 'मैं' पद के प्रयोग से व्यक्त अर्थात् भक्तिदृष्टि से किया गया है। परन्तु अर्थ दोनों का एक ही है (देखो गीतार. प्र. ११ पृ. ४१२–४१)। मोक्ष और कर्मयोग इन दोनों का एक ही आधार यह ब्रह्मात्मैक्यदृष्टि ही है। २९ वें श्लोक का पहला अर्धांश कुछ फर्क से मनुस्मृति (१२. ९१), महाभारत (शां. २१८. २१ और २६८. २२) और उपनिषदों (कैव. १. १०; ईश. ६) में भी पाया जाता है। हमने गीतारहस्य के १२ वें प्रकरण में विस्तारसहित दिखलाया है कि सर्वभूतात्मैक्यज्ञान ही समग्र अध्यात्म और कर्मयोग का मूल है (देखो पृ. १८८ प्रभृति)। यह ज्ञान हुए बिना इन्द्रियनिग्रह का सिद्ध हो जाना भी व्यर्थ है; इसीलिये अगले अध्याय से परमेश्वर का ज्ञान बतलाना आरम्भ कर दिया है।]

(३१) जो एकत्वबुद्धि अर्थात् सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि को मन में रख कर प्राणियों में रहनेवाले मुझको (परमेश्वर को) भजता है, वह (कर्म) योगी सब प्रकार से बरतता

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

[समत्व को ही योग कहते हैं। अर्जुन की कठिनाई को मान कर भगवान् कहते हैं :–]

श्रीभगवान् ने कहा :– (३५) हे महाबाहु अर्जुन ! इसमें सन्देह नहीं कि मन चञ्चल है और उसका निग्रह करना कठिन है। परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है। (३६) मेरे मत में जिसका अन्तःकरण काबू में नहीं, उसको इस (साम्यबुद्धिरूप) योग का प्राप्त होना कठिन है। किन्तु अन्तःकरण को काबू में रख कर प्रयत्न करते रहने पर उपाय से (इस योग का) प्राप्त होना सम्भव है।

[तात्पर्य, पहले जो बात कठिन दीख पड़ती है वही अभ्यास से और दीर्घ उद्योग से अन्त में सिद्ध हो जाती है। किसी भी काम का बारबार करना अभ्यास कहलाता है; वैराग्य का मतलब है राग या प्रीति न रखना अर्थात् इच्छाविहीनता। पातञ्जलयोगसूत्र में ही योग का लक्षण यह बतलाया है कि – 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' – चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं (इसी अध्याय का ... श्लोक देखो) और फिर अगले सूत्र में कहा है कि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' – अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है। ये ही शब्द गीता में आये हैं और अभिप्राय भी यही है, परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि गीता में ये शब्द पातञ्जलयोगसूत्र से लिये गये हैं (देखो गीतार. परि. पृ. ५४८)। इस प्रकार यदि मनोनिग्रह करके समाधि लगाना सम्भव हो और कुछ निग्रही पुरुषों को छः महीने अभ्यास से यदि यह सिद्धि प्राप्त हो सकती हो, तो भी अब यह दूसरी शङ्का होती है कि प्रकृति स्वभाव के कारण अनेक लोग एक जन्म में भी परमावस्था में नहीं पहुँच सकते – फिर ऐसे लोग इस सिद्धि को क्योंकर पावें ? क्योंकि एक जन्म में जितना हो सका उतना इन्द्रियनिग्रह का अभ्यास कर कर्मयोग का आचरण करने लगे तो वह मरण समय अधूरा ही रह जायगा, और अगले जन्म में फिर पहले से आरम्भ करें तो फिर आगे के जन्म में भी यही हाल होगा। अतः अर्जुन का दूसरा प्रश्न है कि इस प्रकार के पुरुष क्या करें ?]

अर्जुन उवाच ।

§§ अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अर्जुन ने कहा – (३७) हे कृष्ण ! श्रद्धा (तो) हो परन्तु (प्रकृतिस्वभाव से) पूरा प्रयत्न अथवा संयम न होने के कारण जिसका मन (साम्यबुद्धिरूप कर्मयोग) से विचल जावे वह योगसिद्धि न पा कर किस गति को जा पहुँचता है ? (३८) हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! यह पुरुष मोहग्रस्त हो कर ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में स्थिर न होने के कारण दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाने पर छिन्न-भिन्न बादल के समान (बीच में ही) नष्ट तो नहीं हो जाता ? (३९) हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देह को तुम्हें ही निःशेष दूर करना चाहिये । तुम्हें छोड़ कर इस सन्देह को मिटानेवाला दूसरा कोई न मिलेगा ।

[यद्यपि नञ् समास में आरम्भ के नञ् (अ) पद का साधारण अर्थ 'अभाव' होता है तथापि कई बार अल्प अर्थ में भी उसका प्रयोग हुआ करता है । इस कारण ३७ वें श्लोक के 'अयति' शब्द का अर्थ 'अल्प अर्थात् अधूरा प्रयत्न या संयम करनेवाला' है । ३८ वें श्लोक में जो कहा है कि 'दोनों ओर का आश्रय छूटा हुआ' अथवा 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' उस का अर्थ भी कर्मयोग-प्रधान ही करना चाहिये । कर्म के दो प्रकार के फल हैं (१) काम्यबुद्धि से किन्तु शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कर्म करने पर तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है और (निष्काम) बुद्धि से करने पर वह बन्धक न होकर मोक्षदायक हो जाता है, परन्तु इस अधूरे मनुष्य को कर्म के स्वर्ग आदि काम्यफल नहीं मिलते । क्योंकि उसका ऐसा हेतु ही नहीं रहता और साम्यबुद्धि पूर्ण न होने के कारण उसे मोक्ष मिल नहीं सकता । इसलिये अर्जुन के मन में शङ्का उत्पन्न हुई कि उस बेचारे को न तो स्वर्ग मिला और न मोक्ष – कहीं उसकी ऐसी स्थिति तो नहीं हो जाती कि दोनों दिन से गये पाँड़े हलुआ मिले न माँड़े ! यह शङ्का केवल पातञ्जल योगरूपी कर्मयोग के साधन के लिये ही नहीं की जाती । अगले अध्याय में वर्णन है कि कर्मयोगसिद्धि के लिये आवश्यक साम्यबुद्धि कभी पातञ्जलयोग से कभी भक्ति से और कभी ज्ञान से प्राप्त होती है । और जिस प्रकार पातञ्जलयोगरूपी यह साधन एक ही जन्म में अधूरा रह सकते हैं उसी प्रकार भक्ति या ज्ञानरूपी साधन भी एक जन्म में अधूरा रह सकते हैं । अतएव कहना चाहिये कि अर्जुन

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

[के उक्त प्रश्न का भगवान् ने जो उत्तर दिया है, वह कर्मयोगमार्ग सभी साधनों को साधारणरीति उपयुक्त हो सकता है :–]

श्रीभगवान् ने कहा :– (४०) हे पार्थ! क्या इस लोक में और क्या परलोक में ऐसे पुरुष का कभी विनाश होता ही नहीं। क्योंकि हे तात! कल्याणकारक कर्म करनेवाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नहीं होती। (४१) पुण्यकर्ता पुरुषों को मिलनेवाले (स्वर्ग आदि) लोकों को पा कर और (वहाँ) बहुत वर्षों तक निवास करके फिर यह योगभ्रष्ट अर्थात् कर्मयोग से भ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है; (४२) अथवा बुद्धिमान् (कर्म) योगियों के ही कुल में जन्म पाता है। इस प्रकार का जन्म (इस) लोक में बड़ा दुर्लभ है। (४३) उसमें अर्थात् इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धिसंस्कार को पाता है; और हे कुरुनन्दन! वह उससे भूयः अर्थात् अधिक (योग-) सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है। (४४) अपने पूर्वजन्म के उस अभ्यास से ही अवश अर्थात् अपनी इच्छा न रहने पर भी वह (पूर्ण सिद्धि की ओर) खींचा जाता है। जिसे (कर्म) योग की जिज्ञासा (अर्थात् जान लेने की इच्छा) हो गई है, वह भी शब्दब्रह्म के परे चला जाता है। (४५) (इस प्रकार) प्रयत्नपूर्वक उद्योग करते करते पापों से शुद्ध होता हुआ (कर्म) योगी अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्धि पा कर अन्त में उत्तम गति पा लेता है।

[इन श्लोकों में योग, योगभ्रष्ट और योगी शब्द कर्मयोग, कर्मयोग से भ्रष्ट और कर्मयोगी के अर्थ में ही व्यवहृत हैं। क्योंकि श्रीमान् कुल में जन्म लेने की स्थिति दूसरों को इष्ट होना सम्भव नहीं है। भगवान् कहते हैं कि पहले से (जितना

§§ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

(४६) तपस्वी लोगों की अपेक्षा (कर्म) योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी पुरुषों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है; और कर्मकाण्डवालों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता है। इसलिये हे अर्जुन! तू योगी अर्थात् कर्मयोगी हो।

[जङ्गल में जा कर उपवास आदि शरीर को कष्टदायक व्रतों से अथवा हठयोग के साधनों से सिद्धि पानेवाले लोगों को इस श्लोक में तपस्वी कहा है; और सामान्य रीति से इस शब्द का यही अर्थ है। 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां' (गीता ३. ३) में वर्णित ज्ञान से (अर्थात् सांख्यमार्ग) से कर्म छोड़ कर सिद्धि प्राप्त कर लेनेवाले सांख्यनिष्ठ लोगों को ज्ञानी माना है। इसी प्रकार गीता २. ४२, ४४ और ९. २०, २१ में वर्णित निरे काम्यकर्म करनेवाले स्वर्गपरायण कर्मठ मीमांसकों को कर्मी कहा है। इन तीनों पन्थों में से प्रत्येक यही कहता है कि हमारे ही मार्ग से सिद्धि मिलती है। किन्तु अब गीता का यह कथन है कि तपस्वी हो, चाहे कर्मठ मीमांसक हो या ज्ञाननिष्ठ सांख्य हो, इनमें प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी – अर्थात् कर्मयोगमार्ग भी – श्रेष्ठ है। और पहले यही सिद्धान्त 'अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है' (गीता ३. ८) एवं 'कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष है' (गीता ५. २) इत्यादि श्लोकों में वर्णित है (देखो गीतार. प्र. ११ पृ. ३०९ – ३११)। और तो क्या? तपस्वी, मीमांसक अथवा ज्ञानमार्गी इनमें से प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है 'इसीलिये' पीछे जिस प्रकार अर्जुन को उपदेश किया है कि 'योगस्थ हो कर कर्म कर' (गीता २. ४८; गीतार. प्र. ३ पृ. ५७) अथवा 'योग का आश्रय करके खड़ा हो' (४. ४२), उसी प्रकार यहाँ भी फिर स्पष्ट उपदेश किया है कि 'तू (कर्म) योगी हो'। यदि इस प्रकार कर्मयोग को श्रेष्ठ न मानें, तो 'तस्मात् तू योगी हो' इस उपदेश का 'तस्मात्' = इसीलिये पद निरर्थक हो जावेगा। किन्तु संन्यासमार्ग के टीकाकारों को यही सिद्धान्त कैसे स्वीकृत हो सकता है? अतः उन लोगों ने 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ बदल दिया है, और वे कहते हैं कि ज्ञानी शब्द का अर्थ है शब्दज्ञानी अथवा वे लोग कि जो सिर्फ पुस्तकें पढ़ कर ज्ञान की लम्बी चौड़ी बातें छाँटा करते हैं। किन्तु यह अर्थ निरे साम्प्रदायिक आग्रह का है। ये टीकाकार गीता के इस अर्थ को नहीं चाहते कि कर्म छोड़नेवाले ज्ञानमार्ग को गीता कम दर्जे का समझती है। क्योंकि इससे उनके सम्प्रदाय को गौणता आती है। और इसी लिये 'कर्मयोगो विशिष्यते' (गीता ५. २) का भी अर्थ उन्होंने बदल दिया है। परन्तु इसका पूरा पूरा विचार गीतारहस्य के ११ वें प्रकरण में कर चुके हैं। अतः इस श्लोक का जो अर्थ हमने किया है

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

उक्त विषय में यहाँ अधिक चर्चा नहीं करते। हमारे मत में यह निर्विवाद है, कि गीता के अनुसार कर्मयोगमार्ग ही सब में श्रेष्ठ है। अब आगे के श्लोक में कहते हैं कि कर्मयोगियों में भी कौन-सा तारतम्य-भाव देखना पड़ता है –]

(४७) तथापि सब (कर्म-) योगियों में भी मैं उसे ही सब में उत्तम युक्त अर्थात् उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता हूँ, कि जो मुझमें अन्तःकरण रख कर श्रद्धा से मुझको भजता है।

[इस श्लोक का यह भावार्थ है कि कर्मयोग में भी भक्ति का प्रेमपूरित मेल हो जाने से यह योगी भगवान् को अत्यन्त प्रिय हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है। क्योंकि आगे बारहवें अध्याय में भगवान् ने ही स्पष्ट कह दिया है कि ध्यान की अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है (गीता १२. १२)। निष्काम कर्म और भक्ति के समुच्चय को श्रेष्ठ कहना एक बात है और सब निष्काम कर्मयोग को व्यर्थ कह कर भक्ति ही को श्रेष्ठ बतलाना दूसरी बात है। गीता का सिद्धान्त पहले ढँग का है; और भागवतपुराण का पक्ष दूसरे ढँग का है। भागवत (१. ५. ३४) में सब प्रकार के क्रियायोग को आत्मविघातक निश्चित कर कहा है –

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।

नैष्कर्म्य अर्थात् निष्काम कर्म भी (भाग. ११. ३. ४६) बिना भगवद्भक्ति के शोभा नहीं देता, वह व्यर्थ है (भाग. १. ५. १२ और १२. १२. ५२)। इससे व्यक्त होगा कि भागवतकार का ध्यान केवल भक्ति के ही ऊपर होने के कारण वे विशेष प्रसङ्ग पर भगवद्गीता के भी आगे कैसी चौकड़ी भरते हैं। जिस पुराण का निरूपण इस समझ से किया गया है कि महाभारत में और इससे गीता में भी भक्ति का वैसा कथन होना चाहिये वैसा नहीं हुआ, उसमें यदि उक्त वचनों के समान और भी कुछ बातें मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर हमें तो देखना है गीता का तात्पर्य; न कि भागवत का कथन। दोनों का प्रयोजन और समय भी भिन्न भिन्न है। इस कारण बात बात में उनकी एकवाक्यता करना उचित नहीं है। कर्मयोग की साम्य बुद्धि प्राप्त करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है उनमें से पातञ्जलयोग

के साधनों का इस अध्याय में निरूपण किया गया। ज्ञान और भक्ति भी अन्य साधन हैं। अगले अध्याय से इनके निरूपण का आरम्भ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में ध्यानयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सातवाँ अध्याय

[पहले यह प्रतिपादन किया गया कि कर्मयोग सांख्यमार्ग के समान ही मोक्षप्रद है; परन्तु स्वतन्त्र है और उससे श्रेष्ठ है और यदि इस मार्ग का थोड़ा भी आचरण किया जाय तो वह व्यर्थ नहीं जाता। अनन्तर इस मार्ग की सिद्धि के लिये आवश्यक इन्द्रियनिग्रह करने की रीति का वर्णन किया गया है। किन्तु इन्द्रियनिग्रह से मतलब निरी बाह्यक्रिया से नहीं है। जिसके लिये इन्द्रियों की यह कसरत करनी है उसका अब तक विचार नहीं हुआ। तीसरे अध्याय में भगवान् ने यह ही अर्जुन को इन्द्रियनिग्रह का यह प्रयोजन बतलाया है कि काम-क्रोध आदि शत्रु इन्द्रियों में अपना घर बना कर ज्ञान-विज्ञान का नाश करते हैं (३. ४०, ४१)। इसलिये पहले तू इन्द्रियनिग्रह करके इन शत्रुओं को मार डाल। और पिछले अध्याय में योगयुक्त पुरुष का यों वर्णन किया है कि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा 'ज्ञान-विज्ञान से तृप्त हुआ' (६. ८) योगयुक्त समस्त प्राणियों में परमेश्वर को और परमेश्वर में समस्त प्राणियों को देखता है (६. २९)। अतः जब इन्द्रियनिग्रह करने की विधि बतला चुके, तब यह बतलाना आवश्यक हो गया कि 'ज्ञान और विज्ञान' किसे कहते हैं? और परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होकर कर्मों को न छोड़ते हुए भी कर्मयोगमार्ग की जिन विधियों से अन्त में निःसन्दिग्ध मोक्ष मिलता है? सातवें अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय के अन्तपर्यन्त – ग्यारह अध्यायों में – इसी विषय का वर्णन है और अन्त के अठारहवें अध्याय में सब कर्मयोग का उपसंहार है। सृष्टि में अनेक प्रकार के अनेक विनाशवान् पदार्थों में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है – इस समझ का नाम है 'ज्ञान' और एक ही नित्य परमेश्वर से विविध नाशवान् पदार्थों की उत्पत्ति को समझ लेना 'विज्ञान' कहलाता है (गीता १३. ३०)। एवं इसी को क्षर-अक्षर का विचार कहते हैं। इसके सिवा अपने शरीर में अर्थात् क्षेत्र में जिसे आत्मा कहते हैं उसके सच्चे स्वरूप को जान लेने से भी परमेश्वर के स्वरूप का बोध हो जाता है। इस प्रकार के विचार को क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार कहते हैं। इनमें से पहले क्षर-अक्षर के विचार का वर्णन करके फिर तेरहवें अध्याय में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के विचार का वर्णन किया है। यद्यपि परमेश्वर एक है

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

| है (देखो गीतार. प्र १४ पृ ४५)। न केवल इसी श्लोक में, प्रत्युत
| गीता में अन्यत्र भी कर्मयोग को लक्ष्य कर ये शब्द आये हैं – 'मद्योगमाश्रितः
| (गीता १२ ११) 'मत्परः' (गीता १८.५७ और ११ ५५) अतः इस
| विषय में कोई शङ्का नहीं रहती कि परमेश्वर का आश्रय करके जिस योग का
| आचरण करने लिये गीता कहती है वह पीछे के छः अध्यायों में प्रतिपादित
| कर्मयोग ही है। कुछ लोग विज्ञान का अर्थ अनुभविक ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्म का
| साक्षात्कार करते हैं। परन्तु ऊपर के कथनानुसार हमें ज्ञात होता है कि
| परमेश्वरी ज्ञान के ही समष्टिरूप (ज्ञान) और व्यष्टिरूप (विज्ञान) ये दो भेद हैं
| (गीता १३ २ और १८ २ देखो)। दूसरे श्लोक – फिर और कुछ भी
| जानने के लिये नहीं रह जाता' – उपनिषद् के आधार से लिये गये हैं।
| छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु से उनके बाप ने यह प्रश्न किया है कि येन
| अविज्ञातं विज्ञातं भवति – वह क्या है कि जिस एक के जान लेने से सब कुछ
| जान लिया जाता है? और फिर आगे उसका इस प्रकार खुलासा किया है –
| यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं
| मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छां ६ १ ४) – हे तात! जिस प्रकार मिट्टी के एक
| गोले के भीतरी भेद को जान लेने से ज्ञात हो जाता है कि शेष मिट्टी के पदार्थ
| उसी मृत्तिका के विभिन्न नामरूप धारण करनेवाले विकार हैं। और कुछ नहीं है,
| उसी प्रकार ब्रह्म को जान लेने से दूसरा कुछ भी जानने के लिये नहीं रहता।
| मुण्डक उपनिषद् (१ १ ३) में भी आरम्भ में ही यह प्रश्न है कि
| कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति – किसका ज्ञान हो जाने से
| अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है? इससे व्यक्त होता है कि अद्वैत
| वेदान्त का यही तत्त्व यहाँ अभिप्रेत है कि एक परमेश्वर का ज्ञानविज्ञान हो
| जाने से इस जगत् में और कुछ भी जानने के लिये रह नहीं जाता। क्योंकि
| जगत् का मूलतत्त्व तो एक ही है। नाम और रूप के भेद से वही सर्वत्र समाया
| हुआ है। सिवा उसके और कोई दूसरी वस्तु दुनिया में है ही नहीं। यदि ऐसा
| न हो तो दूसरे श्लोक की प्रतिज्ञा सार्थक नहीं होती।]

(३) हजारों मनुष्यों में कोई एक आध ही सिद्धि पाने का यत्न करता है; और
प्रयत्न करनेवाले इन (अनेक) सिद्ध पुरुषों में से एक आध को ही मेरा सच्चा
ज्ञान हो जाता है।

| [यहाँ १८ कि यहाँ प्रयत्न करनेवालों को यद्यपि सिद्ध पुरुष कह दिया
| है तथापि परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर ही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है; अथवा

§§ भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

[नहीं। परमेश्वर के ज्ञान के क्षर-अक्षर-विचार और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ये दो भाग हैं। इनमें से अब क्षर-अक्षर-विचार का आरम्भ करते हैं –]

(४) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (ये पाँच सूक्ष्म भूत), मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकारों में मेरी प्रकृति विभाजित है। (५) यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणी की (प्रकृति) है। हे महाबाहु अर्जुन! यह जानो कि इससे भिन्न जगत् को धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणी की जीवस्वरूपी मेरी दूसरी प्रकृति है। (६) समझ रखो कि इन्हीं दोनों से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। सारे जगत् का प्रभव अर्थात् मूल और प्रलय अर्थात् अन्त मैं ही हूँ। (७) हे धनंजय! मुझसे परे और कुछ नहीं है। धागे में पिरोये हुए मणियों के समान मुझमें यह सब गुँथा हुआ है।

[इन चारों श्लोकों में सब क्षर-अक्षर ज्ञान का सार आ गया है और अगले श्लोकों में इसी का विस्तार किया है। सांख्यशास्त्र में सब सृष्टि के अचेतन अर्थात् जड़प्रकृति और सचेतन पुरुष ये दो स्वतन्त्र तत्त्व बतला कर प्रतिपादन किया है कि इन दोनों तत्त्वों से पदार्थ उत्पन्न हुए – इन दोनों से परे तीसरा तत्त्व नहीं है। परन्तु गीता को यह द्वैत मंजूर नहीं। अतः पाँचवें श्लोक में वर्णन किया है कि इनमें जड़प्रकृति निम्न श्रेणी की विभूति है और जीव अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ श्रेणी की विभूति है। और कहा है कि इन दोनों से समस्त स्थावर जङ्गम सृष्टि उत्पन्न होती है। (देखो गीता १३. २६)। इनमें से जीवभूत श्रेष्ठ प्रकृति का विस्तारपूर्वक विचार क्षेत्रज्ञ की दृष्टि से आगे तेरहवें अध्याय में किया है। अब रह गई जड़प्रकृति। सो गीता का सिद्धान्त है (देखो गीता ९. १०) कि वह स्वतन्त्र नहीं; परमेश्वर की अध्यक्षता में उससे समस्त सृष्टि की उत्पत्ति होती है। यद्यपि गीता में प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं माना है तथापि सांख्यशास्त्र में प्रकृति के जो भेद हैं उन्हीं को कुछ हेरफेर से गीता में ग्राह्य कर लिया है (गीतार. प्र. ८ पृ. १८०–१८४)। और परमेश्वर से माया के

§§ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

(१३) (सत्त्व, रज और तम) इन तीन गुणात्मक भावों से अर्थात् पदार्थों से मोहित हो कर यह सारा संसार इनसे परे के (अर्थात् निर्गुण) मुझ अव्यय (परमेश्वर) को नहीं जानता।

[माया के सम्बन्ध में गीतारहस्य के ९ वें प्रकरण में यह सिद्धान्त है कि माया अथवा अज्ञान त्रिगुणात्मक देहेन्द्रिय का धर्म है न कि आत्मा का। आत्मा तो ज्ञानमय और नित्य है। इन्द्रियाँ उसको भ्रम में डालती हैं – उसी भौती सिद्धान्त को ऊपर के श्लोक में कहा है। (देखो गीता ७. २४ और गीतार. प्र. ९ पृ. २१७–२४९)]

(१४) मेरी यह गुणात्मक और दिव्य माया दुस्तर है। अतः इस माया को वे पार कर जाते हैं जो मेरी ही शरण में आते हैं।

[इससे प्रकट होता है कि सांख्यशास्त्र की त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही गीता में भगवान् अपनी माया कहते हैं। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में कहा है, कि नारद को विश्वरूप दिखला कर अन्त में भगवान् बोले, कि –

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि॥

हे नारद! तुम जिसे देख रहे हो वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। तुम मुझे सब प्राणियों के गुणों से युक्त मत समझो (शां. ३३९. ४४)। वही सिद्धान्त अब यहाँ भी बतलाया गया है। गीतारहस्य के वें और वें प्रकरण में बतला दिया है कि माया क्या चीज है?]

(१५) माया ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है ऐसे मूढ़ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धि में पड़ कर मेरी शरण में नहीं आते।

[यह बतला दिया कि माया में डूबे रहनेवाले लोग परमेश्वर को भूल जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं। अब ऐसा न करनेवाले अर्थात् परमेश्वर की शरण में जा कर उसकी भक्ति करनेवाले भक्तों का वर्णन करते हैं।]

§§ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

(१६) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग मेरी भक्ति किया करते हैं – १ आर्त अर्थात् रोग से पीड़ित २ जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा करनेवाले ३ अर्थार्थी अर्थात् द्रव्य आदि काम्य वासनाओं को मन में रखनेवाले और ४ ज्ञानी अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान पा कर कृतार्थ हो जाने से आगे कुछ प्राप्त न करना हो तो भी निष्कामबुद्धि से भक्ति करनेवाले। (१७) इनमें एक भक्ति अर्थात् अनन्यभाव से मेरी भक्ति करनेवाले और सदैव युक्त यानी निष्काम बुद्धि से बर्तनेवाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है। ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ; और ज्ञानी मुझे (अत्यन्त) प्रिय है। (१८) ये सभी भक्त उदार अर्थात् अच्छे हैं परन्तु मेरा मत है कि इनमें ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। क्योंकि युक्तचित्त हो कर (सब की) उत्तमोत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही वह ठहरा रहता है। (१९) अनेक जन्मों के अनन्तर यह अनुभव हो जाने से – कि जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है – ज्ञानवान् मुझे पा लेता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

[क्षर अक्षर की दृष्टि से भगवान् ने अपने स्वरूप का यह ज्ञान बतला दिया कि प्रकृति और पुरुष दोनों मेरे ही स्वरूप हैं और चारों ओर मैं ही एकता से भरा हूँ। इसके साथ ही भगवान ने ऊपर जो यह बतलाया है – कि इस स्वरूप की भक्ति करने से परमेश्वर की पहचान हो जाती है – उसके तात्पर्य को भली भाँति स्मरण रखना चाहिये। उपासना सभी को चाहिये। फिर चाहे व्यक्त की करो चाहे अव्यक्त की। परन्तु व्यक्त की उपासना सुलभ होने के कारण यहाँ उसी का वर्णन है और उसी का नाम भक्ति है। तथापि स्वार्थबुद्धि को मन में रख कर किसी विशेष हेतु के लिए परमेश्वर की भक्ति करना निम्नश्रेणी की भक्ति है। परमेश्वर का ज्ञान पाने के हेतु से भक्ति करनेवाले (जिज्ञासु) को भी ऐसा ही समझना चाहिये। क्योंकि उसकी जिज्ञासु-अवस्था से ही स्पष्ट होता है कि अभी तक उसको परिपूर्ण ज्ञान नहीं हुआ। तथापि कहा है कि ये सब भक्ति करनेवाले होने

§§ रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

द्वारा अष्टधा प्रकृति उत्पन्न हो चुकने पर (गीता ७. १४) सांख्यों का किया हुआ यह वर्णन कि प्रकृति से सब पदार्थ कैसे निर्मित हुए अर्थात् गुणोत्कर्ष का तत्त्व भी गीता को मान्य है (देखो गीतार. प्र. ९ पृ. २५४)। सांख्यों का कथन है कि प्रकृति और पुरुष मिल कर कुल पचीस तत्त्व हैं। इनमें प्रकृति से ही तेइस तत्त्व उपजते हैं। इन तेईस तत्त्वों में पाँच स्थूल भूत, दस इन्द्रियाँ और मन ये सोलह तत्त्व शेष सात तत्त्वों से निकले हुए अर्थात् उनके विकार हैं। अतएव यह विचार करते समय (कि 'मूलतत्त्व कितने हैं?) इन सोलह तत्त्वों को छोड़ देते हैं और इन्हें छोड़ देने से बुद्धि (महान्) अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ (सूक्ष्मभूत) मिल कर सात ही मूलतत्त्व बचे रहते हैं। सांख्यशास्त्र में इन्हीं सातों को 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। ये सात प्रकृति-विकृति और मूलप्रकृति मिल कर अब आठ ही प्रकार की प्रकृति हुई और महाभारत (शां. ३११. १०-१५) में इसी को अष्टधा प्रकृति कहा है। परंतु सात प्रकृतिविकृतियों के साथ ही मूलप्रकृति की गिनती कर लेना गीता को योग्य नहीं जँचा। क्योंकि ऐसा करने से यह भेद नहीं दिखलाया जाता कि एक मूल है और उसके सात विकार हैं। इसी से गीता के इस वर्गीकरण में – कि सात प्रकृतिविकृति और मन मिल कर अष्टधा मूलप्रकृति है – और महाभारत के वर्गीकरण में थोड़ा-सा भेद किया गया है (गीतार. प्र. ८ पृ. १८४)। सारांश, यद्यपि गीता को सांख्यवालों की स्वतन्त्र प्रकृति स्वीकृत नहीं, तथापि स्मरण रहे कि उसके अगले विस्तार का निरूपण दोनोंने वस्तुतः समान ही किया है। गीता के समान उपनिषद् में भी वर्णन है सामान्यतः परब्रह्म से ही –

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

इस (पर पुरुष) से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करनेवाली पृथ्वी – ये (सब) उत्पन्न होते हैं (मुण्ड. २. १. ३; कै. १. १५; प्रश्न. ६. ४)। अधिक जानना हो तो गीतारहस्य का ८ वाँ प्रकरण देखो। चौथे श्लोक में कहा है कि पृथ्वी, आप प्रभृति पञ्चतत्त्व मैं ही हूँ – और अब यह कह कर कि इन तत्त्वों में जो गुण हैं वे भी मैं ही हूँ – ऊपर के इस कथन का स्पष्टीकरण करते हैं कि ये सब पदार्थ एक ही धागे में मणियों के समान पिरोये हुए हैं –]

(८) हे कौन्तेय! जल में रस मैं हूँ। चन्द्रसूर्य की प्रभा मैं हूँ। सब वेदों में प्रणव अर्थात् ॐकार मैं हूँ। आकाश में शब्द मैं हूँ और सब पुरुषों का पौरुष

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

मैं हूँ। (९) पृथ्वी में पुण्यगन्ध अर्थात् सुगन्धि एवं अग्नि का तेज मैं हूँ। सब प्राणियों की जीवनशक्ति और तपस्वियों का तप मैं हूँ। (१०) हे पार्थ! मुझको सब प्राणियों का सनातन बीज समझ। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी मैं हूँ। (११) काम (वासना) और राग अर्थात् विषयासक्ति (इन दोनों को) घटा कर बलवान् लोगों का बल मैं हूँ; और हे भरतश्रेष्ठ! प्राणियों में – धर्म के विरुद्ध न जानेवाला – काम भी मैं हूँ। (१२) और यह समझ कि जो कुछ सात्त्विक, राजस या तामस भाव अर्थात् पदार्थ हैं, वे सब मुझसे ही हुए हैं। परन्तु वे मुझमें हैं; मैं उनमें नहीं हूँ।

['वे मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ' इसका अर्थ बड़ा ही गम्भीर है। पहला अर्थात् प्रकट अर्थ यह है कि सभी पदार्थ परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। इसलिये मणिगणों में धागे के समान इन पदार्थों के गुणधर्म भी यद्यपि परमेश्वर ही हैं, तथापि परमेश्वर की व्याप्ति इसी में नहीं चुक जाती। समझना चाहिये कि इनको व्याप्त कर इनके परे भी यही परमेश्वर है; और यही अर्थ आगे 'इस समस्त जगत् को मैं एकांश से व्याप्त कर रहा हूँ' (गीता १०. ४२) इस श्लोक में वर्णित है। परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा भी अर्थ सदैव विवक्षित रहता है। वह यह कि त्रिगुणात्मक जगत् का नानात्व यद्यपि मुझसे निर्गुण से होता दीख पड़ता है, तथापि वह नानात्व मेरे निर्गुण स्वरूप में नहीं रहता। और इस दूसरे अर्थ को मन में रख कर 'भूतभृन्न च भूतस्थो' (९. ४ और ५) इत्यादि परमेश्वर की अलौकिक शक्तियों के वर्णन किये गये हैं (गीता १३. १४-१६)। इस प्रकार यदि परमेश्वर की व्याप्ति समस्त जगत् से भी अधिक है, तो प्रकट है कि परमेश्वर के सब स्वरूप को पहचानने के लिये इस मायिक जगत् से ही न रह जाना चाहिये; और अब उसी अर्थ को स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं —]

§§ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

(१३) (सत्त्व रज और तम) इन तीन गुणात्मक भावों से अर्थात् पदार्थों से मोहित हो कर यह सारा संसार इनसे परे के (अर्थात् निर्गुण) मुझ अव्यय (परमेश्वर) को नहीं जानता।

[माया के सम्बन्ध में गीतारहस्य के ९ वें प्रकरण में यह सिद्धान्त है, कि माया अथवा अज्ञान त्रिगुणात्मक देहेन्द्रिय का धर्म है न कि आत्मा का। आत्मा तो ज्ञानमय और नित्य है। इन्द्रियाँ उसको भ्रम में डालती हैं – उसी अद्वैती सिद्धान्त को ऊपर के श्लोक में कहा है। (देखो गीता ७. २४ और गीतार. प्र. ९ पृ. २१७–२४९]

(१४) मेरी यह गुणात्मक और दिव्य माया दुस्तर है। अतः इस माया को वे पार कर जाते हैं जो मेरी ही शरण में आते हैं।

[इससे प्रकट होता है कि सांख्यशास्त्र की त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही गीता में भगवान् अपनी माया कहते हैं। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में कहा है, कि नारद को विश्वरूप दिखला कर अन्त में भगवान् बोले, कि :–

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैव त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥

"हे नारद! तुम जिसे देख रहे हो वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। तुम मुझे सब प्राणियों के गुणों से युक्त मत समझो" (शां. ३३९. ४४)। वही सिद्धान्त अब यहाँ भी बतलाया गया है। गीतारहस्य के ९ वें और १० वें प्रकरण में बतला दिया है कि माया क्या चीज है।]

(१५) माया ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है ऐसे मूढ़ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धि में पड़ कर मेरी शरण में नहीं आते।

[यह बतला दिया कि माया में डूब रहनेवाले लोग परमेश्वर को भूल जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं। अब ऐसा न करनेवाले अर्थात् परमेश्वर की शरण में आ कर उसकी भक्ति करनेवाले लोगों का वर्णन करते हैं।]

§§ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

(१६) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग मेरी भक्ति किया करते हैं – १ आर्त अर्थात् रोग से पीड़ित, २. जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा करनेवाले, ३ अर्थार्थी अर्थात् द्रव्य आदि काम्य वासनाओं को मन में रखनेवाले और ४ ज्ञानी अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान पा कर कृतार्थ हो जाने से आगे कुछ प्राप्त न करना हो, तो भी निष्कामबुद्धि से भक्ति करनेवाले। (१७) इनमें एक भक्ति अर्थात् अनन्यभाव से मेरी भक्ति करनेवाले और सदैव युक्त यानी निष्काम-बुद्धि से बर्तनेवाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है। ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे (अत्यन्त) प्रिय है। (१८) ये सभी भक्त उदार अर्थात् अच्छे हैं, परन्तु मेरा मत है कि इनमें ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। क्योंकि युक्तचित्त हो कर (सब में) उत्तमोत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही वह ठहरा रहता है। (१९) अनेक जन्मों के अनन्तर यह अनुभव हो जाने से – कि जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है – ज्ञानवान् मुझे पा लेता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

[क्षर-अक्षर की दृष्टि से भगवान् ने अपने स्वरूप का यह ज्ञान बतला दिया, कि प्रकृति और पुरुष दोनों मेरे ही स्वरूप हैं और चारों ओर मैं ही एकता से भरा हूँ। इसके साथ ही भगवान ने ऊपर जो यह बतलाया है – कि इस स्वरूप की भक्ति करने से परमेश्वर की पहचान हो जाती है – उसका तात्पर्य भी भली भाँति स्मरण रखना चाहिये। उपासना सभी को चाहिये। फिर चाहे व्यक्त की करो, चाहे अव्यक्त की। परन्तु व्यक्त की उपासना सुलभ होने के कारण यहाँ उसी का वर्णन है और उसी का नाम भक्ति है। तथापि स्वार्थबुद्धि को मन में रख कर किसी विशेष हेतु के लिये परमेश्वर की भक्ति करना निम्नश्रेणी की भक्ति है। परमेश्वर का ज्ञान पाने के हेतु से भक्ति करनेवाले (जिज्ञासु) को भी कच्चा ही समझना चाहिये; क्योंकि उसकी जिज्ञासु-अवस्था से ही स्पष्ट होता है कि अभी तक उसको परिपूर्ण ज्ञान नहीं हुआ। तथापि कहा है कि ये सब भक्ति करनेवाले होने

§§ कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

[के कारण उदार अर्थात् अच्छे मार्ग से जानेवाले हैं (श्लो १८) पहले तीन श्लोकों का तात्पर्य है कि ज्ञानप्राप्ति से कृतार्थ हो करके जिन्हें इस जगत् में कुछ करने अथवा पाने के लिये नहीं रह जाता (गीता ३ १७–१९) ऐसे ज्ञानी पुरुष निष्काम-बुद्धि से जो भक्ति करते है (भाग. १ ७ १) वही सब में श्रेष्ठ है। प्रह्लाद नारद आदि की भक्ति इसी श्रेष्ठ श्रेणी की है; और इसी से भागवत में भक्ति का लक्षण भक्तियोग अर्थात् परमेश्वर की निर्हेतुक और निरन्तर भक्ति माना है [भाग ३ २९ १२; और गीतार. प्र १३ पृ ४१२–४१३। १७ वे और १९ वे श्लोक के एकभक्तिः और वासुदेवः पद भागवतधर्म के हैं। और यह कहने मे कोई क्षति नहीं कि भक्त का उक्त सभी वर्णन भागवतधर्म का ही है। क्योंकि महाभारत (शां ३४१ ३३–३५) में इस धर्म के वर्णन में चतुर्विध भक्तों का उल्लेख करते हुए कहा है कि –

चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम्।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः॥
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्।
ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः॥
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक्।

अनन्यदैवत और एकान्तिक भक्त जिस प्रकार 'निराशी' अर्थात् फलाशारहित कर्म करता है उस प्रकार अन्य तीन भक्त नहीं करते। वे कुछ न-कुछ हेतु मन में रख कर भक्ति करते हैं। इसी से वे तीनों च्यवनशील हैं; और एकान्ती प्रति-बुद्ध (जानकार) है। एवं आगे 'वासुदेव' शब्द की आध्यात्मिक व्युत्पत्ति यों की है – सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् – मैं वास करता हूँ, इसी से मुझको वासुदेव कहते हैं (शां ३४१ ४)। अब यह वर्णन करते है कि यदि सर्वत्र एक ही परमेश्वर है तो लोग भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना क्यों करते है? और ऐसे उपासकों को क्या फल मिलता है ?]

(२०) अपनी अपनी प्रकृति के नियमानुसार भिन्न भिन्न (स्वर्ग आदि फलों की) कामवासनाओं से पागल हुए लोग भिन्न भिन्न (उपासनाओं के) नियमों को पाल कर दूसरे देवताओं को भजते रहते हैं। (२१) जो भक्त जिस रूप की अर्थात् देवता की श्रद्धा से उपासना किया चाहता है उसकी उसी श्रद्धा को मैं

> स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
> लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥
>
> अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
> देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

स्थिर कर देता हूँ। (२२) फिर उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करने लगता है। एवं उसको मेरे ही निर्माण किये हुए कामफल मिलते हैं। (२३) परन्तु (इन) अल्पबुद्धि लोगों को मिलनेवाले ये फल नाशवान् हैं (मोक्ष के समान स्थिर रहनेवाले नहीं हैं)। देवताओं को भजनेवाले उनके पास जाते हैं और मेरे भक्त यहाँ आते हैं।

[साधारण मनुष्यों की यह समझ होती है कि यद्यपि परमेश्वर मोक्षदाता है, तथापि संसार के लिये आवश्यक अनेक इच्छित वस्तुओं को देने की शक्ति देवताओं में ही है और उनकी प्राप्ति के लिये इन्हीं देवताओं की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार जब यह समझ दृढ़ हो गई कि देवताओं की उपासना करनी चाहिये, तब अपनी स्वाभाविक श्रद्धा के अनुसार (देखो गीता १७. १-६) कोई पीपल पूजते हैं, कोई किसी चबूतरे की पूजा करते हैं और कोई किसी बड़ी भारी शिला को सिन्दूर से रँग कर पूजते हैं। इस बात का वर्णन उक्त श्लोकों में सुन्दर रीति से किया गया है। इसमें ध्यान देने योग्य पहली बात यह है कि भिन्न भिन्न देवताओं की आराधना से जो फल मिलता है, उसे आराधक समझता है कि उस देवता ने ही दिया है; परन्तु यथार्थ में वह परमेश्वर ही [illegible]

[illegible]

§§ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

[गीतारहस्य के ९ वें (पृ. २११) और १३ वें प्रकरण (पृ. ४२ –४१) में इस विषय का अधिक विवेचन है, उसे देखो। कुछ लोग यह भूल जाते हैं कि देवताराधन का फल भी ईश्वर ही देता है, और वे प्रकृतिस्वभाव के अनुसार देवताओं की धुन में लग जाते हैं। अब ऊपर के उसी वर्णन का स्पष्टीकरण करते हैं –]

(२४) अबुद्धि अर्थात् मूढ लोग मेरे श्रेष्ठ, उत्तमोत्तम और अव्यक्त रूप को न जान कर मुझ अव्यक्त को व्यक्त हुआ मानते हैं। (२५) मैं अपनी योगरूप माया से आच्छादित रहने के कारण सब को (अपने स्वरूप से) प्रकट नहीं देखता। मूढ लोग नहीं जानते कि मैं अज और अव्यय हूँ।

[अव्यक्त स्वरूप को छोड़ कर व्यक्त स्वरूप धारण कर लेने की युक्ति को योग कहते हैं (देखो गीता ४. ६; ७. १५; ९. ७)। वेदान्ती लोग इसी को माया कहते हैं। इस योगमाया से ढँका हुआ परमेश्वर व्यक्तस्वरूपधारी होता है। सारांश – इस श्लोक का भावार्थ यह है कि व्यक्तसृष्टि मायिक अथवा अनित्य है और अव्यक्त परमेश्वर सच्चा या नित्य है। परन्तु कुछ लोग इस स्थान पर और अन्य स्थानों पर भी 'माया' का 'अलौकिक' अथवा 'विलक्षण' अर्थ मान कर प्रतिपादन करते हैं कि यह माया मिथ्या नहीं – परमेश्वर के समान ही नित्य है। गीतारहस्य के नौवें प्रकरण में माया के स्वरूप का विस्तारसहित विचार किया है। इस कारण यहाँ इतना ही कह देते हैं कि यह बात अद्वैत वेदान्त को भी मान्य है कि माया परमेश्वर की ही कोई विलक्षण और अनादि लीला है। क्योंकि, माया यद्यपि इन्द्रियों का उत्पन्न किया हुआ दृश्य है तथापि इन्द्रियाँ भी परमेश्वर की ही सत्ता से यह काम करती हैं। अतएव अन्त में इस माया को परमेश्वर की लीला ही कहना पड़ता है। वाद है केवल इसके तत्त्वतः सत्य या मिथ्या होने में। सो उक्त श्लोकों से प्रकट होता है कि इस विषय में अद्वैत वेदान्त के समान ही गीता का भी यही सिद्धान्त है कि जिस नामरूपात्मक माया से अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त माना जाता है वह माया – फिर चाहे उसे अलौकिक शक्ति कहो या और कुछ – अज्ञान से उपजी हुई दिखाऊ वस्तु या 'मोह' है; सत्य परमेश्वरतत्त्व इससे पृथक् है। यदि ऐसा न हो तो 'अबुद्धि' और 'मूढ' शब्दों के प्रयोग करने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। सारांश, माया सत्य नहीं – सत्य है एक परमेश्वर ही। किन्तु गीता का कथन है कि इस माया में भूल रहने से लोग अनेक देवताओं के फन्दे में पड़े रहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (१. ४. १)

(अर्थात् इस प्रकार, कि मैं ही सब हूँ) जो मुझे जानते हैं वे युक्तचित्त (होने के कारण) मरणकाल में भी मुझे जानते हैं।

[अगले अध्याय में अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का निरूपण किया है। कर्मशास्त्र का और उपनिषदों का सिद्धान्त है कि मरणकाल में मनुष्य के मन में जो वासना प्रबल रहती है उसके अनुसार उसे आगे जन्म मिलता है। इस सिद्धान्त को लक्ष्य करके अन्तिम श्लोक में 'मरणकाल में भी' शब्द हैं; तथापि उक्त श्लोक के 'भी' पद से स्पष्ट होता है, कि मरने से प्रथम परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हुए बिना केवल अन्तकाल में ही यह ज्ञान नहीं हो सकता (देखो गीता २.७२)। विशेष विवरण अगले अध्याय में है। कह सकते हैं कि इन दो श्लोकों में अधिभूत आदि शब्दों से आगे के अध्याय की प्रस्तावना ही की गई है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में ज्ञानविज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

आठवाँ अध्याय

[इस अध्याय में कर्मयोग के अन्तर्गत ज्ञानविज्ञान का ही निरूपण हो रहा है। और पिछले अध्याय में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ, ये जो परमेश्वर के स्वरूप के विविध भेद कहे हैं पहले उनका अर्थ बतलाकर विवेचन किया है कि उनमें क्या तथ्य है। परन्तु यह विवेचन इन शब्दों की केवल व्याख्या करके अर्थात् अत्यन्त संक्षिप्त रीति से किया है। अतः यहाँ पर उक्त विषय का कुछ अधिक खुलासा कर देना आवश्यक है। ब्रह्मसृष्टि के अवलोकन से उसके कर्ता की कल्पना अनेक लोग अनेक रीतियों से किया करते हैं। १ कोई कहते हैं कि सृष्टि के सब पदार्थ पञ्चमहाभूतों के ही विकार हैं और पञ्चमहाभूतों को छोड़ मूल में दूसरा कोई भी तत्त्व नहीं है। २. दूसरे कुछ लोग (जैसा कि गीता के चौथे अध्याय में वर्णन है) यह प्रतिपादन करते हैं कि समस्त जगत् यज्ञ से हुआ है। और परमेश्वर यज्ञनारायणरूपी है। यज्ञ से ही उसकी पूजा होती है। ३ और कुछ लोगों का कहना है कि स्वयं जड़ पदार्थ सृष्टि के व्यापार नहीं करते; किन्तु उनमें से कोई न-कोई सचेतन पुरुष या देवता रहते हैं; जो कि इन व्यवहारों को किया करते हैं। और इसीलिये हमें उन देवताओं की आराधना करनी चाहिये। उदाहरणार्थ, जड़ पाञ्चभौतिक सूर्य के गोले में सूर्य नाम का जो पुरुष है वही प्रकाश देने वगैरह का काम किया करता है अतएव वही उपास्य है। ४ चौथे पक्ष का कथन है कि

अष्टमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अब इस प्रश्न का निर्णय करना पड़ा कि वाणी, चक्षु और श्रोत्र प्रभृति इन्द्रियाँ एवं प्राणों में श्रेष्ठ कौन है? तब उपनिषदों में भी (बृ. १. ५. २१-२३; छां. १. २. १; कौषी. ४. १२, १३) एक बार वाणी, चक्षु और श्रोत्र इन सूक्ष्म इन्द्रियों को लेकर अध्यात्मदृष्टि से विचार किया गया है; तथा दूसरी बार उन्हीं इन्द्रियों के देवता अग्नि, सूर्य और आकाश को लेकर अधिदैवतदृष्टि से विचार किया गया है। सारांश यह है कि अधिदैवत, अधिभूत और अध्यात्म आदि भेद प्राचीन काल से चले आ रहे हैं; और यह प्रश्न भी इसी जमाने का है कि परमेश्वर के स्वरूप की इन भिन्न भिन्न कल्पनाओं में से सच्ची कौन है? तथा उसका तत्त्व क्या है? बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ७) में याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से कहा है कि सब प्राणियों में, सब देवताओं में, समस्त अध्यात्म में, सब लोकों में, सब यज्ञों में और सब देहों में व्याप्त होकर उनके न समझने पर भी उनको नचानेवाला एक ही परमात्मा है। उपनिषदों का यही सिद्धान्त वेदान्तसूत्र के अन्तर्यामी अधिकरण में है (वे. सू. १. २. १८-२०)। वहाँ भी सिद्ध किया है कि सब के अन्तःकरण में रहनेवाला यह तत्त्व सांख्यों की प्रकृति या जीवात्मा नहीं है, किन्तु परमात्मा है। इसी सिद्धान्त के अनुरोध से भगवान् अब अर्जुन से कहते हैं कि मनुष्य की देह में, सब प्राणियों में (अधिभूत), सब यज्ञों में (अधियज्ञ), सब देवताओं में (अधिदैवत), सब कर्मों में और सब वस्तुओं के सूक्ष्म स्वरूप (अर्थात् अध्यात्म) में एक ही परमेश्वर समाया हुआ है – यह इत्यादि नानात्व अथवा विविध ज्ञान सच्चा नहीं है। सातवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने अधिभूत आदि जिन शब्दों का उच्चारण किया है, उनका अर्थ जानने की अर्जुन को इच्छा हुई। अतः वह पहले पूछता है –]

अर्जुन ने कहा :– (१) हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म के मानी क्या है? अधिभूत किसे कहना चाहिये? और अधिदैवत किसको कहते हैं? (२) अधियज्ञ कैसा होता है? हे मधुसूदन! इस देह में (अधिदेह) कौन है? और अन्तकाल में इन्द्रियनिग्रह करनेवाले लोग तुमको कैसे पहचानते हैं?

श्रीभगवानुवाच।

> अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
> भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
>
> अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
> अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

[ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत और अधियज्ञ शब्द पिछले अध्याय में आ चुके हैं। इनके सिवा अब अर्जुन ने यह नया प्रश्न किया है कि अधिदेह कौन है? इस पर ध्यान देने से आगे के उत्तर का अर्थ समझने में कोई अड़चन न होगी।]

श्रीभगवान् ने कहा :- (३) (सब से) परम अक्षर अर्थात् कभी भी नष्ट न होनेवाला तत्त्व ब्रह्म है (और) प्रत्येक वस्तु का मूलभाव (स्वभाव) अध्यात्म कहा जाता है। (अक्षरब्रह्म से) भूतमात्रादि (चर अचर) पदार्थों की उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग अर्थात् सृष्टिव्यापार कर्म है। (४) (उत्पन्न हुए सब प्राणियों की) क्षर अर्थात् नामरूपात्मक नाशवान् स्थिति अधिभूत है और (इस पदार्थ में) जो पुरुष अर्थात् सचेतन अधिष्ठाता है वही अधिदैवत है। (जिसे) अधियज्ञ (सब यज्ञों का अधिपति कहते हैं वह) मैं ही हूँ। हे देहधारियों में श्रेष्ठ! मैं इस देह में (अधिदेह) हूँ।

[तीसरे श्लोक का 'परम' शब्द ब्रह्म का विशेषण नहीं है; किन्तु अक्षर का विशेषण है। सांख्यशास्त्र में अव्यक्त प्रकृति को भी अक्षर कहा है (गीता १५. १६)। परन्तु वेदान्तियों का ब्रह्म इस अव्यक्त और अक्षर प्रकृति के भी परे का है (इसी अध्याय का [illegible] वाँ और २१ वाँ श्लोक देखो); और इसी कारण अकेले 'अक्षर' शब्द के प्रयोग से सांख्यों की प्रकृति अथवा ब्रह्म दोनों अर्थ हो सकते हैं। इसी सन्देह को मिटाने के लिये 'अक्षर' शब्द के आगे 'परम' विशेषण रख कर ब्रह्म की व्याख्या की है (देखो गीतार. प्र. [illegible] पृ. ९ २- [illegible] ३)। [illegible] 'स्वभाव' शब्द का अर्थ महाभारत में [illegible] उदाहरणों के अनुसार किसी भी पदार्थ का सूक्ष्म स्वरूप किया है। [illegible] [illegible] की विसृष्टि (विसर्ग) कहा है। [illegible] प्र. [illegible] पृ. [illegible] [illegible] विसर्ग [illegible] का यहाँ अर्थ यही लेना चाहिये। विसर्ग का अर्थ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है। [illegible] [illegible] प्रकरण (पृ. [illegible]) [illegible] [illegible] किया गया है कि इस [illegible] को ही कर्म क्यों कहते हैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करते हैं और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] 'पुरुष' शब्द से

सूर्य का पुरुष चन्द्र का देवता या वरुणपुरुष इत्यादि सचेतन सूक्ष्म देहधारी देवता विवक्षित हैं और हिरण्यगर्भ का भी उसमें समावेश होता है। यहाँ भगवान ने 'अधियज्ञ' शब्द की व्याख्या नहीं की। क्योंकि, यज्ञ के विषय में तीसरे और चौथे अध्यायों में विस्तारसहित वर्णन हो चुका है। और फिर आगे भी कहा है कि सब यज्ञों का प्रभु और भोक्ता मैं ही हूँ (देखो गीता ९. २४ ५ २९ और म भा. शां ३४०)। इस प्रकार अध्यात्म आदि के लक्षण बतला कर अन्त में संक्षेप से कह दिया है कि इस देह में 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ – अर्थात् मनुष्यदेह में अधिदैव और अधियज्ञ भी मैं हूँ। प्रत्येक देह में पृथक् पृथक् आत्मा (पुरुष) मान कर सांख्यवादी कहते हैं कि वे असंख्य हैं। परन्तु वेदान्तशास्त्र को यह मत मान्य नहीं है। उसने निश्चय किया है कि यद्यपि देह अनेक हैं तथापि आत्मा सब में एक ही है (गीतार. प्र ७ पृ १६१) 'अधिदेह मैं ही हूँ' इस वाक्य मे यही सिद्धान्त दर्शाया है तो भी इस वाक्य के 'मैं ही हूँ' शब्द केवल अधियज्ञ अथवा अधिदेह को ही उद्देश करके प्रयुक्त नहीं हैं उनका सम्बन्ध अध्यात्म आदि पूर्वपदों से भी है। अतः समग्र अर्थ ऐसा होता है कि अनेक प्रकार के यज्ञ, अनेक पदार्थों के अनेक देवता विनाशवान् पञ्चमहाभूत पदार्थमात्र के सूक्ष्म भाग अथवा विभिन्न आत्मा ब्रह्म कर्म अथवा भिन्न भिन्न मनुष्यों की देह – इन सब में 'मैं ही हूँ।' अर्थात् सब में एक ही परमेश्वर तत्त्व है। कुछ लोगों का कथन है, कि यहाँ अधिदेह स्वरूप का स्वतन्त्र वर्णन नहीं है अधियज्ञ की व्याख्या करने में अधिदेह का पर्याय से उल्लेख हो गया है। किन्तु हमें यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि न केवल गीता में ही प्रत्युत उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों में भी (वे सू ३ ३ २२) जहाँ यह विषय आया है वहाँ अधिभूत आदि स्वरूपों के साथ ही शारीर आत्मा का भी विचार किया है और सिद्धान्त किया है कि सर्व एक ही परमात्मा है। ऐसे ही गीता में जब कि अधिदेह के विषय में पहले ही प्रश्न हो चुका है तब यहाँ उसी के पृथक् उल्लेख को विवक्षित मानना युक्ति सङ्गत है। यदि यह सच है कि सब कुछ परब्रह्म ही है तो पहल पहल ऐसा बोध होना सम्भव है कि उसके अधिभूत आदि स्वरूपों का वर्णन करते समय उसमें परब्रह्म को भी शामिल कर लेने की कोई जरूरत न थी। परन्तु नानात्व दर्शक यह वर्णन उन लोगों को लक्ष्य करके किया गया है कि जो ब्रह्म आत्मा देवता और यज्ञनारायण आदि अनेक भेद करके नाना प्रकार की उपासनाओं में लगे रहते हैं। अतएव पहले ये लक्षण बतलाये गये हैं कि या उन भागों की समझ के अनुसार होते हैं। और फिर सिद्धान्त किया गया है कि यह सब मैं ही हूँ। इस बात पर ध्यान देने से बाद भी शङ्का नहीं रह जाती। अस्तु इन भेद का तत्त्व बतला दिया गया कि उपासना के लिये अधिभूत अधि-दै

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

§§ कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

(८) हे पार्थ! चित्त को दूसरी ओर न जाने देकर अभ्यास की सहायता से उसको स्थिर करके दिव्य परम पुरुष का ध्यान करते रहनेसे मनुष्य उसी पुरुष में जा मिलता है।

[जो लोग भगवद्गीता में इस विषय का प्रतिपादन बतलाते हैं कि संसार को छोड़ दो और केवल भक्ति का ही अवलम्ब करो; उन्हें इस श्लोक के सिद्धान्त की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। मोक्ष तो परमेश्वर की ज्ञानयुक्त भक्ति से मिलता है। और यह निर्विवाद है कि मरणसमय में भी उसी भक्ति के स्थिर रहने के लिये जन्मभर वही अभ्यास करना चाहिये। गीता का यह अभिप्राय नहीं कि इसके लिये कर्मों को छोड़ देना चाहिये। इसके विरुद्ध गीताशास्त्र का सिद्धान्त है कि भगवद्भक्त को स्वधर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त होते जायँ उन सब को निष्कामबुद्धि से करते रहना चाहिये। और उसी सिद्धान्त का इन शब्दों से व्यक्त किया है कि मेरा सदैव चिन्तन कर और युद्ध कर। अब बतलाते हैं कि परमेश्वरार्पणबुद्धि से जन्मभर निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी अन्तकाल में भी दिव्य परमपुरुष का चिन्तन किस प्रकार से करते हैं।]

(९-१०) जो (मनुष्य) अन्तकाल में (इन्द्रियनिग्रहरूप) योग के सामर्थ्य से भक्तियुक्त हो कर मन को स्थिर करके दोनों भौहों के बीच में प्राण को भली भाँति रख कर कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता, अणु से भी छोटे, सब के धाता अर्थात् आधार या कर्ता, अचिन्त्यस्वरूप और अन्धकार से परे, सूर्य के समान देदीप्यमान पुरुष का स्मरण करता है, वह (मनुष्य) उसी दिव्य परमपुरुष में जा मिलता है। (११) वेद के जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग हो कर यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते हैं, वह पद अर्थात् अक्षर ब्रह्म तुझे संक्षेप से बतलाता हूँ। (१२) सब (इन्द्रियरूपी) द्वारों

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

§§ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

§§ सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

पुनरावर्तन अर्थात् लौटना (पड़ता) है। परन्तु हे कौन्तेय ! मुझमें मिल जाने से पुनर्जन्म नहीं होता।

[सोलहवें श्लोक के 'पुनरावर्तन' शब्द का अर्थ पुण्य चुक जाने पर भूलोक में लौट आना है (देखो गीता ९. २१; म. भा. वन. २६०)। यज्ञ, देवता आराधन और वेदाध्ययन प्रभृति कर्मों से यद्यपि इन्द्रलोक, वरुणलोक, सूर्यलोक और हुआ तो ब्रह्मलोक प्राप्त हो जावे; तथापि पुण्यांश के समाप्त होते ही वहाँ से फिर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है (बृ. ४. ४. ६)। अथवा अन्ततः ब्रह्मलोक का नाश हो जाने पर पुनर्जन्मचक्र में तो जरूर ही गिरना पड़ता है। अतएव उक्त श्लोक का भावार्थ यह है कि ऊपर लिखी हुई सब गतियाँ कम दर्जे की हैं और परमेश्वर के ज्ञान से ही पुनर्जन्म नष्ट होता है। इस कारण यही गति सर्वश्रेष्ठ है (गीता ९. २१)। अन्त में जो कहा है, कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी अनित्य है; उसके समर्थन में बतलाते हैं, कि ब्रह्मलोक तक समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और लय बारंबार कैसे होता रहता है?]

(१७) अहोरात्र को (तत्त्वतः) जाननेवाले पुरुष समझते हैं कि (कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों का एक महायुग होता है; (और ऐसे) हजार (महा) युगों का समय ब्रह्मदेव का एक दिन है; और (ऐसे) ही हजार युगों की (उसकी) एक रात्रि है।

[यह श्लोक इससे पहले के युगमान का हिसाब लेकर गीता में आया है। इसका अर्थ अन्यत्र बतलाये हुए हिसाब से करना चाहिये। यह हिसाब और गीता का यह श्लोक भी भारत (शां. २३१. ३१) और मनुस्मृति (१. ७३) में है; तथा यास्क के निरुक्त में भी यही वर्णित है। (निरुक्त. १४. ९)। ब्रह्मदेव के दिन का ही कल्प कहते हैं। अगले श्लोक में अव्यक्त का अर्थ सांख्यशास्त्र की अव्यक्त प्रकृति है। अव्यक्त का अर्थ परब्रह्म नहीं है। क्योंकि २० वें श्लोक में स्पष्ट बतला दिया है कि ब्रह्मरूपी अव्यक्त १८ वें श्लोक में वर्णित अव्यक्त से परे का और भिन्न है। गीतारहस्य के आठवें प्रकरण (पृ. १९४) में इसका पूरा खुलासा है कि अव्यक्त से व्यक्तसृष्टि कैसे होती है? और कल्प के कालमान का हिसाब भी वहीं लिखा है।]

(१८) (ब्रह्मदेव के) दिन का आरम्भ होने पर अव्यक्त से सब व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते हैं और रात्रि होने पर उसी पूर्वोक्त अव्यक्त में लीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

§§ परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

§§ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

है। पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम के लक्षण बतलाते हुए जो यह वर्णन है कि वह क्षर और अक्षर से परे का है उससे प्रकट है कि वहाँ का 'अक्षर' शब्द सांख्यों की प्रकृति के लिये उद्दिष्ट है (देखो गीता १५. १६–१८)। ध्यान रहे कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' दोनों विशेषणों का प्रयोग गीता में कभी सांख्यों की प्रकृति के लिये और कभी प्रकृति से परे परब्रह्म के लिये किया गया है (देखो गीतार. प्र. ९ पृ. २ २–२ १)। व्यक्त और अव्यक्त से परे जो परब्रह्म है, उसका स्वरूप गीतारहस्य के नौवें प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है। उस अक्षरब्रह्म का वर्णन हो चुका कि जिस स्थान में स्थान मे पहुँच जाने से मनुष्य पुनर्जन्म की लपेट से छूट जाता है। अब मरने पर जिन्हें लौटना नहीं पड़ता (अनावृत्ति) और जिन्हें स्वर्ग से लौट कर लेना पड़ता है (आवृत्ति) उनके बीच के समय का और गति का भेद बतलाते हैं :–]

(२३) हे भरतश्रेष्ठ! अब तुझे मैं वह काल बतलाता हूँ, कि जिस काल में (कर्म-) योगी मरने पर (इस लोक में जन्मने के लिये) लौट नहीं आते; और (जिस काल में मरने पर) लौट आते हैं। (२४) अग्नि, ज्योति अर्थात् ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों में मरे हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को पाते हैं (लौट कर नहीं आते)। (२५) (अग्नि) धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष (और) दक्षिणायन के छः महीनों में मरा हुआ (कर्म-) योगी चन्द्र के तेज में अर्थात् चन्द्रलोक में जा कर (पुण्यांश घटने पर) लौट आता है। (२६) इस प्रकार जगत् की शुक्ल और कृष्ण अर्थात् प्रकाशमय और अन्धकारमय दो शाश्वत गतियाँ यानी स्थिर मार्ग हैं। एक मार्ग से जाने पर लौटना नहीं पड़ता; और दूसरे से फिर लौटना पड़ता है।

[उपनिषदों में इन दोनों गतियों को देवयान (शुक्ल) और पितृयान (कृष्ण) अथवा अर्चिरादि मार्ग और धूम-आदि मार्ग कहा है तथा कर्मेन

§§ नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

में भी इन मार्गों का उल्लेख है। मरे हुए मनुष्य की देह को अग्नि में जला देने पर अग्नि से ही इन मार्गों का आरम्भ हो जाता है। अतएव पचीसवें श्लोक में 'अग्नि' पद का पहले श्लोक से अध्याहार कर लेना चाहिये। पचीसवें श्लोक का हेतु यही बतलाना है कि प्रथम श्लोक में वर्णित मार्ग में और दूसरे मार्ग में कहाँ भेद होता है; इसी से अग्नि शब्द की पुनरावृत्ति इसमें नहीं की गई। गीतारहस्य के दसवें प्रकरण के अन्त (पृ. २९७–२९८) में इस सम्बन्ध की अधिक बातें हैं। उनसे उल्लिखित श्लोक का भावार्थ खुल जावेगा। अब बतलाते हैं कि इन दोनों मार्गों का तत्त्व जान लेने से क्या फल मिलता है?]

(२७) हे पार्थ! इन दोनों सृती अर्थात् मार्गों को (तत्त्वतः) जाननेवाला कोई भी (कर्म-)योगी मोह में नहीं फँसता। अतएव हे अर्जुन! तू सदा-सर्वदा (कर्म-)योगयुक्त हो। (२८) इसे (उक्त तत्त्व को) जान लेने से वेद, यज्ञ, तप और दान में जो पुण्यफल बतलाया है (कर्म-)योगी उस सब को छोड़ जाता है; और उसके परे आद्यस्थान को पा लेता है।

[जिस मनुष्य ने देवयान और पितृयान दोनों के तत्त्व का ज्ञान लिया – अर्थात् यह जान कर लिया कि देवयानमार्ग से मोक्ष मिल जाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं मिलता और पितृयानमार्ग स्वर्गप्रद हो तो भी मोक्षप्रद नहीं है – वह इनमें से अपने सच्चे कल्याण के मार्ग का ही स्वीकार करेगा। वह मोह से निम्नश्रेणी के मार्ग का स्वीकार न करेगा। इसी बात को लक्ष्य कर पहले श्लोक में 'इन दोनों सृती अर्थात् मार्गों को (तत्त्वतः) जाननेवाला' ये शब्द आये हैं। इन श्लोकों का भावार्थ यह है – कर्मयोगी जानता है कि देवयान और पितृयान दोनों मार्गों में से कौन मार्ग कहाँ जाता है; तथा इनमें से जो मार्ग उत्तम है उसे ही वह स्वभावतः स्वीकार करता है। एवं स्वर्ग के आवागमन से बच कर इसके परे मोक्षपद की प्राप्ति कर लेता है और २७ वें श्लोक में तदनुसार व्यवहार करने का अर्जुन को उपदेश भी किया गया है।]

नवमोऽध्याय ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

नौवाँ अध्याय

[सातवें अध्याय में ज्ञानविज्ञान का निरूपण यह दिखलाने के लिये किया गया है कि कर्मयोग का आचरण करनेवाले पुरुष को परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हो कर मन की शान्ति अथवा मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होती है। अक्षर और अव्यक्त पुरुष का स्वरूप भी बतला दिया गया है। पिछले अध्याय में कहा गया है, कि अन्तकाल में भी उसी स्वरूप को मन में स्थिर रखने के लिये पातञ्जलयोग से समाधि लगा कर अन्त में ॐकार की उपासना की जावे। परन्तु पहले तो अक्षरब्रह्म का ज्ञान होना ही कठिन है; और फिर उसमें भी समाधि की आवश्यकता होने से साधारण जनों को यह मार्ग ही छोड़ देना पड़ेगा। इस कठिनाई पर ध्यान देकर अब भगवान् ऐसा राजमार्ग बतलाते हैं, कि जिससे सब लोगों को परमेश्वर का ज्ञान सुलभ हो जावे। इसी को भक्तिमार्ग कहते हैं। गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में हमने उसका विस्तार सहित विवेचन किया है। इस मार्ग में परमेश्वर का स्वरूप प्रेमगम्य और व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष जानने योग्य रहता है। उसी व्यक्त स्वरूप का विस्तृत निरूपण नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में किया गया है। तथापि स्मरण रहे कि यह भक्तिमार्ग भी स्वतन्त्र नहीं है – कर्मयोग की सिद्धि के लिए सातवें अध्याय में जिस ज्ञानविज्ञान का आरम्भ किया गया है उसी का यह भाग है। और अध्याय का आरम्भ भी पिछले ज्ञानविज्ञान के भाग की दृष्टि से ही किया गया है।]

श्रीभगवान् ने कहा – (१) अब तू दोषदर्शी नहीं है इसलिये गुह्य से भी गुह्य विज्ञानसहित ज्ञान तुझे बतलाता हूँ कि जिसके जान लेने से पाप से मुक्त होगा। ( ) यह (ज्ञान) समस्त गुह्यों में राजा अर्थात् श्रेष्ठ है। यह राजविद्या अर्थात्

§§ अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

सब विद्याओं में श्रेष्ठ, पवित्र, उत्तम और प्रत्यक्ष बोध देनेवाला है। यह आचरण करने में सुखकारक, अव्यय और धर्म्य है। (३) हे परन्तप! इस पर श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझे नहीं पाते। वे मृत्युयुक्त संसार के मार्ग में लौट आते हैं (अर्थात् उन्हें मोक्ष नहीं मिलता)।

[गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण (पृ. ४१४–४१६) में दूसरे श्लोक के 'राजविद्या' 'राजगुह्य' और 'प्रत्यक्षावगम' पदों के अर्थों का विचार किया गया है। ईश्वरप्राप्ति के साधनों को उपनिषदों में 'विद्या' कहा है; और यह विद्या गुप्त रखी जाती थी। कहा है कि भक्तिमार्ग अथवा व्यक्त की उपासनारूपी विद्या सब गुह्य विद्याओं में श्रेष्ठ अथवा राजा है। इसके अतिरिक्त यह धर्म आँखों से प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाला और इसी से आचरण करने में सुलभ है। तथापि इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओं की परम्परा से ही इस मार्ग का प्रचार हुआ है (गीता ४. २)। इसलिये इस मार्ग को राजाओं अर्थात् बड़े आदमियों की विद्या – राजविद्या – कह सकेंगे। कोई भी अर्थ क्यों न लीजिये; प्रकट है कि अक्षर या अव्यक्त ब्रह्म के ज्ञान को लक्ष्य करके यह वर्णन नहीं किया गया है; किन्तु राजविद्या शब्द से यहाँ पर भक्तिमार्ग ही विवक्षित है। इस प्रकार आरम्भ में ही इस मार्ग की प्रशंसा कर भगवान् अब विस्तार से उसका वर्णन करते हैं –]

(४) मैंने अपने अव्यक्त स्वरूप से इस समस्त जगत् को फैलाया अथवा व्याप्त किया है। मुझमें सब भूत हैं (परन्तु) मैं उनमें नहीं हूँ। (५) और मुझमें सब भूत भी नहीं हैं; देखो (यह कैसी) मेरी ईश्वरी करनी या योगसामर्थ्य है! भूतों को उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा उनका पालन करके भी (फिर) उनमें नहीं है। (६) सर्वत्र बहनेवाली महान् वायु जिस प्रकार सर्वदा आकाश में रहती है, उसी प्रकार सब भूतों को मुझमें समझ

§§ सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

[यह विरोधाभास इसलिये होता है कि परमेश्वर निर्गुण है और सगुण भी है (सातवें अध्याय के १२ वें श्लोक की टिप्पणी और गीतारहस्य प्र. ९, पृ. २१९ और २२१ देखो)। इस प्रकार अपने स्वरूप का आश्चर्यकारक वर्णन करके अर्जुन की जिज्ञासा को जाग्रत कर चुकने पर अब भगवान् फिर कुछ फेरफार से वही वर्णन प्रसंगानुसार करते हैं कि जो सातवें और आठवें अध्याय में पहले किया जा चुका है – अर्थात् हम से व्यक्तसृष्टि किस प्रकार होती है? और हमारे व्यक्तरूप कौन-से हैं (गीता ७. ४–१८; ८. १७–२०)? 'योग' शब्द का अर्थ यद्यपि अलौकिक सामर्थ्य या युक्ति किया जाय, तथापि स्मरण रहे कि अव्यक्त से व्यक्त होने के इस योग अथवा युक्ति को ही माया कहते हैं। इस विषय का प्रतिपादन गीता ७. २५ की टिप्पणी में और रहस्य के नौवें प्रकरण (२१७–२४१) में हो चुका है। परमेश्वर को यह 'योग' अत्यन्त सुलभ है किंबहुना यह परमेश्वर का दास ही है। इसलिये परमेश्वर को योगेश्वर (गीता १८. ७५) कहते हैं। अब बतलाते हैं, कि इस योगसामर्थ्य से जगत् की उत्पत्ति और नाश कैसे हुआ करते हैं?]

(७) हे कौन्तेय! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में आ मिलते हैं; और कल्प के आरम्भ में (ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में) उनको मैं ही फिर निर्माण करता हूँ। (८) मैं अपनी प्रकृति को हाथ में लेकर, (अपने अपने कर्मों से बँधे हुए) भूतों के इस समूचे समुदाय को पुनः पुनः निर्माण करता हूँ कि जो (उस) प्रकृति के काबू में रहने से अवश अर्थात् परतन्त्र है। (९) (परन्तु) हे धनंजय! इस (सृष्टि निर्माण करने के) काम में मेरी आसक्ति नहीं है। मैं उदासीन सा रहता हूँ। इस कारण मुझे वे कर्म बन्धक नहीं होते। (१०) मैं अध्यक्ष हो कर प्रकृति से सब चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता हूँ। हे कौन्तेय! इस कारण जगत् का यह बनना बिगड़ना हुआ करता है।

§§ अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

§§ महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

[पिछले अध्याय में बतला आये हैं कि ब्रह्मदेव के दिन का (कल्प का) आरम्भ होते ही अव्यक्तप्रकृति से व्यक्तसृष्टि बनने लगती है (८. १८)। यहाँ इसी का अधिक खुलासा किया है कि परमेश्वर प्रत्येक के कर्मानुसार उसे भला-बुरा जन्म देता है। अतएव वह स्वयं इन कर्मों से अलिप्त है। शास्त्रीय प्रतिपादन में ये सभी तत्त्व एक ही स्थान में बतला दिये जाते हैं; परन्तु गीता की पद्धति संवादात्मक है। इस कारण प्रसंग के अनुसार एक विषय थोड़ा-सा यहाँ और थोड़ा-सा वहाँ इस प्रकार वर्णित है। कुछ लोगों की दलील है कि इसके श्लोक में 'जगद्विपरिवर्तते' पद विवर्तवाद को सूचित करता है। परन्तु 'जगत् का बनना-बिगड़ना हुआ करता है' – अर्थात् व्यक्त का अव्यक्त और फिर अव्यक्त का व्यक्त होता रहता है। हम नहीं समझते कि इसकी अपेक्षा 'विपरिवर्तते' पद का कुछ अधिक अर्थ हो सकता है। और शांकरभाष्य में भी कोई विशेष अर्थ नहीं लगाया गया है। गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में विवेचन किया गया है कि मनुष्य कर्म से अबद्ध कैसे होता है।]

(११) मूढ़ लोग मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते कि जो सब भूतों का महान् ईश्वर है। वे मुझे मानवतनुधारी समझ कर मेरी अवहेलना करते हैं। (१२) उनकी आशा व्यर्थ, कर्म निष्फल, ज्ञान निरर्थक और चित्त भ्रष्ट है। वे मोहात्मक राक्षसी और आसुरी स्वभाव का आश्रय किये रहते हैं।

[यह आसुरी स्वभाव का वर्णन है। अब दैवी स्वभाव का वर्णन करते हैं –]

(१३) परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृति का आश्रय करनेवाले महात्मा लोग सब भूतों के अव्यय आदिस्थान मुझको पहचान कर अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं; (१४) और यत्नशील, दृढ़व्रत एवं नित्य योगयुक्त हो सदा मेरा कीर्तन

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्‌ ॥ १५ ॥

§§ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्‌।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्‌ ॥ १६ ॥

और नमन करते हुए भक्ति से मेरी उपासना किया करते हैं। (१५) ऐसे ही और कुछ लोग एकत्व से अर्थात्‌ अभेदभाव से, पृथक्त्व से अर्थात्‌ भेदभाव से या अनेक भाँति के ज्ञानयज्ञ से यजन कर मेरी – जो सर्वतोमुख हूँ – उपासना किया करते हैं।

[संसार में पाये जानेवाले दैवी और राक्षसी स्वभावों के पुरुषों का यहाँ जो संक्षिप्त वर्णन है उसका विस्तार आगे सोलहवें अध्याय में किया गया है। पहले बतला ही आये हैं कि ज्ञानयज्ञ का अर्थ 'परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान से ही आकलन करके उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेना' (गीता ४. ३३ की टिप्पणी देखो)। किन्तु परमेश्वर का यह ज्ञान भी द्वैत-अद्वैत आदि भेदों से अनेक प्रकार का हो सकता है। इस कारण ज्ञानयज्ञ भी भिन्न भिन्न प्रकार से हो सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि ज्ञानयज्ञ अनेक हों तो भी पन्द्रहवें श्लोक का तात्पर्य यह है कि परमेश्वर के विश्वतोमुख होने के कारण ये सब यज्ञ उसे ही पहुँचते हैं। 'एकत्व' 'पृथक्त्व' आदि पदों से प्रकट है कि द्वैत-अद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि सम्प्रदाय यद्यपि अर्वाचीन हैं तथापि ये कल्पनाएँ प्राचीन हैं। इस श्लोक में परमेश्वर का एकत्व और पृथक्त्व बतलाया गया है। उसी का अधिक निरूपण कर बतलाते हैं कि पृथक्त्व में क्या है।]

(१६) क्रतु अर्थात्‌ श्रौतयज्ञ मैं हूँ। यज्ञ अर्थात्‌ स्मार्तयज्ञ मैं हूँ। स्वधा अर्थात्‌ श्राद्ध से पितरों को अर्पण किया हुआ अन्न मैं हूँ। औषध अर्थात्‌ वनस्पति से (यज्ञ के अर्थ) उत्पन्न हुआ अन्न मैं हूँ। (यज्ञ में हवन करते समय पढ़े जानेवाले) मन्त्र मैं हूँ। घृत अग्नि (अग्नि में छोड़ी हुई) आहुति मैं ही हूँ।

[मूल में क्रतु और यज्ञ दोनो शब्द समानार्थक ही हैं। परन्तु जिस प्रकार 'यज्ञ' शब्द का अर्थ व्यापक हो गया और देवपूजा वैश्वदेव अतिथि सत्कार, प्राणायाम, एवं जप इत्यादि कर्मों को भी 'यज्ञ' कहने लगे (गीता ४. २३-३) उस प्रकार 'क्रतु' शब्द का अर्थ बढ़ने नहीं पाया। श्रौतधर्म में अश्वमेध आदि जिन यज्ञों के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है उनका वही अर्थ आगे भी स्थिर रहा है। अतएव शाङ्करभाष्य में कहा है कि इस स्थल पर 'क्रतु' शब्द से 'श्रौत' यज्ञ और 'यज्ञ' शब्द से 'स्मार्त' यज्ञ समझना चाहिये और ऊपर हमने यही अर्थ किया है। क्योंकि ऐसा न करें तो 'क्रतु' और

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

[नारायणीयोपाख्यान में चार प्रकार के भक्तों में श्रेष्ठ कहे जानेवाले एकान्तिक भक्त का भेद (गीता ७. १९ की टिप्पणी देखो) बतला कर कहा है :–

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः ।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥

ब्रह्मा को, शिव को अथवा और दूसरे देवताओं को भजनेवाले साधु पुरुष भी मुझमें ही आ मिलते हैं (म. भा. शां. ३४१. ३५) और गीता के उक्त श्लोकों का अनुवाद भागवतपुराण में भी किया गया है (देखो भाग. १०. ४. ८–१)। इसी प्रकार नारायणीयोपाख्यान में फिर भी कहा है :–

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ।

देव, पितर, गुरु, अतिथि, ब्राह्मण और गौ प्रभृति की सेवा करनेवाले पर्याय से विष्णु का ही यजन करते हैं (म. भा. शां. ३४५. २६, २७)। इस प्रकार भागवतधर्म के स्पष्ट कहने पर भी – कि भक्ति को मुख्य मानो। देवतारूप प्रतीक गौण है। यद्यपि विविधभेद हों तथापि उपासना तो एक ही परमेश्वर की होती है – यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भागवतधर्मवाले शैवों से झगड़ा किया करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि किसी भी देवता की उपासना क्यों न करें। पर वह पहुँचती भगवान् को ही है तथापि यह ज्ञान न होने से – कि सभी देवता एक हैं – मोक्ष की राह छूट जाती है और भिन्न भिन्न देवताओं के उपासकों को उनकी भावना के अनुसार भगवान् ही भिन्न भिन्न फल देते हैं :–]

(२५) देवताओं का व्रत करनेवाले देवताओं के पास, पितरों का व्रत करनेवाले पितरों के पास, (भिन्न भिन्न) भूतों को पूजनेवाले (उन) भूतों के पास जाते हैं और मेरा यजन करनेवाले मेरे पास आते हैं।

[सारांश, यद्यपि एक ही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ है तथापि उपासना का फल प्रत्येक के भाव के अनुरूप न्यूनाधिक योग्यता का मिला करता है। फिर भी इस पूर्वकथन को भूल न जाना चाहिये कि यह फलदान का कार्य देवता नहीं करते – परमेश्वर ही करता है (गीता ७. २० –२१)। ऊपर २४ वें श्लोक में भगवान् ने जो यह कहा है कि सब यज्ञों का भोक्ता मैं ही हूँ उसका तात्पर्य यही है। महाभारत में भी कहा है –

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम् ।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥

§§ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

§§ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

'जो पुरुष जिस भाव में निश्चय रखता है वह उस भाव के अनुरूप ही फल पाता है (छां ३ १४ १) और श्रुति भी है "यं यथा यथोपासते तदेव भवति" (गीता ८ ६ की टिप्पणी देखो)। अनेक देवताओं की उपासना करनेवाले को (नानात्व से) जो फल मिलता है उसे पहले चरण में बतला कर दूसरे चरण में यह अर्थ वर्णन किया है कि अनन्यभाव से भगवान् की भक्ति करनेवालों को ही सच्ची भगवत्प्राप्ति होती है। अब भक्तिमार्ग के महत्त्व का यह तत्त्व बतलाते हैं कि भगवान् इस ओर न देख कर – कि हमारा भक्त हमें क्या समर्पण करता है? – केवल उसके भाव की ही ओर दृष्टि दे करके उसकी भक्ति स्वीकार करते हैं –]

(२६) जो मुझे भक्ति से एक-आध पत्र, पुष्प, फल अथवा (यथाशक्ति) थोड़ा-सा जल भी अर्पण करता है, उस प्रयतात्म अर्थात् नियतचित्त पुरुष की भक्ति की भेंट को मैं (आनन्द से) ग्रहण करता हूँ।

[कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गीता २ ४९) – यह कर्मयोग का तत्त्व है। इसका जो रूपान्तर भक्तिमार्ग में हो जाता है, उसी का वर्णन उक्त श्लोक में है (देखो गीतार. प्र. १३ पृ. ४२८–२९)। इस विषय में सुदामा के तन्दुलों की बात प्रसिद्ध है; और यह श्लोक भागवतपुराण में सुदामाचरित्र के उपाख्यान में भी आया है (भाग. १० उ. ८१. ४)। इसमें सन्देह नहीं कि पूजा के द्रव्य अथवा सामग्री का न्यूनाधिक होना सर्वथा मनुष्य के हाथ में नहीं भी रहता। इसी से शास्त्र में कहा है कि यथाशक्ति प्राप्त होनेवाले स्वल्प पूजाद्रव्य से ही नहीं, प्रत्युत शुद्ध भाव से समर्पण किये हुए मानसिक पूजाद्रव्यों से भी भगवान् सन्तुष्ट हो जाते हैं। देवता भाव का भूखा है, न कि पूजा की सामग्री का। मीमांसकमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग में जो कुछ विशेषता है, वह यही है। यज्ञयाग करने के लिये बहुत-सी सामग्री जुटानी पड़ती है; और उद्योग भी बहुत करना पड़ता है। परन्तु भक्तियज्ञ एक तुलसीदल से भी हो जाता है। महाभारत में कथा है कि जब दुर्वासा ऋषि घर पर आये, तब द्रौपदी ने इसी प्रकार के यज्ञ से भगवान् को सन्तुष्ट किया था। भगवद्भक्त जिस प्रकार अपने कर्म करता है, अर्जुन को उसी प्रकार करने का उपदेश देकर बतलाते हैं कि इससे क्या फल मिलता है –']

(२७) हे कौन्तेय! तू जो (कुछ) करता है, जो खाता है, होम-हवन करता

§§ त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

| २४७)। किन्तु इस प्रकार परिभाषा का भेद हो तो भी 'सत्' और 'असत्' दोनों ही एक साथ यो‌जना से प्रकट हो जाता है कि इनमें सद्‌सद्‌ और परब्रह्म दोनों का एकत्र समावेश होता है। अतः यह भावार्थ भी निकल सकेगा कि परिभाषा के भेद से किसी को भी 'सत्' और असत् कहा जाय; किन्तु यह दिखलाने के लिये कि दोनों परमेश्वर के ही रूप हैं – भगवान् ने 'सत्' और 'असत्' शब्दों की व्याख्या न दे कर सिर्फ यह वर्णन कर दिया है कि 'सत्' और असत्' मैं ही हूँ (देखो गीता ११. ३७ और १३. १२)। इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर के रूप अनेक हैं तथापि अब बतलाते हैं कि उनकी एकत्व से उपासना करने और अनेकत्व से करने में भेद है :–]

(२०) जो त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदों के कर्म करनेवाले सोम पीनेवाले अर्थात् सोमयाजी, तथा निष्पाप (पुरुष) यज्ञ से मेरी पूजा करके स्वर्गलोकप्राप्ति की इच्छा करते हैं, वे इन्द्र के पुण्यलोक में पहुँच कर स्वर्ग में देवताओं के अनेक दिव्य भोग भोगते हैं। (२१) और उस विशाल स्वर्ग का उपभोग करके पुण्य का क्षय हो जाने पर वे (फिर जन्म लेकर) मृत्युलोक में आते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म अर्थात् तीनों वेदों के यज्ञयाग आदि श्रौतधर्म के पालनेवाले और काम्य उपभोग की इच्छा करनेवाले लोगों को (स्वर्ग का) आवागमन प्राप्त होता है।

[यह सिद्धान्त पहले कई बार आ चुका है कि यज्ञयाग आदि धर्म से या नाना प्रकार के देवताओं की आराधना से कुछ समय तक स्वर्गवास मिल जाय तो भी पुण्यांश चुक जाने पर उन्हें फिर जन्म ले करके भूलोक में आना पड़ता है (गीता २. ४२–४४; ४. ३४; ६. ४१; ७. २३; ८. १६ और २५)। परन्तु मोक्ष में यह झंझट नहीं है। वह नित्य है – अर्थात् एक बार परमेश्वर को पा लेने पर फिर जन्ममरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता। महाभारत (वन. २६) में स्वर्गसुख का जो वर्णन है वह भी ऐसा ही है। परन्तु यज्ञयाग आदि से पर्जन्य प्रभृति की उत्पत्ति होती है; अतएव शङ्का होती है कि इनको छोड़ देने से इस जगत् का योगक्षेम अर्थात् निर्वाह कैसे होगा? (देखो गीता ३. ४० की टिप्पणी और गीतार. प्र. ११ पृ. २९४)। इसलिये अब ऊपर के श्लोकों से मिला कर ही इसका उत्तर देते हैं –]

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

§§ येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

(२२) जो अनन्यनिष्ठ लोग मेरा चिन्तन कर मुझे भजते हैं, उन नित्य योगयुक्त पुरुषों का योगक्षेम मैं किया करता हूँ।

[जो वस्तु मिली नहीं है उसके जुटाने का नाम है योग, और मिली हुई वस्तु की रक्षा करना है क्षेम। धायवकोष में भी (देखो १० और २१२ श्लोक) योगक्षेम की ऐसी ही व्याख्या है और उसका पूरा अर्थ सांसारिक नित्य निर्वाह है। गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३८५–३८६) में इसका विचार किया गया है कि कर्मयोगमार्ग में इस श्लोक का क्या अर्थ होता है? उसी प्रकार नारायणीय धर्म (म. भा. शां. ३४८. ७२) में भी वर्णन है कि :–

मनीषिणो हि ये केचित् यतयो मोक्षधर्मिणः ।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥

ये पुरुष एकान्तभक्त हों तो भी प्रवृत्तिमार्ग के हैं – अर्थात् निष्कामबुद्धि से कर्म किया करते हैं। अब बतलाते हैं कि परमेश्वर की बहुत्व से सेवा करनेवालों की अन्त में कौन गति होती है?]

(२३) हे कौन्तेय! श्रद्धायुक्त होकर अन्य देवताओं के भक्त बन करके जो लोग यजन करते हैं, वे भी विधिपूर्वक न हो तो भी (पर्याय से) मेरा ही यजन करते हैं। (२४) क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ। किन्तु वे तत्त्वतः मुझे नहीं जानते। इसलिये वे नीचे गिर जाया करते हैं।

[गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण (पृ. ४१३–४१७) में यह विवेचन है कि इन दोनों श्लोकों के सिद्धान्त का महत्त्व क्या है? वैदिक धर्म में यह तत्त्व बहुत पुराने समय से चला आ रहा है, कि कोई भी देवता हो, वह भगवान् का ही एक स्वरूप है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में ही कहा है कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" (ऋ. १. १६४. ४६) – परमेश्वर एक है; परन्तु पण्डित लोग उसी को अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) कहा करते हैं; और इसी के अनुसार आगे के अध्याय में परमेश्वर के एक होनेपर भी उसकी अनेक विभूतियों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार महाभारत के अन्तर्गत

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

[नारायणीयोपाख्यान में चार प्रकार के भक्तों में श्रम करनेवाले एकान्तिक भक्त का भेद (गीता ७ १९ की टिप्पणी देखो) बतला कर कहा है :–

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः ।

प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥

ब्रह्मा को, शिव को अथवा और दूसरे देवताओं को भजनेवाले साधु पुरुष भी मुझमें ही आ मिलते हैं (म. भा शां ३४१ ३५); और गीता के उक्त श्लोकों का अनुवाद भागवतपुराण मे भी किया गया है (देखो भाग. १० पू ४० ८–१०)। इसी प्रकार नारायणीयोपाख्यान में फिर भी कहा है :–

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।

गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ॥

कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ।

देव पितर गुरु अतिथि, ब्राह्मण और गौ प्रभृति की सेवा करनेवाले पर्याय से विष्णु का ही यजन करते हैं (म भा शां १४५ २६ २७)। इस प्रकार भागवतधर्म के स्पष्ट कहने पर भी – कि भक्ति को मुख्य मानो। देवतारूप प्रतीक गौण है। यद्यपि विभिन्न हो तथापि उपासना तो एक ही परमेश्वर की होती है – यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भागवतधर्मवाले शैवों से झगड़ा किया करते हैं! यद्यपि यह सत्य है कि किसी भी देवता की उपासना क्यों न करें ! पर वह पहुँचती भगवान् को ही है; तथापि यह ज्ञान न होने से – कि सभी देवता एक हैं – मोक्ष की राह छूट जाती है; और भिन्न भिन्न देवताओं के उपासकों को उनकी भावना के अनुसार भगवान् ही भिन्न भिन्न फल देते हैं :–]

(२५) देवताओं का व्रत करनेवाले देवताओं के पास पितरों का व्रत करनेवाले पितरों के पास (भिन्न भिन्न) भूतों को पूजनेवाले (उन) भूतों के पास जाते हैं और मेरा यजन करनेवाले मेरे पास आते हैं।

[सारांश यद्यपि एक ही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ है तथापि उपासना का फल प्रत्येक के भाव के अनुरूप न्यूनाधिक योग्यता का मिला करता है। फिर भी इस पृथक्करण का भूल न जाना चाहिये, कि यह फलदान का काम देवता नहीं करते – परमेश्वर ही करता है (गीता ७ २०–२२)। ऊपर २४ वें श्लोक में भगवान् ने जो यह कहा है कि सब यज्ञों का भोक्ता मैं ही हूँ, उसका तात्पर्य यही है। महाभारत में भी कहा है –

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम् ।

स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥

§§ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

§§ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

'जो पुरुष जिस भाव में निश्चय रखता है, वह उस भाव के अनुरूप ही फल पाता है (शां. १५२. १); और श्रुति भी है 'यं यथा यथोपासते तदेव भवति' (गीता ८.६ की टिप्पणी देखो)। अनेक देवताओं की उपासना करनेवाले को (नानात्व से) जो फल मिलता है, उसे पहले चरण में बतला कर दूसरे चरण में यह अर्थ वर्णन किया है कि अनन्यभाव से भगवान् की भक्ति करनेवालों को ही सच्ची भगवत्प्राप्ति होती है। अब भक्तिमार्ग के महत्त्व का यह तत्त्व बतलाते हैं कि भगवान् इस ओर न देख कर – कि हमारा भक्त हमें क्या समर्पण करता है! – केवल उसके भाव की ही ओर दृष्टि दे कर उसकी भक्ति स्वीकार करते हैं –]

(२६) जो मुझे से एक-आध पत्र, पुष्प, फल अथवा (यथाशक्ति) थोड़ा-सा जल भी अर्पण करता है, उस प्रयतात्म अर्थात् नियतचित्त पुरुष की भक्ति की भेंट को मैं (आनन्द से) ग्रहण करता हूँ।

[कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गीता २.४९) – यह कर्मयोग का तत्त्व है। इसका जो रूपान्तर भक्तिमार्ग में हो जाता है, उसी का वर्णन उक्त श्लोक में है (देखो गीतार. प्र. १३ पृ. ४०८–४९)। इस विषय में सुदामा के तन्दुलों की बात प्रसिद्ध है; और यह श्लोक भागवतपुराण में सुदामाचरित्र के उपाख्यान में भी आया है (भाग. १०. उ. ८१. ४)। इसमें सन्देह नहीं कि पूजा के द्रव्य अथवा सामग्री का न्यूनाधिक होना सर्वथा मनुष्य के हाथ में नहीं भी रहता। इसी से शास्त्र में कहा है कि यथाशक्ति प्राप्त होनेवाले स्वल्प पूजाद्रव्य से ही नहीं, प्रत्युत शुद्ध भाव से समर्पण किये हुए मानसिक पूजाद्रव्यों से भी भगवान् सन्तुष्ट हो जाते हैं। देवता भाव का भूखा है; न कि पूजा की सामग्री का। मीमांसकमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग में जो कुछ विशेषता है, वह यही है। यज्ञयाग करने के लिये बहुत-सी सामग्री जुटानी पड़ती है और उद्योग भी बहुत करना पड़ता है; परन्तु भक्तियज्ञ एक तुलसीदल से भी हो जाता है। महाभारत में कथा है कि जब दुर्वासा ऋषि घर पर आये, तब द्रौपदी ने इसी प्रकार के पत्र से भगवान् को सन्तुष्ट किया था। भगवद्भक्त जिस प्रकार अपने कर्म करता है, अर्जुन को उसी प्रकार करने का उपदेश देकर बतलाते हैं कि इससे क्या फल मिलता है!]

(२७) हे कौन्तेय! तू जो (कुछ) करता है, जो खाता है, होम-हवन करता

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

§§ समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

है जो दान करता है (और) जो तप करता है वह (सब) मुझे अर्पण किया कर। (२८) इस प्रकार बर्तने से (कर्म करके भी) कर्मों के शुभ-अशुभ फलरूप बन्धनों से तू मुक्त रहेगा और (कर्मफलों के) संन्यास करने के इस योग से युक्तात्मा अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण हो कर मुक्त हो जायगा एवं मुझमें मिल जायगा।

[इससे प्रकट होता है कि भगवद्भक्त भी कृष्णार्पणबुद्धि से समस्त कर्म करे उन्हें छोड़ न दे। इस दृष्टि से ये दोनों श्लोक महत्त्व के हैं। ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः यह ज्ञानयज्ञ का तत्त्व है। (गीता ४ २४)। इसे ही भक्ति की परिभाषा के अनुसार इस श्लोक मे बतलाया है (देखो गीतार. प्र ११ पृ ४१४ और ४१५)। तीसरे ही अध्याय में अर्जुन से कह दिया है कि मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य (गीता ३ ३०) – मुझमें सब कर्मों को संन्यास करके – युद्ध कर और पाँचवें अध्याय में फिर कहा है कि ब्रह्म में कर्मों को अर्पण करके सङ्गरहित कर्म करनेवाले को कर्म का लेप नहीं लगता (५ १०)। गीता के मतानुसार यही यथार्थ संन्यास है। (गीता १८ २)। इस प्रकार अर्थात् कर्मफलाशा छोड़कर (संन्यास) सब कर्मों को करनेवाला पुरुष ही 'नित्यसंन्यासी' है (गी ५.३) कर्मत्यागरूप संन्यास गीता को सम्मत नहीं है। पीछे अनेक स्थलों पर कह चुके हैं कि इस रीति से किये हुए कर्म मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक नहीं होते (गीता २.६४ ३ १९;४ २३;५ १२ ६ १ ८ ७) और इस २८ वें श्लोक मे उसी भाव को फिर कहा है। भागवतपुराण में भी नृसिंहरूपी भगवान् ने प्रह्लाद को यह उपदेश किया है कि मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः – मुझमें चित्त लगा कर सब काम किया कर (भाग ७ १० २३)। और आगे एकादश स्कन्ध में भक्तियोग का यह तत्त्व बतलाया है कि भगवद्भक्त सब कर्मों को नारायणार्पण कर दे (देखो भाग ११ २ ३६ और ११ ११ २४)। इस अध्याय के आरम्भ में वर्णन किया है कि भक्ति का मार्ग सुखकारक और सुगम है। अब उसके समत्वरूपी दूसरे बड़े और विशेष गुण का वर्णन करते हैं :–]

(२९) मैं सब को एक-सा हूँ। न मुझे (कोई) द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है और न (कोई) प्यारा। भक्ति से जो मेरा भजन करते हैं वे मुझमें हैं; और मैं भी उनमें

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

हूँ। (३०) बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्यभाव से भजता है तो उसे बड़ा साधु ही समझना चाहिये। क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा रहता है। (३१) वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति पाता है। हे कौन्तेय! तू खूब समझे रह कि मेरा भक्त (कभी भी) नष्ट नहीं होता।

[तीसवें श्लोक का भावार्थ ऐसा न समझना चाहिये कि भगवद्भक्त यदि दुराचारी हों तो भी वे भगवान् को प्यारे रहते हैं। भगवान् इतना ही कहते हैं कि पहले कोई मनुष्य दुराचारी भी रहा हो, परन्तु जब एक बार उसकी बुद्धि का निश्चय परमेश्वर का भजन करने में हो जाता है तब उसके हाथ से फिर कोई भी दुष्कर्म नहीं हो सकता। और वह धीरे धीरे धर्मात्मा हो कर सिद्धि पाता है तथा इसी सिद्धि से उसके पाप का बिलकुल नाश हो जाता है। सारांश, छठे अध्याय (६.४४) में जो यह सिद्धान्त किया था कि कर्मयोग के जानने की सिर्फ इच्छा होने से ही लाचार हो कर मनुष्य शब्दब्रह्म से परे चला जाता है। अब उसे ही भक्तिमार्ग के लिये लागू कर दिखलाया है। अब इस बात का अधिक खुलासा करते हैं कि परमेश्वर सब भूतों का एक-सा कैसे है?]

(३२) क्योंकि हे पार्थ! मेरा आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र अथवा अन्त्यज आदि जो पापयोनि हों, वे भी परमगति पाते हैं। (३३) फिर पुण्यवान् ब्राह्मणों की, मेरे भक्तों की और राजर्षियों क्षत्रियों की बात क्या कहनी है? तू इस अनित्य और अ-सुख अर्थात् दुःखकारक मृत्युलोक में है। इस कारण मेरा भजन कर।

[३२ वें श्लोक के 'पापयोनि' शब्द का व्याकरण न जान कुछ टीकाकार कहते हैं कि यह स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी लागू है। क्योंकि पहले कुछ-न-कुछ पाप किये बिना कोई भी स्त्री, वैश्य या शूद्र का जन्म नहीं पाता। इनके मत में पापयोनि शब्द साधारण है, और उसके भेद बतलाने के लिये ही वैश्य तथा शूद्र उदाहरणार्थ दिये गये हैं। परन्तु हमारी राय में यह अर्थ ठीक नहीं

§§ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

है। पापयोनि शब्द से यह जाति विवक्षित है जिसे कि आजकल राज-दरबार में 'जरायम-पेशा कौम' कहते हैं। इस श्लोक का सिद्धान्त यह है कि इस जाति के लोगों को भी भगवद्भक्ति से सिद्धि मिलती है। स्त्री वैश्य और शूद्र कुछ इस वर्ग के नहीं हैं। उन्हें मोक्ष मिलने में इतनी ही बाधा है, कि वे वेद सुनने के अधिकारी नहीं हैं। इसी से भागवतपुराण में कहा है कि :–

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

'स्त्रियों, शूद्रों अथवा कलियुग के नामधारी ब्राह्मणों के कानों में वेद नहीं पहुँचता। इस कारण उन्हें मूर्खता से बचाने के लिये व्यासमुनि ने कृपालु होकर उनके कल्याणार्थ महाभारत की – अर्थात् गीता की भी – रचना की (भाग. १. ४. २५)। भगवद्गीता के ये श्लोक कुछ पाठभेद से अनुगीता में भी पाये जाते हैं (म. भा. अश्व. १९. ६१, ६२)। जाति का, वर्ण का, स्त्री पुरुष आदि का अथवा काले-गोरे रंग प्रभृति का कोई भी भेद न रख कर सब को एक ही से सद्गति देनेवाले भगवद्भक्ति के इस राजमार्ग का ठीक बड़प्पन उस देश की – और विशेषतः महाराष्ट्र की – सन्तमण्डली के इतिहास से किसी को भी ज्ञात हो सकेगा। उल्लिखित श्लोक का अधिक खुलासा गीतारहस्य के प्र. १३ पृ. ४४०–४४४ में देखो। उक्त प्रकार के धर्म का आचरण करने के विषय में ३३ वें श्लोक के उत्तरार्ध में अर्जुन को जो उपदेश किया गया है, अगले श्लोक में भी वही चल रहा है।]

(३४) मुझमें मन लगा। मेरा भक्त हो। मेरी पूजा कर; और मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार मत्परायण हो कर योग का अभ्यास करने से मुझे ही पावेगा।

[वास्तव में इस उपदेश का आरम्भ ३३ वें श्लोक में ही हो गया है। ३३ वें श्लोक में 'अनित्य' पद अध्यात्मशास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार आया है कि प्रकृति का फैलाव अथवा नामरूपात्मक दृश्यसृष्टि अनित्य है; और एक परमात्मा ही नित्य है। और 'असुख' पद से इस सिद्धान्त का अनुवाद है, कि इस संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है। तथापि यह वर्णन अध्यात्म का

दशमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

| नहीं है भक्तिमार्ग का है। अतएव भगवान् ने परब्रह्म अथवा परमात्मा शब्द
| का प्रयोग न करके मुझे भज, मुझमें मन रख, मुझे नमस्कार कर ऐसे
| व्यक्तस्वरूप के दर्शानेवाले प्रथम पुरुष का निर्देश किया है। भगवान् का अन्तिम
| कथन है कि हे अर्जुन ! इस प्रकार भक्ति करके मत्परायण होता हुआ योग
| अर्थात् कर्मयोग का अभ्यास करता रहेगा तो (देखो गीता ७ १) तू कर्मबन्धन
| से मुक्त हो करके निःसन्देह मुझे पा लेगा। इसी उपदेश की पुनरावृत्ति ग्यारहवें
| अध्याय के अन्त में की गई है। गीता का रहस्य भी यही है। भेद इतना ही है
| कि इस रहस्य को एक बार अध्यात्मदृष्टि से और एक बार भक्तिदृष्टि से बतला
| दिया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्म
विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद
में राजविद्या-राजगुह्ययोग नामक नौवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

दसवाँ अध्याय

[पिछले अध्याय में कर्मयोग की सिद्धि के लिये परमेश्वर के व्यक्तस्वरूप की उपासना का जो राजमार्ग बतलाया गया है उसी का इस अध्याय में वर्णन हो रहा है। और अर्जुन के पूछने पर पर परमेश्वर के अनेक व्यक्त रूपों अथवा विभूतियों का वर्णन किया गया है। इस वर्णन को सुन कर अर्जुन के मन में भगवान् के प्रत्यक्ष स्वरूप को देखने की इच्छा हुई। अतः ११ वें अध्याय में भगवान् ने उसे विश्वरूप दिखला कर कृतार्थ किया है।]

श्रीभगवान् ने कहा – (१) हे महाबाहु ! (मेरे भाषण से) सन्तुष्ट होनेवाले तुझसे मैं हितार्थ फिर (एक) अच्छी बात कहता हूँ उसे सुन। (२) देवताओं के गण और महर्षि भी मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते। क्योंकि देवता और महर्षि का

होने पर आगे जो सात मनु आवेंगे (भाग ८ । १३ । ७) उनको सावर्णि मनु कहते हैं। उनके नाम : सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि — हैं (विष्णु ३. २; भागवत ८. १३; हरिवंश १. ७)। इस प्रकार प्रत्येक मनु के सात सात होने पर कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता कि किसी भी वर्ग के 'पहले के' 'चार' ही गीता में क्यों विवक्षित होंगे? ब्रह्माण्डपुराण (४. १) में कहा है कि सावर्णि मनुओं में पहले मनु को छोड़ कर अगले चार अर्थात् दक्ष – ब्रह्म – धर्म – और रुद्रसावर्णि एक ही समय में उत्पन्न हुए। और इसी आधार से कुछ लोग कहते हैं कि ये ही चार सावर्णि मनु गीता में विवक्षित हैं। किन्तु इस पर दूसरा आक्षेप यह है कि ये सब सावर्णि मनु भविष्य में होनेवाले हैं। इस कारण यह भूतकालदर्शक अगला वाक्य 'जिनसे इस लोक में प्रजा हुई' भावी सावर्णि मनुओं को लागू नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'पहले के चार' शब्दों का सम्बन्ध 'मनु' पद से जोड़ देना ठीक नहीं है। अतएव कहना पड़ता है कि 'पहले के चार' ये दोनों शब्द स्वतन्त्र रीति से प्राचीन काल के कोई चार ऋषियों अथवा पुरुषों का बोध कराते हैं। और ऐसा मान लेने से यह प्रश्न सहज ही होता है, कि ये पहले के चार ऋषि या पुरुष कौन हैं? कित टीकाकारों ने इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया है उनके मत में सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमार (भागवत ३. १२. ४) ये ही वे चार ऋषि हैं। किन्तु इस अर्थ पर आक्षेप यह है कि यद्यपि ये चारों ऋषि ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं, तथापि ये सभी जन्म से ही संन्यासी होने के कारण प्रजावृद्धि न करते थे; और इससे ब्रह्मा इन पर क्रुद्ध हो गये थे (भाग. ३. १२; विष्णु १. ७)। अर्थात् यह वाक्य इन चार ऋषियों को बिलकुल ही उपयुक्त नहीं होता कि 'जिनसे इस लोक में यह प्रजा हुई – येषां लोक इमाः प्रजाः'। इसके अतिरिक्त कुछ पुराणों में यद्यपि यह वर्णन है कि ये ऋषि चार ही थे, तथापि भारत के नारायणीय अर्थात् भागवतधर्म में कहा है कि इन चारों में सन, कपिल और सनत्सुजात को मिला लेने से जो सात ऋषि होते हैं, वे सब ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं और वे पहले से ही निवृत्तिधर्म के थे (म. भा. शां. ३४०. ६७, ६८)। इस प्रकार सनक आदि ऋषियों को सात मान लेने से कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि इनमें से चार ही क्यों लिये जावें। फिर 'पहले के चार' हैं कौन? हमारे मत में इस प्रश्न का उत्तर नारायणीय अथवा भागवतधर्म की पौराणिक कथा से ही दिया जाना चाहिये। क्योंकि यह निर्विवाद है, कि गीता में भागवतधर्म ही का प्रतिपादन किया गया है। अब यदि यह देखें कि भागवतधर्म में सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना किस प्रकार की थी? तो पता लगेगा कि मरीचि आदि सात ऋषियों के पहले वासुदेव (आत्मा), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार) ये चार मूर्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं। आगे कहा है कि इनमें से पिछले अनिरुद्ध से अर्थात् अहंकार

> यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
> असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
>
> §§ बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
> सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
> अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
> भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
> महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
> मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

इस प्रकार से मैं ही आदिकारण हूँ। (३) जो जानता है कि मैं (पृथ्वी आदि सब) लोगों का बड़ा ईश्वर हूँ; और मेरा जन्म तथा आदि नहीं है, मनुष्यों में वही मोहविरहित हो कर सब पापों से मुक्त होता है।

[ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में यह विचार पाया जाता है, कि भगवान् या परब्रह्म देवताओं के भी पहले का है; देवता पीछे से हुए (देखो गीतार. प्र. ९, पृ. २८१)। इस प्रकार प्रस्तावना हो गई। अब भगवान् इसका निरूपण करते हैं कि मैं सब का महेश्वर कैसे हूँ?]

(४) बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उत्पत्ति), अभाव (नाश), भय, अभय, (५) अहिंसा, समता, तुष्टि (सन्तोष), तप, दान, यश और अयश आदि अनेक प्रकार के प्राणिमात्र के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।

['भाव' शब्द का अर्थ है 'अवस्था', 'स्थिति' या 'वृत्ति' और सांख्य शास्त्र में 'बुद्धि के भाव' एवं 'शारीरिक भाव' ऐसा भेद किया गया है। सांख्य शास्त्री पुरुष को अकर्ता और बुद्धि को प्रकृति का एक विकार मानते हैं इसलिये वे कहते हैं कि लिङ्गशरीर को पशुपक्षी आदि भिन्न भिन्न जन्म मिलने का कारण लिङ्गशरीर में रहनेवाली बुद्धि की ही भिन्न भिन्न अवस्थाएँ अथवा भाव ही हैं (देखो गीतार. प्र. ८ पृ. १८९ और सां. का. ४०–५५) और ऊपर के दो श्लोकों में इन्हीं भावों का वर्णन है। परन्तु वेदान्तियों का सिद्धान्त है कि प्रकृति और पुरुष से भी परे परमात्मरूपी एक नित्यतत्त्व है और (नासदीय सूक्त के वर्णनानुसार) उसी के मन में सृष्टि निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न होने पर सारा दृश्य जगत् उत्पन्न होता है। इस कारण वेदान्तशास्त्र में भी कहा है कि सृष्टि के मायात्मक सभी पदार्थ परब्रह्म के मानस भाव हैं (अगला श्लोक देखो) तप, दान और यश आदि शब्दों से तद्विषयक बुद्धि के भाव ही उद्दिष्ट हैं। भगवान् और कहते हैं कि :–]

(६) सात महर्षि, उनके पहले के चार, और मनु मेरे ही मानस, अर्थात् मन से निर्माण हुए हुए भाव हैं कि जिनसे (इस) लोक में यह प्रजा हुई है।

[यद्यपि इस श्लोक के शब्द सरल हैं तथापि जिन पौराणिक पुरुषों को उद्देश्य करके यह श्लोक कहा गया है उनके सम्बन्ध से टीकाकारों में बहुत ही मतभेद है। विशेषतः अनेकों ने इसका निर्णय कई प्रकार से किया है, कि पहले के (पूर्व) और 'चार (चत्वार') पदों का अन्वय किस पद से लगाना चाहिये ? सात महर्षि प्रसिद्ध हैं परन्तु ब्रह्मा के एक कल्प में चौदह मन्वन्तर (देखो गीतार. प्र. ८, पृ. १९४) होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तर के मनु, देवता एवं सप्तर्षि भिन्न भिन्न होते हैं (देखो हरिवंश १. ७ विष्णु. ३. १ मत्स्य ९)। इसीसे पहले के शब्द को सात महर्षियों का विशेषण मान कर लोगों ने ऐसा अर्थ किया है कि आजकल के (अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर से पहले के) चाक्षुष मन्वन्तरवाले सप्तर्षि यहाँ विवक्षित हैं। इन सप्तर्षियोंके नाम भृगु, नभ, विवस्वान्, सुधामा, विरजा, अतिनामा और सहिष्णु हैं। किन्तु हमारे मत में यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि, आजकल के – वैवस्वत अथवा जिस मन्वन्तर में गीता कही गई उससे – पहले के मन्वन्तरवाले सप्तर्षियों को बतलाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। अतः वर्तमान मन्वन्तर के ही सप्तर्षियों को लेना चाहिये। महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में इनके ये नाम हैं मरीचि, अङ्गिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ (म. भा. शां. ३३५. ८. ३४ ६४ और ६५)। तथापि यहाँ इतना ध्यान देना आवश्यक है कि मरीचि आदि सप्तर्षियों के उक्त नामों में कहीं कहीं अङ्गिरस के बदले भृगु का नाम पाया जाता है। और कुछ स्थानों पर तो ऐसा वर्णन है कि कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और वसिष्ठ वर्तमान युग के सप्तर्षि हैं (विष्णु. ३. १. ३२ और ३३ मत्स्य. ९. २७ और २८ म. भा. अनु. ९३. २१)। मरीचि आदि ऊपर लिखे हुए सात ऋषियों में ही भृगु और दक्ष को मिला कर विष्णुपुराण (१. ७. ५. ६) में नौ मानसपुत्रों का और इन्हीं में नारद को भी जोड़ कर मनुस्मृति में ब्रह्मदेव के दस मानसपुत्रों का वर्णन है (मनु. १. ३४. ३५)। इन मरीचि आदि शब्दों की व्युत्पत्ति भारत में की गई है (म. भा. अनु. ८५)। परन्तु हमें अभी इतना ही देखना है कि सात महर्षि कौन कौन हैं ? इस कारण इन नामों के मानसपुत्रों का अथवा इनके नामों की व्युत्पत्ति का विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। प्रकट है कि पहले के इस पद का अर्थ पूर्व मन्वन्तर के सात महर्षि लगा नहीं सकते। अब देखना है कि पहले के चार इन शब्दों को मनु का विशेषण मान कर कई लोगों ने जो अर्थ किया है वह कहाँ तक युक्तिसङ्गत है ? कुल चौदह मन्वन्तर हैं और इनके चौदह मनु हैं। इनमें सात-सात के दो वर्ग हैं। पहले सातों के नाम स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत हैं तथा ये स्वायम्भुव आदि मनु कहे जाते हैं (मनु. १. ६२ और ६३)। इनमें से छः मनु हो चुके। और आजकल सातवाँ अर्थात् वैवस्वत मनु चल रहा है। इसके समाप्त

होने पर आगे जो सात मनु आवेंगे (भाग ८. १३. ७) उनको सावर्णि मनु कहते हैं। उनके नाम सावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, दक्षसावर्णि और इन्द्रसावर्णि – हैं (विष्णु ३. २; भागवत ८. १३; हरिवंश १. ७)। इस प्रकार प्रत्येक मनु के सात सात होने पर कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता कि किसी भी वर्ग के 'पहले के चार' ही गीता में क्यों विवक्षित होंगे? ब्रह्माण्डपुराण (४. १) में कहा है कि सावर्णि मनुओं में पहले मनु को छोड़ कर अगले चार अर्थात् ब्रह्म – रुद्र – धर्म – और दक्षसावर्णि एक ही समय में उत्पन्न हुए। और इसी आधार से कुछ लोग कहते हैं कि ये ही चार सावर्णि मनु गीता में विवक्षित हैं। किन्तु इस पर दूसरा आक्षेप यह है, कि ये सब सावर्णि मनु भविष्य में होनेवाले हैं। इस कारण यह भूतकालदर्शक अगला वाक्य 'जिनसे इस लोक में प्रजा हुई' भावी सावर्णि मनुओं को लागू नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'पहले के चार' शब्दों का सम्बन्ध 'मनु' पद से जोड़ देना ठीक नहीं है। अतएव कहना पड़ता है, कि 'पहले के चार' ये दोनों शब्द स्वतन्त्र रीति से प्राचीन काल के कोई चार ऋषियों अथवा पुरुषों का बोध कराते हैं। और ऐसा मान लेने से यह प्रश्न सहज ही होता है कि ये पहले के चार ऋषि या पुरुष कौन हैं? जिन टीकाकारों ने इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया है उनके मत में सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमार (भागवत ३. १२. ४) ये ही वे चार ऋषि हैं। किन्तु इस अर्थ पर आक्षेप यह है कि यद्यपि ये चारों ऋषि ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं तथापि ये सभी जन्म से ही संन्यासी होने के कारण प्रजावृद्धि न करते थे; और इससे ब्रह्मा इन पर क्रुद्ध हो गये थे (भाग. ३. १२; विष्णु. १. ७)। अर्थात् यह वाक्य इन चार ऋषियों को बिलकुल ही उपयुक्त नहीं होता कि 'जिनसे इस लोक में यह प्रजा हुई – येषां लोक इमाः प्रजाः'। इसके अतिरिक्त कुछ पुराणों में यद्यपि यह वर्णन है कि ये ऋषि चार ही थे तथापि भारत के नारायणीय अर्थात् भागवतधर्म में कहा है कि इन चारों में सन, कपिल और सनत्सुजात को मिला लेने से जो सात ऋषि होते हैं वे सब ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं, और वे पहले से ही निवृत्तिधर्म के थे (म. भा. शां. ३४०. ६७, ६८)। इस प्रकार सनक आदि ऋषियों को सात मान लेने से कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि इनमें से चार ही क्यों लिये जावें। फिर 'पहले के चार' हैं कौन? हमारे मत में इस प्रश्न का उत्तर नारायणीय अथवा भागवतधर्म की पौराणिक कथा से ही दिया जाना चाहिये। क्योंकि यह निर्विवाद है कि गीता में भागवतधर्म ही का प्रतिपादन किया गया है। अब यदि यह देखें कि भागवतधर्म में सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना किस प्रकार की थी? तो पता लगेगा कि मरीचि आदि सात ऋषियों के पहले वासुदेव (आत्मा) संकर्षण (जीव) प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहङ्कार) ये चार मूर्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं। और कहा है कि इनमें से पिछले अनिरुद्ध से अर्थात् अहङ्कार

§§ एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

[से या ब्रह्मदेव से मरीचि आदि पुत्र उत्पन्न हुए (म मा शां ३३९ ३४-४ और ६०-७२ ३४ २७-३१)। वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन्हीं चार मूर्तियों को 'चतुर्व्यूह' कहते हैं। और भागवतधर्म के एक पन्थ का मत है कि ये चारों मूर्तियाँ स्वतन्त्र थीं; तथा दूसरे कुछ लोग इनमें से तीन अथवा दो को ही प्रधान मानते हैं। किन्तु भगवद्गीता को ये कल्पनाएँ मान्य नहीं हैं। हमने (गीतारहस्य प्र ८ पृ १९६ और परि ५४२-५४६) में दिखलाया है कि गीता एकव्यूह-पन्थ की है – अर्थात् एक ही परमेश्वर से चतुर्व्यूह आदि सब कुछ की उत्पत्ति मानती है। अतः व्यूहात्मक वासुदेव मूर्तियों को स्वतन्त्र न मान कर इस श्लोक में दर्शाया है, कि ये चारों व्यूह एक ही परमेश्वर अर्थात् सर्वव्यापी वासुदेव के (गीता ७ १९) भाव हैं। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि भागवतधर्म के अनुसार पहले के चार इन शब्दों का उपयोग वासुदेव आदि चतुर्व्यूह के लिये किया गया है कि जो सप्तर्षियों के पूर्व उत्पन्न हुए थे। भारत में ही लिखा है कि भागवतधर्म के चतुर्व्यूह आदि भेद पहले से ही प्रचलित थे (म मा शां ३४८ ५७)। यह कल्पना कुछ हमारी ही नई नहीं है। सारांश भारतान्तर्गत नारायणीयाख्यान के अनुसार हमने इस श्लोक का अर्थ यों लगाया है सात महर्षि अर्थात् मरीचि आदि; पहले के चार अर्थात् वासुदेव आदि चतुर्व्यूह और 'मनु' अर्थात् जो उस समय से पहले हो चुके थे और वर्तमान सब मिला कर स्वायम्भुव आदि सात मनु अनिरुद्ध अर्थात् अहङ्कार आदि चार मूर्तियों को परमेश्वर के पुत्र मानने की कल्पना भारत में और अन्य स्थानों में भी पाई जाती है (दे म मा शां ३११ ७ ८)। परमेश्वर के भावों का वर्णन हो चुका अब बतलाते हैं कि इन्हें जान करके उपासना करने से क्या फल मिलता है?]

(७) जो मेरी इस विभूति अर्थात् विस्तार और योग अर्थात् विस्तार करने की शक्ति या सामर्थ्य के तत्त्व को जानता है वह निस्सन्देह स्थिर (कम्प) योग प्राप्त होता है। (८) यह जान कर – कि मैं सब का उत्पत्तिस्थान हूँ और मुझसे सब वस्तुओं की प्रवृत्ति होती है – ज्ञानी पुरुष भावयुक्त होते हुए मुझको भजते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच।

§§ परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

(९) वे मुझमें मन लगा कर और प्राणों को लगा कर परस्पर बोध करते हुए एवं मेरी कथा कहते हुए (उसी में) सदा सन्तुष्ट और रममाण रहते हैं। (१०) इस प्रकार सदैव युक्त होकर अर्थात् समाधान से रह कर जो लोग मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं उनको मैं ही ऐसी (समत्व) बुद्धि का योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझे पा लेंगे। (११) और उन पर अनुग्रह करने के लिये ही मैं उनके आत्मभाव अर्थात् अन्तःकरण में पैठ कर तेजस्वी ज्ञानदीपसे (उनके) अज्ञानमूलक अन्धकार का नाश करता हूँ।

[सातवें अध्याय में कहा है कि भिन्न भिन्न देवताओं की श्रद्धा भी परमेश्वर ही देता है (७. २१)। उसी प्रकार अब ऊपर के दसवें श्लोक में भी वर्णन है कि भक्तिमार्ग में लगे हुए मनुष्य की समत्वबुद्धि को उन्नत करने का काम भी परमेश्वर ही करता है। और पहले (गीता ६. ४४) का यह वर्णन है कि जब मनुष्य के मन में एक बार कर्मयोग की जिज्ञासा जागृत हो जाती है,– तब वह आप-ही आप पूर्ण सिद्धि की ओर खींचा चला जाता है – उसके साथ भक्तिमार्ग का यह सिद्धान्त समानार्थक है। ज्ञान की दृष्टि से अर्थात् कर्मविपाक प्रक्रिया के अनुसार कहा जाता है कि यह काम मनुष्य आत्मा की स्वतन्त्रता से मिलता है। पर आत्मा भी तो परमेश्वर ही है। इस कारण भक्तिमार्ग में ऐसा वर्णन हुआ करता है कि इस फल अथवा बुद्धि को परमेश्वर ही प्रत्येक मनुष्य के पूर्वकर्मों के अनुसार देता है (देखो गीता ७. और गीतार. प्र. ११ पृ.)। इस प्रकार भगवान् के भक्तिमार्ग का तत्त्व बतला चुकने पर :–]

अर्जुन ने कहा – (१२-१३) तुम ही परम ब्रह्म, श्रेष्ठ स्थान और पवित्र वस्तु (हो)। सब ऋषि ऐसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास भी

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

तुमको दिव्य एवं शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अजन्मा, सर्वविभु अर्थात् सर्वव्यापी कहते हैं; और स्वयं तुम भी मुझसे वही कहते हो। (१४) हे केशव! तुम मुझसे जो कहते हो, उस सब को मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! तुम्हारी व्यक्ति अर्थात् तुम्हारा मूल देवताओं को विदित नहीं और दानवों को विदित नहीं। (१५) सब भूतों के उत्पन्न करनेवाले हे भूतेश! हे देवदेव जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! तुम स्वयं ही अपने आप को जानते हो। (१६) अतः तुम्हारी जो दिव्य विभूतियाँ हैं, जिन विभूतियों से इन सब लोकों को तुम व्याप्त कर रहे हो, उन्हें आप ही (कृपा कर) पूर्णता से बतलावें। (१७) हे योगिन्! (मुझे यह बतलाइए कि) सदा तुम्हारा चिन्तन करता हुआ मैं तुम्हें कैसे पहचानूँ? और भगवन्! मैं किन किन पदार्थों में तुम्हारा चिन्तन करूँ? (१८) हे जनार्दन! अपनी विभूति और योग मुझे फिर विस्तार से बतलाओ; क्योंकि अमृततुल्य (तुम्हारे भाषण को) सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती।

[विभूति और योग, दोनों शब्द इसी अध्याय के सातवें श्लोक में आये हैं; और यहाँ अर्जुन ने उन्हीं को दुहरा दिया है। 'योग' शब्द का अर्थ पहले (गीता ७. २५) दिया जा चुका है, उसे देखो। भगवान् की विभूतियों को अर्जुन इसलिये नहीं पूछता कि भिन्न भिन्न विभूतियों का ध्यान देवता समझ कर किया जावे; किन्तु बारहवें श्लोक के इस कथन को स्मरण रखना चाहिये कि उन विभूतियों में सर्वव्यापी परमेश्वर की ही भावना रखने के लिये उन्हें पूछा है। क्योंकि भगवान् यह पहले ही बतला आये हैं (गीता ७. ६ – ... २ – १८) कि एक ही परमेश्वर को सब स्थानों में विद्यमान जानना ...

गी० र ४

श्रीभगवानुवाच ।

§§ हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

[और परमेश्वर की अनेक विभूतियों को भिन्न भिन्न देवता मानना दूसरी बात है। इन दोनों में भक्तिमार्ग की दृष्टि से महान् अन्तर है।]

श्रीभगवान् ने कहा – (१९) अच्छा, तो अब हे कुरुश्रेष्ठ! अपनी दिव्य विभूतियों में से तुम्हें मुख्य मुख्य बतलाता हूँ; क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

[इस विभूतिवर्णन के समान ही अनुशासनपर्व (१४. ३११–३२१) में और अनुगीता (अश्व. ४३ और ४४) में परमेश्वर के रूप का वर्णन है। परन्तु गीता का वर्णन उसकी अपेक्षा अधिक सरस है। इस कारण इसी का अनुकरण और स्थलों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ, भागवतपुराण के एकादश स्कन्ध के सोलहवें अध्याय में इसी प्रकार का विभूतिवर्णन भगवान् ने उद्धव को समझाया है और वहीं आरम्भ में (भाग. ११. १६. ६–८) कह दिया है कि यह वर्णन गीता के इस अध्यायवाले वर्णन के अनुसार है।]

(२०) गुडाकेश! सब भूतों के भीतर रहनेवाला आत्मा मैं हूँ; और सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं हूँ। (२१) (बारह) आदित्यों में विष्णु मैं हूँ। तेजस्वियों में किरणमाली सूर्य, (सात अथवा उनचास) मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ। (२२) मैं वेदों में सामवेद हूँ। देवताओं में इन्द्र हूँ और इन्द्रियों में मन हूँ। भूतों में चेतना अर्थात् प्राण की चलनशक्ति मैं हूँ।

[यहाँ वर्णन है कि मैं वेदों में सामवेद हूँ – अर्थात् सामवेद मुख्य है। ठीक ऐसा ही महाभारत के अनुशासन पर्व (१४. ३१७) में भी "सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम्" कहा है। पर अनुगीता में "ॐकारः सर्ववेदानाम्" (अश्व. ४४. ६) इस प्रकार सब वेदों में ॐकार को ही श्रेष्ठता दी है; तथा पहले गीता (७. ८) में भी "प्रणवः सर्ववेदेषु" कहा है। गीता ९. १७ के

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

§§ हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

[और परमेश्वर की अनेक विभूतियों को भिन्न भिन्न देवता मानना दूसरी बात है। इन दोनों में भक्तिमार्ग की दृष्टि से महान् अन्तर है।]

श्रीभगवान् ने कहा – (१९) अच्छा, तो अब हे कुरुश्रेष्ठ! अपनी दिव्य विभूतियों में से तुझे मुख्य मुख्य बतलाता हूँ; क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

[इस विभूतिवर्णन के समान ही अनुशासनपर्व (१४. ३११–३२१) में और अनुगीता (अश्व. ४३ और ४४) में परमेश्वर के रूप का वर्णन है। परन्तु गीता का वर्णन उसकी अपेक्षा अधिक सरस है। इस कारण इसी का अनुकरण और स्थलों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ, भागवतपुराण के एकादश स्कन्ध के सोलहवें अध्याय में इसी प्रकार का विभूतिवर्णन भगवान् ने उद्धव को समझाया है और वहीं प्रारम्भ में (भाग. ११. १६. ६–८) कह दिया है, कि यह वचन गीता के इस अध्यायवाले वर्णन के अनुसार है।]

(२०) गुडाकेश! सब भूतों के भीतर रहनेवाला आत्मा मैं हूँ; और सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं हूँ। (२१) (बारह) आदित्यों में विष्णु मैं हूँ। तेजस्वियों में किरणशाली सूर्य, (सात अथवा उनचास) मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ। (२२) मैं वेदों में सामवेद हूँ। देवताओं में इन्द्र हूँ; और इन्द्रियों में मन हूँ। भूतों में चेतना अर्थात् प्राण की चलनशक्ति मैं हूँ।

[यहाँ वर्णन है, कि मैं वेदों में सामवेद हूँ – अर्थात् सामवेद मुख्य है। ठीक ऐसा ही महाभारत के अनुशासन पर्व (१४. ३१७) में भी "सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम्" कहा है। पर अनुगीता में "ओंकारः सर्ववेदानाम्" (अश्व. ४४. ६) इस प्रकार सब वेदों में ओंकार को ही श्रेष्ठता दी है; तथा पहले गीता (७. ८) में भी "प्रणवः सर्ववेदेषु" कहा है। गीता ९. १७ के

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

जलाशयों में समुद्र हूँ। (२५) महर्षियों में मैं भृगु हूँ। वाणी में एकाक्षर अर्थात् ॐकार हूँ। यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ। स्थावर अर्थात् स्थिर पदार्थों में हिमालय हूँ।

[यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ यह वाक्य महत्त्व का है। अनुगीता (म. भा. अश्व. ४४. ८) में कहा है कि यज्ञानां हुतमुत्तमम् – अर्थात् यज्ञों में (अग्नि में) हवि समर्पण करके सिद्ध होनेवाला यज्ञ उत्तम है और यही वैदिक कर्मकाण्डवालों का मत है। पर भक्तिमार्ग में हविर्यज्ञ की अपेक्षा नामयज्ञ या जपयज्ञ का विशेष महत्त्व है। इसी से गीता में यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि कहा है। मनु ने भी एक स्थान पर (२. ८७) कहा है कि और कुछ करे या न करे केवल जप से ही ब्राह्मण सिद्धि पाता है। भागवत में यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं पाठ है।]

(२६) मैं सब वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल और देवर्षियों में नारद हूँ। गंधर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ। (२७) घोड़ों में (अमृतमन्थन के समय निकला हुआ) उच्चैःश्रवा मुझे समझो। मैं गजेन्द्रों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा हूँ। (२८) मैं आयुधों में वज्र, गौओं में कामधेनु और प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम मैं हूँ। सर्पों में वासुकि हूँ। (२९) नागों में अनन्त मैं हूँ। यादस् अर्थात् जलचर प्राणियों में वरुण और पितरों में अर्यमा मैं हूँ। मैं नियमन करनेवालों में यम हूँ।

[वासुकि = सर्पों का राजा और अनन्त = शेष, ये अर्थ निश्चित हैं; और अमरकोश तथा महाभारत में भी ये ही अर्थ दिये गये हैं (देखो म. भा. आदि. ३५-३९)। परन्तु निश्चयपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता कि नाग और सर्प में क्या भेद है। महाभारत के आस्तिक उपाख्यान में इन शब्दों का प्रयोग समानार्थक ही है। तथापि जान पड़ता है कि यहाँ पर सर्प और नाग शब्दों

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

| से सर्प के साधारण वर्ग की दो भिन्न भिन्न जातियाँ विवक्षित हैं। श्रीधरी टीका में सर्प को विषैला और नाग को विषहीन कहा है; एवं रामानुजभाष्य में सर्प को एक सिरवाला और नाग को अनेक सिरोंवाला कहा है। परन्तु ये दोनों भेद ठीक नहीं जँचते। क्योंकि कुछ स्थलों पर नागों के ही प्रमुख कुल बतलाते हुए उन में अनन्त और वासुकि को पहले गिनाया है और वर्णन किया है कि दोनों ही अनेक सिरोंवाले एवं विषधर हैं। किन्तु अनन्त है अग्निवर्ण के और वासुकि हैं पीले। भागवत का पाठ गीता के समान ही है।]

(३०) मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ। मैं ग्रसनेवालों में काल, पशुओं में मृगेन्द्र अर्थात् सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ। (३१) मैं वेगवानों में वायु हूँ। मैं शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर और नदियों में भागरथी हूँ। (३२) हे अर्जुन ! सृष्टिमात्र का आदि, अन्त और मध्य भी मैं हूँ। विद्याओं में अध्यात्मविद्या और वाद करनेवालों का वाद मैं हूँ।

[पीछे २० वें श्लोक में बतला दिया है कि सचेतन भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ, तथा अब कहते हैं कि सब चराचर सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ, यही भेद है।]

(३३) मैं अक्षरों में अकार और समासों में (उभयपदप्रधान) द्वन्द्व हूँ। (निमेष मुहूर्त आदि) अक्षय काल और सब ओर मुखवाला अर्थात् चारों ओर से मुखोंवाला धातायानी ब्रह्मा मैं हूँ। (३४) सबका क्षय करनेवाली मृत्यु और आगे जन्म लेनेवालों का उत्पत्तिस्थान मैं हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, श्री और वाणी, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा मैं हूँ।

[कीर्ति, श्री, वाणी इत्यादि शब्दों से वे ही देवता विवक्षित हैं। महाभारत (आदि ६६. १३. १४) में वर्णन है कि इनमें से वाणी और क्षमा को

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

इनमें शेष पाँच और दूसरी पाँच (पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, लज्जा और मति) दोनों मिल कर कुल तेरहों दक्ष की कन्याएँ हैं। धर्म के साथ ब्याही जाने के कारण इन्हें धर्मपत्नी कहते हैं।]

(३५) साम अर्थात् गाने के योग्य वैदिक स्तोत्रों में बृहत्साम और छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ। महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त हूँ।

[महीनों में मार्गशीर्ष को प्रथम स्थान इसलिये दिया गया है कि उन दिनों में बारह महीनों को मार्गशीर्ष से ही गिनने की रीति थी – जैसे कि आज कल चैत्र से है। – (देखो म. भा. अनु. १०६ और १०९; एवं वाल्मीकिरामायण ३. १६)। भागवत ११. १६. २७ में भी ऐसा ही उल्लेख है। हमने अपने ओरायन ग्रन्थ में लिखा है कि मृगशीर्ष नक्षत्र को अग्रहायणी अथवा वर्षारम्भ का नक्षत्र कहते थे। जब मृगादि नक्षत्रगणना का प्रचार था, तब मृगनक्षत्र को प्रथम अग्रस्थान मिला; और इसी से फिर मार्गशीर्ष महीने को भी श्रेष्ठता मिली होगी। इस विषय को यहाँ विस्तार के भय से अधिक बढ़ाना उचित नहीं है।]

(३६) मैं छलियों में जुआ हूँ। तेजस्वियों का तेज, (विजयशाली पुरुषों का) विजय, (निश्चयी पुरुषों का) निश्चय और सत्त्वशीलों का सत्त्व मैं हूँ। (३७) मैं यादवों में वासुदेव, पाण्डवों में धनञ्जय, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि हूँ। (३८) मैं शासन करनेवालों का दण्ड, जय की इच्छा करनेवालों की नीति और गुह्यों में मौन हूँ। ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ। (३९) इसी प्रकार हे अर्जुन! सब भूतों का जो कुछ बीज है वह मैं हूँ। ऐसा चर या अचर भूत नहीं है, जो

एकादशोऽध्याय ।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

[जब पिछले अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया तब उसे सुन कर अर्जुन को परमेश्वर का विश्वरूप देखने की इच्छा हुई। भगवान् ने उसे जिस विश्वरूप का दर्शन कराया उसका वर्णन इस अध्याय में है। यह वर्णन इतना सरस है कि गीता के उत्तम भागों में इसकी गिनती होती है, और अन्यान्य गीताओं की रचना करनेवालों ने इन्हीं का अनुकरण किया है। प्रथम अर्जुन पूछता है कि –]

अर्जुन ने कहा – (१) मुझ पर अनुग्रह करने के लिये तुमने अध्यात्मसंज्ञक जो परम गुप्त बात बतलाई उससे मेरा यह मोह जाता रहा। (२) इसी प्रकार हे कमलपत्राक्ष! भूतों की उत्पत्ति लय और तुम्हारा अक्षय माहात्म्य भी मैंने तुमसे विस्तारसहित सुन लिया। (३) अब हे परमेश्वर! तुमने अपना जैसा वर्णन किया है हे पुरुषोत्तम! मैं तुम्हारे उस प्रकार के ईश्वरी स्वरूप को (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ। (४) हे प्रभो! यदि तुम समझते हो कि उस प्रकार का रूप मैं देख सकता हूँ तो योगेश्वर! तुम अपना अव्यय स्वरूप मुझे दिखलाओ।

[सातवें अध्याय में ज्ञानविज्ञान का आरम्भ कर सातवें और आठवें में परमेश्वर के अक्षर अथवा अव्यक्त रूप का तथा नौवें एवं दसवें में अनेक रूपों का जो ज्ञान बतलाया है उसे ही अर्जुन ने पहले श्लोक में 'अध्यात्म' कहा है। एक अव्यक्त से अनेक व्यक्त पदार्थों के निर्मित होने का जो वर्णन सातवें (४–१५) आठवें (१६–२१) और नौवें (४–८) अध्यायों में है वही भूतों की

श्रीभगवानुवाच।

§§ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

उत्पत्ति और लय इन दोनों से दूसरे श्लोक में अभिप्रेत है। तीसरे श्लोक के दोनों अर्धाँशों को दो भिन्न भिन्न वाक्य मान कर कुछ लोग उनका ऐसा अर्थ करते हैं, कि परमेश्वर! तुमने अपना जैसा (स्वरूप का) वर्णन किया वह सत्य है (अर्थात् मैं समझ गया)। अब हे पुरुषोत्तम! मैं तुम्हारे ईश्वरी स्वरूप को देखना चाहता हूँ (देखो गीता १०. १४)। परन्तु दोनों पंक्तियों को मिला कर एक वाक्य मानना ठीक जान पड़ता है और परमार्थप्रपा टीका में ऐसा किया भी गया है। चौथे श्लोक में जो 'योगेश्वर' शब्द है उसका अर्थ योगों का (योगियों का नहीं) ईश्वर है (१८. ७५)। योग का अर्थ पहले (गीता ७. २५ और ९. ५) अव्यक्त रूप से व्यक्तसृष्टि निर्माण करने का सामर्थ्य अथवा युक्ति किया जा चुका है। अब उस सामर्थ्य से ही विश्वरूप दिखलाना है इस कारण यहाँ 'योगेश्वर' सम्बोधन का प्रयोग सहेतुक है।]

श्रीभगवान ने कहा – (५) हे पार्थ! मेरे अनेक प्रकार के अनेक रंगों के और आकारों के (इन) सैकड़ों अथवा हजारों दिव्य रूपों को देखो। (६) ये देखो (बारह) आदित्य (आठ) वसु (ग्यारह) रुद्र (दो) अश्विनी कुमार और (४९) मरुद्गण। हे भारत! ये अनेक आश्चर्य देखो कि जो पहले कभी न देखे होंगे।

[नारायणीय धर्म में नारद को जो विश्वरूप दिखलाया गया है उसमें यह विशेष वर्णन है कि बाएँ ओर बारह आदित्य, सम्मुख आठ वसु, दहिनी ओर ग्यारह रुद्र और पिछली ओर दो अश्विनीकुमार थे (शां. ३३९. ५०–५२)। परन्तु यह आवश्यकता नहीं कि यही वर्णन सर्वत्र विवक्षित हो (देखो म. भा. उ. १३१)। आदित्य वसु रुद्र अश्विनीकुमार और मरुद्गण ये वैदिक देवता हैं और देवताओं के चातुर्वर्ण्य का भेद महाभारत (शां. २०८. २३, २४) में यों बतलाया है कि आदित्य क्षत्रिय हैं, मरुद्गण वैश्य हैं और अश्विनीकुमार शूद्र हैं (देखो शतपथब्राह्मण १४. ४. २. २३)।]

(७) हे गुडाकेश! आज यहाँ पर एकत्रित सब चर अचर जगत् देख ले और भी जो कुछ तुझे देखने की लालसा हो वह मेरी (इस) देह में देख ले।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच ।

§§ एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

(८) परन्तु तू अपनी इसी दृष्टि से मुझे देख न सकेगा। तुझे मैं दिव्य दृष्टि देता हूँ। (इससे) मेरे इस ईश्वरी योग अर्थात् योगसामर्थ्य को देख।

सञ्जय ने कहा :- (९) फिर हे राजा धृतराष्ट्र! इस प्रकार कह करके योगों के ईश्वर हरि ने अर्जुन को (अपना) श्रेष्ठ ईश्वरी रूप अर्थात् विश्वरूप दिखलाया। (१०) उसके अर्थात् विश्वरूप के अनेक मुख और उसमें अनेक अद्भुत दृश्य दीख पड़ते थे। उस पर के दिव्य अलङ्कार थे और उस में नानाप्रकार के दिव्य आयुध सजित थे। (११) उस अनन्त सर्वतोमुख और सब आश्चर्यों से भरे हुए देवता के दिव्य सुगन्धित उबटन लगा हुआ था वह दिव्य पुष्प एवं वस्त्र धारण किये हुए था। (१२) यदि आकाश में एक हजार सूर्यों की प्रभा एकसाथ हो तो वह उस महात्मा की कान्ति के समान (कुछ कुछ) दीख पड़े! (१३) तब देवाधिदेव के इस शरीर में नाना प्रकार से बँटा हुआ सारा जगत् अर्जुन को एकत्रित दिखाई दिया। (१४) फिर आश्चर्य में डूबने से उसके शरीर पर रोमाञ्च खड़े हो आये और मस्तक नमा कर नमस्कार करके एवं हाथ जोड़कर उस अर्जुन ने देवता से कहा :-

अर्जुन ने कहा :- (१५) हे देव! तुम्हारी इस देह में सब देवताओं को और नाना प्रकार के प्राणियों के समुदायों को ऐसे ही कमलासन पर बैठे हुए

अर्जुन उवाच।

§§ पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥

(सब देवताओं के) स्वामी ब्रह्मदेव, सब ऋषियों और (वासुकि प्रभृति) सब दिव्य सर्पों को भी मैं देख रहा हूँ। (१६) अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रधारी अनन्तरूपी तुम्हीं को मैं चारों ओर देखता हूँ; परन्तु हे विश्वेश्वर विश्वरूप! तुम्हारा न तो अन्त, न मध्य और न आदि ही मुझे (कहीं) दीख पड़ता है। (१७) किरीट, गदा और चक्र धारण करनेवाले, चारों ओर प्रभा फैलाये हुए, तेजःपुञ्ज, दमकते हुए अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान, आँखों से देखने में भी अशक्य और अपरम्पार (भरे हुए) तुम्हीं मुझे जहाँ-तहाँ दीख पड़ते हो। (१८) तुम्हीं अन्तिम ज्ञेय अक्षर (ब्रह्म), तुम्हीं इस विश्व के अन्तिम आधार, तुम्हीं अव्यय और तुम्हीं शाश्वत धर्म के रक्षक हो। मुझे सनातन पुरुष तुम्हीं जान पड़ते हो। (१९) जिसके न आदि है, न मध्य और न अन्त, अनन्त जिसके बाहु हैं, चन्द्र और जिसके नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि जिसका मुख है, ऐसे अनन्त शक्तिमान तुम ही अपने तेज से इस समस्त जगत् को तपा रहे हो। तुम्हारा ऐसा रूप मैं देख रहा हूँ। (२०) क्योंकि आकाश और पृथ्वी के बीच का यह (सब) अन्तर और सभी दिशाएँ अकेले तुम्हीं ने व्याप्त कर डाली हैं। हे महात्मन्! तुम्हारे इस अद्भुत और उग्र रूप को देख कर त्रैलोक्य (डर से) व्यथित हो रहा है। (२१) यह देखो

> रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
> गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥
>
> रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
> बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥
>
> नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
> दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥
>
> दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
> दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

देवताओं के समूह तुममें प्रवेश कर रहे हैं। (और) कुछ भय से हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर रहे हैं। (एवं) 'स्वस्ति स्वस्ति' कह कर महर्षि और सिद्धों के समुदाय अनेक प्रकार के स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। (२२) रुद्र और आदित्य, वसु और साध्यगण, विश्वेदेव, (दोनों) अश्विनीकुमार, मरुद्गण, ऊष्मपा अर्थात् पितर और गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं सिद्धों के झुंड के झुंड विस्मित हो कर तुम्हारी ओर देख रहे हैं।

[श्राद्ध में पितरों को जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसे वे तभी तक ग्रहण करते हैं, जब तक कि वह गरमागरम रहे। इसी से उनको 'ऊष्मपा' कहते हैं (मनु. ३. २३७)। मनुस्मृति (३. १९४–२००) में इन्हीं पितरों के सोमसद, अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमपा, हविष्मान्, आज्यपा और सुकालिन् ये सात प्रकार के गण बतलाये हैं। आदित्य आदि देवता वैदिक हैं (ऊपर का छठा श्लोक देखो)। बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ९. २) में यह वर्णन है कि आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और इन्द्र तथा प्रजापति को मिला कर ३३ देवता होते हैं; और महाभारत आदिपर्व अ. ६५ एवं ६६ में तथा शान्तिपर्व अ. २०८ में इनके नाम और इनकी उत्पत्ति बतलाई गई है।]

(२३) हे महाबाहो! तुम्हारे इस महान्, अनेक मुखों के, अनेक आँखों के, अनेक भुजाओं के, अनेक जाँघों के, अनेक पैरों के, अनेक उदरों के और अनेक दाढ़ों के कारण विकराल दिखनेवाले रूप को देख कर सब लोगों को और मुझे भी भय हो रहा है। (२४) आकाश से भिड़े हुए, प्रकाशमान्, अनेक रंगों के, जबड़े फैलाये हुए और बड़े चमकीले नेत्रों से युक्त तुमको देख कर अन्तरात्मा घबड़ा गया है। इससे हे विष्णो! मेरा धीरज छूट गया और शान्ति भी जाती रही! (२५) दाढ़ों से विकराल तथा प्रलयकालीन अग्नि के समान तुम्हारे (इन) मुखों को देखते ही मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं और समाधान भी नहीं होता। हे जगन्निवास

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

संजय उवाच।

§§ एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

'काल' हूँ। यहाँ लोगों का संहार करने आया हूँ। तू न हो तो भी (अर्थात् तू कुछ न करे, तो भी) सेनाओं में खड़े हुए ये सब योद्धा नाश होनेवाले (मरनेवाले) हैं। (३३) अतएव तू उठ यश प्राप्त कर और शत्रुओं को जीत करके समृद्ध राज्य का उपभोग कर। मैंने इन्हें पहले ही मार डाला है। (इसलिये अब) हे सव्यसाची (अर्जुन)! तू केवल निमित्त के लिये (आगे) हो! (३४) मैं द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा ऐसे ही अन्यान्य वीर योद्धाओं को (पहले ही) मार चुका हूँ। उन्हें तू मार। घबराना नहीं! युद्ध कर! तू युद्ध में शत्रुओं को जीतेगा।

[सारांश, जब श्रीकृष्ण सन्धि के लिये गये थे तब दुर्योधन को मेल की कोई भी बात सुनते न देख भीष्म ने श्रीकृष्ण से केवल शब्दों में कहा था कि "कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन" (म. भा. उ. १२७. ३२) – ये सब क्षत्रिय कालपक्व हो गये हैं। उसी कथन का यह प्रत्यक्ष दृश्य श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूप से अर्जुन को दिखला दिया है (ऊपर २६–३१ श्लोक देखो)। कर्मविपाक-प्रक्रिया का यह सिद्धान्त भी ३३ वें श्लोक में आ गया है कि दुष्ट मनुष्य अपने कर्मों से ही मरते हैं। उनको मारनेवाला तो सिर्फ निमित्त है। इसलिये मारनेवाले को उसका दोष नहीं लगता।]

संजय ने कहा – (३५) केशव के इस भाषण को सुन कर अर्जुन अत्यन्त भयभीत हो गया। गला रुँध कर काँपते काँपते हाथ जोड़ नमस्कार करके उसने श्रीकृष्ण से नम्र हो कर फिर अर्जुन ने कहा:– (३६) हे हृषीकेश! (सब) जगत् तुम्हारे (गुण) कीर्तन से प्रसन्न होता है और (उसमें) अनुरक्त रहता है। राक्षस तुमको डर कर (सब) दिशाओं में भाग जाते हैं और सिद्धपुरुषों के संघ तुम्हीं को नमस्कार

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

करते हैं यह (सब) उचित ही है। (३७) हे महात्मन्! तुम ब्रह्मदेव के भी आदि कारण और उससे भी श्रेष्ठ हो। तुम्हारी वन्दना वे कैसे न करेंगे? हे अनन्त! हे जगन्निवास! सत् और असत् तुम्हीं हो, और इन दोनों से परे जो अक्षर है, वह भी तुम्हीं हो।

[गीता ७. २४; ८. २; और १५. १६ से देख पड़ेगा कि सत् और असत् शब्दों के अर्थ यहाँ पर क्रम से व्यक्त और अव्यक्त अथवा क्षर और अक्षर इन शब्दों के अर्थों के समान हैं। सत् और असत् से परे जो तत्त्व है, वही अक्षर ब्रह्म है। इसी कारण गीता १३. १२ में स्पष्ट वर्णन है कि 'मैं न तो सत् हूँ और न असत्'। गीता में अक्षर शब्द कभी प्रकृति के लिये और कभी ब्रह्म के लिये उपयुक्त होता है (गीता ८. २१; १२. ३ और १५. १६ की टिप्पणी देखो)।]

(३८) तुम आदिदेव, (तुम) पुरातन पुरुष, इस जगत् के परम आधार, तुम ज्ञाता और ज्ञेय तथा तुम श्रेष्ठ स्थान हो, और हे अनन्तरूप! तुम्हीं ने (इस) विश्व को विस्तृत अथवा व्याप्त किया है। (३९) वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा और परदादा भी तुम्हीं हो। तुम्हें हजार बार नमस्कार है। और फिर भी तुम्हीं को नमस्कार है!

[ब्रह्मा से मरीचि आदि सात मानसपुत्र उत्पन्न हुए, और मरीचि से कश्यप तथा कश्यप से सब प्रजा उत्पन्न हुई है (म. भा. आदि. ६५. ११)। इसलिये इन मरीचि आदि को ही प्रजापति कहते हैं (शां. २०८. ५)। इसी से कोई कोई प्रजापति शब्द का अर्थ कश्यप आदि प्रजापति करते हैं। परन्तु यहाँ प्रजापति शब्द एकवचनान्त है। इस कारण प्रजापति का अर्थ ब्रह्मदेव ही अधिक प्रशस्त देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा मरीचि आदि के पिता अर्थात् सब के पितामह (दादा) हैं। अतः आगे का 'प्रपितामह' (परदादा) पद भी आप ही-आप प्रगट होता है और उसकी सार्थकता व्यक्त हो जाती है।]

(४०) हे सर्वात्मक! तुम्हें सामने से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है और सभी

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

ओर से तुमको नमस्कार है। तुम्हारा वीर्य अनन्त है; और तुम्हारा पराक्रम अतुल है। सब को समेट लेने के कारण तुम्हीं 'सर्व' हो।

[सामने से नमस्कार, पीछे से नमस्कार, ये शब्द परमेश्वर की सर्वव्यापकता दिखलाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म का ऐसा वर्णन है, कि 'ब्रह्मैवेदं अमृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मुं. २. २. ११; छां. ७. २५) उसी के अनुसार भक्तिमार्ग की यह नमनात्मक स्तुति है।]

(४१) तुम्हारी इस महिमा को बिना जाने, मित्र समझ कर प्यार से या भूल से 'अरे कृष्ण', 'ओ यादव', 'हे सखा' इत्यादि जो कुछ मैंने कह डाला हो; (४२) और हे अच्युत! आहार-विहार में अथवा सोने बैठने में, अकेले में या दस मनुष्यों के समक्ष मैंने हँसी दिल्लगी में तुम्हारा जो अपमान किया हो, उसके लिये मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ। (४३) इस चराचर जगत् के पिता तुम्हीं हो। तुम पूज्य हो और गुरु के भी गुरु हो! त्रिभुवन में तुम्हारी बराबरी का कोई नहीं है। फिर हे अतुलप्रभाव! अधिक कहाँ से होगा? (४४) तुम्हीं स्तुत्य और समर्थ हो। इसलिये मैं शरीर झुका कर नमस्कार करके तुमसे प्रार्थना करता हूँ, कि 'प्रसन्न हो जाओ'। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के अथवा सखा अपने सखा के अपराध क्षमा करता है, उसी प्रकार हे देव! प्रेमी (आप) को प्रिय के (अपने प्रेमपात्र के अर्थात् मेरे सब) अपराध क्षमा करना चाहिये।

[कुछ लोग 'प्रियः प्रियायार्हसि' इन शब्दों का 'प्रिय पुरुष जिस प्रकार अपनी स्त्री के' ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं है। क्योंकि व्याकरण की रीति से 'प्रियायार्हसि' के प्रियायाः + अर्हसि अथवा प्रियायै + अर्हसि ऐसे पद नहीं टूटते और उपमाद्योतक 'इव' शब्द भी इस श्लोक में दो बार ही आया है। अतः 'प्रियः प्रियायार्हसि' को तीसरी उपमा न समझ कर उपमेय मानना ही अधिक प्रशस्त है। पुत्र के

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

सञ्जय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

तेजोमय, अनन्त, आद्य और परम विश्वरूप अपने योगसामर्थ्य से मैंने तुझे दिखलाया है। इसे तेरे सिवा और किसी ने पहले नहीं देखा। (४८) हे कुरुवीरश्रेष्ठ! मनुष्यलोक में मेरे इस प्रकार का स्वरूप कोई भी वेद से, यज्ञों से, स्वाध्याय से, दान से, कर्मों से अथवा उग्र तप से नहीं देख सकता कि जिसे तू ने देखा है। (४९) मेरे ऐसे घोर रूप को देख कर अपने चित्त में व्यथा न होने दे और मूढ मत हो जा। डर छोड़ कर सन्तुष्ट मन से मेरे उसी स्वरूप को फिर देख ले। सञ्जय ने कहा – (५०) इस प्रकार भाषण करके वासुदेव ने अर्जुन को फिर अपना (पहले का) स्वरूप दिखलाया; और फिर सौम्य रूप धारण करके उस महात्मा ने डरे हुए अर्जुन को धीरज बँधाया।

[गीता के द्वितीय अध्याय के ५ वें से ८ वें, २० वें, २२ वें, २९ वें और ७० वें श्लोक, आठवें अध्याय के ९ वें, १० वें, ११ वें और २८ वें श्लोक, नौवें अध्याय के २० और २१ वें श्लोक, पन्द्रहवें अध्याय के २ रे से ५ वें और १५ वें श्लोक का छन्द विश्वरूपवर्णन के उक्त ३६ श्लोकों के छन्द के समान है। अर्थात् इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर हैं। परन्तु इनमें गणों का कोई एक नियम नहीं है। इससे कालिदास प्रभृति के काव्यों के इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, दोधक, शालिनी आदि छन्दों की चाल पर ये श्लोक नहीं कहे जा सकते। अर्थात् यह वृत्तरचना आर्ष यानी वेदसंहिता के त्रिष्टुप् वृत्त के नमूने पर की गई है। इस कारण यह सिद्धान्त और भी दृढ़ हो जाता है कि गीता बहुत प्राचीन होगी। देखो गीतारहस्य परिशिष्ट प्रकरण पृ० [illegible]।]

अर्जुन ने कहा :– (५१) हे जनार्दन! तुम्हारे इस सौम्य मनुष्यदेहधारी रूप को देख कर अब मन ठिकाने आ गया और मैं पहले की भाँति सावधान हो गया हूँ।

बना कर वह ये कर्म हम से करवा रहा है। ऐसा करने से वे शान्ति अथवा मोक्षप्राप्ति में बाधक नहीं होते। शाङ्करभाष्य में भी यही कहा है, कि इस श्लोक में पूरे गीताशास्त्र का तात्पर्य आ गया है। इससे प्रकट है कि गीता का भक्तिमार्ग यह नहीं कहता कि आराम से 'राम राम' जपा करो; प्रत्युत उसका कथन है कि उत्कट भक्ति के साथ-ही-साथ उत्साह से सब निष्काम कर्म करते रहो। संन्यासमार्गवाले कहते हैं कि 'निर्वैर' का अर्थ निष्क्रिय है। परन्तु यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। इसी बात को प्रकट करने के लिये उसके साथ 'मत्कर्मकृत्, अर्थात् 'सब कर्मों को परमेश्वर के (अपने नहीं) समझ कर परमेश्वरार्पणबुद्धि से करनेवाला' विशेषण लगाया गया है। इस विषय का विस्तृत विचार गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३९५-४०१) में किया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

बारहवाँ अध्याय

[कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें अध्याय में ज्ञानविज्ञान के निरूपण का आरम्भ कर आठवें में अक्षर अनिर्देश्य और अव्यक्त ब्रह्म का स्वरूप बतलाया है। फिर नौवें अध्याय में भक्तिरूप प्रत्यक्ष राजमार्ग के निरूपण का प्रारम्भ करके दसवें और ग्यारहवें में तदन्तर्गत 'विभूतिवर्णन' एवं 'विश्वरूपदर्शन' इन दो उपाख्यानों का वर्णन किया है। और ग्यारहवें अध्याय के अन्त में साररूप से अर्जुन को उपदेश किया है, कि भक्ति से एवं निःसङ्गबुद्धि से समस्त कर्म करते रहो। अब इस पर अर्जुन का प्रश्न है कि कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें और आठवें अध्याय में क्षर-अक्षरविचारपूर्वक परमेश्वर के अव्यक्त रूप को श्रेष्ठ सिद्ध करके अव्यक्त की अथवा अक्षर की उपासना (७. १९ और २४; ८. २१) बतलाई है। और उपदेश किया है कि युक्तचित्त से युद्ध कर (८. ७); एवं नौवें अध्याय में व्यक्त-उपासनारूप प्रत्यक्ष धर्म बतला कर कहा है कि परमेश्वरार्पणबुद्धि से सभी कर्म करना चाहिये (९. २७, ३४ और ११. ५५); तो अब इन दोनों में श्रेष्ठमार्ग कौन सा है? इस प्रश्न में व्यक्तोपासना का अर्थ भक्ति है। परन्तु यहाँ भक्ति से भिन्न भिन्न अनेक उपास्यों का अर्थ विवक्षित नहीं है। उपास्य अथवा प्रतीक कोई भी हो, उसमें एक ही सर्वव्यापी परमेश्वर की भावना रख कर जो भक्ति की जाती है, वही सच्ची व्यक्त उपासना है; और इस अध्याय में वही उद्दिष्ट है।]

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
§§ अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

(७) हे पार्थ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगों का मैं इस मृत्युमय संसार सागर से बिना विलम्ब किये उद्धार कर देता हूँ। (८) (अतएव) मुझमें ही मन लगा। मुझमें बुद्धि को स्थिर कर। इससे तू निःसन्देह मुझमें ही निवास करेगा।

[इसमें भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। दूसरे श्लोक में पहले यह सिद्धान्त किया है कि व्यक्तोपासक उत्तम योगी है। फिर तीसरे श्लोक में पक्षान्तर बोधक 'तु' अव्यय का प्रयोग कर इसमें और चौथे श्लोक में कहा है कि अव्यक्त की उपासना करनेवाले भी मुझे ही पाते हैं। परन्तु इसके सत्य होने पर भी पाँचवें श्लोक में यह बतलाया है कि अव्यक्त-उपासकों का मार्ग अधिक क्लेशदायक होता है। छठे और सातवें श्लोक में वर्णन किया है कि अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना सुलभ होती है; और आठवें श्लोक में इसके अनुसार व्यवहार करने का अर्जुन को उपदेश किया है। सारांश, ग्यारहवें अध्याय के अन्त (गीता ११. ५५) में जो उपदेश कर आये हैं, यहाँ अर्जुन के प्रश्न करने पर उसी को दृढ़ कर दिया है। इसका विस्तारपूर्वक विचार – कि भक्तिमार्ग में सुलभता क्या है? – गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में कर चुके हैं। इस कारण यहाँ हम उसकी पुनरुक्ति नहीं करते। इतना ही कह देते हैं कि अव्यक्त की उपासना कष्टमय होनेपर भी मोक्षदायक ही है; और भक्तिमार्गवालों को स्मरण रखना चाहिये कि भक्तिमार्ग में भी कर्म न छोड़ कर ईश्वरार्पणपूर्वक अवश्य करना पड़ता है। हेतु से छठे श्लोक में 'मुझे ही सब कर्मों का संन्यास करके' ये शब्द रखे गये हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि भक्तिमार्ग में भी कर्मों को स्वरूपतः न छोड़े, किन्तु परमेश्वर में उन्हें (अर्थात् उनके फलों को) अर्पण कर दे। इससे प्रकट होता है कि भगवान् ने इस अध्याय के अन्त में जिस भक्तिमान् पुरुष को अपना प्यारा बतलाया है, उसे भी इसी अर्थात् निष्काम कर्मयोगमार्ग का ही समझना चाहिये। वह स्वरूपतः कर्मसंन्यासी नहीं है। इस प्रकार भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता और सुलभता बतला कर अब परमेश्वर में ऐसी भक्ति करने के उपाय अथवा साधन बतलाते हुए उनके तारतम्य का भी खुलासा करते हैं –]

(   ) अब (इस प्रकार) मुझमें भली भाँति चित्त को स्थिर करते न बन

भक्तिमार्गवालों को – अर्थात् जो कहते हैं, कि भक्ति को छोड़, दूसरे कोई भी कर्म न करो उनको – ध्यान की अपेक्षा अर्थात् भक्ति की अपेक्षा कर्मफलत्याग की श्रेष्ठता मान्य नहीं है। वर्तमान समय में गीता का भक्तियुक्त कर्मयोग सम्प्रदाय लुप्त-सा हो गया है कि पातञ्जलयोग, ज्ञान और भक्ति इन तीनों सम्प्रदायों से भिन्न है और न्हीं से उस सम्प्रदाय का कोई टीकाकार भी नहीं पाया जाता है। अतएव आजकल गीता पर जितनी टीकाएँ पाई जाती हैं, उनमें कर्मफलत्याग की श्रेष्ठता अर्थवादात्मक समझी गई है। परन्तु हमारी राय में यह भूल है। गीता में निष्काम कर्मयोग को ही प्रतिपाद्य मान लेने से इस श्लोक के अर्थ के विषय में कोई भी अड़चन नहीं रहती। यदि मान लिया जाय कि कर्म छोड़ने से निर्वाह नहीं होता, निष्काम कर्म करना ही चाहिये; तो स्वरूपतः कर्मों का त्याग देनेवाला ज्ञानमार्ग पातञ्जलयोग कर्मयोग से हलका जँचने लगता है; और सभी कर्मों को छोड़ देनेवाला भक्तिमार्ग भी कर्मयोग की अपेक्षा कम योग्यता का सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता मर्यादित हो जाने पर यही प्रश्न रह जाता है, कि कर्मयोग में आवश्यक भक्तियुक्त साम्यबुद्धि को प्राप्त करने के लिये उपाय क्या है? ये तीन हैं – अभ्यास, ज्ञान और ध्यान। इनमें यदि किसी से अभ्यास न सधे, तो वह ज्ञान अथवा ध्यान में से किसी भी उपाय को स्वीकार कर ले। गीता का कथन है, कि इन उपायों का आचरण करना यथोक्त क्रम से सुलभ है। १२ वें श्लोक में कहा है, कि यदि इनमें से एक भी उपाय न सधे, तो मनुष्य को चाहिये, कि वह कर्मयोग के आचरण करने का ही एकदम आरम्भ कर दे। अब यहाँ एक शङ्का यह होती है कि जिससे अभ्यास नहीं सधता और जिससे ज्ञान-ध्यान भी नहीं होता, वह कर्मयोग करेगा ही कैसे? कई एकों ने निश्चय किया है, कि फिर कर्मयोग को सब की अपेक्षा सुलभ कहना ही निरर्थक है। परन्तु विचार करने से दीख पड़ेगा, कि इस आक्षेप में कुछ भी जान नहीं है। १२ वें श्लोक में यह नहीं कहा है, कि सब कर्मों के फलों का एकदम त्याग कर दे; वरन् यह कहा है, कि पहले भगवान् के बतलाये हुए कर्मयोग का आश्रय करके (तत:) तदनन्तर धीरे धीरे इस बात को अन्त में सिद्ध कर ले। और ऐसा अर्थ करने से कुछ भी विसङ्गति नहीं रह जाती। पिछले अध्यायों में यह आया है, कि कर्मफल के त्यास आरम्भ से ही नहीं (गीता २. ४०), किन्तु जिज्ञासा (देखो गीता ६. ४४ और टिप्पणी) हो जाने से भी मनुष्य आप ही आप अन्तिम सिद्धि की ओर खींचा चला जाता है। अतएव उस मार्ग की सिद्धि पाने का पहला साधन या सीढ़ी यही है, कि कर्मयोग का आश्रय करना चाहिये – अर्थात् इस मार्ग से जाने की मन में इच्छा होनी चाहिये। कौन कह सकता है, कि यह साधन अभ्यास, ज्ञान और ध्यान की अपेक्षा सुलभ नहीं है और १२ वें श्लोक

§§ अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

[का भावार्थ है भी यही। न केवल भगवद्गीता में किन्तु सूर्य गीता में भी कहा है –

ज्ञानादुपास्तिरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात् ।
इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तमः ॥

जो इस वेदान्ततत्त्व को जानता है कि ज्ञान की अपेक्षा उपासना अर्थात् ध्यान या भक्ति उत्कृष्ट है एवं उपासना की अपेक्षा कर्म अर्थात् निष्काम कर्म श्रेष्ठ है वही पुरुषोत्तम है (सूर्यगी ४ ७७)। सारांश भगवद्गीता का निश्चित मत यह है कि कर्मफलत्यागरूपी योग – अर्थात् ज्ञानभक्तियुक्त निष्काम कर्मयोग – ही सब मार्गों में श्रेष्ठ है और इसके अनुकूल ही नहीं प्रत्युत पोषक युक्तिवाद १२ वे श्लोक में है। यदि किसी दूसरे सम्प्रदाय को वह न रुचे तो वह उसे छोड़ दे परन्तु अर्थ की व्यर्थ खींचातानी न करे। इस प्रकार कर्मफलत्याग को श्रेष्ठ सिद्ध करके उस मार्ग से जानेवाले को (स्वरूपतः कर्म छोड़नेवाले नहीं) जो सम और शान्त स्थिति अन्त में प्राप्त होती है उसीका वर्णन करके अब भगवान् बतलाते हैं कि ऐसा भक्त ही मुझे अत्यन्त प्रिय है –]

(१३) जो किसी से द्वेष नहीं करता जो सब भूतों के साथ मित्रता से बरतता है जो कृपालु है जो ममत्वबुद्धि और अहङ्कार से रहित है जो दुःख और सुख में समान एवं क्षमाशील है (१४) जो सदा सन्तुष्ट संयमी तथा दृढ निश्चयी है जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमे अर्पण कर दिया है वह मेरा (कर्म) योगी भक्त मुझको प्यारा है। (१५) जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है; और न जो लोगों से क्लेश पाता है ऐसे ही जो हर्ष क्रोध भय और विषाद से अलिप्त है वही मुझे प्रिय है। (१६) मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है कि जो निरपेक्ष पवित्र और दक्ष है – अर्थात् किसी भी काम को आलस्य छोड़ कर करता है – जो (फल के विषय में) उदासीन है जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता और जिसने (काम्यफल के)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

सब आरम्भ यानी उद्योग छोड़ दिये हैं । (१७) जो न आनन्द मानता है न द्वेष करता है जो न शोक करता है, और न इच्छा रखता है जिसने (कर्म के) शुभ और अशुभ (फल) छोड़ दिये हैं वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। (१८) जिसे शत्रु और मित्र मान और अपमान सर्दी और गर्मी सुख और दुःख समान हैं और जिसे (किसी में भी) आसक्ति नहीं है (१) जिसे निन्दा और स्तुति दोनों एक-सी हैं जो मितभाषी है जो कुछ मिल जावे उसी में सन्तुष्ट है या अनिकेत है अर्थात् जिसका (कर्मफलाशारूप) ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया है वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है।

[अनिकेत' शब्द उन यतियों के वर्णनों में भी अनेक बार आया करता है कि जो गृहस्थाश्रम छोड़ संन्यास धारण करके भिक्षा माँगते हुए घूमते रहते हैं (देखो मनु. ६ २५) और इसका धात्वर्थ बिना घरबार है। अतः इस अध्याय के निर्मम 'सर्वारम्भपरित्यागी और अनिकेत शब्दों से तथा अन्यत्र गीता में 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः (४ २१) अथवा विविक्तसेवी (१८ ५२) इत्यादि जो शब्द हैं उनके आधार से संन्यासमार्गवाले टीकाकार कहते हैं कि हमारे मार्ग का यह परम ध्येय घर-द्वार छोड़ कर बिना किसी इच्छा के जङ्गलों में आयु के दिन बिताना ही गीता में प्रतिपाद्य है; और वे इसके लिये स्मृतिग्रन्थों के संन्यास-आश्रम प्रकरण के श्लोकों का प्रमाण दिया करते हैं। गीतावाक्यों के ये निरे संन्यासप्रतिपादक अर्थ संन्याससम्प्रदाय की दृष्टि से महत्त्व के हो सकते हैं किन्तु वे सच नहीं हैं। क्योंकि गीता के अनुसार 'निरग्नि' अथवा 'निष्क्रिय' होना सच्चा संन्यास नहीं है। पीछे कई बार गीता का यह स्थिर सिद्धान्त कहा जा चुका है (देखो गीता और ६ १ २) कि केवल फलाशा को छोड़ना चाहिये न कि कर्म को। अतः अनिकेत पद का घर-द्वार छोड़ना अर्थ न करके ऐसा करना चाहिये कि जिसका गीता के कर्मयोग के साथ मेल मिल सके। गीता ४ २ के श्लोक में कर्मफल की आशा न रखनेवाले पुरुष को ही 'निराश्रय' विशेषण लगाया गया है, और गीता ६ १ में उसी अर्थ में अनाश्रितः कर्मफलं शब्द आये हैं आश्रय और 'निकेत' इन दोनों शब्दों का अर्थ एक

§§ ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ही है। अतएव अनिकेत का गृहत्यागी अर्थ न करके ऐसा करना चाहिये कि जिसके मन का स्थान फँसा नहीं है। इसी प्रकार ऊपर १६ वें श्लोक में जो 'सर्वारम्भपरित्यागी' शब्द है उसका भी अर्थ 'सारे कर्म या उद्योगों को छोड़नेवाला' नहीं करना चाहिये। किन्तु गीता ४. १९ में जो यह कहा है कि 'जिसके समारम्भ फलाशाविरहित हैं उसके कर्म ज्ञान से दग्ध हो जाते हैं' वैसा ही अर्थ यानी 'काम्य आरम्भ अर्थात् कर्म छोड़नेवाला' करना चाहिये। यह बात गीता १८. २ और १८. ४८ एवं ४९ से सिद्ध होती है। सारांश, जिसका चित्त घर-गृहस्थी में, बालबच्चों में अथवा संसार के अन्यान्य कामों में उलझा रहता है, उसी को आगे दुःख होता है। अतएव गीता का इतना ही कहना है कि इन सब बातों में चित्त को फँसने न दो। और मन की इसी वैराग्य स्थिति को प्रकट करने के लिये गीता के 'अनिकेत' और 'सर्वारम्भपरित्यागी' आदि शब्द स्थितप्रज्ञ के वर्णन में आया करते हैं। ये ही शब्द यतियों के अर्थात् कर्म त्यागनेवाले संन्यासियों के वर्णनों में भी स्मृतिग्रन्थों में आये हैं। पर सिर्फ इसी बुनियाद पर यह नहीं कहा जा सकता कि कर्मत्यागरूप संन्यास ही गीता में प्रतिपाद्य है। क्योंकि, इसके साथ ही गीता का यह दूसरा निश्चित सिद्धान्त है कि जिसकी बुद्धि में पूर्ण वैराग्य भिद गया हो उस ज्ञानी पुरुष को भी इसी विरक्तबुद्धि से फलाशा छोड़ कर धर्मतः प्राप्त होनेवाले सब कर्म करते ही रहना चाहिये। इस समूचे पूर्वापर सम्बन्ध को बिना समझे गीता में जहाँ कहीं 'अनिकेत' की जोड़ के वैराग्यबोधक शब्द मिल जावें उन्हीं पर सारा दारोमदार रख कर यह कह देना ठीक नहीं है कि गीता में कर्मसंन्यासप्रधान मार्ग ही प्रतिपाद्य है।]

(२०) ऊपर बतलाये हुए इस अमृततुल्य धर्म का जो मत्परायण होते हुए श्रद्धा से आचरण करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

[यह वचन हो चुका है (गीता ६. ४७; ७. १८) कि भक्तिमान् ज्ञानी पुरुष सब से श्रेष्ठ है, उसी वचन के अनुसार भगवान् ने इस श्लोक में बतलाया है कि हमें अत्यन्त प्रिय कौन है? अर्थात् यहाँ परम भगवद्भक्त कर्मयोगी का वर्णन किया है। पर भगवान् ही गीता ... वें श्लोक में कहते हैं कि मुझे

सम पड़ते हैं, कोई विशेष प्रिय अथवा द्वेष्य नहीं। देखने में यह विरोध प्रतीत होता है सही? पर यह जान लेने से कोई विरोध नहीं रह जाता, कि एक वचन सगुण उपासना का अथवा भक्तिमार्ग का है और दूसरा अध्यात्म-दृष्टि अथवा कर्मविपाकदृष्टि से किया गया है। गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण के अन्त (पृ. ४१२-४११) में इस विषय का विवेचन है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग-शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

तेरहवाँ अध्याय

[पिछले अध्याय में यह बात सिद्ध की गई है कि अनिर्देश्य और अव्यक्त परमेश्वर का (बुद्धि से) चिन्तन करने पर अन्त में मोक्ष तो मिलता है। परन्तु उसकी अपेक्षा श्रद्धा से परमेश्वर के प्रत्यक्ष और व्यक्त स्वरूप की भक्ति करके परमेश्वरार्पणबुद्धि से सब कर्मों को करते रहने पर वही मोक्ष सुलभ रीति से मिल जाता है। परन्तु इतने ही से ज्ञानविज्ञान का वह निरूपण समाप्त नहीं हो जाता कि जिसका आरम्भ सातवें अध्याय में किया गया है। परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होने के लिये बाहरी सृष्टि के क्षर-अक्षर-विचार के साथ ही साथ मनुष्य के शरीर और आत्मा का अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भी विचार करना पड़ता है। ऐसे ही यदि सामान्य रीति से जान लिया कि सब व्यक्त पदार्थ जड़प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तो भी यह बतलाये बिना ज्ञानविज्ञान का निरूपण पूरा नहीं होता कि प्रकृति के किस गुण से यह विस्तार होता है? और उसका क्रम कौन-सा है? अतएव तेरहवें अध्याय में पहले क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार – और फिर आगे चार अध्यायों में गुणत्रय का विभाग – बतला कर अठारहवें अध्याय में समग्र विषय का उपसंहार किया गया है। सारांश, तीसरी षडध्यायी स्वतन्त्र नहीं है। कर्मयोगसिद्धि के लिये जिस ज्ञानविज्ञान के निरूपण का सातवें अध्याय में आरम्भ हो चुका है उसी की पूर्ति इस षडध्यायी में की गई है। देखो गीतारहस्य प्र. १४ पृ. ४०६-४०८। गीता की कई एक प्रतियों में इस तेरहवें अध्याय के आरम्भ में यह श्लोक पाया जाता है। अर्जुन उवाच – प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥ और उसका अर्थ यह है :– अर्जुन ने कहा – मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय के जानने की इच्छा है, सो बतलाओ। परन्तु स्पष्ट दीख पड़ता है कि किसी ने यह जान कर – कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार गीता में आया कैसे है – पीछे से यह श्लोक गीता में घुसेड़ दिया है। टीकाकार इस श्लोक को क्षेपक मानते हैं और क्षेपक न मानने से

§§ तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

गया है, शब्द के साथ लगा कर जो अर्थ करते हैं कि 'इनके ज्ञान को मैं ज्ञान समझता हूँ।' पर यह अर्थ सहज नहीं है। आठवें अध्याय के आरम्भ में ही वर्णन है कि देह में निवास करनेवाला आत्मा (अधिदेव) मैं हूँ अथवा जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है; और सातवें में भी भगवान् ने 'जीव' को अपनी ही परा प्रकृति कहा है (७. ५)। इसी अध्याय के २२ वें और ३१ वें श्लोक में भी ऐसा ही वर्णन है। अब बतलाते हैं कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार कहाँ पर और किसने किया है।]

(३) क्षेत्र क्या है? वह किस प्रकार का है? उसके कौन कौन विकार हैं? (उसमें भी) किससे क्या होता है? ऐसे ही वह अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है? और उसका प्रभाव क्या है? – इसे संक्षेप से बतलाता हूँ, सुन। (४) ब्रह्मसूत्र के पदों से भी यह गाया गया है कि जिन्हें बहुत प्रकार से विविध छन्दों में पृथक् पृथक् (अनेक) ऋषियों ने (कार्यकारणरूप) हेतु दिखला कर पूर्ण निश्चित किया है।

[गीतारहस्य के परिशिष्ट प्रकरण (पृ. ५४४ – ५४८) में हमने विस्तार पूर्वक दिखलाया है कि इस श्लोक में ब्रह्मसूत्र शब्द से वर्तमान वेदान्तसूत्र उद्दिष्ट है। उपनिषद् किसी एक ऋषि का कोई एक ग्रन्थ नहीं है। अनेक ऋषियों को भिन्न भिन्न काल या स्थान में जिन अध्यात्मविचारों का स्फुरण हो आया, वे विचार बिना किसी पारस्परिक सम्बन्ध के भिन्न भिन्न उपनिषदों में वर्णित हैं। इसलिये उपनिषद् संकीर्ण हो गये हैं और कई स्थानों पर वे परस्पर विरुद्ध से जान पड़ते हैं। ऊपर के श्लोक के पहले चरण में जो 'विविध' और 'पृथक्' शब्द हैं वे उपनिषदों के इसी संकीर्ण स्वरूप का बोध कराते हैं। इन उपनिषदों के संकीर्ण और परस्परविरुद्ध होने के कारण आचार्य बादरायण ने उनके सिद्धान्तों की एकवाक्यता करने के लिये ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रों की रचना की है। और इन सूत्रों में उपनिषदों के सब विषयों को लेकर प्रमाणसहित – अर्थात् कार्यकारण आदि हेतु दिखला करके – पूर्ण रीति से सिद्ध किया है कि प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में सब उपनिषदों से एक ही सिद्धान्त कैसे निकलता है। अर्थात् उपनिषदों का रहस्य समझने के लिये वेदान्तसूत्रों की सदैव जरूरत पड़ती है। अतः इस श्लोक में दोनों ही का उल्लेख किया गया है। ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय में तीसरे पाद के पहले १६ सूत्रों में क्षेत्र का विचार और फिर उस पाद के अन्त

§§ अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

जो परिणाम होते हैं, उनका वर्णन करके यह बतलाते हैं कि ज्ञान किसको कहते हैं; और आगे ज्ञेय का स्वरूप बतलाया है। ये दोनों विषय दीखने में भिन्न भिन्न पड़ते हैं अवश्य, पर वास्तविक रीति से ये क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार के ही दो भाग हैं। क्योंकि, प्रारम्भ में ही क्षेत्रज्ञ का अर्थ परमेश्वर बतला आये हैं। अतएव क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है और उसी का स्वरूप अगले श्लोकों में वर्णित है – बीच में ही कोई मनमाना विषय नहीं घर घुसेड़ा है।

(७) मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, (८) इन्द्रियों के विषयों में विराग, अहङ्कारहीनता और जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-व्याधि एवं दुःखों को (अपने पीछे लगे हुए) दोष समझना; (९) कर्म में अनासक्ति, बालबच्चों और घरगृहस्थी आदि में लम्पट न होना, इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति से चित्त की सर्वदा एक ही सी वृत्ति रखना, (१०) और मुझमें अनन्यभाव से अटल भक्ति, 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थान में रहना, साधारण लोगों के समाज को पसन्द न करना, (११) अध्यात्मज्ञान को नित्य समझना और तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों का परिशीलन – इनको ज्ञान कहते हैं; इसके व्यतिरिक्त जो कुछ है, वह सब अज्ञान है।

[सांख्यों के मत में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही प्रकृतिपुरुष के विवेक का ज्ञान है; और उसे इसी अध्याय में आगे बतलाया है (१३. १९–२३; १४. १९)। इसी प्रकार अठारहवें अध्याय (१८. २०) में ज्ञान के स्वरूप का यह व्यापक लक्षण बतलाया है – 'अविभक्तं विभक्तेषु'। परन्तु मोक्षशास्त्र में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के ज्ञान का अर्थ बुद्धि से यही जान लेना नहीं होता कि अमुक अमुक बातें अमुक प्रकार की हैं। अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि उस ज्ञान का देह के

§§ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

स्वभाव पर साम्यबुद्धिरूप परिणाम होना चाहिये, अन्यथा वह ज्ञान अपूर्ण या कच्चा है। अतएव यह नहीं बतलाया कि बुद्धि से अमुक अमुक जान लेना ही ज्ञान है; बल्कि, ऊपर पाँच श्लोकों में ज्ञान की इस प्रकार व्याख्या की गई है कि जब उक्त श्लोक में बतलाये हुए बीस गुण (मान और दम्भ का छूट जाना, अहिंसा, अनासक्ति, समबुद्धि इत्यादि) मनुष्य के स्वभाव में दीख पड़ने लगें, तब उसे ज्ञान कहना चाहिये (गीतार. प्र. पृ. ४२ और ८)। इन श्लोकों में विविक्तस्थान में रहना और समाज को नापसन्द करना भी ज्ञान का एक लक्षण कहा है। इससे कुछ लोगों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि गीता को संन्यासमार्ग ही अभीष्ट है। किन्तु हम पहले ही बतला आये हैं (देखो गीता १२. १९ की टिप्पणी और गीतार. प्र. १, पृ. २८७) कि यह मत ठीक नहीं है और ऐसा अर्थ करना उचित भी नहीं है। यहाँ इतना ही विचार किया है कि 'ज्ञान क्या है' और वह ज्ञान बाल-बच्चों में, घर-गृहस्थी में अथवा लोगों के समाज में अनासक्ति है। एवं इस विषय में कोई वाद भी नहीं है। अब अगला प्रश्न यह है कि इस ज्ञान के हो जाने पर इसी अनासक्तबुद्धि से बाल-बच्चों में अथवा संसार में रह कर प्राणिमात्र के हितार्थ जगत् के व्यवहार किये जावें अथवा न किये जावें; और केवल की ज्ञान की व्याख्या से ही इसका निर्णय करना उचित नहीं है। क्योंकि गीता में ही भगवान् ने अनेक स्थलों पर कहा है कि ज्ञानी पुरुष कर्मों में लिप्त न होकर उन्हें अनासक्तबुद्धि से लोकसंग्रह के निमित्त करता रहे और इसकी सिद्धि के लिये जनक के बर्ताव का और अपने व्यवहार का उदाहरण भी दिया है (गीता ३. १९-२५, ४. १४)। समर्थ श्रीरामदास स्वामी के चरित्र से यह बात प्रकट होती है कि बाहर में रहने की आस्था न रहने पर भी जगत् के व्यवहार केवल कर्तव्य समझकर कैसे किये जा सकते हैं! (देखो दासबोध १ ५. २९ और १ ९. ११)। यह ज्ञान का लक्षण हुआ, अब ज्ञेय का स्वरूप बतलाते हैं –]

(१२) (अब तुझे) वह बतलाता हूँ (कि) जिसे जान लेनेसे अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है। (वह) अनादि (सब से) परे का ब्रह्म है। न उसे 'सत्' कहते हैं और न 'असत्' ही। (१३) उसके, सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर आँखें, सिर और मुँह हैं। सब ओर कान हैं और वही इस लोक में सब को व्याप

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

रहा है। (१४) (उसमें) सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है; पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है। वह (सब से) असक्त अर्थात् अलग हो कर भी सब का पालन करता है और निर्गुण होने पर भी गुणों का उपभोग करता है। (१५) (वह) सब भूतों के भीतर और बाहर भी है, अचर है और चर भी है; सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है और दूर होकर भी समीप है। (१६) वह (तत्त्वतः) अविभक्त अर्थात् अखण्डित होकर भी सब भूतों में मानो (नानात्व से) विभक्त हो रहा है; और (सब) भूतों का पालन करनेवाला, ग्रसनेवाला एवं उत्पन्न करनेवाला भी उसे ही समझना चाहिये। (१७) उसे ही तेज का भी तेज और *अन्धकार से परे का* कहते हैं, *ज्ञान जो जानने योग्य है वह (ज्ञेय); और ज्ञानगम्य* ज्ञान से (ही) विदित होनेवाला भी (वही) है। सब के हृदय में वही अधिष्ठित है।

[अचिन्त्य और अक्षर परब्रह्म – जिसे कि क्षेत्रज्ञ अथवा परमात्मा भी कहते हैं – (गीता १३. २२) का जो वर्णन ऊपर है, वह आठवें अध्यायवाले अक्षरब्रह्म के वर्णन के समान (गी. ८. ९–११) उपनिषदों के आधार पर किया गया है। पूरा तेरहवाँ श्लोक (श्वे. ३. १६) और अगले श्लोक का यह अर्धांश कि "सब इन्द्रियों के गुणों का भास होनेवाला तथापि सब इन्द्रियों से विरहित" श्वेताश्वतर उपनिषद् (३. १७) में ज्यों-का-त्यों है। एवं "दूर होने पर भी समीप" ये शब्द ईशावास्य (५) और मुण्डक (३. १. ७) उपनिषदों में पाये जाते हैं। ऐसे ही "तेज का तेज" ये शब्द बृहदारण्यक (४. ४. १६) के हैं; और "अन्धकार से परे का" ये शब्द श्वेताश्वतर (३. ८) के हैं। इसी भाँति यह वर्णन कि "जो न तो सत् कहा जाता है और न असत् कहा जाता है" ऋग्वेद के "नासदासीन्नो सदासीत्" इस ब्रह्मविषयक प्रसिद्ध सूक्त का (ऋ. १०. १२९) लक्ष्य कर किया गया है। सत् और असत् शब्दों के अर्थों का विचार गीतारहस्य प्र. ९, पृ. २४५–२४८ में विस्तारसहित किया गया है; और

§§ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

| क्षेत्र उत्पन्न होता है इसलिये और सांख्य जिसे 'पुरुष' कहते हैं उसे ही अध्यात्म-शास्त्र में 'आत्मा' कहते हैं इसलिये सांख्य की दृष्टि से क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार ही प्रकृतिपुरुष का विवेक होता है। गीताशास्त्र प्रकृति और पुरुष को सांख्य के समान दो स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता। सातवें अध्याय (७. ४, ५) में कहा है कि ये एक ही परमेश्वर के (कनिष्ठ और श्रेष्ठ) दो रूप हैं। परन्तु सांख्यों के द्वैत के बदले गीताशास्त्र के इस द्वैत को एक बार स्वीकार कर लेने पर फिर प्रकृति और के परस्परसम्बन्ध का सांख्यों का ज्ञान गीता को अमान्य नहीं है। और यह भी कह सकते हैं कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के ज्ञान का ही रूपान्तर प्रकृतिपुरुष का विवेक है (देखो गीतार. प्र ७)। इसीलिये अब तक उपनिषदों के आधार से जो क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ज्ञान बतलाया उसे ही अब सांख्यों की परिभाषा में – किन्तु सांख्यों के द्वैत को अस्वीकार करके – प्रकृतिपुरुषविवेक के रूप से बतलाते हैं :–]

(१९) प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि समझ। विकार और गुणों को प्रकृति से ही उपजा हुआ जान।

[सांख्यशास्त्र के मत में प्रकृति और पुरुष दोनों न केवल अनादि हैं प्रस्तुत स्वतन्त्र और स्वयम्भू भी है। वेदान्ती समझते हैं कि प्रकृति परमेश्वर से ही उत्पन्न हुई है अतएव वह स्वयम्भू है और न स्वतन्त्र है (गीता ४. ५, ६)। परन्तु यह नहीं बतलाया जा सकता कि परमेश्वर से प्रकृति कब उत्पन्न हुई? और पुरुष (जीव) परमेश्वर का अंश है। (गीता १५. ७) इस कारण वेदान्तियों को इतना मान्य है कि दोनों अनादि हैं। इस विषय का अधिक विवेचन गीता रहस्य के ७ वें प्रकरण में और विशेषतः पृ. १६२–१६८ में एवं १ वें प्रकरण के पृ. २४–२६ में किया है।]

(२०) कार्य अर्थात् देह के और कारण अर्थात् इन्द्रियों के कर्तृत्व के लिये प्रकृति कारण कही जाती है और (कर्ता न होने पर भी) सुखदुःखों का भोगने के लिये पुरुष (क्षेत्रज्ञ) कारण कहा जाता है।

[इस श्लोक में 'कार्यकरण' के स्थान में 'कार्यकरण' भी पाठ है; और तब उसका यह अर्थ होता है :– आकाश आदि महाभूत और शब्द आदि एक में कुछ, दूसरा में निमित्त इस कार्यकारण क्रम से उत्पन्न कर सारी व्यक्तसृष्टि प्रकृति से बनती है। यह अर्थ भी बेजा नहीं है परन्तु क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के विचार में क्षेत्र की उत्पत्ति

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

§§ उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

कल्पना प्रसङ्गानुसार नहीं है। प्रकृति से जगत् के उत्पन्न होने का वर्णन तो पहले ही सातवें और नौवें अध्याय में हो चुका है। अतएव 'कार्यकरण' पाठ ही यहाँ अधिक प्रशस्त दीख पड़ता है। शांकरभाष्य में यही 'कार्यकरण' पाठ है।]

(२१) क्योंकि पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित हो कर प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है और (प्रकृति के) गुणों का यह संयोग पुरुष को भली-बुरी योनियों में जन्म लेने के लिये कारण होता है।

[प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का और भेद का यह वर्णन सांख्यशास्त्र का है। (देखो गीतार. प्र. ७ पृ. १५८–१६२)। अब यह कह कर – कि वेदान्ती लोग पुरुष को परमात्मा कहते हैं – सांख्य और वेदान्त का मेल कर दिया गया है और ऐसा करने से प्रकृतिपुरुष विचार एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार की पूरी एकवाक्यता हो जाती है।]

(२२) (प्रकृति के गुणों के) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठ कर देखनेवाले अनुमोदन करनेवाले, भर्ता अर्थात् (प्रकृति के गुणों को) भरनेवाले और उपभोग करनेवाले को ही इस देह में परपुरुष, महेश्वर और परमात्मा कहते हैं (२३) इस प्रकार पुरुष (निर्गुण) और प्रकृति को ही जो गुणोंसमेत जानता है वह कैसा ही बर्ताव क्यों न किया करे, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

[२२ वें श्लोक में जब यह निश्चय हो चुका कि पुरुष ही देह में परमात्मा है तब सांख्यशास्त्र के अनुसार पुरुष का जो उदासीनत्व और अकर्तृत्व है वही आत्मा का अकर्तृत्व हो जाता है और इस प्रकार सांख्यों की उपपत्ति से वेदान्त की एकवाक्यता हो जाती है। कुछ वेदान्तवाले ग्रन्थकारों की समझ है कि सांख्य वादी वेदान्त के शत्रु हैं। अतः कितने ही वेदान्ती सांख्य उपपत्ति को सर्वथा त्याज्य मानते हैं। किन्तु गीता ने ऐसा नहीं किया। एक ही विषय क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार का एक बार वेदान्त की दृष्टि से और दूसरी बार (वेदान्त के अद्वैत मत को बिना छोड़े ही) सांख्यदृष्टि से प्रतिपादन किया है। इससे गीताशास्त्र की समबुद्धि प्रकट हो जाती है यह भी कह सकते हैं कि उपनिषदों के और गीता के विवेचन में

§§ ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

§§ यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

यह एक महत्त्व का भेद है (देखो गीतार. परिशिष्ट, पृ. ५२१)। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि सांख्यों का द्वैतवाद गीता को मान्य नहीं है, तथापि उनके प्रतिपादन में जो कुछ युक्तिसंगत जान पड़ता है वह गीता को अमान्य नहीं है। दूसरे ही श्लोक में कह दिया है, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है। अब प्रसङ्ग के अनुसार संक्षेप से पिण्ड का ज्ञान और देह के परमेश्वर का ज्ञान सम्पादन कर मोक्ष प्राप्त करने के मार्ग बतलाते हैं —]

(२४) कुछ लोग स्वयं अपने आप में ही ध्यान से आत्मा को देखते हैं। कोई सांख्ययोग से देखते हैं; और कोई कर्मयोग से। (२५) परन्तु इस प्रकार जिन्हें (अपने आप ही) ज्ञान नहीं होता, वे दूसरों से सुन कर (श्रद्धा से) परमेश्वर का भजन करते हैं। सुनी हुई बात को प्रमाण मान कर बर्तनेवाले ये पुरुष भी मृत्यु को पार कर जाते हैं।

[इन दो श्लोकों में पातञ्जलयोग के अनुसार ध्यान, सांख्यमार्ग के अनुसार ज्ञानोत्तर कर्मसंन्यास, कर्मयोगमार्ग के अनुसार निष्कामबुद्धि से परमेश्वरार्पणपूर्वक कर्म करना और ज्ञान न हो तो भी श्रद्धा से आप्तों के वचनों पर विश्वास रख कर परमेश्वर की भक्ति करना (गीता ४. ३९), ये आत्मज्ञान के भिन्न भिन्न मार्ग बतलाये गये हैं। कोई किसी भी मार्ग से जावें, अन्त में उसे भगवान् का ज्ञान हो कर मोक्ष मिल ही जाता है। तथापि पहले यह सिद्धान्त किया गया है कि लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्मयोग श्रेष्ठ है, वह इससे खण्डित नहीं होता। इस प्रकार साधन बतला कर सामान्य रीति से समग्र विषय का अगले श्लोक में उपसंहार किया है; और उसमें भी वेदान्त से कापिलसांख्य का मेल मिला दिया है।]

(२६) हे भरतश्रेष्ठ! स्मरण रख कि स्थावर या जङ्गम किसी भी वस्तु का निर्माण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से होता है। (२७) सब भूतों में एक सा रहनेवाला और सब भूतों का नाश हो जाने पर भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को जिसने देख लिया, कहना होगा कि उसीने (सच्चे तत्त्व को) पहचाना

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

§§ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

§§ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

(२८) ईश्वर को सर्वत्र एक-सा व्याप्त समझ कर (जो पुरुष) अपने आप ही घात नहीं करता – अर्थात् अपने आप अच्छे मार्ग में लग जाता है – वह इस कारण से उत्तम गति पाता है।

[२७ वें श्लोक में परमेश्वर का जो लक्षण बतलाया है, वह पीछे गीता (८. ९) के श्लोक में आ चुका है और उसका खुलासा गीतारहस्य के नौवें प्रकरण में किया गया है (देखो गीतार. प्र. पृ. २११ और ९६७)। ऐसे ही २८ वें श्लोक में फिर वही बात कही है, जो पीछे (गीता ६. ५–७) कही जा चुकी है कि आत्मा अपना बन्धु है और वही अपना शत्रु है। इस प्रकार २६, २७ और २८ वें श्लोकों में सब प्राणियों के विषय साम्यबुद्धिरूप भाव का वर्णन कर, अब बतलाते हैं कि इसके जान लेने से क्या होता है?]

(२९) जिसने यह जान लिया कि (सब) कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति से ही किये जाते हैं और आत्मा अकर्ता है – अर्थात् कुछ भी नहीं करता। कहना चाहिये कि उसने (सच्चे तत्त्व को) पहचान लिया। (३०) जब सब भूतों का पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकता से (दीखने लगे) और इसी (एकता) से ही (सब) विस्तार दीखने लगे, तब ब्रह्म प्राप्त होता है।

[अब बतलाते हैं कि आत्मा निर्गुण, अलिप्त और अक्रिय कैसे है? –]

(३१) हे कौन्तेय! अनादि और निर्गुण होने के कारण यह अव्यय परमात्मा शरीर में रह कर भी कुछ करता धरता नहीं है और उसे (किसी भी कर्म का) लेप अर्थात् बन्धन नहीं लगता। (३२) जैसे आकाश चारों ओर भरा हुआ है, परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उसे (किसी का भी) लेप नहीं लगता, वैसे ही देह में

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

§§ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

सर्वत्र रहने पर भी आत्मा को (किसी का भी) लेप नहीं लगता। (३३) हे भारत! जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र को अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता है।

(३४) इस प्रकार ज्ञानचक्षु से अर्थात् ज्ञानरूप नेत्र से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को – एवं सब भूतों की (मूल) प्रकृति के मोक्ष को – जो जानते हैं, वे परब्रह्म को पाते हैं।

[यह पूरे प्रकरण का उपसंहार है। 'भूतप्रकृतिमोक्ष' शब्द का अर्थ हमने सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तानुसार किया है। सांख्यों का सिद्धान्त है कि मोक्ष का मिलना या न मिलना आत्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं। क्योंकि वह तो सदैव अकर्ता और असंग है। परन्तु प्रकृति के गुणों के संग से वह अपने में कर्तृत्व का आरोप किया करता है। इसलिये जब उसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है तब उसके साथ लगी हुई प्रकृति छूट जाती है – अर्थात् उसी का मोक्ष हो जाता है – और इसके पश्चात् उसका पुरुष के आगे नाचना बन्द हो जाता है। अतएव सांख्यमतवाले प्रतिपादन किया करते हैं कि तात्त्विक दृष्टि से बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थाएँ प्रकृति की ही हैं (देखो सांख्यकारिका ६२ और गीतारहस्य प्र. ७ पृ. १६४–१६६)। हमें जान पड़ता है कि सांख्य के ऊपर लिखे हुए सिद्धान्त के अनुसार ही इस श्लोक में प्रकृति का मोक्ष शब्द आये हैं। परन्तु कुछ लोग इन शब्दों का यह अर्थ भी करते हैं 'भूतेभ्यः प्रकृतेश्च मोक्षः' – पंचमहाभूत और प्रकृति से अर्थात् मायात्मक कर्मों से आत्मा का मोक्ष होता है। यह क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेक ज्ञानचक्षु से विदित होनेवाला है (गीता १५. १०)। नौवें अध्याय की राजविद्या प्रत्यक्ष अर्थात् चर्मचक्षु से ज्ञात होनेवाली है (गीता ९. २) और विश्वरूपदर्शन परम भगवद्भक्त को भी केवल दिव्यचक्षु से ही होनेवाला है (गीता ११. ८)। नौवें, ग्यारहवें और तेरहवें अध्याय के ज्ञानविज्ञान निरूपण का यह भेद ध्यान देने योग्य है।]

चतुर्दशोऽध्याय ।

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में प्रकृतिपुरुषविवेक अर्थात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

चौदहवाँ अध्याय

[तेरहवे अध्याय में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार एक बार वेदान्त की दृष्टि से और दूसरी बार सांख्य की दृष्टि से बतलाया है। एवं उसी में प्रतिपादन किया है कि सब कर्तृत्व प्रकृति का ही है पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ उदासीन रहता है। परन्तु इस बात का विवेचन अब तक नहीं हुआ, कि प्रकृति का यह कर्तृत्व क्यों कर चला करता है ? अतएव इस अध्याय में बतलाते हैं कि एक ही प्रकृति से विविध सृष्टि – विशेषतः सजीव सृष्टि – कैसे उत्पन्न होती है ? केवल मानवी सृष्टि का ही विचार करें, तो यह विषय क्षेत्रसम्बन्धी अर्थात् शरीर का होता है और उसका समावेश क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार में हो सकता है। परन्तु जब स्थावर सृष्टि भी त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही फैलाव है तब प्रकृति के गुणभेद का यह विवेचन क्षर अक्षर-विचार का भी हो सकता है। अत एव इस संकुचित 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार' नाम को छोड़ कर सातवें अध्याय में जिस ज्ञानविज्ञान के बतलाने का आरम्भ किया था उसी को स्पष्ट रीति से फिर भी बतलाने का आरम्भ भगवान् ने इस अध्याय में किया है। सांख्यशास्त्र की दृष्टि से इस विषय का विस्तृत निरूपण गीतारहस्य के आठवें प्रकरण में किया गया है। त्रिगुण के विस्तार का यह वर्णन अनुगीता और मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में भी है।]

श्रीभगवान ने कहा – (१) और फिर सब ज्ञानों से उत्तम ज्ञान बतलाता हूँ, कि जिसको जान कर सब मुनि लोग इस लोक से परम सिद्धि पा गये हैं। (२) इस ज्ञान का आश्रय करके मुझसे एकरूपता पाये हुए लोग सृष्टि के उत्पत्तिकाल में

§§ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

§§ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

भी नहीं जन्मते और प्रलयकाल में भी व्यथा नहीं पाते अर्थात् जन्ममरण से एकदम छुटकारा पा जाते हैं।

[यह हुई प्रस्तावना। अब पहले बतलाते हैं कि प्रकृति मेरा ही स्वरूप है। फिर सांख्यों के द्वैत को अलग कर वेदान्तशास्त्र के अनुकूल यह निरूपण करते हैं कि प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से सृष्टि के नाना प्रकार के व्यक्त पदार्थ किस प्रकार निर्मित होते हैं।]

(३) हे भारत! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी ही योनि है। मैं उसमें गर्भ रखता हूँ। फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होने लगते हैं। (४) हे कौन्तेय! (पशुपक्षी आदि) सब योनियों में जो मूर्तियाँ जन्मती हैं, उनकी योनि महत् ब्रह्म है और मैं बीजदाता पिता हूँ।

(५) हे महाबाहु! प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम गुण देह में रहनेवाले अव्यय अर्थात् निर्विकार आत्मा को देह में बाँध लेते हैं। (६) हे निष्पाप अर्जुन! इन गुणों में निर्मलता के कारण प्रकाश डालनेवाला और निर्दोष सत्त्वगुण सुख और ज्ञान के साथ (प्राणी को) बाँधता है। (७) रजोगुण का स्वभाव रागात्मक है। इससे तृष्णा और आसक्ति की उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय! वह प्राणी को कर्म करने के (प्रवृत्तिरूप) संग से बाँध डालता है। (८) किन्तु तमोगुण अज्ञान से उपजता है। यह सब प्राणियों को मोह में डालता है। हे भारत! वह

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

§§ रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

प्रमाद, आलस्य और निद्रा से (प्राणी को) बाँध देता है। (९) सत्त्वगुण सुख में और रजोगुण कर्म में आसक्ति उत्पन्न करता है। परन्तु हे भारत! तमोगुण ज्ञान को ढँक कर प्रमाद अर्थात् कर्तव्यमूढ़ता में या कर्तव्य के विस्मरण में आसक्ति उत्पन्न करता है।

[सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के ये पृथक् लक्षण बतलाये गये हैं। किन्तु ये गुण पृथक् पृथक् कभी भी नहीं रहते। तीनों सदैव एकत्र रहा करते हैं। उदाहरणार्थ – कोई भी भला काम करना यद्यपि सत्त्व का लक्षण है तथापि भले काम को करने की प्रवृत्ति होना रज का धर्म है। इस कारण सात्त्विक स्वभाव में भी थोड़ा-से रज का मिश्रण सदैव रहता ही है। इसी से अनुगीता में इन गुणों का इस प्रकार मिथुनात्मक वर्णन है कि तम का जोड़ा सत्त्व है, और सत्त्व का जोड़ा रज है (म. भा. अश्व. ३९)। और कहा है कि इनके अन्योन्य अर्थात् पारस्परिक आश्रय से अथवा झगड़े से सृष्टि के सब पदार्थ बनते हैं (देखो सां. का. १२ और गीतार. प्र. ७ पृ. १५८ और १५९)। अब पहले इसी तत्त्व को बतला कर फिर सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव के लक्षण बतलाते हैं –]

(१०) रज और तम को दबा कर सत्त्व (अधिक) होता है (तब उसे सात्त्विक कहना चाहिये)। एवं इसी प्रकार सत्त्व और तम को दबा कर रज तथा सत्त्व और रज को दबा कर तम (अधिक हुआ करता है)। (११) जब इस देह के सब द्वारों में (इन्द्रियों में) प्रकाश अर्थात् निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता है, तब समझना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। (१२) हे भरतश्रेष्ठ! रजोगुण बढ़ने से लोभ, कर्म की ओर प्रवृत्ति और उसका आरम्भ, अतृप्ति एवं इच्छा उत्पन्न होती है। (१३) और हे कुरुनन्दन! तमोगुण की वृद्धि होने पर अँधेरा, कुछ भी न करने की इच्छा, प्रमाद अर्थात् कर्तव्य की विस्मृति और मोह भी उत्पन्न होता है।

§§ यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

[यह बतला दिया कि मनुष्य की जीवितावस्था में त्रिगुणों के कारण उसके स्वभाव में कौन कौन-से फर्क पड़ते हैं। अब बतलाते हैं कि इन तीन प्रकार के मनुष्यों को कौन-सी गति मिलती है।]

(१४) सत्त्वगुण के उत्कर्षकाल में यदि प्राणी मर जावे तो उत्तम तत्त्व जाननेवालों के – अर्थात् देवता आदि के – निर्मल (स्वर्ग प्रभृति) लोक उस को प्राप्त होते हैं। (१५) रजोगुण की प्रबलता में मरे, तो जो कर्मों में आसक्त हों उनमें (जनों में) जन्म लेता है; और तमोगुण में मरे, तो (पशुपक्षी आदि) मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है। (१६) कहा है कि पुण्यकर्म का फल निर्मल और सात्त्विक होता है। परन्तु राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान होता है। (१७) सत्त्व से ज्ञान और रजोगुण से केवल लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुण से न केवल प्रमाद और मोह ही उपजता है, प्रत्युत अज्ञान की भी उत्पत्ति होती है। (१८) सात्त्विक पुरुष ऊपर के – अर्थात् स्वर्ग आदि लोकों को जाते हैं। राजस मध्यम लोक में अर्थात् मनुष्यलोक में रहते हैं; और कनिष्ठगुणवृत्ति के तामस अधोगति पाते हैं।

[सांख्यकारिका में भी यह वर्णन है कि धार्मिक और पुण्यकर्मकर्ता होने के कारण सत्त्वस्थ मनुष्य स्वर्ग पाता है; और अधर्माचरण करके तामस पुरुष अधोगति पाता है (सां. का. ४४)। इसी प्रकार यह १८ वाँ श्लोक अनुगीता के त्रिगुणवर्णन में भी ज्यों-का-त्यों आया है (देखो म. भा. अश्व. ३९. १० और मनु. १२. ४०)। सात्त्विक कर्मों से स्वर्गप्राप्ति हो भले जावे; पर स्वर्गसुख है तो अनित्य ही, इस कारण परम पुरुषार्थ की सिद्धि इससे नहीं होती है। अतः गीता का सिद्धान्त है कि इस परम पुरुषार्थ या मोक्ष की प्राप्ति के लिये उत्तम

§§ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ २०॥

अर्जुन उवाच।

§§ कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते॥ २१॥

सात्त्विक स्थिति तो रहे ही; इसके सिवा यह ज्ञान होना भी आवश्यक है कि प्रकृति अलग है और मैं (पुरुष) अलग हूँ। सांख्य इसी को त्रिगुणातीत अवस्था कहते हैं। यद्यपि यह स्थिति सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से भी परे की है, तो भी यह सात्त्विक अवस्था की ही पराकाष्ठा है, इस कारण इसका समावेश सामान्यतः सात्त्विक वर्ग में ही किया जाता है। इसके लिये एक नया चौथा वर्ग बनाने की आवश्यकता नहीं है (देखो गीतार. प्र. ७ पृ. १६८)। परन्तु गीता को यह प्रकृतिपुरुषवाला सांख्यों का द्वैत मान्य नहीं है। इसलिये सांख्यों के उक्त सिद्धान्त का गीता में इस प्रकार रूपान्तर हो जाता है कि जो निर्गुण ब्रह्म को पहचान लेता है उसे त्रिगुणातीत कहना चाहिये। यही अर्थ अगले श्लोकों में वर्णित है –]

(१९) द्रष्टा अर्थात् उदासीनता से देखनेवाला पुरुष जब जान लेता है कि (प्रकृति के) गुणों के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है; और जब (तीनों) गुणों से परे (तत्त्व को) पहचान जाता है, तब वह मेरे स्वरूप में मिल जाता है। (२०) देहधारी मनुष्य देह की उत्पत्ति के कारण (स्वरूप) इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से विमुक्त होता हुआ अमृत का – अर्थात् मोक्ष का – अनुभव करता है।

[वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, उसी को सांख्यमतवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं। इसलिये त्रिगुणातीत होना ही माया से छूट कर परब्रह्म को पहचान लेना है (गीता २. ४५) और इसी को ब्राह्मी अवस्था कहते हैं (गीता २. ७२; १८. ५३)। अध्यात्मशास्त्र में बतलाये हुए त्रिगुणातीत के इस लक्षण को सुन कर उसका और अधिक वृत्तान्त जानने की अर्जुन को इच्छा हुई। और द्वितीय अध्याय (२. ५४) में जैसा उसने स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में प्रश्न किया था वैसा ही यहाँ भी वह पूछता है –]

अर्जुन ने कहा :– (२१) हे प्रभो! किन लक्षणों से (जाना जाय कि वह)

श्रीभगवानुवाच ।

§§ प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

इन तीनों गुणों के पार पहुँचा जाता है ? (मुझे बतलाइये कि) उसका (त्रिगुणातीत का) आचार क्या है ? और वह इन तीन गुणों के परे कैसे जाता है ?

श्रीभगवान् ने कहा :- (२२) हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (अर्थात् क्रम से सत्त्व, रज और तम इन गुणों के कार्य अथवा फल) होने से जो उनका द्वेष नहीं करता और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा नहीं रखता; (२३) जो (कर्मफल के सम्बन्ध में) उदासीन-सा रहता है; (सत्त्व, रज और तम) गुण जिसे चलविचल नहीं कर सकते; जो इतना ही मान कर स्थिर रहता है कि गुण (अपना अपना) काम करते हैं; जो डिगता नहीं है - अर्थात् विकार नहीं पाता है; (२४) जिसे सुखदुःख एक-से ही हैं; जो स्वस्थ है - अर्थात् अपने में ही स्थिर है; मिट्टी, पत्थर और सोना जिसे समान हैं; प्रिय-अप्रिय, निन्दा और अपनी स्तुति जिसे समसमान है; जो सदा धैर्य से युक्त है; (२५) जिसे मानअपमान या मित्र और शत्रुपक्ष तुल्य हैं - अर्थात् एक-से हैं; और (इस समझ से कि प्रकृति सब कुछ करती है) जिसके सब (काम्य) उद्योग छूट गये हैं - उस पुरुष को गुणातीत कहते हैं ।

[यह इन दो प्रश्नों का उत्तर हुआ - त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण क्या हैं ? और आचार कैसा होता है ? ये लक्षण और दूसरे अध्याय में बतलाये हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षण (२. ५५-७२) एवं बारहवें अध्याय (१२. १३-२०) में बतलाये हुए भक्तिमान् पुरुष के लक्षण सब एक-से ही हैं । अधिक क्या कहें ? 'सर्वारम्भपरित्यागी', 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' और 'उदासीनः' प्रभृति कुछ विशेषण भी दोनों या तीनों स्थानों में एक ही हैं । इससे प्रकट होता है कि पिछले अध्याय में बतलाये हुए (१३. २४, २५) चार मार्गों में से किसी भी मार्ग के स्वीकार कर लेने पर सिद्धिप्राप्त पुरुष का आचार और उसके लक्षण सब मार्गों में एक ही

२६ मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

से रहते हैं। तथापि तथापि तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में जब यह दृढ़ और अटल सिद्धान्त किया है कि निष्काम कर्म किसी से भी नहीं छूट सकते तब स्मरण रखना चाहिये कि ये स्थितप्रज्ञ भगवद्भक्त या त्रिगुणातीत सभी कर्मयोग-मार्ग के हैं। 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ १२ वें अध्याय के १९ वें श्लोक की टिप्पणी में बतला आये हैं। सिद्धावस्था में पहुँचे हुए पुरुषों के इन वर्णनों को स्वतन्त्र मान कर संन्यासमार्ग के टीकाकार अपने ही सम्प्रदाय को गीता में प्रतिपाद्य बतलाते हैं। परन्तु यह अर्थ पूर्वापार सन्दर्भ के विरुद्ध है अतएव ठीक नहीं है। गीतारहस्य के ११ वें और १२ वें प्रकरण में (पृ. ३२६–३२७ और ३७६–३७७) इस बात का हमने विस्तारपूर्वक प्रतिपादन कर दिया है। अर्जुन के नाना प्रश्नों के उत्तर हो चुके। अब यह बतलाते हैं कि ये पुरुष इन तीन गुणों से परे कैसे जाते हैं?]

(२६) और (मुझ ही को सब कर्म अर्पण करने के) अव्यभिचार अर्थात् एकनिष्ठ भक्तियोग से मेरी सेवा करता है वह इन तीन गुणों को पार करके ब्रह्मभूत अवस्था पा लेने में समर्थ हो जाता है।

[सम्भव है इस श्लोक से यह शङ्का हो, कि जब त्रिगुणातीत अवस्था सांख्यमार्ग की है तब वही अवस्था कर्मप्रधान भक्तियोग से कैसे प्राप्त हो जाती है? इसी से भगवान् कहते हैं –]

(२७) क्योंकि अमृत और अव्यय ब्रह्म का शाश्वत धर्म का एवं एकान्तिक अर्थात् परमावधि के अत्यन्त सुख का अन्तिम स्थान मैं हूँ।

[इस श्लोक का भावार्थ यह है कि सांख्यों के द्वैत को छोड़ देने पर सर्वत्र एक ही परमेश्वर रह जाता है। इस कारण उसी की भक्ति से त्रिगुणात्मक अवस्था भी प्राप्त होती है। और एक ही ईश्वर मान लेने से साधनों के सम्बन्ध में गीता का कोई भी आग्रह नहीं है (देखो गी. १३. २४ और २५)। गीता में भक्तिमार्ग को सुगम अतएव सब लोगों के लिये ग्राह्य कहा गया है; पर यह कहीं भी नहीं कहा है कि अन्यान्य मार्ग त्याज्य हैं। गीता में केवल भक्ति, केवल ज्ञान

| अथवा केवल योग ही प्रतिपाद्य है – ये मत भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के अभिमानियों ने पीछे से गीता पर मढ़ दिये हैं। गीता का सच्चा प्रतिपाद्य विषय तो निराला ही है। मार्ग कोई भी हो; गीता में मुख्य प्रश्न यही है कि परमेश्वर का ज्ञान हो चुकने पर संसार के कर्म लोकसंग्रहार्थ किये जावें या छोड़ दिये जावें? और इसका साफ साफ उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि कर्मयोग श्रेष्ठ है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

[क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के विचार के सिलसिले में तेरहवें अध्याय में उसी क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार के सदृश सांख्यों के प्रकृतिपुरुष का विवेक बतलाया है। चौदहवें अध्याय में यह कहा है कि प्रकृति के तीन गुणों से मनुष्य मनुष्य में स्वभावभेद कैसे उत्पन्न होता है। और उससे सात्त्विक आदि गतिभेद क्योंकर होते हैं? फिर यह विवेचन किया है कि त्रिगुणातीत अवस्था अध्यात्मदृष्टि से ब्राह्मी स्थिति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त की जाती है। यह सब निरूपण सांख्यों की परिभाषा में है अवश्य परन्तु सांख्यों के द्वैत को स्वीकार न करते हुए किसी एक ही परमेश्वर की विभूति प्रकृति और पुरुष दोनों हैं उस परमेश्वर का ज्ञानविज्ञानदृष्टि से निरूपण किया गया है। परमेश्वर के स्वरूप के इस वर्णन के अतिरिक्त आठवें अध्याय में अधियज्ञ अध्यात्म और अधिदैवत आदि भेद दिखलाया जा चुका है। और, यह पहिले ही कह आये हैं, कि सब स्थानों में एक ही परमात्मा व्याप्त है। एवं क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ भी वही है। अब इस अध्याय में पहले यह बतलाते हैं कि परमेश्वर की ही रची हुई सृष्टि के विस्तार का अथवा परमेश्वर के नामरूपात्मक विस्तार का ही कभी कभी वृक्षरूप से या वनरूप से जो वर्णन पाया जाता है उसका बीज क्या है? फिर परमेश्वर के सभी रूपों में श्रेष्ठ पुरुषोत्तमस्वरूप का वर्णन किया है।]

पञ्चदशोऽध्याय ।

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा – (१) जिस अश्वत्थ वृक्ष का ऐसा वर्णन करते हैं कि

जड़ (एक) ऊपर है और शाखाएँ (अनेक) नीचे हैं (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नहीं पाता (एवं) छन्दांसि अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं उसे (वृक्ष को) जिसने जान लिया वह पुरुष सच्चा वेदवेत्ता है।

[उक्त वर्णन ब्रह्मवृक्ष का अर्थात् संसारवृक्ष का है। इस संसार को ही सांख्यमतवादी 'प्रकृति का विस्तार' और वेदान्ती 'भगवान् की माया का पसारा' कहते हैं। एवं अनुगीता में इसे ही 'ब्रह्मवृक्ष या ब्रह्मवन' (ब्रह्मारण्य) कहा है (देखो म. भा. अश्व. ३५ और ४७)। एक बिलकुल छोटे-से बीज से जिस प्रकार बड़ा भारी गगनचुम्बी वृक्ष निर्माण हो जाता है उसी प्रकार एक अव्यक्त परमेश्वर से दृश्यसृष्टिरूप महान् वृक्ष उत्पन्न हुआ है। यह कल्पना अथवा रूपक न केवल वैदिक धर्म में ही है प्रत्युत अन्य प्राचीन धर्मों में भी पाया जाता है। यूरोप की पुरानी भाषाओं में इसके नाम 'विश्ववृक्ष' या 'जगद्वृक्ष' हैं। ऋग्वेद (१. २४. ७) में वर्णन है कि वरुणलोक में एक ऐसा वृक्ष है कि जिसकी किरणों की जड़ ऊपर (ऊर्ध्व) है और उसकी किरणें ऊपर से नीचे (निचीनाः) फैलती हैं। विष्णुसहस्रनाम में 'वारुणो वृक्षः' (वरुण का वृक्ष) को परमेश्वर के हजार नामों में से ही एक नाम कहा है। यम और पितर जिस 'सुपलाश वृक्ष' के नीचे बैठ कर सहपान करते हैं (ऋ. १०. १३५. १) अथवा जिसके अग्रभाग में स्वादिष्ट पीपल है और जिस पर दो सुपर्ण अर्थात् पक्षी रहते हैं (ऋ. १. १६४. २२) या जिस पिप्पल (पीपल) को वायुदेवता (मरुद्गण) हिलाते हैं (ऋ. ५. ५४. १२) वह वृक्ष भी यही है। अथर्ववेद में जो यह वर्णन है कि 'देवसदन अश्वत्थ वृक्ष तीसरे स्वर्गलोक में (वरुणलोक में) है' (अथर्व. ५. ४. ३ और १९. ३९. ६) वह भी इसी वृक्ष के सम्बन्ध में जान पड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ८. १२. २) में अश्वत्थ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है :— पितृयानकाल में अग्नि अथवा यज्ञप्रजापति देवलोक से नष्ट हो कर इस वृक्ष में अश्व (घोड़े) का रूप धर कर एक वर्ष तक छिपा रहा था। इसी से इस वृक्ष का अश्वत्थ नाम हो गया (देखो म. भा. अनु. ८५)। कई एक नैरुक्तिकों का यह भी मत है कि पितृयान की लम्बी रात्रि में सूर्य के घोड़े यमलोक में इस वृक्ष के नीचे विश्राम किया करते हैं। इसलिये इसको अश्वत्थ (अर्थात् घोड़े का स्थान) नाम प्राप्त हुआ होगा। 'अ' = नहीं 'श्व' = कल 'त्थ' = स्थिर — यह आध्यात्मिक निरुक्ति पीछे की कल्पना है। नामरूपात्मक माया का स्वरूप जब कि विनाशवान् अथवा हरघड़ी में पलटनेवाला है तब उसको 'कल तक न रहनेवाला' तो कह सकेंगे परन्तु 'अव्यय' — अर्थात् जिसका कभी भी व्यय नहीं होता — विशेषण स्पष्ट

कर देता है, कि यह अर्थ यहाँ अभिमत नहीं है। पहले पीपल के वृक्ष को ही अश्वत्थ कहते थे। कठोपनिषद् (६. १) में जो यह ब्रह्ममय अमृत अश्वत्थवृक्ष कहा गया है :–

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥

वह भी यही है और 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं' इस पदसादृश्य से ही व्यक्त होता है कि भगवद्गीता का वर्णन कठोपनिषद् के वर्णन से ही लिया गया है। परमेश्वर स्वर्ग में है और उससे उपजा हुआ जगद्वृक्ष नीचे अर्थात् मनुष्यलोक में है। अतः वर्णन किया गया है कि इस वृक्ष का मूल (अर्थात् परमेश्वर) ऊपर है और इसकी अनेक शाखाएँ (अर्थात् जगत् का फैलाव) नीचे विस्तृत हैं। परन्तु प्राचीन धर्मग्रन्थों में एक और कल्पना पाई जाती है कि यह संसारवृक्ष वटवृक्ष होगा न कि पीपल। क्योंकि वड़ के पेड़ के पाये ऊपर से नीचे को उलटे आते हैं। उदाहरण के लिये यह वर्णन है कि अश्वत्थवृक्ष आदित्य का वृक्ष है और "न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः" – न्यग्रोधो अर्थात् नीचे (न्यक्) महाभारत में लिखा है कि मार्कण्डेय ऋषि ने प्रलयकाल में बालरूपी परमेश्वर को एक (उस प्रलयकाल में भी नष्ट न होनेवाले, अतएव) अव्यय न्यग्रोध अर्थात् वड़ के पेड़ की टहनी पर देखा था। (म. भा. वन. १८८. ९१)। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में यह दिखलाने के लिये – कि अव्यक्त परमेश्वर से अपार दृश्य जगत् कैसे निर्माण होता है – जो दृष्टान्त दिया है वह भी न्यग्रोध के ही बीज का है (छां. ६. १२. १)। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी विश्ववृक्ष का वर्णन है (श्वे. ६. ६); परन्तु वहाँ खुलासा नहीं बतलाया कि यह कौन-सा वृक्ष है। मुण्डक उपनिषद् (३-१) में ऋग्वेद का ही यह वर्णन ले लिया है कि वृक्ष पर दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हुए हैं जिनमें एक पिप्पल अर्थात् पीपल के फलों को खाता है। पीपल और वड़ को छोड़ इस संसारवृक्ष के स्वरूप की तीसरी कल्पना औदुम्बर की है एवं पुराणों में यह दत्तात्रेय का वृक्ष माना गया है। सारांश, प्राचीन ग्रन्थों में ये तीनों कल्पनाएँ हैं कि परमेश्वर की माया से उत्पन्न हुआ जगत् एक बड़ा पीपल, वड़ या गूलर है; और इसी कारण से विष्णुसहस्रनाम में विष्णु के ये तीन वृक्षात्मक नाम दिये हैं :– "न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थः" (म. भा. अनु. १४९. १०१) एवं समाज में ये तीनों वृक्ष देवात्मक और पूजने योग्य माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम और गीता दोनों ही महाभारत के भाग हैं जब कि विष्णुसहस्रनाम में गूलर, बरगद (न्यग्रोध) और अश्वत्थ ये तीन पृथक् नाम दिये गये हैं तब गीता में 'अश्वत्थ' शब्द का पीपल ही (गूलर या बरगद नहीं) अर्थ लेना चाहिये और मूल का अर्थ भी वही है। "छन्दांसि" अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं इस वाक्य के

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

['छन्दांसि' शब्द में छद् = ढँकना धातु मान कर (छान्दो. १. ४. २) वृक्ष को ढँकनेवाले पत्तों से वेदों की समता वर्णित है और अन्त में कहा है कि जब यह सम्पूर्ण वैदिक परम्परा के अनुसार है, तब इसे जिसने जान लिया, उसे वेदवेत्ता कहना चाहिये। इस प्रकार वैदिक वर्णन हो चुका। अब इसी वृक्ष का दूसरे प्रकार से – अर्थात् सांख्यशास्त्र के अनुसार – वर्णन करते हैं :–]

(२) नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएँ फैली हुई हैं कि जो (सत्त्व आदि तीनों) गुणों से पली हुई हैं, और जिनसे (शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्धरूपी) विषयों के अङ्कुर फूटे हुए हैं; एवं अन्त में कर्म का रूप पानेवाली उसकी जड़ नीचे मनुष्यलोक में गहरी चली गई है।

[गीतारहस्य के आठवें प्रकरण (पृ. १८) में विस्तारसहित निरूपण कर दिया है कि सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष ये ही दो मूलतत्त्व हैं और जब पुरुष के आगे त्रिगुणात्मक प्रकृति अपना ताना-बाना फैलाने लगती है तब महत् आदि तेइस तत्त्व उत्पन्न होते हैं और उनसे यह ब्रह्माण्ड रूप बन जाता है। परन्तु वेदान्तशास्त्र की दृष्टि से प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। वह परमेश्वर का ही एक अंश है। अतः त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस फैलाव को स्वतन्त्र वृक्ष न मान कर यह सिद्धान्त किया है कि ये शाखाएँ 'ऊर्ध्वमूल' पीपल की ही हैं। अब इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ निराले स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है कि पहले श्लोक में वर्णित वैदिक अश्वत्थ वृक्ष की त्रिगुणों से पली हुई शाखाएँ न केवल 'नीचे' ही प्रत्युत 'ऊपर' भी फैली हुई हैं और इसमें कर्मविपाकप्रक्रिया का धागा भी अन्त में पिरो दिया है। अनुगीतावाले ब्रह्मवृक्ष के वर्णन में केवल सांख्यशास्त्र के चौबीस तत्त्वों का ही ब्रह्मवृक्ष बतलाया गया है :– उसमें इस वृक्ष के वैदिक और सांख्य वर्णनों का मेल नहीं मिलाया गया है (देखो म. भा. अश्व. ३५. २२, २३ और गीतार. प्र. ८ पृ. १८)। परन्तु गीता में ऐसा नहीं किया। रहस्यप्रतिरूप वृक्ष के नाते से वेदों में पाये जानेवाले परमेश्वर के वर्णन का और सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति के विस्तार या ब्रह्माण्डवृक्ष के वर्णन का इन दो श्लोकों में मेल कर दिया है। मोक्षप्राप्ति के लिये त्रिगुणात्मक और ऊर्ध्वमूल वृक्ष के इस फैलाव से मुक्त हो जाना चाहिये। परन्तु यह वृक्ष इतना बड़ा है कि इसके ओर-छोर का पता ही नहीं चलता। अतएव अब बतलाते हैं कि इस अपार वृक्ष का नाश करके मूल में वर्तमान अमृततत्त्व को पहचानने का कौन-सा मार्ग है?]

§§ न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

(३) परन्तु इस लोक में (जैसा कि ऊपर वर्णन किया है) वैसा उसका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता अथवा अन्त आदि और आधारस्थान भी नहीं मिलता। अत्यन्त गहरी जड़ोंवाले इस अश्वत्थ (वृक्ष) को अनासक्तिरूप सुदृढ तलवार से काट कर (४) फिर उस स्थान को ढूँढ निकालना चाहिये कि जहाँ से फिर लौटना नहीं पड़ता और यह संकल्प करना चाहिये कि (सृष्टिक्रम की यह) पुरातन प्रवृत्ति जिससे उत्पन्न हुई है उसी आद्य पुरुष की ओर मैं जाता हूँ।

[गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में विवेचन किया है कि सृष्टि का फैलाव ही नामरूपात्मक कर्म है और यह कर्म अनादि है। आसक्तबुद्धि छोड़ देने से इसका क्षय हो जाता है; और किसी भी उपाय से इसका क्षय नहीं होता। क्योंकि यह स्वरूपतः अनादि और अव्यय है (देखो गीतारहस्य प्र. १० पृ. २८७–२९१)। तीसरे श्लोक के "उसका स्वरूप या आदि-अन्त नहीं मिलता" इन शब्दों से यही सिद्धान्त व्यक्त किया गया है कि कर्म अनादि है; और आगे चल कर इस कर्मवृक्ष का क्षय करने के लिये एक अनासक्ति ही को साधन बतलाया है। ऐसे ही उपासना करते समय जो भावना मन में रहती है उसी के अनुसार आगे फल मिलता है (गीता ८. ६)। अतएव चौथे श्लोक में स्पष्ट कर दिया है कि वृक्ष-छेदन की यह क्रिया होते समय मन में कैसी भावना रहनी चाहिये। शांकरभाष्य में "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये" पाठ है। इससे वर्तमानकाल प्रथम पुरुष के एकवचन का 'प्रपद्ये' क्रियापद है जिससे यह अर्थ करना पड़ता है; और इसमें 'इति' सरीखे किसी न किसी पद का अध्याहार भी करना पड़ता है। इस कठिनाई को टालने के लिये रामानुजभाष्य में लिखित "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्यत यतः प्रवृत्तिः" पाठान्तर को स्वीकार कर लें तो ऐसा अर्थ किया जा सकेगा, कि "जहाँ जाने पर फिर पीछे नहीं लौटना पड़ता उस स्थान को खोजना चाहिये (और) जिससे सब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है उसी में मिल जाना चाहिये।" किन्तु 'प्रपद्' धातु है नित्य आत्मनेपदी। इसलिये उसका विध्यर्थक अन्य पुरुष का रूप 'प्रपद्येत' हो नहीं सकता। 'प्रपद्येत्' परस्मैपद का रूप है; और यह व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। प्रायः इसी कारण से शांकरभाष्य में यह पाठ स्वीकार नहीं किया गया है और यही युक्तिसंगत है। छान्दोग्य उपनिषद् के कुछ मन्त्रों में 'प्रपद्ये' पद का बिना 'इति' के इसी प्रकार उपयोग किया गया है (छां.

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥
§ § ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

(८. १४. १)। 'प्रत्यये' क्रियापद प्रथमपुरुषान्त हो, तो कहना न होगा कि वक्ता से अर्थात् उपदेशकर्ता श्रीकृष्ण से उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। अब यह बतलाते हैं कि इस प्रकार करने से क्या फल मिलता है ?]

(५) जो मान और मोह से विरहित हैं, जिन्होंने आसक्ति-दोष को जीत लिया है, जो अध्यात्मज्ञान में सर्वदा स्थिर रहते हैं, जो निष्काम और सुखदुःखसंज्ञक द्वन्द्वों से मुक्त हो गये हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय-स्थान को जा पहुँचते हैं। (६) जहाँ जा कर फिर लौटना नहीं पड़ता (ऐसा) वह मेरा परम स्थान है। उसे न तो सूर्य, न चन्द्रमा (और) न अग्नि ही प्रकाशित करते हैं।

[इनमें छठा श्लोक श्वेताश्वतर (६. १४) मुण्डक (२. २. १०) और कठ (५. १५) इन तीनों उपनिषदों में पाया है। सूर्य, चन्द्र या तारे, ये सभी तो नामरूप की श्रेणी में आ जाते हैं और परब्रह्म इन सब नामरूपों से परे है। इस कारण सूर्यचन्द्र आदि को परब्रह्म के ही तेज से प्रकाश मिलता है। फिर यह प्रकट ही है कि परब्रह्म को प्रकाशित करने के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा ही नहीं है। ऊपर के श्लोक में 'परम स्थान' शब्द का अर्थ 'परब्रह्म' और इस ब्रह्म में मिल जाना ही ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष है। वृक्ष का रूपक लेकर अध्यात्मशास्त्र में परब्रह्म का जो ज्ञान बतलाया जाता है, उसका विवेचन समाप्त हो गया। अब पुरुषोत्तमस्वरूप का वर्णन करना है। परन्तु अन्त में जो यह कहा है कि 'जहाँ जा कर लौटना नहीं पड़ता', इससे सूचित होनेवाली जीव की उत्क्रान्ति और उसके साथ ही जीव के स्वरूप का पहले वर्णन करते हैं :—]

(७) जीवलोक (कर्मभूमि) में मेरा ही सनातन अंश जीव होकर प्रकृति में रहनेवाली मनसहित छः अर्थात् मन और पाँच (सूक्ष्म) इन्द्रियों को (अपनी ओर) खींच लेता है। (इसी को लिङ्गशरीर कहते हैं)। (८) ईश्वर अर्थात् जीव जब (स्थूल) शरीर पाता है और जब वह (स्थूलशरीर से) निकल जाता है, तब

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यह जीव इन्हें (मन और पाँच इन्द्रियों को) वैसे ही साथ ले जाता है जैसे कि (पुष्प आदि) आश्रय से गन्ध को वायु ले जाती है। (९) कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन में ठहर कर यह (जीव) विषयों को भोगता है।

[इन तीन श्लोकों में से पहले में यह बतलाया है कि सूक्ष्म या लिङ्गशरीर क्या है? फिर इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है, कि लिङ्गशरीर स्थूलदेह में कैसे प्रवेश करता है? यह उससे बाहर कैसे निकलता है? और उसमें रह कर विषयों का उपभोग कैसे करता है? सांख्यमत के अनुसार यह सूक्ष्मशरीर महान् तत्त्व से लेकर सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राओं तक के अठारह तत्त्वों से बनता है और वेदान्तसूत्रों (३. १. १) में कहा है कि पञ्च सूक्ष्मभूतों का और प्राण का भी उसमें समावेश होता है (देखो गीतारहस्य प्र. ८ पृ. १८७–१९१)। मैत्र्युपनिषद् (६. १०) में वर्णन है, कि सूक्ष्मशरीर अठारह तत्त्वों का बनता है। इससे कहना पड़ता है कि "मन और पाँच इन्द्रियाँ" इन शब्दों से सूक्ष्मशरीर में वर्तमान दूसरे तत्त्वों का संग्रह भी यहाँ अभिप्रेत है। वेदान्तसूत्रों (वे. सू. २. ३. १७ और ४३) में भी 'नित्य' और 'अंश' दो पदों का उपयोग करके ही यह सिद्धान्त बतलाया है कि जीवात्मा परमेश्वर से बारंबार नया सिरे से उत्पन्न नहीं हुआ करता। वह परमेश्वर का "सनातन अंश" है (देखो गीता २. २४)। गीता के तेरहवें अध्याय (१३. ४) में जो यह कहा है कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार ब्रह्मसूत्रों से किया गया है, उसका इससे दृढीकरण हो जाता है (देखो गीतारहस्य परि. पृ. ५४९–५५३)। गीतारहस्य के नौवें प्रकरण (पृ. २४८) में दिखलाया है कि 'अंश' शब्द का अर्थ 'घटाकाशादि'-वत् अंश समझना चाहिये, न कि खण्डित अंश। इस प्रकार शरीर को धारण करना, उसको छोड़ देना एवं उपभोग करना – इन तीनों क्रियाओं के जारी रहने पर –]

(१) (शरीर से) निकल जानेवाले को, रहनेवाले को अथवा गुणों से युक्त हो कर (आप ही नहीं) उपभोग करनेवाले को मूर्ख लोग नहीं जानते। ज्ञानचक्षु से देखनेवाले लोग (उसे) पहचानते हैं। (११) इसी प्रकार यत्न करनेवाले योगी

§§ यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

अपने आप में स्थित आत्मा को पहचानते हैं। परन्तु जो अज्ञ लोग कि जिनका आत्मा अर्थात् बुद्धि संस्कृत नहीं है, प्रयत्न करके भी उसे नहीं पहचान पाते।

[९ वें और ११ वें श्लोक में ज्ञानचक्षु या कर्मयोगमार्ग से आत्मज्ञान की प्राप्ति का वर्णन कर जीव की उत्क्रान्ति का वर्णन पूरा किया है। पिछले सातवें अध्याय में जैसा वर्णन किया गया है (देखो गीता ७. ८–१२) वैसा ही अब आत्मा की सर्वव्यापकता का थोड़ा-सा वर्णन प्रस्तावना के ढँग पर करके सोलहवें श्लोक से पुरुषोत्तमस्वरूप का वर्णन किया है।]

(१२) जो तेज सूर्य में रह कर सारे जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है, उसे मेरा ही तेज समझ। (१३) इसी प्रकार पृथ्वी में प्रवेश कर मैं ही (सब) भूतों को अपने तेज से धारण करता हूँ; और रसात्मक सोम (चन्द्रमा) हो कर सब औषधियों का अर्थात् वनस्पतियों का पोषण करता हूँ।

[सोम शब्द के 'सोमवल्ली' और 'चन्द्र' अर्थ वेदों में वर्णित हैं कि चन्द्र जिस प्रकार जलमय, अंशुमान और शुभ्र है, उसी प्रकार सोमवल्ली भी है। दोनों ही को 'वनस्पतियों का राजा' कहा है। तथापि पूर्वापर सन्दर्भ से यहाँ चन्द्र ही विवक्षित है। इस श्लोक में यह कह कर – कि चन्द्र का तेज मैं ही हूँ – फिर इसी श्लोक में बतलाया है कि वनस्पतियों का पोषण करने का चन्द्र का जो गुण है, वह भी मैं ही हूँ। अन्य स्थानों में भी ऐसे वर्णन हैं कि जलमय होने से चन्द्र में यह गुण है। इसी कारण वनस्पतियों की बाढ़ होती है।]

(१४) मैं वैश्वानररूप अग्नि होकर प्राणियों की देह में रहता हूँ और प्राण एवं अपान से युक्त होकर (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय) चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ। (१५) इसी प्रकार मैं सब के हृदय में अधिष्ठित हूँ। स्मृति और ज्ञान एवं अपोहन अर्थात् उनका नाश मुझसे ही होता है; तथा सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूँ। वेदान्त का कर्ता और वेद जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

§§ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

[इस श्लोक का दूसरा चरण कैवल्य उपनिषद् (२. ३) में है। उसमें 'वेदैश्च सर्वैः' के स्थान में 'वेदैरनेकैः' इतना ही पाठभेद है। तब जिन्होंने गीताकाल में वेदान्त शब्द का प्रचलित होना न मान कर ऐसी दलीलें की हैं कि या तो यह श्लोक ही प्रक्षिप्त होगा या इसके 'वेदान्त' शब्द का कुछ और ही अर्थ लेना चाहिये, वे सब दलीलें बे-जड़-बुनियाद की हो जाती हैं। 'वेदान्त' शब्द मुण्डक (३. २. ६) और श्वेताश्वतर (६. २२) उपनिषदों में आया है तथा श्वेताश्वतर के तो कुछ मन्त्र ही गीता में हूबहू आ गये हैं। अब निरुक्तिपूर्वक पुरुषोत्तम का लक्षण बतलाते हैं :—]

(१६) (इस) लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' दो पुरुष हैं। सब (नाशवान्) भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को – अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहनेवाले (प्रकृतिरूप अव्यक्त तत्त्व) को अक्षर कहते हैं। (१७) परन्तु उत्तम पुरुष (इन दोनों से) भिन्न है। उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर (त्रैलोक्य का) पोषण करता है। (१८) जब कि मैं क्षर से भी परे का अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) हूँ, लोकव्यवहार में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से मैं प्रसिद्ध हूँ।

[सोलहवें श्लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' शब्द सांख्यशास्त्र के व्यक्त और अव्यक्त अथवा व्यक्तसृष्टि प्रकृति – इन दो शब्दों से समानार्थक हैं। प्रकट है इनमें क्षर ही नाशवान् पञ्चमहाभूतात्मक व्यक्त पदार्थ है। स्मरण रहे कि 'अक्षर' विशेषण पहले कई बार जब परब्रह्म को भी लगाया गया है (देखो गीता ८. ३; ८. २१; ११. ३७; १२. ३) तब पुरुषोत्तम के उल्लिखित लक्षण में 'अक्षर' शब्द का अर्थ अक्षरब्रह्म नहीं है किन्तु उसका अर्थ सांख्यों की अक्षरप्रकृति है और इस गड़बड़ से बचाने के लिये ही सोलहवें श्लोक में 'अक्षर' अर्थात् कूटस्थ (प्रकृति) यह विशेष व्याख्या की है (गीतारहस्य प्र. ९ पृ. २०२–२०५)। सारांश, व्यक्तसृष्टि और अव्यक्त प्रकृति के परे का अक्षर ब्रह्म (गीता ८. २०–२२ पर हमारी टिप्पणी देखो) और 'क्षर' (व्यक्तसृष्टि) एवं 'अक्षर' (प्रकृति)

§§ यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

से पर का पुरुषोत्तम वास्तव में ये दोनों एक ही हैं। तेरहवें अध्याय (१३ ३१) में कहा गया है कि इसे ही परमात्मा कहते हैं और यही परमात्मा शरीर में क्षेत्रज्ञ रूप से रहता है। इससे सिद्ध होता है कि क्षर-अक्षर-विचार में के मूलतत्त्व अक्षरब्रह्म अन्त में निष्पन्न होता है वही क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार का भी पर्यवसान है अथवा पिण्ड में और ब्रह्माण्ड में एक ही पुरुषोत्तम है। इसी प्रकार यह भी बतलाया गया है कि अधिभूत और और अधियज्ञ प्रभृति का अथवा प्राचीन अश्वत्थ वृक्ष का तत्त्व भी यही है। इस ज्ञान विज्ञान प्रकरण का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि जिसने जगत् की इस एकता को जान लिया कि भूतों में एक आत्मा है (गीता ६ २९) और जिसके मन में यह पहचान जिन्दगीभर के लिये स्थिर हो गई (वे सू. ४ १ १२ गीता ८ ६) वह कर्मयोग का आचरण करते ही परमेश्वर की प्राप्ति कर लेता है। कर्म न करने पर केवल परमेश्वरभक्ति से भी मोक्ष मिल जाता है। परन्तु गीता के ज्ञानविज्ञान निरूपण का यह तात्पर्य नहीं है। सातवें अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया है कि ज्ञानविज्ञान के निरूपण का आरम्भ यही दिखलाने के लिये किया गया है कि ज्ञान से अथवा भक्ति से शुद्ध हुए निष्कामबुद्धि के द्वारा संसार के सभी कर्म करने चाहिये और इन्हें करते हुए ही मोक्ष मिलता है। अब बतलाते हैं कि इसे जान लेने से क्या फल मिलता है? —]

(१९) हे भारत! इस प्रकार बिना मोह के जो मुझे ही पुरुषोत्तम समझता है वह सर्वज्ञ होकर सर्वभाव से मुझे ही भजता है। (२०) हे निष्पाप भारत! यह गुह्य से भी गुह्य शास्त्र मैंने बतलाया है। इसे जान कर (मनुष्य) बुद्धिमान अर्थात् बुद्ध या जानकार और कृतकृत्य हो जावेगा।

[यहाँ बुद्धिमान् का बुद्ध अर्थात् जानकार अर्थ है। क्योंकि भारत (शां. २४८ ११) में इसी अर्थ में 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' शब्द आये हैं। महाभारत में बुद्ध शब्द का रूढ़ार्थ बुद्धावतार कहीं भी नहीं आया है। (देखो गीतार. परिशिष्ट पृ. ५९)।]

षोडशोऽध्याय ।

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सोलहवाँ अध्याय ।

[पुरुषोत्तमयोग से क्षर अक्षर ज्ञान की परमावधि हो चुकी सातवें अध्याय में ज्ञानविज्ञान के निरूपण का आरम्भ यह दिखलाने के लिये किया गया था कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान होता है और उसी से मोक्ष मिलता है उसकी यहाँ समाप्ति हो चुकी; और अब यहीं उसका उपसंहार करना चाहिये। परन्तु नौवें अध्याय (९. १२) में भगवान् ने जो यह बिलकुल संक्षेप में कहा था कि राक्षसी मनुष्य मेरे अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूप को नहीं पहचानते, उसी का स्पष्टीकरण करने के लिये इस अध्याय का आरम्भ किया गया है; और अगले अध्याय में इसका कारण बतलाया गया है कि मनुष्य मनुष्य में भेद क्यों होते हैं। और अठारहवें अध्याय में पूरी गीता का उपसंहार है।]

श्रीभगवान ने कहा – (१) अभय (निडर), शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञान-योगव्यवस्थिति अर्थात् ज्ञान (मार्ग) और (कर्म) योग की तारतम्य से व्यवस्था दान दम यज्ञ स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण तप सरलता (२) अहिंसा सत्य अक्रोध कर्मफल का त्याग शान्ति अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्रदृष्टि छोड़ कर उदार भाव रखना सब भूतों में दया तृष्णा न रखना (बुरे काम की) लाज अचपलता अर्थात् फिजूल कामों को छोड़ देना (३) तेजस्विता क्षमा धृति शुद्धता

§§ दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

द्रोह न करना, अतिमान न रखना – हे भारत ! (ये) गुण दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए पुरुषों को प्राप्त होते हैं।

[दैवी सम्पत्ति के ये छब्बीस गुण और तेरहवें अध्याय में बतलाये हुए ज्ञान के बीस लक्षण (गी. १३. ७–११) वास्तव में एक ही हैं; और इसी से आगे के श्लोक में अज्ञान का समावेश आसुरी लक्षणों में किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता, कि छब्बीस गुणों की इस फेहरिस्त में प्रत्येक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द के अर्थ से सर्वथा भिन्न होगा; और हेतु भी ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ, कोई कोई अहिंसा के ही कायिक, वाचिक और मानसिक भेद करके क्रोध से किसी के दिल दुखा देने को भी एक प्रकार की हिंसा ही समझते हैं। इसी प्रकार शुद्धता को भी त्रिविध मान लेने से मन की शुद्धि में अक्रोध और द्रोह न करना आदि गुण भी आ सकते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में १६० अध्याय से ले कर १६३ अध्याय तक क्रम से दम, तप, सत्य और लोभ का विस्तृत वर्णन है। वहाँ दम में ही क्षमा, धृति, अहिंसा, सत्य, आर्जव और लज्जा आदि पच्चीस-तीस गुणों का व्यापक अर्थ में समावेश किया है (शां. १६०); और सत्य के निरूपण (शां. १६२) में कहा है कि सत्य, समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूयता, त्याग, ध्यान, आर्यता (लोक कल्याण की इच्छा), धृति और दया, इन तेरह गुणों का एक सत्य में ही समावेश होता है; और वहीं इन शब्दों की व्याख्या भी कर दी गई है। इस रीति से एक ही गुण में अनेकों का समावेश कर लेना पाण्डित्य का काम है; और ऐसा विवेचन करने लगें तो प्रत्येक गुण पर एक एक ग्रन्थ लिखना पड़ेगा। ऊपर के श्लोकों में इन सब गुणों का समुच्चय इसीलिये बतलाया गया है, कि जिसमें दैवी सम्पत्ति के सात्त्विक रूप की पूरी कल्पना हो जावे; और यदि एक शब्द में कोई अर्थ छूट गया हो, तो दूसरे शब्द में उसका समावेश हो जाय। अस्तु; ऊपर की फेहरिस्त के 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' शब्द का अर्थ हमने गीता के ४. ४१ और ४२ वें श्लोक के आधार पर कर्मयोगप्रधान किया है। त्याग और धृति की व्याख्या स्वयं भगवान् ने ही १८ वें अध्याय में कर दी है (१८. ४ और २९)। यह बतला चुके, कि दैवी सम्पत्ति में किन गुणों का समावेश होता है। अब इसके विपरीत आसुरी या राक्षसी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं –]

(४) हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अतिमान, क्रोध, पारुष्य अर्थात् निष्ठुरता और अज्ञान आसुरी यानी राक्षसी सम्पत्ति में जन्मे हुए को प्राप्त होते हैं।

§§ दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

§§ द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

[महाभारत शान्तिपर्व के १६४ और १६५ अध्यायों में इनमें से कुछ दोषों का वर्णन है और अन्त में यह भी बतला दिया है, कि नृशंस किसे कहना चाहिये। इस श्लोक में 'अज्ञान' को आसुरी सम्पत्ति का लक्षण कह देने से प्रकट होता है कि 'ज्ञान' दैवी सम्पत्ति का लक्षण है। जगत् में पाये जानेवाले दो प्रकार के स्वभावों का इस प्रकार वर्णन हो जाने पर —]

(५) (इनमें से) दैवी सम्पत्ति (परिणाम में) मोक्षदायक और आसुरी बन्धनदायक मानी जाती है। हे पाण्डव! तू दैवी सम्पत्ति में जन्मा हुआ है। शोक मत कर।

[संक्षेप में यह बतला दिया कि इन दो प्रकार के पुरुषों को कौन-सी गति मिलती है। अब विस्तार से आसुरी पुरुषों का वर्णन करते हैं :–]

(६) इस लोक में दो प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं। (एक) दैव और दूसरे आसुर। (इनमें) दैव (श्रेणी का) वर्णन विस्तार से कर दिया। (अब) हे पार्थ! मैं आसुर (श्रेणी का) वर्णन करता हूँ सुन।

[पिछले अध्यायों में यह बतलाया गया है कि कर्मयोगी कैसा बर्ताव करे? और ब्राह्मी अवस्था कैसी होती है? या स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त अथवा त्रिगुणातीत किसे कहना चाहिये? और यह भी बतलाया गया है कि ज्ञान क्या है? इस अध्याय के पहले तीन श्लोकों में दैवी सम्पत्ति का जो लक्षण है वही दैव प्रकृति के पुरुष का वर्णन है। इसी से कहा है कि दैव श्रेणी का वर्णन विस्तार से पहले कर चुके हैं। आसुर सम्पत्ति का थोड़ा-सा उल्लेख नौवें अध्याय (९. ११ और १२) में आ चुका है। परन्तु वहाँ का वर्णन अधूरा रह गया है इस कारण इस अध्याय में उसी को पूरा करते हैं –]

(७) आसुर लोग नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति क्या है? अर्थात् वे यह नहीं जानते कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये? उनमें न शुद्धता रहती है न आचार और सत्य ही है। (८) ये (आसुर लोग) कहते हैं

कि सारा जगत् असत्य है अप्रतिष्ठ अर्थात् निराधार है अनीश्वर यानी बिना परमेश्वर का है अपरस्परसम्भूत अर्थात् एक दूसरे के बिना ही हुआ है। (अतएव) काम को छोड़ – अर्थात मनुष्य की विषयवासना के अतिरिक्त इसका और क्या हेतु हो सकता है?

[यद्यपि इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है तथापि इसके पदों का अर्थ करने में बहुतकुछ मतभेद है। हम समझते हैं कि यह वर्णन उन चार्वाक आदि नास्तिकों के मतों का है कि जो वेदान्तशास्त्र या कापिलसांख्यशास्त्र के सृष्टिरचनाविषयक सिद्धान्त को नहीं मानते और यही कारण है कि इस श्लोक के पदों का अर्थ सांख्य और अध्यात्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है। जगत् को नाशवान् समझ कर वेदान्ती उसके अविनाशी सत्य को – सत्यस्य सत्यं (बृ. २. ३. ६) – खोजता है और उसी सत्य तत्त्व को जगत् का मूल आधार या प्रतिष्ठा मानता है – ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा (तै. २. ५)। परन्तु आसुरी लोग कहते हैं कि यह जग असत्य है – अर्थात् इसमें सत्य नहीं है – और इसीलिए वे इस जगत् को अप्रतिष्ठ भी कहते हैं – अर्थात् इसकी न प्रतिष्ठा है और न आधार। यहाँ शङ्का हो सकती है कि इस प्रकार अध्यात्मशास्त्र में प्रतिपादित अव्यक्त परब्रह्म यदि आसुरी लोगों को सम्मत न हो तो उन्हें भक्तिमार्ग का व्यक्त ईश्वर मान्य होगा। इस से अनीश्वर (अन् + ईश्वर) पद का प्रयोग करके कह दिया है कि आसुरी लोग जगत् में ईश्वर को भी नहीं मानते। इस प्रकार जगत् का कोई मूल आधार न मानने से उपनिषदों में वर्णित यह सृष्ट्युत्पत्तिक्रम छोड़ देना पड़ता है कि "आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।" (तै. २. १) और सांख्यशास्त्रोक्त इस सृष्ट्युत्पत्तिक्रम को भी छोड़ देना पड़ता है कि प्रकृति और पुरुष ये दो स्वतन्त्र मूलतत्त्व हैं एवं सत्त्व रज और तम गुणों के अन्योन्य आश्रय से अर्थात् परस्पर मिश्रण से सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि यदि इस शृङ्खला या परम्परा को मान लें तो दृश्यसृष्टि के पदार्थों से परे इस जगत् का कुछ-न कुछ मूलतत्त्व मानना पड़ेगा। इसी से आसुरी लोग जगत् के पदार्थों को अपरस्परसम्भूत मानते हैं – अर्थात् वे यह नहीं मानते कि ये पदार्थ एक-दूसरे से किसी क्रम से उत्पन्न हुए हैं। जगत् की रचना के सम्बन्ध में एक बार ऐसी समझ हो जाने पर मनुष्यप्राणी ही प्रधान निश्चित हो जाता है। और फिर यह विचार आप ही-आप हो जाता है कि मनुष्य की कामवासना को तृप्त करने के लिए ही जगत् के सारे पदार्थ बने हैं उनका और कुछ भी उपयोग नहीं है और यही अर्थ इस श्लोक के अन्त में 'किमन्यत्कामहैतुकम्' – काम को छोड़ उसका और क्या हेतु होगा? – इन शब्दों से एवं आगे के श्लोकों में भी वर्णित है। कुछ टीकाकार अपरस्परसम्भूत पद का अन्वय 'किमन्यत्' से लगा कर यह अर्थ

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

[कहते हैं कि क्या ऐसा भी कुछ दीख पड़ता है जो परस्पर अर्थात् स्त्रीपुरुष के संयोग से उत्पन्न न हुआ हो ? नहीं; और जब ऐसा पदार्थ ही नहीं दीख पड़ता तब यह जगत् कामहेतुक अर्थात् स्त्रीपुरुष की कामेच्छा से ही निर्मित हुआ है। कुछ लोग 'अपरस्परसम्भूतं' ऐसा अद्भुत विग्रह करके इन पदों का यह अर्थ लगाया करते हैं, कि 'अपरस्पर' ही स्त्री पुरुष हैं इन्हीं से यह जगत् उत्पन्न हुआ है इसलिये स्त्रीपुरुषों का काम ही इसका हेतु है। और कारण नहीं है। परन्तु यह अन्वय सरल नहीं है और 'अपरश्च परश्च' का समास 'अपर-पर' होगा बीच में सकार न आने पावेगा। इसके अतिरिक्त असत्य और अप्रतिष्ठ इन पहले आये हुए पदों को देखने से यही ज्ञात होता है कि अपरस्परसम्भूत नञ् समास ही होना चाहिये। और फिर कहना पड़ता है, कि सांख्यशास्त्र में 'परस्परसम्भूत' शब्द से जो गुणों से गुणों का अन्योन्य जनन वर्णित है वही यहाँ विवक्षित है (देखो गीतारहस्य प्र. ८ पृ. १५८ और १५९) अन्योन्य और 'परस्पर' दोनों शब्द समानार्थक हैं। सांख्यशास्त्र में गुणों के पारस्परिक झगड़े का वर्णन करते समय ये दोनों शब्द आये हैं (देखो म. भा. शां. ३०५ सां. का. १२ और १३)। गीता पर जो माध्वभाष्य है उसमें इसी अर्थ को मान कर यह दिखलाने के लिये कि जगत् की वस्तुएँ एक दूसरी से कैसे उपजती हैं गीता का यही श्लोक दिया गया है – 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' इत्यादि – (अग्नि में छोड़ी हुई आहुति सूर्य को पहुँचती है अतः) यज्ञ से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है (देखो गी. ३.१४; मनु. ३.७६)। परन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन इसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन और व्यापक है। इस कारण उसी का हमने ऊपर प्रमाण में दिया है। तथापि हमारा मत है कि गीता के इस 'अ-परस्परसम्भूत' पद से उपनिषद् के सृष्ट्युत्पत्तिक्रम की अपेक्षा सांख्यों का सृष्ट्युत्पत्तिक्रम ही अधिक विवक्षित है। जगत् की रचना के विषय में ऊपर जो आसुरी मत बतलाया गया है उसका इन लोगों के बर्ताव पर जो प्रभाव पड़ता है उसका वर्णन करते हैं। ऊपर के श्लोक के अन्त में जो 'कामहेतुक' पद है उसी का यह अधिक स्पष्टीकरण है।]

(९) इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार करके ये अल्पबुद्धिवाले नष्टात्मा और दुष्ट लोग क्रूर कर्म करते हुए जगत् का क्षय करने के लिये उत्पन्न हुआ करते हैं (१०) (और) कभी भी पूर्ण न होनेवाले काम अर्थात् विषयोपभोग की इच्छा का आश्रय

सप्तदशोऽध्याय ।

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

अर्जुन ने कहा – (१) हे कृष्ण! जो लोग श्रद्धा से युक्त होकर, शास्त्र-निर्दिष्ट विधि को छोड़ करके यजन करते हैं उनकी निष्ठा अर्थात् (मन की) स्थिति कैसी है – सात्त्विक है या राजस है या तामस?

[पिछले अध्याय के अन्त में जो यह कहा था कि शास्त्र की विधि का अथवा नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये; उसी पर अर्जुन ने यह शङ्का की है। शास्त्रों पर श्रद्धा रखते हुए भी मनुष्य अज्ञान से भूल कर बैठता है। उदाहरणार्थ शास्त्रविधि यह है कि सर्वव्यापी परमेश्वर का भजनपूजन करना चाहिये; परन्तु वह इसे छोड़ कर देवताओं की धुन में लग जाता है (गीता ९. २३)। अतः अर्जुन का प्रश्न है कि ऐसे पुरुष की निष्ठा अर्थात् अवस्था अथवा स्थिति कौनसी समझी जावे। यह प्रश्न उन आसुरी लोगों के विषय में नहीं है कि जो शास्त्र का और धर्म का अश्रद्धापूर्वक तिरस्कार किया करते हैं। तो भी इस अध्याय में प्रसङ्गानुसार उनके कर्मों के फलों का भी वर्णन किया गया है।]

श्रीभगवान ने कहा कि :– (२) प्राणिमात्र की श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकार की होती है एक सात्त्विक, दूसरी राजस और तीसरी तामस। उनका वर्णन सुनो। (३) हे भारत! सब लोगों की श्रद्धा अपने अपने सत्त्व के अनुसार अर्थात् प्रकृति-स्वभाव के अनुसार होती है। मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है वह वैसा ही होता है।

[दूसरे श्लोक में 'सत्त्व' शब्द का अर्थ देहस्वभाव, बुद्धि अथवा अन्तःकरण है। उपनिषद् में 'सत्त्व' शब्द इसी अर्थ में आया है (कठ. ६. ७), और वेदान्तसूत्र के शाङ्करभाष्य में भी 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ' पद के स्थान में 'सत्त्वक्षेत्रज्ञ' पद का उपयोग किया गया है (वे. सू. शां. भा. १. २. १२)। तात्पर्य यह है

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

[कि दूसरे श्लोक का 'स्वभाव' शब्द और तीसरे श्लोक का 'सत्त्व' शब्द यहाँ दोनों ही समानार्थक हैं। क्योंकि सांख्य और वेदान्त दोनों को ही यह सिद्धान्त मान्य है कि स्वभाव का अर्थ प्रकृति है। इसी प्रकृति से बुद्धि एवं अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' – यह तत्त्व 'देवताओं की भक्ति करनेवाले देवताओं को पाते हैं' प्रभृति पूर्ववर्णित सिद्धान्तों का ही साधारण अनुवाद है (७. २०–२३; ९. २५)। इस विषय का विवेचन हमने गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में किया है (देखिये गीतार. पृ. ४२५–४२९)। तथापि जब यह कहा कि जिसकी जैसी बुद्धि हो, उसे वैसा फल मिलता है, और वैसी बुद्धि का होना या न होना प्रकृतिस्वभाव के अधीन है, तब प्रश्न होता है कि फिर वह बुद्धि सुधर क्योंकर सकती है? इसका यह उत्तर है कि आत्मा स्वतन्त्र है, अतः देह का यह स्वभाव क्रमशः अभ्यास और वैराग्य के द्वारा धीरे धीरे बदला जा सकता है। इस बात का विवेचन गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में किया गया है (पृ. २७९–२८१)। अभी तो यही देखना है कि श्रद्धा में भेद क्यों और कैसे होते हैं? इसी से कहा गया है कि प्रकृतिस्वभावानुसार श्रद्धा बदलती है। अब बतलाते हैं कि जब प्रकृति भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त है, तब प्रत्येक मनुष्य में श्रद्धा के भी त्रिधा भेद किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। और उनके परिणाम क्या होते हैं?]

(४) जो पुरुष सात्त्विक हैं – अर्थात् जिनका स्वभाव सत्त्वगुण प्रधान है – वे देवताओं का यजन करते हैं। राजस पुरुष यक्षों और राक्षसों का यजन करते हैं। एवं इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं वे प्रेतों और भूतों का यजन करते हैं।

[इस प्रकार शास्त्र पर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्यों के भी सत्त्व आदि प्रकृति के गुणभेद से जो तीन भेद होते हैं, उनका और उनके स्वरूप का वर्णन हुआ। अब बतलाते हैं कि शास्त्र पर श्रद्धा न रखनेवाले कामपरायण और दाम्भिक किस श्रेणी में आते हैं। यह तो स्पष्ट है कि ये लोग सात्त्विक नहीं हैं, परन्तु ये निरे तामस भी नहीं कहे जा सकते। क्योंकि यद्यपि इनके कर्म शास्त्रविरुद्ध होते हैं, तथापि इनमें कर्म करने की प्रवृत्ति होती है और यह रजोगुण का धर्म है। तात्पर्य यह है कि ऐसे मनुष्यों को न सात्त्विक कह सकते हैं, न राजस और न तामस। अतएव दैवी और आसुरी नामक दो कक्षाएँ बना कर उक्त दुष्ट पुरुषों का आसुरी कक्षा में समावेश किया जाता है। यही अर्थ अगले दो श्लोकों में स्पष्ट किया गया है।]

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

§§ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

§§ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

(१८) अहङ्कार से, बल से, दर्प से, काम से और क्रोध से फूल कर अपनी और पराई देह में वर्तमान मेरा (परमेश्वर का) द्वेष करनेवाले निन्दक, (१९) और अशुभ कर्म करनेवाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरों को मैं (इस) संसार की आसुर अर्थात् पापयोनियों में ही सदैव पटकता हूँ। (२०) हे कौन्तेय! (इस प्रकार) जन्म जन्म में आसुरयोनि को ही पा कर वे मूर्ख लोग मुझे बिना पाये ही अन्त में अत्यन्त अधोगति को जा पहुँचते हैं।

[आसुरी लोगों का और उनको मिलनेवाली गति का वर्णन हो चुका। अब इससे छुटकारा पाने की युक्ति बतलाते हैं –]

(२१) काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं। ये हमारा नाश कर डालते हैं इसलिये इन तीनों का त्याग करना चाहिये। (२२) हे कौन्तेय! इन तीन तमोद्वारों से छूट कर मनुष्य वही आचरण करने लगता है कि जिसमें उसका कल्याण हो और फिर उत्तम गति पा जाता है।

[प्रकट है कि नरक के तीनों दरवाजे छूट जाने पर सद्गति मिलनी ही चाहिये। किन्तु यह नहीं बतलाया कि कौन-सा आचरण करने से ये छूट जाते हैं। अतः अब उसका मार्ग बतलाते हैं :–]

(२३) जो शास्त्रोक्त विधि छोड़ कर मनमाना करने लगता है उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है; और न उत्तम गति ही मिलती है।

> तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
> ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

---

(२४) इसलिये कार्य-अकार्यव्यवस्थिति का अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने के लिये तुझे शास्त्रों को प्रमाण मानना चाहिये। और शास्त्रों में जो कुछ कहा है उसको समझ कर तदनुसार इस लोक में कर्म करना तुझे उचित है।

[इस श्लोक के 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' पद से स्पष्ट होता है, कि कर्तव्यशास्त्र की अर्थात् नीतिशास्त्र की कल्पना को दृष्टि के आगे रख कर गीता का उपदेश किया गया है। गीतारहस्य (प्र. ३ पृ. ४९– [illegible]) में स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि इसी को कर्मयोगशास्त्र कहते हैं।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में दैवासुरसम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सत्रहवाँ अध्याय

[यहाँ तक इस बात का वर्णन हुआ, कि कर्मयोगशास्त्र के अनुसार संसार का धारणपोषण करनेवाले पुरुष किस प्रकार के होते हैं? और संसार का नाश करनेवाले मनुष्य किस ढंग के होते हैं? अब यह प्रश्न सहज ही होता है, कि मनुष्य में इस प्रकार के भेद होते क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर सातवें अध्याय के 'प्रकृत्या नियताः स्वया' पद में दिया गया है; जिसका अर्थ यह है, कि यह प्रत्येक मनुष्य का प्रकृतिस्वभाव है (७. २०)। परन्तु वहाँ इस प्रकृतिजन्य भेद की उपपत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन भी न हो सका। इस यही कारण है जो चौदहवें अध्याय में त्रिगुणों का विवेचन किया गया है; और अब इस अध्याय में वर्णन किया गया है, कि त्रिगुणों से उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा आदि के स्वभावभेद क्योंकर होते हैं? और फिर उसी अध्याय में ज्ञानविज्ञान का सम्पूर्ण निरूपण समाप्त किया गया है। इसी प्रकार नौवें अध्याय में भक्तिमार्ग के जो अनेक भेद बतलाए गये हैं, उनके कारण भी इस अध्याय की उपपत्ति से समझ में आ जाते हैं (देखो [illegible])। पहले अर्जुन यों पूछता है कि –]

सप्तदशोऽध्याय ।

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

अर्जुन ने कहा – (१) हे कृष्ण ! जो लोग श्रद्धा से युक्त होकर शास्त्र-निर्दिष्ट विधि को छोड़ करके यजन करते हैं उनकी निष्ठा अर्थात् (मन की) स्थिति कैसी है – सात्त्विक है या राजस है या तामस ?

[पिछले अध्याय के अन्त में जो यह कहा था कि शास्त्र की विधि का अथवा नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये उसी पर अर्जुन ने यह शङ्का की है। शास्त्रों पर श्रद्धा रखते हुए भी मनुष्य अज्ञान से भूल कर बैठता है। उदाहरणार्थ शास्त्रविधि यह है कि सर्वव्यापी परमेश्वर का भजनपूजन करना चाहिये परन्तु वह इसे छोड़ कर देवताओं की धुन में लग जाता है (गीता ९. २३)। अतः अर्जुन का प्रश्न है कि ऐसे पुरुष की निष्ठा अर्थात् अवस्था अथवा स्थिति कौनसी समझी जाय। यह प्रश्न उन आसुरी लोगों के विषय में नहीं है कि जो शास्त्र का और धर्म का अश्रद्धापूर्वक तिरस्कार किया करते हैं। तो भी इस अध्याय में प्रसङ्गानुसार उनके कर्मों के फलों का भी वर्णन किया गया है।]

श्रीभगवान ने कहा कि – (२) प्राणिमात्र की श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकार की होती है एक सात्त्विक, दूसरी राजस और तीसरी तामस। उनका वर्णन सुनो। (३) हे भारत ! सब लोगों की श्रद्धा अपने अपने सत्त्व के अनुसार अर्थात् प्रकृति स्वभाव के अनुसार होती है। मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है वह वैसा ही होता है।

[ऊपर श्लोक में 'सत्त्व' शब्द का अर्थ देहस्वभाव, बुद्धि अथवा अन्तःकरण है। उपनिषद् में भी 'सत्त्व' शब्द इसी अर्थ में आया है (कठ. ६. ७); और वेदान्तसूत्र के शांकरभाष्य में भी 'क्षेत्रज्ञ' पद के स्थान में 'सत्त्व' पद का उपयोग किया गया है (वे. सू. शां. भा. १. २. १२)। तात्पर्य यह है

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

[दूसरे श्लोक का 'स्वभाव' शब्द और तीसरे श्लोक का 'सत्त्व' शब्द यहाँ दोनों ही समानार्थक हैं। क्योंकि सांख्य और वेदान्त दोनों को ही यह सिद्धान्त मान्य है कि स्वभाव का अर्थ प्रकृति है। इसी प्रकृति से बुद्धि एवं अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' – यह तत्त्व 'देवताओं की भक्ति करनेवाले देवताओं को पाते हैं' प्रभृति पूर्ववर्णित सिद्धान्तों का ही साधारण अनुवाद है (७. २०–२३; ९. २५)। इस विषय का विवेचन हमने गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में किया है (देखिये गीतार. पृ. ४२६–४३१)। तथापि जब यह कहा कि जिसकी जैसी बुद्धि हो, उसे वैसा फल मिलता है; और वैसी बुद्धि का होना या न होना प्रकृतिस्वभाव के अधीन है; तब प्रश्न होता है कि फिर वह बुद्धि सुधर क्योंकर सकती है? इसका यह उत्तर है कि आत्मा स्वतन्त्र है, अतः देह का यह स्वभाव क्रमशः अभ्यास और वैराग्य के द्वारा धीरे धीरे बदला जा सकता है। इस बात का विवेचन गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में किया गया है (पृ. २७७–२८१)। अभी तो यही देखना है कि श्रद्धा में भेद क्यों और कैसे होते हैं; इसी से कहा गया है कि प्रकृतिस्वभावानुसार श्रद्धा बदलती है। अब बतलाते हैं कि जब प्रकृति भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त है, तब प्रत्येक मनुष्य में श्रद्धा के भी त्रिधा भेद किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और उनके परिणाम क्या होते हैं?]

(४) जो पुरुष सात्त्विक हैं – अर्थात् जिनका स्वभाव सत्त्वगुणप्रधान है – वे देवताओं का यजन करते हैं; राजस पुरुष यक्षों और राक्षसों का यजन करते हैं; एवं इनके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेतों और भूतों का यजन करते हैं।

[इस प्रकार शास्त्र पर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्यों के भी सत्त्व आदि प्रकृति के गुणभेद से जो तीन भेद होते हैं, उनका और उनके स्वरूपों का वर्णन हुआ। अब बतलाते हैं कि शास्त्र पर श्रद्धा न रखनेवाले कामपरायण और दाम्भिक लोग किस श्रेणी में आते हैं। यह तो स्पष्ट है कि वे लोग सात्त्विक नहीं हैं; परन्तु वे निरे तामस भी नहीं कहे जा सकते। क्योंकि यद्यपि इनके कर्म शास्त्रविरुद्ध होते हैं, तथापि इनमें कर्म करने की प्रवृत्ति होती है; और यह रजोगुण का धर्म है। तात्पर्य यह है कि ऐसे मनुष्यों को न सात्त्विक कह सकते हैं, न राजस और न तामस। अतएव दैवी और आसुरी नामक दो कक्षाएँ बना कर उन दुष्ट पुरुषों का आसुरी कक्षा में समावेश किया जाता है। यही अर्थ अगले दो श्लोकों में स्पष्ट किया गया है।]

§§ अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥
§§ आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

(५) परन्तु जो लोग दम्भ और अहंकार से युक्त होकर काम एवं आसक्ति के बल पर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप किया करते हैं (६) तथा जो केवल न शरीर के पञ्चमहाभूतों के समूह को ही, वरन् शरीर के अन्तर्गत रहनेवाले मुझको भी कष्ट देते हैं उन्हें अविवेकी आसुरी बुद्धि के जानो।

[इस प्रकार अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर हुए। इन श्लोकों का भावार्थ यह है कि मनुष्य की श्रद्धा उसके प्रकृतिस्वभावानुसार सात्त्विक, राजस अथवा तामस होती है और उसके अनुसार उसके कर्मों में अन्तर होता है; तथा उन कर्मों के अनुरूप ही उसे पृथक् पृथक् गति प्राप्त होती है। परन्तु केवल इतने से ही कोई आसुरी कक्षा में ठेल नहीं दिया जाता। अपनी स्वाधीनता का उपयोग कर और शास्त्रानुसार आचरण करके प्रकृतिस्वभाव को धीरे धीरे सुधारते जाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। हाँ, जो ऐसा नहीं करते और दुष्ट प्रकृतिस्वभाव का ही अभिमान रख कर शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते हैं उन्हें आसुरी बुद्धि के कहना चाहिये; यह इन श्लोकों का भावार्थ है। अब यह वर्णन किया जाता है कि श्रद्धा के समान ही आहार, यज्ञ, तप और दान के सत्त्व-रज-तमोमय प्रकृति के गुणों से भिन्न भिन्न भेद कैसे हो जाते हैं? एवं इन भेदों से स्वभाव की विचित्रता के साथ ही साथ क्रिया की विचित्रता भी कैसे उत्पन्न होती है?]

(७) प्रत्येक की रुचि का आहार भी तीन प्रकार का होता है। और यही हाल यज्ञ, तप एवं दान का भी है। सुनो, उनका भेद बतलाता हूँ। (८) आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि करनेवाले, रसीले, स्निग्ध, शरीर में भिद कर चिरकाल तक रहनेवाले और मन को आनन्ददायक आहार सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं। (९) कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

§§ अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

तीखे, रूखे, दाहकारक तथा दुःख, शोक और रोग उपजानेवाले आहार राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं।

[संस्कृत में कटु शब्द का अर्थ चरपरा और तिक्त का अर्थ कडुआ होता है। इसी के अनुसार संस्कृत के वैद्यक ग्रन्थों में काली मिरची कटु तथा नीम तिक्त कही गई है (देखो वाग्भट सूत्र अ. १०)। हिन्दी के कडुए और तीखे शब्द क्रमानुसार कटु और तिक्त शब्दों के ही अपभ्रंश हैं।]

(१०) कुछ काल रखा हुआ अर्थात् ठण्डा, नीरस, दुर्गन्धित, बासा, जूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुष को रुचता है।

[सात्त्विक मनुष्य को सात्त्विक, राजस को राजस तथा तामस को तामस भोजन प्रिय होता है। इतना ही नहीं, यदि आहार शुद्ध अर्थात् सात्त्विक हो तो मनुष्य की वृत्ति भी क्रम क्रम से शुद्ध या सात्त्विक हो सकती है। उपनिषदों में कहा है कि "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" (छां. ७. २६. २)। क्योंकि मन और बुद्धि प्रकृति के विकार हैं। इसलिये जहाँ सात्त्विक आहार हुआ वहाँ बुद्धि भी आप ही-आप सात्त्विक बन जाती है। ये आहार के भेद हुए। इसी प्रकार अब यज्ञ के तीन भेद का भी वर्णन करते हैं —]

(११) फलाशा की आकांक्षा छोड़ कर अपना कर्तव्य समझ करके शास्त्र की विधि के अनुसार, शान्त चित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है। (१२) परन्तु हे भरतश्रेष्ठ! उसको राजस यज्ञ समझो कि जो फल की इच्छा से अथवा दम्भ के हेतु अर्थात् ऐश्वर्य दिखलाने के लिये किया जाता है। (१३) शास्त्र-विधिरहित, अन्नदानविहीन, बिना मन्त्रों का, बिना दक्षिणा का और श्रद्धा से शून्य यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है।

[आहार और यज्ञ के समान तप के भी तीन भेद हैं। पहले, तप के कायिक, वाचिक और मानसिक ये भेद किये हैं; फिर इन तीनों में से प्रत्येक

§ § देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
§ § श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

में सत्त्व, रज और तम गुणों से जो भिन्नता होती है, उसका वर्णन किया है। यहाँ पर 'तप' शब्द से यह संकुचित अर्थ विवक्षित नहीं है कि जङ्गल में जा कर पातञ्जलयोग के अनुसार शरीर को कष्ट दिया करे। किन्तु मनु का किया हुआ 'तप' शब्द का यह व्यापक अर्थ ही गीता के निम्नलिखित श्लोकों में अभिप्रेत है कि यज्ञयाग आदि कर्म, वेदाध्ययन अथवा चातुर्वर्ण्य के अनुसार जिसका जो कर्तव्य हो – जैसे क्षत्रिय का कर्तव्य युद्ध करना है और वैश्य का व्यापार इत्यादि – वही उसका तप है (मनु. ११. २३६)।]

(१४) देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं। (१५) (मन को) उद्वेग न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास को वाङ्मय (वाचिक) तप कहते हैं। (१६) मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना – इनको मानस तप कहते हैं।

[जान पड़ता है कि पन्द्रहवें श्लोक में सत्य, प्रिय और हित तीनों शब्द मनु के इस वचन को लक्ष्य कर कहे गये हैं:– "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥" (मनु. ४. १३८) – यह सनातन धर्म है कि सच और मधुर (तो) बोलना चाहिये; परन्तु अप्रिय सच न बोलना चाहिये। तथापि महाभारत में ही विदुर ने दुर्योधन से कहा है "अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः" (देखो सभा. ६३. १७)। अब कायिक, वाचिक और मानसिक तपों के जो भेद फिर भी होते हैं वे यों हैं:–]

(१७) इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा न रख कर उत्तम श्रद्धा से तथा योगयुक्त बुद्धि से करे, तो वे सात्त्विक कहलाते हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

§§ अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

ब्रह्मवादी लोगों के यज्ञ, दान, तप तथा अन्य शास्त्रोक्त कर्म सदा ॐ के उच्चार के साथ हुआ करते हैं (२४) 'तत्' शब्द के उच्चारण से फल की आशा न रख कर मोक्षार्थी लोग यज्ञ, दान, तप आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। (२५) अस्तित्व और साधुता अर्थात् भलाई के अर्थ में 'सत्' शब्द का उपयोग किया जाता है। और हे पार्थ! इसी प्रकार प्रशस्त अर्थात् अच्छे कर्मों के लिये भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है। (२७) यज्ञ, तप और दान में स्थिति अर्थात् स्थिर भावना रखने को भी 'सत्' कहते हैं; तथा इनके निमित्त जो कर्म करना हो उस कर्म का नाम भी 'सत्' ही है।

[यज्ञ, तप और दान मुख्य धार्मिक कर्म हैं; तथा इनके निमित्त जो कर्म किया जाता है उसी को मीमांसक लोग सामान्यतः यज्ञार्थ कर्म कहते हैं। इन कर्मों को करते समय यदि फल की आशा हो, तो भी वह धर्म के अनुकूल रहती है। इस कारण ये कर्म 'सत्' श्रेणी में गिने जाते हैं। और सब निष्काम कर्म 'तत्' (= वह अर्थात् परे की) श्रेणी में लेखे जाते हैं। प्रत्येक कर्म के आरम्भ में जो यह 'ॐ तत्सत्' ब्रह्मनिर्देश कहा जाता है, उसमें इस प्रकार से दोनों प्रकार के कर्मों का समावेश होता है। इन दोनों कर्मों को ब्रह्मानुकूल ही समझना चाहिये। देखो गीतारहस्य प्र. ९, पृ. २४०। अब असत् कर्म के विषय में कहते हैं -]

(२८) अश्रद्धा से जो हवन किया हो, (दान) दिया हो, तप किया हो या जो कुछ (कर्म) किया हो, वह 'असत्' कहा जाता है। हे पार्थ! वह (कर्म) न मरने पर (परलोक में) और न इस लोक में हितकारी होता है।

[तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मस्वरूप के बोधक इस सर्वमान्य संकल्प में ही निष्कामबुद्धि से अथवा कर्तव्य समझ कर किये हुए सात्त्विक कर्म का – और शास्त्रानुसार सद्बुद्धि से किये हुए प्रशस्त कर्म अथवा सत्कर्म का – समावेश होता है। अन्य सब कर्म वृथा हैं। इससे सिद्ध होता है कि उस कर्म को छोड़ देने का उपदेश करना उचित नहीं है कि जिस कर्म का ब्रह्मनिर्देश में ही समावेश होता है और जो ब्रह्मदेव के साथ ही उत्पन्न हुआ है (गीता ३. १०) तथा जो किसी से छूट भी नहीं सकता। 'ॐ तत्सत्' रूपी ब्रह्मनिर्देश के उक्त कर्मयोगप्रधान अर्थ को इसी अध्याय में कर्मविभाग के साथ ही बतलाने का हेतु भी यही है। क्योंकि केवल ब्रह्मस्वरूप का वर्णन तो तेरहवें अध्याय में और उसके पहले भी हो चुका है। गीतारहस्य के नौवें प्रकरण के अन्त (पृ. २८) में बतला चुके हैं कि 'ॐ तत्सत्' पद का असली अर्थ क्या होना चाहिये। आजकल 'सच्चिदानन्द' पद से ब्रह्मनिर्देश करने की प्रथा है। परन्तु उसका स्वीकार न करके यहाँ जब उस 'ॐ तत्सत्' ब्रह्मनिर्देश का ही उपयोग किया गया है तब इससे यह अनुमान निकल सकता है कि 'सच्चिदानन्द' पदरूपी ब्रह्मनिर्देश गीता ग्रन्थ के निर्मित हो चुकने पर साधारण ब्रह्मनिर्देश के रूप से प्रायः प्रचलित हुआ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अठारहवाँ अध्याय।

[अठारहवाँ अध्याय पूरे गीताशास्त्र का उपसंहार है। अतः यहाँ तक जो विवेचन हुआ है उसका हम इस स्थान में संक्षेप से सिंहावलोकन करते हैं (अधिक विस्तार गीतारहस्य के १४ वे प्रकरण में देखिये)। पहले अध्याय से स्पष्ट होता है, कि स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए युद्ध को छोड़ भीख माँगने पर उतारू होनेवाले अर्जुन को अपने कर्तव्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है। अर्जुन को शंका थी कि गुरुहत्या आदि सदोष कर्म से आत्मकल्याण कभी न होगा। अतएव आत्मज्ञानी पुरुषों के स्वीकृत किये हुए आयु बिताने के दो प्रकार के मार्गों का – सांख्य (संन्यास) मार्ग का और कर्मयोग (योग) मार्ग का – वर्णन दूसरे अध्याय के आरम्भ में ही किया गया है। और अन्त में यह सिद्धान्त किया गया है कि यद्यपि ये दोनों ही मोक्षप्रद हैं तथापि इनमें से कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है (गीता ५. २)। फिर तीसरे अध्याय से लेकर पाँचवें अध्याय तक इन

युक्तियों का वर्णन है, कि कर्मयोग में बुद्धि श्रेष्ठ समझी जाती है। बुद्धि के स्थिर और सम होने से कर्म की बाधा नहीं होती। कर्म किसी से भी नहीं छूटते तथा उन्हें छोड़ देना भी किसी उचित नहीं। केवल फलाशा को त्याग देना ही काफी है। अपने लिये न सही तो भी लोकसंग्रह के हेतु कर्म करना आवश्यक है। बुद्धि अच्छी हो तो ज्ञान और कर्म के बीच विरोध नहीं होता तथा पूर्वपरम्परा देखी जाय तो ज्ञात होगा कि जनक आदि ने इसी मार्ग का आचरण किया है। अनन्तर इस बात का विवेचन किया है कि कर्मयोग की सिद्धि के लिये बुद्धि की जिस समता की आवश्यकता होती है उसे कैसे प्राप्त करना चाहिये? और इस कर्मयोग का आचरण करते हुए अन्त में उसी के द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त होता है? बुद्धि की इस समता को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों का निग्रह करके पूर्णतया यह जान लेना आवश्यक है कि एक ही परमेश्वर सब प्राणियों में भरा हुआ है – इसके अतिरिक्त और दूसरा मार्ग नहीं है। अतः इन्द्रियनिग्रह का विवेचन छठे अध्याय में किया गया है। फिर सातवें अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक बतलाया है कि कर्मयोग का आचरण करते हुए ही परमेश्वर का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? और वह ज्ञान क्या है? सातवें और आठवें अध्याय में क्षर अक्षर अथवा व्यक्त-अव्यक्त के ज्ञान विज्ञान का विवरण किया गया है। नौवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक इस अभिप्राय का वर्णन किया गया है कि यद्यपि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है तो भी इस बुद्धि को न डिगने दे कि परमेश्वर एक ही है; और व्यक्त स्वरूप की ही उपासना प्रत्यक्ष ज्ञान देनेवाली अतएव सब के लिये सुलभ है। अनन्तर तेरहवें अध्याय में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है कि क्षर अक्षर के विवेक में जिसे अव्यक्त कहते हैं वही मनुष्य के शरीर में अन्तरात्मा है। इसके पश्चात चौदहवें अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय तक, चार अध्यायों में क्षर अक्षर विज्ञान के अन्तर्गत इस विषय का विस्तारसहित विचार किया गया है, कि एक ही अव्यक्त से प्रकृति के गुणों के कारण जगत् में विविध स्वभावों के मनुष्य कैसे उपजते हैं? अथवा और अनेक प्रकार का विस्तार कैसे होता है? एवं ज्ञानविज्ञान का निरूपण समाप्त किया गया है। तथापि स्थान स्थान पर अर्जुन को यही उपदेश है कि तू कर्म कर और यही कर्मयोगप्रधान आयु बिताने का मार्ग सब में उत्तम माना गया है कि जिसमें शुद्ध अन्तःकरण से परमेश्वर की भक्ति करके परमेश्वरार्पणपूर्वक स्वधर्म के अनुसार केवल कर्तव्य समझ कर मरणपर्यन्त कर्म करते रहने का उपदेश है। इस प्रकार ज्ञानमूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग का सांगोपांग विवेचन कर चुकने पर अठारहवें अध्याय में उसी कर्म का उपसंहार करके अर्जुन को स्वेच्छा से युद्ध करने के लिये प्रवृत्त किया है। गीता के इस मार्ग में – कि जो गीता में सर्वोत्तम कहा गया है – अर्जुन से यह नहीं कहा गया कि तू चतुर्थ आश्रम को स्वीकार करके संन्यासी हो जा। हाँ; यह अवश्य कहा है कि इस मार्ग से आचरण

अष्टादशोऽध्याय ।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

करनेवाला मनुष्य 'नित्य संन्यासी' है (गीता ५. ३)। अतएव अब अर्जुन का प्रश्न है कि चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास ले कर किसी समय सब कर्मों को सचमुच त्याग देने का तत्त्व इस कर्मयोगमार्ग में है या नहीं? और नहीं है तो 'संन्यास' एवं 'त्याग' शब्दों का अर्थ क्या है? देखो गीतारहस्य प्र. ११, पृ. ३४८–३५१।]

अर्जुन ने कहा :– (१) हे महाबाहु, हृषीकेश! मैं संन्यास का तत्त्व और हे केशिदैत्य-निषूदन! त्याग का तत्त्व पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ।

[संन्यास और त्याग शब्दों के उन अर्थों अथवा भेदों को जानने के लिये यह प्रश्न नहीं किया गया है कि जो कोशकारों ने किये हैं। यह न समझना चाहिये कि अर्जुन यह भी न जानता था कि दोनों का तात्पर्य 'छोड़ना' है। परन्तु बात यह है कि भगवान् कर्म छोड़ देने की आज्ञा कहीं भी नहीं देते; बल्कि चौथे, पाँचवें अथवा छठवें अध्याय (४. ४१; ५. १३; ६. १) में या अन्यत्र जहाँ कहीं संन्यास का वर्णन है, वहाँ उन्हों ने यही कहा है कि केवल फलाशा का 'त्याग' करके (गीता १२. ११) सब कर्मों का 'संन्यास' करो – अर्थात् सब कर्म परमेश्वर को समर्पण करो (३. ३०; १२. ६)। और उपनिषदों में देखें, तो कर्मत्यागप्रधान संन्यासधर्म के वचन पाये जाते हैं कि "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कै. १. २; नारायण १२. ३)। सब कर्मों का 'स्वरूपतः त्याग' करने से ही कई एकों ने मोक्ष प्राप्त किया है; अथवा "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः" (मुण्डक ३. २. ६) – कर्मत्यागरूपी 'संन्यास योग' से शुद्ध होनेवाले 'यति'; या "किं प्रजया करिष्यामः" (बृ. ४. ४. २२) – हमें पुत्रपौत्र आदि प्रजा से क्या काम है? अतएव अर्जुन ने समझा कि भगवान् स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित चार आश्रमों में से कर्मत्यागरूपी संन्यास आश्रम के लिये 'त्याग' और 'संन्यास' शब्दों का उपयोग नहीं करते; किन्तु वे और किसी अर्थ में उन शब्दों का उपयोग करते हैं। इसी से अर्जुन ने चाहा कि उस अर्थ का पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाय। इसी हेतु से उसने उक्त प्रश्न किया है। गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३४८–३५१) में इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा – (२) (जितने) काम्य कर्म हैं उनके न्यास अर्थात् छोड़ने को ज्ञानी लोग संन्यास समझते हैं (तथा) समस्त कर्मों के फलों के त्याग को पण्डित लोग त्याग कहते हैं।

[इस श्लोक में स्पष्टतया बतला दिया है कि कर्मयोगमार्ग में संन्यास और त्याग किसे कहते हैं ? परन्तु संन्यासमार्गीय टीकाकारों को यह मत ग्राह्य नहीं। इस कारण उन्हों ने इस श्लोक की बहुत कुछ खींचातानी की है। श्लोक में प्रथम ही 'काम्य' शब्द आया है। अतएव इन टीकाकारों का मत है कि यहाँ मीमांसकों के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध प्रभृति कर्मभेद विवक्षित हैं और उनकी समझ में भगवान् का अभिप्राय यह है कि उनमें से केवल काम्य कर्मों ही को छोड़ना चाहिये। परन्तु संन्यासमार्गीय लोगों को नित्य और नैमित्तिक कर्म भी नहीं चाहिये। इसलिये उन्हें यों प्रतिपादन करना पड़ा है कि यहाँ नित्य और नैमित्तिक कर्मों का काम्य कर्मों में ही समावेश किया गया है। इतना करने पर भी इस श्लोक के उत्तरार्ध में जो कहा गया है कि फलाशा छोड़ना चाहिये न कि कर्म (आगे छठा श्लोक देखिये) उसका मेल मिलता ही नहीं। अतएव अन्त में इन टीकाकारों ने अपने ही मन से यों कह कर समाधान कर लिया है कि भगवान ने यहाँ कर्मयोगमार्ग की कोरी स्तुति की है। उनका सच्चा अभिप्राय तो यही है कि कर्मों को छोड़ ही देना चाहिये! इससे स्पष्ट होता है कि संन्यास आदि सम्प्रदायों की दृष्टि से इस श्लोक का अर्थ ठीक ठीक नहीं लगता। वास्तव में इसका अर्थ कर्मयोगप्रधान ही करना चाहिये – अर्थात् फलाशा छोड़ कर मरणपर्यन्त सारे कर्म करते जाने का जो तत्त्व गीता में पहले अनेक बार कहा गया है, उसी के अनुरोध से यहाँ भी अर्थ करना चाहिये; तथा यही अर्थ सरल है और ठीक ठीक जमता भी है। पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि काम्य शब्द से इस स्थान में मीमांसकों का नित्य नैमित्तिक काम्य और निषिद्ध कर्म-विभाग अभिप्रेत नहीं है। कर्मयोगमार्ग में सब कर्मों के दो ही विभाग किये जाते हैं। एक 'काम्य' अर्थात् फलाशा से किये हुए कर्म और दूसरे 'निष्काम' अर्थात् फलाशा छोड़ कर किये हुए कर्म। मनुस्मृति में इन्हीं को क्रम से प्रवृत्त कर्म और 'निवृत्त' कर्म कहा है (देखो मनु. १२. ८८ और ८९)। कर्म चाहे नित्य हो, नैमित्तिक हो, काम्य हो, कायिक हो, वाचिक हो, मानसिक हो, अथवा सात्त्विक आदि भेद के अनुसार और किसी प्रकार के हों; उन सब को 'काम्य' अथवा

§§ त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

'निष्काम' इन दो में से किसी एक विभाग में आना ही चाहिये। क्योंकि काम अर्थात् फलाशा का होना अथवा न होना इन दोनों के अतिरिक्त फलाशा की दृष्टि से तीसरा भेद हो ही नहीं सकता। शास्त्र में जिस कर्म का जो फल कहा गया है – जैसे पुत्रप्राप्ति के लिये पुत्रेष्टि – उस फल की प्राप्ति के लिये वह कर्म किया जाय तो वह 'काम्य' है; तथा मन में उस फल की इच्छा न रख कर वही कर्म केवल कर्तव्य समझ कर किया जाय तो वह 'निष्काम' हो जाता है। इस प्रकार सब कर्मों के 'काम्य' और 'निष्काम' (अथवा मनु की परिभाषा के अनुसार प्रवृत्त और निवृत्त) ये ही दो भेद सिद्ध होते हैं। अब कर्मयोगी सब 'काम्य' कर्मों को सर्वथा छोड़ देता है। अतः सिद्ध हुआ कि कर्मयोग में भी काम्य कर्मों का संन्यास करना पड़ता है। फिर बच रहे निष्काम कर्म। सो गीता में कर्मयोगी को निष्काम कर्म करने का निश्चित उपदेश किया गया है सही; उसमें भी 'फलाशा' का सर्वथा त्याग करना पड़ता है (गीता ६. २)। अतएव त्याग का तत्त्व भी गीताधर्म में स्थिर ही रहता है। तात्पर्य यह है कि सब कर्मों को न छोड़ने पर भी कर्मयोगमार्ग में 'संन्यास' और 'त्याग' दोनों तत्त्व बने रहते हैं। अर्जुन को यही बात समझा देने के लिये इस श्लोक में संन्यास और त्याग दोनों की व्याख्या यों की गई है कि 'संन्यास' का अर्थ 'काम्यकर्मों को सर्वथा छोड़ देना' है; और 'त्याग' का यह मतलब है कि 'जो कर्म करना हो उनकी फलाशा न रखे'। पीछे जब यह प्रतिपादन हो रहा था कि संन्यास (अथवा सांख्य) और योग दोनों तत्त्वतः एक ही हैं; तब 'संन्यासी' शब्द का अर्थ (गीता ५. १–६ और ६. १, २ देखो) तथा इसी अध्याय में आगे 'त्यागी' शब्द का अर्थ भी (गीता १८. ११) इसी भाँति किया गया है और इस स्थान में वही अर्थ इष्ट है। यहाँ स्मार्तों का यह मत प्रतिपाद्य नहीं है कि क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रम का पालन करने पर अन्त में प्रत्येक मनुष्य को सर्वत्यागरूपी संन्यास अथवा चतुर्थाश्रम लिये बिना मोक्षप्राप्ति हो ही नहीं सकती। इससे सिद्ध होता है कि कर्मयोगी यद्यपि संन्यासियों का गेरुआ भेष धारण कर सब कर्मों का त्याग नहीं करता, तथापि वह संन्यास के सच्चे सच्चे तत्त्व का पालन किया करता है। इसलिये कर्मयोग का स्मृतिग्रन्थ से कोई विरोध नहीं होता। अब संन्यासमार्ग और मीमांसकों के कर्मसम्बन्धी वाद का उल्लेख करके कर्मयोग शास्त्र का (इस विषय में) अन्तिम निर्णय सुनाते हैं :–]

(३) कुछ पण्डितों का कथन है कि कर्म दोषयुक्त है। अतएव उसका (सर्वथा) त्याग करना चाहिये; तथा दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप और कर्म

> निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
> त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
> यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
> यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
> एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
> कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

को कभी न छोड़ना चाहिये। (४) अतएव हे भरतश्रेष्ठ! त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुन। पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है। (५) यज्ञ दान तप और कर्म का त्याग न करना चाहिये। इन (कर्मों) को करना ही चाहिये। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों के लिये (भी) पवित्र अर्थात् चित्तशुद्धिकारक हैं। (६) अतएव इन (यज्ञ, दान आदि) कर्मों को भी बिना आसक्ति रखे, फलों का त्याग करके (अन्य निष्काम कर्मों के समान ही लोकसंग्रह के हेतु) करते रहना चाहिये। हे पार्थ! इस प्रकार मेरा निश्चित मत (है तथापि) उत्तम है।

[कर्म का लेप अर्थात् बन्धकता कर्म में नहीं फलाशा में है। इसलिये पहले अनेक बार जो कर्मयोग का यह तत्त्व कहा गया है – कि सभी कर्मों को फलाशा छोड़ कर निष्कामबुद्धि से करना चाहिये – उसका यह उपसंहार है। संन्यासमार्ग का यह मत गीता को मान्य नहीं है कि सब कर्म दोषयुक्त अतएव त्याज्य हैं (देखो गीता १८. ४८ और ४९)। गीता केवल काम्यकर्मों का संन्यास करने के लिये कहती है। परन्तु धर्मशास्त्र में जिन कर्मों का प्रतिपादन है वे सभी काम्य ही हैं (गीता २. ४२–४४)। इसलिये अब कहना पड़ता है कि उनका भी संन्यास करना चाहिये और यदि ऐसा करते हैं तो यह यज्ञचक्र बन्द हुआ जाता है (३. १६)। एवं इससे सृष्टि के उद्ध्वस्त होने का भी अवसर आया जाता है। प्रश्न होता है कि तो फिर करना क्या चाहिये? गीता इसका यों उत्तर देती है कि यज्ञ, दान प्रभृति कर्म स्वर्गादि फलप्राप्ति के हेतु करने के लिये यद्यपि शास्त्र में कहा है तथापि ऐसी बात नहीं है कि यही लोकसंग्रह के लिये निष्कामबुद्धि से न हो सकते हों कि यज्ञ करना, दान देना और तप करना आदि मेरा कर्तव्य है (देखो गीता १७. ११, १७ और २०)। अतएव लोकसंग्रह के निमित्त स्वधर्म के अनुसार जैसे अन्यान्य निष्काम कर्म किये जाते हैं वैसे ही यज्ञ, दान आदि कर्मों को भी फलाशा और आसक्ति छोड़ कर करना चाहिये। क्योंकि वे सदैव 'पावन' अर्थात् चित्तशुद्धिकारक अथवा परोपकारबुद्धि बढ़ानेवाले हैं। मूल श्लोक में जो 'एतान्यपि = ये भी' शब्द हैं उनका अर्थ यही है कि अन्य निष्काम कर्मों के समान यज्ञ, दान आदि कर्म करना चाहिये। इस रीति से ये सब कर्म फलाशा छोड़

§§ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

[कर अथवा मक्तिद्वारा से केवल परमेश्वरार्पणबुद्धिपूर्वक किये जावें तो सृष्टि का चक्र चलता रहेगा और कर्ता के मन की फलाशा छूट जाने के कारण वे कर्म मोक्षप्राप्ति में बाधा भी नहीं डाल सकते। इस प्रकार सब बातों का ठीक ठीक मेल मिल जाता है। कर्म के विषय में कर्मयोगशास्त्र का यही अन्तिम और निश्चित सिद्धान्त है (गीता २ ४७ पर हमारी टिप्पणी देखो)। मीमांसकों के कर्मत्याग और गीता के कर्मयोग का भेद गीतारहस्य (प्र १ पृ २९७–२९७ और प्र ११ पृ ३४५–३४८) में अधिक स्पष्टता से दिखाया गया है। अर्जुन के प्रश्न करने पर संन्यास और त्याग के अर्थों का कर्मयोग की दृष्टि से इस प्रकार स्पष्टीकरण हो चुका। अब सात्त्विक आदि भेदों के अनुसार कर्म करने की भिन्न भिन्न रीतियों का वर्णन करके उसी अर्थ को दृढ करते हैं :–]

(७) जो कर्म (स्वधर्म के अनुसार) नियत अर्थात् स्थिर कर दिये गये हैं उनका संन्यास यानी त्याग करना (किसी को भी) उचित नहीं है। उनका मोह से किया त्याग तामस कहलाता है। (८) शरीर को कष्ट होने के डर से अर्थात् दुःखकारक होने के कारण ही यदि कोई कर्म छोड़ दें तो उसका वह त्याग राजस हो जाता है (तथा) त्याग का फल उसे नहीं मिलता। (९) हे अर्जुन! (स्वधर्मानुसार) नियत कर्म जब कार्य अथवा कर्तव्य समझ कर और आसक्ति एवं फल को छोड़ कर किया जाता है तब वह सात्त्विक त्याग समझा जाता है।

[सातवें श्लोक में 'नियत' शब्द का अर्थ कुछ लोग नित्यनैमित्तिक आदि भेदों में से 'नित्य' कर्म समझते हैं किन्तु वह ठीक नहीं है। नियतं कुरु कर्म त्वम् (गीता ३ ८) पद में नियत शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ यहाँ पर भी करना चाहिये। हम ऊपर कह चुके हैं कि यहाँ मीमांसकों की परिभाषा विवक्षित नहीं है। गीता ६ १ में 'नियत' शब्द के स्थान में 'कार्य' शब्द आया है और यहाँ नवें श्लोक में 'कार्य' एवं 'नियत' दोनों शब्द एकत्र आ गये हैं। इस अध्याय के आरम्भ में दूसरे श्लोक में यह कहा गया है कि स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले किसी भी कर्म को न छोड़ कर उसी को कर्तव्य समझ कर करते

§§ पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

§§ तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

(१३) हे महाबाहु! कोई भी कर्म होने के लिये सांख्यों के सिद्धान्त में पाँच कारण कहे गये हैं; उन्हें मैं बतलाता हूँ; सुन। (१४) अधिष्ठान (स्थान) तथा कर्ता, भिन्न भिन्न करण यानी साधन, (कर्ता की) अनेक प्रकार की पृथक् पृथक् चेष्टाएँ अर्थात् व्यापार और उसके साथ ही साथ पाँचवाँ (कारण) दैव है। (१५) शरीर से, वाणी से अथवा मन से मनुष्य जो जो कर्म करता है — फिर चाहे वह न्याय्य हो या विपरीत अर्थात् अन्याय्य — उसके उक्त पाँच कारण हैं।

(१६) वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जो संस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह समझे कि मैं ही अकेला कर्ता हूँ (समझना चाहिये कि) वह दुर्मति कुछ भी नहीं जानता। (१७) जिसे यह भावना ही नहीं है कि मैं कर्ता हूँ, तथा जिसकी बुद्धि अलिप्त है, वह यदि इन लोगों को मार डाले, तथापि (समझना चाहिये कि) उसने किसी को नहीं मारा; और वह (कर्म) उसे बन्धक भी नहीं होता।

[कुछ] टीकाकारों ने तेरहवें श्लोक के 'सांख्य' शब्द का अर्थ वेदान्तशास्त्र किया है। परन्तु अगला अर्थात् चौदहवाँ श्लोक नारायणीयधर्म (म. भा. शां. ३४७. ८७) में अक्षरशः आया है और वहाँ उसके पूर्व कापिलसांख्य के तत्त्व — प्रकृति और पुरुष — का उल्लेख है। अतः हमारा यह मत है कि सांख्य शब्द से इस स्थल में कापिलसांख्यशास्त्र ही अभिप्रेत है। पहले गीता में यह सिद्धान्त अनेक बार कहा गया है कि मनुष्य को न तो कर्मफल की आशा करनी चाहिये और न ऐसी अहंकारबुद्धि मन में अमुक करूँगा (गीता २. १९; २. ४७; ३. २७; ५. ८-११; १३. २९)। यहाँ पर वही सिद्धान्त यह कह कर दृढ़ किया है कि कर्म का फल होने के लिये मनुष्य ही अकेला कारण नहीं है (देखो

गीतार. प्र. ११)। चौदहवें श्लोक का अर्थ यह है, कि मनुष्य इस जगत् में हो या न हो, प्रकृति के स्वभाव के अनुसार जगत् का अखण्डित व्यापार चलता ही रहता है। और जिस कर्म को मनुष्य अपनी करतूत समझता है, वह केवल उसी के यत्न का फल नहीं है, वरन् उसके यत्न और संसार के अन्य व्यापारों अथवा चेष्टाओं की सहायता का परिणाम है। जैसे कि खेती मनुष्य के ही यत्न पर निर्भर नहीं है, उसकी सफलता के लिए धरती, बीज, पानी, खाद और बैल आदि के गुणधर्म अथवा व्यापारों की सहायता आवश्यक होती है। इसी प्रकार, मनुष्य के प्रयत्न की सिद्धि होने के लिये जगत् के भिन्न भिन्न व्यापारों की सहायता आवश्यक है; उनमें से कुछ व्यापारों को जानकर उनकी अनुकूलता पाकर ही मनुष्य यत्न किया करता है। परन्तु हमारे प्रयत्नों के लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल, सृष्टि के और भी कई व्यापार हैं कि जिनका हमें ज्ञान नहीं है। इसी को दैव कहते हैं; और कर्म की घटना का यह पाँचवाँ कारण कहा गया है। मनुष्य का यत्न सफल होने के लिये जब इतनी सब बातों की आवश्यकता है तथा जब उनमें से कई या तो हमारे बस की नहीं या हमें ज्ञात भी नहीं रहतीं, तब यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है कि मनुष्य का ऐसा अभिमान रखना निरी मूर्खता है कि मैं अमुक काम करूँगा; अथवा ऐसी फलाशा रखना भी मूर्खता का लक्षण है कि मेरे कर्म का फल अमुक ही होना चाहिये (देखो गीतार. प्र. ११ ३१८–३१९)। तथापि सत्रहवें श्लोक का अर्थ यों भी न समझ लेना चाहिये कि जिसकी फलाशा छूट जाय वह चाहे जो कुकर्म कर सकता है। साधारण मनुष्य जो कुछ करते हैं वह स्वार्थ के लोभ से करते हैं; इसलिये उनका बर्ताव अनुचित हुआ करता है। परन्तु जिसका स्वार्थ या लोभ नष्ट हो गया है अथवा फलाशा पूर्णतया विलीन हो गई है और जिसे प्राणिमात्र समान ही हो गये हैं, उससे किसी का भी अनहित नहीं हो सकता। कारण यह है कि दोष बुद्धि में रहता है, न कि कर्म में। अतएव जिसकी बुद्धि पहले से शुद्ध और पवित्र हो गई हो, उसका किया हुआ कोई कर्म यद्यपि लौकिक दृष्टि से विपरीत भले ही दिखलाई दे, तो भी न्याय से कहना पड़ता है कि उसका बीज शुद्ध ही होगा। फलतः उस कर्म के लिये फिर उस शुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य को जिम्मेदार न समझना चाहिये। सत्रहवें श्लोक का यही तात्पर्य है। स्थितप्रज्ञ, अर्थात् शुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य की निष्पापता के इस तत्त्व का वर्णन उपनिषदों में भी है (कौषी. ३. १ और पंचदशी. १४. १६ और १७ देखो)। गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३७[illegible]–३७७) में इस विषय का पूर्ण विवेचन किया है, इस लिये यहाँ पर उससे अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न करने पर संन्यास और त्याग [illegible] अर्थ की मीमांसा करके यह सिद्ध कर दिया कि स्वधर्मानुसार [illegible] शुद्ध बुद्धि और फलाशा छोड़ कर करते रहना है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥
§§ सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

[सात्त्विक अथवा सच्चा त्याग है । कर्मों को छोड़ बैठना सच्चा त्याग नहीं है । अब सत्रहवें अध्याय में कर्म के सात्त्विक आदि भेदों का जो विचार आरम्भ किया गया था उसी को यहाँ कर्मयोग की दृष्टि से पूरा करते हैं ।]

(१८) कर्मचोदना तीन प्रकार की है – ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तथा कर्मसंग्रह तीन प्रकार का है – करण, कर्म और कर्ता । (१९) गुणसंख्यानशास्त्र में अर्थात् कापिलसांख्यशास्त्र में कहा है कि ज्ञान, कर्म और कर्ता (प्रत्येक सत्त्व, रज और तम इन तीन) गुणों के भेदों से तीन प्रकार के हैं । उन (प्रकारों) को ज्यों-के त्यों (तुझे बतलाता हूँ) सुन ।

[कर्मचोदना और कर्मसंग्रह पारिभाषिक शब्द हैं । इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कर्म होने के पूर्व मन से उसका निश्चय करना पड़ता है । अतएव इस मानसिक विचार को 'कर्मचोदना' अर्थात् कर्म करने की प्राथमिक प्रेरणा कहते हैं । और, वह स्वभावतः ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाता के रूप से तीन प्रकार की होती है । एक उदाहरण लीजिये :– प्रत्यक्ष घड़ा बनाने के पूर्व कुम्हार (ज्ञाता) अपने मन से निश्चय करता है कि मुझे अमुक बात (ज्ञेय) करनी है और वह अमुक रीति से (ज्ञान) होगी । यह क्रिया कर्मचोदना हुई । इस प्रकार मन का निश्चय हो जाने पर वह कुम्हार (कर्ता) मिट्टी, चाक इत्यादि साधन (करण) इकट्ठे कर प्रत्यक्ष घड़ा (कर्म) तैयार करता है । यह कर्मसंग्रह हुआ । कुम्हार का कर्म घट तो है; पर उसी को मिट्टी का कार्य भी कहते हैं । इससे मालूम होगा कि कर्मचोदना शब्द से मानसिक अथवा अन्तःकरण की क्रिया का बोध होता है; और कर्मसंग्रह शब्द से उसी मानसिक क्रिया की जोड़ की बाह्यक्रियाओं का बोध होता है । किसी भी कर्म का पूर्ण विचार करना हो तो 'चोदना' और 'संग्रह' दोनों का विचार करना चाहिये । इनमें से ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) के लक्षण प्रथम ही तेरहवें अध्याय (१३. १८) में अध्यात्मदृष्टि से बतला आये हैं । परन्तु क्रियारूपी ज्ञान का लक्षण कुछ पृथक् होने के कारण अब इस त्रयी में से ज्ञान की और दूसरी त्रयी में से कर्म एवं कर्ता की व्याख्यायें दी जाती हैं :–]

(२०) जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि विभक्त अर्थात् भिन्न भिन्न

§§ नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

| विवक्षित है। अतः बीसवें श्लोक में वर्णित ज्ञान का लक्षण यद्यपि बाह्यतः मानसिक क्रियात्मक दिखाई देता है, तथापि उसी में इस ज्ञान के कारण देहस्वभाव पर होनेवाले परिणाम का भी समावेश करना चाहिये। यह बात गीतारहस्य के नौवें प्रकरण के अन्त (पृ. २४९–२५०) में स्पष्ट कर दी गई है। अस्तु; ज्ञान के भेद हो चुके। अब कर्म के भेद बतलाये जाते हैं :–]

(२३) फलप्राप्ति की इच्छा करनेवाला मनुष्य, (मन में) न तो प्रेम और द्वेष रख कर, बिना आसक्ति के (स्वधर्मानुसार) जो नियम अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म करता है उस (कर्म) को सात्त्विक कहते हैं। (२४) परन्तु काम अर्थात् फलाशा की इच्छा रखनेवाला अथवा अहङ्कारबुद्धि का (मनुष्य) बड़े परिश्रम से जो कर्म करता है, उसे राजस कहते हैं। (२५) तामस कर्म वह है कि जो मोह से बिना इन बातों का विचार किये आरम्भ किया जाता है कि अनुबन्धक अर्थात् आगे क्या होगा, पौरुष यानी अपना सामर्थ्य कितना है और (इसमें) नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं।

| [इन तीन भाँति के कर्मों में सभी प्रकार के कर्मों का समावेश हो जाता है। निष्काम कर्मों को ही सात्त्विक अथवा उत्तम क्यों कहा है? इस का विवेचन गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में किया गया है, उसे देखो और अकर्म भी वस्तुतः यही है (गीता ४. १९ पर हमारी टिप्पणी देखो)। गीता का सिद्धान्त है कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है। अतः कर्म के उक्त लक्षणों का वर्णन करते समय बार बार कर्ता की बुद्धि का उल्लेख किया गया है। स्मरण रहे कि कर्म सात्त्विकपन या तामसपन केवल उसके बाह्य परिणाम से निश्चित नहीं किया गया है (देखो गीतार. प्र. १२, पृ. ३८१–३८४)। इसी प्रकार २५ वें श्लोक से यह भी सिद्ध है कि फलाशा के छूट जाने पर यह न समझना चाहिये कि अगला पिछला या सारासार विचार किये बिना ही मनुष्य को चाहे जो कर्म करने की छुट्टी हो गई। क्योंकि २५ वें श्लोक में यह निश्चय किया है कि अनुबन्धक और फल का विचार किये बिना जो कर्म किया जाता है, वह तामस है; न कि सात्त्विक (गीतार. प्र. १२ पृ. ३८१–३८४ देखो)। अब इसी तत्त्व के अनुसार कर्ता के भेद बतलाते हैं :–]

§§ मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

§§ बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

(२६) जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं और मेरा' नहीं कहता, कार्य की सिद्धि हो या न हो (दोनों परिणामों के समय) जो (मन से) विकाररहित होकर धृति और उत्साह के साथ कर्म करता है, उसे सात्त्विक (कर्ता) कहते हैं। (२७) विषयासक्त, लोभी, (सिद्धि के समय) हर्ष और (असिद्धि के समय) शोक से युक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखनेवाला, हिंसात्मक और अशुचि कर्ता राजस कहलाता है। (२८) अयुक्त अर्थात् चंचल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्व से फूलनेवाला, ठग, नैष्कृतिक यानी दूसरों की हानि करनेवाला, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् देरी लगानेवाला या घड़ी भर के काम को महीने भर में करनेवाला कर्ता तामस कहलाता है।

[२८ वें श्लोक में नैष्कृतिक (निस्+कृत = छेदन करना, काटना) शब्द का अर्थ दूसरों के काम छेदन करनेवाला अथवा नाश करनेवाला है। परन्तु इसके बदले कुछ लोग 'नैकृतिक' पाठ मानते हैं। अमरकोश में 'निकृत' का अर्थ शठ लिखा गया है। परन्तु इस श्लोक में शठ विशेषण पहले आ चुका है, इसलिये हमने नैष्कृतिक पाठ को स्वीकार किया है। इन तीन प्रकार के कर्ताओं में से सात्त्विक कर्ता ही अकर्ता, अलिप्त-कर्ता अथवा कर्मयोगी है। ऊपर के श्लोक से प्रगट है कि फलाशा छोड़ने पर भी कर्म करने की आशा, उत्साह और सारासारविचार उस कर्मयोगी में बना ही रहता है। जगत् के त्रिविध विस्तार का यह वर्णन ही अब बुद्धि, धृति और सुख के विषय में भी किया जाता है। इन श्लोकों में बुद्धि का अर्थ वही व्यवसायात्मिका बुद्धि अथवा निश्चय करनेवाली इन्द्रिय अभिप्रेत है कि जिसका वर्णन दूसरे अध्याय (२. ४१) में हो चुका है। इसका स्पष्टीकरण गीतारहस्य के छठे प्रकरण (पृ. १३३ – १४३) में किया गया है]

(२९) हे धनंजय! बुद्धि और धृति के भी गुणों के अनुसार जो तीन प्रकार के भिन्न भिन्न (भेद) हैं, उन सब को मैं पूर्णतया कहता हूँ, सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥
§§ धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

(३०) हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति (अर्थात् किसी कर्म के करने) और निवृत्ति (अर्थात् न करने) को जानती है, एवं यह जानती है कि कार्य अर्थात् करने के योग्य क्या है और अकार्य अर्थात् करने के अयोग्य क्या है? किससे डरना चाहिये और किससे नहीं? किससे बन्धन होता है और किससे मोक्ष? वह बुद्धि सात्त्विक है। (३१) हे पार्थ! वह बुद्धि राजसी है कि जिससे धर्म और अधर्म का अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय नहीं होता। (३२) हे पार्थ! वह बुद्धि तामसी है, कि जो तम से व्याप्त होकर अधर्म को धर्म समझती है; और सब बातों में विपरीत यानी उलटी समझ कर देती है।

[इस प्रकार बुद्धि के विभाग करने पर सदसद्विवेकबुद्धि कोई स्वतन्त्र देवता नहीं रह जाती, किन्तु सात्त्विक बुद्धि में ही उसका समावेश हो जाता है। यह विवेचन गीतारहस्य के प्रकरण ६ पृष्ठ १४२–१४३ में किया गया है। बुद्धि के विभाग हो चुके, अब धृति के विभाग बतलाते हैं :–]

(३३) हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी अर्थात् इधर उधर न डिगनेवाली धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार, (कर्मफल-त्यागरूपी) योग के द्वारा (पुरुष) करता है, वह धृति सात्त्विक है। (३४) हे अर्जुन! प्रसङ्गानुसार फल की इच्छा रखनेवाला पुरुष जिस धृति से अपने धर्म, काम और अर्थ (पुरुषार्थ) को सिद्ध कर लेता है, वह धृति राजस है। (३५) हे पार्थ! जिस धृति से मनुष्य दुर्बुद्धि हो कर निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद नहीं छोड़ता, वह धृति तामस है।

§§ सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

['धृति' शब्द का अर्थ धैर्य है परन्तु यहाँ पर शारीरिक धैर्य से अभिप्राय नहीं है। इस प्रकरण में धृति शब्द का अर्थ मन का दृढ़निश्चय है। निर्णय करना बुद्धि का काम है सही परन्तु इस बात की भी आवश्यकता है, कि बुद्धि जो योग्य निर्णय करे वह सदैव स्थिर रहे। बुद्धि के निर्णय को ऐसा स्थिर या दृढ़ करना मन का धर्म है। अतएव कहना चाहिये कि धृति अथवा मानसिक धैर्य का गुण मन और बुद्धि दोनों की सहायता से उत्पन्न होता है। परन्तु इतना ही कह देने से सात्त्विक धृति का लक्षण पूर्ण नहीं हो जाता कि अव्यभिचारी अर्थात् इधर उधर विचलित न होनेवाले धैर्य के बल पर मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार करना चाहिये। बल्कि यह भी बतलाना चाहिये कि ये व्यापार किस वस्तु पर होते हैं? अथवा इन व्यापारों का कर्म क्या है? वह 'कर्म'योग शब्द से सूचित किया गया है। अतः 'योग' शब्द का अर्थ केवल 'एकाग्र-चित्त कर देने' से काम नहीं चलता। इसीलिये हमने इस शब्द का अर्थ पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार, कर्मयोग स्वरूपी योग किया है। सात्त्विक कर्म के और सात्त्विक कर्ता आदि के लक्षण बतलाते समय जैसे फल की आसक्ति छोड़ने को प्रधान गुण माना है वैसे ही सात्त्विक धृति का लक्षण बतलाने में भी उसी को प्रधान मानना चाहिये। इसके सिवा अगले ही श्लोक में यह वर्णन है कि राजस धृति फलाकांक्षी होती है। अतः इस प्रकार से भी सिद्ध होता है कि सात्त्विक धृति राजस धृति के विपरीत अफल-[illegible] होनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि निश्चय की दृढ़ता तो निरी मानसिक क्रिया है उसके भली या बुरी होने का विचार करने के अर्थ यह देखना चाहिये कि जिस कार्य के लिये उस क्रिया का उपयोग किया जाता है वह कार्य कैसा है। [illegible] और आलस्य आदि कामों में ही दृढ़निश्चय किया गया हो तो वह तामस है; फलाशापूर्वक नित्यव्यवहार के काम करने में लगाया गया हो तो राजस है और [illegible] योग में जो निश्चय किया गया हो, वह सात्त्विक है। इस प्रकार ये [illegible] अब बतलाते हैं कि [illegible] गुणानुसार सुख के तीन प्रकार कैसे होते हैं:]

(३६) [illegible] [illegible] [illegible] ... [illegible] [illegible] [illegible] (सुख) [illegible] और [illegible] दुःख का अन्त होता है; (३७) [illegible] आरम्भ में (तो) [illegible] [illegible] परन्तु [illegible] [illegible] आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है

> विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
> परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
> यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
> निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥
> §§ न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
> सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

उस (आध्यात्मिक) सुख को सात्त्विक कहते हैं। (३८) इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होनेवाला (अर्थात् आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है कि जो पहले तो अमृत के समान है पर अन्त में विष-सा रहता है। (३९) और जो आरम्भ में एवं अनुबन्ध अर्थात् परिणाम में भी मनुष्य को मोह में फँसाता है; और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्तव्य की भूल से उपजता है, उसे तामस सुख कहते हैं।

[३७ वें श्लोक में आत्मबुद्धि का अर्थ हमने 'आत्मनिष्ठबुद्धि' किया है। परन्तु 'आत्म' का अर्थ 'अपना' करके उसी पद का अर्थ 'अपनी बुद्धि' भी हो सकेगा। क्योंकि पहले (६. २१) कहा गया है कि अत्यन्त सुख केवल 'बुद्धि' से ही ग्राह्य और अतीन्द्रिय होता है। परन्तु अर्थ भी कोई क्यों न किया जाय? तात्पर्य एक ही है। कहा तो है कि सच्चा और नित्य सुख इन्द्रियोपभोग में नहीं है किन्तु वह केवल बुद्धिग्राह्य है। परन्तु जब विचार करते हैं कि बुद्धि को सच्चा और अत्यन्त सुख प्राप्त होने के लिये क्या करना पड़ता है? तब गीता के छठे अध्याय से (६. २१, २२) प्रगट होता है कि यह परमावधि का सुख आत्मनिष्ठबुद्धि हुए बिना प्राप्त नहीं होता। 'बुद्धि' एक ऐसी इन्द्रिय है कि जो एक ओर से त्रिगुणात्मक प्रकृति के विस्तार की ओर देखती है और दूसरी ओर से उसको आत्मस्वरूपी परब्रह्म का भी बोध हो सकता है कि जो इस प्रकृति के विस्तार के मूल में अर्थात् प्राणिमात्र में समानता से व्याप्त है। तात्पर्य यह है, कि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा बुद्धि को त्रिगुणात्मक प्रकृति के विस्तार से हटा कर जहाँ अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ किया – और पातञ्जलयोग के द्वारा साधनीय विषय यही है – तहाँ वह बुद्धि प्रसन्न हो जाती है और मनुष्य को सत्य एवं अत्यन्त सुख का अनुभव होने लगता है। गीतारहस्य के ५ वें प्रकरण (पृ. ११६–११७) में आध्यात्मिक सुख की श्रेष्ठता का विवरण किया जा चुका है। अब सामान्यतः यह बतलाते हैं कि जगत् में उक्त त्रिविध भेद ही भरा पड़ा है –]

(४०) इस पृथ्वी पर, आकाश में अथवा देवताओं में अर्थात् देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं कि जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो।

§§ ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

[अठारहवें श्लोक से यहाँ तक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के भेद बतला कर अर्जुन की आँखों के सामने इस बात का एक चित्र रख दिया है, कि सम्पूर्ण जगत् में प्रकृति के गुणभेद से विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है? तथा फिर प्रतिपादन किया है कि इन सब भेदों में सात्त्विक भेद श्रेष्ठ और ग्राह्य है। इन सात्त्विक भेदों में भी जो सब से श्रेष्ठ स्थिति है, उसी को गीता में त्रिगुणातीत अवस्था कहा है। गीतारहस्य के सातवें प्रकरण (पृ. १६८–१६९) में हम कह चुके हैं कि त्रिगुणातीत अथवा निर्गुण अवस्था गीता के अनुसार कोई स्वतन्त्र या चौथा भेद नहीं है। इसी न्याय के अनुसार मनुस्मृति में भी सात्त्विक गति के ही उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन भेद करके कहा गया है कि उत्तम सात्त्विक गति मोक्षप्रद है और मध्यम गति स्वर्गप्रद है (मनु. १२. ४८–५० और ८९–९१ देखो)। जगत् में जो प्रकृति है उसकी विचित्रता का यहाँ तक वर्णन किया गया। अब इस गुणविभाग से ही चातुर्वर्ण्यव्यवस्था की उत्पत्ति का निरूपण किया जाता है। यह बात पहले कई बार कही जा चुकी है कि (देखो १८. ७–९, २३ और ३. ८) स्वधर्मानुसार प्रत्येक मनुष्य को अपना नियत अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म फलाशा छोड़ कर, परन्तु धृति, उत्साह और सारासार विचार के साथ साथ करते जाना ही संसार में उसका कर्तव्य है। परन्तु जिस बात से कर्म 'नियत' होता है, उसका बीज अब तक कहीं भी नहीं बतलाया गया। पीछे एक बार चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का कुछ थोड़ा-सा उल्लेख कर (४. १३) कहा गया है कि कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय शास्त्र के अनुसार करना चाहिये (गीता १६. २४)। परन्तु जगत् के व्यवहार को किसी नियमानुसार जारी रखने के हेतु (देखो गीतार. प्र. ११–१२ पृ. ३३६–३४१ और प्र. १५ पृ. ४९०–) जिस गुणकर्म-विभाग के तत्त्व पर चातुर्वर्ण्यरूपी शास्त्रव्यवस्था निर्मित की गई है उसका पूर्ण स्पष्टीकरण उस स्थान में नहीं किया गया। अतएव जिस संस्था से समाज में हर एक मनुष्य का कर्तव्य नियत होता है अर्थात् स्थिर किया जाता है, उस चातुर्वर्ण्य की गुणकर्मविभाग के अनुसार, उत्पत्ति के साथ ही साथ अब प्रत्येक वर्ण के नियत किये हुए कर्तव्य भी कहे जाते हैं –]

(४१) हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभावजन्य अर्थात् प्रकृतिसिद्ध गुणों के अनुसार पृथक् पृथक् बँटे हुए हैं। (४२) ब्राह्मण का स्वभावजन्य कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता (आर्जव), ज्ञान

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

§ § स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान यानी विविध ज्ञान और आस्तिक्यबुद्धि है। (४१) शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और (प्रजा पर) हुकूमत करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। (४४) कृषि अर्थात् खेती, गोरक्षा यानी पशुओं को पालने का उद्यम और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यों का स्वभावजन्य कर्म है। और, इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।

[चातुर्वर्ण्यव्यवस्था स्वभावजन्य गुणभेद से निर्मित हुई है। यह न समझा जाय कि यह उपपत्ति पहले पहल गीता में ही बतलाई गई है। किन्तु महाभारत के वनपर्वान्तर्गत नहुष-युधिष्ठिरसंवाद में और द्विज-व्याध-संवाद (वन. १८ और २११) में, शान्तिपर्व के भृगु-भरद्वाजसंवाद (शां. १८८) में, अनुशासनपर्व के उमा-महेश्वर-संवाद (अनु. १४३) में और अश्वमेधपर्व (३९. ११) की अनुगीता में गुणभेद की यही उपपत्ति कुछ अन्तर से पाई जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है, कि जगत् के विविध व्यवहार प्रकृति के गुणभेद से हो रहे हैं। फिर सिद्ध किया गया है कि मनुष्य का यह कर्त्तव्यकर्म – कि किसे क्या करना चाहिये – जिस चातुर्वर्ण्यव्यवस्था से नियत किया जाता है वह व्यवस्था भी प्रकृति के गुणभेद का परिणाम है। अब यह प्रतिपादन करते हैं कि उक्त कर्म हरएक मनुष्य को निष्कामबुद्धि से अर्थात् परमेश्वरार्पणबुद्धि से ही करना चाहिये। अन्यथा जगत् का कारोबार नहीं चल सकता तथा मनुष्य के आचरण से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। सिद्धि पाने के लिये और कोई दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है :–]

(४५) अपने अपने (स्वभावजन्य गुणों के अनुसार [illegible] होनेवाले) कर्मों में नित्य रत (रहनेवाला) पुरुष [illegible]) परम सिद्धि पा[illegible] जो अपने कर्मों में तत्पर रहने से सिद्धि कैसे [illegible] (४६) प्राणिमा[illegible] प्रवृत्ति हुई है और जिसने सारे जगत् का [illegible] है अथवा जि[illegible] व्याप्त है

§§ श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

उसकी अपने (स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मों के द्वारा (केवल वाणी अथवा फूलों से ही नहीं) पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

[इस प्रकार प्रतिपादन किया गया कि चातुर्वर्ण्य के अनुसार प्राप्त होनेवाले कर्मों को निष्कामबुद्धि से अथवा परमेश्वरार्पणबुद्धि से करना विराट्-रूपी परमेश्वर का एक प्रकार का यजन-पूजन ही है, तथा इसी से सिद्धि मिल जाती है (गीतार. प्र. ११ पृ. ४३९-४४)। अब उक्त गुणभेदानुसार स्वभावतः प्राप्त होनेवाला कर्तव्य किसी दूसरी दृष्टि से सदोष, असाध्य, कठिन अथवा अप्रिय भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, इस अवसर पर क्षत्रियधर्म के अनुसार युद्ध करने में हत्या होने के कारण वह सदोष दिखाई देगा। तो ऐसे समय पर मनुष्य को क्या करना चाहिये? क्या वह स्वधर्म को छोड़ कर अन्य धर्म स्वीकार कर ले (गीता ३. ३५)? या कुछ भी हो, स्वकर्म को ही करता जावे? यदि स्वकर्म ही करना चाहिये, तो कैसे करे? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर इसी न्याय के अनुरोध से बतलाया जाता है कि जो इस अध्याय में प्रथम (१८. ६) यज्ञ-याग आदि कर्मों के सम्बन्ध में कहा गया है —]

(४७) यद्यपि परधर्म का आचरण सहज हो तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यविहित कर्म विगुण यानी सदोष होने पर भी अधिक कल्याणकारक है। स्वभावसिद्ध अर्थात् गुणस्वभावानुसार निर्मित की हुई चातुर्वर्ण्यव्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ अपना कर्म करने में कोई पाप नहीं लगता। (४८) हे कौन्तेय! जो कर्म सहज है अर्थात् जन्म से ही गुणकर्मविभागानुसार नियत हो गया है, वह सदोष हो तो भी उसे (कभी) न छोड़ना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण आरम्भ अर्थात् उद्योग (किसी न किसी) दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं, जैसे कि धुएँ से आग घिरी रहती है। (४९) अतएव कहीं भी आसक्ति न रख कर मन को वश में करके निष्कामबुद्धि से चलने पर (कर्मफल के) संन्यास द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त हो जाती है।

[इस उपसंहारात्मक अध्याय में पहले [illegible] इन्हीं विषयों का अब फिर से व्यक्त कर बतलाया गया है कि परधर्म की अपेक्षा स्वधर्म श्रेष्ठ है (गीता ३. ३५) और नैष्कर्म्य पाने के लिये कर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

§§ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान यानी विविध ज्ञान और आस्तिक्यबुद्धि है। (४३) शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और (प्रजा पर) हुकूमत करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। (४४) कृषि अर्थात् खेती, गोरक्ष्य यानी पशुओं को पालने का उद्यम और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यों का स्वभावजन्य कर्म है। और, इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।

[चातुर्वर्ण्यव्यवस्था स्वभावजन्य गुणभेद से निर्मित हुई है। यह न समझा जाय कि यह उपपत्ति पहले पहल गीता में ही बतलाई गई है। किन्तु महाभारत के वनपर्वान्तर्गत नहुष-युधिष्ठिरसंवाद में और द्विज-व्याध-संवाद (वन. १८० और २११) में, शान्तिपर्व के भृगु-भरद्वाजसंवाद (शां. १८८) में, अनुशासनपर्व के उमा-महेश्वर-संवाद (अनु. १४३) में और अश्वमेधपर्व (३९. ११) की अनुगीता में गुणभेद की यही उपपत्ति कुछ अन्तर से पाई जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जगत् के विविध व्यवहार प्रकृति के गुणभेद से हो रहे हैं। फिर सिद्ध किया गया है कि मनुष्य का यह कर्तव्यकर्म – कि जिसे क्या करना चाहिये – जिस चातुर्वर्ण्यव्यवस्था से नियत किया जाता है, वह व्यवस्था भी प्रकृति के गुणभेद का परिणाम है। अब यह प्रतिपादन करते हैं कि उक्त कर्म हरएक मनुष्य को निष्कामबुद्धि से अर्थात् परमेश्वरार्पणबुद्धि से ही करना चाहिये। अन्यथा जगत् का कारोबार नहीं चल सकता; तथा मनुष्य के आचरण से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। सिद्धि पाने के लिये और कोई दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है –]

(४५) अपने अपने (स्वभावजन्य गुणों के अनुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मों में नित्य रत (रहनेवाला) पुरुष (उसी से) परम सिद्धि पाता है। सुनो, अपने कर्मों में तत्पर रहने से सिद्धि कैसे मिलती है? (४६) प्राणिमात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिसने सारे जगत् का विस्तार किया है अथवा जिससे सब जगत् व्याप्त है,

§§ सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

(५०) हे कौन्तेय! (इस प्रकार) सिद्धि प्राप्त होने पर (उस पुरुष को ज्ञान की परम निष्ठा – ब्रह्म – जिस रीति से प्राप्त होती है, उसको मैं संक्षेप से बतलाता हूँ, सुन। (५१) शुद्ध बुद्धि से युक्त हो करके, धैर्य से आत्मसंयमन कर, शब्द आदि (इन्द्रियों के) विषयों को छोड़ करके और प्रीति एवं द्वेष को दूर कर (५२) विविक्त अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थल में रहनेवाला, मिताहारी, काया वाचा और मन को वश में रखनेवाला, नित्य ध्यानयुक्त और विरक्त, (५३) (तथा) अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह अर्थात् पाश को छोड़ कर शान्त एवं ममता से रहित मनुष्य ब्रह्मभूत होने के लिये समर्थ होता है। (५४) ब्रह्मभूत हो जाने पर प्रसन्नचित्त हो कर वह न तो किसी की आकांक्षा ही करता है, और न किसी का द्वेष ही; तथा समस्त प्राणिमात्र में सम हो कर मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है। (५५) भक्ति से उसको मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है, कि मैं कितना हूँ और कौन हूँ; इस प्रकार मेरी तात्त्विक पहचान हो जाने पर वह मुझमें ही प्रवेश करता है। (५६) और मेरा ही आश्रय कर सब कर्म करते रहने पर भी उसे मेरे अनुग्रह से शाश्वत एवं अव्यय स्थान प्राप्त होता है।

[यह [illegible] कि [illegible] का उक्त [illegible] कर्मयोगियों का है – कर्मसंन्यास [illegible] पुरुष का नहीं [illegible] भगवान् ने ही [illegible] और [illegible] में कहा है [illegible]]

है (गीता ३. ४) इत्यादि। हम गीता के तीसरे अध्याय में चौथे श्लोक की टिप्पणी में ऐसे प्रश्नों का स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि नैष्कर्म्य क्या वस्तु है? और सच्ची नैष्कर्म्यसिद्धि किसे कहना चाहिये? उक्त सिद्धान्त की महत्ता इस बात पर ध्यान दिये रहने से सहज ही समझ में आ जावेगी कि संन्यासमार्गवालों की दृष्टि केवल मोक्ष पर ही रहती है और भगवान् की दृष्टि मोक्ष एवं लोकसंग्रह दोनों पर समान ही है। लोकसंग्रह के लिये अर्थात् समाज के धारण और पोषण के निमित्त ज्ञानविज्ञानयुक्त पुरुष अथवा रण में तलवार का जौहर दिखलानेवाले शूर क्षत्रिय तथा किसान वैश्य रोजगारी लुहार, बढ़ई कुम्हार और मांसविक्रेता व्याध तक की भी आवश्यकता है। परन्तु यदि कर्म छोड़े बिना सचमुच मोक्ष नहीं मिलता तो सब लोगों को अपना अपना व्यवसाय छोड़ कर संन्यासी बन जाना चाहिये। कर्मसंन्यासमार्ग के लोग इस बात की ऐसी कुछ परवाह नहीं करते। परन्तु गीता की दृष्टि इतनी संकुचित नहीं है। इसलिये गीता कहती है कि अपने अधिकार के अनुसार प्राप्त हुए व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे के व्यवसाय को भला समझ कर के करने लगना उचित नहीं है। कोई भी व्यवसाय लीजिये उसमें कुछ-न-कुछ त्रुटि अवश्य रहती ही है। जैसे ब्राह्मण के लिये विशेषतः विहित जो शान्ति है (१८. ४२) उसमें भी एक बड़ा दोष यह है कि क्षमावान् पुरुष दुर्बल समझा जाता है (म. भा. शां. ११. ३४) और व्याध के पेशे में मांस बेचना भी एक झंझट ही है (म. भा. वन. २०६)। परंतु इन कठिनाइयों से उकता कर कर्म को ही छोड़ बैठना उचित नहीं है। किसी भी कारण से क्यों न हो जब एक बार किसी कर्म को अपना लिया तो फिर उसकी कठिनाई या अप्रियता की परवाह न करके उसे आसक्ति छोड़ कर करना ही चाहिये। क्योंकि मनुष्य की लघुता-महत्ता उसके व्यवसाय पर निर्भर नहीं है। किन्तु जिस बुद्धि से वह अपना व्यवसाय या काम करता है उसी बुद्धि पर उसकी योग्यता अध्यात्मदृष्टि से अवलम्बित रहती है (गीता २. ४७)। जिसका मन शान्त है, और जिसने सब प्राणियों के अन्तर्गत एकता को पहचान लिया है वह मनुष्य जाति या व्यवसाय से चाहे कसाई, निष्काम बुद्धि से व्यवसाय करनेवाला वह मनुष्य स्नानसंध्याशील ब्राह्मण अथवा शूर क्षत्रिय की बराबरी का माननीय और मोक्ष का अधिकारी है। यही नहीं बरन् ४९ वे श्लोक में स्पष्ट कहा है कि कर्म छोड़ने से जो सिद्धि प्राप्त की जाती है वही निष्कामबुद्धि से अपना अपना व्यवसाय करनेवाले को भी मिलती है। भागवतधर्म का जो कुछ रहस्य है यह है वह यही है तथा महाराष्ट्र देश के साधुसन्तों के इतिहास से स्पष्ट होता है कि उक्त रीति से आचरण करके निष्कामबुद्धि के तत्त्व को अमल में लाना कुछ असम्भव नहीं है (देखो गीतार. प्र. ११ पृ. २८) अब बतलाते हैं, कि अपने अपने कर्मों में तत्पर रहने से ही अन्त में मोक्ष कैसे प्राप्त होता है?]

§§ सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

(५०) हे कौन्तेय! (इस प्रकार) सिद्धि प्राप्त होने पर (उस पुरुष को ज्ञान की परम निष्ठा – ब्रह्म – जिस रीति से प्राप्त होती है, उसका मैं संक्षेप से वर्णन करता हूँ, सुन। (५१) शुद्ध बुद्धि से युक्त हो करके धैर्य से आत्मसंयमन कर, शब्द आदि (इन्द्रियों के) विषयों को छोड़ करके और प्रीति एवं द्वेष को दूर कर (५२) 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थल में रहनेवाला, मिताहारी, काया वाचा और मन को वश में रखनेवाला, नित्य ध्यानयुक्त और विरक्त, (५३) (तथा) अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह अर्थात् पाश का त्याग कर शान्त एवं ममता से रहित मनुष्य ब्रह्मभूत होने के लिये समर्थ होता है। (५४) ब्रह्मभूत हो जाने पर प्रसन्नचित्त हो कर वह न तो किसी की आकांक्षा ही करता है; और न किसी का द्वेष ही; तथा समस्त प्राणिमात्र में सम हो कर मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है। (५५) भक्ति से उसको मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है, कि मैं कितना हूँ और कौन हूँ; इस प्रकार मेरी तात्त्विक पहचान हो जाने पर वह मुझमें ही प्रवेश करता है। (५६) और मेरा ही आश्रय कर सब कर्म करते रहने पर भी उसे मेरे अनुग्रह से शाश्वत एवं अव्यय स्थान प्राप्त होता है।

[ध्यान रहे कि सिद्धावस्था का उक्त वर्णन कर्मयोगियों का है – कर्मसंन्यास करनेवाले पुरुषों का नहीं। आरम्भ में ही ४९ वें और ५६ वें श्लोक में कहा है

§§ चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

[कि उक्त वर्णन आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवालों का है तथा अन्त के ५१ वें श्लोक में सब कर्म करते रहने पर भी शब्द आये हैं। उक्त वचन भक्तों के अथवा त्रिगुणातीतों के ही समान हैं। यहाँ तक कि, कुछ शब्द भी उसी वर्णन से लिये गये हैं। उदाहरणार्थ, ५१ वे श्लोक का 'परिग्रह' शब्द आठवें अध्याय (६. १०) में योगी के वर्णन में आया है; ५४ वें श्लोक का 'न शोचति न कांक्षति' पद बारहवें अध्याय (१२. १७) में भक्तिमार्ग के वचन में है और 'विविक्तसेवी' (अर्थात् चुने हुए एकान्त स्थल में रहना) शब्द १३ वें अध्याय के १० वे श्लोक में आ चुका है। कर्मयोगी को प्राप्त होनेवाली उपर्युक्त अन्तिम स्थिति और कर्मसंन्यासमार्ग से प्राप्त होनेवाली अन्तिम स्थिति दोनों केवल मानसिक दृष्टि से एक ही हैं। इसी से संन्यासमार्गीय टीकाकारों को यह कहने का अवसर मिल गया है कि उक्त वचन हमारे ही मार्ग का है। परन्तु हम कई बार कह चुके हैं कि यह सच्चा अर्थ नहीं है। अस्तु; इस अध्याय के आरम्भ में प्रतिपादन किया गया है कि संन्यास का अर्थ कर्मत्याग नहीं है किन्तु फलाशा के त्याग को ही संन्यास कहते हैं। जब संन्यास शब्द का इस प्रकार अर्थ हो चुका तब यह सिद्ध है कि यज्ञ, दान आदि कर्म चाहे काम्य हों चाहे नित्य हों या नैमित्तिक, उनको अन्य सब कर्मों के समान ही फलाशा छोड़ कर उत्साह और समता से करते जाना चाहिये। तदनन्तर संसार के कर्म, कर्ता, बुद्धि आदि सम्पूर्ण विषयों की गुणभेद से अनेकता दिखला कर उनमें सात्त्विक को श्रेष्ठ कहा है; और गीताशास्त्र का इत्यर्थ यह बतलाया है कि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के द्वारा स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले समस्त कर्मों को आसक्ति छोड़ कर करते जाना ही परमेश्वर का यजनपूजन करना है। एवं क्रमशः इसी से अन्त में परब्रह्म अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है – मोक्ष के लिये कोई दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है अथवा कर्मत्यागरूपी संन्यास लेने की भी जरूरत नहीं है। केवल इस कर्मयोग से ही मोक्षसहित सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अब इसी कर्मयोगमार्ग का स्वीकार कर लेने के लिये अर्जुन को फिर एक बार अन्तिम उपदेश करते हैं :–]

(५७) मन से सब कर्मों को मुझमें 'संन्यस्य' अर्थात् समर्पित करके मत्परायण होता हुआ (साम्य) बुद्धियोग के आश्रय से हमेशा मुझमें चित्त रख।

[बुद्धियोग शब्द दूसरे ही अध्याय (२. ४९) में आ चुका है और वहाँ उसका अर्थ फलाशा में बुद्धि न रख कर कर्म करने की युक्ति अथवा समत्व बुद्धि है। यही अर्थ यहाँ भी विवक्षित है। दूसरे अध्याय में जो यह कहा था

§ § सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

मैंने यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान तुझसे कहा है। इसका पूर्ण विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।

[इन श्लोकों में कर्मपराधीनता का जो गूढ़ तत्त्व बतलाया गया है, उसका विचार गीतारहस्य के १० वें प्रकरण में विस्तारपूर्वक हो चुका है। यद्यपि आत्मा स्वयं स्वतन्त्र है, तथापि जगत् के अर्थात् प्रकृति के व्यवहार को देखने से मालूम होता है कि उस कर्म के चक्र पर आत्मा का कुछ भी अधिकार नहीं है, कि जो अनादि काल से चल रहा है। जिनकी हम इच्छा नहीं करते, बल्कि जो हमारी इच्छा के विपरीत भी हैं, ऐसी सैकड़ों-हजारों बातें संसार में हुआ करती हैं; तथा उनके व्यापार के परिणाम भी हम पर होते रहते हैं। अथवा उक्त व्यापारों का ही कुछ भाग हमें करना पड़ता है। यदि इन्कार करते हैं तो बनता नहीं है। ऐसे अवसर पर ज्ञानी मनुष्य अपनी बुद्धि को निर्मल कर और सुख या दुःख को एक सा समझ कर सब कर्म किया करता है; किन्तु मूर्ख मनुष्य उनके फन्दे में फँस जाता है। इन दोनों के आचरण में यही महत्त्वपूर्ण भेद है। भगवान् ने तीसरे ही अध्याय में कह दिया है कि "सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार चलते रहते हैं, वहाँ निग्रह क्या करेगा?" (गीता ३. ३३)। ऐसी स्थिति में मोक्षशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र इतना उपदेश कर सकता है कि कर्म में आसक्ति मत रखो। इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। यह अध्यात्मदृष्टि से विचार हुआ। परन्तु भक्ति की दृष्टि से प्रकृति भी तो ईश्वर का ही अंश है। अतः यही सिद्धान्त ६१ वें और ६२ वें श्लोक में ईश्वर को सारा कर्तृत्व सौंप कर बतलाया गया है। जगत् में जो कुछ व्यवहार हो रहे हैं, उन्हें परमेश्वर जैसे चाहता है, वैसा करता रहता है। इसलिये ज्ञानी मनुष्य को उचित है कि अहङ्कारबुद्धि छोड़ कर अपने आप को सर्वथा परमेश्वर के ही हवाले कर दे। ६३ वें श्लोक में भगवान् ने कह दिया है कि "जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर"; परन्तु उसका अर्थ बहुत गम्भीर है। ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा जहाँ बुद्धि साम्यावस्था में पहुँची, वहाँ फिर बुरी इच्छा बचने ही नहीं पाती। अतएव ऐसे ज्ञानी पुरुष का 'इच्छा-स्वातन्त्र्य' (इच्छा की स्वाधीनता) उसे अथवा जगत् को कभी अहितकारक नहीं हो सकता। इसी से उक्त श्लोक का ठीक ठीक भावार्थ यह है कि "ज्यों ही तू इस ज्ञान को समझ गया (विमृश्य) त्यों ही तू स्वयंप्रकाश हो जायगा; और फिर (पहले से नहीं) तू अपनी इच्छा से जो कर्म करेगा वही धर्म्य एवं प्रमाण होगा तथा स्थितप्रज्ञ की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर तेरी इच्छा को रोकने की आवश्यकता ही न रहेगी।" अस्तु; गीतारहस्य के [illegible] वें प्रकरण में हम दिखला चुके हैं कि

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
>
> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

[गीता में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का ही अधिक महत्त्व दिया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार अब सम्पूर्ण गीताशास्त्र का भक्तिप्रधान उपसंहार करते हैं :–]

(६४) (अब) अन्त की एक बात और सुन, कि जो सब से गुह्य है। तू मुझे अत्यन्त प्यारा है। इसलिये मैं तेरे हित की बात कहता हूँ। (६५) मुझमें अपना मन रख। मेरा भक्त हो। मेरा यजन कर और मेरी वन्दना कर। मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि (इससे) तू मुझमें ही आ मिलेगा। (क्योंकि) तू मेरा प्यारा (भक्त) है। (६६) सब धर्मों को छोड़ कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत।

[कोरे ज्ञानमार्ग के टीकाकारों को यह भक्तिप्रधान उपसंहार प्रिय नहीं लगता। इसलिये वे धर्म शब्द में ही अधर्म का समावेश करके कहते हैं कि यह श्लोक कठोपनिषद् के इस उपदेश से समानार्थक है कि 'धर्म अधर्म, कृत-अकृत, और भूत भव्य, सब को छोड़ कर इनके परे रहनेवाले परब्रह्म को पहचानो' (कठ. २. १४); तथा इसमें निर्गुण ब्रह्म की शरण में जाने का उपदेश है। निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करते समय कठ उपनिषद् का श्लोक महाभारत में भी आया है। (शां. ३२९. ४०; ३३१. ४४)। परन्तु दोनों स्थानों पर धर्म और अधर्म दोनों पद जैसे स्पष्टतया पाये जाते हैं, वैसे गीता में नहीं हैं। यह सच है कि गीता निर्गुण ब्रह्म को मानती है और उसमें यह निर्णय भी किया है कि परमेश्वर का वही स्वरूप श्रेष्ठ है (गीता ७. २४)। तथापि गीता का यह भी तो सिद्धान्त है कि व्यक्तोपासना सुलभ और श्रेष्ठ है (१२. ५)। और यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूप के विषय में ही कह रहे हैं। इस कारण हमारा यह दृढ़ मत है कि यह उपसंहार भक्तिप्रधान ही है। अर्थात् यहाँ निर्गुण ब्रह्म विवक्षित नहीं है। किन्तु कहना चाहिये कि यहाँ पर धर्म शब्द से परमेश्वरप्राप्ति के लिये शास्त्रों में जो अनेक मार्ग बतलाये गये हैं – जैसे अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, मातृपितृसेवाधर्म, गुरुसेवाधर्म, यज्ञयागधर्म, दानधर्म, संन्यासधर्म, आदि – वे ही अभिप्रेत हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (३५४) में एवं अनुगीता (अश्व. ४९) में जहाँ इस विषय की चर्चा हुई है, वहाँ धर्म शब्द से मोक्ष के इन्हीं उपायों का उल्लेख किया गया है। परन्तु इस स्थान पर गीता के प्रतिपाद्य धर्म के अनुरोध से भगवान् का यह निश्चयात्मक उपदेश है कि उक्त नाना धर्मों की गड़बड़ में न पड़ कर, मुझे अकेले को ही भज; मैं तेरा उद्धार कर दूँगा

§ § सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

मैंने यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान तुझसे कहा है। इसका पूर्ण विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।

[इन श्लोकों में कर्मपराधीनता का जो गूढ़ तत्त्व बतलाया गया है उसका विचार गीतारहस्य के १० वें प्रकरण में विस्तारपूर्वक हो चुका है। यद्यपि आत्मा स्वयं स्वतन्त्र है, तथापि जगत् के अर्थात् प्रकृति के व्यापार को देखने से मालूम होता है कि उस कर्म के चक्र पर आत्मा का कुछ भी अधिकार नहीं है, कि जो अनादि काल से चल रहा है। जिनकी हम इच्छा नहीं करते, बल्कि जो हमारी इच्छा के विपरीत भी हैं, ऐसी सैकड़ों-हजारों बातें संसार में हुआ करती हैं तथा उनके व्यापार के परिणाम भी हम पर होते रहते हैं। अथवा उक्त व्यापारों का ही कुछ भाग हमें करना पड़ता है। यदि इन्कार करते हैं तो बनता नहीं है। ऐसे अवसर पर ज्ञानी मनुष्य अपनी बुद्धि को निर्मल कर और सुख या दुःख को एक-सा समझ कर सब कर्म किया करता है, किन्तु मूर्ख मनुष्य उनके फन्दे में फँस जाता है। इन दोनों के आचरण में यही महत्त्वपूर्ण भेद है। भगवान् ने तीसरे ही अध्याय में कह दिया है कि "सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार चलते रहते हैं, वहाँ निग्रह क्या करेगा?" (गीता ३. ३३)। ऐसी स्थिति में मोक्षशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र इतना उपदेश कर सकता है कि कर्म में आसक्ति मत रखो। इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता। यह अध्यात्मदृष्टि से विचार हुआ। परन्तु भक्ति की दृष्टि से प्रकृति भी तो ईश्वर का ही अंश है। अतः यही सिद्धान्त ६१ वें और ६२ वें श्लोक में ईश्वर को सारा कर्तृत्व सौंप कर बतलाया गया है। जगत् में जो कुछ व्यवहार हो रहे हैं उन्हें परमेश्वर जैसे चाहता है, वैसे करता रहता है। इसलिये ज्ञानी मनुष्य को उचित है कि अहंकारबुद्धि छोड़ कर अपने आप को सर्वथा परमेश्वर के ही हवाले कर दे। ६३ वें श्लोक में भगवान् ने कहा है सही कि "जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर," परन्तु उसका अर्थ बहुत गम्भीर है। ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा ज्यों ही बुद्धि साम्यावस्था में पहुँची, त्यों फिर बुरी इच्छा बचने ही नहीं पाती। अतएव ऐसे ज्ञानी पुरुष का 'इच्छा-स्वातन्त्र्य' (इच्छा की स्वाधीनता) उसे अथवा जगत् को कभी अहितकारक नहीं हो सकता। इसलिये उक्त श्लोक का ठीक ठीक भावार्थ यह है कि "ज्यों ही तू इस ज्ञान को समझ लेगा (विमृश्य) त्यों ही तू स्वयंप्रकाश हो जावेगा और फिर (पहले से नहीं) तू अपनी इच्छा से जो कर्म करेगा वही धर्म्य एवं प्रमाण होगा तथा स्थितप्रज्ञ की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर तेरी इच्छा को रोकने की आवश्यकता ही न रहेगी।" अस्तु; गीतारहस्य के १४ वें प्रकरण में हम लिख चुके हैं कि

§§ कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

सञ्जय उवाच ।

§§ इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

(७२) हे पार्थ! तुमने इसे एकाग्र मन से सुन तो लिया है न? (और) हे धनंजय! तुम्हारा अज्ञानरूपी मोह अब सर्वथा नष्ट हुआ कि नहीं? अर्जुन ने कहा :– (७३) हे अच्युत! तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे (कर्तव्यधर्म की) स्मृति हो गई। मैं (अब) निःसन्देह हो गया हूँ। आपके उपदेशानुसार (युद्ध) करूँगा।

[जिनकी साम्प्रदायिक समझ यह है कि गीताधर्म में भी संसार को छोड़ देने का उपदेश किया गया है, उन्होंने इस अन्तिम अध्याय ७३ वें श्लोक की बहुत कुछ निराधार खींचातानी की है। यदि विचार किया जाय कि अर्जुन को किस बात की विस्मृति हो गई थी? तो पता लगेगा कि दूसरे अध्याय (२. ७) में उसने कहा है कि अपना धर्म अथवा कर्तव्य समझने में मेरा मन असमर्थ हो गया है (धर्मसम्मूढचेता)। अतः उक्त श्लोक का सरल अर्थ यही है कि उसी (भूले हुए) कर्तव्यधर्म की अब उसे स्मृति हो आई है। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है और स्थान स्थान पर ये शब्द कहे हैं कि "इसलिये तू युद्ध कर" (गीता २. १८; २. ३७; ३. ३०; ८. ७; ११. ३४)। अतएव "इस आपकी आज्ञानुसार करूँगा" पद का अर्थ "युद्ध करता हूँ" ही होता है। अस्तु; श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद समाप्त हुआ। अब महाभारत की कथा के सन्दर्भानुसार सञ्जय धृतराष्ट्र को यह कथा सुना कर उपसंहार करता है :–]

सञ्जय ने कहा :– (७४) इस प्रकार शरीर को रोमाञ्चित करनेवाला वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत संवाद मैंने सुना। (७५) व्यासजी के अनुग्रह से मैंने यह परम गुह्य – यानी योग अर्थात् कर्मयोग – साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण ही के मुख से सुना है।

§§ इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन् मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

§§ अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

| डर मत' (देखो गीतार. पृ. ४६)। सार यह है कि अन्त में अर्जुन को निमित्त
| बना कर भगवान् सभी को आश्वासन देते हैं कि मेरी दृढ भक्ति करके मत्परायण-
| बुद्धि से स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जाने पर इहलोक और परलोक
| दोनों जगह तुम्हारा कल्याण होगा डरो मत। यही कर्मयोग कहलाता है और
| सब गीताधर्म का सार भी यही है। अब बतलाते हैं कि इस गीताधर्म की अर्थात्
| ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग की परम्परा आगे कैसे जारी रखी जावे :–]

(६७) जो तप नहीं करता भक्ति नहीं करता और सुनने की इच्छा नहीं रखता; तथा जो मेरी निन्दा करता हो उसे यह (गुह्य) कभी मत बतलाना। (६८) जो यह परम गुह्य मेरे भक्तों को बतलावेगा उसकी मुझ पर परम भक्ति होगी और वह निःसन्देह मुझमें ही आ मिलेगा। (६९) उसकी अपेक्षा मेरा अधिक प्रिय करनेवाला सम्पूर्ण मनुष्यों में दूसरा कोई भी न मिलेगा तथा इस भूमि में मुझे उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय और कोई न होगा।

| [परम्परा की रक्षा के इस उपदेश के साथ ही अब फल बतलाते हैं –]

(७०) हम दोनों के इस धर्मसंवाद का जो अध्ययन करेगा, मैं समझूँगा कि उसने ज्ञानयज्ञ से मेरी पूजा की। (७१) इसी प्रकार दोष न ढूँढ कर श्रद्धा के साथ जो कोई इसे सुनेगा वह भी (पापों से) मुक्त होकर उन शुभ लोकों में जा पहुँचेगा, कि जो पुण्यवान लोगों को मिलते हैं।

| [यहाँ उपदेश समाप्त हो चुका। अब यह जाँचने के लिये कि यह धर्म
| अर्जुन के समझ में ठीक ठीक आ गया है या नहीं? – भगवान् उससे पूछते हैं :–]

[सिद्धान्त का सार यह है, कि जहाँ युक्ति और शक्ति दोनों एकत्रित होती हैं वहाँ निश्चय ही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती है। कोरी शक्ति से अथवा केवल युक्ति से काम नहीं चलता। जब जरासन्ध का वध करने के लिये मन्त्रणा हो रही थी, तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा है कि 'अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः' (सभा. २०. १६) – बल अन्धा और जड़ है, बुद्धिमानों को चाहिये कि उसे मार्ग दिखावें; तथा श्रीकृष्ण ने भी यह कह कर, कि 'मयि नीतिर्बलं भीमे' (सभा. २०. ३) – मुझमें नीति है और भीमसेन के शरीर में बल है – भीमसेन को साथ ले उसके द्वारा जरासन्ध का वध युक्ति से कराया है। केवल नीति बतलानेवाले को आधा चतुर समझना चाहिये। अर्थात् योगेश्वर यानी योग या युक्ति के ईश्वर और धनुर्धर अर्थात् योद्धा, ये दोनों विशेषण इस श्लोक में हेतुपूर्वक दिये गये हैं।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[ध्यान रहे कि मोक्षसंन्यासयोग शब्द में संन्यास शब्द का अर्थ काम्य कर्मों का संन्यास है जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में कहा गया है; चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास यहाँ विवक्षित नहीं है। इस अध्याय में प्रतिपादन किया गया है कि स्वधर्म को न छोड़ कर उसे परमेश्वर में मन से संन्यास अर्थात् समर्पित कर देने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतएव इस अध्याय का मोक्षसंन्यासयोग नाम रखा गया है।]

इस प्रकार बाल गङ्गाधर तिलककृत श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्यसंजीवन नामक प्राकृत अनुवाद टिप्पणीसहित समाप्त हुआ।

गङ्गाधर पुत्र पुना वासी महाराष्ट्र द्विज
वैदिक तिलक बाल बुध । तिन्हमन
'गीतारहस्य' किया गीता का मर्मचिन्त कर
वार राम नाग भूमि शक में पूर्ण काम ।

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

॥ शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

[पहले ही लिखे आये हैं, कि व्यास ने संजय को दिव्यदृष्टि दी थी जिससे रणभूमि पर होनेवाली सारी घटनाएँ उसे घर बैठे ही दिखाई देती थीं। और उन्हीं का वृत्तान्त वह धृतराष्ट्र से निवेदन कर देता था। श्रीकृष्ण ने जिस योग का प्रतिपादन किया, वह कर्मयोग है (गीता ४. १–३) और अर्जुन ने पहले उसे 'योग' (साम्ययोग) कहा है (गीता ६. ३३); तथा अब संजय भी श्रीकृष्णार्जुन के संवाद को इस श्लोक में 'योग' ही कहता है। इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और संजय तीनों के मतानुसार 'योग' अर्थात् कर्मयोग ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। और अध्यायसमाप्तिसूचक संकल्प में भी वही – अर्थात् योगशास्त्र – शब्द आया है। परन्तु योगेश्वर शब्द में 'योग' शब्द का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। योग का साधारण अर्थ कर्म करने की युक्ति, कुशलता या शैली है। इसी अर्थ के अनुसार कहा जाता है कि बहुरूपिया योग से अर्थात् कुशलता से अपने स्वाँग बना लेता है। परन्तु जब कर्म करने की युक्तियों में श्रेष्ठ युक्ति को खोजते हैं, तब कहना पड़ता है कि जिस युक्ति से परमेश्वर मूल में अव्यक्त होने पर भी वह अपने आप को व्यक्त स्वरूप देता है, वही युक्ति अथवा योग सब में श्रेष्ठ है। गीता में इसी को 'ईश्वरी योग' (गीता ९. ५; ११. ८) कहा है। और वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, वह भी यही है (गीता ७. २५)। यह अलौकिक अथवा अघटित योग जिसे साध्य हो जाय, उसे अन्य सब युक्तियाँ तो हाथ का मैल है। परमेश्वर इन योगों का अथवा माया का अधिपति है। अतएव उसे योगेश्वर अर्थात् योगों का स्वामी कहते हैं। 'योगेश्वर' शब्द में योग का अर्थ पातञ्जलयोग नहीं है।]

(७६) हे राजा (धृतराष्ट्र)! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत एवं पुण्यकारक संवाद का स्मरण होकर मुझे बार बार हर्ष हो रहा है; (७७) और हे राजा! श्रीहरि के उस अत्यन्त अद्भुत विश्वरूप की भी बार बार स्मृति होकर मुझे बड़ा विस्मय होता है, और बार बार हर्ष होता है। (७८) मेरा मत है कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है, वहीं श्री, विजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति है।

[सिद्धान्त का सार यह है कि जहाँ युक्ति और शक्ति दोनों एकत्रित होती हैं वहाँ निश्चय ही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती हैं। कोरी शक्ति से अथवा केवल युक्ति से काम नहीं चलता। जब जरासन्ध का वध करने के लिये मन्त्रणा हो रही थी तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा है कि "अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः" (सभा. २ १६) – बल अन्धा और जड़ है बुद्धिमानों को चाहिये कि उसे मार्ग दिखलावें तथा श्रीकृष्ण ने भी यह कह कर, कि "मयि नीतिर्बलं भीमे" (सभा २ ३) – मुझमें नीति है और भीमसेन के शरीर में बल है – भीमसेन को साथ ले उसके द्वारा जरासन्ध का वध युक्ति से कराया है। केवल नीति बतलानेवाले को आधा चतुर समझना चाहिये। अर्थात् योगेश्वर यानी योग या युक्ति के ईश्वर और धनुर्धर अर्थात् योद्धा ये दोनों विशेषण इस श्लोक में हेतुपूर्वक दिये गये हैं।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[ध्यान रहे कि मोक्षसंन्यासयोग शब्द में संन्यास शब्द का अर्थ काम्य कर्मों का संन्यास है जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में कहा गया है। चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास यहाँ विवक्षित नहीं है; इस अध्याय में प्रतिपादन किया गया है कि स्वधर्म को न छोड़ कर उसे परमेश्वर में मन से संन्यास अर्थात् समर्पित कर देने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतएव इस अध्याय का मोक्षसंन्यासयोग नाम रखा गया है।]

इस प्रकार बाल गङ्गाधर तिलककृत श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्यसञ्जीवन नामक प्राकृत अनुवाद टिप्पणीसहित समाप्त हुआ।

गङ्गाधर पुत्र पूना-वासी महाराष्ट्र विप्र
वैदिक तिलक बाल बुध से विर्यायमान।
गीतारहस्य किया गीता का मर्मार्थ पर
वार बाण योग भूमि शक में सुभाग ज्ञान।

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

॥ शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु ॥

गीता के श्लोकों की सूची

ह

क्ष

ज्ञ

सूची

इस सूचीपत्र को ऊपर ऊपर से अवलोकन करने से वाचक उसकी रचना को समझ सकेंगे। ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के नाम अकारानुक्रम से दिये हैं। एक ही स्वरूप के ग्रन्थों की एक ही तालिका दी गई है यह वाचकों के ध्यान में आ जायगा। गीता के रहस्य के स्पष्टीकरण के लिये विषयविवेचन के अनुरोध में आख्यायिका व्यक्तियों का निर्देश स्वतंत्र शीर्षक के नीचे दिया गया है। और पारिभाषिक शब्दों का समावेश व्याख्याओं में करने में आया है।

ग्रंथ और ग्रंथकार

व्यक्तिनिर्देश

युरोपियन ग्रंथकार